श्री शङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः 卐

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन समिति-पिण्डवाडा-संचालित.या

आचार्यदेव-श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वर-कर्मसाहित्य जैन ग्रन्थमालायाः पञ्चमो(५) ग्रन्थः

बंधविहाणं

तत्थ

उत्तरपयडि-

रसबंधो

(उत्तरप्रकृति-रसबन्धः)

'प्रेमप्रभा' टीका-समलङ्कृतः

प्रेरका मार्गदर्शकाः संशोधकाश्च :—

सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता आचार्यदेवाः

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराः

प्रकाशिका—भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समितिः, पिण्डवाडा ।

प्रथम-आवृत्ति	राज संस्करण-३० रु०	वीर संवत २४९५
६२५ प्रति	साधारण ,, २५ रु०	विक्रम संवत २०२५

* प्राप्तिस्थान *

१. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति,
C/o रमणलाल लालचन्द,
१३५/१३७ झवेरी बाजार, बम्बई २

•

२. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति,
C/o शा. समरथमल रायचन्दजी,
पिण्डवाड़ा, (राज०,स्टे० सिरोहीरोड (W.R.)

•

३. शा. मनरूपजी अचलदास,
A/९, मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद २

•

४. शा. रमणलाल वजेचन्द,
C/o दिलीपकुमार रमणलाल,
मस्कती मार्केट,
अहमदाबाद २.

•

मुद्रक—
ज्ञानोदय प्रिंटिंग प्रेस, पिण्डवाड़ा (राज०)
स्टे. सिरोहीरोड (W.R.)

—: पदार्थसंग्रहकाराः :—

कर्मशास्त्रधुरीण-गच्छाधिपा-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वर-विनीत-विनेय-प्रभावक-प्रवचनकार-पंन्यासप्रवर-श्रीभानुविजयगणिवर्य-विनेयमुनिवर्यश्री धर्मघोषविजयान्तिषदो विद्वद्वर्य गीतार्थमुनिश्री-**जयघोषविजयाः**, पंन्यासप्रवरश्री-भानुविजयगणिवर्य-विनेया मुनिश्री-**धर्मानन्दविजयाः**, गच्छाधिपतिविनीतविनेय-गीतार्थमूर्धन्य-पंन्यासप्रवर-श्रीहेमन्तविजयगणिवर्यविनेय-मुनिराजश्री-ललितशेखरविजय-शिष्यरत्न-मुनिवर्यश्री-राजशेखरविजय-शिष्याणवो मुनिश्री**वीरशेखरविजयाश्च** ।

★

— मूलगाथाकाराः —

प्राकृतविशारदा मुनिश्री**वीरशेखरविजयाः** ।

★

— टीकाकारः सम्पादकश्च —

प्रभावक-प्रवचनकार-वर्धमानतपोनिधि-पंन्यासप्रवर-श्रीभानुविजयगणिवर्य-विनेय-मुनि-**जितेन्द्रविजयः** ।

सहसम्पादकः

चारित्रतपोनिधि-विद्वद्वर्या मुनिश्री-**जयशेखरविजयाः**

— संशोधकाः —

कर्मशास्त्रविशारद-गच्छाधिपति-श्रीमद्-विजयप्रेमसूरीश्वरपट्टप्रभावका आगमप्रज्ञा-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्-विजयजम्बूसूरीश्वराः पदार्थसंग्रहकारमुनिप्रवराश्च ।

First Edition Copies 625. | DELUXE EDITION RS. 30 ORDINARY ,, RS. 25 | A D. 1969.

AVAILABLE FROM :

1. BHARATIYA PRACHYA TATTVA PRAKASHAN SAMITI.
C/o Shah Ramanlal Lalchandji,
135/37 ZAVERI BAZAAR,
BOMBAY-2.
(INDIA)

2. BHARATIYA PRACHYA TATTVA PRAKASHAN SAMITI,
C/o. Shah Samarathmal Rayachandji,
PINDWARA, (Rajasthan)
(St.Sirohi Road) (W. R.)
(INDIA)

3, Shah Manarupji Achaldas,
Maskati Market,
Ahmedabad-2
(INDIA)

4. Shah Ramanlal Vajechand,
C/o Dilipkumar Ramanlal,
Maskati Market,
Ahmedabad-2.
(INDIA)

Printed by :
GYANODAYA PRINTING PRESS
PINDWARA. (Raj.)
St. Sirohi Road, (W.R.)
(INDIA)

Acharyadeva-Shrimad-Vijaya-Premasurishwara-Karma-Sahitya-Granthmala
GRANTH No. 5.

BANDHAVIHANAM

UTTARA PAYADI

RASABANDHO

[Along with "**PREMA PRABHA**" commentary]
By
A GROUP OF DISCIPLES

卐

Inspired and Guided by
His Holiness Acharya Shrimada Vijaya
PREMASURISHWARJI MAHARAJA
the leading authority of the day
on Karma philosophy.

Published by—
Bharatiya Prachya Tattva Prakashan Samiti, Pindwara.

सम्पादक की कलम

गृह निर्माण की तरह ग्रन्थ का सम्पादन-कार्य भी एक कला है । इसकी प्राप्ति में कलाचार्य की उपासना एवं अनुशासन अपेक्षित होता है । लेकिन इस विशालकाय ग्रन्थ के सम्पादन की सफलता में तो सिद्धान्त महोदधि वात्सल्यवारिधि स्व० पू० आचार्य देव श्री **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** म० के आशीर्वाद एवं अन्य महामना मुनिओं के सहयोग की ही प्रधानता रही है ।

इष्टिका-निर्माता के बनिस्पत गृह निर्माता शिल्पी को अपने ध्येय की सिद्धि के लिए विशेष चतुराई एवं सावधानी रखनी पडती है, इसी तरह कहीं कहीं ग्रन्थ रचयिता की अपेक्षा उसके सम्पादनकर्त्ता को मानसिक-परिशीलन विशेष करना पडता है, फिर भी यह बात मेरे लिए नहीं रही, क्योंकि इस ग्रन्थ की **प्रेमप्रभाटीका** जो कि पूरे ग्रन्थ का .९ करीब है, लिखने का सौभाग्य मुझे ही प्राप्त हुआ है । फलतः टीकाकार के आशय को समझ कर टाइप एवं परिच्छेद (पेराग्राफ) आदि की व्यवस्था करने के प्रयास से मुझे सर्वथा विमुक्ति मिलना सहज है ।

यह ग्रन्थ उत्तरप्रकृति-रसबन्ध का पूर्वार्ध है । इसमें प्रथमाधिकार के १२ द्वारों का सुविस्तृत वर्णन है । प्रथमाधिकार के शेष द्वार व शेष ४ अधिकार उत्तरप्रकृतिरसबन्ध के उत्त-रार्ध में सम्पादित होंगे ।

टाइपों की व्यवस्था—

सन्निकर्ष द्वार के सिवाय शेष सब द्वारों की गाथाएं २४ पोइंट (मोटे) टाइपों में ली गई हैं । सन्निकर्ष द्वार की गाथाएं प्रचुर होने की वजह से ग्रन्थ की अनावश्यक मोटाइ से बचने के लिए इस द्वार की गाथाएँ १२ पोइंट (छोटे) टाइपों में ली हैं । प्रेमप्रभाटीका १६ पोइंट (मझले) टाइपों में, टीकान्तर्गत अन्य ग्रथों के अवतरण १२ पोइंट (छोटे) टाइपों में, टीका में मूल गाथा के प्रतीक तथा टीका में महत्त्व के कुछ शब्द जैसे कि **इदमुक्तं भवति, उक्तं च पञ्चसंग्रहे** इत्यादि १६ पोइंट ब्लेक (कुछ मोटे) टाइपों में दीए गये हैं ।

इस तरह पूरे ग्रंथ को विविध टाइपों में विभाजित कर देने से पाठकों के पठन-पाठन में सुविधा होने की उम्मीद की जाती है ।

"**समूहेन सिद्धिः**' इस उक्ति अनुसार इस ग्रन्थ के आलेखन की तरह इसके सम्पादन कार्य में भी सामूहिक योगदान मिला है । औदार्यादि अनुपमगुणगणोपेत पू० गीतार्थ-मुनिराज श्री जयघोषविजयजी महाराज व कुशाग्रधी-पू० मुनिराज श्री धर्मानंदविजयजी म० की ओर से सम्पादन संबंधि बार-बार मार्ग दर्शन मिलता रहा है ।

मेरे सहाध्यायि-चारित्र तपोनिधि मुनिश्री **जयशेखरविजयजी**, औदार्यादि गुणोपेत मुनि **श्री जगचन्द्रविजयजी**, प्राकृतविशारद मुनि **श्री वीरशेखरविजयजी** व न्याय-व्याकरणादि-परिकर्मितमति चारित्ररत्न मदनुज-मुनि **श्री गुणरत्नविजयजी** का भी प्रशंसनीय सहयोग रहा है ।

प्रूफों का प्रेस कॉपी से मिलान करने में तपोवैयावच्चादिगुणगरिष्ठ मुनि **श्रीमित्रविजयजी** का जो सहयोग मिला है वह अविस्मरणीय है । गर्मी के दिनों में छट्ठ-अट्ठम जैसी कठोर तपश्चर्या में भी लगातार घण्टों तक उत्साह पूर्वक प्रेस कॉपी पढना आपकी ज्ञानभक्ति का परिचायक है ।

ग्रन्थ की छपाई का प्रारंभ खंभात के वि. सं. २०२३ के चतुर्मास से कर दीया था । लेकिन प्रूफ वगैरह पिंडवाड़ा से डाकद्वारा आने से कार्य शीघ्रता से नहीं चल सकता था । अतः कार्य को शीघ्र सम्पादन करने के लिए चतुर्मास के बाद पू० आचार्य देव ने सहायक तीन मुनिओं के साथ मुझे पिंडवाड़ा की ओर विहार (पाद-यात्रा) करने का आदेश फरमाया । पूज्य श्री की आज्ञानुसार खंभात से प्रस्थान करके हम लोग मातर, प्रगट प्रभावी श्री शंखेश्वर तीर्थ, भीलडी-याजी, कुंभारीयाजी, मोटा पोशीनाजी वगैरह कलयुग के कल्पवृक्ष समान तीर्थों की स्पर्शना करते हुए सं० २०२४ माह वदी १० को पिंडवाड़ा पहुंचे ।

ग्रन्थ छपाई की गति विधि में तेजी आना स्वाभाविक था । सहवर्त्ति मुनि श्री मित्र वि० व मुनिश्री विश्वरत्न वि० ने मुनि जीवन के गोचरी पडिलेहण जैसे कितनेक आवश्यक कर्त्तव्य संबंधि प्रवृत्तिओं को पूर्णतया सम्हाला । जिससे यह ग्रन्थ शीघ्र सम्पादित व मुद्रित हो सका ।

'गढ आला पण सिंह गेला'—

वि. सं. २०२४ जेठ वदी १२ का प्रातःकालीन सुनहरा समय था । मैं अपने इसी ग्रंथ के सम्पादन की प्रवृत्ति में व्यस्त था । यकायक डाकिया तार (टेलीग्राफ) लेकर आया । इन दिनों प्रशान्तमूर्त्ति आचार्य देव श्री विजय **भुवनतिलकसूरीश्वरजी म०** सपरिवार पिंडवाड़ा में बिराजते थे । डाकिया ने तार आपके हाथ में दीआ । पढकर मुझे बुलाया । मानव देह की विन-श्वरता व क्षणभंगुरता के सनातन सिद्धान्तों को २-४ मिनिट तक मेरे सामने दुहरा कर खंभात से आए हुए तार के समाचार कहते हुए बोले कि "पू. आचार्यदेव श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज साहब का खंभात में स्वर्गवास हुआ है ।"

परमोपकारी पूज्य श्री के सनातन विरह के इस समाचार से मैं कुछ क्षण तक अवाक् व दिङ्मूढ सा रह कर आखिर में हृदयद्रावि रुदन करना चाहता था । पू. आचार्य देव श्री भुवनतिलकसूरीश्वरजी म० आश्वासन देने के लिए मुझे बार बार समझाते रहे मगर उस कृपानिधि के विरह की व्यथा के घावों को मिटाने के लिए कालक्षेप ही समर्थ था । अतः मैं उस रोज दिन भर अत्यन्त खिन्न व निराधार सा रहा ।

मिट्टी का घडा फूट जाने पर क्या पुनः अखंड हो सकता है ! खिरा हुआ सितारा क्या

पुनः नभोमण्डल में अपना स्थान प्राप्त कर सकता है ! इसी तरह पूज्य श्री का विरह सनातन बन गया ! आज स्वर्ग में पूज्य श्री के पदार्पण से आनन्द था ! जब कि यहां हम लोग उन्हीं के विरह व्यथा में व्यथित !

यह हुआ इस ग्रन्थ के सम्पादन काल का एक करुणान्त किस्सा (Tregedy)। सिंहगढ का किला जीतने में एक ओर वीर तानाजी युद्ध में काम आए और दूसरी ओर किला जीता गया तो उसी वख्त छत्रपति शिवाजी रोते हुए चिल्ला उठे 'गढ आला पण सिंह गेला' अर्थात् किला तो जीता गया लेकिन सिंह जैसे वीर तानाजी चल बसे। इसी तरह मेरा खंभात में पिंडवाडा आना हुआ तो ग्रन्थ के संपादन व मुद्रण में शीघ्रता अवश्य आई लेकिन यहां आने के फलस्वरूप पूज्य श्री के अन्तिम दर्शन से मैं वंचित रहा।

प्रेस कॉपी किसने की ?

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ की प्रेस कोपी बाफना पन्नालाल जैन ने की थी। बाद में कुछ प्रेस कॉपी ज्ञानभक्ति से प्रेरित होकर पू. आचार्यदेव की आज्ञा से अपने अमूल्य समय का व्यय करके निस्पृहतादि गुणोपेत मुनि श्री **विमलसेनविजयजी** ने व मतिप्रकरण की प्रेस कॉपी सुश्रावक पंडित वर्य श्री रतिलाल भाई (धार्मिक शिक्षक, मेमाना) ने की है। अतः इनका भी सहयोग अविस्मरणीय है।

संशोधकों द्वारा सहाय—

स्व० गच्छाधिपति-सिद्धान्त महोदधि पू० आचार्यदेव श्री विजय **प्रेमसूरीश्वरजी** म० ने इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण प्रेसमैटर का वांचन व संशोधन किया है। पदार्थसंग्रहकार मुनिभगवंतो ने प्रेस मेटर एवं प्रूफों का, तथा मुनिश्री **जयशेखर** वि० ने प्रूफों का सूक्ष्मेक्षिकया संशोधन किया है। स्व० पूज्यश्री की इच्छा व आज्ञा को शिरोधार्य कर आपश्री के पट्टप्रभावक आगमप्रज्ञ आचार्यदेव श्री विजय **जम्बूसूरीश्वरजी** म० ने ग्रन्थ के छपे हुए फार्मों का अपनी पैनी तत्त्वदृष्टि से निरीक्षण एवं वांचन किया है। यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला के प्राध्यापक सुश्रावक प्रज्ञाचक्षु पंडितवर्य **पुखराजजी** अमीचंदजी ने श्रुतभक्ति से पूरे ग्रन्थ का संशोधन हेतु श्रवण किया है। आप दोनों द्वारा निर्दिष्ट अशुद्धियाँ जो कि प्रूफ संशोधन आदि में पूरी सावधानी रखते हुए भी छद्मस्थता एवं मेरी नेत्ररोशनी की कमी के कारण रह गई थीं। उनका अलग शुद्धिपत्र दीया है। शुद्धिपत्र के द्वारा ग्रन्थ को प्रथम सुधारकर फिर ग्रन्थ को पढें। इति प्रार्थ्यन्ते विद्वज्जनाः। स्मृतिपथं नीयते च भूयोऽप्यत्र ज्ञाता-ज्ञात सहायवर्गः। इस ग्रन्थ में अनाभोग से जिनाज्ञाविरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो उसका मिथ्यादुष्कृत देता हूं।

जिनाज्ञाकरणैकलालसः

मुनि जितेन्द्रविजयः

कलकत्ता (बंगाल) कैनींगस्ट्रीट स्थित 'वीरविक्रमप्रासाद' ना मूलनायक आसन्नोपकारी

चरमतीर्थपति

श्री महावीर स्वामी भगवान
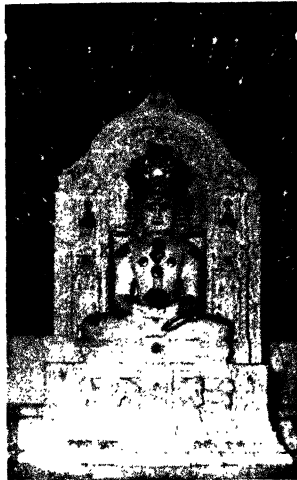
स्वस्तान्निद्राकमलिनीकुलमोददायी
भव्यांगिलोकबहुकोकविलीनशोकः
नष्टाखिलान्धतमसो जगदेकचक्षु-
र्वीरो रविर्वितनुतां स्वमनन्धशोभम्—

प्रकाशकों की ओर से

'Well begun is half done'

प्राचीनतम उपर्युक्त इस उक्ति के अनुसार जबसे हमारी समिति द्वारा अहमदाबाद में भव्य-शानदार जुलूस के चतुर्विध संघ की उपस्थिति में **'खवगसेढी'** व **'ठिइबंधो'** ग्रन्थों का प्रथम प्रकाशन समारोह सम्पन्न हुआ। तभी से हमारी समिति के सभ्यों का कर्मसाहित्य प्रकाशन विषयक उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढ रहा है। जिसके फल स्वरूप चंद रोज में ही हम कर्म-साहित्य का तीसरा ग्रन्थ **'मूलपयडिरसबंधो'** व चौथा ग्रन्थ **'मूलपयडिपएसबंधो'** विद्वानों के कर कमलों में अर्पण कर सके हैं। इतना ही नहीं, यह पांचवां ग्रन्थ **'उत्तरपयडिरस-बंधो'** भी स्वल्प समय में प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त कर हम आनन्दभर मेदुर हो रहे हैं।

अत्यंत हर्ष की बात है कि कलकत्ता के श्वेताम्बर जैन तपागच्छ गुजराती संघ ने अपने संचित ज्ञान द्रव्य में से रु० २००००) बीस हजार का उदार दान हमारी समिति को किया है। जिसमें से रु० १००००) प्रस्तुत ग्रन्थ की छपाई के व्यय की तौर पर तथा रु० १००००) इसी प्रकार के हमारे आगामी एक प्रकाशन के व्यय की तौर पर समिति द्वारा स्वीकृत किये गये हैं।

मिट्टी में वर्षों तक दबे रहने पर भी जात्यकंचन अपनी चमक को वैसी ही बनाए रख सकता है, जैसी कि उसकी वास्तविक चमक थी। इसी तरह पाश्चात्यों का प्रबल सहवास रहने पर भी भारत भूमि में आध्यात्मिकता ज्यों की त्यों सदा की भांति सजीव रही है। फलतः कर्मसाहित्य जैसे द्रव्यानुयोग के साहित्य का सर्जन एवं दानवीरों की उदार सहाय से मुद्रण व प्रकाशन आज भी सुलभता से हो रहा है।

दाताओं का द्रव्य व हमारा परिश्रम भी तभी सफल हुआ है जबकि निस्पृह शिरोमणि कर्म-साहित्य निष्णात सिद्धान्त महोदधि परम पूज्य स्व० आचार्यदेव श्रीमद् **विजयप्रेमसूरीश्वरजी** महाराज साहब ने अपने प्रशिष्यों द्वारा इस महान साहित्य को सर्जित करवाकर मुद्रित करवाने हेतु हमें सुपुर्द किया। अतः उन वंदनीय विभूति को करोडों वंदना करते हुए हम आभार प्रगट करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में गुम्फित पदार्थों (तत्त्वों) के संग्रहकार उदार चरित पू० गीतार्थ मुनिराज श्री **जयघोषविजयजी** महाराज, कुशाग्रधि पू० गीतार्थ मुनिराज श्री **धर्मानंदविजयजी** महाराज तथा मूलग्रन्थ की प्राकृत गाथाओं के रचयिता प्राकृत विशारद पू० मुनिराज श्री

वीरशेखरविजयजी महाराज और इस ग्रन्थ की सुबोध एवं विस्तृत टीका के लेखक पू० मुनिराज श्री जितेन्द्रविजयजी महाराज साहब को भक्त्या नतमस्तक वंदन करते हुए करोड़ों धन्यवाद के साथ आपका एहसान मानते हैं, यतः इस साहित्य प्रासाद के स्तम्भ आप ही हैं।

कर्म साहित्य के सभी ग्रन्थों का मुद्रण हमारी संस्था के निजी ज्ञानोदय प्रिं०प्रेस, पिंडवाड़ा (राज०) में हुआ है। प्रेस के मैनेजर ब्यावर निवासी श्रीयुत फतहचन्दजी जैन (हालावाले) व अन्य कर्मचारी भी इस अवसर पर अवश्य स्मृति पथ पर आते हैं। जिनकी आत्मीयता से हमारी संस्था ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य सुचारुरूप से कर रही है।

श्रीमानों से हमारी हार्दिक प्रार्थना है कि कलकत्ता-संघ का उदाहरण लेकर ज्ञान यज्ञ-रूप हमारे साहित्य प्रकाशन के इस कार्य में सदा की भांति तन मन धन का सहयोग प्रदान करते रहें।

(i) पिण्डवाड़ा स्टे० सिरोहीरोड (राजस्थान) (ii) १३५/३७ जौहरी बाजार बम्बई-२	शा० समरथमल रायचन्दजी (मंत्री)। शा० शान्तिलाल सोमचंद (भाणाभाई) चोकसी (मन्त्री)। शा० लालचन्द छगनलालजी (मन्त्री)। **भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समितिकी ओर से।**

- समिति का ट्रस्टी मंडल -

सकलागमरहस्यवेदि - सूरीपुरन्दर - बहुश्रुतगीतार्थ - परमज्योतिर्विद् - परमगुरुदेव
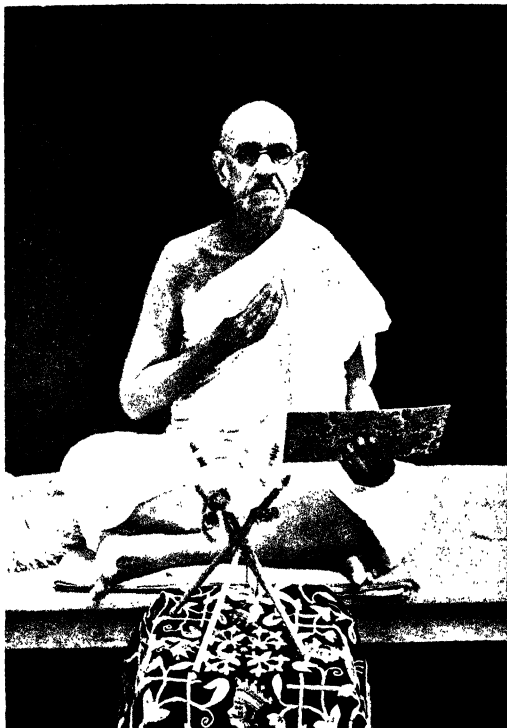
परमपूज्य आचार्यदेवेश श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी महाराजा

विषयानुक्रमः

(बन्धविधाने उत्तरप्रकृति रसबन्धस्य)

卐 अष्टममन्तरद्वारम् 卐

(पृष्ठ २७२ तः ४२१)

卐 नवमं सन्निकर्षद्वारम् 卐

(पृष्ठ ४२२ तः ६३४)

卐 परस्थान सन्निकर्षः 卐

(पृष्ठ ५३१ तः ६३४)

卐 दशमं भङ्गविचयद्वारम् 卐

(पृष्ठ ६३५ तः ६४५)

卐 एकादशं भागद्वारम् 卐

(पृष्ठ ६४६ तः ६५९)

卐 द्वादशं परिमाणद्वारम् 卐

(पृष्ठ ६६० तः ६८०)

समर्पण

जिन्होंने प्रव्रज्या प्रदान कर सैकडों योग्यआत्माओं को मोक्ष के पथिक बनाए हैं।

जिन्हें स्वाध्याय व पठन पाठन का अद्वितीय रस था।

जिनकी आत्मा विश्ववात्सल्य व कृपारस से हरी भरी थी।

जिनकी पुनित प्रेरणा और परमप्रसाद से अज्ञशिरोमणी मैं इस ग्रन्थ का सर्जन व सम्पादन कर सका।

उन परमतारक सर्वाधिक सुविहित श्रमण सार्थाधिपति-वात्सल्य वारिधि-कर्मशास्त्र निष्णात चारित्र तपोनिधि सिद्धान्तमहोदधि स्व० पू० आचार्यदेव—

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के करकमलों में................

चरणारविंद चञ्चरीक

—जितेन्द्रविजय

आ ग्रन्थसर्जनना प्रेरक, मार्गदर्शक अने संशोधक—

सिद्धांतमहोदधि सुविशालगच्छाधिपति संघकौशल्याधार कर्मशास्त्ररहस्यवेदी शासनशिरताज
स्वर्गत
परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद्‌विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा

बंधविहाणे

उत्तरपयडी-रसबंधो

['प्रेमप्रभा' टीका-विभूषितः]

॥ ॐ ह्रीं अर्हं नमः ॥

॥ श्री शङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

सकलागमरहस्यवेदिपरमज्योतिर्विच्छ्रीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः

प्रवचनकौशल्याधार-सुविहिताग्रणी-गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक-सिद्धान्तमहोदधि-कर्म-

शास्त्रनिष्णाता-ऽऽचार्यदेव-श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां पुण्यतम निश्रायां

तदन्तेवासिवृन्दविनिर्मितं मुनिश्रीजयघोषविजय-धर्मानन्द-

विजय-वीरशेखरविजयसंगृहीतपदार्थकं मुनिश्रीवीर-

शेखरविजयविरचितमूलगाथाकं

प्रेमप्रभाटीकाविभूषितम्

बंधविहाणं

तत्र

मुनिश्री-जितेन्द्रविजयविरचित-

प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः

(उत्तरपयडि-)

रसबंधो

(उत्तरप्रकृतिरसबन्धः)

卐

(प्रेमप्रभाटीका)

प्रणम्य परमात्मानं, विश्वविश्वरप्रदम् । त्रिशलानन्दनं धीरं, वीरं वैरविवर्जितम् ॥१॥

अनुयोगभृतां पादान्, नुत्वा च गणधारिणाम् । ग्रथ्यते ग्रन्थटीकेयम्, दीर्घा ग्रन्थानुसारतः ॥२॥

मदीयस्य गुरोर्भानो-र्गुरुः प्रेमप्रकर्षवान् । प्राणिपुष्टदयापूर्णो, जीयात् श्रीप्रेमसूरिराट् ॥३॥

यत्तपोभाभरं वीक्ष्य, भानुः खमेव संश्रितः । गणिं तं मद्गुरुं [1]'भानुं', सेवते को न भाग्यभृत् ! ॥४॥

[2]पद्मः पद्माधरीकारस्तपस्संयमसौरभात् । [3]अप्सरःपरिरब्धोऽपि स्यान्मद्व्रतस्य रक्षिता ॥५॥

---

१ वर्धमानाऽऽचाम्लतपःपूतविग्रहान् पंन्यासप्रवरान् पूज्यान् गुरुदेवान् श्री-भानुविजयगणिवरान्, इह विशेषणविकलमेकवचनान्तं पदन्तु छन्दोनुरोधात् । २ श्री पद्मविजयगणिवराः टीकाकारस्य महणाऽऽसेवनशिक्षादातारः । ३ दिवंगतोऽपीति यावत् ।

जयघोषो मुनिर्जीयाद् , **धर्मानन्दो** मुनिस्तथा । यौ कर्मशास्त्रपारीणौ, आगमवेदिनौ तथा ॥६॥
प्रेमप्रभाथेन्द्रस्य, वामेतरधुरन्धरौ । तत्प्रभुक्तास्तदतिमुष्टाः, स्तवकुर्वन् प्रमुदं वहे ॥७॥
[1]लघुरपि लघूकारः, यो गीर्वाणगुरोरपि । तं **वीरशेखरं** साधुं, गाथाकारं स्मृतिं नये ॥८॥
मातरं **शारदां** स्तौमि, यस्याः पादप्रसादतः । प्रज्ञा प्रकर्षतां याति स्नेहयोगेन दीपवत् ॥९॥
सज्जना मज्जनाः सन्तु, दुर्जना द्वेषवर्जिताः । द्रव्यानुयोगविस्तारे, प्रथते प्रोत्सुको यतः ॥१०॥

अस्य हि नारकतिर्यगनरामरगतिस्कन्धस्य गर्भनिषेककललाबुदमांसपेश्यादिजन्मजरामरण-शाखस्य दारिद्र्याद्यनेकव्यसनोपनिपातपत्रगहनस्य प्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगार्थनाशानेकव्याधिशत-पुष्पोपचितस्य शारीरमानसोपचिततीव्रतरदुःखोपनिपातफलस्य संसारतरोर्मूलं कर्म, तदपि कषायजन्यरसबलादेव प्राणिनां संसृतिवृक्षं वृद्धिं प्रापयति, अत एवोपशान्तकषायादिना वीत-रागेण भगवता बद्धमपि कर्म भवभ्रमणवृद्धौ नालम् , तस्य कापायिकरसापेतत्वात् । ततश्च संसा-रशाखिमूलोच्छेदोत्सुकेन भव्यजन्तुना कर्मगतरसज्ञेन भाव्यम् , ज्ञानपूर्वकत्वात् सत्प्रयत्नस्य । उक्तं चान्यैरपि—"जानाति इच्छति ततो यतते" इत्यादि । कर्मगतरसज्ञानं च सामान्यतः श्रुतज्ञान-प्रयोज्यम् । तत्राऽस्मदादृशयुगीनानां तु विशेषतः श्रुतज्ञानमेव तज्ज्ञापकम् , केवलज्ञानिनामिह विरहात् । अथवा सर्वक्षेत्रकालयोः श्रुतप्रयुक्तमेव रसज्ञानं परोपकृतावलम् , लोकितलोकालोकसमस्त-सचेतनाचेतनवस्तुस्तोमनिखिलपर्यायैः केवलिभिरपि श्रवणाहशब्दसमूहरूपश्रुतात्मकया वाचा एव तत्प्ररूपणात् । अत एव स्वपरोपकारैकान्तःकरणेन ग्रन्थकृता मूलाष्टप्रकृतिरसिरस्थितोऽपि रसबन्धसन्दर्भः विस्तारुचिभव्यान् प्रति चतुर्विंशत्यधिकशतोत्तरप्रकृतिगोचरस्य उच्यते ।

तत्र चेयमिष्टदेवतानमस्कारादिगर्भाऽऽदिमा गाथा—

अह चिंतामणिपासं, जिणीसरं थुणिअ कप्परुक्खसमं ।
गुरुवयणेण परूविमु, उत्तरपयडीसु रसबंधं ॥१॥

(प्रे०) "**अह**" इत्यादि, 'अथ' आनन्तर्यार्थे, मूलप्रकृतिरसबन्धनिरूपणानन्तरमिति । '**थुणिअ**' ति स्तुत्वा स्तुतिविषयं कृत्वेत्यर्थः । कमित्याह- '**चिंतामणिपासं**' ति चिन्तामणिपार्श्वम् , तत्र पार्श्वः पार्श्वनाथः पदैकदेशे पदोपचाराद् यथा भीमो भीमसेन इति । चिन्तामणिः स्वपूजक-चिन्तितसर्वैहिकार्थानां प्रदायको देवताधिष्ठितो मणिविशेषः, तदतिशायी चासौ पार्श्वश्चेति चिन्ता-मणिपार्श्वः मध्यमपदलोपिसमासः । तदतिशायित्वञ्च पार्श्वस्य चिन्तिताचिन्तितसर्वैहिकामुष्मिके-ष्टार्थप्रदायकत्वेन प्रतीतमेव, तम् । अथवा चिन्तामणिः कथानकविशेषप्रथितोऽभिधाविशेषस्त द्वांश्चासौ पार्श्वश्चेति चिन्तामणिपार्श्वस्तम् ।

---

[1] टीकाकारापेक्षया गाथाकारस्य वयोव्रतपर्यायाभ्यां कनीयस्त्वात् ।

पुनः किं विशिष्टमित्याह–**'जिणेसरं'** ति जिनेश्वरं जयन्ति रागादिशत्रूनिति जिनाः, घातितघनाघनघनघातिपटला लोकालोकभास्कराः सामान्यकेवलिनस्तेष्वीश्वरोऽष्टप्रातिहार्यपञ्चत्रिंशद्वचनातिशयविबुधविरचितरजतस्वर्णरत्नमयप्राकारत्रयकमनीयकोमलकाञ्चनकमलाद्यैश्वर्ययुक्तत्वात्तम् । पुनः किंविशिष्टमित्याह–**'कप्पतरुसमं'** ति कल्पवृक्षसमं कल्पवृक्षाः देवकुर्वादिभोगभूमिजकामितपूरणप्रवणा अमराधिष्ठिता वृक्षविशेषास्ते खलु प्रार्थिताः सन्त आश्वेव जनमनोऽभिलषितं पूरयन्ति तैः समस्तुल्यस्तम् । अत्र हि नाशितबाह्याभ्यन्तरप्रत्यूहसमूहस्य प्रपूरितप्रार्थिताऽप्रार्थितैहिकामुष्मिकेष्टार्थस्य प्रार्थनाप्रदत्तपरमपदस्य भगवतः पार्श्वनाथस्य यत्कल्पवृक्षैः साम्यमुक्तं तदन्योपमानाभावाज्ज्ञेयम् । नान्यदेवेह जगति किमपि वस्तु यस्य भगवता समं साम्यं स्याद्, विश्वानुपमेयत्वेन भगवतस्तेभ्यः कल्पवृक्षेभ्योऽप्यतिशायित्वात्, **तद्यथा**–कल्पद्रुमा ह्यर्थिभिः प्रार्थिताः सन्त एव तेषामिष्टप्रदा भवन्ति पार्श्वनाथस्त्वप्रार्थितोऽपीति ।

न चास्य गाथापूर्वार्धस्य मङ्गलार्थत्वेनात्रानवसरत्वम्, मङ्गलस्य शास्त्रारम्भ एव कृतत्वादिति वाच्यम्, अस्य मध्यमङ्गलत्वेन स्वीकरणात् । तथा **चोक्तं पूर्वसूरिभिः**–'तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स' इत्यादि ।

अथ प्रकृतं **'पस्वेिमु'** ति प्ररूपयामः । किमित्याह–**'रसबंधं'** ति रसः कर्मपरमाणुगतः शुभाशुभलक्षण एकद्वित्रिचतुःस्थानभेदभिन्नश्च तस्य बन्धस्तम् । कास्वित्याह–**'उत्तरपयडीसु'** ति चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणासु उत्तरप्रकृतिषु, कर्मणामिति शेषः । केनेत्याह–**'गुरुवयणेण'** गुरुवचनेन गृणन्ति धर्मोपदेशमिति गुरवः परमगुरवस्तीर्थकरा इति यावत्तेषां वचनेन, अर्थतः परमगुरुभिस्तीर्थकरैः सूत्रतो बीजबुद्धिभिर्गणधरैः प्रणीतेन जिनागमेन, जिनवचनानुसारेणेत्यर्थः । तथा षट्त्रिंशद्गुरुगुरुगुणोपेता ग्रन्थकर्तुः परमगुरवो गच्छाधिपाः श्रीमद्विजय**प्रेमसूरय**स्तेषां वचनेन गच्छाधिपाज्ञयेत्यर्थः । ततश्च कल्पवृक्षसमं जिनेश्वरं चिन्तामणिपार्श्वं स्तुत्वा गुरुवचनेन कर्मणामुत्तरप्रकृतिषु रसबन्धं प्ररूपयाम इति गाथार्थः ॥१॥

अत्र हि गाथापूर्वार्धेन मङ्गलम्, तदुत्तरार्धेन चाभिधेयं, सामर्थ्यात्पुनः सम्बन्धं स्वपरश्रेयोलक्षणं प्रयोजनञ्चेति आद्यगाथयानुबन्धचतुष्टयमभिधाय उत्तरप्रकृतिरसबन्धग्रन्थे वक्ष्यमाणाधिकारप्रतिपादनपरां द्वितीयां गाथामाह–

इह खलु कमसो णेया अहिगारा पंच पढमभूगारा ।
पयणिक्खेवो वड्ढी अज्झवसाणसमुदाहारो ॥२॥

(प्रे०) **'इह'** इत्यादि, अत्र **'इह'** त्ति अनन्तरवक्ष्यमाणोत्तरप्रकृतिरसबन्धग्रन्थे क्रमशः पञ्च अधिकारा रसबन्धसामान्यसापेक्षास्तद्रसबन्धस्थानाद्यधिकृतविशेषविषयप्रतिपादनपराः **'खलु'** निश्चयेन ज्ञेयाः । अथ तानेव नामग्राहमाह–**'पढम'** त्ति द्वितीयाद्यधिकारेष्ववक्ष्यमाणानां

संज्ञाप्रत्ययविपाकादीनां नानार्थानां प्रतिपादनपरः प्रथमाधिकारः, प्रथमाधिकारसंज्ञित आदिमोऽधिकार इति यावत् ।

'**भूगारा**' त्ति वर्णविन्यासेन द्वितीयशब्दस्यानुक्तत्वेऽपि क्रमानुरोधाद् द्वितीयो भूयस्काराधिकारः वक्ष्यमाणस्वरूपः । '**पयणिक्खेवो**' त्ति पदनिक्षेपसंज्ञितस्तृतीयोऽधिकारो भवति । तत्र पदनिक्षेपो भूयस्कारादिविशेषरूप एव, भूयस्कारादीनां रसबन्धविशेषाणां जघन्योत्कृष्टपदद्वये निक्षेपणात् जघन्योत्कृष्टरसवृद्ध्यादिरूपेण चिन्तनादिति भावः । '**वड्ढी**' त्ति वृद्ध्याख्यश्चतुर्थोऽधिकारो ज्ञेयः । अयमपि भूयस्कारादिविशेषरूप एव, केवलं पदनिक्षेपाधिकारे भूयस्कारादितया जायमानरसबन्धवृद्ध्यादयो जघन्योत्कृष्टपदद्वयगता एव चिन्तयिष्यन्ते, अत्र तु ते संख्येयभागाऽसंख्येयभागप्रभृतिवृद्ध्यादिरूपेण वर्णयिष्यन्ते ।

अयम्भावः—मुख्यवृत्त्याधिकृतो रसबन्धो यदा पूर्वसमयादुत्तरसमयेऽधिकोऽनन्तभागादिना भवति तदा भूयस्कार इत्युच्यते । यदा तु पूर्वसमयादुत्तरसमये हीनोऽनन्तभागादिना भवति तदाऽल्पतरोऽभिधीयते । तथा तावन्मात्ररसबन्धभावेऽवस्थितः । अबन्धात् परतः प्रथमतयैव भावे त्ववक्तव्य इति संगीयते ।

एते भूयस्कारादयो नानानुयोगद्वारैरोघत आदेशतश्च यत्र चिन्तयिष्यन्ते, स भूयस्काराधिकारः । भूयस्काराधिकारविषयभूतो भूयस्कारादिस्तत्तद्रसबन्धस्तेन तेन नियतेन सर्वाधिकवृद्धिहान्यवस्थानरूपेण यत्र चिन्तयिष्यन्ते स पदनिक्षेपाधिकारः । इदमुक्तं भवति—भूयस्कारचिन्तायां विवक्षितसमयादुत्तरसमये जायमानमनन्तगुणादिरसेन वृद्धं कमपि रसबन्धमधिकृत्य सामान्येनैव यथा स्वामित्वादिकं प्ररूप्यते, एवं हान्यादिकं समाश्रित्य तत्प्ररूप्यते, न तथा पदनिक्षेपाधिकारे किन्तु विवक्षितसमयादुत्तरसमये जायमानमधिकतमवृद्धरसबन्धलक्षणं भूयस्कारादिविशेषरूपमुत्कृष्टवृद्धिपदम्, एवमधिकतमहीनरसबन्धलक्षणमल्पतरविशेषरूपमुत्कृष्टहानेः पदम् । तथोत्कृष्टवृद्धिहानिभ्यां यत्र यथासंभवं वृद्धेर्हानेर्वाऽऽधिक्यं तस्या उत्तरसमये प्राप्यमाणमुत्कृष्टावस्थानपदमधिकृत्य स्वामित्वादिकं प्ररूप्यते । इत्थमेव वैपरीत्येन विवक्षितसमयादनन्तरोत्तरसमये जायमानस्तोकतमवृद्धरसबन्धलक्षणं भूयस्कारविशेषात्मकं जघन्यवृद्धेः पदम् । तथैव वैपरीत्येन जघन्यहानेः पदम्, जघन्यावस्थानपदं चाधिकृत्य स्वामित्वादिकं चिन्तयिष्यते, इत्येवं भूयस्काराधिकारापेक्षयाऽस्य पार्थक्यम् ।

वृद्ध्यधिकार इत्यत्र वृद्धिपदं हान्यादेरुपलक्षकम्, तत्र वृद्धिर्हानिश्च प्रत्येकं षट्स्थानपतितत्वात् षड्विधा, न पुनः स्थितिबन्धवत् चतुर्विधा एव, अनन्तभागाऽनन्तगुणरसवृद्धिहान्योरपि सम्भवात् । तत्राधिकबन्धरूपत्वेन भूयस्कारो वृद्धिरूपः, अल्पतरबन्धस्तु हीनबन्धरूपतया हानिरूपः, अवस्थानाऽवक्तव्यौ तु भूयस्काराधिकारे वक्ष्यमाणाऽवस्थितावक्तव्यबन्धापेक्षयाऽविशेषौ एव । इत्थं हि भूयस्काराऽल्पतरविशेषरूपाणामनन्तगुणादिरसबन्धवृद्धिहानीनां पदनिक्षेपाधिकारविषयभूतजघन्योत्कृष्टपदद्वयापेक्षया विलक्षणत्वात् वृद्ध्यादेर्भूयस्कारादिरूपत्वेऽपि प्ररूपणाविषय-

भेदात्पार्थक्यं वेदितव्यमिति । 'अज्झवसाणसमुदाहारो' त्ति समुदाहरणं समुदाहारः प्ररूपणेत्यर्थः । रसबन्धहेतुभूतान् लेश्याकषायोदयजन्यान् जीवपरिणामविशेषानधिकृत्य यत्र प्ररूपणा क्रियतेऽसावध्यवसानसमुदाहारोऽध्यवसायसमुदाहारो वा वक्ष्यमाणः पञ्चमाधिकार इति ॥२॥

अथानन्तरगाथोक्तानां पञ्चाधिकाराणां प्रत्येकमनुयोगद्वारलक्षणानां द्वाराणां संख्यानस्याभिधित्सयाऽऽह—

तेसु पढमाईसु अहिगारेसु हवन्ति दाराणि ।
अट्ठार तेर तिण्णि य तेरस दोण्णि य जहाकममो ॥३॥

(प्रे०) 'तेसु' इत्यादि, प्रथमादिषु पञ्चस्वधिकारेषु द्वाराण्यष्टादश त्रयोदश त्रीणि त्रयोदश द्वे यथाक्रमं भवन्ति । तद्यथा प्रथम इति नामके प्रथमाधिकारे वक्ष्यमाणानि संज्ञेत्यादीन्यष्टादश द्वाराणि व्याख्यापथा इति यावत् सन्ति । द्वितीये भूयस्काराधिकारे त्रयोदश द्वाराणि । तृतीये पदनिक्षेपाधिकारे त्रीणि द्वाराणि । वृद्धिनामके चतुर्थेऽधिकारे त्रयोदश द्वाराणि । पञ्चमेऽध्यवसायसमुदाहाराधिकारे द्वे द्वारे व्याख्यामार्गौ स्त इति ॥३॥

अथाऽस्मिन् प्रथमाधिकारे सप्रपञ्चं वर्णयिष्यमाणानामष्टादशानां द्वाराणामभिधामात्रमाह—

तत्थ पढमाहिगारे सण्णा-पच्चय-विवाग-सुहअसुहा ।
सामित्त-साइआई कालंतरसण्णियासा य ॥४॥
भंगविचयो उ भागो परिमाणं खेत्तफोसणा कालो ।
अंतरभावऽप्पबहू हुन्ति कमाऽट्ठार दाराणि ॥५॥

(प्रे०) 'तत्थ' इत्यादि, तत्र प्रथमाधिकारे संज्ञाप्रत्ययेत्यादीनि अष्टादश द्वाराणि भवन्तीति संटङ्कः । अथ तान्येव नामग्राहमाह 'सण्णा' इत्यादिना, तत्र 'सण्णा' त्ति संज्ञानं संज्ञा-अभिधेति यावत् । सा च द्विधा भिद्यते घातिस्थानभेदात् । भेदद्वयभिन्नायाश्चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां रसस्य संज्ञाया निरूपणा यस्मिन् तत् संज्ञाख्यं प्रथमं द्वारमिति भावः । तथा 'पच्चय' त्ति द्वितीयं प्रत्ययद्वारं प्रत्ययो नाम हेतुः, चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतिषु मध्ये कस्याः प्रकृतेः रसः केन मिथ्यात्वादिना हेतुना बध्यते इति निरूपणपरं द्वितीयं द्वारं प्रत्ययाख्यम् । 'विवाग' त्ति तृतीयं विपाकद्वारम् । शरीरपुद्गलादीनाश्रित्य कर्मप्रकृतीनां स्वविपाकाविर्भावलक्षण उदयो यत्राविष्करिष्यते तद् विपाकद्वारम् । 'सुहअसुहा' त्ति सकषायजीवानाश्रित्य यासां प्रकृतीनां विपाकोदयोऽभिलषणीयोऽभिप्रेतो भवति ताः शुभास्तद्विपरीतास्त्वशुभास्तासां प्ररूपणा यस्मिन् करिष्यते तत् शुभाशुभाख्यं चतुर्थं द्वारम् । 'सामित्त' त्ति बन्धकत्वेनाधिपत्यम् । उत्कृष्टजघन्यरसबन्धयोः स्वामिनां 'सागारो जागारा सुओवजुत्तोऽत्थि करणपज्जत्तो'(गाथा-२६) इत्यादिना, स्वरूपं यत्र दर्शयिष्यते तत् स्वामित्वद्वारम् ।

'साइआई' त्ति साद्यादिद्वारम् । जघन्योत्कृष्टतत्प्रतिपक्षरसबन्धानाम्–'सुहियरधुवबंधीणं कमा अणुक्कोसियरो य अजहण्णो । बंधम्मि चउविगप्पो सेसो तिविहोऽत्थि दुविगप्पो' (गाथा-२९२) इत्यादिना तदीयैकस्वाम्यपेक्षया साद्यादिभावस्य यत्र चिन्तनं करिष्यते तत्साद्यादिद्वारम्, अत्रादिपदाद् अनादिध्रुवाऽध्रुवपदानां परिग्रहो ज्ञेयः । **'काल'** त्ति कालद्वारम् । यत्र 'सव्वाण लहू समओ गुरुअणुभागस्स सिं गुरू वि भवे ।' (गाथा-२९८) इत्यादिनोत्कृष्टानुत्कृष्ट-जघन्याऽजघन्यरूपचतुर्विकल्पानां रसबन्धानामेकजीवाश्रयो निरन्तरप्रवृत्त्यवधिकः कालो जघन्योत्कृष्टभेदतश्चिन्तयिष्यते तत्कालाख्यं सप्तमं द्वारम् । **'अंतर'** त्ति अन्तरद्वारम् । "खवगोऽत्थि जाण सामी गुरुअणुभागस्स अंतरं णो सिं" (गाथा-४०८) इत्यादिना तेषामेकजीवाश्रयोत्कृष्टादिरसबन्धानां स्वनिमित्तापगमेन विरतानां भाविनि नियमेन प्रवर्त्तनशीलानां यो विरहकाल उत्कृष्टादिसदृशबन्धद्वयान्तरालक्षणः स यत्र जघन्योत्कृष्टभेदतो दर्शयिष्यते तदष्टममन्तराख्यं द्वारम् । **'सण्णियासो'** त्ति "बंधंतो गुरुरसमिगणाणावरणस्स सेसगाण गुरु" (गाथा ५१४) इत्यादिगाथासमूहेन समकालप्रवर्त्तनतः सन्निकृष्टानां परस्परसम्बन्धमुपगतानां मतिज्ञानावरणादिचतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतिसत्कैकजीवाश्रयरसबन्धानामुत्कृष्टादिस्वरूपं यत्र प्रतिपादयिष्यते तत्सन्निकर्षद्वारम् । इदमुक्तं भवति–कस्यचिदेकजीवस्य मत्यादिज्ञानावरणकर्मण उत्कृष्टादिरसबन्धे प्रवर्त्तमाने तदन्येषां श्रुतादिज्ञानावरणकर्मणां दर्शनावरणादिकर्मोत्तरप्रकृतीनां च यो रसबन्धः प्रवर्त्तते स उत्कृष्टः प्रवर्त्तते अनुत्कृष्टो वा ? एवं तस्य जघन्यरसबन्धे प्रवर्त्तमाने तदन्येषां जघन्यः प्रवर्त्ततेऽजघन्यो वेत्यादिकं यत्रापश्नपूर्वकमेव दर्शयिष्यते तत्सन्निकर्षद्वारम् ।

'भंगविचयो उ' इत्यादिगाथा, तत्र तुकारः पूर्वापेक्षया विशेषद्योतनार्थकः, तेन चानन्तराभिहितानि सन्निकर्षद्वारपर्यन्तानि द्वाराणि एकजीवमाश्रित्याभिधास्यन्ते, इदं भङ्गविचयाख्यं वक्ष्यमाणानि च भागादीनि द्वाराणि पुनर्नानाजीवानाश्रित्येत्यर्थः । अत्र **'भंगविचयो'** त्ति भङ्गविचयद्वारम् । भङ्गा विकल्पाः, ते चोत्तरप्रकृतिसत्कोत्कृष्टादिरसबन्धस्यैकानेकबन्धकाऽबन्धकनिष्पन्नाः कालभेदतो नानारूपेण सम्पद्यमानास्तेषां भङ्गानां विचयः–समूहश्चिन्तनं वा भङ्गविचयः । स एव "णिरयणरसुराऊण निविचयरसस्स अत्थि अडभंगा" इत्यादिना यत्र दर्शयिष्यते तद् भङ्गविचयद्वारम् । **'भागो'** त्ति भागद्वारम् । यत्र "भागो असावयसमो उक्कोसरसस्स बधगा णेयं" इत्यादिना नरकाद्यायुष्कप्रमुखोत्कृष्टरसबन्धकाः शेषबन्धकानामियतिथे-सख्येयतमेऽसंख्येयतमे अनन्ततमे वा भागे वर्त्तन्ते संख्येयतमादिबहुषु वा भागेषु विद्यन्ते इत्यादि प्रदर्शनार्थं भवति । **'परिमाणं'** ति परिमाणद्वारम् । यत्र 'जेसिं सामी खवगो सिं नह तिण्हाउगाण संखेज्जा' इत्यादिना मत्यादिज्ञानावरणप्रमुखाणामुत्कृष्टादिरसबन्धकानां संख्येयाऽसंख्येयादिरूपेण परिमाणम्–सङ्ख्यानं प्ररूपयिष्यते । **'खेत्त'** त्ति क्षेत्रद्वारम् । यत्र 'लोगासंखियभागे सव्वेसि बधगा गुरुरसस्स' इत्यादिना मत्यादिज्ञानावरणप्रमुखाणां बन्धकानां नानाजीवाश्रयं क्षेत्रम्–विवक्षितेऽस्मिन् समये वर्त्तमानानामुत्कृष्टपरिमाणवतामाधारभूतं

यल्लोकासंख्येयासंख्येयभागादिरूपं तत्प्रतिपादयिष्यते । **'फोसणा'** त्ति स्पर्शनाद्वारम् । यत्र "छुहिआऽत्थि बंधगेहिं चउवण्णाअ णपुमाइगाण तहा । तिरियजुगलस्स तेरस भागा तिव्वाणुभागस्स" इत्यादिना प्रत्येकमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टादितत्तद्रसस्य बन्धकैरनन्तेऽतीतकाले स्वस्थानमारणसमुद्घातादित इयद्-रज्जू-द्विरज्जू-त्रिरज्ज्वादिप्रमाणमाकाशखण्डं स्पृष्टम् इत्येतत्प्रकटयिष्यते । **'कालो'** त्ति कालद्वारम् । यत्र 'तिव्वरसस्स जहण्णो समयो संखाऽत्थि जाण सिं जेट्ठो' इत्यादिना पूर्ववत् सर्वासामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टादितत्तद्रसबन्धमधिकृत्य जघन्येतरभेदेन कालः प्ररूपयिष्यते । केवलं पूर्वोद्दिष्ट कालद्वार एकजीवाश्रयोऽसावभिधास्यतेऽत्र तु स नानाजीवाश्रय इति विशेषः । **'अंतर'** त्ति अन्तरद्वारम् । यत्र 'सव्वाण लहुं समयो तिव्वरसस्संतरं छमासाऽत्थि ।' इत्यादिगाथागुच्छकेन मतिज्ञानावरणप्रभृतीनामुत्कृष्टजघन्यादिचतुर्विकल्पकरसबन्धानां प्रत्येकमधिकृत्य नानाजीवाश्रयं विवक्षितरसबन्धद्वयान्तरालरूपं तत्तद्बन्धकविरहकालप्रमाणमन्तरं जघन्येतरभेदतः कथयिष्यते । **'भाव'** त्ति भावद्वारम् । यत्र अधिकृतोत्कृष्टजघन्यादिरसबन्ध औपशमिकादिभावानां मध्ये केन भावेन निर्वर्त्यत इत्येतत्प्ररूपयिष्यते । **'अप्पबहु'**त्ति निर्देशस्य भावप्रधानत्वादल्पबहुत्वद्वारम् । यत्र 'सव्वऽप्पमहियो केवलणाणावरणस्स तिव्वअणुभागो' इत्यादिगाथाकदम्बकेनौघत आदेशतश्च मार्गणासूत्कृष्टजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं केवलादिज्ञानावरणप्रमुखाणां स्वस्थानपरस्थानभेदभिन्नमल्पबहुत्वमनन्तगुणहीनाधिकत्वप्रतिपादनपरं दर्शयिष्यते तत्सान्वर्थकमल्पबहुत्वद्वारम् । तथा **'हुन्ति'** त्ति भवन्ति, कानि कथमिति आशङ्क्याह–**'कमा'** इत्यादि, अष्टादश द्वाराणि व्याख्यापथरूपाणि क्रमाद् यथाक्रमं प्रस्तुते प्रथमाधिकारे भवन्ति । प्रथमं संज्ञाद्वारं तदनु प्रत्ययद्वारमनया परिपाट्याऽनन्तरोक्तानां द्वाराणां प्ररूपणा प्रथमाधिकारे करिष्यत इति भावः ।

इदन्तु ज्ञेयम्–प्रतिद्वारमोघत आदेशतश्चेति द्विधा प्ररूपणा करिष्यते । तत्रापि स्वामित्वादिकतिपयद्वारेषूत्कृष्टजघन्यरसबन्धरूपपदद्वयमपेक्ष्य, साद्यादिकतिपयद्वारेषु पुनरुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरसबन्धलक्षणपदचतुष्टयमधिकृत्येति । तथाऽस्मिन् पूर्वार्धरूपे प्रस्तुतग्रन्थे प्रथमाधिकारगतानां संज्ञादिपरिमाणपर्यवसानानां द्वादशानां द्वाराणां सप्रपञ्चं निरूपणं करिष्यते । प्रथमाधिकारगतानि शेषषड्द्वाराणि द्वितीयादिशेषाश्चत्वारोऽधिकाराश्चोत्तरार्धे वर्णयिष्यन्त इति । प्रस्तुतग्रन्थे संज्ञादिसर्वद्वारेष्वोघतः प्ररूपणा चतुर्विंशत्युत्तरशतोत्तरप्रकृतीराश्रित्य करिष्यते, आयुषामपि समकमेव प्ररूपणात् । आदेशतो मार्गणासु तु स्वप्रायोग्याणां सप्तकर्मणामुत्तरप्रकृतीराश्रित्यैकत्र प्ररूपणा करिष्यतेऽन्यत्र त्वायुष इति । सन्निकर्षादिषु कतिपयद्वारेषु त्वोघवदायुषः प्ररूपणा पृथग् न करिष्यते । तथा मार्गणासु स्वामित्वादिकं प्ररूपयन् सप्तत्युत्तरशतमार्गणास्वेव प्ररूपयिष्यति, अकषाय-यथाख्यातचारित्र-केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपमार्गणाचतुष्के कषायजन्यरसबन्धाभावात् काषायिकरसबन्धस्यैवेह प्ररूपणाविषयत्वाच्चेति ॥५॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धे मङ्गलाभिधेयादिनिरूपणम् ॥

॥ अथ प्रथमं संज्ञाद्वारम् ॥

अथ '**यथोद्देशं निर्देशः**' इति न्यायादनन्तरोक्तगाथाभ्यां नामग्राहं दर्शितद्वारेषु मध्ये प्रथमं संज्ञाद्वारं सप्रपञ्चमाह—

सण्णा दुविहा घाइट्ठाणेहिं मूलघाइचउगस्स ।
पणचत्तुत्तरपयडी घाई सेसा अघाईओ ॥६॥

(प्रे०) '**सण्णा**'त्ति संज्ञा कर्मप्रकृतीनामिति शेषः। कतिविधेत्याह–'**दुविहा**' त्ति द्विविधा। काभ्यामित्याह–'**घाइट्ठाणेहिं**' त्ति घातिस्थानाभ्याम्, घातिसंज्ञा स्थानसंज्ञा चेवं द्विविधा संज्ञा कर्मणां प्रकृतीनां भवतीति भावः । '**मूलघाइचउगस्स**' त्ति ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणस्य मूलघातिचतुष्कस्य '**पणचत्तुत्तरपयडी**' त्ति पञ्चचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतयो वक्ष्यमाणनाम्न्यः '**घाई**' त्ति घातिसंज्ञाभाजः, आत्मनो ज्ञानादिगुणघातकत्वात् । '**सेसा**' त्ति उक्तशेषास्ताश्च वेदनीयायुर्नामगोत्रलक्षणस्याघातिचतुष्टयस्य नवसप्ततिरुत्तरप्रकृतय इति भावः । '**अघाईओ**' त्ति अघातिन्योऽघातिसंज्ञाभाजो लोकितलोकालोकस्वरूपाणां भगवतां सर्वज्ञानामपि तासां कासाञ्चिदुदयादिसंभवेऽपि ज्ञानादिगुणघातनविरहात् । अत्रायम्भावः–अष्टानां कर्मणां चतुर्विंशत्युत्तरशतमुत्तरप्रकृतयः सन्ति, प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदेन वर्णादिचतुष्कद्वयस्य विवक्षणात् । तासु पञ्चचत्वारिंशत्प्रकृतयो घातिन्य उच्यन्ते नवसप्ततिप्रकृतयश्चाऽघातिन्य इति ॥६॥

अथ घातिप्रकृतीनां भेदद्वयमभिधित्सुराह––

केवलदुगावरणपणनिद्दा, मिच्छत्तबारसकसाया ।
वीसाऽत्थि सव्वघाई, पणवीसा देसघाईओ ॥७॥

(प्रे०) '**केवले**' त्यादि, अत्र '**सव्वघाई**' त्ति सर्वघातिन्यः कर्मप्रकृतय इति गम्यते । '**अत्थि**' त्ति सन्ति । कति ? इत्याह–'**वीसा**'त्ति विंशतिसंख्याकाः । पञ्चचत्वारिंशति घातिप्रकृतिषु मध्ये विंशतिः प्रकृतयः सर्वघातिन्यः सन्ति । एतासां जघन्यरसस्पर्द्धकानामपि सर्वघातित्वेन तद्विपाकोदये स्वघात्यात्मगुणानां समूलं हन्तृत्वात् । ताश्चैव नामग्राहं निर्दिशति–'**केवलदुग**' इत्यादिना, केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणनिद्राप्रचलानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिमिथ्यात्वप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभलक्षणा विंशतिः, एताः सर्वजघन्यरसा अपि बध्यमानाः सर्वघातिन्य एव भवन्ति । उक्तञ्च **श्रीशिवशर्मसूरिभिः शतकग्रन्थे**––'केवलनाणावरणं दंसणछक्कं च मोहबारसगं । ता सव्वघाइसन्ना हवंति मिच्छत्त वीसइमं ॥' इति ॥

तथा '**देसघाईओ**' त्ति देशघातिन्यः स्वघात्यज्ञानादिगुणैकदेशघातित्वात् । कति ? इत्याह- '**पणवीसा**' त्ति पञ्चविंशतिः, ताश्चेमाः–मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणाऽवधिज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणचक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणाऽवधिदर्शनावरणसंज्वलनक्रोधमानमायालोभ-हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सानपुंसकवेदस्त्रीवेदपुरुषवेददानान्तरायलाभान्तरायभोगान्तरायोपभोगान्तरायवीर्यान्तरायस्वरूपाः । आसां जघन्यरसस्पर्द्धकानि देशघातीन्येव भवन्ति ।

ननु यद् भवतोक्तं–"जघन्यरसस्पर्द्धकानि देशघातीन्येव भवन्ती' ति अस्य कोऽर्थः ? उच्यते, देशघातिप्रकृतीनामप्युत्कृष्टरसस्पर्द्धकानि सर्वघातीन्येव भवन्ति, मुक्त्वा सम्यक्त्वमोहनीयम् , मध्यमरसस्पर्द्धकानि तु सर्वघातीनि देशघातीनि वा सन्ति, जघन्यरसस्पर्द्धकानि तु नियमाद्देशघातीनि भवन्ति न तु सर्वघातीनीति । एतासां देशघातित्वं समर्थयन्नुक्तवान् **शतकग्रन्थे**–

नाणावरणचउक्कं, दंसणतिगमंतराइए पंच । पणुवीस देसघाई, संजलणा नोकसाया य ॥

तथा **बन्धनकरणपीठिकायाम्**–"स्वविषयं कात्स्न्र्येन घ्नन्ति यास्ताः सर्वघातिन्यः, ताश्च केवलज्ञानावरणमाद्यद्वादशकषाया मिथ्यात्वं निद्राश्च पञ्चेति विंशतिः । एता हि प्रकृतयो यथायोगमात्मघात्यं गुणं सम्यक्त्वं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं वा सर्वात्मना घातयन्तीति' । उक्तशेषा घातिकर्मप्रकृतयः पञ्चविंशतिर्देशघातिन्यः, तासां ज्ञानादिगुणैकदेशविघातित्वात् । इयमत्र भावना–इह यद्यपि केवलज्ञानावरणीयं कर्म ज्ञानरूपं गुणं सर्वात्मना हन्तुं प्रवर्त्तते तथापि न तत्तेन समूलं हन्तुं शक्यते तथास्वभावत्वात् । यथा महीयसापि घनपटलेन रविचन्द्रकिरणावरणप्रवृत्तेनापि तत्प्रभा, अन्यथा दिनरजनीविभागानुभवानुपपत्तेः, ततः केवलज्ञानावरणीयेनावृतेऽपि सर्वात्मना केवलज्ञाने यः कोऽपि तद्गतमन्दविशिष्टविशिष्टतरप्रकाशरूपो ज्ञानैकदेशो मतिज्ञानादिसंज्ञितस्तं यथायोग मतिश्रुतावधिमनःपर्यवज्ञानावरणानि घ्नन्ति, तस्मात्तानि देशघातीनि । एवं केवलदर्शनावरणीयेनावृतेऽपि सर्वात्मना केवलदर्शने या तद्गता मन्दमन्दतमविशिष्टादिरूपा प्रभा चक्षुर्दर्शनादिसंज्ञा तां यथायोगं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणान्यावृण्वन्ति, ततस्तान्यपि दर्शनैकदेशघातित्वाद्देशघातीनि । निद्रादयश्च पञ्च प्रकृतयो यद्यपि केवलदर्शनावरणावृतकेवलदर्शनगतप्रभामात्र दर्शनैकदेशमुपघ्नन्ति, तथापि ताश्चक्षुर्दर्शनावरणादिकर्मक्षयोपशमसमुत्थां दर्शनलब्धिं समूलकाषं कषन्तीति सर्वघातिन्य उक्ताः । सञ्ज्वलनकषाया नोकषायाश्चाद्यद्वादशकषायक्षयोपशमसमुत्थां चारित्रलब्धिं देशतो घ्नन्ति, तेषामतिचारमात्रसंपादनार्थत्वात् । उक्तं च-"सव्वेऽवि य अइआरा संजलणाण तु उदयओ हुंति । मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं ॥१॥ तथा–"घाइखओवसमेणं सम्मचरित्ताइ जाइ जीवस्स । ताणं हणंति देसं संजलणा नोकसाया अ ॥२॥ ततस्तेऽपि देशघातिनः । तथा इह यद्वस्तु जीवो ग्रहणधारणादियोग्यं न ददाति न लभते न भुङ्क्ते नोपभुङ्क्ते न करोति वा तद्दानान्तरायादिविषयः । तच्च सर्वद्रव्याणामनन्ततमो भागः, ततस्तथारूपसर्वद्रव्यैकदेशविषयदानादिविघातकारित्वाद्देशघाति दानान्तरायादीति । इह च देशघातिलक्षणं सर्वघात्यन्यत्वगर्भं द्रष्टव्य, तेन न चारित्रैकदेशरूपदेशविरतिप्रतिबन्धकानामप्रत्याख्यानानां देशघातित्वम् । यद्वा चारित्रापेक्षया देशघातित्वं चारित्रगतापकर्षजनकत्वमेव, तच्च नाप्रत्याख्यानानामित्यदोषः । तदेवं घातिकर्मप्रकृतयः काश्चिन् सर्वघातिन्यः काश्चिच्च देशघातिन्य इति स्थितम् । नामगोत्रवेदनीयायुरन्तर्गतास्तु प्रकृतयो हन्तव्याभावान्न कमपि घ्नन्तीति ता अघातिन्यो द्रष्टव्याः" इति ॥७॥ **उक्ता बन्धमाश्रित्य सर्वघातिदेशघातिप्रकृतयः । अथ घातित्व-साम्याददुयसत्त्वे समाश्रित्य ता उच्यन्ते**—

बंधं पडुच्च एआ, अण्णह होअन्ति उदयसत्तासु ।
मीसं तु सव्वघाई, सम्मत्तं देसघाई उ ॥८॥

(प्रे०) '**बंधं**' इत्यादि, तत्र '**एआ**' त्ति एता अनन्तरोक्ता विंशतिसर्वघातिपञ्चविंशतिदेशघातिलक्षणाः पञ्चचत्वारिंशद्घातिप्रकृतयो वेदितव्याः । कम् प्रतीत्य ? '**बंधं पडुच्च**' त्ति बन्धं प्रतीत्य–आश्रित्य । 'अण्णह' त्ति अन्यथा-प्रकारान्तरेण । प्रकारान्तरमेवाह–'**उदयसत्तासु**' त्ति, उदयसत्तयोः, उदयसत्ते समाश्रित्येत्यर्थः । उदयसत्ते आश्रित्य किमित्याह– **मीसं तु सव्वघाई** त्ति मिश्रं-मिश्रमोहनीयं तु सर्वघाति । '**सम्मत्तं देसघाई उ**' त्ति सम्यक्त्वं–सम्यक्त्वमोहनीयं देशघाति, उभयत्र तुरवधारणे ततश्च मिश्रमोहनीयं सर्वघात्येव सम्यक्त्वमोहनीयञ्च देशघात्येवेति ।

अत्रायम्भावः–बन्धप्रायोग्यासु चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतिषु विंशतिप्रकृतयः सर्वघातिव्यपदेशं लभन्ते पञ्चविंशतिप्रकृतयश्च देशघातिव्यपदेशमिति । तत्र याः सर्वघातिन्यस्ताश्च मिश्रमोहनीयसंयुताः सत्य उदयसत्तयोरेकविंशतिर्भवन्ति, एवं देशघातिन्यः सम्यक्त्वमोहनीयसहिताः षड्विंशतिर्भवन्ति इति । न चाबद्धं मिश्रमोहनीयसम्यक्त्वमोहनीये कथं उदयसत्तयोर्भवतः, न हि कोशाऽक्षिप्तं द्रव्यं कस्यापि भोगेऽवायाति न वा तत् निधित्वमवाप्नोतीति वाच्यम् । शुभाध्यवसायविशेषतः संजाततद्धीनरसस्य पूर्वबद्धस्य मिथ्यात्वमोहनीयस्यैव मिश्रमोहनीयत्वेन व्यपदेशात्, ततोऽपि संजाततद्धीनतररसस्य सम्यक्त्वमोहनीयत्वेन व्यवहरणादिति । अत्र मदनकोद्रवादिदृष्टान्ता ग्रन्थान्तरादवसेयाः । ततश्चोदयसत्तयोर्घातिप्रकृतयः सप्तचत्वारिंशत्प्राप्यन्ते, तद्यथा–एकविंशतिः सर्वघातिन्यः षड्विंशतिश्च देशघातिन्य इति, बद्धस्यैकस्यैव मिथ्यात्वमोहनीयस्य उदयसत्तयोः मिथ्यात्वमोहनीयं मिश्रमोहनीयं सम्यक्त्वमोहनीयमिति व्यपदेशत्रयभवनादिति तात्पर्यम् ॥८॥

अथ देशघातिप्रकृतीनां बन्धेषु सर्वघात्यादिरसस्पर्धकान्याश्रित्याह––

पणवीसदेसघाईण रसो जेट्ठोऽत्थि सव्वघाई उ ।
हस्सो उ देसघाई अगुरू अलहू य अत्थि दुहा ॥९॥

(प्रे०) '**पणवीसे**' त्यादि, पञ्चविंशतिदेशघातिनीनां रसो ज्येष्ठोऽस्ति सर्वघाती तु, ह्रस्वस्तु देशघाती अगुरुलघुश्चास्ति द्विधा इति पदानि । अत्रादौ तावद् रसस्य चातुर्विध्यं दर्श्यते, **तद्यथा**–यस्माद्रसादल्पीयान् रसः कदापि केनापि जन्तुना न बध्यते, तस्य रसस्य बन्धो जघन्यरसबन्ध उच्यते, जघन्यरसबन्धात्क्रमवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टरसबन्धं यावत् सर्वोऽपि रसबन्धोऽजघन्यरसबन्ध इति । तथा यस्माद्रसात्कस्यापि जन्तोः कदापि रसबन्धोऽधिकतरो न भवति स उत्कृष्टरसबन्धो भण्यते, एवमुत्कृष्टरसबन्धात्क्रमहान्या जघन्यरसबन्धं यावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्टरसबन्धो भवतीति । पदार्थस्तु–यदा देशघातिप्रकृतय उत्कृष्टादिरसयुक्ता बध्यन्ते तदा रसमाश्रित्य तासु स्वस्वप्रायोग्याण्युत्कृष्टरसस्पर्धकानि सर्वघातीनि भवन्ति जघन्यरसस्पर्धकानि देशघातीनि, मध्य-

मानि च तानि कानिचिद् देशघातीनि कानिचिच्च सर्वघातीनि भवन्ति, **तद्यथा**-वस्तुतो रसस्पर्धकानि अनन्तानन्तानि सन्ति । तेषु च बन्धप्रायोग्यादाद्यरसस्पर्धकात् तान्यनन्तानि देशघातीनि सन्ति तत ऊर्ध्वमनन्तानि सर्वघातीनि । ततश्चाद्यस्पर्धकस्य देशघातित्वाद् जघन्यरसस्य देशघातित्वमुपपन्नम् । एवमाद्यस्पर्धकादूर्ध्वमपि देशघातिनां तेषां भावात्तत ऊर्ध्वं च सर्वघातिनामपि सद्भावादनुत्कृष्टोऽजघन्यश्च रसः प्रत्येकं देशघाती सर्वघाती च भवति, मध्यमरसस्पर्धकानां केषाञ्चिद्देशघातित्वस्य केषाञ्चिच्च सर्वघातित्वस्य भावात् । तथोत्कृष्टरसस्पर्धकस्य सर्वघातित्वादुत्कृष्टरसस्य सर्वघातित्वमेवेति । अत्रासत्कल्पनया घटना क्रियते-समुदितानि रसस्पर्धकानि अनन्तानन्तान्यपि दश सहस्राणि कल्प्यन्ते । तेषु प्रथमशतपञ्चकं देशघाति कल्प्यते, तत ऊर्ध्वमुत्कृष्टपर्यन्तानि सर्वाणि सर्वघातीनीति । ततो यदा कोऽपि जन्तुरुत्कृष्टरसबन्धं करोति तदा तस्याद्यानि शतपञ्चकप्रमितानि रसस्पर्धकानि देशघातीनि बध्यन्ते तत ऊर्ध्वं यावदुत्कृष्टरसस्पर्धकं तावत् सर्वाणि सर्वघातीनि, ततश्च जघन्यरसस्पर्धकस्य देशघातित्वाद् जघन्यरसो देशघाती उच्यते । तथा जघन्यस्पर्धकादूर्ध्वमेकोनपञ्चशतं यावत् स्पर्धकानां देशघातित्वात् ततः परमुत्कृष्टस्पर्धकादर्वाक् सर्वेषां सर्वघातित्वादनुत्कृष्टोऽजघन्यश्च रसो द्विधा देशघाती सर्वघाती वा भवति । एवमुत्कृष्टरसस्पर्धकस्य नियमात्सर्वघातित्वाद् घटत एवोत्कृष्टरसस्य सर्वघातित्वमिति, उक्तं चार्थतः **कषायप्राभृतचूर्णौ तथा च तद्ग्रन्थः**-"चदुसंजलण-णवणोकसायाणमणुभागसंतकम्मं देसघादीणमादिफद्दयमादिं कादूण उवरि सव्वघादि त्ति अपडिसिद्ध" । अस्यायं भावार्थः-सत्तायां संज्वलनचतुष्कनवनोकषायाणां रसस्पर्धकानि=पूर्वरसस्पर्धकानि देशघात्याद्यरसस्पर्धकादारभ्याप्रतिषिद्धसर्वघातिरसस्पर्धकानि यावद् भवन्ति । स्वप्रायोग्यचरमरसस्पर्धकं यावन्निरन्तरं भवन्ति न त्वन्तराले शून्यत्वं स्पर्धकानां भवतीति ॥९॥ अथ सर्वघात्यघातिप्रकृतिषु कीदृशो रसः कतिविधश्च बध्यते ? तन्निरूपणार्थमाह—

चउहा वि सव्वघाई, अणुभागो अत्थि सव्वघाईणं ।
अत्थि अघाईण रसो चउव्विहो घाइपलिभागो ॥१०॥

(प्रे०) '**चउहा**' इत्यादि, अत्र '**सव्वघाईण**' त्ति सर्वघातिनीनां प्रकृतीनाम् । '**अणुभागो**' त्ति अनुभागः-रसः । '**चउहा**' त्ति चतुर्धापि, कीदृशः ? '**सव्वघाई**' त्ति सर्वघाती '**अत्थि**' त्ति अस्ति ।

इह सर्वघातिप्रकृतीनां जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टलक्षणश्चतुर्धा रसबन्धो भवति । स सर्वोऽपि सर्वघात्येव, न तु देशघात्यपीति । तथा '**अघाईण**' त्ति अघातिप्रकृतीनाम् '**रसो**' त्ति रसः '**अत्थि**' त्ति अस्ति, कतिविधः ? '**चउव्विहो**' त्ति चतुर्विधः जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपः **कीदृशः** ? '**घाइपलिभागो**' त्ति घातिप्रतिभागः-घातिप्रकृतीनां रसेन सदृश इति ।

अत्रेयं भावना–यथा सर्वघातिप्रकृतीनां जघन्यादिश्चतुर्धा रसो बध्यते तथैवाघातिप्रकृतीनामपि । यद्यप्यघातिप्रकृतीनां रसः स्वभावतोऽघाती वर्तते तथापि यथाऽचौरोऽपि चौरसंसर्गाच्चौरो गण्यत एवं घातिप्रकृतीनां साहचर्यादासां रसो घातिप्रतिभागो–घातिसदृशो घातीव दोषकरो भवति । तथा चोक्तमघातिप्रकृतीराश्रित्य शतकचूर्णौ-"अघातिणोवि घातिसहिता तग्गुणा भवंति दोषकरा इत्यर्थः" इति ॥१०॥

गतं घात्यादिसंज्ञाप्ररूपणमधुना रसबन्धानामेकद्व्यादिस्थानसंज्ञामाह—

णाणावरणचउक्कं तिदंसणावरणपुरिससंजलणा ।
तह पंच अंतराया इह सत्तदसण्ह पयडीणं ॥११॥
चउठाणिओऽत्थि जेट्ठो अणुभागो एगठाणिओ हस्सो ।
अजहण्णोऽणुक्कोसो, इगदुतिचउठाणिओ णेयो ॥१२॥

(प्रे०) 'णाण' इत्यादि, अत्र आदौ तावत् सप्तदशदेशघातिप्रकृतीनां चतुःस्थानिकादिरसो निरूप्यते–'णाणावरणचउक्कं' इत्यादिना, तत्र केवलज्ञानावरणवर्जज्ञानावरणचतुष्कं केवलदर्शनावरणवर्जदर्शनावरणत्रिकं पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं तथा पञ्चान्तरायाणीति सप्तदशप्रकृतीनां 'जेट्ठो' त्ति उत्कृष्टरसश्चतुःस्थानिकः, कोऽर्थः ? चतुःस्थानिक एव न तु त्रिस्थानिकादिरपि । 'हस्सो' त्ति, ह्रस्वः जघन्यरस एकस्थानिक एव न तु द्विस्थानिकादिरिति । 'अजहण्णोऽणुक्कोसो' त्ति अजघन्योऽनुत्कृष्टश्च रसः 'णेयो' त्ति ज्ञेयः, कीदृशः ? 'इगदुतिचउठाणिओ' त्ति एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिक इति ।

अत्रेयं भावना–कर्मणां रसो द्विधा भवति–शुभोऽशुभश्च । तत्र शुभो रसो द्वि-त्रि-चतुःस्थानिक एव भवति, न त्वेकस्थानिकोऽपि, तथास्वाभाव्यात् । सप्तमनरकायोग्यप्रकृतिबन्धकेनापि वैक्रियद्विकतैजसकार्मणशरीरत्रसबादरपर्याप्तनामकर्मादिशुभप्रकृतीनां द्विस्थानिको रसो बध्यते, तथैव केवलचक्षुषा दृष्टत्वात् । तथा सप्तदशाऽशुभप्रकृतीनामेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरूपश्चतुर्धाऽपि रसो बध्यते । तत्राप्येकस्थानिको रसः श्रेणिमुपगतस्याऽसुमतोऽनिवृत्तिबादरनाम्नो नवमगुणस्थानकस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु जायते न तु ततोऽप्यर्वाग् न वा श्रेणिमनुपगतानामपीति । सर्वोत्कृष्टसंक्लिष्टस्य जन्तोरासां सप्तदशप्रकृतीनां य उत्कृष्टरसो जायते स चतुःस्थानिक एव । अजघन्योऽनुत्कृष्टश्च कदाचिदेकस्थानिकः कदाचिद् द्विस्थानिकः कदाचित् त्रिस्थानिकः कदाचिच्च चतुःस्थानिको भवतीति । जघन्यस्तु नियमादेकस्थानिकः, क्षपकस्य तत्तद्बन्धचरमसमय एव तद्बन्धादिति ॥११ १२॥ अथोक्तशेषासु प्रकृतिषु स्थानं प्ररूपयन्नाह—

चउठाणी उक्कोसो सेमाण दुठाणियो जहण्णोऽत्थि ।
दुतिचउगठाणिओ खलु अजहण्णो तह अणुक्कोसो ॥१३॥

(प्रे०) 'चउ०'इत्यादि, अत्र 'सेसाण'त्ति उक्तशेषाणां सप्तोत्तरशतप्रकृतीनाम् 'उक्कोसो' त्ति उत्कृष्टरसः 'चउठाणी'त्ति चतुःस्थानिको भवति । "जहण्णो'त्ति जघन्यरसः 'दुठाणियो' द्विस्थानिकः 'अत्थि' त्ति अस्ति । 'अजहण्णो तह अणुक्कोसो' त्ति अजघन्यस्तथानुत्कृष्टो द्वि-त्रि चतुःस्थानिकः 'खलु' खलु निश्चयेन भवति ।

अत्रायम्भावः—पूर्वोक्तसप्तदशप्रकृतिव्यतिरिक्तासु प्रकृतिषु काश्चिच्छुभाः काश्चिच्चाशुभाः सन्ति । परं तासां सर्वासामपि द्वि-त्रि-चतुःस्थानिको रसो बध्यते न तु कदापि कस्याश्चिदप्येकस्थानिक इति।

ननु शुभप्रकृतीनां रसबन्धो मा भूदेकस्थानिकस्तथास्वाभाव्यात्, परमशुभानां प्रकृतीनां सोऽस्तु कोऽत्र बाधः ? इति चेदुच्यते—अतिविशुद्धात्मपरिणामस्यैव जन्तोरशुभप्रकृतीनां रस एकस्थानिको जायते, तादृग्विशुद्धस्तु श्रेणावेव नवमे दशमे वा गुणस्थानके यथास्थानं भवति तत्र चानन्तरोक्तज्ञानावरणचतुष्कादिसप्तदशव्यतिरिक्तानामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव नास्ति, तद्बन्धस्य पूर्वमेवोपरमात् । सत्यपि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणयोर्बन्धे तद्रसस्य सर्वघातित्वेन जघन्यतोऽपि द्विस्थानिकस्यैव भावात् । शुभानामेकस्थानिकरसबन्धप्रतिषेधस्तु पूर्वमेव भावितः । ततश्चेदमायातम्- सप्तोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धश्चतुःस्थानिको जघन्यरसबन्धो द्विस्थानिकोऽजघन्योऽनुत्कृष्टो रसबन्धस्तु द्विस्थानिकस्त्रिस्थानिकश्चतुःस्थानिको वा भवतीति ।

अत्र घात्यादिसंज्ञाप्ररूपणायां स्थानसंज्ञाप्ररूपणायाश्च देशघातिप्रकृतीनां पञ्चविंशतेरपि रसस्पर्धकानि देशघातीनि सर्वघातीनि च भवन्ति । तत्र स्थानप्ररूपणायां सप्तदशदेशघातिप्रकृतीनां बध्यमानरस एकस्थानिकः श्रेणावन्तरकरणानन्तरं भवति तासामेवान्तरकरणतः प्रागवस्थायां वर्त्तमानानां श्रेणावर्त्तमानानां च तथा शेषाणां देशघातिनामष्टनोकषायाणां द्विस्थानिकरसबन्धो भवति, मिथ्यादृशां पञ्चविंशतेरपि द्वि त्रि चतुःस्थानिकरसबन्धो भवतीति यत् प्ररूपितं तच्चान्ये एवं व्याख्यानयन्ति-'यथा बध्यमानस्थितिचरमनिषेकमधिकृत्य स्थितिबन्धमानं भण्यते न तु प्रथमनिषेकमधिकृत्य,एवं पञ्चविंशतेर्देशघातिप्रकृतीनामाद्यस्य जघन्यरसस्पर्धकस्यैकस्थानिकत्वे सति तुल्यरसत्वेऽप्यष्टनोकषायाणां कस्मिंश्चिदपि समये बध्यमानरसस्पर्धकेषु चरमरसस्पर्धकमेकस्थानिकं नोपलभ्यतेऽत एकस्थानिकबन्धोऽष्टनोकषायाणां न निर्दिष्टः । न चैतेनाष्टनोकषायाणामेकस्थानिकरसस्पर्धकान्येव न भवन्तीति वाच्यम्, मोहनीयस्याप्यन्तरकरणात्प्राग् द्विस्थानिकस्यैव रसबन्धस्य भावेन स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरपूर्वस्पर्धकस्याभवनेऽप्यन्तरकरणप्रवेशप्रथमसमयात्स्त्रीवेदिनां स्त्रीवेदस्य नपुंसकवेदिनां च यो नपुंसकवेदस्य एकस्थानिकरसोदयो भवति तदनुपपत्त्यापत्तेः । न च घातेन तद्रसस्पर्धकानां निर्वर्तनं

भवतीति चरमपूर्वस्पर्धकं विनाऽन्यस्पर्धकानां निर्वर्तनस्यानन्तगुणवृद्धस्पर्धकान्तराल एव भावात्, न तु सर्वपूर्वस्पर्धकादधस्तनेऽपि घातस्पर्धकोत्पत्तिः । अतोऽपि सिद्धयन्त्येकस्थानिकरसस्पर्धकानि प्रथमाद्यष्टमान्तगुणस्थानेषु वर्तमानानां सर्वजीवानां सत्तायां भवन्त्येवेति । एवञ्च पञ्चविंशतेरेक-द्वित्रिचतुःस्थानिकत्वेऽपि यः सप्तदशप्रकृतीनामेकस्थानिकत्वनिर्देशः स बध्यमानरसचरमस्पर्धका-पेक्षया विज्ञेयः । एवं सर्वाघातिप्रकृतीनामपि जघन्यरसस्पर्धकमेकस्थानिकं देशघातिप्रकृतिजघन्यरस-बन्धतुल्यं भवति तथापि विवक्षिते कस्मिंश्चिदपि समये बध्यमानरसस्पर्धकेषु चरमरसस्पर्धकस्यैकस्था-निकत्वानुपलम्भादघातिनीनां जघन्यरसबन्धे द्विस्थानिकत्वनिरूपणं न त्वेकस्थानिकरसबन्धस्य । ततः सर्वासामघातिप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्धकानां बन्धे सद्भावो भवत्येवेति' । एतच्च समय-विदुषा समयानुसारेण सम्यग् विचिन्त्य निर्णेतव्यम् ।

किञ्च मिथ्यात्वरहितानामेकोनविंशतेः सर्वघातिप्रकृतीनां जघन्यरसस्पर्धकं बन्धे तुल्यं, तत्तु-ल्यमेव मिश्रमोहनीयस्य जघन्यरसस्पर्धकम्, ततोऽनन्तानि स्पर्धकानि व्यतिक्रम्य मिश्रस्य सत्तया-मुत्कृष्टस्पर्धकं भवति, ततोऽप्यनन्तगुणं तदनन्तरवर्ति स्पर्धकं, तच्च मिथ्यात्वस्य जघन्यरसस्पर्धकतुल्य-मिति तथा 'पञ्चविंशतेरपि प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धो देशघाती भवति' इत्यत्र स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरपि मिथ्यादृष्टिना तत्प्रायोग्यविशुद्धावस्थायां बध्यमाने जघन्यरसबन्धे चरमस्पर्धकमपि देशघातिरस-युक्तम्, न तादृग्विशुद्धावस्थायां तस्य सर्वघातिरसस्पर्धकं प्रकृतिद्वये बन्धमायातीत्यपि तेरुच्यते । तथा विशुद्धतरावस्थायां मिथ्यादृशा त्रयोदशमोहनीयदेशघातिप्रकृतीनां देशघातिरस एव बध्यते इति, विचार्यमेतद् विदुषा तत्त्वगवेषणदृष्ट्या कर्तव्यश्च यथासमयं तत्त्वनिर्णयः । एतच्च प्रसङ्गतोऽन्य-दुक्तमपि दर्शितमिति गतं संज्ञाद्वारम् ॥१३॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धे प्रथमं संज्ञाद्वारं ॥

॥ अथ द्वितीयं प्रत्ययद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तं द्वितीयं प्रत्ययद्वारं भणितुकाम आरभते—

चउपच्चइयं सायं सोलसमिच्छाइगाण इगहेऊ ।
पणतीसाअ दुहेऊ णेया थीणद्धिआईणं ॥१४॥

(प्रे०) 'चउ०' इत्यादि, प्रत्ययाः कर्मबन्धहेतवस्ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणा-श्चत्वारस्ततश्च कियतीनां प्रकृतीनां कियन्तो बन्धहेतवस्तत्र विचार्यते, **'चउपच्चइयं'** ति चतु-ष्प्रत्ययिकं **'सायं'** ति सातं सातवेदनीयं कर्म तच्च चतुर्भिरपि हेतुभिर्बध्यते, **तद्यथा**–सातं मिथ्यादृष्टौ बध्यत इति मिथ्यात्वप्रत्ययम्, शेषा अपि अविरतिकषाययोगरूपास्त्रयो हेतवः=प्रत्य-या अत्र सन्ति, केवलं मिथ्यात्वस्यैवेह प्राधान्येन विवक्षितत्वात्ते तदन्तर्गतत्वेनैव विवक्षिताः, एव-मुत्तरत्रापि । तदेव सातं मिथ्यात्वोदयाभावेऽप्यविरतिसत्सु सासादनादिषु बध्यत इत्यविरतिप्रत्ययं, शेषं तु कषाययोगलक्षणं प्रत्ययद्वयं पूर्ववत्तदन्तर्गतत्वेन विवक्ष्यते । तदेव मिथ्यात्वाविरत्यभावेऽपि कषायवत्सु प्रमत्तादिषु सूक्ष्मसंपरायावसानेषु बध्यत इति कषायप्रत्ययं, योगप्रत्ययस्तु पूर्ववदन्तर्गतो विवक्ष्यते। तदेवोपशान्तमोहादिषु केवलयोगवत्सु मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावेऽपि बध्यत इति योग-प्रत्ययमित्येवमेकं सातवेदनीयं कर्म सातवेदनीयलक्षणा एका प्रकृतिश्चतुष्प्रत्ययेति । तथा **'सोलस-मिच्छाइगाण'** त्ति षोडशमिथ्यात्वादिकानां मिथ्यात्वनरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुरेकेन्द्रिय-जातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणहुंडकातपसेवार्त्तनपुंसक-वेदलक्षणानां षोडशप्रकृतीनाम् **'इगहेऊ'** त्ति एको मिथ्यात्वलक्षणो बन्धहेतुरेताः षोडशप्रकृ-तयो मिथ्यात्वोदयसद्भाव एव बध्यन्ते न तु मिथ्यात्वोदयाभाववत्सु सास्वादनादिष्वित्यन्वयव्य-तिरेकाभ्यां मिथ्यात्वमेवासां प्रधानं बन्धकारणम्, यद्यपि शेषप्रत्ययत्रयं भवत्येवात्र तथापि तस्य गौणभावः, सास्वादनादिष्वपि तत्सद्भावादिति । **'पणतीसाअ'** त्ति पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां **'थीणद्धिआईणं'** ति स्त्यानर्द्ध्यादीनां **'दु हेऊ'** त्ति द्वौ हेतू मिथ्यात्वाविरतिलक्षणौ । **'णेया'** त्ति ज्ञेयौ । याः प्रकृतयः सास्वादनगुणस्थानान्ते एव बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिद्यन्ते ताः पञ्चविंशति-प्रकृतयस्तथाऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकान्ते बन्धं प्रतीत्य व्यवच्छिद्यमाना दश प्रकृतयो द्वाभ्यां हेतु-भ्यां बध्यन्ते । ताश्चेमाः–स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाख्य-माद्यान्त्यवर्जं मध्यमसंस्थानचतुष्कं न्यग्रोधसादिवामनकुब्जलक्षणं तथैव संहननचतुष्कं ऋषभनाराच-नाराचार्द्धनाराचकीलिकाख्यं नीचैर्गोत्रोद्योताप्रशस्तविहायोगतिस्त्रीवेदतिर्यक्त्रिकदुर्भगत्रिकाणि प्रथम-संहननमनुष्यत्रिकाप्रत्याख्यानकषायचतुष्कौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गनामकर्माणि चेति पञ्चत्रिंश-त्प्रकृतयः । आसां हेतुद्वयन्त्वेवं–मिथ्यादृष्टौ बध्यन्त इति मिथ्यात्वं हेतुरासाम्, सास्वादनादिष्व-

पि बध्यन्त इत्यविरतिरप्यासां बन्धहेतुः । शेषं कषाययोगलक्षणं हेतुद्वयमासां बन्धेष्वस्ति तदत्र गौणं ज्ञेयम्, तद्भावेऽप्युपरितनेषु देशविरत्यादिगुणस्थानेषु तद्बन्धाभावादिति ॥१४॥

उक्तशेषास्वष्टषष्टिप्रकृतिषु प्रत्ययान्निजिगदिषुराह—

तित्थस्स सम्महेऊ आहारदुगस्स संयमणिमित्तो ।
मिच्छत्ताइतिहेऊ सेसाणं पंचसट्ठीए ॥१५॥

(प्रे०) 'तित्थे' त्यादि, तत्र '**सम्महेऊ**' त्ति सम्यक्त्वं हेतुः । कस्य ? '**तित्थस्स**' त्ति तीर्थकरनामकर्मणः, अत्र च मूलेऽनुक्तमपि प्रकृष्टं परममिति सम्यक्त्वस्य विशेषणद्वयं बोद्धव्यम्, प्रकृष्टस्यैव तस्य तीर्थकरनामकर्महेतुत्वेनोक्तत्वात् पूर्वसूरिभिस्तथा चोक्तं तीर्थकृन्नामकर्मणो हेतुनिरूपणावसरे **तत्त्वार्थभाष्यकृता** 'परमप्रकृष्टा दर्शनविशुद्धिः' इत्यादि । '**संयमणिमित्तो**' त्ति संयमः प्रस्तावादप्रमत्तसंयमः, प्रमत्तस्य तद्बन्धाभावाद् निमित्तं हेतुः, कस्य ? '**आहारदुगस्स**' त्ति आहारकद्विकस्याहारकशरीरनामाहारकाङ्गोपाङ्गनामकर्मलक्षणस्य । "सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहार" मिति वचनात् । न हि नाम "तित्थयराहाराणं बधे सम्मत्तसंजमा हेऊ" इत्यनेन साक्षात्सम्यक्त्वसंयमावेव केवलौ तीर्थकराहारकद्विकयोर्बन्धहेतुत्वेनोच्येते, किन्तु सहकारिकारणभूतौ विशेषहेतू, मौलं तु कारणमनयोरपि कषायविशेषा एवे' त्यादिविशेषस्तु **पञ्चसङ्ग्रहे श्रीमन्मलयगिरिपूज्यकृतवृत्तितो** द्रष्टव्य इति । '**पंचसट्ठीए**' त्ति पञ्चषष्ट्याः प्रकृतीनाम्, किंदर्शीनाम् ? '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणाम् '**मिच्छत्ताइतिहेऊ**' मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणास्त्रयो हेतवः आसां बन्धेषु योगस्याव्यभि भावादपि गौणभावेन स नात्र विवक्षितो हेतुतया, उपशान्तमोहादिगुणस्थानेषु योगवत्सु तद्बन्धानुपलम्भादिति ।

त्रिप्रत्ययिकाः पञ्चषष्टिः प्रकृतयश्चेमाः–मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणकेवलज्ञानावरणलक्षणं ज्ञानावरणपञ्चकं चक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणकेवलदर्शनावरणनिद्राप्रचलारूपं दर्शनावरणषट्कमसातवेदनीयं प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभ-संज्वलनक्रोधमानमायालोभ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सापुरुषवेदा इति मोहनीयकर्मणः पञ्चदशप्रकृतयो देवायुर्देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-तैजसशरीर-कार्मणशरीर-समचतुरस्रसंस्थान-वर्णादिचतुष्क-प्रशस्तविहायोगति त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक-स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरादेययशःकीर्त्यस्थिराशुभायशःकीर्तिपराघातोच्छ्वासागुरुलघुनिर्माणोपघाता इति नामकर्मण एकत्रिंशत् प्रकृतयो दानान्तरायलाभान्तरायभोगान्तरायोपभोगान्तरायवीर्यान्तरायरूपमन्तरायपञ्चकञ्चेति । आसां त्रिप्रत्ययिकत्वे युक्तिर्भावितैव । नवरं प्रत्याख्यानचतुष्कस्य किञ्चिदूनत्रिप्रत्ययिकत्वं वाच्यं, तद्बन्धकदेशविरतस्य जन्तोस्तत्र सर्वासंयमाभावात्, उक्तं च '**पञ्चसङ्ग्रहस्य स्वोपज्ञटीकायां**"– 'देशविरतस्य किञ्चिन्न्यूनास्त्रय एव' इत्यादि ।

ननु 'जोगा पयडिपएसा ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ" इति वचनप्रामाण्यात् सर्वासां प्रकृतीनां चतुर्विधोऽपि बन्धो यथायोगं योगकषायरूपप्रत्ययद्वयनिमित्तक उपलभ्यते, तथा" मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' (तत्त्वार्थ० अ० ८ सू० १) इति वचनप्रामाण्येन हेतूनां पञ्चत्वान्नैव घटते भवदुक्तः प्रत्ययचतुष्कादिरिति, अत्रोच्यते–नात्र कश्चिद् दोषश्चिन्तनीयो विवक्षाविशेषविहितव्याख्यानेनैव भेददर्शनान्न तत्त्वतस्तथा–यद्यपि सर्वकर्मणां प्रकृतिप्रदेशयोर्बन्धं प्रति योगा मुख्यं कारणं स्थित्यनुभागयोर्बन्धं च प्रति कषायाः, तथापि मिथ्यात्वाविरती अपि तत्सहकारिकारणत्वेनेष्टे एव, अन्यथा सर्वासामपि प्रकृतीनामविशेषेण सयोगिगुणस्थानं यावत्प्रकृतिप्रदेशयोर्बन्धः, स्थित्यनुभागयोश्च बन्धः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानं यावत् प्रसज्येत । तथा च सति समस्तगुणस्थानादिविचारवैयर्थ्यं स्यात् ।

इदमत्रैदंपर्यम्–इह सर्वेऽपि जीवाः कर्माणि बध्नन्तो योगाख्येन वीर्यविशेषेण स्वात्मप्रदेशावगाढकर्मवर्गणादलिकान्यात्मसात्कुर्वन्ति । तानि च दलिकानि प्रकृष्टाः पुद्गलास्तिकायस्य देशा इति व्युत्पत्त्या प्रदेशा उच्यन्ते कर्मस्कन्धा इत्यर्थः । ततश्च तानेव स्वीकृतप्रदेशाँस्तेनैव योगेन कर्मणां ज्ञानावरणादिस्वभावरूपप्रकृतितया स्थापयन्ति, यतो जीवाः पुद्गलाश्चागमेऽनन्तशक्त्युपेताः प्रोच्यन्ते । तथाचोक्तं कर्मप्रकृतिटीकायां "ज्ञानावारकादिविचित्रस्वभावता चाचिन्त्यत्वाज्जीवानां पुद्गलानां च शक्तेः"इत्यादि । तथा तस्मिन्नेव विवक्षिते बन्धसमये कषायोदयजनितो योऽध्यवसायविशेषस्तस्मात्तेषां बध्यमानकर्मणामन्तर्मुहूर्त्तादिकां स्थितिं निर्वर्तयन्ति, तथा कषायोदयान्तर्गतं यदनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं तेन बध्यमानकर्मणामनुभागमुपरचयन्ति । अयं सामान्येन कर्मबन्धक्रमः । ततश्च यथानिर्दिष्टन्यायेन सर्वत्र कर्मबन्धनिमित्ततयाऽऽन्तर्येण योगकषाया एव व्यापार्यन्ते, इत्यनन्तरहेतवः कर्मबन्धस्य योगाः कषायाश्चैव, परं यदि सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यते तदा मिथ्यात्वाविरती अपि परमं दीर्घं कारणम्, तथाहि–सुरनरतिर्यगायूंषि विना सर्वासां प्रकृतीनां सर्वोत्कृष्टा स्थितिः सर्वाशुभप्रकृतीनां च सर्वोत्कृष्टो रसोऽशुभत्वात् तीव्रसंक्लेशेनैव जायते "सव्वाणुक्कोसठिई असुभा सा जमइसंकिलेसेण" तथा "तिव्वमसुभाण संकिलेसेणं" इति वचनात् । तीव्रसंक्लेशश्च तीव्रकषायोदयरूपः तीव्रकषायोदयश्च मिथ्यात्वाविरतिसत्त्वे एव भवति, तद्भावभाग्भ्योऽन्यत्र यथाक्रमं दर्शनचारित्रावारकस्यानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणकषायोदयस्याप्राप्यमाणत्वात्, ततो मिथ्यात्वाविरतिभावे सति यादृशी कषायोदयस्य वृद्धिस्तदभावे च न तादृशी तद्वृद्धिः, अतः कषायाणां पारतन्त्र्यम् । मिथ्यात्वाविरत्योस्तु कषायोदयतीव्रताप्रयोजकत्वेन स्वातन्त्र्यम् ।

किञ्च विसंयोजिता अप्यनन्तानुबन्धिनो मिथ्यात्वोदयेन पुनश्चीयन्ते, अतः कषायाणां मिथ्यात्वजन्यत्वमपि । तथा "पल्ले महइ महल्ले कुंभं पक्खिवइ सोहए नालिं । असंजए अविरए बहु बंधइ निज्जरे थोवं" । इत्याद्यागमाम्नाययुक्त्याऽविरतिर्भूरिकर्मबन्धनिमित्तं, ततो यदा मिथ्या-

त्वाविरतिभ्यां सहचरिता योगकषाया व्याप्रियन्ते तदैव प्रभूतकर्मबन्धं विदधति यदा पुनरसहच-रितास्तदा स्वल्पकर्मबन्धमिति, अतः सामान्यतः कर्मबन्धहेतुचिन्तायां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोग-रूपाश्चत्वारोऽपि हेतवो ज्ञेया इति ।

यत्तु तत्त्वार्थाभिप्रायेण प्रत्ययपञ्चकमाशङ्कितं प्रमादाख्यस्य प्रत्ययस्य पृथग्विवक्षया भवत्येव तत् । अत्र तु चत्वार एव हेतवो निरूपिताः, प्रमादस्याविरतिकषायादिष्वन्तर्भूतत्वेन पृथ-गविवक्षणादिति ।

न चेदं ग्रन्थकृता स्वमनीषिकया विजृम्भ्यते यदुक्तं **शतकसूत्रकृता**–"चउपच्चय एग मिच्छत्त सोलस दुपच्चया पणतीसं । सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जाओ" अस्याश्च गाथाया अयमर्थः–एकं सातं चतुष्प्रत्ययं षोडश प्रकृतयो मिथ्यात्वप्रत्ययाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयो द्विप्रत्यया-स्तीर्थकराहारकवर्जाः शेषास्त्रिप्रत्यया इति ॥१५॥ अथ विवक्षान्तरेण प्रत्ययान् विवरिषुराह—

अहवा सायस्स तहा सोलसपणतीसपंचसट्ठीए ।
कमसो हेऊ जोगो मिच्छत्तासंयमकसाया ॥१६॥

(प्रे०) **'अहवा'**त्ति, अथवेति विवक्षान्तरद्योतने **'हेऊ'**त्ति बन्धहेतवः । कस्य ? **'सायस्स'** त्ति सातवेदनीयस्य, पुनः कासां ? **"सोलसपणतीसपंचसट्ठीए"** त्ति षोडशपञ्चत्रिंशत्पञ्च-षष्टीनां प्रकृतीनाम् , के हेतवः ? **'जोगो मिच्छत्तासंयमकसाया'** त्ति योगो मिथ्यात्वासंयम-कषायाः । कथं ? **'कमसो'** त्ति क्रमशः । तथा च सातवेदनीयस्यैको बन्धहेतुर्योगाख्यः । शेषाणां मिथ्यात्वादिप्रत्ययानां यथायोगं सद्भावेऽपि न ते अत्र विवक्षितास्तेषामभावेऽप्युपशान्तमोहा-दिषु तद्बन्धदर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्यां योग एवैकः सातवेदनीयस्य बन्धहेतुर्विवक्षितः **तथा**– तद्बन्धभावे योगसद्भावो योगाभावे तद्बन्धाभावः, अयोगिनामबन्धकत्वात् । यद्यपि मिथ्यात्वा-दिभावे तद्बन्धभावस्तथापि तेषां गुणभावाद् नात्र ते विवक्षिताः, तदभावेऽपि तद्बन्धभावात् , एवमग्रेऽपि ।

बन्धमाश्रित्य प्रथमगुणस्थाने व्यवच्छिद्यमानबन्धानां मिथ्यात्वमोहादिषोडशप्रकृतीनां मिथ्यात्वाख्य एको हेतुः, अत्रापि शेषहेतुत्रयस्य गुणभावः पूर्ववत् । पूर्वोक्तानां स्त्यानर्द्ध्यादिपञ्चत्रिं-शत्प्रकृतीनामेको हेतुरसंयमोऽविरतिरिति यावत् ,शेषाणां त्रयाणां हेतूनां गुणभावस्तथैव. उक्तपूर्वाणां ज्ञानावरणादिपञ्चषष्टेः प्रकृतीनां कषायसंज्ञक एको हेतुः, शेषस्य हेतुत्रिकस्य गौणभावः, अन्वयव्यतिरे-कानुपलम्भादेव,**तथाहि**–मिथ्यात्वाविरत्योरभावेऽपि प्रमत्तादिषु तद्बन्धभावादुपशान्तमोहादिगुण-स्थानेषु योगसद्भावेऽपि तद्बन्धाभावाच्च । उपलभ्यते चात्र संवादकं सूत्रं **पञ्चसङ्ग्रहे तथा च तद्ग्रन्थः**–"सोलस मिच्छनिमित्ता बज्झहि पणतीस अविरईए य । सेसा उ कसाएहिं जोगेहि य सायवेयणीयं" इति । तीर्थकृन्नामाहारकद्विकयोर्यथाक्रमं तद्हेतुकषायोदयसहितौ विशिष्टसम्यक्त्व-संयमौ पूर्ववद् हेतू ज्ञेयौ । अत्राह–अनुभागबन्धे विचार्ये प्रकृतीनां प्रत्ययनिरूपणमप्रस्तुतम् , सत्यम् ,

किन्तु यासां प्रकृतीनामिह ये मिथ्यात्वादयः प्रत्यया उक्तास्तत्सम्बन्धिनोऽनुभागस्यापि त एव प्रत्यया द्रष्टव्यास्तद्व्यतिरिक्तत्वात्तस्येति प्रकृतीनां प्रत्ययनिरूपणद्वारेण तदनुभागस्यैव प्रत्यया निरूपिता द्रष्टव्याः। एवं ग्रन्थान्तरेषु ज्ञानावरणादिभिन्नभिन्नकर्मणां ये भिन्नभिन्नबन्धहेतवो भणितास्तेऽपि तासामनुभागबन्धहेतुत्वेन प्राधान्यतो निरूपिता द्रष्टव्याः, कर्मणामनुभवनेऽनुभागस्यैव प्राधान्यात् इति ॥१६॥ उक्ताः प्रकृतीनां प्रत्ययनिरूपणद्वारेण तदनुभागप्रत्ययाः, अथ गुणस्थानकेषु त उच्यन्ते—

तह एगचउपणतिगुणठाणेसु बंधहेअवो कमसो।
मिच्छाई एगेगो उअ चउरो तिण्णि दो एगो ॥१७॥

(प्र०) 'तह' त्ति, तथा 'एकचउपणतिगुणठाणेसु' ति एकचतुःपञ्चत्रिगुणस्थानेषु के ? 'बंधहेअवो' त्ति बन्धहेतवः। कथं ? 'कमसो' त्ति क्रमशः 'मिच्छाई एगेगो' त्ति, मिथ्यात्वादिरेकैकः। किमुक्तं भवति ? एकं मिथ्यात्वाख्यं प्रथमगुणस्थानं तत्रैको बन्धहेतुर्मिथ्यात्वाख्योऽत्र च शेषहेतुत्रयसत्त्वेऽप्यस्यैव प्रधानत्वादित्येवमग्रेऽपि सुधिया स्वयं भावनीयम्। चतुर्षु सास्वादनमिश्राविरतदेशविरतरूपेषु गुणस्थानेषु बन्धहेतुरेकोऽविरत्याख्यो ज्ञेयः, शेषस्य कषाययोगरूपस्य हेतुद्वयस्यात्र गौणभावः, अविरत्या एव प्राधान्येन विवक्षणात्, मिथ्यात्वाख्यो बन्धहेतुर्न भवत्येवात्र, तस्य प्रथमगुणस्थान एव भावात्। तथा प्रमत्ताप्रमत्तनिवृत्तिबादरानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायलक्षणेषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु कषाय इत्येको बन्धहेतुरत्रापि योगस्य गौणभावः, उपरितनेषु गुणस्थानकेषु सत्यपि योग आसां बन्धाभावात्, मिथ्यात्वविरती तु न स्त एव। उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिरूपेषु त्रिगुणस्थानेषु योगाख्य एक एव हेतुः, इतरस्य हेतुत्रयस्य तदधोवर्तिगुणस्थानेष्वेव भावादिति। 'उअ' त्ति अत्रोतशब्दो विकल्पान्तरद्योतकः, ततश्च प्रकारान्तरेण गुणस्थानेषु बन्धहेतवोऽभिधीयन्ते, 'चउरो तिन्नि दो एगो' त्ति चत्वारस्त्रयो द्वावेक इति, अत्रैवं योजना-गाथापूर्वार्धोक्तः 'कमसो' इति शब्दोऽत्राप्यनुसर्तव्यः, ततश्चैकचतुःपञ्चत्रिगुणस्थानकेषु क्रमशो यथाक्रमं चतुरादयो बन्धहेतवो ज्ञेयाः, तद्यथा-एकस्मिन् मिथ्यात्वाख्ये प्रथमे गुणस्थाने चत्वारो बन्धहेतवः सन्ति, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगरूपाणां सर्वेषामपि तत्र सातत्येन भावात्। सास्वादनादिषु चतुर्गुणस्थानेषु त एव मिथ्यात्ववर्जास्त्रयो हेतवः, प्रमत्तादिसूक्ष्मसंपरायान्तपञ्चगुणस्थानेषु द्वौ हेतू कषाययोगाख्यौ, तथोपशान्तमोहादित्रिषु गुणस्थानेषु योगात्मक एको हेतुर्बन्धस्येति। तथा चोक्तं पञ्चसंग्रहे-"चउपच्चइओ मिच्छे तिपच्चओ मीससासणाविरए। दुगपच्चओ पमत्ता उवसंता जोगपच्चइओ" अत्र 'प्रमत्ता' इति प्रमत्तादीनि पञ्च, तथोपशान्ता इतिपदेनोपशान्तमोहादीनि त्रीणि गुणस्थानानि, शेषं कण्ठ्यम्। अयोगिगुणस्थाने तु हेत्वभावः। गतमोघतः प्रत्ययनिरूपणम् ॥१७॥

उक्तरीत्या गत्यादिमार्गणासु प्रत्ययचिन्तामतिदिशन्नाह—

बीअपयेणेएणं सव्वह जहसंभवं सयं णेया ।
मिच्छाइबंधहेऊ सप्पाउग्गाण पयडीणं ॥१८॥

(प्रे०) '**बीअपयेणेएणं**' इत्यादि, बीजपदेनैतेन अनन्तरोक्तया रीत्येति यावत् '**सयं**' ति स्वयं श्रुतपरिशीलनेन लब्धेन श्रुतानुसारिमतिप्रकर्षेणात्मन इति यावद् ,'**णेया**' त्ति ज्ञेयाः । के ? '**मिच्छाइबंधहेऊ**' त्ति मिथ्यात्वादिबन्धहेतवः । कुत्र ? '**सव्वह**'त्ति सर्वत्र सर्वासु मार्गणास्वित्यर्थः । कासां ? '**सप्पाउग्गाण पयडीणं**' ति स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनां यासु यासु मार्गणासु यावत्यः प्रकृतयस्तासु तासु तावतीनां प्रकृतीनामित्यर्थः'**जहसंभवं**'ति यथासम्भवं,यत्र यावन्तो हेतवो घटन्ते तत्र तावन्तो ज्ञेया इति भावः । तथा च सर्वत्रानया-पूर्वोक्तया रीत्या तत्तन्मार्गणाप्रायोग्याणां प्रकृतीनां मिथ्यात्वादिबन्धहेतवो यथासंभवं स्वयं ज्ञेयाः ।

अथ गतिमार्गणासु भाव्यन्ते बन्धहेतवोऽस्माभिः, तद्यथा-नरकगत्योघे चत्वारोऽपि बन्धहेतवस्तत्र च प्रथमगुणस्थानकेऽपि तावन्त एव ते, सास्वादनाख्ये द्वितीये गुणस्थाने त्रयो हेतवो मिथ्यात्ववर्जाः । मिश्राविरतरूपयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च त एव त्रयः । इति बन्धहेतव ओघतो नरकगतौ, शेषगुणस्थानानां तत्राभावान्नास्ति तद्बन्धहेतुचिन्तावसरः । एवमेव हेतुप्ररूपणा रत्नप्रभादिषु सप्तसु नरकेषु प्रत्येकं वाच्या, नवरं सप्तमे नरके तिर्यगायुराख्याया एकस्याः प्रकृतेश्चत्वार एव प्रत्ययाः न तु त्रयः, सास्वादने तद्बन्धाभावात् ।

देवगतौ बन्धहेतवो नरकगतावित्राविशेषेण ज्ञेयाः, परन्तु सप्तमनरकसत्को विशेषोऽत्र न वाच्यः, ओघनिरूपणावत् सास्वादनेऽपि तिर्यगायुर्बन्धाप्रतिषेधात् । भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकेषु प्रत्येकं स्वप्रायोग्यकर्मणां बन्धहेतुप्ररूपणैवमेव, नवरमनुत्तरवासिसुरेषु त्रयो बन्धहेतवः, तेषु मिथ्यात्वस्यायोगात् ।

तिर्यग्गतौ गुणस्थानानि पञ्च । तत्र चतुर्षु गुणस्थानेषु बन्धहेतवो नरकगतिवद् ज्ञेयाः, पञ्चमगुणस्थाने किञ्चिदूनत्रयो-देशोनत्रय इति यावत् , तत्र त्रसासंयमाभावात् । एवमेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमत्योरपि बन्धहेतवो वाच्याः, अपर्याप्ततिर्यक्षु बन्धहेतवश्चत्वार एव, विवक्षान्तरेणैको वा तेषु प्रथमस्यैकस्यैव गुणस्थानकस्य भावात् ।

मनुष्यगतौ चतुर्दशानामपि गुणस्थानानां भावाद् बन्धहेतव ओघनिरूपणवद् ज्ञेयाः, तद्यथा-आदिमगुणस्थाने चत्वारो, द्वितीयादिषु त्रिषु त्रयः, पञ्चमे किञ्चिदूनत्रयः, प्रमत्ताद् दशमं यावद् द्वौ, तदुपरितनत्रिके एको योगाख्यः, चतुर्दशे हेत्वभावः, । अपर्याप्तमनुष्येष्वपर्याप्ततिर्यग्वच्चत्वारो हेतवः, एतेष्वपि आद्यगुणस्थानकस्यैवोपलम्भात् । विवक्षान्तरेण हेतुविचारणा अत्रान्यत्र च

स्वयमूह्या । कृता गतिषु बन्धहेतुप्ररूपणाऽनया दिशा शेषासु मार्गणासु तदर्थिभिः स्वयं कर्तव्येति गता मार्गणास्वपि प्रत्ययप्ररूपणा ॥१८॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे द्वितीयं प्रत्ययद्वारम् ॥

॥ अथ तृतीयं विपाकद्वारम् ॥

अथ प्रकृतिद्वारेण तद्गमानां विपाकं विवक्षुराह—

तणुआई वण्णंता तह ऊसासजिणवज्जपत्तेआ ।
पत्तेअथिरसुहजुगलणामाणि य पोग्गलविवागी ॥१९॥

(प्रे०) '**तणुआई**' इत्यादि, अत्र '**पोग्गलविवागी**' त्ति पुद्गलेषु शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाकः स्वशक्त्याविर्भावलक्षण उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः, शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयशक्तेर्दर्शयित्र्य इत्यर्थः, ताश्चेमाः,–'**तणुआई वण्णंता**' तन्वादिवर्णान्तास्ताश्च-औदारिक-वैक्रिया ऽऽहारक तैजस-कार्मणतनुलक्षणाः पञ्च तनवः शरीरनामकर्माणीत्यर्थः, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमङ्गोपाङ्गत्रिकं, संहननषट्कं, संस्थानषट्कं, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरूपं वर्णादिचतुष्कं, तथा '**ऊसासजिणवज्जपत्तेआ**' त्ति उच्छ्वासजिनवर्जप्रत्येकप्रकृतयस्ताश्च षट् पराघाताऽऽतपोद्योतागुरुलघूपघातनिर्माणरूपाः, '**पत्तेअथिरसुहजुगलणामाणि य**' त्ति प्रत्येक-स्थिरशुभरूपं त्रिकं, युगलशब्देन प्रतिपक्षस्य ग्रहणात्तत्प्रतिपक्षभूतं साधारणाऽस्थिराऽशुभनाम-रूपं त्रिकं चेत्येताः षट्त्रिंशत्प्रकृतयः पुद्गलेष्वेव विपच्यन्त इति पुद्गलविपाकिन्यो ज्ञेयाः, **तथाहि**–शरीरनामोदयाच्छरीरतया पुद्गला एव परिणमन्ति, अङ्गोपाङ्गनामोदयाच्च तेषां शिरोग्रीवाद्यवयवविभागो जायते, संहननोदयात्तेषामेव वज्रऋषभनाराचादितया विशिष्टा परिणतिर्भवति, संस्थानोदयात्तेष्वेव पुद्गलेष्वाकारविशेषः संपद्यते, एवं वर्णादि-पराघाता-ऽऽतपो-द्योता-ऽगुरुलघू-पघात-निर्माण-प्रत्येक-स्थिर-शुभादीनामपि सर्वेषां शरीरपुद्गलेष्वेव स्वविपाकस्य दर्शनात् सुप्रतीतमेतासां पुद्गलविपाकित्वमिति ॥१९॥ उक्ताः पुद्गलविपाकिन्यः । अथ भव-क्षेत्र-जीवविपाकिनीराह-

आऊणि भवविवागा खेत्तविवागा उ आणुपुव्वीओ ।
सेसाओ पयडीओ, जीवविवागा मुणेयव्वा ॥२०॥

(प्रे०) '**आऊणि**' इत्यादि, चत्वार्यायूंषि '**भवविवागा**' त्ति भवः–नारकादिपर्यायः, स च पूर्वायुर्विच्छेदे विग्रहगतेरप्यारभ्य वेदितव्यः, यदाह–**भगवान् श्री सुधर्मस्वामी भगवत्याम्**–"नेरइए नेरइएसु उववज्जइ" इत्यादि (शत. ४ उद्द ०८) इति । भवे नारकतिर्यग्नरामररूप एव विपाकः–उदयो विद्यते येषां तानि भवविपाकीनि, तानि च यथासम्भवं पूर्वभवे बद्धानि–आगामिनि भवे विपच्यन्त इति भावः । ननु यथाऽऽयुषां देवादिभवेऽवश्यं विपाको भवत्येवं गतीना-

मपि, अतस्ता अपि भवविपाकिन्यो भविष्यन्ति, अत्रोच्यते--आयुर्यद् यस्य भवस्य योग्यं निबद्धं तद् तस्मिन्नेव भवे वेद्यत इत्यायुषो भवविपाकत्वानाद् भवविपाकित्वम्, गतयस्तु विभिन्नभवयोग्या निबद्धा अप्येकस्मिन्नपि भवे सर्वाः सङ्क्रमेण संवेद्यन्ते, तथथा-मोक्षगामिनोऽशेषा गतयो मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो भवं प्रति गतीनां नैयत्याभावान्न ता भवविपाकिन्यः, किन्तु वक्ष्यमाणस्वरूपा जीवविपाकिन्य एवेति । **'खेत्तविवागा'** त्ति क्षेत्रम्-आकाशं तत्रैव विपाकः-उदयो यासां ताः क्षेत्रविपाकाः, ताश्च **'आणुपुव्वीओ'**त्ति आनुपूर्व्यश्चतस्रो नरक-तिर्यग्-नरा-ऽमरानुपूर्वीलक्षणाः, यतस्तासां विग्रहगतावेवोदयो भवतीति । उक्तञ्च **बृहत्कर्मविपाके**–

निरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स। निरयाणुपुव्वियाए तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि ॥
एवं तिरिमणुदेवे तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स । तेसिमणुपुव्वियाणं तहि उदओ अन्नहिं नत्थि ॥
(गा० १२२-१२३)

ननु विग्रहगत्यभावेऽप्यानुपूर्वीणामुदयः सङ्क्रमकरणेन विद्यते, अतः कथं क्षेत्रविपाकिन्यस्ता न गतिवद् जीवविपाकिन्यः ? अत्रोच्यते-विद्यमानेऽपि संक्रमे यथा तासां क्षेत्रप्राधान्येन स्वकीयो विपाकोदयो, न तथाऽन्यासामतः क्षेत्रविपाकिन्य एवेति । **'संसाओ'** त्ति उक्तशेषाः षट्सप्ततिः **'पयडीओ'** त्ति प्रकृतयः **'जीवविवागा'** त्ति जीव एव विपाकः-स्वशक्तिदर्शनलक्षणो विद्यते यासां ता जीवविपाकाः **'मुणेयव्वा'** त्ति ज्ञातव्याः, ताश्चेमाः--ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मोहनीयषड्विंशतिकान्तरायपञ्चकलक्षणाः पञ्चचत्वारिंशद् घातिप्रकृतयः, साताऽसातवेदनीये, गतिचतुष्टय-जातिपञ्चक-खगतिद्विक -त्रसत्रिक- स्थावरत्रिक- सुभगचतुष्क -दुर्भगचतुष्कोच्छ्वासनाम--जिननामरूपा नामकर्मणः सप्तविंशतिप्रकृतयः, नीचैर्गोत्रोच्चैर्गोत्रलक्षणं गोत्रद्विकञ्चेति ।

ननु कथमासां जीवविपाकित्वमिति ? अत्रोच्यते--पञ्चविधज्ञानावरणोदयाद् जीव एवाऽज्ञानी स्याद् न पुनः शरीरपुद्गलादिषु तत्कृतः कश्चिदुपघातोऽनुग्रहो वाऽस्तीति, एवं दर्शनावरणनवकोदयाद् जीव एवाऽदर्शनी भवति, साताऽसातोदयाद् जीव एव सुखी दुःखी वा सम्पद्यते, मोहनीयोदयाद् जीव एव तत्त्वश्रद्धानविकलोऽचारित्री वा जायते, अन्तरायपञ्चकोदयाद् जीव एव दानादि कर्तुं न पारयति, उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र-गतिचतुष्क-जातिपञ्चक खगतिद्विक त्रसत्रिक स्थावरत्रिक-सुभगचतुष्क दुर्भगचतुष्को च्छ्वासनाम-जिननामोदयाद् जीव एव तं तं भावमनुभवति न शरीरपुद्गला इति ।

अत्रायम्भावः--इह याः क्षेत्रविपाकाः, भवविपाकाः, पुद्गलविपाकाश्चोक्ताः प्रकृतयस्ता अपि परमार्थतो जीवविपाका एव, यतस्ता जीवस्यैव पारम्पर्येणानुग्रहमुपघातं च कुर्वन्ति, केवलं मुख्यतया क्षेत्र-भव-पुद्गलेषु तत्तद्विपाकस्य विवक्षितत्वात् तत्तद्विपाका उच्यन्त इति । अत्र अनुभागबन्धस्य प्रस्तुतत्वेन बध्यमानप्रकृतीनां जीवविपाकित्वादिनिरूपणेन प्रकृतीनां रसो दर्शित इति ॥२०॥

प्ररूपितमोघतः, प्रकृतीनां पुद्गलादिविपाकनिरूपणद्वारेण तासां रसस्य तत्तद्विपाकित्वम्, अधुना आदेशतो मार्गणासु तासां तदतिदिशति—

सव्वासु मग्गणासुं भव-पोग्गल-खेत्त-जिअविवागाओ ।
ओघव्व जाणियव्वा सप्पाउग्गाउ पयडीओ ॥२१॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' त्ति सर्वासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याः तत्तन्मार्गणाप्रायोग्याः प्रकृतय ओघव-द्भव-पुद्गल-क्षेत्र-जीवविपाका बन्धविषयभूता ज्ञातव्याः, **तथाहि**–नरकगत्योघे बन्धप्रायोग्ये भवविपाकिन्यौ द्वे प्रकृती तिर्यग्मनुष्यायुर्लक्षणे । पुद्गलविपाकिन्यस्त्रिंशत् प्रकृतयो बन्धार्हाः । क्षेत्र-विपाकिन्यौ द्वे तिर्यग्मनुष्यानुपूर्वीलक्षणे बन्धप्रायोग्ये । जीवविपाकिन्यः सप्तषष्टिः प्रकृतय इत्येकोत्तर-शतप्रकृतयो बन्धमाश्रित्य नरकगतौ भवादिविपाकिन्यः सन्ति, शेषा एकोनविंशतिः प्रकृतयोऽत्र बन्धमेव नायान्ति, ताश्चेमाः–भवविपाकिन्यौ द्वे प्रकृती नरकामरायुर्लक्षणे । वैक्रियद्विकाहारकद्विका-तपसाधारणरूपाः षट् पुद्गलविपाकिन्यः । जीवविपाकिन्यो देवगतिनरकगति-जातिचतुष्क स्थावर-त्रिकलक्षणा नव प्रकृतयः । क्षेत्रविपाकिन्यौ देवानुपूर्वीनरकानुपूर्वीरूपे द्वे इति । एवं स्वस्वप्रायोग्य-प्रकृतीनां शेषसर्वासु मार्गणासु विपाकप्ररूपणा बुद्धिमद्भिः स्वयं कर्त्तव्येति । गता मार्गणासु विपाक-प्ररूपणा, गतायाश्च तस्यां समाप्तमिदं विपाकद्वारम् ॥२१॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे तृतीयं विपाकद्वारम् ॥

॥ अथ चतुर्थं शुभाशुभद्वारम् ॥

कृता विपाकप्ररूपणा । अथ शुभाशुभनिरूपणां चिकीर्षुराह—

साय-तिरिणरसुराऊ णरदेवजुगल-पणिंदि-तणुवंगा ।
आइमसंघयणागिइ-पसत्थखगइ-चउवण्णाई ॥२२॥
उवघायवज्जिआ सगपत्तेआ दस-तसाइ-उच्चाणि ।
बायालाऽत्थि पसत्था अपसत्था सेसबासीई ॥२३॥

(प्रे०) '**सायं**' इत्यादि, अत्र '**बायाला**' त्ति द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः प्रशस्ताः–शुभाः प्राणिदयादिशुभकारणजन्यत्वात् शुभानुभावात् विशुद्धया तद्रसबन्धाधिक्याच्च । ताश्चैव नामग्राहं दर्श-यति-'**सायतिरिणरसुराऊ**' इत्यादिना, ततश्च सातवेदनीयं, तिर्यग् नर सुरायुर्लक्षणमायुस्त्रिकं, नरद्विक-देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति-तनुपञ्चकाङ्गोपाङ्गत्रिक-वज्रर्षभनाराचाख्याऽऽदिमसंहननाऽऽदिम-संस्थान प्रशस्तखगति-शुभवर्णादिचतुष्काणि पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योताऽगुरुलघु-जिन-निर्माण-लक्षणाः सप्त प्रत्येकप्रकृतयो नामकर्मणः, दश त्रसादयः त्रस बादर-पर्याप्त प्रत्येक-स्थिर-शुभ सुभग-सु-स्वराऽऽदेय-यशःकीर्तिरूपा उच्चैर्गोत्रं चेति । '**सेसबासीई**' त्ति शेषा द्व्यशीतिः प्रकृतयः अप्रश-स्ताः अप्रशस्तहेतुजन्यत्वात् अशुभानुभावात् संक्लेशाधिक्ये तद्रसबन्धाधिक्याच्च । ताश्चेमाः–घाति-प्रकृतयः पञ्चचत्वारिंशत् ,असातवेदनीयं, नरकायुः,नरकतिर्यग्गती, जातिचतुष्काऽऽद्यवर्जसंहननपञ्च-

कायवर्जसंस्थानपञ्चकाऽशुभवर्णादिचतुष्कनरकानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्यप्रशस्तविहायोगत्युपघातस्थावरदशकानि, नीचैर्गोत्रं चेति ।

ननु द्विचत्वारिंशत्प्रशस्ता द्व्यशीतिश्चाप्रशस्ताः प्रकृतयो मिलिताश्चतुर्विंशत्युत्तरशतं प्रकृतयो जाताः, बन्धे तु विंशत्युत्तरशतमेवाधिक्रियते, यदुक्तं पूर्वसूरिभिः "बंधे विसुत्तरसय" मित्यादि । तत् कथं न विरोधः ? उच्यते, वर्णादयो हि प्रशस्तस्वभावा अप्रशस्तस्वभावाश्च वर्तन्ते, ततः प्रशस्तवर्णचतुष्टयं प्रशस्तप्रकृतिमध्ये गृह्यते, अप्रशस्तवर्णचतुष्टयं पुनरप्रशस्तप्रकृतिषु । एवं प्रशस्ताप्रशस्तप्रकृतिराश्योर्वर्णादिचतुष्कं यत्तदेकमेव सत् प्रशस्ताप्रशस्तभेदेनोभयत्रापि विवक्षितमित्यदोषः ।

परः पुनः शङ्कते–नन्वनुभागनिरूपणावसरे प्रकृतीनां प्रशस्ताऽप्रशस्तादिनिरूपणमयुक्तमप्रस्तावादिति, अत्रोच्यते–विस्मरणशीलो भवान् , तदव्यतिरिक्तत्वात् तस्येति प्रकृतीनां प्रशस्तत्वादिनिरूपणद्वारेणात्र तदनुभागस्यैव निरूपणा क्रियत इति प्रागेवोक्तम् । किञ्च अप्रशस्तप्रकृतीनां रसस्याप्रशस्तत्वेन संक्लेशवृद्ध्या तद्रसस्य वर्धनात् उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वप्रस्तावे तद्बन्धकेषु तीव्रतमसंक्लिष्टस्य मार्गणं क्रियते, शुभप्रकृत्युत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वे तद्बन्धकेषु सुविशुद्धस्येति स्वामित्वप्ररूपणातः प्रागेव प्रकृतीनां प्रशस्ताप्रशस्तत्वस्य ज्ञानमावश्यकमिति । गताऽथतः शुभाशुभप्ररूपणा ॥२२-२३॥

सम्प्रति आदेशतो मार्गणासु स्वप्रायोग्यप्रकृतीनां प्रशस्ताऽप्रशस्तत्वमतिदिशति—

सव्वासु मग्गणासु सप्पाउग्गाउ सव्वपयडीओ ।
ओघव्व जाणियव्वा हुन्ति पसत्थापसत्थाओ ॥२४॥

(प्रे०) 'सव्वासु' त्ति सर्वासु गतिज्ञात्यादिषु 'मग्गणासु' मार्गणासु 'जाणियव्वा' ज्ञातव्याः 'हुन्ति' भवन्ति । काः ? 'सव्वपयडीओ' सर्वप्रकृतयः । किं सर्वत्र मार्गणासु तुल्याः ? इति परप्रश्नमाशङ्क्य पठति 'सप्पाउग्गाउ' त्ति स्वप्रायोग्याः, यस्यां मार्गणायां यावत्यो बध्यन्ते तावत्यो न तु सर्वत्राविशेषेण चतुर्विंशत्युत्तरशतादय इति । ताः कीदृश्यो ज्ञेयाः ? 'पसत्थापसत्थाओ' त्ति, प्रशस्ताप्रशस्ताः । कथं ? 'ओघव्व' त्ति , अनन्तरोक्ताभ्यः सातवेदनीयादिद्विचत्वारिंशत्प्रशस्तप्रकृतिभ्यो ज्ञानावरणादिद्व्यशीत्यप्रशस्तप्रकृतिभ्यश्च यत्र यावत्यो बन्धमायान्ति तत्र तावत्यः प्रशस्ता अप्रशस्ताश्च ओघवत् ज्ञेयाः । तद्यथा–नरकगत्योघमार्गणायां नानाजीवापेक्षया सामान्यतः प्रशस्तप्रकृतिमध्याद् देवत्रिकवैक्रियद्विकाहारकद्विकातपवर्जाश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतयो बध्यन्ते अप्रशस्तप्रकृतयस्तु नरकत्रिकसूक्ष्मत्रिकजातिचतुष्कस्थावरनामवर्जा एकसप्ततिरिति । अनया रीत्या सर्वत्र शेषमार्गणासु स्वधिया भावनीयम् । गतं मार्गणास्वपि शुभाशुभनिरूपणम् ॥२४॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धे प्रथमाधिकारे चतुर्थं शुभाशुभद्वारम् ॥

॥ अथ पञ्चमं स्वामित्वद्वारम् ॥

गतं प्रशस्ताऽप्रशस्तद्वारम्, सम्प्रति "सामित्त" इत्यनेनोद्दिष्टं पञ्चमं स्वामित्वद्वारं विवृण्वन्नादौ तावद्विंशत्युत्तरशतमध्यगतानामेव वक्ष्यमाणार्थोपयोगित्वेन कियतीनामपि प्रकृतीनां संग्रहं पृथक् करोति—

> इह आइम्मि किरिअ जं वोच्छिमु जेआउ ता कमा गेज्झा।
> णिरयदुगणपुमसायं सोगारइहुंडणीआणि ॥२५॥
> सरवज्जा अथिराई दुस्सरकुखगइछिवट्ठणामाणि ।
> निरियदुगं एगिंदियथावरसुहुमविगलतिगाणि ॥२६॥
> थीपुरिसं हस्सरई मज्झिमसंघयणआगईओ य ।
> उज्जोआयवणरुरलदुगवइराणि जमसायाणि ॥२७॥
> उच्चपणिंदितसचउगपरघूसासमुखगइपणथिराई ।
> सुहधुवबंधागिइजिणसुरविउवाहारजुगलाणि ॥२८॥

(प्रे०) 'इह' त्ति अनन्तरवक्ष्यमाणोत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वप्रक्रमे 'गेज्झा' त्ति ग्राह्याः प्रकृतय इति गम्यते, 'एआउ' त्ति एताभ्यः सार्धत्रयगाथाभिरनन्तरवक्ष्यमाणाभ्यः 'जं' ति यां प्रकृतिं 'आइम्मि किरिअ' त्ति आदौ कृत्वा 'जा' त्ति याः प्रकृतीः 'वोच्छिमु' त्ति वक्ष्यामः 'ता' त्ति ताः प्रकृतयो ग्राह्याः, कथं ? 'कमा' त्ति गाथोपन्यस्तक्रमाद् । अथ संगृह्यमाणाः प्रकृतीरेव दर्शयति—'णिरयदुग' इत्यादिना, तत्र नरकगतिनरकानुपूर्वीरूपं नरकद्विकं, नपुंसकवेदः, असातवेदनीयं, शोकारतिहुंडकनीचैर्गोत्राणि, स्वरवर्जा अस्थिरादयस्ते चास्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिलक्षणाः पञ्च, दुःस्वरः, अशुभविहायोगतिः, सेवार्त्तनाम, तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपं तिर्यग्द्विकम्, एकेन्द्रियजातिः, स्थावरनाम, सूक्ष्मसाधारणापर्याप्ताख्यं सूक्ष्मत्रिकं, विकलत्रिकं, स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, हास्यरती, ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिकाख्यं मध्यमसंहननचतुष्कं, न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामनरूपं मध्यमसंस्थानचतुष्कम्, उद्योतः, आतपः, 'णरुरलदुग' त्ति मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीलक्षणं मनुष्यद्विकम्, औदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गरूपमौदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं, यशःकीर्तिनाम, सातवेदनीयम्, उच्चैर्गोत्रं, पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकरूपं त्रसचतुष्कं, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, शुभविहायोगतिः, स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयलक्षणं स्थिरादिपञ्चकं, तथा शुभशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् शुभध्रुवबन्धिप्रकृत्यष्टकं तैजसशरीरनामकार्मणशरीरनामशुभवर्णादिचतुष्कागुरुलघुनिर्माणरूपं, शुभाकृतिः समचतुरस्रसंस्थानमित्यर्थः, जिननाम, देव-

गतिदेवानुपूर्वीरूपं देवद्विकं, वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गरूपं वैक्रियद्विकम्, आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गाख्यमाहारकद्विकमिति सप्तसप्ततिप्रकृतीनां संग्रहः। **अयमत्र सारांशः**–

इहोत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वप्रस्तावे यत्र यत्र संगृहीताभ्य एताभ्यो यां काश्चित् प्रकृतिं पुरस्कृत्य यत्संख्याकाः प्रकृतयो वक्ष्यन्ते तत्र तत्र तत्संख्याकास्ताः क्रमाद् ग्राह्याः। यथा '**तेरस णपुमाणि**' इत्युक्ते गाथोक्ता नपुंसकवेदासातवेदनीयशोकारतयो, हुंडकसंस्थाननाम, नीचैर्गोत्रम् अस्थिरादयः पञ्च, दुःस्वरः, कुखगतिश्चेति त्रयोदश प्रकृतयो ग्राह्याः '**तिदुसराई**' इत्युक्ते दुःस्वरः कुखगतिः सेवार्त्तनाम चेति प्रकृतित्रिकस्य ग्रहणम्, '**थीबारस**' इत्युक्ते स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, हास्यरती, मध्यमसंहननचतुष्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं चेति द्वादशप्रकृतीनां ग्रहणम् इति। ॥२५।२६।२७।२८॥ इत ओघत उत्कृष्टरसबन्धस्वामिनं दर्शयति—

सागारो जागारो सुओवजुत्तोऽत्थि करणपज्जत्तो।
सव्वाण बंधगो गुरुरसस्स जेट्ठरसबंधगओ ॥२९॥

(प्रे०) '**सागारो**' इत्यादि, अत्र वक्ष्यमाणस्वरूपो जन्तुः सर्वासां प्रकृतीनां "**गुरुरसस्स**" उत्कृष्टरसस्य बन्धको भवति। शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टो रसोऽध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षादशुभप्रकृतीनां च सङ्क्लेशाधिक्याद् भवति, अतस्तादृग्विशुद्धिप्रकर्षः संक्लेशाधिक्यं वा यस्यासुमतः संभवति, तमेव दर्शयति–'**करणपज्जत्तो**' इह पर्याप्ता जीवा द्विविधा भवन्ति। लब्धिपर्याप्ताः पर्याप्तनामकर्मोदयभाजः, करणपर्याप्ता निर्वर्तितस्वप्रायोग्यपर्याप्तिकाश्च, लब्धिपर्याप्तस्तु कश्चित् करणाऽपर्याप्तोऽपि भवति, न तस्य तथाविधविशुद्धिसंक्लेशौ संभवतः, अतस्तदपोहार्थमुक्तं करणपर्याप्त इति। करणपर्याप्तस्तु निराकारेण–वस्तुसामान्यबोधात्मकेन दर्शनोपयोगेनाप्युपयुक्तो भवति, न च तस्य वक्ष्यमाणोत्कृष्टरसबन्धो भवितुमर्हति, अत उक्तं '**सागारो**' साकारः–ज्ञानोपयोगवानित्यर्थः। स च कदाचिद् निद्रामुपगतोऽपि भवेत् तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तं '**जागारो**' त्ति जाग्रत्-अनुदितनिद्रोऽपास्तनिद्रो वा, निद्रानिरुद्धचैतन्यस्योत्कृष्टरसबन्धकत्वायोगात्, तथा '**सुओवजुत्तो**' त्ति श्रुतोपयुक्तः-साभिलापज्ञानोपयुक्त इति भावः। अत्रोक्तविशेषणविशिष्टोऽपि जन्तुर्न सदोत्कृष्टमेव रसं बध्नाति, अत आह–'**जेट्ठरसबन्धगओ**' त्ति उत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानगत इत्यर्थः। **एतदुक्तं भवति**–उत्कृष्टस्थितिबन्धवदुत्कृष्टरसबन्धो न नानारसबन्धाध्यवसायस्थानैर्निर्वर्त्यते, किन्तु एकेनैव रसबन्धाध्यवसायविशेषेण। रसबन्धाध्यवसायास्त्वसंख्येयाः, **तथाहि**–असंख्येयानि स्थितिबन्धस्थानानि प्रतिस्थितिबन्धस्थानमसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि, प्रतिस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमसंख्येयानि रसबन्धाध्यवसायस्थानानीति, तत्रोत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यासंख्येयाध्यवसायानां मध्ये उत्कृष्टाध्यवसाये वर्तमानानां जन्तूनां मध्ये केषाञ्चिदेव जन्तूनां भवति, न सर्वेषाम्, प्रतिस्थितिबन्धस्थानं रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयत्वात्, एव-

म्भूते उत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायस्थाने वर्तमानस्यैवोत्कृष्टरसबन्धो जायत इति। एतत्सर्वमशुभप्रकृतीराश्रित्य ज्ञेयम्! कुतः? अशुभप्रकृतीनां सर्वाधिकस्थितिबन्धक एव तासामुत्कृष्टरसबन्धको भवतीतिकृत्वा। शुभप्रकृतीनां तु यथायथमल्पस्थितिबन्धकः तत्स्थितिस्थानगतोत्कृष्टरसबन्धाऽध्यवसायस्थानं गत उत्कृष्टरसबन्धको भवति।

'सव्वाण' त्ति सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य बन्धकः साकारादिविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानवर्ती जीवो भवतीति भावः।

ननु 'जेट्ठरसबंधगओ' इत्युक्तेरेवोत्कृष्टरसबन्धकस्वरूपप्रतिपत्तेः साकारजाग्रदादिविशेषणानां वैयर्थ्यमेवेति चेत्, न, साकारादिविशेषणविशिष्ट एव जीवो ज्येष्ठरसबन्धप्रायोग्याध्यवसायं गतः सन् उत्कृष्टरसबन्धको भवतीति तत्स्वरूपविशेषप्रतिपादकत्वात् सार्थक्यमेव तेषां साकारादिविशेषणानामिति। न चैतद् ग्रन्थकृता स्वमनीषिकया प्रत्यपादि, उक्तं च **श्रीमच्छ्यामाचार्यपादैः प्रज्ञापनायां**—केरिसए णं भंते! नेरइए उक्कोसकालठिइयं णाणावरणिज्जं कम्मं बंधई? गोयमा! सण्णी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्ते सागारे जागरे सुत्तोवउत्ते' इत्यादि। न चोत्कृष्टस्थितिबन्धकस्य विशेषणप्रतिपादकोऽयं ग्रन्थांशोऽनुपयोगीति वाच्यम्। अशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धकस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धसंभवादिति सुविदितमेव कार्मग्रन्थिकानामित्यलं विस्तरेण इति ॥२९॥

उक्तोऽविशेषेणोत्कृष्टरसबन्धकः, साम्प्रतं विशेषतस्तं निजिगदिषुराह—

तेरसणपुमाणि तहा तिचत्तअसुहधुवबंधिपयडीणं।
उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छादिट्ठी भवे सण्णी ॥३०॥

(प्रे०) **'तेरसणपुमाणि'** त्ति 'णपुमसायं सोगारइहुंडणीअणि॥ सरवज्जा अथिराई दुस्सरकुखगइ' इति संग्रहगाथाद्वयोक्तानां नपुंसकवेदः असातवेदनीयं शोकारती हुंडकनाम नीचैर्गोत्रम् अस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनामानि दुःस्वरनाम अशुभविहायोगतिश्चेति त्रयोदशप्रकृतीनां, ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं मोहनीयैकोनविंशतिकम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् उपघातनाम अन्तरायपञ्चकमिति त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनाञ्चोत्कृष्टरसबन्धकः **'उक्कोससंकिलिट्ठो'** त्ति उत्कृष्टसंक्लिष्टः **'मिच्छादिट्ठी'** मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टसंक्लिष्टत्वाभावात् तथा **'सण्णी'** संज्ञी चतुर्गतिको जन्तुरिति। संज्ञिमिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टसंक्लिष्टश्चतुर्गतिको जन्तुरत्रोक्तानां षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं बध्नातीति भावः। असंज्ञी सम्यग्दृष्टिरनुत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिश्चानर्होऽस्यासामुत्कृष्टरसबन्धस्य इति। **अत्रेदमवधेयम्**—दुःस्वरकुखगत्योरुत्कृष्टरसबन्धकत्वेन देवगतिषु न सर्वे देवाः, किन्तु सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवा एवोक्तविशेषणविशिष्टा ज्ञेयाः। कुत इति चेदुच्यते—ईशानान्तदेवस्योत्कृष्टसंक्लिष्टत्वे एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन तयोर्बन्धाभावात्

तथा आनतादिदेवानामोघोत्कृष्टसंक्लिष्टत्वाभावात् ॥३०॥ भणितः षट्पञ्चाशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः। सम्प्रति यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकं बिभणिषुराह—

खवगो अंतिमबंधे कमा जसाईसु तिण्ह सुहमत्थो।
गुणतीसाए णेयो अपुव्वकरणो विसुद्धयमो ॥३१॥

(प्रे०) 'खवगो' इत्यादि, 'जससायाणि । उच्चपणिंदितसचउगपरघूसामसुखगइपणथिराई। सुहधुवबन्धागिइजिणसुरविउव्वाहारजुगलाणि। इतिगाथोक्ताभ्यो यशःकीर्त्यादिभ्यो द्वात्रिंशत्प्रकृतिभ्यो यशःकीर्त्यादीनां तिसृणामेकोनत्रिंशतश्च पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः क्रमात् सूक्ष्मसम्परायस्थः क्षपकोऽन्तिमबन्धे वर्त्तमानः, विशुद्धतमोऽपूर्वकरणश्च ज्ञेयः।

अत्रेयं भावना—यशःकीर्तिनाम, सातवेदनीयम्, उच्चैर्गोत्रं चेति तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं सूक्ष्मसम्परायाख्यदशमगुणस्थानस्थः क्षपकः चरमबन्धे बध्नाति। इमा हि प्रशस्ता., प्रशस्तानामुत्कृष्टरसो विशुद्ध्यैव जायत अत एव गुणस्थानान्तरस्थं विहाय सूक्ष्मसम्परायस्थस्य ग्रहणम्, उपशामकात् क्षपकस्यानन्तगुणविशुद्धत्वात् तं विहाय क्षपकस्योपादानम्, अन्तर्मुहूर्तस्थितिकस्य दशमगुणस्थानकस्य चरमसमये विशुद्ध्याधिक्यात् तद्गुणस्थानकसत्कान्तिमसमयसत्कबन्धस्य ग्रहणम्। न च क्षीणमोहक्षपको द्वादशगुणस्थानकवर्ती भविष्यत्यामामुत्कृष्टरसबन्धकस्तस्य विशुद्धतरत्वात् इति वाच्यम्, तस्य यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोर्बन्ध एव नास्ति कुतस्तद्रसबन्धवार्त्ता? सातवेदनीयस्य तु प्रकृतिबन्धसत्त्वेऽपि न रसबन्धः 'ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ' इति वचनात्, तस्य चाकषायत्वात्। तथा पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसचतुष्कं, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, शुभविहायोगतिः, स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनामरूपं स्थिरादिपञ्चकं, तैजसशरीरनामकार्मणशरीरनामशुभवर्णादिचतुष्कागुरुलघुनिर्माणरूपं शुभध्रुवबन्ध्यष्टकं, शुभाकृतिः समचतुरस्राख्यप्रथमसंस्थानमित्यर्थः, जिननाम, देवद्विकं, वैक्रियद्विकम्, आहारकद्विकञ्चेति एकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं तासां चरमबन्धे वर्त्तमानो देवगतिप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नन् विशुद्धतमः क्षपकोऽपूर्वकरणाख्याष्टमगुणस्थानकस्थो बध्नाति। विशुद्धतम इति विशेषणस्योपादानं किमर्थं? मिति चेद्, उच्यते—अपूर्वकरणगुणस्थानकस्य संख्येयेषु भागेषु गतेष्वासां चरमबन्धो भवति, तत्र च तद्बन्धकाः प्रत्येकं विशुद्धाः सन्तोऽपि षट्स्थानपतितत्वादनन्तगुणादिहीनाधिकविशुद्धिमन्तोऽपि भवन्ति, तेषु यो विशुद्धतमो भवति स एवोत्कृष्टरसबन्धकतया ग्राह्य इति हेतोस्तद्विशेषणस्योपादानम्।

किं नोपात्तं विशुद्धतम इति विशेषणं यशःकीर्त्यादिप्रकृतित्रयोत्कृष्टरसबन्धकस्यापीति? तद्बन्धकानां सर्वेषां विशुद्धिसाम्यात् विशुद्धतम इतिविशेषणस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति ॥३१॥

साम्प्रतं स्त्रीवेदादीनामेकोनत्रिंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनो बिभणिषुराह—

तप्पाउग्गकिलिट्ठो सण्णी थीआइबारसण्ह भवे ।
मिच्छत्ती णिरयाउछसुहमाईण उण दुगइट्ठो ॥३२॥

(प्रे०) '**तप्पाउग्ग**' इत्यादि, स्त्रीवेदादीनां द्वादशानां तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः संज्ञी चतुर्गतिको मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टरसबन्धको भवेत् , नरकायुःषट्सूक्ष्मादीनां पुनरसावेव द्विगतिस्थः । **अत्रायं भावः**–स्त्रीवेदपुरुषवेदहास्यरतिमध्यमसंहननचतुष्कमध्यमसंस्थानचतुष्करूपाणां द्वादशप्रकृतीनामुत्कृष्टरसं तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टश्चतुर्गतिकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः करोति , उत्कृष्टसंक्लिष्टस्तूक्तप्रतिपक्षभूता अशुभतरा नपुंसकवेदशोकारतिसेवार्त्ताख्याऽन्तिमसंहननहुंडकाख्यान्तिमसंस्थानरूपाः प्रकृतीर्बध्नीयात् । **किमुक्तं भवति ?** उत्कृष्टसंक्लिष्टः स्त्रीवेदपुरुषवेदावतिक्रम्य नपुंसकवेदमेव **निर्वर्तयति. हास्यरतियुगलमतिक्रम्य** शोकारतियुगलमेव बध्नाति, संहननेषु च वज्रर्षभनाराचाख्यस्याद्यस्य प्रशस्तत्वाद् विशुद्धेरेव तद्बन्धो, न संक्लेशात् , अतिसंक्लिष्टस्य सेवार्त्तबन्धसम्भवात् , तथैव संस्थानेष्वपि आद्यस्य शुभत्वात् न संक्लेशात् तद्बन्धः, अतिसंक्लिष्टस्य च हुंडकबन्धसम्भवात् इति आसां द्वादशानां बन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इतिविशेषणोपादानम् । असंज्ञिनस्तु कस्या अपि प्रकृतेरोघोत्कृष्टरसबन्ध एव नास्ति अत एव संज्ञीति । सम्यग्दृष्टीनामुक्तद्वादशप्रकृतिभ्यः पुरुषवेदः हास्यरतीति प्रकृतित्रयस्यैव बन्धः सोऽपि नोत्कृष्टरसयुक्तस्तेषां तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशाभावाद् इति मिथ्यात्विनो ग्रहणम् । तथा नरकायुःसूक्ष्मनामाऽपर्याप्तनामसाधारणनामद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिलक्षणानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसं पर्याप्तः संज्ञी तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यात्वी मनुष्यस्तिर्यग् वा बध्नाति, तत्र देवनारकयोर्नारकादितयोत्पादाभावेन तद्बन्धाभावाद् मनुष्यतिरश्चोरुपादानम् , अतिसंक्लिष्टयोर्नरकप्रायोग्यबन्धसद्भावेनाऽऽयुर्बन्धाभावेन च तदबन्धकत्वात् तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टयोर्ग्रहणम् , सम्यग्दृष्टिमनुष्यतिरश्चोर्देवगतिप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावाद् मिथ्यात्वीति उक्तमिति ॥३२॥

अथ आयुष्कत्रिकस्योत्कृष्टरसबन्धकान् निरूपयति—

तदरिहसुद्धो सण्णी दुगइयमिच्छोऽत्थि तिरिणराऊणं ।
देवाउगस्स णेयो अपमत्तो तदरिहविसुद्धो ॥३३॥

(प्रे०) '**तदरिहसुद्धो**' इत्यादि, तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकस्तदर्हविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः संज्ञी मनुष्यस्तिर्यग् वास्ति । देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकस्तदर्हविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिरिति । निरुक्तायुस्त्रिकस्य प्रशस्तत्वाद् उत्कृष्टविशुद्धस्य तद्बन्धायोगाच्च तदर्हशुद्धः-तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । यद्यपि नरायुषस्तिर्यगायुषश्च चतुर्गतिका अपि जीवा बन्धकास्तथापि उत्कृष्टरसबन्धकतया तु मनुष्यतिर्यञ्च एव लभ्यन्ते, यत एनयोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्त्रिपल्योपममितोत्कृष्टस्थितेर्बन्धे सत्येव

बध्यते तावती च स्थितियुगलिकभवप्रायोग्ये बध्नता बध्यते , न च देवनारकाः कदापि तावतीं स्थितिं बध्नन्ति, तेषामनन्तरभवे युगलधर्मित्वेनोत्पादाभावात् । शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसो विशुद्धया बध्यते, तथोत्कृष्टरसबन्धकाले तासां स्थितिस्तु जघन्येति नियमः आयुर्वर्जप्रकृतीराश्रित्य द्रष्टव्यः । देवमनुष्यतिर्यगायुषांशुभप्रकृतित्वेऽपि यथा यथा तेषां निषेकस्थितिर्वर्धते तथा तथा रसवृद्धिः, तत्स्थितेरपि प्रशस्तत्वात् । अतोऽत्रोत्कृष्टरसबन्धका अबाधानपेक्षोत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तो ग्राह्याः । ततो मनुष्यतिर्यञ्च एव मनुष्यायुषः तिर्यगायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धका इति । देवायुष उत्कृष्टरसं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकेषु तत्प्रायोग्यविशुद्ध एव बध्नाति,तत्प्रायोग्यविशुद्धस्तु सप्तमगुणस्थानकवर्ती अप्रमत्तमुनिरेव,सोऽपि तत्प्रायोग्यविशुद्धो मध्यमविशुद्ध एव ज्ञेयः, सर्वत्रायुर्बन्धयोग्यगुणस्थानेषु तत्तद्गुणस्थानप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेरुत्कृष्ट संक्लेशाच्चायुर्बन्धानभ्युपगमादिति ।।३३।।

अथ नरकद्विकादिपञ्चप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकान् दर्शयितुकाम आह—

मिच्छो संकिट्ठयमो णिरयदुगस्स मणुसो व तिरियो वा ।
सण्णी णेयो णिरयो सुरो व तिछिवट्ठआईणं ।।३४।।

(प्रे०) 'मिच्छो' इत्यादि, नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणस्य नरकद्विकस्योत्कृष्टरसबन्धकः संक्लिष्टतमः सर्वोत्कृष्टसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यस्तिर्यग् वास्ति । अस्याप्रशस्तत्वेन जघन्यादिसङ्क्लेशभाज उत्कृष्टरसबन्धायोगात्तद्व्यवच्छेदार्थं संक्लिष्टतम इत्युक्तम् । असंज्ञिनः तथाविधसंक्लेशाभावात् सम्यग्दृष्टेश्च तद्बन्धस्यैवाभावात् तत्परिहारार्थं संज्ञी मिथ्यादृष्टिश्चेत्युक्तम् । देवनारकयोरनन्तरभवे नारकतयोत्पादाभावेन तद्बन्धाभावात् मनुष्यतिरश्चोर्ग्रहणम् । इयमत्र भावना—नरकद्विकस्याप्रशस्तत्वाद् विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमितोत्कृष्टस्थितिबन्धक एव तदुत्कृष्टरसबन्धकः, यतोऽशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसं तदुत्कृष्टस्थितिबन्धक एव बध्नातीति । तदुत्कृष्टस्थितिस्त्वसंख्येयलोकाकाशप्रदेशमितासंख्येयसंक्लेशस्थानेष्वन्यतमेनाऽपि बध्यते ततः संक्लिष्टतम इति बन्धकविशेषणम् । यद्यप्यसंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिरश्चोऽस्त्येव नरकद्विकबन्धस्तथापि नोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तथाविधसंक्लेशाभावात् , उत्कृष्टस्थितिबन्धाभावे उत्कृष्टरसबन्धस्याप्यभावः पूर्वोक्तादेव हेतोः । सम्यग्दृष्टिमनुष्यतिरश्चोर्देवद्विकस्यैव बन्धात् मिथ्यादृष्टेरत्र ग्रहणमिति । 'णिरयो' इत्यादि, सेवार्तसंहनननाम तिर्यग्द्विकमिति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धं मिथ्यात्वी संक्लिष्टतमो नारकः सुरो वा करोति । सम्यग्दृष्टिदेवनारकास्तु वज्रर्षभनाराचाख्यं प्रथमसंहननं मनुष्यद्विकं चैव बध्नन्ति, अतो मिथ्यात्वीति । मध्यमसंक्लिष्टस्य तदुत्कृष्टरसबन्धायोगात् संक्लिष्टतम इति । मनुष्यतिर्यञ्चो हि एतावति संक्लेशे वर्तमाना नरकप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुः । किञ्चिन्न्यूनसंक्लेशे वर्तमानास्ते सेवार्तसंहननं तिर्यग्द्विकं च यदा बध्नीयुर्न तदा तेषामुत्कृष्टरसबन्धलाभः, अतस्तद्व्युदासेन देवनारकाणां ग्रहणम् । देवनारकास्तु सर्वसंक्लिष्टा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति ।

इह "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः" सेवार्त्तस्येशानादुपरितनाः सनत्कुमारादयः सहस्रारान्ता देवा उत्कृष्टानुभागं बध्नन्ति, न त्वीशानान्ताः, ते हि अतिसंक्लिष्टाः सन्त एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति तदा च तत्प्रकृतेर्बन्धाभावः, न वा सहस्रारोपरितना आनतादिदेवास्तद्बन्धकाः तेषां शुक्ललेश्याकत्वेन उत्कृष्टतोऽपि अन्तःकोटीकोटीसागरमिताया एव स्थितेर्बन्धात्, न तावत्स्थितिबन्धकानां तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भव इति ज्ञेयम् ॥३४॥

अथ नरद्विकादिप्रकृतिपञ्चकस्यैकेन्द्रियस्थावरयोश्चोत्कृष्टरसबन्धकान् दर्शयति—

पंचण्ह णराईणं सव्वविसुद्धो सुरो य सम्मत्ती ।
एगिंदिथावराणं मिच्छीसाणंत तिव्वसंकिट्ठो ॥३५॥ (गीतिः)

(प्रे०) **'पंचण्ह'** इत्यादि, नरद्विकादीनां पञ्चानां सर्वविशुद्धः सुरः सम्यक्त्वी उत्कृष्टरसबन्धं करोति । एकेन्द्रियस्थावरयोरीशानान्तो मिथ्यात्वी तीव्रसंक्लिष्टः सुर इति । **उपपत्तिस्त्वेवम्**-नरद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चप्रकृतीनां सर्वविशुद्धः सम्यक्त्वी सुर उत्कृष्टरसं बध्नाति, सर्वं वाक्यं सावधारणमिति वचनात् तीर्थंकरर्द्धिदर्शनवचनश्रवणपराणां देवानामुत्कृष्टविशुद्धिसंभवाच्च देव एव, न तु गत्यन्तरगतोऽपि जन्तुः, **तथाचोक्तं शतकचूर्णौ**—मणुयगई ओरालियसरीरं ओरालियअंगोवगं वज्जरिसभनारायसंघयणं मणुयाणुपुव्वी य । एएसि पंचण्हं पगईणं उक्कोसाणुभागं देवो संमदिट्ठी अच्चंतविसुद्धो बंधइ एक्कं वा दो वा समया, विसुद्धिए वि एत्तिओ कालो मिच्छदिट्ठीओ सम्मदिट्ठी अणंतगुणविसुद्धो त्ति । णेरइगावि सम्मद्दिट्ठिणो अच्चंतविसुद्धा एताओ बंधंति, तेसिं किं उक्कोसं ण भवति इति चेत् ? उच्यते, णेरइगा तिव्ववेयणाभिभूत्वात संकिलिट्ठतरा । अन्नं च तित्थकररिद्धिदंसणवयणसुणणाओ देवाण तिव्वा विसोही भवति, णेरइकाणं तं णत्थि, तम्हा देवेसु चेव उक्कोसो लब्भइ । चकारोऽत्र मतान्तरद्योतकस्ततो मतान्तरेण नारकश्चोत्कृष्टरसं प्रकरोति, **महाबन्धकारादयो** नारकाणामपि तथाविधां विशुद्धिं मन्वते इतिकृत्वा । मिथ्यात्विनोऽल्पविशुद्धस्य च सम्यक्त्विन आसां बन्धसद्भावेऽपि नोत्कृष्टरससंभवः प्रशस्तत्वादासाम्, प्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्तत्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धेनैव क्रियत इति पूर्वमपि उक्तमेवास्ति । सम्यक्त्विनो मनुष्यतिर्यञ्चस्तु देवगतिप्रायोग्यमेव बन्धं कुर्युः, मिथ्यादृष्ट्यादयस्ते यद्यपि नरादिपञ्चकं बध्नन्ति तथापि मिथ्यात्वादियोगान्न तेषां विशुद्धिप्रकर्षः, तदभावादेव नोत्कृष्टरसबन्धोऽपि, अतस्तान् विहाय देवस्य ग्रहणम् ।

'एगिंदि' इत्यादि, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्काणां सौधर्मेशानयोश्च यः सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यात्वी देवः स एकेन्द्रियस्थावरात्मकप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टरसं बध्नाति । ईशानादूर्ध्ववर्त्तिनां सनत्कुमारादीनाम् एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्ध एव नास्ति, अत एवेशानान्तानां ग्रहणम् ।

अशुभत्वादेनयोस्तीव्रसंक्लेशादेवोत्कृष्टरसबन्धसम्भवः, तादृशसंक्लेशभाजो मनुष्यतिर्यञ्चस्तु नरकप्रायोग्यमेव बध्नीयुः, नारकास्तु तथास्वाभाव्यादेव न बध्नन्ति एकेन्द्रियस्थावरनाम्नी, अतो

मनुष्यतिर्यङ्नारकान् परित्यज्य देवोपादानम् । सम्यग्दृष्टिसुरस्य मनुष्यप्रायोग्यकर्मण एव बन्धात् मिथ्यात्वीति । जघन्यसंक्लिष्टस्य मध्यमसंक्लिष्टस्य वोत्कृष्टरसबन्धायोगात् तीव्रसंक्लिष्ट इत्युक्तमिति ॥३५॥ साम्प्रतमुद्योतातपयोरुत्कृष्टरसबन्धकात् दर्शयति—

उज्जोअस्स तमतमो सम्माहिमुहो भवे विसुद्धयमो ।
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छो देवो य आयवस्स भवे ॥३६॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'उज्जोअस्स' इत्यादि, उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धं सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमः तमस्तमाः सप्तमपृथ्वीनारकः करोति । तद्यथा–एकस्तावद् उपशमसम्यक्त्वाभिमुखःसप्तमपृथ्वीनारकः स च यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि विदधाति, तत्रानिवृत्तिकरणे स्थितो मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तस्मिंश्च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति, प्रथमा अन्तरकरणादधस्तनी अन्तर्मुहूर्तमात्रा, तस्मादेवोपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः । तत्राधस्तनस्थितिमनुभवतो मिथ्यात्ववेदनस्य चरमसमये उद्योतस्य तीव्रमनुभागं बध्नाति; अन्यस्तु क्षायोपशमिकसम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारको बध्नाति, कुतः ? उद्योतनाम्नः शुभप्रकृतित्वात् विशुद्धतम एवास्योत्कृष्टरसं करोति, एतद् बन्धकेषु त्वेतावेव विशुद्धतमाविति । अन्यस्थानवर्त्ती हि एतावत्यां विशुद्धौ वर्त्तमानो जन्तुर्मनुष्यप्रायोग्यं देवप्रायोग्यमेव वा बध्नीयात् , इदं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धसहचरितमेव बध्यत इति सप्तमपृथिवीनारक एवास्योत्कृष्टरसबन्धकः, यदुक्तं शतके–'तमतमगा उज्जोअं' इत्यादि, तत्र हि सप्तमनरके यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वोदयोऽस्ति तावत् भवप्रत्ययात् तिर्यक्प्रायोग्यमेव कर्म बध्यत इतिकृत्वा । तथा 'आयवस्स' त्ति आतपनामकर्मण उत्कृष्टरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यात्वी देवो भवेत् । अत्रापि "व्याख्यानात् विशेषप्रतिपत्तेः" ईशानान्तदेवो ज्ञेयः । ननु कथमेतदवसीयते यद् आतपस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यात्वीशानान्तदेव एव उत्कृष्टरसं बध्नाति, नान्यः ? उच्यते, आतपनाम हि एकेन्द्रियप्रायोग्यं प्रशस्तं चास्ति, अत एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकेषु यो विशुद्धतमः स एवास्योत्कृष्टरसं बध्नाति । नारकाणां हि भवप्रत्ययादेव एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धो नास्ति, तिर्यग्मनुष्येषु ये एतावद्विशुद्धिभाजस्ते तु पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिप्रायोग्यं किञ्चित् शुभतरं बध्नीयुः, ततस्तान् विहाय देवस्योपादानम् , तत्रापि सनत्कुमारादीनां भवस्वाभाव्यादेव नास्ति एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धस्तस्मादीशानान्तदेवस्य ग्रहणम् । सोऽपि यदा विशुद्धतरो विशुद्धतमो वा स्यात् तदा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं मनुष्यप्रायोग्यं वा बध्नीयात् , अत उक्तं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । सम्यग्दृष्टिदेवस्य तु नियमाद् मनुष्यप्रायोग्यबन्धः, न पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्योऽपि तत एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धस्य तु वार्ताऽपि दूरतोऽपास्ता, अत एव सम्यग्दृष्टिदेवं परित्यज्य मिथ्यात्विनमुपादात् इति । अन्ये तु नरकवर्जत्रिगतिकान् जीवान् आतपस्योत्कृष्टरसबन्धकतयाऽऽहुरिति चकारेण ध्वनितं ज्ञेयम् ॥३६॥ उक्ता ओघतः प्रत्येकं प्रकृतीनामुत्कृष्टरस-

बन्धकाः । अधुना मार्गणासु तासां तान् भणितुकामो लाघवार्थमादौ समस्तमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतामाह—

सव्वासु बंधगो गुरुरसस्स तिव्वाणुभागबंधगओ।
सागाराइविसिट्ठो सप्पाउग्गाए आउवज्जाणं ॥३७॥ (गोत्तिः)
पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहा वि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहि इह कत्थइ विसेसो ॥३८॥ (गोत्तिः)

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु मार्गणासु आयुर्वर्जानां सर्वासां स्वस्वबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य बन्धकः, सामान्यतः साकारादिविशेषणविशिष्टः तीव्रानुभागबन्धगत उत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायस्थानं गतः प्राप्तोऽसुमान् भवति। तथा–'**पज्जत्ताऽपज्जत्ता**' इत्यादि, यत्र मार्गणायां पर्याप्ता अपर्याप्ता इति द्विविधा अपि जीवा भवेयुः तत्र सामान्यतः सर्वाभिःपर्याप्तिभिः पर्याप्तो जन्तुरुत्कृष्टरसबन्धको ज्ञेयः, कुतः ? इति चेत् , उच्यते–प्रशस्ताप्रशस्तोत्कृष्टरसबन्धे यथाक्रमं विशुद्धिसंक्लेशप्रकर्षोऽपेक्ष्यते, स च पर्याप्तापर्याप्तयोर्मध्ये पर्याप्तस्यैव भवतीति ॥३७।३८॥ भणिता सामान्यवक्तव्यता। अधुना मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकनिरूपणप्रस्तावे यो विशेषोऽस्ति स कथ्यते । इतो विशेषकथनानुसक्तामारभते मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकप्ररूपणाम् । तत्रादौ तावद्गतिमधिकृत्य नरकसप्तमनरकयोस्तामाह—

णिरयचरमणिरयेसुं मिच्छत्ती अत्थि तिव्वसंकिट्ठो ।
सोलसणपुमाईणं तह अपसत्थधुवबंधीणं ॥३९॥
बारसथीआईणं मिच्छादिट्ठी तदरिहसंकिट्ठो ।
उज्जोअस्स तमतमो सम्माभिमुहो विसुद्धयमो ॥४०॥
णिरये इगतीसाए तह सत्तमणारगम्मि तीसाए ।
णेयो णराइगाणं सम्मादिट्ठी विसुद्धयमो ॥४१॥

(प्रे०) '**णिरय**' इत्यादि, नरकगतिसामान्यचरमनरकयोरिति द्वयोर्मार्गणयोः पूर्वोक्तसंग्रहगाथागतानां षोडशानां नपुंसकवेदादीनां तथाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां सामान्यवक्तव्यतयोक्तसाकारादिवैशिष्ट्ययुक्तो मिथ्यात्वी तीव्रसंक्लिष्टः पर्याप्तो नारकजीव उत्कृष्टरसं बध्नाति। षोडश नपुंसकवेदादिप्रकृतयोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यश्चेमाः,–नपुंसकवेदः, असातं, शोकारती, हुंडकसंस्थाननाम, नीचैर्गोत्रम् , अस्थिराशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्तिलक्षणाः पञ्चास्थिरादयः, दुस्स्वरनाम, कुखगतिः, सेवार्त्तनाम, तिर्यग्द्विकञ्चेति षोडशनपुंसकवेदादि-

प्रकृतयः, तथा ज्ञानावरणीयपञ्चकं, दर्शनावरणीयनवकं, मिथ्यात्वमोहनीयं षोडशकषायाः भयजुगुप्से इति मोहनीयकर्मण एकोनविंशतिः प्रकृतयः, अशुभवर्णादिचतुष्कम्, उपघातनाम, अन्तरायपञ्चकं चेति सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः इत्येकोनषष्टिसंख्याकानामुत्कृष्टरसबन्धकः पूर्वोक्तो नारकजीवः। इह यद्यपि द्वितीयादिगुणस्थानकवर्तिषु नारकेषु असातवेदनीयशोकारतिज्ञानावरणपञ्चकादीनां बन्धोऽस्ति तथापि तेषु नोत्कृष्टरससंभवः, आसामशुभत्वेन तीव्रसंक्लेशेनैवेमा उत्कृष्टरसाः क्रियन्ते, तीव्रसंक्लेशस्तु यावान् मिथ्यादृष्टिषु संभवति न तावानन्येषु, ततो मिथ्यात्वीति उक्तम्। मिथ्यात्वी अपि न सर्वदोत्कृष्टरसाः ता बध्नाति किन्तु तीव्रसंक्लिष्टः सन्नेव कदाचिदेकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टरसा बध्नाति, अत एवोक्तं तीव्रसंक्लिष्ट इति। तथा 'थी पुरिसं हस्सरई मज्झिमसघयणआगईओ य' इति संग्रहगाथाऽवयवोक्तानां स्त्रीवेदादीनां द्वादशप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धं तदर्हसंक्लिष्टो मिथ्यात्वी नारकः करोति। तीव्रसंक्लिष्टस्तु अप्रशस्ततमानि एतत्प्रतिपक्षभूतानि नपुंसकवेदशोकारत्यन्तिमसेवार्ताख्यसंहननहुंडकाख्यसंस्थानानि बध्नाति ततस्तदर्हसंक्लिष्ट इत्युक्तम्। **'उज्जोअस्स तमतमो'** त्ति उद्योतनामकर्मण उत्कृष्टरसस्य तमस्तमाः सप्तमपृथ्वीनारकः बन्धकः, कीदृशः स इत्याह–**'सम्माभिमुहो'** त्ति सम्यक्त्वं प्रतिपित्सुः, पुनः कीदृशः? **'विसुद्धयमो'** त्ति सर्वोत्कृष्टविशुद्धिभागनन्तरसमये भविष्यत्सम्यग्दृष्टिः, यद्यपि प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या विशुद्ध्यमानः सम्यक्त्वप्राप्तेरर्वागन्तर्मुहूर्तकालं यावत्सम्यक्त्वाभिमुखो भण्यते तथापि अनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्रतिपित्सोरेव विशुद्धतमत्वात्, उद्योतस्य प्रशस्तत्वेन विशुद्धिप्रकर्षादेव तदुत्कृष्टरसस्य जायमानत्वाच्च। न च प्रतिपन्नसम्यक्त्वस्य ततोऽपि विशुद्धतरत्वात् स एव अस्योत्कृष्टरसं निर्वर्तयिष्यतीति वाच्यम्। तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतामेवोद्योतनामबन्धसम्भवात् प्रतिपन्नसम्यक्त्वानां च तस्याः प्रकृतेरेवाऽबन्धात् कुतः उत्कृष्टरसविचारोऽपि? उद्योतप्रकृतिबन्धाभावेन उद्योतस्य रसबन्धोऽपि न भवतीति भावः।

नन्वस्तु एवं सप्तमनरके यथोक्तो नारक उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसनिर्वर्तकः, किन्तु नरकसामान्यमार्गणायामप्याद्यषड्नरकनारकान् विहाय कथमस्यैवोपादानम्? सत्यम्, यदि त आद्यषड्नरकनारकाः सम्यक्त्वाभिमुखाः सन्तस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धमकरिष्यँस्तर्हि तत्सहभाविबन्धस्य उद्योतस्यापि उत्कृष्टरसमनिर्वर्तयिष्यन्, न च तथास्ति, यतः सप्तमनरकवर्जाश्चतुर्गतिका जीवाः सम्यक्त्वाभिमुखीभूताः सन्तोनैव तिर्यग्गतिप्रायोग्यं कर्म चिन्वन्ति, तथा च तादृग्विशुद्धानामाद्यषड्नरकनारकाणां तदबन्धकत्वेन सप्तमपृथ्वीनारकस्यैव तदुत्कृष्टरसनिर्वर्तकत्वं, तस्यैव तादृग्विशुद्धिभाजः स्वाभाव्येन तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धकत्वात्, तथा सति नरकसामान्यमार्गणायामपि स एव सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमः सप्तमपृथ्वीनारक उद्योतस्योत्कृष्टरसनिर्वर्तकः, न पुनः शेषषड्नरकनारका अपीति।

तथा 'णिरये इगतीसाए' त्ति नरकगतिसामान्यमार्गणायां नरद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं यशःकीर्त्तिनाम सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसचतुष्कं पराघातनाम उच्छ्वासनाम शुभविहायोगतिः पञ्च स्थिरादयः अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्यः शुभाकृतिः समचतुरस्राख्याद्यसंस्थानमित्यर्थः जिननाम चेति एकत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकः सम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमो नारको, नवरं जिननाम्न आद्यनरकत्रितयवर्त्ती एव जीवः, इतरेषां तद्बन्धायोगादिति । 'सत्तमणारगम्मि' त्ति तमस्तमआख्यसप्तमनरकमार्गणायामनन्तरोक्तैकत्रिंशत्प्रकृतिभ्यो जिननामवर्जास्त्रिंशत्प्रकृतयो यथोक्तविशेषणविशिष्टेन सप्तमपृथ्वीनारकेणोत्कृष्टरसाः क्रियन्ते ।

ननु कथमेतदवसीयते यदत्रोक्तानां नपुंसकवेदादीनां मिथ्यात्वी तीव्रसंक्लिष्टो नारक उत्कृष्टरसनिर्वर्तकः एकत्रिंशतो नरद्विकादीनां च सम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमो नारक इति ? उच्यते,—यद्मार्गणागतजीवानां सर्वनिकृष्टतया यद्यद्गत्यादिषूत्पादोऽनन्तरभवेऽभिमतः तत्तद्गत्यादिप्रायोग्या या अशुभतमाः प्रकृतयस्ताः प्रकृतीरुत्कृष्टरसाः स निर्वर्तयति यस्तद्मार्गणागतजीवेषूत्कृष्टसंक्लेशभाग् भवति, तथा यास्तत्तद्गत्यादिप्रायोग्या अशुभतमातिरिक्ता अशुभाः प्रकृतयः, याश्च विवक्षितमार्गणागतजीवानामनन्तरभवोत्पादप्रायोग्यनिकृष्टातिरिक्तगत्यादिप्रायोग्या अशुभतमा अशुभाश्च प्रकृतयस्ताः सर्वा अपि तदर्हसंक्लेशभाजासुमता तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्योत्कृष्टरसाः क्रियन्ते, यथैव नरकप्रमुखासु च गत्यादिमार्गणासु द्वितीयादिपञ्चमान्तानि संहननसंस्थाननामानि, हास्यरती, स्त्रीपुरुषवेदौ च तत्प्रायोग्यसंक्लेशेनोत्कृष्टरसाः क्रियन्ते, उत्कृष्टसंक्लेशेन षष्ठसंहननसंस्थाने शोकारती नपुंसकवेदश्च बध्यन्त इति । यथा वा ईशानान्तदेवमार्गणासु मनुष्यमार्गणासु तिर्यग्मार्गणासु च सेवार्त्तस्योत्कृष्टरसस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बध्यते; स च देवैः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं बध्नद्भिर्बध्यते; तेषां पारभविकनिकृष्टस्थानस्य एकेन्द्रियजातित्वेन पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वस्य निकृष्टातिरिक्तत्वात् । मनुष्यतिर्यग्मार्गणासु अपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नद्भिः सेवार्त्तनाम्नो मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसो बध्यते; तेषां पारभविकनिकृष्टस्थानन्तु नरकमिति द्वीन्द्रियजातेः पारभविकस्वप्रायोग्यनिकृष्टातिरिक्तस्थानत्वेन सेवार्त्तस्योत्कृष्टरसस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बध्यते । अयं रस ओघोत्कृष्टरसापेक्षयाऽनन्तगुणहीनो भवति । एतदोघोत्कृष्टरसस्तु ओघोत्कृष्टसंक्लेशादेव जन्यत इति कृत्वा ।

संक्लेशोऽपि उत्कृष्टपदेऽधोऽधोवर्त्तिगुणस्थानकभाजामधिकतरोऽधिकतमो भवति, अतोऽशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्य यथासम्भवं तद्मार्गणार्हाधस्तमगुणस्थानकवर्त्तित्वमपि सर्वत्र बोध्यम् ।

तथैव यद्मार्गणागतजीवानां प्रकृष्टतया यद्यद्गत्यादिषूत्पादोऽनन्तरभवेऽभिमतः सामान्यतस्तत्तद्गत्यादिप्रायोग्या शुभतमाः प्रकृतयो विशुद्धतमैरेव तद्बन्धकैरुत्कृष्टरसा निर्वर्त्यन्ते। यास्तद्गतिप्रायोग्याः शेषाः शुभप्रकृतयस्तथा विवक्षितमार्गणागतजीवानामनन्तरभवोत्पादप्रायोग्यप्रकृष्टा-

तिरिक्तशुभगत्यादिप्रायोग्याः शुभतमाः शुभा वा ताः सर्वाः प्रकृतयस्तदर्हविशुद्धेस्तन्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसाः क्रियन्ते । तद्यथा–मनुष्यगतिनाम्न उत्कृष्टरसस्तत्प्रायोग्यविशुद्धया मनुष्यप्रायोग्यबध्नद्भिः मनुष्यैर्बध्यते, मनुष्याणां पारभविकप्रकृष्टस्थानस्य देवगतित्वेन मनुष्यगतेः प्रकृष्टातिरिक्तस्थानत्वात् । अध्रुवबन्धिनीरधिकृत्यानन्तरोक्ता नियमा वेदितव्याः । ध्रुवबन्धिन्योऽशुभास्तु सर्वासु मार्गणासु तन्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशाद् उत्कृष्टरसा जन्यन्ते शुभाश्च तास्तन्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रविशुद्धेरिति ।

अथेदमेव प्रकृते योज्यते–नारकजीवानामन्तरभव उत्पादः सामान्यतः पर्याप्तसंज्ञितिर्यग्मनुष्येष्वभिमतः, तत्रापि निकृष्टतया तेषां पर्याप्तसंज्ञितिर्यक्ष्वेव सोऽस्ति, कुतः ? मनुष्यगत्यपेक्षया तिर्यग्गतेरधमत्वात्, तथा सप्तमनरकनारकस्य तु तिर्यग्गतावेवोत्पादोऽनन्तरभवे कुतः ?, मनुष्यगत्यां तस्योत्पादप्रतिषेधात्, ततो यदा नारकास्तीव्रकषायोद्रेकादुत्कृष्टं संक्लेशं भजन्ति तदा ते पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वेद्या नपुंसकवेदादीरशुभतमाः षोडशप्रकृतीरुत्कृष्टरसाः प्रकुर्वन्ति । तद्यथा–पर्याप्तसंज्ञितिर्यक्षु त्रयोऽपि वेदा वेद्यतया अप्रतिषिद्धास्तथापि नपुंसकवेदस्यैव अशुभतमत्वात्, उत्कृष्टसंक्लिष्टा जीवास्तस्यैवोत्कृष्टरसं प्रकुर्वन्ति, सातवेदनीयस्य शुभत्वात् तं परित्यज्याऽसातस्यैवोत्कृष्टरसं निर्वर्तयन्ति, हास्यादियुगलं विहाय शोकारत्योरुत्कृष्टरसं चिन्वन्ति,तयोर्हास्यरतिभ्यामशुभतरत्वात्, संस्थानषट्केषु आद्यवर्जानां पञ्चानां संस्थानानामशुभत्वेऽपि हुंडकाख्यषष्ठस्यैवाशुभतमत्वात् तदेवोत्कृष्टरसं कुर्वते, गोत्रयोर्नीचैर्गोत्रस्याशुभत्वात्तस्यैवोत्कृष्टरसं निर्वर्तयन्ति, तथा पञ्चाऽस्थिरादयो दुस्वरः अशुभविहायोगतिरिति सप्तानां प्रकृतीनां प्रतिपक्षभूतानां स्थिरादीनां शुभत्वात् अत्रोक्ता एव सप्ताऽस्थिरनामादिप्रकृतीरुत्कृष्टरसाः कुर्वन्ति, संहननेषु आद्यवर्जपञ्चानामशुभत्वेऽपि सेवार्त्ताख्यान्तिमस्याशुभतमत्वात् तस्यैवोत्कृष्टरसं बध्नन्ति, द्वितीयादिपञ्चमान्तानां संहननचतुष्काणामुत्कृष्टरसस्तु तत्प्रायोग्यसङ्क्लेशाज्जन्यत इति । तिर्यग्द्विकस्याऽपि उत्कृष्टसंक्लेशादुत्कृष्टरसं चिन्वन्ति नारकाः, तेषां तीव्रसङ्क्लेशे तिर्यग्द्विकस्यैव बन्धसद्भावात् । आसां षोडशानामुत्कृष्टरसबन्धकस्य मिथ्यात्वाख्यप्रथमगुणस्थानकवर्तित्वमपि बोध्यम्, नरकमार्गणायामधस्तमगुणस्थानकतया प्रथमगुणस्थानस्य भावात् ।

स्त्रीवेदादीनां द्वादशानामुत्कृष्टरसं तत्प्रायोग्यसंक्लेशाद् मिथ्यादृष्टयो नारकाः कुर्वन्ति, तद्यथा–स्त्रीवेदपुरुषवेदयोर्घातिप्रकृतित्वेनाशुभत्वात् नपुंसकवेदादल्पतराशुभत्वाच्च तदर्हसंक्लेशात्ते तयोरुत्कृष्टरसं चिन्वन्ति । ननु कथं स्त्रीपुरुषवेदयोरल्पतराशुभत्वम्, नपुंसकवेदस्य च ताभ्यामशुभतरत्वमिति ? तस्य दीर्घतरस्थितिकत्वात्तदुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वाच्च, यस्य हि तीव्रसंक्लेशादुत्कृष्टरसो जन्यते यच्चाशुभत्वे सति दीर्घतरस्थितिकं भवति तदशुभतरं भवतीति ।

हास्यरत्योरपि शोकारतिभ्यामल्पतराशुभत्वादेव तदर्हसंक्लेशादुत्कृष्टरसो जन्यते तीव्रसंक्लिष्टस्य

शोकारतिबन्धभावेन तद्बन्धायोगात्। आद्यान्तिमयोःसंहननसंस्थानयोः शुभाशुभतमत्वात् तयोर्यथा-संख्यं विशुद्धितीव्रसंक्लेशाभ्यामेवोत्कृष्टरसो निर्वर्त्यते इति कृत्वा मध्यमानां तेषां तदर्हसंक्लेशादु-त्कृष्टरसश्चीयते।

त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्नारकः प्रतीत एव, अशुभध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकतया विवक्षितमार्गणागतसर्वसंक्लिष्टस्यैव जन्तोरधिकृत-त्वात्, नरकगतौ त्वयमेव सर्वसंक्लिष्ट इति।

उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसनिर्वर्तकः सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमः सप्तमपृथ्वीनारक एव, आद्यषड्नरकनारकाणां तादृग्विशुद्धिभाजां तद्बन्धायोगात्, सप्तमपृथ्वीनारकवर्जशेषषट्पृथ्वी-नारका अन्ये च जीवाः सम्यक्त्वाभिमुखाः सन्त उद्योतनाम नैव बध्नन्ति, तस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्य-बन्धसहभाविबन्धत्वेन सम्यक्त्वाभिमुखानां च मनुष्यदेवगतिप्रायोग्यबन्धसद्भावेन तद्बन्धा-योगात्, सप्तमपृथ्वीनारकस्य तु यावत् स्वल्पोऽपि मिथ्यात्वोदयस्तावद् भवस्वाभाव्यादेव तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव कर्म बध्यते तत उद्योतनामापि बध्यते अतो युक्तमुक्तं उद्योतनाम्न उत्कृष्टरस-निर्वर्तकः सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमो मिथ्यात्वी सप्तमपृथ्वीनारक इति।

अत्र '**विशुद्धतम**' इति अनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्रतिपित्सुमाश्रित्योक्तं तदितरेषां मिथ्या-दृशां विशुद्धतमत्वाभावात्। नन्वस्तु एवं, तथापि मिथ्यात्वीति विशेषणमतिरिच्यते बन्ध-कस्य, उद्योतनाम्नः प्रशस्तत्वात् प्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्य विशुद्धिजन्यत्वात् मिथ्यात्व्यपेक्षया सास्वादनादीनां विशुद्धतरत्वाच्चेति, न, सास्वादनस्तु सम्यक्त्वाभिमुख एव न भवति, मिथ्यात्वाभिमुखस्य तु तस्य विशुद्धतमत्वायोगाद्, **यदुक्तं शतकटीकायां** 'अस्य गुणप्रतिपाता-भिमुखत्वेन गुणाभिमुखविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सकाशात् विशुद्ध्याधिक्यस्यानवगम्यमानत्वात्,' अस्येति सास्वादनस्येति। मिश्रगुणस्थानवर्ती भवत्येव कश्चित् सम्यक्त्वाभिमुखस्तस्य च न उद्योतनाम्नो बन्धो, द्वितीयगुणस्थानकं यावदेव तद्बन्धोपलम्भात् अत एवानतिरिक्तत्वं मिथ्यात्वीति विशेषणस्येति।

अथ नरकगतौ शुभगतिप्रायोग्याणां बन्धयोग्यानां शुभप्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसनिर्वर्तका विचा-र्यन्ते।

तत्र प्रकृष्टतया नारकाणामनन्तरभवे मनुष्यगतावेवोत्पादोऽभिमतस्ततः विशुद्धतमाः सन्तो नारका मनुष्यगतिप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीरुत्कृष्टरसाः कुर्वते,तद्यथा–नरद्विकम् औदारिकद्विकं वज्र-र्षभनाराचमिति पञ्चानामुत्कृष्टरसं विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिनारकः करोति। यद्यपि नरद्विकस्य प्रतिपक्षभूतानि त्रीणि द्विकानि सन्ति तथापि देवद्विकनरकद्विकयोर्नारकाणां बन्ध एव नास्ति तिर्यग्द्विकस्य तु अशुभत्वेन तस्य तीव्रसंक्लेशादुत्कृष्टरसोऽनन्तरमेवोक्तः, ततो मनुष्यद्विकस्यो-त्कृष्टरसनिर्वर्तको यथोक्तविशेषणविशिष्टनारको भवति। नारकाणां वैक्रियद्विकाहारकद्विकयोर्बन्धा-

भावाद् औदारिकद्विकस्य, आद्यवर्जसंहननपञ्चकस्याशुभत्वात् सम्यग्दृष्टेस्तद्बन्धायोगाद् वज्रर्षभनाराचस्य चोत्कृष्टरसं सम्यग्दृष्टिर्नारको विशुद्धतमः करोति । विशुद्धतम इति अनयोक्त्या सम्यग्दृष्टिषु नारकेष्वपि ये अल्पविशुद्धास्तेऽत्र न ग्राह्या इति ज्ञापितम् , शुभप्रकृतीनां विशुद्धतम एवोत्कृष्टरसं निर्वर्तयतीति कृत्वा ।

तथा यशःकीर्त्तिनामसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रादयः शेषाः षड्विंशतिः प्रकृतयोऽपि नारकाणां बन्धप्रायोग्यप्रकृतिषु शुभतमाः, अत एव नामासुत्कृष्टरसो नरकगतौ यो विशुद्धतमो नारको भवति तेनैव बध्यते, स च विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिरेव मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया तस्यानन्तगुणविशुद्धत्वात् । ॥३९।४०।४१॥

अथ आद्यषड्नरकसनत्कुमारादिग्रैवेयकावसानदेवरूपासु पञ्चत्रिंशतिमार्गणासूत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् प्राह—

सेसणिरयभेएसुं सणंकुमाराइगेसु देवेसुं ।
गेविज्जंतेसु भवे सप्पाउग्गाण णिरयव्व ॥४२॥
णवरि जहि होइ बंधो उज्जोअस्स तहि बंधगो तस्स ।
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥४३॥

(प्रे०) "**सेसणिरयभेएसु**" इत्यादि, अनन्तरोक्तनरकगतिसामान्यचरमनरकव्यतिरिक्तासु प्रथमादिषष्ठान्तनरकरूपासु षट्सु शेषनरकमार्गणासु, सनत्कुमाराख्यतृतीयदेवलोकादारभ्य ग्रैवेयकपर्यन्तासु एकोनविंशतौ देवगतिप्रतिमार्गणासु च स्वस्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसबन्धका नरकगतिसामान्यवद् ज्ञेयाः । तद्यथा–आद्यत्रिनरकेषु नपुंसकवेदः, असातं, शोकारती, हुंडकं, नीचैर्गोत्रमस्थिरनामादयः पञ्च, दुःस्वरः, कुखगतिः, सेवार्तं, तिर्यग्द्विकं चेति षोडशानां प्रकृतीनां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो नारको भवति, अत्र हेत्वादिभावना प्राग्व्यावर्णितस्वरूपा । स्त्रीवेदः पुरुषवेदः हास्यरती मध्यमसंहननचतुष्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं चेति द्वादशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो नारकोऽस्ति, नपुंसकवेदादिभ्यः आसां स्त्रीवेदादीनामल्पतराशुभत्वादित्यादिहेतुविचारणा पूर्ववत् । नरद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं यशःकीर्त्तिनाम सातम् उच्चैर्गोत्रं पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसचतुष्कं पराघातम् उच्छ्वासनाम शुभविहायोगतिःस्थिरादयः पञ्च अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्यः समचतुरस्रं जिननाम चेति एकत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकः सम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमो नारकः । इत्येवं कथितो द्व्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः । उद्योतनामसत्को विशेषस्तु मूलकृतैव दर्श्यते– '**णवरि**' इत्यादिना, '**तप्पाउग्गविसुद्धो**' त्ति उद्योतनामकर्मण उत्कृष्टरसनिर्वर्तको मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो नारको ज्ञेयः, कुतः ? यद्यपि नरकगतिसामान्यमार्गणायाम् उद्योत-

नाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिर्विशुद्धतमो नारक उक्तस्तथापि आद्यनरकत्रितये स तथाविधो न भवति किन्तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध एव भवति, यतो नरकगतिसामान्यमार्गणायां सप्तमनरकजीवा अपि प्रविष्टास्ततस्तानाश्रित्य तत्र सम्यक्त्वाभिमुख इत्यादि भणितम् अत्र तु आद्यनरकत्रितयजीवानां सम्यक्त्वाभिमुखानां तिर्यक्प्रायोग्यबन्ध एव नास्ति, तेषां मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धस्यैव भावात् उद्योतस्य तिर्यग्गतिबन्धसहचरितबन्धत्वाच्च न ते तस्य बन्धकास्ततः कुतस्तदुत्कृष्टरसनिर्वर्तकाः ? न वा सास्वादनस्तस्योत्कृष्टरसं बध्नाति सास्वादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वेन संक्लिष्टत्वाभ्युपगमात् , संक्लिष्टस्य च शुभप्रकृत्युत्कृष्टरसनिर्वर्तकत्वायोगाद् इत्येवमुक्त। आयुर्वर्जसप्तकर्मणामाद्यत्रिनरकेषु बन्धप्रायोग्याणां त्र्युत्तरशतोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः । आयुषो रसबन्धस्वामिनस्तु पृथग् वक्ष्यत्यग्रे मूलकारः ।

चतुर्थः पञ्चमः षष्ठ इति त्रिषु नरकेषु पूर्वोक्तानां जिननामवर्जानां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका आद्यत्रिनरकवदविशेषेण ज्ञेयाः । जिननाम्नस्तु बन्धको नैव वाच्यः, इह जिननाम्नो बन्धानभ्युपगमात् । नरकगतिभेदमध्यादाद्यत्रिनरकेषु एव तद्बन्धसम्भवात् , ततश्च पूर्वोक्तनरद्विकाद्येकत्रिंशत्स्थाने जिननाम विहाय नरद्विकादित्रिंशत उत्कृष्टरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमो नारक इत्यत्र चतुर्थादिनरकत्रये भणनीयमिति ।

सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारूपासु षट्सु मार्गणासु प्रत्येकमुत्कृष्टरसनिर्वर्तकोऽविशेषेणाद्यत्रिनरकवद् बोध्यः । इदन्तु बोध्यम्—यद्यपि चतुर्थादित्रिनरकेषूत्कृष्टरसबन्धका आद्यत्रिनरकवदुक्तास्तथापि तत्र जिननामसत्को विशेषस्तस्याबन्धभणनद्वारेणोक्तः सोऽत्र न वाच्यः, अत्र तु जिननाम बध्यत अपि, अतः सर्वमाद्यत्रिनरकवद् ज्ञेयम् , तद्यथा—नपुंसकवेदादीनां षोडशानां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां च प्रकृतीनामुत्कृष्टरसनिर्वर्तको मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टः सुरः, स्त्रीवेदादीनां द्वादशानां मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सुरः, नरद्विकादीनां एकत्रिंशतः सम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमः सुरः, उद्योतनाम्नो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सुर इति ।

आनतप्राणतारणाच्युतलक्षणेषु चतुर्षु कल्पेषु नवसु ग्रैवेयकेषु च 'सप्पाउग्गाण निरयव्व' स्वं=मार्गणा तत्प्रायोग्याणां मार्गणाप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको नरकगतिसामान्यवद् ज्ञेयः, किमुक्तं भवति—तिर्यग्द्विकमुद्योतं चेति तिस्रः प्रकृतयोऽत्र न बध्यन्ते अतस्ता विहाय शेषाणां शतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽविशेषेण नरकगतिवद् बोध्यः, तद्यथा—पूर्वोक्तासु नपुंसकवेदादिषु षोडशसु तिर्यग्द्विकवर्जानां चतुर्दशानां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां च प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टः सुरः उत्कृष्टरसबन्धकः, स्त्रीवेदादीनां द्वादशानां मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सुरः, नरद्विकादीनां एकत्रिंशतः प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमः सुर इति ।

ननु तिर्यग्द्विकमुद्योतं चात्र कुतो न बध्यते ? उच्यते, आनतादिदेवा हि नियमात् शुक्ललेश्याकाः, शुक्ललेश्यावतां तिर्यक्ष्त्पादाभावेन तिर्यक्प्रायोग्यबन्धप्रतिषेधाद् नैव बध्यते अत्र तिर्यग्द्विकमुद्योतं चेति ॥४२।४३॥

अथ तिर्यग्गतिसामान्यादिषु चतसृषु मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्वामिनो निर्दिदिक्षुराह—

मिच्छो संकिट्ठयमो सण्णी तिरियतिपणिंदितिरियेसुं ।
पणरहणिरयाईणं तिचत्तअसुहधुवबंधीणं ॥४४॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सण्णी खलु मिच्छदिट्ठीओ ।
णेयो तेवीसाए छिवट्ठआईण पयडीणं ॥४५॥ (उपगीतिः)
सत्तुजोआईणं सण्णी मिच्छोऽत्थि तदरिहविसुद्धो ।
सेसाए देसविरई सव्वविसुद्धो मुणेयव्वो ॥४६॥

(प्रे) **'मिच्छो'** इत्यादि, तिर्यग्गतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु चतसृषु मार्गणासु नरकद्विकादीनां पञ्चदशप्रकृतीनां त्रिचत्वारिंशद-शुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टतमः तत्तन्मार्गणागतो जन्तु-र्भवति । तद्यथा-अधिकृतमार्गणा आश्रित्य बन्धप्रायोग्यास्वध्रुवबन्ध्यशुभप्रकृतिषु इमा एव अशुभतमा वर्तन्ते, या अपि तिर्यग्द्विकाद्यशुभप्रकृतयोऽत्र बध्यन्ते ताभ्य आसामशुभतरत्वात् ।

प्रस्तुतचतुर्मार्गणागतजीवानामनन्तरभवे नरकतिर्यग्मनुष्यदेवरूपासु चतसृष्वपि गति-ष्त्पादोऽभिमतः, तासु नरकगतेरेवाशुभतमत्वात् तत्प्रायोग्या या अशुभतमाः प्रकृतयस्तास्तीव्र-संक्लेशादुत्कृष्टरसाः क्रियन्ते, ताश्चात्र नरकद्विकं, नपुंसकवेदः, असातं, शोकारती, हुंडकं, नीचै-र्गोत्रम्,अस्थिरादयः पञ्च, दुःस्वरः, कुखगतिश्चेति पञ्चदश प्रकृतयो, ज्ञानावरणीयपञ्चकं, दर्शना-वरणीयनवकं, मिथ्यात्वमोहनीयं, षोडशकषायाः, भयजुगुप्से, अशुभवर्णादिचतुष्कम् , उपघातम् , अन्तरायपञ्चकञ्चेति त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यश्चेति सर्वसंख्ययाऽष्टपञ्चाशदिति । यद्यपि सम्य-ग्दृष्ट्यन्यसंक्लिष्टमिथ्यादृष्ट्यसंज्ञिनामपि तिरश्चामसातवेदनीयादिप्रकृतीनां बन्धो भवति तथापि न त उत्कृष्टरसबन्धकास्तासाम् , अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं मिथ्यादृष्टीत्यादीनि विशेषणानि बन्धकस्येति ।

इदं तु बोध्यम् ,-अनन्तरोक्तदेवगत्यादिमार्गणासु वक्ष्यमाणसंयममार्गणासु च प्रस्तुत-बन्धकाः संज्ञिन एव, तथापि तत्र संज्ञीति विशेषणं न उक्तं न च वक्ष्यते, यतो यत्र मार्गणासु संज्ञिनोऽसंज्ञिन इति द्विधा जीवाः सन्ति तत्रैव असंज्ञिनो व्यवच्छेदार्थं संज्ञीति विशेषणस्य सार्थक्यम् । प्रकृते च द्विधा अपि जीवा वर्तन्त अतोऽसंज्ञिनं विहाय संज्ञिनः प्रतिपत्त्यर्थं संज्ञीति विशेषणं बन्धकस्य ।

तथा 'सेवीसाए' त्ति सेवार्त्तनाम , तिर्यग्द्विकम् , एकेन्द्रियजातिः,स्थावरनाम, सूक्ष्मत्रिकं, विकलत्रिकं, स्त्रीवेदः,पुरुषवेदो, हास्यरती, मध्यमसंहननचतुष्कं, मध्यमसंस्थानचतुष्कं चेति त्रयोविंशतिप्रकृतीनां 'तप्पाउग्गकिलिट्ठो' त्ति तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टरसं बध्नाति । **अत्रेयं भावना**–सेवार्त्तनाम तिर्यग्द्विकम् एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम चेति पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धक ओघप्ररूपणायां तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरुक्तः किन्त्वत्र स न भवति, कुतः ? तिर्यग्गतिका जीवा हि तीव्रसंक्लिष्टाः सन्तो नरकगतिप्रायोग्यबन्धं कुर्वन्ति, इमास्तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यत्वान्न तैर्बध्यन्ते, परन्तु यदा किञ्चिदल्पसंक्लेशं भजन्तस्ते तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बन्धं निर्वर्तयन्ति तदा केषाञ्चिद् तत्प्रायोग्यसंक्लेशभाजां तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भवः, अत इहोक्तं तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इति । तथा सूक्ष्मत्रिकादीनामप्याष्टादशानां तत्प्रायोग्यसंक्लेशादुत्कृष्टरसो जायते, कुतः ? इति चेदुच्यते–तीव्रसंक्लिष्टः सन् तदबन्धको भूत्वा तत्प्रतिपक्षभूताऽशुभतरप्रकृतिबन्धकः स्यात् , **तद्यथा**–सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकबन्धका हि तिर्यग्मनुष्याः, ते च तीव्रसंक्लिष्टाः सन्तस्तिर्यग्गतिप्रायोग्याणां सूक्ष्मत्रिकादीनां बन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यबन्धं कुर्वन्ति,तथा स्त्रीवेदादीनां ते बन्धका यदा तीव्रसंक्लेशं भजन्ति तदा स्त्रीवेदादिबन्धमतिक्रम्य नपुंसकवेदशोकारतिहुंडकानि बध्नन्ति, संहननानां तु अबन्धं भजन्ति, तीव्रसंक्लिष्टानां तेषां नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन संहननबन्धायोगात् संहनननामबन्धस्य हि मनुष्यतिर्यक्प्रायोग्यबन्धाविनाभावित्वात् , अतस्तिर्यक्षु सेवार्त्तनामादीनां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञेयम् ।

'सत्तुज्जोआईणं' ति उद्योतम् , आतपनाम,मनुष्यद्विकम् , औदारिकद्विकं,वज्रर्षभनाराचसंहननं चेति सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तदर्हविशुद्धो भवति,**तद्यथा**–उद्योतं हि द्वितीयगुणस्थानकेऽपि बध्यते किन्तु न तत्रोत्कृष्टरसबन्धः सास्वादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वेन तत्प्रायोग्यायास्तदुत्कृष्टरसबन्धयोग्याया विशुद्धेरभावात् ,नाऽपि स्वस्थानविशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिर्न वा सम्यक्त्वाभिमुखः तदुत्कृष्टरसबन्धकः तयोर्विशुद्धिप्रकर्षसद्भावेन देवगतिप्रायोग्यस्यैव बन्धाभ्युपगमात् । तथाऽसंज्ञिनस्तथाविधसंक्लेशाभावाद् नात्र कस्याश्चिदपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धः, तत उद्योतनाम्नः उत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । मतान्तरेण बादरपर्याप्तौ तेजोवायू सर्वविशुद्धौ तदुत्कृष्टरसबन्धकौ अवसातव्यौ, तदितरेषां सर्वविशुद्धानां तिरश्चां देवमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् । आतपनाम चैकेन्द्रियजातिसहचरितं शुभं च ततोऽस्यापि उत्कृष्टरसबन्धको यथोक्त एव तिर्यग् । स्वस्थानविशुद्धतमानां सम्यक्त्वाद्यभिमुखानां च मिथ्यादृशां तिरश्चां देवप्रायोग्यबन्धप्रवर्त्तनेन आतपबन्धायोगात् । मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रऋषभनाराचं चेति पञ्चप्रकृतयस्तिर्यक्षु द्वितीयगुणस्थानकं यावद् बध्यन्ते । आसामुत्कृष्टरसस्तु आद्यगुणस्थानके एव, सोऽपि तदर्हविशुद्धेन, कुतः ? अल्पविशुद्धस्योत्कृष्टरसासम्भवात् तीव्रविशुद्धस्य तदबन्धप्रसङ्गादिति । **'सेसाण'** त्ति

उत्कशेषाणां सातं, देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिः, वैक्रियद्विकं, तैजसशरीरनाम, कार्मणशरीरनाम, समचतुरस्रं, शुभवर्णादिचतुष्कं, शुभविहायोगतिः, त्रसदशकं, पराघातः, उच्छ्वासनाम, अगुरुलघु, निर्माणनाम, उच्चैर्गोत्रं चेति एकोनत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धक इह देशविरतिः सर्वविशुद्धस्तिर्यगस्ति। तथाहि–अनन्तरोक्ता एकोनत्रिंशत् प्रकृतयो यद्यपि देशविरतगुणस्थानकादधस्तनेषु प्रथमादिचतुर्षु गुणस्थानकेषु बध्यन्ते, तथापि न तत्रासामुत्कृष्टरसबन्धः, कुतः ? इमा हि प्रशस्ताः, प्रशस्तानामुत्कृष्टरसो विशुद्ध्याधिक्यादेव जायते, तत्र अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानकेषु हि उत्कृष्टविशुद्धिर्देशविरतिविशुद्धेरनन्तगुणहीना, तस्मात् तत्रस्था नासामुत्कृष्टरसबन्धकाः । तथा देशविरतानामपि परस्परं षट्स्थानपतितत्वम्, कोऽर्थः ? एकस्माद्देशविरतेरपरो देशविरतिरनन्तभागाधिकविशुद्धः, परः कश्चिदसंख्येयभागाधिकविशुद्धः, अन्यः संख्येयभागाधिकविशुद्धः, इतरः संख्येयगुणाधिकविशुद्धः, अपरोऽसंख्येयगुणाधिकविशुद्धः, कश्चिदनन्तगुणविशुद्धोऽपि भवति । तथा एकस्मात् देशविरतेरपरो देशविरतिरनन्तभागहीनविशुद्ध इत्याद्यपि षड्धा वक्तुं पार्यते । ततो यो देशविरतितिरश्चां मध्ये सर्वाधिकविशुद्धिभाग् भवति स एवासामुत्कृष्टरसं बध्नाति इति ज्ञापनायोक्तं सर्वविशुद्धो देशविरतिः, अत्रायं विशेषः–आसां हि ओघोत्कृष्टरसो अपूर्वकरणगुणादिगतमनुष्येण बध्यते अत्र तु मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसो ज्ञेयः, कोऽर्थः ? यस्मादधिकतरो रसः कदापि केनापि जन्तुना न बध्यते स ओघोत्कृष्टरस उच्यते, यस्यां मार्गणायां विवक्षितप्रकृतीनां यावत्प्रमाणाद्रसादधिकतरो रसो न बध्यते स तु मार्गणाप्रायोग्य उत्कृष्टरसो भण्यते इति । तिर्यग्भ्यो मनुष्या आसामधिकतरं रसं बध्नन्ति अतस्तेषामत्रौघोत्कृष्टरसासम्भवः। तदेवं कृता तिर्यग्गतिसामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्लक्षणासु चतुर्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकनिरूपणा ॥४४।४५।४६॥ अथ समानवक्तव्यत्वाद्-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसरूपासु तिसृषु मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्वामिनो युगपन्निर्दिदिक्षुराह—

> असमत्तपणिंदितिरियपणिंदियतसेसु संकिलिट्ठयसो ।
> सण्णी असुहधुवेगारसणपुमाइ-तिरियाइसत्तण्हं ॥४७॥ (गीतिः)
> सण्णी सव्वविसुद्धो तीसणराईण आयवदुगस्स ।
> तप्पाउग्गविसुद्धो सेसाणं तदरिहकिलिट्ठो ॥४८॥

(प्रे०) 'असमत्त' इत्यादि, असमाप्ताः–अपर्याप्ताः ते चात्र लब्ध्यपर्याप्ता ज्ञेयाः ! ततश्च लब्ध्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-लब्ध्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तत्रसलक्षणासु त्रिमार्गणासु त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां नपुंसकवेदादीनामेकादशानां सप्तानां तिर्यग्द्विकादीनां चेति एकषष्टेः

प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धं संक्लिष्टतमः संज्ञी करोति । तथाहि–अशुभध्रुवबन्धिन्यः सर्वत्र मार्गणासु तत्तद्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशादुत्कृष्टरसा जायन्ते इति नियमोऽस्ति, तन्नियमबलादत्र तासामुत्कृष्टरसबन्धकः संक्लिष्टतमस्तत्तद्मार्गणागतो जीवो ज्ञेयः । तथा नपुंसकवेदः, असातं, शोकारती, हुंडकसंस्थाननाम, नीचैर्गोत्रं, पञ्चास्थिरादयश्चेति एकादशानां, तिर्यग्द्विकम् , एकेन्द्रियजातिः, स्थावरनाम, सूक्ष्मत्रिकं चेति सप्तानां चोत्कृष्टरसोऽपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदप्रायोग्यबन्धकैः प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्यसंक्लिष्टतमैः संज्ञिजीवैर्बध्यते । इदमुक्तं भवति–प्रस्तुतमार्गणासु यथासंभवं तिर्यग्मनुष्या एवान्तर्भवन्ति देवनारकाणां लब्ध्यपर्याप्तत्वायोगात् ,न तेषामास्वन्तर्भावः, तथाऽपर्याप्ततिर्यग्मनुष्याणामनन्तरभवे तिर्यग्मनुष्येष्वेवोत्पादोऽभिमतः,तत्रापि सर्वनिकृष्टतया सूक्ष्मापर्याप्तनिगोदेषु एव तेषामुत्पादोऽस्ति, ततोऽपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदप्रायोग्यबन्धकैर्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशादासामुत्कृष्टरसो बध्यते इति ।

'तीसणराईण' त्ति नरद्विकादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं संज्ञी सर्वविशुद्धो बध्नाति । **तथाहि**–नरद्विकम् , औदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं, यशःकीर्तिनाम, सातम् , उच्चैर्गोत्रं, पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसचतुष्कं, पराघातम् , उच्छ्वासनाम, शुभविहायोगतिः, स्थिरादयः पञ्च स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वराऽऽदेयरूपाः, अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्यः तैजसशरीरकार्मणशरीरशुभवर्णादिचतुष्कागुरुलघुनिर्माणलक्षणाः,समचतुरस्रं चेति त्रिंशच्छुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसं मनुष्यप्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन् अपर्याप्ततिर्यगादिषु यः संज्ञी सर्वविशुद्धः स बध्नाति । अधिकृतमार्गणासु संज्ञी असंज्ञी इति द्विविधा अपि जीवाः सन्ति अतोऽसंज्ञिनो व्यवच्छेदार्थं संज्ञीति उक्तम् , संज्ञिनः सकाशात् असंज्ञिनोऽल्पतरे संक्लेशविशुद्धी भवत इति हेतोः । **'आयवदुगस्स'** त्ति आतपस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यमुद्योतस्य च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन् तत्प्रायोग्यविशुद्धो बन्धक उत्कृष्टरसं बध्नाति । **'सेसाणं तदरिहकिलिट्ठो'**त्ति आसु त्रिमार्गणासु आयुर्वर्जसप्तकर्मणां एकादशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धयोग्याः, **तद्यथा**–ओघतः चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतयोऽष्टानां मूलकर्मणां नानाजीवानाश्रित्य बध्यन्ते, चतुर्णां वर्णादीनां प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विर्गणनात् । तासु आयुषो बन्धकानामग्रे पृथग्वक्ष्यमाणत्वात् तच्चतुःप्रकृतिवर्जविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां रसबन्धकविचारणात्र प्रस्तुता । ताभ्यः प्रस्तुतमार्गणात्रिके नरकद्विकं, देवद्विकं,वैक्रियद्विकम् आहारकद्विकं जिननाम चेति नवप्रकृतयो नैव बध्यन्ते, यतो नरकद्विकं पर्याप्तमनुष्यतिर्यग्भिरेव बध्यते, देवद्विकं वैक्रियद्विकं चैतैरपर्याप्तसम्यग्दृष्टिभिर्वा बध्यते, आहारकद्विकं चाप्रमत्तमुनिनैव बध्यते, जिननामापि सम्यग्दृष्टिभिरेव । एवमनन्तरोक्तानां नरकद्विकादिनवप्रकृतीनां बन्धाभावादेव न तद्रसबन्धकविचारणा प्रस्तुतमार्गणात्रिके । इति नपुंसकवेदादीनामेकादशानां, तिर्यग्द्विकादीनां सप्तानां, त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां, नरद्विकादीनां त्रिंशतः, आतपद्विकस्य चेति त्रिनवतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनो भणिताः ।

तथा 'सेसाणं'इत्युक्तशेषाणां विकलत्रिकादीनामष्टादशप्रकृतीनां तदर्हसंक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति । यतस्तीव्रसंक्लिष्टेन तेनैकेन्द्रियजात्यादयो बध्यन्ते, विशुद्धेन च पञ्चेन्द्रियजात्यादय इति ।

इमाश्च ता अष्टादश–विकलत्रिकं,स्त्रीवेदः,पुरुषवेदः, हास्यरती, मध्यमसंहननचतुष्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं, सेवार्त्तनाम, कुखगतिदुःस्वरश्चेति ।

अत्रेदं ध्येयम्–यत ओघतीव्रसंक्लेश ओघतीव्रविशुद्धिश्च न भवतोऽपर्याप्तानां,ततः प्रकृते ये तीव्रसंक्लेशसर्वविशुद्धी उक्ते ते मार्गणाप्रायोग्ये ज्ञातव्ये इति ॥४७।४८॥

अथ मनुष्यसामान्य-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यरूपासु त्रिमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकान् दर्शयति—

तिणरेसुं विण्णेयो मिच्छद्दिट्ठी य तिव्वसंकिट्ठो ।
पणरहणिरयाईणं तह अपसत्थधुवबंधीणं ॥४९॥
खवगो सचरमबंधे कमा जसाईसु तिण्ह सुहमत्थो ।
गुणतीसाए णेयो अपुव्वकरणो विसुद्धयमो ॥५०॥
तेवीसछिवट्ठाईण भवे मिच्छो तदरिहसंकिट्ठो ।
सत्तुज्जोआईणं मिच्छत्ती तदरिहविसुद्धो ॥५१॥

(प्रे०, 'तिणरेसु' इत्यादि, मनुष्यसामान्य-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु पञ्चदशनरकद्विकादीनां तथाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो बध्नाति । तद्यथा–नरकद्विकं, नपुंसकवेदः, असातं, शोकारती, हुंडकं, नीचैर्गोत्रम् , अस्थिरादयः पञ्च, दुःस्वरः,कुखगतिश्चेति पञ्चदशानां,ज्ञानावरणादित्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो बध्नातीती अत्र हेत्वादिभावना तिर्यक्सामान्यादिचतुर्मार्गणावद् ज्ञेया ।

यशःकीर्त्तिनाम सातम् उच्चैर्गोत्रं चेति तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धं क्षपकः सूक्ष्मस्थः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकवर्त्ती स्वचरमबन्धे करोति दशमगुणस्थानकस्यान्तिमसमये वर्त्तमानः करोतीत्यर्थः । अत्र भावना ओघवत् । 'गुणतीसाए'त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसचतुष्कं, पराघातम् , उच्छ्वासनाम, सुखगतिः पञ्चस्थिरादयः शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, समचतुरस्रं, जिननाम, सुरद्विकं, वैक्रियद्विकम् , आहारकद्विकं चेति एकोनत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसम् अपूर्वकरणगुणस्थानकस्थः स्वचरमबन्धेऽपूर्वकरणषष्ठभागान्तिमक्षणे वर्त्तमान इत्यर्थः, विशुद्धतमः क्षपकः करोति । भावना चौघवत् ।

'तेवीसछिवट्ठाईण' त्ति सेवार्त्तनाम, तिर्यग्द्विकं, एकेन्द्रियजातिः, स्थावरनाम, सूक्ष्मत्रिकं, विकलत्रिकं, स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, हास्यरती, मध्यमसंहननचतुष्कं, मध्यमसंस्थानचतुष्कं,

चेति त्रयोविंशतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिस्तदर्हसंक्लिष्टो बध्नाति, अत्र भावना तिर्यग्गति-सामान्यादिचतुर्मार्गणावत् ।

'सत्तुज्जोआईण' त्ति उद्योतनाम, आतपनाम, नरद्विकम् औदारिकद्विकं, वज्रर्षभ-नाराचं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य बन्धको मिथ्यादृष्टिः तदर्हविशुद्धः, अत्रापि भावना तथैव ॥५०।५१॥

अथ अपर्याप्तमनुष्य-सकलविकलेन्द्रिय-सकलपञ्चकायरूपासु एकोनपञ्चाशन्मार्गणासूत्कृष्टरस-बन्धकान् भणितुकाम आह—

असमत्तणरसयलविगलपंचकायेसु तिव्वसंकिट्ठो ।
सत्ततिरियाइ-एगारहणपुमाइ-असुहधुवाणं ॥५२॥
पणरहविगलाईण य तिदुस्सराईण तदरिहकिलिट्ठो ।
तप्पाउग्गविसुद्धो आयवजुगलस्स विण्णेयो ॥५३॥
णवरं सव्वविसुद्धो सव्वेसुं तेउवाउभेएसुं ।
उज्जोअस्स हवेज्जा सेसाण भवे विसुद्धयमो ॥५४॥
णवरं पणकायेसुं तहा णिगोए मुणेयव्वो ।
सव्वाण बायरो खलु सप्पाउग्गाण पयडीणं ॥५५॥(उपगीतिः)

(प्रे०) 'असमत्तणर' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्ये द्वीन्द्रिय-पर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय--पर्याप्तत्रीन्द्रिया--ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय- चतुरिन्द्रिय--पर्याप्तचतुरिन्द्रिया--ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियरूपासु नवसु विकलेन्द्रियमार्गणासु पृथ्वीकायसप्तमार्गणासु अप्कायसप्तमार्गणासु तेजःकायसप्तमार्गणासु वायु-कायसप्तमार्गणासु, वनस्पतिकायैकादशभेदेषु चेति सर्वसंख्यया एकोनपञ्चाशन्मार्गणासु तिर्यग्-द्विकादयः सप्त, नपुंसकवेदादय एकादश, त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यश्चेति एकषष्टिप्रकृतीना-मुत्कृष्टरसबन्धं तीव्रसंक्लिष्टोऽधिकृतमार्गणागतो जन्तुः करोति । तद्यथा–प्रस्तुतैकोनपञ्चाशन्मार्ग णागतजीवानां सर्वनिकृष्टतयाऽनन्तरभवेऽपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेषूत्पादो भवति,ततस्तीव्रसंक्लिष्टाः सन्तस्ते यदाऽपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदप्रायोग्यं कर्म निर्वर्तयन्ति तदानन्तरोक्तानामेकषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसं बध्नन्ति । किमुक्तं भवति–अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदप्रायोग्यं कर्म निर्वर्तयन्तोऽपि ये तीव्रसंक्लेशं न भजन्ति ते तदुत्कृष्टरसं न निर्वर्तयन्ति इति ।

'पणरहविगलाईण' त्ति विकलेन्द्रियत्रिकं, स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः,हास्यरती, मध्यमसंहनन-चतुष्कं, मध्यमसंस्थानचतुष्कं, दुःस्वरः, सेवार्त्तनाम, कुखगतिश्चेति अष्टादशानामुत्कृष्टरसं

तदर्हसंक्लिष्टो बध्नाति, कुतः ?, तीव्रसंक्लिष्ट एतत्प्रतिपक्षभूता अशुभतमाः प्रकृतीर्निर्वर्तयेत् कासाञ्चिदबन्धं वा कुर्यात् तद्यथा-तीव्रसंक्लिष्टो विकलेन्द्रियजातित्रिकं विहाय एकेन्द्रियजातिं, स्त्रीपुरुषवेदौ परित्यज्य नपुंसकवेदं, हास्यरती विहाय शोकारती बध्नाति, संहननस्य तु कस्यचिदपि बन्धमेव न करोति एकेन्द्रियाणां संहननाभावात् तत्प्रायोग्यबन्धकैः संहननं नैव बध्यते। सस्थानं तु हुंडकं बध्नाति। खगतिस्वरयोरबन्धक एव भवति यतस्तौ विकलाक्षादीनामेव भवतस्तत एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्य नैव बन्धमायातः।

अत्रायं विशेषः-तदर्हसंक्लिष्ट इति अत्रान्यत्र च सामान्योक्तिस्तथापि द्वीन्द्रियजातेरुत्कृष्टरसबन्धकस्त्रीन्द्रियजातेरुत्कृष्टरसबन्धकादनन्तगुणसंक्लिष्टः, चतुरिन्द्रियजातेरुत्कृष्टरसबन्धकाच्च त्रीन्द्रियजातेरुत्कृष्टरसबन्धकोऽनन्तगुणसंक्लिष्टो ज्ञेयः, एवं पुरुषवेदोत्कृष्टरसबन्धकात् स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकः, ऋषभनाराचसंहननोत्कृष्टरसबन्धकाच्च नाराचसंहननोत्कृष्टरसबन्धकस्ततोऽर्धनाराचसंहननोत्कृष्टरसबन्धकस्ततोऽपि कीलिकासंहननोत्कृष्टरसबन्धकोऽनन्तगुणः संक्लिष्टो ज्ञेयः, को हेतुः ? अशुभानामुत्कृष्टरसः संक्लेशेन बध्यते, आसां प्रकृतीनामुत्तरोत्तरमधिकाधिकतराशुभत्वात्। संस्थानचतुष्के अपि एवमेव भावनीयम्।

'तप्पाउग्गविसुद्धो' त्ति आतपोद्योतनाम्नोस्तत्प्रायोग्यविशुद्ध उत्कृष्टरसं बध्नाति। कुतः ? आतपनाम किल एकेन्द्रियजातिसहचरितम्, उद्योतं च तिर्यग्गतिसहचरितं वर्तते, अधिकृतमार्गणागतजीवास्तीव्रविशुद्धाः सन्त एकेन्द्रियजातितिर्यग्गत्योर्बन्धमेव न कुर्वन्ति यतस्ते पञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगती बध्नन्ति, तस्मादत्र तीव्रविशुद्ध इत्यनुक्त्वोक्तं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति। 'णवरं' इत्यादि गतार्थम्, अयं भावः—तेजोवायुसत्कासु चतुर्दशमार्गणासूद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः सर्वविशुद्धो ज्ञेयः, सुविशुद्धानामपि तेजोवायूनां तिर्यक्प्रायोग्यबन्धस्यैव भावात्।

तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां नरद्विकादित्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं सर्वविशुद्धो बध्नाति। तद्यथा-सप्रभेदतेजस्कायमार्गणावायुकायमार्गणावर्जासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु नरद्विकम्, औदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं, यशःकीर्तिनाम, सातम्, उच्चैर्गोत्रं, पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसचतुष्कं, पराघातम्, उच्छ्वासनाम, सुखगतिः, पञ्चस्थिरादयः, शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, समचतुरस्रं चेति त्रिंशतः प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसं मनुष्यप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीर्बध्नन् तीव्रविशुद्धो बध्नाति। तथा चतुर्दशसु तेजस्कायवायुकायमार्गणासु नरद्विकमुच्चैर्गोत्रम् इति प्रकृतित्रयवर्जसप्तत्रिंशतेः प्रकृतीनाम् तथा 'नवर' मित्यादिनाचिरादुक्तोद्योतनाम्नश्च उत्कृष्टरसं संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याः प्रकृतीर्बध्नन् तीव्रविशुद्धो बध्नाति। किमुक्तं भवति-अपर्याप्तमनुष्यादिपञ्चत्रिंशन्मार्गणावर्त्तिजीवानामनन्तरभवे प्रकृष्टतया संख्यातवर्षायुष्केषु मनुष्येषूत्पादो भवति ततस्तीव्रविशुद्धाः सन्तस्ते यदा

तत्प्रायोग्या नरद्विकादिप्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति तदा तदुत्कृष्टरसं बध्नन्ति । तेजोवायूनां तु अनन्तरभवे न मनुष्येषूत्पादस्तस्मात् तिर्यक्प्रायोग्यं बध्नन्तस्ते अष्टाविंशतेरुत्कृष्टरसं प्रकुर्वन्ति ।

'णवरं' इत्यादि, पृथ्वीकायऽप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायसाधारणवनस्पतिकायरूपासु षट्सु मार्गणासु 'सप्पाउग्गाण' त्ति स्वप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्य बादर इति विशेषणमपि योज्यम् । तद्यथा–पृथ्वीकायाप्कायवनस्पतिकायसाधारणवनस्पतिकायलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु सप्त तिर्यग्द्विकादयः, एकादश नपुंसकवेदादयः, त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्य इति एकषष्टेः प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसबन्धको बादरस्तीव्रसंक्लिष्टो जन्तुः, पञ्चदशानां विकलत्रिकादीनां,तिसृणां दुःस्वरादीनां च बादरस्तदर्हक्लिष्टः,आतपकस्य बादरस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः, शेषाणां त्रिंशतो बादरो विशुद्धतमो भवति । तेजस्कायवायुकायमार्गणयोरपि सर्वमनन्तरोक्तवद् वाच्यम् , नवरं शेषाणां त्रिंशत इति स्थले नरद्विकोच्चैर्गोत्रवर्जानां सप्तविंशतेः बन्धको बादरो विशुद्धतम इति वाच्यम् , तेजोवायूनां तथाभवस्वाभाव्येन नरद्विकादिबन्धाभावात् । तथोद्योतनाम्नोऽपि विशुद्धतमो बादरः; न तु अनन्तरोक्तवत्तत्प्रायोग्यविशुद्धः, प्रागुक्तादेव हेतोरिति ।

ननु किमर्थं बन्धकस्य बादर इति विशेषणं योज्यतेऽत्र षट्मार्गणासु इति ? उच्यते–आसु पृथ्वीकायादिमामान्यमार्गणासु सूक्ष्मा बादरा इति द्विविधा जीवाः सन्ति, तत्र विशुद्धिः संक्लेशो वा यावान् बादरस्य तावान् सूक्ष्मस्य न संभवति ततो यथासंभवं विशुद्धिसंक्लेशाधिक्यभाजः प्रतिपत्त्यर्थं बादर इति विशेषणस्य योजना ॥५२।५३।५४।५५॥

अथोक्तशेषासु देवौघादिषु एकादशसु देवगतिमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्वामिनः प्रतिपिपादयिषुराह—

देवे सव्वविसुद्धो सम्मोऽत्थि णराइएगतीसाए ।
बारहथीआईणं मिच्छत्ती तदरिहकिलिट्ठो ॥५६॥
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छत्ती आयवस्स विण्णेयो ।
ईसाणंतो णेयो उज्जोअस्सासहस्सारो ॥५७॥
उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छो एगिंदिथावराण भवे ।
ईसाणंतो णेयो सेसाणं अट्ठमंतसुरो ॥५८॥
भवणतिगे तीसाए तह कप्पदुगम्मि एगतीसाए ।
णेयो णराइगाणं सम्मादिट्ठी विसुद्धयमो ॥५९॥

पंचसु वि बारसण्हं थीआईण य तिदुस्सराईणं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥६०॥
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छो आयवदुगस्स सेसाणं ।
अडवण्णाए णेयो मिच्छत्ती तिव्वसंकिट्ठो ॥६१॥
पण ऽणुत्तरेसु सव्वविसुद्धोऽत्थि णराइएगतीसाए ।
हस्सरईण तदरिहकिलिट्ठो सेसाण तिव्वसंकिट्ठो ॥६२॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'देवे' इत्यादि, देवौघमार्गणायां नरद्विकाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो बध्नाति । तद्यथा–नरद्विकमौदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं, यशःकीर्त्तिनाम, सातमुच्चैर्गोत्रं, पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसचतुष्कं, पराघातम्, उच्छ्वासनाम, सुखगतिः, स्थिरादयः पञ्च, शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, समचतुरस्रं, जिननाम चेति एकत्रिंशत् प्रकृतयो देवस्य बन्धप्रायोग्यासु प्रकृतिषु शुभतमाः, अतः सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो देव आसामुत्कृष्टरसं बध्नाति, तत्र जिननामवर्जत्रिंशत्प्रकृतीनां भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकरूपचतुर्निकायिकोऽपि देवो बन्धकः,जिननाम्नस्तु वैमानिक एव, भवनपत्यादीनां त्रयाणां तद्बन्धासम्भवात् ।

इदं तु बोध्यम्–नरद्विकम्, औदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिदेवा उत्कृष्टविशुद्धेरोघोत्कृष्टरसं चिन्वन्ति । किमुक्तं भवति–उत्कृष्टतयाऽऽसां यावान् रसो बन्धमर्हति तावन्तं ते बध्नन्ति । यशःकीर्त्तिनामादीनां षड्विंशतेस्तु स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेर्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसं बध्नन्ति । कोऽर्थः ? आसामोघोत्कृष्टरसस्तु अपूर्वकरणादिगुणस्थानवर्तिना विशुद्धतमेन मनुष्येणैवैतद्बन्धविच्छेदसमये वर्त्तमानेन क्रियते तस्मादेतदोघोत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्योघोत्कृष्टविशुद्धिरोघोत्कृष्टरसश्च देवानां न भवत इति ।

'बारहथीआईणं' ति स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, हास्यरती, मध्यमसंहननचतुष्कं, मध्यमसंस्थानचतुष्कं, चेति द्वादशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धं प्रकृते तदर्हक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवः करोति । यद्यपि पुरुषवेदः, हास्यरतीति प्रकृतित्रितयमिह सम्यग्दृष्टिदेवेनापि बध्यते,न तथापि तदुत्कृष्टरसयुक्तं तस्याल्पसंक्लिष्टत्वात् ,तथा स्त्रीवेदः संहननचतुष्कं संस्थानचतुष्कं चेति नव तु सम्यग्दृष्टेर्बन्धमेव न आयान्ति । अतो मिथ्यादृष्टिरिति उक्तम् । तीव्रसंक्लिष्टेन मिथ्यादृष्टिना तत्प्रतिपक्षभूता नपुंसकवेदादिप्रकृतयो बध्यन्ते अल्पक्लिष्टस्य तस्य न तदुत्कृष्टरससम्भवस्ततस्तदर्हक्लिष्ट इति ।

'आयवस्स' त्ति आतपनाम्न उत्कृष्टरसं भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानान्तो देवस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टि र्बध्नाति, आतपबन्धस्य एकेन्द्रियजातिबन्धसहचरितत्वाद् देवेषु ईशानान्तानामेवैकेन्द्रियजातिबन्धसम्भवाच्च सनत्कुमारादीनां वर्जनम् । विशुद्धतरस्य

मिथ्यादृष्टेः, सम्यग्दृष्टेश्च पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन तद्बन्धायोगात् तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिश्चेत्युक्तम् । 'उज्जोअस्स' त्ति उद्योतनाम्नस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः सहस्रारान्तो देव उत्कृष्टरसं बध्नाति, अस्य तिर्यग्गतिसहचरितत्वेनानतादीनां बन्धाभावाद् भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकशुक्रमहस्रारान्तो यथोक्तो देव उद्योतस्योत्कृष्टरसं बध्नातीति भावः ।

'एगिंदिथावराण' त्ति एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम इति प्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिः उत्कृष्टसंक्लिष्ट ईशानान्तदेवो बध्नाति, अत्र भावना ओघवत् । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां नपुंसकवेदः, अमातं, शोकारती, हुंडकसंस्थाननाम, नीचैर्गोत्रमस्थिराऽशुभदुर्भगानादेयायशःकीर्त्तिनामरूपा अस्थिरनामादयः पञ्च, दुःस्वरः, कुखगतिः, सेवार्त्तनाम, तिर्यग्द्विकमिति षोडशानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसं प्रकृते सहस्रारान्तस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवो बध्नाति, तद्यथा–देवानामनन्तरभवे निकृष्टतया तिर्यग्गतावुत्पाद उक्तः, ततश्च तीव्रसङ्क्लिष्टो देवस्तिर्यग्गतिप्रायोग्या अशुभप्रकृतीर्बध्नन् तदुत्कृष्टरसं बध्नाति । अत्रायं विशेषः–दुःस्वरः, कुखगतिः, सेवार्त्तनाम इति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धकः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवो वाच्यः, कुतः ? ईशानान्ता हि देवास्तीव्रसंक्लिष्टाः सन्त एकेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतीर्निर्वर्तयन्ति, न च तदा तेषामस्य प्रकृतित्रयस्य बन्धः,अल्पसंक्लिष्टास्ते यदा ता बध्नन्ति, न तदोत्कृष्टरसलाभः, आनतादिदेवानां तु न कस्याश्चिदपि अशुभप्रकृतेरत्रोत्कृष्टरसबन्धः, तेषामुत्कृष्टतयापि अन्तःकोटिकोटिसागरमिताया एव स्थितेर्बन्धकत्वात् , सहस्रारान्तैस्तु सप्ततिकोटिकोटिसागरमिताऽपि सा बध्यते, अशुभप्रकृतीनां रसबन्धस्तु स्थितिबन्धमनुसरति, अल्पस्थितिबन्धकेनाल्परसो बध्यते अधिकतरस्थितिबन्धकेनाधिकतर इति भावः । तस्मात् ईशानान्तान् आनतादीन् च देवान् विहाय सनत्कुमारादिसहस्रारान्ता एव देवा दुःस्वरादिप्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धका उक्ताः । त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां च भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्काः सहस्रारान्ताश्चैव वैमानिकाः प्रकृते उत्कृष्टरसबन्धस्वामिनः,न तु आनतादिदेवाः, प्रागुदर्शितादेव हेतोः ।

'भवणतिगे' त्ति भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्करूपासु तिसृषु मार्गणासु नरद्विकादित्रिंशत्प्रकृतीनां,सौधर्मेशानरूपयोश्च द्वयोर्मार्गणयोर्नरद्विकाद्येकत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धं सम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमो देवः करोति । इमाश्च ता एकत्रिंशत् प्रकृतयः–नरद्विकम् ,औदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं, यशःकीर्त्तिनाम, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं, पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसचतुष्कं, पराघातः, उच्छ्वासनाम, सुखगतिः, स्थिरादयः पञ्च,शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, समचतुरस्रं, जिननाम चेति ।

भवनपत्यादिषु त्रिषु देवेषु जिननाम न बध्यते अतस्तेषु तद्वर्जा अनन्तरोक्तास्त्रिंशत् प्रकृतयो ज्ञेयाः । 'थीआईण' त्ति "[1]थी [2]पुरिसं [3]हस्सरई मज्झिम[4]संघयण[5]आगई[6]ओ य' इति गाथात्रयवोक्ताः

द्वादशप्रकृतयः, ''दुस्सर 'कुखगइ 'छिवट्ठाणमाणि' इति तिस्र इति सर्वसंख्यया पञ्चदशाना-मुत्कृष्टरसबन्धं पञ्चसु भवनपत्यादीशानान्तदेवमार्गणासु तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवः करोति, तीव्रसंक्लिष्टः मन् स्त्रीवेदादिबन्धमतिलङ्घ्य नपुंसकवेदादिकं बध्नाति, दुःस्वरादीनां च बन्धं न करोति, यतस्तीव्रसंक्लिष्टेन तेनैकेन्द्रियप्रायोग्याः प्रकृतयो बध्यन्ते, न च तदा स्वरादीनां बन्धः, अतस्तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति उक्तम् । तथैव प्रकृते सम्यक्त्वी पुरुषवेदहास्यरतीनामुत्कृष्टरस-बन्धको न भवति, संक्लिष्टानां मिथ्यादृष्ट्यादीनामन्तःपतितत्वात्, शेषाणां द्वादशानां सम्यग्-दृष्टेर्बन्धानभ्युपगमाच्च मिथ्यादृष्टिरित्युक्तम् । **'आयवदुगस्स'** आतपनाम्न उद्योतनाम्नश्चोत्कृष्ट-रसं प्रकृते तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्देवो बध्नाति, तीव्रविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेश्च तद्बन्धा-भावात् अल्पविशुद्धमिथ्यादृष्टेस्तदुत्कृष्टरसबन्धायोगाच्च यथोक्त एव देवस्तदुत्कृष्टरसबन्धक इति । **'अडवण्णाए'** त्ति प्राक्प्रसिद्धास्त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः 'णपुमसायं सोगारइ हुंडणीआणि सरवज्जा अथिराई' इति गाथांशोक्ता एकादश 'तिरियदुगं एगिदिय थावर' इति चतस्रश्चेति सर्वसंख्य-याऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धं भवनपत्यादिमार्गणापञ्चके मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देवः करोति । अल्पक्लिष्टादेरुत्कृष्टरसबन्धासम्भव इत्यादिभावनात्र सुगमा ।

'पणऽणुत्तरेसु' त्ति विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजित-सर्वार्थसिद्धरूपासु पञ्चसु देव-मार्गणासु 'णरुरलदुगवइराणि जससायाणि । उच्चपणिंदितसचउगपरघूसास सुखगइ पणथिराई । सुहधुव-बंधागिइजिण' इति गाथांशोक्तानामेकत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं सर्वविशुद्धो देवो बध्नाति । तत्र नरद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चानामोघोत्कृष्टरसं, यशःकीर्तिनामादीनां षड्-विंशतेर्मार्गणाप्रायोग्यमुत्कृष्टरसं बध्नाति, कुतः ? षड्विंशतेरोघोत्कृष्टरसं तु अपूर्वकरणादिगुणस्थान-वर्त्ती मनुष्यो बध्नातीति कृत्वा ।

'हस्सरईण' त्ति हास्यरत्योस्तदर्हक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति । तीव्रक्लिष्टस्तु हास्यरतिबन्धमतिक्रम्य शोकारतिबन्धं निर्वर्तयतीति तदर्हक्लिष्ट इत्युक्तम् ।

'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं तीव्रक्लिष्टो बध्नाति । **तद्यथा**-स्त्यानर्द्ध्यष्टकवर्जा अशुभध्रुवबन्धिन्यस्ताश्च पञ्चत्रिंशत्, असातं, शोकारती, अस्थिरम्, अशुभम्, अयशःकीर्तिनाम, पुरुषवेदश्चेति सर्वसंख्यया द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्य-मुत्कृष्टरसं स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टो बध्नाति । मार्गणाप्रायोग्यमिति अनेनेह मार्गणापञ्चके ओघोत्कृष्ट-रसबन्धाभावः सूचितः, यत आसामोघोत्कृष्टरसो मिथ्यादृष्टिनैव निर्वर्त्यते, अत्र तु बन्धको नियमात् सम्यग्दृष्टिरिति । तथा स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्ट इत्यनेनाभिमुखत्वाभावो ज्ञापितो बन्धकस्य, अनुत्तरसुराणां गुणस्थानान्तरगमनाभावात्, एवं यथासंभवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । मिथ्यात्व-मोहनीयं प्रथमगुणस्थानक एव बध्यते, स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं च न द्वितीयगुणस्थान-

कात् परत इत्यत्र प्रकृत्यष्टकस्य वर्जनम् । कुतः ? प्रकृते चतुर्थस्यैव गुणस्थानस्य भावात् ।

सनत्कुमारादिग्रैवेयकान्तेषु देवेषूत्कृष्टरसबन्धकाः तत्समानवक्तव्यत्वात् षड्नरकेषु स्वामित्वप्ररूपणाप्रस्तावे प्राक्प्ररूपिताः सन्ति, तदेवं सर्वसंख्यया त्रिंशद्देवगतिमार्गणासु उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वप्ररूपणं समाप्तिमगात् ॥५६।५७।५८।५९।६०।६१।६२॥

सम्प्रति सर्वेषु एकेन्द्रियेषूत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वं भणन्नाह–

एगिंदियभेएसुं सव्वेसुं होइ सव्वसंकिट्ठो ।
सत्ततिरियाइएगारहणपुमाइअसुहधुवाणं ॥६३॥
पणरहविगलाईणं तिदुस्सराईण तदरिहकिलिट्ठो ।
तदरिहसुद्धो आयवणामस्सऽण्णाण सुविसुद्धो ॥६४॥
णवरि दुकायो उज्जोअस्स तिकायोऽत्थि णरदुगुच्चाणं ।
एगिंदियोहभेए सव्वाणं बायरो णेयो ॥६५॥

(प्रे०) 'एगिंदिय' इत्यादि, एकेन्द्रिय-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-बादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियलक्षणेषु सप्तसंख्याकेषु सर्वैकेन्द्रियभेदेषु '[२]तिरियदुगं [१]एगिंदिय [१]थावर [३]सुहुमतिग' इति तिर्यग्द्विकादीनां सप्तानां '[१]णपुम [१]सायं [२]सोगारइ [१]हुंड [१]णीआणि ॥ मरवज्जा [४]अथिराई' इत्येकादशानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसं सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति । भावनात्र प्राक्प्रसिद्धपञ्चकायादिमार्गणावत् । तथा [३]विगलतिगाणि । [१]थी [१]पुरिसं [२]हस्सरई मज्झिम[४]संघयण[४]आगइओ य' इति । विकलत्रिकादीनां पञ्चदशानां '[१]दुस्सर [१]कुखगइ । [१]छिवट्ठणामाणि' इति तिसृणां प्रकृतीनां च तदर्हक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति, अत्रापि भावना तथैव । 'आयवणामस्स' त्ति आतपनाम्न उत्कृष्टरसं तत्प्रायोग्यविशुद्धो निर्वर्तयति । 'ऽण्णाण' त्ति '[२]णरु[२]रलदुग [१]वइराणि [१]जस [१]सायाणि ॥ [१]उच्च [१]पणिंदि [४]तस चउग [१]परघू[१]मास [१]सुखगइ पण[४]थिराई । '[८]सुहधुवबधा [१]गिइ' इति गाथांशोक्तानां त्रिंशतः प्रकृतीनामुद्योतनाम्नश्चोत्कृष्टरसबन्धं विशुद्धतमो बन्धकः करोति । इह बन्धकस्य संक्लिष्टत्वं विशुद्धतमत्वं च मार्गणाप्रायोग्यं वेदितव्यम्, ओघसर्वसंक्लेशः, सर्वविशुद्धिश्च नैव भवत एकेन्द्रियाणामिति ।

किमन्यासामेकत्रिंशतः प्रकृतीनां विशुद्धतमः सर्वोऽप्येकेन्द्रिय उत्कृष्टरसं बध्नातीति शंकां परिहरन्नाह–'णवरि'इत्यादिना, उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः 'दुकायो' त्ति तेजःकायः वायुकायश्च, पृथ्व्यादिकायिकानां सुविशुद्धत्वे तद्बन्धाभावात्, तथा नरद्विकम् उच्चैर्गोत्रं चेति प्रकृतित्रयस्य 'तिकायो' त्ति पृथ्वीकायोऽप्कायो वनस्पतिकाय इति त्रिकायिक एव एकेन्द्रिय-

बन्धको ज्ञेयः, न तु तेजःकायवायुकायौ अपि, तयोस्तथाभवस्वाभाव्यादेव नास्ति तद्बन्धः। सप्तविंशतेस्तु पृथ्व्यादिपञ्चकायिका एकेन्द्रिया उत्कृष्टरसबन्धका इति ।

'एगिंदियोहभेए सव्वाणं' एकेन्द्रियौघमार्गणायाम् अत्रोक्तानां सर्वासामुत्कृष्टरस-बन्धकस्य बादर इति विशेषणं देयम्, कुतः ? एकेन्द्रियौघमार्गणायां सूक्ष्मा बादरा इति द्विविधा जीवाः समायान्ति, तत्र सूक्ष्मेभ्यो बादराणां संक्लेशविशुद्धी अतिरिच्येते इति सूक्ष्माणां व्यवच्छे-दार्थं बादर इति विशेषणं देयमेव । इति एकेन्द्रियेषु बन्धप्रायोग्याणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्ट-रसबन्धका निरूपिताः ॥६३।६४।६५॥

अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासूत्कृष्टानुभागबन्धकानभिधित्सुराह—

ओघव्व दुपंचिंदियतसपणमणवयणकायलोहेसुं ।
चक्खुअचक्खूसुं तह भविये सण्णिम्मि आहारे ॥६६॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, [1]पञ्चेन्द्रिय-[2]पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-[3]त्रसकाय-[4]पर्याप्तत्रस-[5]पञ्च-मनोयोग-[6]पञ्चवचनयोग-[7]काययोग-[8]लोभ-[9]चक्षुर्दर्शना-[10]ऽचक्षुर्दर्शन-[11]भव्य-[12]संज्ञ्या[13]हारिरूपासु एकविंशतिमार्गणासु सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धक ओघवत् ज्ञेयः, ओघोक्तविशुद्धानां क्षपका-दीनां संक्लिष्टानां मिथ्यादृशादीनां चात्र मार्गणास्वन्तःपातित्वात् । तद्यथा—नपुंसकवेदा-दीनां, त्रयोदशानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टानुभागनिर्वर्तकः संज्ञी मिथ्यादृष्टि-रुत्कृष्टसंक्लिष्टोऽस्ति । तत्रापि पञ्चमनोयोग-त्रिवचनयोगसंज्ञिलक्षणासु नवसु मार्गणासु बन्धकस्य संज्ञीति विशेषणं स्वरूपदर्शकतयैव ज्ञेयं न तु व्यवच्छेदकतया, तत्प्रतिपक्षभूतस्या-संज्ञिनस्तत्रानवकाशात्। इह त्रिवचनयोग इति सत्यवचनयोगोऽसत्यवचनयोगः सत्यासत्यवचनयोग इति । शेषासु द्वादशसु पञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु संज्ञिनो असंज्ञिन इति द्विविधा अपि जीवा सन्त्यतः तत्रासंज्ञिनो व्यवच्छेदार्थं संज्ञीति विशेषणम् ओघवत् व्यवच्छेदकत्वेनावगन्तव्यम् ।

यशःकीर्त्तिनाम सातम् उच्चैर्गोत्रं चेति तिसृणामुत्कृष्टरसं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकवर्ती क्षपकस्तद्गुणस्थानचरमसमये वर्त्तमानः करोति, "[1]पणिदि-[4]तसचउग- [1]परघू[1]सास-[1]सुखगइ-[1]पण-थिराई । [6]सुहधुवबधा-[1]गिइ-[1]जिण [2]सुर-[2]विउवा-[2]हारजुगलाणि ॥ इति एकोनत्रिंशतः क्षपकोऽ-पूर्वकरणगुणस्थानषष्ठभागचरमसमयवर्त्ती विशुद्धतम उत्कृष्टरसं बध्नाति, भावना ओघवत्। "[1]थी [1]पुरिसं [2]हस्सरई मज्झिम[5]संघयण[4]आगईओ य' इति द्वादशानां तत्प्रायोग्यक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टि-रुत्कृष्टरसं बध्नाति । सुहुमविगलतिगाणि' इति पण्णामपि स एव, किन्तु देवनारकवर्जो बोध्यः, मनुष्यतिरश्चामेव तद्बन्धाभ्युपगमात् । अत्रापि संज्ञीति विशेषणम् पूर्ववत् स्वरूपदर्शकं व्यवच्छे-दकं वा यथार्थं ज्ञेयम् । नरकद्विकस्योत्कृष्टरसं संज्ञी मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टतमो मनुष्यस्तिर्य-ग् वा बध्नाति, सेवार्त्तनाम तिर्यग्द्विकमिति त्रयस्य मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टतमो नारकः सुरो वा।

नरद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चानां सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो देवो, मतान्तरेण तादृशो नारकश्चोत्कृष्टानुभावं प्रकुरुते । 'एगिंदियथावर' इति द्वयोरीशानान्तो मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देवः । उद्योतनाम्नः सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमः सप्तमपृथ्वीनारकः, आतपस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यात्वीशानान्तो देवो, मतान्तरेण मनुष्यतिर्यञ्चावपि उत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयतः, भावना ओघवत् ॥६६॥

साम्प्रतमौदारिककाययोगमार्गणायामुत्कृष्टानुभावार्जकान् प्रचिकटयिषुराह—

ओरालियम्मि सण्णी मिच्छत्ती होइ तिव्वसंकिट्ठो ।
पणरहणिरयाईणं तह अपसत्थधुवबंधीणं ॥६७॥
खवगो सचरमबंधे कमा जसाईसु तिण्ह सुहमत्थो ।
णेयो गुणतीसाए अपुव्वकरणो विसुद्धयमो ॥६८॥
सत्तुज्जोआईणं सण्णी मिच्छोऽत्थि तदरिहविसुद्धो ।
तेवीसाए सण्णी मिच्छत्ती तदरिहकिलिट्ठो ॥६९॥

(प्रे०) 'ओरालियम्मि' इत्यादि, औदारिककाययोगो मनुष्यतिरश्चामेव विद्यते अत इह बन्धस्वामितया त एवाधिकरिष्यन्ते न देवनारका अपि, तेषां वैक्रिययोगित्वात् ।

'णिरयाईणं' इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायां 'णिरयदुगणपुअसायं सोगारइ हुंडणीआणि । सरवज्जा अथिराई दुस्सरकुखगइ, इति नरकद्विकादीनां पञ्चदशानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टानुभागनिर्वर्तकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो ज्ञेयः, भावनात्र तिर्यग्गतिसामान्यादिचतुर्मार्गणावत् ।

'जसाईसु तिण्ह' यशःकीर्तिनाम सातम् उच्चैर्गोत्रमिति प्रकृतित्रयस्य क्षपको दशमगुणस्थानकचरमसमये उत्कृष्टरसं बध्नाति । भावना ओघवत् । ''[1]पणिंदि [४]तसचउग-[1]परघू[1]सास-[1]सुखगइ-[४]पणथिराई । [८]सुहधुवबंधा-[1]गिइ-[1]जिण-[२]सुर-[२]विउव्वाहार-[२]जुगलाणि' इति एकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं क्षपकोऽपूर्वकरणगुणस्थानषष्ठभागचरमसमयवर्ती विशुद्धतमो निर्वर्तयति, भावना ओघवत् ।

''[1]उज्जो[1]आयव [२]णरु[२]रलदुग[1]वइराणो' ति उद्योतनामादीनां सप्तानामुत्कृष्टानुभावार्जकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तदर्हविशुद्धः । ''[1]छिवट्ठणामाणि ॥[२]तिरियदुगं [1]एगिंदिय [1]थावर [१]सुहुम [३]विगलतिगाणि । [1]थी [1]पुरिसं [२]हस्सरई मज्झिम[४]संघयण[४]आगईओ य' । इति त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तदर्हक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति । भावना तिर्यग्गतिसामान्यमनुष्यसामान्यादिवत् ।

इदं तु बोध्यम्-प्रकृते यशःकीर्त्तिनामादित्रिकस्य पञ्चेन्द्रियजात्यादेरेकोनत्रिंशतश्चोत्कृष्ट-रसबन्धकः केवलो मनुष्योऽस्ति इतरस्य क्षपकत्वायोगात् , शेषाणां मनुष्यतिर्यञ्चावुभावपि ॥६७। ६८।६९॥

अथ औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धस्वामिन आह—

ओरालमीसजोगे सण्णी मिच्छोऽत्थि सव्वसंकिट्ठो ।
सत्ततिरियाइएगारहणपुमाइअसुहधुवाणं ॥७०॥
पणरहविगलाईणं पयडीणं तिण्ह दुस्सराईणं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छादिट्ठी भवे सण्णी ॥७१॥
सत्तुज्जोआईणं सण्णी मिच्छोऽत्थि तदरिहविसुद्धो ।
सेसाण विसुद्धयमो सम्मो तित्थस्स उण णरो चेव ॥७२॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**ओरालमीसजोगे**' इत्यादि, इह रसबन्धप्रस्तावे औदारिकमिश्रकाययोगो मनुष्य-तिरश्चामपर्याप्तावस्थायां वर्तते, न च तदा नरकद्विकाहारकद्विकयोर्बन्धः,ततोऽत्र तद्वर्जषोडशोत्तरशत-प्रकृतीनां रसबन्धकविचारणा प्रस्तुता । तत्र '**सत्ततिरियाइ**' त्ति '[२]तिरियदुगं-[१]एगिंदिय [१]थावर-[३]सुहुमतिग' इति सप्तानां णपुम[१]सायं[२]सोगारइ [१]हुंड[१]णीआणि । सवण्णा-[४]अथिराई' इति एका-दशानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चेत्येकषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभावं संज्ञी मिथ्यादृष्टिः सर्वसंक्लिष्टस्तिर्यङ् मनुष्यो वा बध्नाति । प्रकृतमार्गणायामेकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियान्ता जीवा अपि सन्निविष्टाः, न केवलं संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः तथापि एकेन्द्रियादयो नोत्कृष्टरसबन्धका अत्रेति तद्व्यवच्छे-दार्थं संज्ञीति उक्तम् । सम्यक्त्विनोऽल्पसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टेश्च व्यवच्छेदार्थं मिथ्यादृष्टिः सर्व-संक्लिष्टश्चेति । सर्वसंक्लिष्टत्वं चात्र मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम् , कुतः ? ओघोत्कृष्टसंक्लेशस्तु करण-पर्याप्तानामेव सम्भवति, न तेषां प्रकृतमार्गणावतारः; भगवतः केवलिनः केवलिसमुद्घाते करणप-र्याप्तत्वे सति औदारिकमिश्रकाययोगवत्त्वमप्यस्ति किन्तु न तस्य भगवतः कस्यचिदपि कर्मणो रसबन्ध-निर्वर्तकत्वं, कषायहेतुत्वात् रसबन्धस्येति सिद्धमिह मार्गणाप्रायोग्यं सर्वसंक्लिष्टत्वमिति । '[३]विगल-तिगाणि । [१]थी [१]पुरिसं [२]हस्सरई मज्झिम[४]संघयण[४]आगई ओ य' इति पञ्चदशानां 'दुस्सरकुखगइ-छिवट्ठणामाणि' इति तिसृणां प्रकृतीनां च तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः संज्ञी उत्कृष्टानुभाग बध्नाति, अत्र भावना भावितप्राया । '[१]उज्जो[१]आयव[२]णरु[२]रलदुग[१]वइराणि' इति सप्तानां संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तदर्हविशुद्ध उत्कृष्टरसं बध्नाति । तत्र उद्योतस्य तिर्यग्गतिसहचरितत्वादातपस्यै-केन्द्रियजातिसहचरितत्वात् मनुष्यद्विकादीनां च पञ्चानामुत्कृष्टरसबन्धकस्य मार्गणागतमिथ्या-दृष्टिषु सर्वविशुद्धत्वेऽपि मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेः सम्यग्दृशामेव सद्भावेन तदपेक्षया तस्यानन्त-

गुणहीनविशुद्धत्वादुक्तं तदर्हविशुद्ध इति । 'सेसाण' त्ति -[१]जस-[१]सायाणि ।[१]उच्च-[१]पणिंदि-[४]तस-चउग -[१]परघू[१]सास -[१]सुखगइ पण [४]थिराई । [८]सुहधुवबन्धा[१]गिइ [१]जिण [२]सुर [२]विउवजुगलाणि' इति उक्तशेषाणां त्रिंशतः प्रकृतीनां विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिः उत्कृष्टरसं निर्वर्तयति । अत्र विशुद्धतम इति पदेन मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धतमो ज्ञेयः,न तु ओघविशुद्धतमः स तु श्रेणावेव मनुष्यो भवति । रसोऽपि मार्गणाप्रायोग्य उत्कृष्टो ज्ञेयः, ओघोत्कृष्टरसस्तु श्रेणावेवासां बध्यते, न तत्राधिकृतमार्गणाप्रसरः । किं नाम मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धतमत्वं ? श्रेण्यनर्हायां विवक्षितमार्गणायां यावत्या विशुद्ध्या अधिका विशुद्धिः कस्यचिदपि जन्तोर्न संभवति तावद्विशुद्धिभाग् जीवो मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धतमो भण्यते । एवं यावतो रसादधिकतरो रसो विवक्षितमार्गणायां न केनापि बन्धकेन निर्वर्त्यते स मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसो गीयते इति ।

पूर्वोक्तानां प्रकृतीनां मनुष्यस्तिर्यगिति द्विविधा अपि जीवा उत्कृष्टरसबन्धकाः सन्ति । जिननाम्नस्तु विशुद्धतमो मनुष्य एव । कुतः ? तिर्यग्भिर्जिननाम न बध्यत इति कृत्वा । मनुष्यस्यापि कस्यचित् पूर्वमनुष्यभवनिकाचितजिननाम्नो देवादिगतेरागतस्यैवापर्याप्तावस्थायां तद्बन्धः, औदारिकमिश्रयोगे जिननाम्नोऽपूर्वबन्धायोगात् ।।७०।।७१।।७२।।

अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् निर्दिदिक्षुराह—

वेउव्वे विण्णेयो मिच्छादिट्ठी उ तिव्वसंकिट्ठो ।
सोलसणपुमाईणं तिचत्तअसुहधुवबंधीणं ।।७३।।
इगतीसणराईणं सव्वविसुद्धो सुरो य सम्मत्ती ।
बारहथीआईणं मिच्छत्ती तदरिहकिलिट्ठो ।।७४।।
णेयो ईसाणंतो एगिंदियथावराण मिच्छत्ती ।
उक्कोससंकिलिट्ठो आयवजुगलस्स ओघव्व ।।७५।।

(प्रे०) 'वेउव्वे' इत्यादि वैक्रियकाययोगो नारकदेवानां वर्तते,तेषां भवप्रत्ययादेव सुरद्विकंवैक्रियद्विकम् आहारकद्विकं नरकद्विकं, सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं इति चतुर्दशप्रकृतीनामबन्धः, अतः प्रकृते षडुत्तरशतप्रकृतीनां रसबन्धकविचारणा प्रस्तुता । तत्र 'सोलसणपुमाईणं' इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां [१]णपुम[१] सायं [२]सोगारइ [१]हुंड[१]णीआणि । सरवज्जा [४]अथिराई [१]दुस्सर [१]कुखगइ [१]छिवट्ठणामाणि । [२]तिरियदुगं' इति गाथांशोक्तानां षोडशप्रकृतीनां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां चोत्कृष्टानुभागं मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देवो नारको वा बध्नाति, भावना गतार्था । आसामेकोनषष्टेरोघोत्कृष्टरसोऽत्र बध्यत इत्यपि बोध्यम् । '[२]णरु[२]रलदुग-[१]वइराणि [१]जस-[१]सायाणि । [१]उच्च-[१]पणिंदि [४]तसचउग[१]परघू[१]सास [१]सुखगइ-पण [४]थिराई । [८]सुहधुवबंधा[१]गिइ

'जिण' इत्येकत्रिंशत्प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसं **'सुरो य'** सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो देवः, चकारस्य मतान्तरद्योतकत्वात् मतान्तरेण तादृग् नारकोऽपि बध्नाति । अत्र नरद्विकादीनां पञ्चानामोघोत्कृष्टरसो बोध्यः । यशःकीर्तिनामादीनां षड्विंशतेस्तु मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसः, आसामोघोत्कृष्टरसस्तु श्रेणावेवाज्यंते. तस्याश्चेहासंभवात् ।

¹थी ²पुरिसं ³हुस्सरई मज्झिम⁴ संघयण⁴आगईओ य । इति द्वादशानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिस्तदर्हक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागं बध्नाति, भावना तु सुगमा । **'एगिंदियथावराण'** इति प्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टरसबन्धक ईशानान्तो मिथ्यादृष्टिः उत्कृष्टसंक्लिष्टो देवो ज्ञेयः, अत्र भावना ओघवत् ।

'ओघव्व' त्ति आतपनाम्न उद्योतनाम्नश्चोत्कृष्टरसबन्धक ओघवद् ज्ञेयः, **तद्यथा**–आतपनाम्न ईशानान्तस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो देवः, उद्योतनाम्नः सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारकः, भावना ओघवत् ॥७३।७४।७५॥

अधुना वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकानभिधित्सुराह—

वेउव्वमीसजोगे मिच्छत्ती अत्थि तिव्वसंकिट्ठो ।
सोलसणपुमाईणं तह अपसत्थधुवबंधीणं ॥७६॥
इगतीसणराईणं सम्मादिट्ठी भवे विसुद्धयमो ।
अहव सुरो होइ पढमसमये सेढीअ परिवडिउं ॥७७॥
थीआइबारसण्हं मिच्छत्ती अत्थि तदरिहकिलिट्ठो ।
एगिंदिथावराणं ईसाणंतोऽत्थि तिव्वसंकिट्ठो ॥७८॥ (गीतिः)
मिच्छो ईसाणंतो आयवणामस्स तदरिहविसुद्धो ।
उज्जोअस्स तमतमो मिच्छादिट्ठी विसुद्धयमो ॥७९॥

(प्र०) **'वेउव्वमीस'** इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामपि देवनारकाणामेवावतारः, प्रकृतयोऽपि षड्त्तरशतं पूर्वोक्ता एव बध्यन्ते । तत्र नपुंसकवेदादीनां षोडशानां त्रिचत्वारिंशद्शुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो बध्नाति । अत्र रसो मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टो ज्ञेयः । तथा नरद्विकादीनामेकत्रिंशतः प्रकृतीनां विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिः सुरो नारको वोत्कृष्टरसं बध्नाति । **'अहव'** त्ति अथवेति मतान्तरख्यापने **'पढमसमये'** त्ति मतान्तरेण उपशमश्रेणौ कालं कृत्वा देवत्वेनोत्पित्सुः सुरभवप्रथमसमये आसामुत्कृष्टरसं बध्नाति, कुतः ? एतन्मते तद्बन्धकेषु अस्यैव विशुद्धतमत्वाभ्युपगमात् । स्त्रीवेदादीनां द्वादशप्रकृतीनां तदर्हक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरेकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोश्चेशानान्तो देवस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टरसं बध्नाति, आतपनाम्नस्तदर्हविशुद्धो मिथ्यादृष्टिरीशानान्तो देवः, उद्योतनाम्नो मिथ्यादृष्टिर्विशुद्धतमस्तम-

स्तमाः सप्तमपृथ्वीनारक उत्कृष्टानुभागं बध्नाति । वैक्रियमिश्रयोगस्तु अपर्याप्तावस्थायामेव भवति न तत्र सम्यक्त्वाभिमुखत्वम्, अत एवोद्योतबन्धकस्य सम्यक्त्वाभिमुख इति विशेषणं वैक्रियकाययोगमार्गणायामुपात्तमप्यत्रानादृतम् ॥७६।७७।७८।७९॥

सम्प्रति आहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोरुत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् निरूपयन्नाह—

आहारदुगे णेयो सव्वविसुद्धो जसाइतीसाए ।
हस्सरईणं तदरिहकिट्ठो सेसाण सव्वसंकिट्ठो ॥८०॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'आहारदुगे' इत्यादि, आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगरूपयोर्मार्गणयोः 'जस १साथाणि ॥ १उच्च १पणिंदि ४तसचउग १परघू १सास १सुखगइ पण ५थिराई । ८सुहधुवबंधा १गिइ १जिण २सुर २विउव्वजुगलाणि' इति गाथावयवोक्तानां त्रिंशत्प्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसं मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धो बध्नाति । हास्यरत्योश्च तदर्हक्लिष्टः । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणषट्कं, संज्वलनचतुष्कं, भयजुगुप्से, अशुभवर्णादिचतुष्कम्, उपघातोऽन्तरायपञ्चकं चेति अशुभध्रुवबन्धिनीनां सप्तविंशतेः, असातं, शोकारती, पुरुषवेदः, अस्थिराशुभे, अयशःकीर्त्तिनाम इति सप्तानां चेति सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां तीव्रसंक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति । तीव्रसंक्लिष्टत्वञ्चात्र मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयं, कुतः ? आहारकयोगिनः संयतत्वेन ओघतीव्रसंक्लिष्टत्वायोगात् तत्तु मिथ्यादृष्टावेव, न च मिथ्यादृशां प्रकृतमार्गणयोरवतारः । इत्यत्र सम्भाव्यमानबन्धानां पट्षष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकप्ररूपणा कृता ॥८०॥

इदानीं कार्मणकाययोगमार्गणाऽनाहारमार्गणयोरुत्कृष्टरसबन्धकान् निरूपयन्नाह—

कम्माणाहारेसुं सण्णी मिच्छोऽत्थि सव्वसंकिट्ठो ।
एगारहणपुमाइगतिरिदुगअसुहधुवबंधीणं ॥८१॥
सव्वविसुद्धो सम्मो पणवीसाए भवे जसाईणं ।
सो उण दुदुगइयो सुरविउवणरुरलदुगवइराणं ॥८२॥
तिगइट्ठो सम्मत्ती सव्वविसुद्धो जिणस्स अहव भवे ।
इगतीसणराईणं सेढीअ पडिअ सुरोऽत्थि पढमखणे ॥८३॥ (गीतिः)
णिरयो सुरो व मिच्छो अइसंकिट्ठो तिदूसराईणं।
सुहमतिगस्स तिरिक्खो णरो व ओघव्व सेसाणं ॥८४॥

(प्रे०) 'कम्म' इत्यादि, कार्मणकाययोगो विवक्षितभवाद् विग्रहगत्या भवान्तरं प्रस्थितानां प्राणिनामन्तराले वर्तते, अनाहारत्वमपि प्रकृते तेषामेव । तत्र अपर्याप्तत्वाद् नरकद्विकम्

तद्बन्धार्हप्रमत्तगुणस्थानाभावाच्च आहारकद्विकं न बध्यते, अतः षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां रसबन्धकविचारणात्र करिष्यते।

तत्र 'णपुम 'साय 'सोगारइ 'हुंड 'णीआणि सरवज्जा 'अथिराई' इति नपुंसकवेदादीनामेकादशानां तिर्यग्द्विकस्य त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसबन्धं संज्ञी मिथ्यादृष्टिः सर्वसंक्लिष्टश्चतुर्गतिको बन्धको निर्वर्तयति, अत्र देवमाश्रित्य सहस्रारान्तो देवो बोध्यः, आनतादिदेवानां तादृक्संक्लेशाभावात्।

'**जसाईणं**' इत्यादि, ''जस 'सायाणि ॥ 'उच्च 'पणिंदि 'तसचउग 'परघू 'सास 'सुखगइपण 'थिराई। 'सुहधुवबंधा 'गिइ' इति गाथांशोक्तानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्ध उत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति। सुरद्विकं वैक्रियद्विकं नरद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं चेति नव प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः'**दुदुगइयो**' त्ति द्विद्विगतिकः,कोऽर्थः ? सुरद्विकवैक्रियद्विकयोः सम्यग्दृष्टी सर्वविशुद्धौ मनुष्यतिर्यञ्चौ,नरद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां तादृशौ देवनारकावुत्कृष्टानुभागबन्धं निर्वर्तयत इति। '**जिणस्स**' जिननाम्नस्त्रिगतिस्थः नरकमनुष्यदेवगतिस्थः सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्ध उत्कृष्टानुभागं बध्नाति। तिर्यग्गतौ जिननामबन्धायोगात् त्रिगतिस्थ इत्युक्तम्। '**अहव**'अथ वेति मतान्तरप्रकाशने ततश्च मतान्तरेण'**इगतीसणराईणं**'ति अत्रोक्तानां यशःकीर्तिनामादीनां पञ्चविंशतेः नरद्विकादीनां पञ्चानां, जिननाम्नश्चेति सर्वसंख्यया एकत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसमुपशमश्रेण्याः पतितः, कोऽर्थः ? उपशमश्रेणौ कालं कृत्वा देवत्वेनोत्पन्नः स्वोत्पत्तिप्रथमसमये सुरो बध्नाति, कुतः ? तद्बन्धकेषु अस्यैव विशुद्धिप्रकर्षसम्भवात्। अत्रायं भावः-प्रथमं यशःकीर्तिनामादीनां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां चतुर्गतिकः, नरद्विकादीनां पञ्चानां देवनारकौ, जिननाम्नश्च त्रिगतिकः सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धः उत्कृष्टानुभागार्जक उक्तः पक्षान्तरेण त्वासां सर्वासामविशेषेण यथोक्तो देव इति।

'**तिदूस्सराईण**' त्ति दुःस्वरः, कुखगतिः, सेवार्त्तनाम चेति प्रकृतित्रयस्य उत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टो देवो नारको वा बध्नाति। अत्र '**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः**' इति न्यायात् देवः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो बोध्यः, कुतः ? ईशानान्ता देवास्तीव्रसंक्लिष्टाः सन्तो बादरैकेन्द्रियप्रायोग्यं कर्म बध्नन्ति, न तदा तेषां स्वरादीनां बन्धः, यद्यपि सहस्रारादुपरितना आनतादिदेवाः स्वरादीन् बध्नन्ति तथापि ते न दुःस्वरादीनामशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकास्तथाविधसंक्लेशाभावादिति। '**सुहमतिगस्स**' त्ति सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणरूपस्य सूक्ष्मत्रिकस्योत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टस्तिर्यग् मनुष्यो वा बध्नाति। देवनारकाः सूक्ष्मत्रिकं नैव बध्नन्ति तेषामनन्तरभवे सूक्ष्मादितयोत्पादाभावात् तीव्रसंक्लिष्टाः सन्तोऽपि ते बादरत्रिकमेव बध्नन्ति। '**ओघव्व सेसाणं**' ति उक्तशेषाणामेकोनविंशतेः प्रकृतीनाम् ओघवत्

उत्कृष्टरसबन्धका ज्ञेयाः, तद्यथा-एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोरीशानान्तो देवो मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टः विकलत्रिकस्य मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मनुष्यस्तिर्यक् च, स्त्रीवेदादीनां द्वादशानां संज्ञिमिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टश्चतुर्गतिकः, आतपनाम्नो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्ध ईशानान्तो देवः, मतान्तरेण नरकवर्जत्रिगतिक उत्कृष्टरसं बध्नाति, भावनौघवत् ॥८१।८२।८३।८४॥ अथ स्त्रीवेदमार्गणायामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् निरूरूपयिषुराह—

थीए तिजसाईणं मग्गणचरमसमये भवे खवगो ।
चउतिरियाईण सुरो मिच्छत्ती तिव्वसंकिट्ठो ॥८५॥
सम्मादिट्ठी देवो सव्वविसुद्धोऽत्थि पणणराईणं ।
छेवट्ठस्स तदरिहकिलिट्ठो सण्णी भवे मिच्छो ॥८६॥
कुमरखगईण मिच्छो तिव्वकिलिट्ठोऽत्थि दुगइयो सण्णी ।
तदरिहसुद्धो सण्णी उज्जोअस्स इयराण ओघव्व ॥८७॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'थीए' इत्यादि, इह स्त्रीवेदमार्गणायां नरकवर्जत्रिगतिका जीवा बन्धकतया प्राप्यन्ते, कुतः ? नारकाणां नियमाद् नपुंसकवेदित्वेन स्त्रीवेदायोगात् । तत्र 'तिजसाईणं' ति यशःकीर्तिनाम सातमुच्चैर्गोत्रं चेति प्रकृतीत्रयस्य 'मग्गणचरमसमये' त्ति मार्गणाचरमसमये क्षपक उत्कृष्टानुभागं बध्नाति । कोऽर्थः ? अनिवृत्तिबादराख्यस्य नवमगुणस्थानकस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु स्त्रीवेदिक्षपकस्य स्त्रीवेदः क्षयं प्रयाति, तदूर्ध्वं स क्षपकोऽवेदी भवति अत एव स्त्रीवेदोदयचरमसमये क्षपकस्तदुत्कृष्टरसं बध्नाति । अत्र रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम्, ओघोत्कृष्टरसस्तु क्षपकेण दशमगुणस्थानकचरमसमये बध्यते, तत्र तस्यावेदित्वेन न प्रकृतमार्गणात्वम् इति । 'चउतिरियाईण' त्ति तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम चेति चतुष्प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टः स्त्रीवेदी सुरः, देवीति यावत् उत्कृष्टानुभागं बध्नाति । कुतः ? मानुषी तिरश्ची वा तीव्रसंक्लिष्टा सती नरकगत्यादिकं नरकप्रायोग्यं कर्म बध्नाति न तिर्यग्द्विकादि, अत उक्तं स्त्रीवेदी सुर इति । सम्यग्दृष्टेर्देव्यास्तद्बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टिरिति, अल्पक्लिष्टाया मिथ्यादृष्टेर्न तदुत्कृष्टरसलाभः, अत उक्तं तीव्रक्लिष्ट इति ।

'पणणराईणं' ति नरद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धा देवी उत्कृष्टानुभागं बध्नाति, भावना ओघवत् । अयमत्र विशेषः,-ओघे नरद्विकादीनां मतान्तरेण नारकोऽपि उत्कृष्टरसबन्धकतयोक्तोऽत्र तु स न भवति, तस्य स्त्रीवेदित्वायोगात् । छेवट्ठस्स' त्ति सेवार्तनाम्न उत्कृष्टरसं त्रिगतिस्थो मिथ्यादृष्टिः संज्ञी तदर्हक्लिष्टो बध्नाति, कुतः ? तीव्रक्लिष्टा सती देवी एकेन्द्रियप्रायोग्यं, मानुषी तिरश्ची च नरकप्रायोग्यं कर्म बध्नाति, न तदा संहननस्य बन्धः, अत उक्तं तदर्हक्लिष्ट इति ।

'कुसरखगईण'त्ति कुखगतिदुःस्वरयोः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रक्लिष्टो द्विगतिस्थ उत्कृष्टानुभागं बध्नाति । द्विगतिस्थ इति मानुषी तिरश्चीं चेति भावः । देव्यास्तु तीव्रसंक्लिष्टत्वे एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन स्वरादिबन्धायोगात् । 'उज्जोअस्स' त्ति उद्योतनाम्नस्तदर्हशुद्धो मिथ्यादृष्टिः संज्ञी उत्कृष्टरसं बध्नाति । सर्वविशुद्धाया देव्या मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वेन तिर्यग्गतिसहचरितबन्धस्य तस्य बन्धायोगात् । तीव्रविशुद्धौ मानुष्यास्तिरश्च्याश्च देवप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धायोगादुक्तं तदर्हविशुद्ध इति ।

'इयराण' त्ति उक्तशेषाणां उत्कृष्टरसबन्धका ओघवद् ज्ञेयाः । तद्यथा—नपुंसकवेदादीनामेकादशानां प्रकृतीनां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां च तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति । नरकद्विकस्य तीव्रसंक्लिष्टा मिथ्यादृष्टिस्तिरश्ची मानुषी वा, सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकयोर्मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टा तिरश्ची मानुषी वा, स्त्रीवेदादीनां द्वादशानां तत्प्रायोग्या क्लिष्टा मिथ्यादृष्टिस्त्रिगतिका स्त्री, आतपनाम्नस्तत्प्रायोग्यविशुद्धा देवी, '....[१]पणिदि [४]तस चउग [१]परघू[१]सास [१]सुखगइ पण [४]थिराई । [८]सुहधुवबंधा [१]गिइ [१]जिण[२]सुर [२]विउव्वा[२]हारजुगलाणि॥' इति एकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां क्षपको विशुद्धतमोऽपूर्वकरणगुणस्थः स्त्रीवेदिमनुष्यो मानुषीत्यर्थः तद्बन्धचरमसमये उत्कृष्टरसं बध्नाति, भावनौघवत् । स्त्रीवेदमार्गणायां यद्यपि जिननामोत्कृष्टरसबन्धकतया क्षपको मोहमल्लमदहारिमल्लिकुमारीवत् क्वचित् कश्चित् प्राप्यते । तथापीह मुख्यवृत्त्या उपशमको ज्ञेयः । अन्यथा प्रस्तुतमार्गणायां वक्ष्यमाणं जिननामोत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टान्तरमसंख्येयलोकप्रमाणं नोपपद्येत, स्त्रीजिनस्याऽऽश्चर्यभूतत्वेनानन्तकालप्रमितान्तरस्य भावादिति ॥८५। ८६।८७॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

पुरिसे तिजसाईणं मग्गणचरमसमये भवे खवगो ।
तिरियजुअलस्स देवो मिच्छत्ती तिव्वसंकिट्ठो ॥८८॥
सव्वविसुद्धो सम्मो सुरो पणणराइगाण मिच्छत्ती ।
उज्जोअस्स तदरिहविसुद्धो ओघव्व सेसाणं ॥८९॥

(प्रे०) 'पुरिसे' इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायामपि बन्धकतया त्रिगतिका एव जीवा लभ्यन्ते कुतः ? नारकाणां केवलं नपुंसकत्वेन प्रस्तुतमार्गणायामनवतारात् । तत्र 'तिजसाईणं' ति यशःकीर्त्तिनाम सातम् उच्चैर्गोत्रं चेति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसं क्षपको मार्गणाचरमसमये बध्नाति, नवमगुणस्थानके पुरुषवेदोदयस्यान्तिमसमये बध्नातीति भावः । अत्र रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम् , ओघोत्कृष्टरसस्तु क्षपकेण दशमगुणस्थानकचरमक्षणे बध्यते, न तदाऽधिकृतमार्गणावसरः ।

'तिरियजुअलस्स' त्ति तिर्यग्द्विकस्य मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देव उत्कृष्टरसं बध्नाति, कुतः ? तिर्यङ् मनुष्यश्च तीव्रसंक्लेशाद् नरकद्विकं बध्नाति, न तिर्यग्द्विकं, यदा तु

मध्यमसंक्लेशात् तद् बध्नाति तदा न तदुत्कृष्टरसलाभः, नारकास्तु अनधिकृताः, मार्गणाबाह्यत्वात्, ततो यथोक्तो देव एव तदुत्कृष्टरसबन्धकः । 'पणणराइगाण' नरद्विकम्, औदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चानां सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः सुधाशुगुत्कृष्टरसं संचिनोति, सम्यग्दृशां तिर्यङ्मनुष्याणां तद्बन्धायोगात् । 'उज्जोअस्स' त्ति उद्योतनाम्नो मिथ्यात्वी तदर्हविशुद्धस्त्रिगतिक उत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति, अत्र उत्कृष्टानुभागमित्यनेन मार्गणाप्रायोग्यमुत्कृष्टानुभागमिति विज्ञेयम्, ओघोत्कृष्टरसस्य सप्तमनरकनारकस्वामिकत्वात् ।

'सेसाणं' उक्तव्यतिरिक्तानां नवोत्तरशतप्रकृतीनाम् ओघवदुत्कृष्टरसबन्धका ज्ञेयाः, तद्यथा- [१]णपुम [१]सायं [२]सोगारइ [१]हुंड [१]णीआणि । सरवज्जा [४]अथिराई [१]दुस्सर [१]कुखगइ । इति त्रयोदशानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टः संज्ञी तिर्यग्, मनुष्यः, सहस्रारान्तो देवो वा बध्नाति, नारकस्तु बन्धकतयात्र न वाच्यः मार्गणाबाह्यत्वात् । सहस्रारादुपरितनानामानतादिदेवानां नेहाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धः अतस्तदनुपादानम् । नरकद्विकस्योत्कृष्टानुभागं संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टस्तिर्यग् मनुष्यो वा बध्नाति, भावनौघवत् । सेवार्त्तनाम्नो मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो देव उत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति, भावना त्वोघवदेव । एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोरीशानान्तो मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देव उत्कृष्टरसं बध्नाति, भावना गतार्था ।

स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, हास्यरती, मध्यमसंहननचतुष्कं मध्यमसंस्थानचतुष्कं चेति द्वादशानां प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसं संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टस्तिर्यग् मनुष्यो देवो वा, सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकयोः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा बध्नाति ।

आतपनाम्न उत्कृष्टरसं मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो देवो बध्नाति । पञ्चेन्द्रियजातिः, त्रसचतुष्कं, पराघातम्, उच्छ्वासः, सुखगतिः, पञ्चस्थिरादयः, शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, समचतुरस्रं, जिननाम, देवद्विकं, वैक्रियद्विकम्, आहारद्विकं चेति एकोनत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागम् अपूर्वकरणस्थः सर्वविशुद्धः क्षपकस्तद्बन्धचरमसमये बध्नाति । अत्र उत्कृष्टानुभागमित्यनेनौघोत्कृष्टानुभागमिति ज्ञेयम्, भावनौघवत् ॥८८।८९॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकान् निर्दिदिक्षुराह—

णपुमे तिजसाईणं मग्गणचरमसमये भवे खवगो ।
सव्वविसुद्धो णिरयो सम्मत्ती पणणराईणं ॥९०॥
मिच्छो सण्णी तिरियो णरो व एगिंदिथावराण भवे ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो आयवणामस्स तदरिहविसुद्धो ॥९१॥ (गीतिः)

उवसामगो विसुद्धो अपुव्वकरणे सबंधचरमखणे ।
जिणणामकम्मणो खलु ओघव्व हवेज्ज सेमाणं ॥९२॥

(प्रे०) 'णपुमे' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां यशःकीर्त्तिनाम, सातम् , उच्चैर्गोत्रं चेति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसं क्षपको मार्गणाचरमसमये नपुंसकवेदोदयान्तिमसमये बध्नाति । उत्कृष्टरस-मिति अत्र मार्गणाप्रायोग्यमुत्कृष्टरसमिति ज्ञेयम् , प्रागुक्तहेतोः । 'पणणराईणं' ति नरद्विकम् , औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चानां प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो नारक उत्कृष्टरसं बध्नाति कुतः ? अस्यां मार्गणायां देवगतिवर्जत्रिगतिका एव जीवा समवतरन्ति, देवानां नपुंसकवेदा-योगात् , सम्यग्दृष्टितिर्यङ्मनुष्यास्तु न नरद्विकादीन् बध्नन्ति तेषां देवद्विकादीनामेव बन्धस-म्भवात् , तेषां नारकाणां च मिथ्यादृशां न तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भव इति ।

'एगिंदिथावराण' त्ति एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोरुत्कृष्टरसं तत्प्रायोग्यक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा बध्नाति, कुतः ? नारकाणां तद्बन्धाभावाद् देवानाञ्च प्रस्तुतमार्गणा-बाह्यत्वात् । तीव्रक्लिष्टस्य तिरश्चो मनुष्यस्य च नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन तदबन्धात् तत्प्रायोग्य-क्लिष्ट इति ।

'आयवणामस्स' त्ति आतपनाम्नस्तदर्हविशुद्धः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वोत्कृष्टानुभागं बध्नाति, नारकाणां तद्बन्धायोगात् देवानां मार्गणाबाह्यत्वाच्च । तीव्रविशुद्धस्य तिरश्चो मनुष्यस्य च पञ्चेन्द्रियजात्यादिबन्धकत्वेनैकेन्द्रियजातिसहचरितस्य तस्य बन्धाभावात् तदर्हविशुद्ध इति ।

'जिणणामकम्मणो' त्ति जिननामकर्मण उत्कृष्टरसम् उपशामक उपशमश्रेण्यारूढः सर्ववि-शुद्धोऽपूर्वकरणे स्वबन्धचरमक्षणे जिननामबन्धान्तिमसमये जिननामबन्धविच्छेदसमय इत्यर्थः, बध्नाति । अत्र खलुरेवकारार्थः ततो यथोक्तविशेषणविशिष्ट उपशमक एव जिननामबन्धकः न पुनः क्षपकः, प्रस्तुते तस्य नपुंसकतया जिननामबन्धासम्भवात् । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणामोघवद् उत्कृ-रसबन्धका भवन्ति । तद्यथा—'[१]णपुम [१]सायं [२]सोगारइ [१]हुंड [१]णीआणि । सरवज्जा [४]अथिराई [१]दुस्सर [१]कुखगइ' इति त्रयोदशानां नपुंसकवेदादीनां ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, मिथ्यात्व-मोहनीयं, षोडशकषायाः, भयजुगुप्से, अशुभवर्णादिचतुष्कम् , उपघातं, पञ्चान्तराया इति त्रिच-त्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां च संज्ञी मिथ्यादृष्टिः सर्वसंक्लिष्टस्तिर्यग् मनुष्यो नारको वा उत्कृष्ट-रसं बध्नाति । सेवार्त्तं तिर्यग्द्विकम् इति प्रकृतित्रयस्य उत्कृष्टरसं संज्ञी मिथ्यादृष्टिः सर्वसंक्लि-ष्टो नारको बध्नाति । सर्वसंक्लिष्टस्य तिरश्चो मनुष्यस्य च नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धा-योगात् अल्पसंक्लिष्टस्य तद्बन्धकत्वेऽपि नोत्कृष्टरसलाभ इति ।

'[१]थी [१]पुरिसं [२]हस्सरई मज्झिम [४]संघयण [४]आगईओ य' इति द्वादशानां संज्ञी मिथ्यादृष्टि-स्तत्प्रायोग्यक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति । सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकयोरुत्कृष्टानुभागं संज्ञी मिथ्या-

दृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टस्तिर्यग् मनुष्यो वा बध्नाति, नारकाणां पञ्चेन्द्रियभिन्नजातावुत्पादाभावेन तद्बन्धायोगात् । ''पणिंदि [२]तसचउग [३]परघू[४]सास [५]सुखगइ[६]पणथिराई [७]सुहधुवबंधा[८]गिइ [९]सुर [१०]विउवा[११]हारजुगलाणि' इति पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसमपूर्वकरणे तद्बन्धविच्छेदसमये सर्वविशुद्धः क्षपको बध्नाति, भावनौघवत् । उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखोऽनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्रतिपित्सुः सर्वविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारकः, अत्र भावनौघवत् । नरकद्विकस्योत्कृष्टानुभागं संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टस्तिर्यग् मनुष्यो वा बध्नाति ।

अथ अपगतवेदमार्गणायामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् निर्दिदिक्षुराह—

अवगयवेए तिण्हं जसाइगाणं हवेज्ज ओघव्व ।
सेसाण भाविवेई उवट्ठिओ अपुमवेएणं ॥९३॥

(प्रे०) 'अवगयवेए' इत्यादि, उपशान्तवेदाः क्षपितवेदाश्च श्रेणिगता जीवा अस्यां मार्गणायां समवतरन्ति । तत्र यशःकीर्तिनाम, सातम्, उच्चैर्गोत्रं चेति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसं 'ओघव्व' त्ति ओघवत्, सूक्ष्मसम्परायस्थः क्षपकः तद्गुणस्थानकचरमसमये बध्नातीति भावः ।

'सेसाणं' त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणचतुष्कं, संज्वलनचतुष्कम्, अन्तरायपञ्चकं चेति अष्टादशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं 'भाविवेई' त्ति उपशमश्रेण्याः प्रतिपतन्ननिवृत्तिबादराख्यनवमगुणस्थानकस्थोऽनन्तरसमयभविष्यत्सवेदी उपशमकः करोति । अत्र विशेषमाह—'उवट्ठिओ अपुमवेएणं' ति अपुंवेदेनोपस्थितः पुरुषवेदातिरिक्तेन वेदेन स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वोपशमश्रेणिमुपगतः, श्रेणेः प्रतिपतन्नुत्कृष्टरसं बध्नातीति भावः, न पुरुषवेदोदयेन श्रेणिमुपगतोऽपि, कुतः ? उपशमश्रेण्या अवरोहतः पुरुषवेदेन श्रेणिमुपगतस्य नवमगुणस्थाने पुरुषवेदोदयः स्त्रीनपुंसकवेदिनोः स्त्रीनपुंसकवेदोदयापेक्षयार्वाग् भवति, यत उपशमश्रेण्यारोहक्रमादवरोहक्रमो विपरीतो वर्तते, तथा च-आरोहतपुरुषवेदोदयःविच्छेदःस्त्रीवेदनपुंसकवेदापेक्षयान्तर्मुहूर्तं पश्चाद् भवति ततोऽवरोहतः पुरुषवेदोदयः प्रथमं भवति तस्मात् तदुदयार्वाक्समये न तथाविधसंक्लेशसम्भवः, यतोऽशुभप्रकृतीनां यथासम्भवं संक्लेशाधिक्यादुत्कृष्टरसो जायते, संक्लेशाधिक्यं तु स्त्रीनपुंसकवेदारूढयोः संभाव्यत इति पुरुषवेदिनं विहाय स्त्रीवेदनपुंसकवेदारूढयो ग्रहणम् । इति कृतापगतवेदमार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानामेकविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकप्ररूपणा ।

अथ त्रिकषायमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकानभिधित्सुराह—

तिकसायेसुं खवगो मग्गणचरमसमयेऽणियट्टीए ।
णेयो तिजसाईणं ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥९४॥

(प्रे०) 'तिकसायेसु' इत्यादि । क्रोधकषाय-मानकषाय-मायाकषायरूपासु तिसृषु कषायमार्गणासु 'तिजसाईणं' ति यशःकीर्तिनाम, सातम्, उच्चैर्गोत्रं, चेति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसम-

निवृत्तिबादरगुणस्थानके मार्गणाचरमसमये क्षपको बध्नाति, तद्यथा–अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणस्य नवमगुणस्थानस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु यदा क्षपकस्य क्रोधोदयो व्यवच्छिद्यते तदा क्रोधोदयस्य चरमसमये क्रोधमार्गणायां यशःकीर्त्यादीनामुत्कृष्टरसो जन्यते न परतोऽपि, मार्गणाया अविद्यमानत्वात् । एवं मानोदयचरमसमये मायोदयचरमसमये च क्षपकस्य यशःकीर्त्यादीनामुत्कृष्टरसबन्धकत्वं तत्तन्मार्गणायां ज्ञेयम् ।

'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसबन्धकाः प्रस्तुतत्रिमार्गणासु **'ओघव्व'**त्ति ओघवद् भवन्ति, तद्यथा–''णपुम[1]सायं [2]सोगारइ [3]हुंड[4]णीआणि । सरवज्जा [5]अथिराई [6]दुस्सर[7]कुखगइ' इति त्रयोदशानां, त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां च संज्ञी मिथ्यादृष्टिः सर्वसंक्लिष्टश्चतुर्गतिकः, ''[1]पणिंदि [2]तसचउग [3]परघू[4]सास [5]सुखगइ पण[6]थिराई । [7]सुहधुवबंधा[8]गिइ [9]जिण [10]सुर [11]विउवा[12]हारजुगलाणि' इत्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनाम् अपूर्वकरणस्थः सर्वविशुद्धः क्षपकस्तद्बन्धचरमसमये, '[1]थी [2]पुरिसं [3]हस्सरई मज्झिम[4]संघयण[5]आगईओ य' इति द्वादशानां संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टश्चतुर्गतिकः, 'सुहुमविगलतिगाणि' इति षण्णां संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टस्तिर्यग् मनुष्यो वा, नरकद्विकस्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो मनुष्यस्तिर्यग् वा, सेवार्त्तनाम तिर्यग्द्विकं चेति प्रकृतित्रयस्य मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो नारकः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो देवो वा, 'णरुरलदुगवइराणि' इति पञ्चानां सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्देवो, मतान्तरेण तादृग् नारकोऽपि । एकेन्द्रियस्थावरयोर्मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्ट ईशानान्तो देवः, उद्योतनाम्नः सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारकः, आतपस्य मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो भवनपत्यादीशानान्तो देवो मतान्तरेण तादृशौ मनुष्यतिर्यञ्चौ अपि उत्कृष्टरसबन्धकौ इति । अत्र भावनौघवदेव । पञ्चेन्द्रियौघादिषु एकविंशतौ मार्गणासु बन्धकप्ररूपणावसरे लोभमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकाः प्ररूपिताः सन्ति इति पर्यवसितं कषायचतुष्के उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वम् ॥९४॥

अथो चतुर्ज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघोपशमसम्यक्त्वरूपासु सप्तमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकान् निरूपयिषुराह—

सगतीसणराईणं णाणतिगे ओहिसम्मुवसमेसुं ।
ओघव्व भवे अयतो हस्सरईणं तदरिहसंकिट्ठो ॥९५॥(गीतिः)
सेसाण मिच्छहुत्तो असंयतो होइ तिव्वसंकिट्ठो ।
बत्तीसजसाईणं ओघव्व हवेज्ज मणणाणे ॥९६॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो हस्सरईणं भवे पमत्तजई ।
सेसाण पमत्तजई अइसंकिट्ठो असंयमाभिमुहो ॥९७॥(गीतिः)

(प्रे०) 'सगतीस' इत्यादि, 'मतिज्ञान- 'श्रुतज्ञाना- 'ऽवधिज्ञाना- 'ऽवधिदर्शन 'सम्यक्त्वौघो- 'पशमसम्यक्त्वरूपासु षट्सु मार्गणासु '²णर'²रलदुग 'बइराणि' 'जस 'सायाणि ॥ 'उच्च 'पणिंदि ⁴तसचउग 'परघू 'सास 'सुखगइ ⁴पणथिराई। ⁵सुहधुवबंधा 'गिइ 'जिण ²सुर ²विउवा ²हारजुगलाणि ॥' इति सप्तत्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धक ओघवज्ज्ञेयः, औधिकस्वामिनामिह प्रवेशात् नवरमुपशमसम्यक्त्वमार्गणायां यशःकीर्त्यादीनां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां चोत्कृष्टरसबन्धको यथोक्तविशेषणविशिष्ट उपशमको वाच्यः, उपशमसम्यक्त्विनः क्षपकत्वायोगात् ।

'हस्सरईणं' ति हास्यरत्योरुत्कृष्टानुभागं तदर्हक्लिष्टोऽयतोऽविरतिसम्यग्दृष्टिर्निर्वर्तयति, मिथ्यात्वादिगुणस्थानकत्रयवर्तिनां प्रस्तुतमार्गणास्वनवतारात् । तथा तीव्रक्लिष्टस्य तस्य शोकारतिबन्धसम्भवात् तदर्हक्लिष्ट इति । अत्र रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं बोध्यम्, नौघोक्तम्, ओघोत्कृष्टरसस्तु मिथ्यादृष्टेरेव सम्भवति तस्य च प्रकृतेऽप्रवेशात् ।

'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽसंयतोऽविरतसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टरसं बध्नाति । इमाश्च ता द्विचत्वारिंशत्–ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणषट्कम् अनन्तानुबन्धिवर्जा द्वादशकषायाः, भयजुगुप्से, अशुभवर्णादिचतुष्कम्, उपघातनाम, पञ्चान्तरायाः, असातं, शोकारती, अस्थिराशुभे, अयशःकीर्तिनाम; पुरुषवेदश्चेति । इह मिथ्यात्वाभिमुखत्वं यद्यपि प्रमत्तादिगुणस्थानकवर्त्तिनामपि केषाञ्चित् सम्भवति तथापि तेषां न तादृक्संक्लेशसम्भवः, अप्रत्याख्यानावरणानुदयाद् गुणस्थानकमाहात्म्याच्च अत उक्तम् असंयत इति । 'मणणाणे' त्ति मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां ·'जस 'सायाणि॥ 'उच्च 'पणिंदि ⁴तसचउग परघू 'सास 'सुखगइ पण⁴थिराई । ⁵सुहधुवबंधा ⁵गिइ 'जिण ²सुर ²विउवा ²हार जुगलाणि ॥ इति द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धक ओघवज्ज्ञेयः, तथाहि–यशःकीर्त्तिनाम, सातम्, उच्चैर्गोत्रं चेति प्रकृतित्रयस्य क्षपको दशमगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्त्तमानः, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामेकोनत्रिंशतोऽपूर्वकरणगुणस्थानकस्थः सर्वविशुद्धः क्षपकस्तद्बन्धचरमसमय उत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति, भावनौघवत् । 'हस्सरईणं' ति हास्यरत्योस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः प्रमत्तयतिरुत्कृष्टरसं बध्नाति, तीव्रक्लिष्टस्य शोकारतिबन्धप्रवर्त्तनात् तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति । आद्यानां मिथ्यात्वादीनां पञ्चगुणस्थानानां प्रस्तुतमार्गणायामप्रवेशात् प्रमत्तयतिरिति । अनयोरोघोत्कृष्टरसस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वादत्र मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसो बोध्यः । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणषट्कं, संज्वलनचतुष्कं, भयजुगुप्से, अशुभवर्णादिचतुष्कम्, उपघातः अन्तरायपञ्चकं चेति अशुभध्रुवबन्धिनीनां सप्तविंशतेः असातं, शोकारती, अस्थिराशुभे, अयशःकीर्तिः, पुरुषवेदश्चेति सप्तानां चेति सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं प्रमत्तयतिरसंयमाभिमुखोऽतिसंक्लिष्टो बध्नाति । अत्रेदं बोध्यम्–प्रमत्तयतेर्मिथ्यात्वाद्यभिमुखत्वमपि सम्भवति किन्तु न मनःपर्यवज्ञानविशिष्टस्य तस्य, अत एवात्रासंयमाभिमुखस्ये-

त्यनेन अविरतसम्यग्दृष्टित्वाभिमुखस्यैवोत्कृष्टरसनिर्वर्तकत्वमुक्तम् । अतिसंक्लिष्टत्वञ्च मार्गणा-प्रायोग्यं ज्ञेयमौघिकातिसंक्लेशस्य मिथ्यादृष्टेरेव सम्भवात् ॥९५।९६।९७॥

अथाऽज्ञानत्रिकं मिथ्यात्वं चेति चतुर्मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकान् दर्शयति—

अण्णाणतिगे मिच्छे सव्वविसुद्धोऽत्थि संयमाभिमुहो ।
पणवीसजसाईणं तह देवविउव्वजुगलाणं ॥९८॥
पंचण्ह णराईणं सम्माभिमुहो भवे चरमबंधे ।
णिरयो वा देवो वा ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥९९॥

(प्रे०)'**अण्णाणतिगे**'इत्यादि,मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-मिथ्यात्वलक्षणासु चतुर्मार्गणासु ''[१]जस [१]सायाणि॥ [१]उच्च [१]पणिंदि [४]तसचउग [१]परघू [१]सास [१]सुखगइ पण[५]थिराई॥ [८]सुहधुवबंधा [१]गिइ' इति पञ्चविंशतेर्देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चेति सर्वसंख्ययैकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां संयमाभिमुखः सर्वविशुद्धो मनुष्य उत्कृष्टरसं बध्नाति । यद्यपि प्रस्तुतमार्गणासु चतुर्गतिका जीवाः समवतरन्ति तथापि न मनुष्यवर्जानां संयमाभिमुखत्वं, तेषां संयमायोगात् ।

'**णराईणं**' ति नरद्विकम्, औदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चानां प्रकृतीनां सम्यक्त्वाभिमुखः 'चरमबन्धे' त्ति मार्गणाचरमसमये देवो वा नारको वोत्कृष्टानुभागमुपरचयति नान्यः, कुतः? सम्यक्त्वाभिमुखानां मनुष्यतिरश्चां तद्बन्धायोगात् ।

'**सेसाण**' ति उक्तशेषाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसनिर्वर्तका ओघवद् भवन्ति । **तद्यथा**—'णपुम[१]सायं [२]सोगारइ [१]हुंड[१]णीआणि । सरवज्जा [५]अथिराई । [१]दुस्सर [१]कुखगइ' इति त्रयोदशानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां च संज्ञी मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टसंक्लिष्टः, '[१]थी [१]पुरिसं [२]हस्सरई मज्झिम[४]संघयण[४]आगईओ य' इति द्वादशानां संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्य-क्लिष्टः, सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकयोः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मनुष्यो वा तिर्यङ् वा, नरकद्विकस्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टतमो मनुष्यो वा तिर्यङ् वा, सेवार्तनाम तिर्यग्द्विकम् इति प्रकृतित्रयस्य मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टतमो नारकः, सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो देवो वा, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो भवनपत्यादीशानान्तो देवः, उद्योत-नाम्नः सर्वविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारकः, आतपस्य मिथ्यादृष्टि-स्तत्प्रायोग्यविशुद्धो देव ईशानान्तः, मतान्तरेण तादृग्मनुष्यतिर्यञ्चौ अपि इति । भावनौघ-वत् । **इदं तु बोध्यम्**—इह विभङ्गज्ञानमार्गणायां बन्धकस्य संज्ञीति विशेषणं स्वरूपदर्शकतया ज्ञेयम् , न तु व्यवच्छेदकतया व्यवच्छेद्यस्याऽसंज्ञिनोऽत्राप्रवेशात् । एवं मिथ्यात्वमार्गणायां तस्य मिथ्यादृष्टिरिति विशेषणं स्वरूपदर्शकं बोध्यम् । इति सम्भाव्यमानबन्धानां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनां मत्यज्ञानादिषु चतुर्मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकविचारणा कृता ॥९८।९९॥

अथ संयममार्गणायामुत्कृष्टानुभागनिर्वर्तकान् निर्दिदिक्षुरादौ तावत्संयमौघमार्गणायां तान् दर्शयति—

बत्तीसजसाईणं तह हस्सरईण संयमे णेयो ।
मणणाणव्वेमेव य सेसाणं णवरि मिच्छहुत्तोऽत्थि ॥१००॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'बत्तीस' इत्यादि, संयमौघमार्गणायां द्वात्रिंशतो यशःकीर्त्तिनामादिप्रकृतीनां हास्यरत्योश्च मनःपर्यवज्ञानमार्गणावदुत्कृष्टरसबन्धका ज्ञेयाः, तथाहि—यशःकीर्तिनाम, सातम्, उच्चैर्गोत्रं चेति त्रिप्रकृतीनां क्षपको दशमगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्त्तमानः, 'पणिंदितस-चउग परघूसास सुखगइ पणथिराई । सुहधुवबंधागिइ जिण सुर विउवाहारजुगलाणि ।" इत्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां स एव तद्बन्धचरमसमयेऽपूर्वकरणगुणस्थानकस्थः, हास्यरत्योस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः प्रमत्तयतिरुत्कृष्टानुभागबन्धकः । अत्रापि हास्यरत्यो रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं बोध्यम्, ओघोत्कृष्टरसस्य तु मिथ्यादृष्टेरेव संभवात् ।

'य सेसाणं' चकारोऽत्राप्यर्थकः, तत उक्तशेषाणामपि प्रकृतीनां मनःपर्यवज्ञानमार्गणावदेवोत्कृटरसबन्धको भवति । 'णवरि' नवरमिति विशेषद्योतने 'मिच्छहुत्तो' त्ति तत्राऽसंयमाभिमुखश्चतुर्थगुणस्थानकाभिमुख उक्तः,अत्र त्वस्य मिथ्यात्वगमनानुज्ञातत्वाद् मिथ्यात्वाभिमुखः प्रमत्तयतिर्वाच्यः, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणषट्कं, संज्वलनचतुष्कं, भयजुगुप्से, अशुभवर्णादिचतुष्कम्, उपघातनाम पञ्चान्तरायाश्चेति सप्तविंशत्यशुभध्रुवबन्धिनीनाम्, असातं शोकारती, अस्थिराशुभे, अयशःकीर्त्तिनाम, पुरुषवेदश्चेति सप्ताशुभाऽध्रुवबन्धिनीनां च मिथ्यात्वाभिमुखः सर्वसंक्लिष्टः प्रमत्तयतिरुत्कृष्टानुभागं बध्नाति । अत्र सर्वसंक्लिष्टत्वमनुभागस्योत्कृष्टत्वं च मार्गणाप्रायोग्यं बोद्धव्यम्, कुतः? ओघसर्वसंक्लेशस्यासामोघोत्कृष्टरसस्य च मिथ्यादृष्टेरेव संभवात् प्रकृते च तस्याप्रवेशात् ॥१००॥अथ सामायिकछेदोपस्थापनीयरूपयोर्मार्गणयोरुत्कृष्टरसबन्धकान् निर्दिदिक्षुराह—

सामाइअछेएसुं मग्गणचरमसमये भवे खवगो ।
खवगो तिजसाईणं सेसाणं संयमव्व भवे ॥१०१॥

(प्रे०) 'सामाइअ' इत्यादि, सामायिक-छेदोपस्थापनीयरूपयोः संयमावान्तरमार्गणयोः 'तिजसाईणं' ति, यशःकीर्त्तिनाम,सातम् उच्चैर्गोत्रं चेति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसं मार्गणाचरमसमये क्षपको बध्नाति, किमुक्तं भवति? आसां त्रिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसमनिवृत्तिबादराख्यस्य नवमगुणस्थानकस्यान्तिमसमये बध्नाति, तत ऊर्ध्वं प्रकृतमार्गणोपरमात् । अत्र रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम्, ओघोत्कृष्टरसस्य दशमगुणस्थानकस्थक्षपकस्वामिकत्वात् । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां

पञ्चाशिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका अनन्तरोक्तसंयमौघमार्गणावदविशेषेण वाच्याः, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से अशुभवर्णादिचतुष्कम् उपघातनाम पञ्चान्तरायाश्चेति सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनाम् ,असातं शोकारती अस्थिराशुभे अयशःकीर्तिनाम पुरुषवेदश्चेतिसप्तानां च मिथ्यात्वाभिमुखः सर्वसंक्लिष्टः प्रमत्तयतिः हास्यरत्योस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः स एव, '[1]पणिंदि '[४]तसचउग परघू'[१]सास '[१]सुखगइ पण'[४]थिराई । '[८]सुहधुवबंधा'[१]गिई '[१]जिण '[२]सुर '[२]विउवा-'[२]हारजुगलाणि' इति एकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं तद्बन्धचरमसमयेऽपूर्वकरणगुणस्थानकस्थः सर्वविशुद्धः क्षपको बध्नाति ॥१०१॥

इदानीं परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकानभिधातुकाम आह—

परिहारे विण्णेयो बत्तीसजसाइगाण अपमत्तो ।
सव्वविसुद्धो उअ जो से काले भाविकयकरणो ॥१०२॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो हस्सरईणं भवे पमत्तमुणी ।
सेसाण पमत्तजई छेआहिमुहोऽत्थि तिव्वसंकिट्ठो ॥१०३॥ (गीतिः)

(प्रे०) **'परिहारे'** इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां '...'जस '[१]सायाणि । '[१]उच्च पणिंदि '[४]तसचउग '[१]परघू'[१]सास '[१]सुखगइ पण'[४]थिराई । '[८]सुहधुवबंधा'[१]गिइ '[१]जिण '[२]सुर '[२]विउ-वा'[२]हारजुगलाणि ।' इति । यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां सर्वविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिरुत्कृष्टरसं बध्नाति । अत्रोत्कृष्टत्वं रसस्य मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम् , ओघोत्कृष्टरसस्य सूक्ष्मसंपरायादिक्षपकस्वामिकत्वात् । **'भाविकयकरणो'** त्ति अत्र उतशब्दो विकल्पार्थकस्ततो विकल्पान्तरेण मतान्तरेणेति यावत् अनन्तरसमये'भाविकृतकरणो' 'भविष्यत्कृतकरणोऽप्रमत्तमुनिरायुरुत्कृष्टरसं निर्वर्तयति, अस्मिन् मते प्रस्तुतमार्गणायां तस्यैव सर्वोत्कृष्टविशुद्ध्यभ्युपगमात् , शेषं तथैव ।

'हस्सरईणं' हास्यरत्योस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः प्रमत्तमुनिरुत्कृष्टानुभागमुपरचयति, अत्रानुभागस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम् , ओघोत्कृष्टरसस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् । **'सेसाण'** त्ति उक्तशेषाणां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां छेदोपस्थापनीयसंयमाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः प्रमत्तयतिरुत्कृष्टरसं बध्नाति । तद्यथा–मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाद्यद्वादशकषायवर्जानामशुभध्रुवबन्धिनीनां सप्तविंशतिप्रकृतीनाम्, असातं शोकारती, अस्थिराशुभे, अयशःकीर्तिनाम पुरुषवेदश्चेतिसप्तानां चोत्कृष्टरसं यथोक्तः प्रमत्तयतिर्बध्नाति, परिहारविशुद्धिकस्य महात्मनश्छेदोपस्थापनीयगमनमन्तरेणाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थाने प्रतिपाताभावात् , यदुक्तं–**अभयदेवसूरिपादैर्व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्तौ**–परिहारविशुद्धिकसंयतः परिहारविशुद्धिकसंयतत्वं त्यजन् छेदोपस्थापनीयसंयतत्वं प्रतिपद्यते' इति । कालं कृत्वा देवत्वेनोत्पित्सोर्यद्यपि चतुर्थगुणस्थानकमायाति तथापि न तदभिमुखत्वं तस्य,

अभिमुखस्य तद्गुणप्राप्तिमन्तरेण मरणानभ्युपगमात् । अभिमुखस्वरूपं तु वक्ष्ये ॥१०२।१०३॥

अथ देशविरतिमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकानुपदर्शयितुकाम आह—

पयडीण जसाईणं तीसाए देसविरइम्मि ।
सव्वविसुद्धो मणुयो विण्णेयो संयमाहिमुहो॥१०४॥(उपगीतिः)
तप्पाउग्गकिलिट्ठो हस्सरईणऽत्थि तिव्वसंकिट्ठो ।
मिच्छाहिमुहो णेयो सेसाणं अट्ठतीसाए ॥१०५॥

(प्रे०) 'पयडीण' इत्यादि । देशविरतिसंयममार्गणायां '...जससायाणि । अड-पणिंदि-तस-चउग-परघूसास-सुखगइ-पणथिराई । सुहधुवबंधागिइ-जिण-सुर-विउव .. जुगलाणि' इति । यशःकीर्त्तिनामादीनां त्रिंशत्प्रकृतीनां संयमाभिमुखः सर्वविशुद्धो देशविरतिर्मनुष्य उत्कृष्टरसं बध्नाति न तिर्यक्, तिरश्चां देशविरतिसंभवेऽपि भवप्रत्ययेन संयमानर्हतया संयमाभिमुखत्वाभावात् । तस्माद् यथोक्तो मनुष्य एवात्र यशःकीर्त्तिनामादीनामुत्कृष्टरसबन्धकः । हास्यरत्योस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मनुष्यस्तिर्यग् वा, ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से ऽशुभवर्णादि-चतुष्कम् उपघातः पञ्चान्तरायाश्चेति अशुभध्रुवबन्धिनीनामेकत्रिंशतः, तथाऽसातं, शोकारती, अस्थिरा-शुभे, अयशःकीर्त्तिनाम, पुरुषवेदश्चेति सप्तानामित्येवं सर्वसंख्यया 'अट्ठतीसाए' त्ति अष्टात्रिंशत्प्रकृ-तीनामुत्कृष्टरसं मिथ्यात्वाभिमुखो मनुष्यो वा तिर्यग् वा बध्नाति । अत्रापि उत्कृष्टत्वं रसस्य मार्गणाप्रायोग्यं बोद्धव्यमोघोत्कृष्टरसस्य देशविरतेरसम्भवात् ॥१०४।१०५॥

अथ सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् निरूपयिषुराह—

सुहमे जसाइगाणं तिण्हं ओघव्व सेसपयडीणं ।
णेयो अंतिमबंधे उवसमसेणीअ णिवडंतो ॥१०६॥

(प्रे०) 'सुहमे' इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां यशःकीर्त्तिनाम्न सातम्, उच्चैर्गोत्रं चेति त्रिप्रकृतीनां 'ओघव्व' त्ति ओघवत् दशमगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्त्तमानोऽनन्तरसमये क्षीणमोहगुणस्थानकं प्रतिपित्सुः क्षपक उत्कृष्टानुभागमुपरचयति । 'सेसपयडीणं' ति उक्तशेषा-णामत्र संभाव्यमानबन्धानां पञ्चज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणपञ्चान्तरायरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामुत्कृष्टा-नुभागमुपशमश्रेण्या निपतन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धया वर्धमानसंक्लेशः दशमगुणस्थानकचरम-समये वर्त्तमानो बध्नाति । किमुक्तं भवति—? दशमगुणस्थानकस्य चरमसमये वर्त्तमानोऽनन्तर-समये नवमगुणस्थानकं प्रतिपित्सुरवरोहकोपशमक एतासामुत्कृष्टरसं निर्वर्तयति । प्रस्तुतमार्गणायां तस्यैव मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टत्वेन तदुत्कृष्टरसनिर्वर्तकत्वादिति ॥१०६॥

इदानीमसंयममार्गणायामाह—

अयते सम्मादिट्ठी सव्वविसुद्धोऽत्थि संयमाभिमुहो ।
तीसाअ जसाईणं ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥१०७॥

(प्रे०) **'अयते'** इत्यादि, असंयममार्गणायां मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा जीवो यथास्थानमुत्कृष्टरसबन्धको ज्ञेयः । तत्र '...[1]जस [1]सायाणि । [1]उच्च [1]पणिंदि [४]तसचउग [1]परघू [1]सास [1]सुखगइ-[४]पणथिराई । [८]सुहधुवबंधा [1]गिइ [1]जिण [२]सुर [२]विउव....जुगलाणि' । इति त्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागं सर्वविशुद्धः संयमाभिमुखः सम्यग्दृष्टिः मनुष्य उपनिबध्नाति । नारकतिर्यग्देवानां संयमाभिमुखत्वायोगात् । अत्रानुभागस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं विज्ञेयम्, आसामोघोत्कृष्टरसस्य सूक्ष्मसम्परायादिक्षपकस्वामिकत्वात् । **'सेसाणं'**ति उक्तशेषाणामष्टाशीतिप्रकृतीनामोघवदुत्कृष्टरसबन्धका भवन्ति । **तद्यथा**—'[1]णपुम [1]सायं सोगारइ [1]हुंड [1]णीआणि । सरवज्जा [४]अथिराई [1]दुस्सर [1]कुखगइ' इति त्रयोदशानां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां च संज्ञी मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टतमश्चतुर्गतिकः । 'थी पुरिसं हस्सरई मज्झिमसंघयणआगईओ य' इति द्वादशानां संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टश्चतुर्गतिकः । सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकयोर्यथोक्तविशेषणविशिष्टो मनुष्यो वा तिर्यग् वा, नरकद्विकस्य संज्ञी मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टतमो मनुष्यस्तिर्यग् वा, सेवार्त्तनाम तिर्यग्द्विकम् इति त्रिप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो नारकः देवो वा, नरद्विकमौदारिकद्विकं वज्रऋषभनाराचं चेति पञ्चानां सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धः सुरः, मतान्तरेण तादृग् नारकोऽपि । एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्भवनपत्यादीशानान्तो देवः । उद्योतनाम्नो मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमः सप्तमपृथ्वीनारकः, आतपस्य मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो देव ईशानान्तो मतान्तरेण मनुष्यतिर्यञ्चावपि बध्नत उत्कृष्टरसम् । अत्र भावनौघवत् ।

यद्यपि सर्वत्राशुभध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसस्तीव्रसंक्लेशेन बध्यते तथापि संयमज्ञानोत्तरभेदेषु अशुभप्रकृत्यन्तर्गतस्य मतिज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसाल्पबहुत्वमत्र दर्श्यते । तदपि सुबोधार्थं स्थापनयैव, तद्यथा—

	कुत्र ?	कस्य ?	उत्कृष्टरसः
	सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	सर्वाल्पः
ततः	परिहारविशुद्धिमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	अनन्तगुणः
ततः	मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	अनन्तगुणः
ततः	सामायिकचारित्रमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	अनन्तगुणः
ततः	छेदोपस्थापनीयचारित्रमार्ग०	मतिज्ञानावरणस्य	तुल्यः
ततः	संयमौघमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	तुल्यः

ततः	देशविरतिमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	अनन्तगुणः
ततः	मतिज्ञानमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	अनन्तगुणः
ततः	श्रुतज्ञानमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	तुल्यः
ततः	अवधिज्ञानमार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	तुल्यः
ततः	असंयममार्गणायां	मतिज्ञानावरणस्य	अनन्तगुणः
ततः	मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० विभंगज्ञान०	मतिज्ञानावरणस्य	तुल्यः

शेषाशुभप्रकृतीनामपि अनया दिशाल्पबहुत्वं यथासंभवं विचारयितुं पार्यते ॥१०७॥
अथ लेश्यामार्गणासु प्रकृतं बिभणिषुरादौ तावत्कृष्णलेश्यामार्गणायामाह—

किण्हाअ विसुद्धयमो सम्मो देवो णराइतीसाए ।
देवविउव्वदुगाण दुगइयो ओघव्व सेसाणं ॥१०८॥
अण्णे उ विसुद्धयमो सम्मो णिरयो णराइतीसाए ।
अइसंकिट्ठो णिरयो तिछिवट्ठाईण मिच्छत्ती ॥१०९॥
सव्वविसुद्धो सम्मो दुगइट्ठो सुरविउव्वियदुगाणं ।
एगिंदिथावराणं सण्णी मिच्छो तदरिहसंकिट्ठो ॥११०॥(गीतिः)
आयवणामस्स भवे सण्णी तिरियो णरो व मिच्छत्ती ।
तप्पाउग्गविसुद्धो सेसाणोघव्व विण्णेयो ॥१११॥

'किण्हाअ' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां...'णरुरलदुगवइराणि जससायाणि ॥ उच्चपणिं-दितसचउगपरघूसासुसुखगइपणथिराई। सुहधुवबंधागिइ।' इति प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मनुष्यद्विकादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्देवः एव, कुतः ? मनुष्यतिरश्चां तावत्यां विशुद्धौ प्रस्तुतलेश्याऽपगमेन मार्गणापरावृत्तेः । नारकाणां च तथाविधविशुद्धयभावात् । मिथ्यादृष्टेः सकाशात् सम्यग्दृष्टेर्विशुद्धतरत्वादुक्तं 'सम्मो' इति । सम्यग्दृशामपि तेषां न सर्वेषा-मुत्कृष्टरसबन्धः, अत उक्तं 'विसुद्धयमो' इति । 'देवे'त्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्द्विगतिकः मनु-ष्यस्तिर्यक् चेति भावः, देवनारकाणां भवप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात् । विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिश्चेति बन्धकस्य विशेषणद्वयमिहापि सम्बध्यते, निरुक्तविशेषणविरहितानां मनुजतिरश्चां तदुत्कृष्टरसबन्ध-कत्वायोगात् । अत्र मनुष्यतिरश्चां संभाव्यमाना सर्वविशुद्धिर्ज्ञेया, न तु मार्गणाप्रायोग्या, तस्यास्तु देवानामेव सम्भवात् । 'ओघव्वे' त्यादि, उक्तशेषाणां त्र्यशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका

ओघोक्ता ज्ञेयाः, कुतः ? ओघोक्तस्वामिनामिहाप्यन्तर्भावात् । 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः' सेवार्तनाम्नो नारक एव वाच्यः न त्वोघवद् देवोऽपि, सनत्कुमारादिदेवानां प्रस्तुतलेश्याकत्वाभावात् । पञ्चेन्द्रियजातिः कुखगतिः दुस्वर इति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धकः प्रस्तुतमार्गणायां त्रिगतिको वाच्यः, नत्वोघवच्चातुर्गतिकः, देवानाश्रित्य भवनपतिव्यन्तराणामेव प्रस्तुतमार्गणान्तःप्रवेशात् ,ओघे तु ईशानान्तव्यतिरिक्तानेवाश्रित्योक्तत्वात् । इमाश्च तास्त्र्यशीतिप्रकृतयः,-त्रिचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः तिर्यग्द्विकं नरकद्विकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरदशकमातपोद्योतनाम्नी असातवेदनीयं हास्यरती शोकारती त्रयो वेदाः नीचैर्गोत्रञ्चेति । अथ मतान्तरं प्रतिपिपादयिषुराह-'अण्णे उ' इत्यादिना, 'अन्ये' 'महाबन्धकारादयः' ते च एवं प्रतिपादयन्ति, तद्यथा-इहोक्तानां मनुष्यद्विकादीनां त्रिंशत उत्कृष्टरसबन्धको विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिर्नारकः, कुतः ? अस्मिन् मते देवानां पर्याप्तकानामप्रशस्तलेश्यानभ्युपगमात् । मनुजतिरश्चां तथाविधविशुद्धत्वे कृष्णलेश्यापगमेन मार्गणाऽपगमात् । अइसंकिट्ठो' इत्यादि, सेवार्त्तनामतिर्यग्द्विकरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्नारकः, देवानामपर्याप्तावस्थायामेवाऽप्रशस्तलेश्याभ्युपगमेन तीव्रसंक्लिष्टत्वाभावात् । मनुजतिरश्चां तीव्रसंक्लिष्टत्वे नरकप्रायोग्यबन्धसद्भावेन तद्बन्धाभावादुक्तं 'णिरयो' इति । मिथ्यादृशामेव तदुत्कृष्टरसबन्धभावादुक्तं 'मिच्छत्ती' ति । अतीव्रसंक्लिष्टस्य तस्य न तदुत्कृष्टरसबन्धः अत उक्तम् 'अइसंकिट्ठो' इति ।

'सव्वविसुद्धो' इत्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टरसबन्धकः तद्योग्यसर्वविशुद्धसम्यग्दृष्टिर्द्विगतिस्थः मनुष्यस्तिर्यङ्वेति भावः, देवनारकाणां तद्बन्धानर्हत्वात् । 'एगिंदि' इत्यादि, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोरुत्कृष्टरसबन्धकः पूर्वार्धगतस्य 'दुगइट्ठो' इति पदस्याऽनुकर्षणात् मनुष्यस्तिर्यङ् वा, नारकाणां तथास्वाभाव्येन तद्बन्धाभावात् , देवानामपर्याप्तकानामेवाऽप्रशस्तलेश्याभ्युपगमेनोत्कृष्टरसबन्धायोगात् । तीव्रक्लिष्टस्य विंशतिसागरोपमकोटिकोटिमितवर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धकस्य मनुष्यस्य तिरश्चो वा नरकप्रायोग्यबन्धसद्भावादुक्तं 'ईसरिईसंकिट्ठो' इति यदा तु तदर्हसंक्लेशं भजन् मनुष्यस्तिर्यङ् वैकेन्द्रियस्थावरनाम्नोरष्टादशसागरकोटिकोटीमितां वर्गानुकृष्टां स्थितिं बध्नाति तदा तदुत्कृष्टरसबन्धं करोतीति भावः ।

'आयवे' त्यादि, आतपनाम्नस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यङ् मनुष्यो वा,उत्कृष्टरसबन्धक इति प्रकरणगम्यम् । आतपनाम्न एकेन्द्रियजातिबन्धसहचरितत्वेन नारकाणाञ्च नैरन्तर्येण पञ्चेन्द्रियजातेर्बन्धसद्भावेन तेषां तद्बन्धाभावादुक्तं 'तिरियो णरो व' इति । सम्यग्दृष्टेस्तद्बन्धाभावात् 'मिच्छत्ती' ति, असंज्ञिनस्तदुत्कृष्टबन्धकत्वायोगात् 'सण्णी' ति सर्वविशुद्धस्य पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् 'तप्पाउग्गविसुद्धो' इति । 'सेसाण'त्ति

उत्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां सप्तसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धक ओघवद् विज्ञेयः, पूर्वोक्तादेव हेतोः । ताश्च सप्तसप्ततिः पूर्वोक्ताष्टसप्ततिप्रकृतिभ्यः तिर्यग्द्विकसेवार्त्तैकेन्द्रियजातिस्थावरातपनामानि वर्जयित्वा ज्ञेयाः, तिर्यग्द्विकादीनामिह पृथगुक्तत्वात् । इदमत्र हृदयम्—प्राग् यत्र देवानप्याश्रित्यो-त्कृष्टरसबन्धका उक्ता अस्मिन् मते तान् वर्जयित्वा ते द्रष्टव्याः, शेषं सर्वं तथैवेति ॥१०८।१०९। ११०।१११॥

अथ नीललेश्यामार्गणायामाह—

णीलाए मिच्छत्ती णिरयो देवो व तिव्वसंकिट्ठो ।
एगारह-णपुमाइग-तिरिदुग-असुहधुवबंधीणं ॥११२॥
तीमाअ णराईणं देवो सम्मो भवे विसुद्धयमो ।
थीआइबारसण्हं तदरिहकिट्ठोऽत्थि दुगइयो मिच्छो ॥११३॥(गीतिः)
सुरविउव्वदुगाण भवे सम्मत्ती दुगइयो विसुद्धयमो ।
णिरयदुगस्स दुगइयो सण्णी मिच्छो तदरिहसंकिट्ठो ॥११४॥(गीतिः)
णिरयो तिव्वकिलिट्ठो मिच्छत्ती तिण्ह दूसराईणं ।
उज्जोअस्स उ सण्णी मिच्छत्ती तदरिहविसुद्धो ॥११५॥
तित्थस्स मणुस्सो चिअ सम्मत्ती होइ तदरिहविसुद्धो ।
सेसाणं पयडीणं एवण्ह ओघव्व विण्णेयो ॥११६॥

(प्रे०) 'णीलाए' इत्यादि, नीललेश्यामार्गणायाम् 'एगारह' त्यादि, उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्व-द्वारस्तकप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानामेकादशानां नपुंसकवेदादीनां तिर्यग्द्विकस्य त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्त-ध्रुवबन्धिनीनाञ्चेति सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्या-दृष्टिर्नारको देवो वा, मनुजतिरश्चां तीव्रसंक्लिष्टत्वे प्रस्तुतलेश्याऽपगमेन मार्गणाया अनवस्थानात् । तद्यथा—इमा हि अप्रशस्ताः प्रकृतयः, अप्रशस्तानामुत्कृष्टरसबन्धं तदुत्कृष्टस्थितिबन्धकः करोति, नीललेश्याकमनुजतिर्यञ्चस्तूत्कृष्टतोऽपि अन्तःकोटिकोटिसागरमितामेव स्थितिं बध्नन्ति, ततो न ते तदुत्कृष्टरसबन्धकाः । देवनारकाणान्तु अवस्थितलेश्याकत्वेन तैर्वर्गोत्कृष्टस्थितिरपि बध्यते इति । 'तीसाअ' इत्यादि, सुगमम् । हेत्वादिकं कृष्णलेश्यामार्गणोक्तं ज्ञेयम् ।

'थीआइ' इत्यादि, 'थी पुरिसं हुस्सरई मज्झिमसंघयणआगईओ य' इति स्त्रीवेदादीनां द्वादशानामुत्कृष्टरसबन्धकः तदर्हक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्द्विगतिकः देवो नारको वेत्यर्थः, मनुजतिरश्चां स्वल्पस्थितिबन्धकत्वेन तदुत्कृष्टरसबन्धाभावात् । आसां वर्गोत्कृष्टस्थितिकत्वाभावादुक्तं 'तदरिह-

किट्ठो' इति । स्त्रीवेदादीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावात् पुरुषवेदहास्यरतीनां तु बन्धसद्भावेऽपि उत्कृष्टरसबन्धाभावाच्चोक्तम् 'मिच्छो' इति ।

'सुरविउव' इत्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिर्द्विगतिकः मनुष्यस्तिर्यग् वा । हेत्वादिकं कृष्णलेश्योक्तं विज्ञेयम् । 'णिरयदुगस्से' त्यादि गतार्थम् । नवरं तीव्रक्लिष्टस्य मनुष्यस्य तिरश्चो वा प्रस्तुतमार्गणाऽनवस्थानादुक्तं 'तदरिहसंकिट्ठो' इति । द्विगतिकः नाम मनुजस्तिर्यग् वा, देवनारकाणां तद्बन्धाभावात् । 'णिरयो' इत्यादि, सुगमम् । नवरं 'तिण्ह' त्ति दुस्वरः कुखगतिः सेवार्त्तनामेति तिसृणां प्रकृतीनाम् । मनुजतिरश्चां तीव्रसंक्लिष्टत्वे मार्गणाऽनवस्थानात् देवानाञ्च तथात्वे एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धप्रवर्त्तनेन तद्बन्धाभावात् नारकस्य ग्रहणम् । 'उज्जोअस्स' इत्यादि, गतार्थम् । नवरं विशेषनिर्देशाभावात् चातुर्गतिको बोध्यः, गतिचतुष्के तदर्हविशुद्धेरविरोधात् । सर्वविशुद्धस्य मनुष्यादिप्रायोग्यबन्धकत्वेन तिर्यग्गतिप्रायोग्यस्योद्योतनाम्नो बन्धाभावात् । 'तित्थस्से' त्यादि कण्ठ्यम् । नवरं तिरश्चां प्रस्तुतमार्गणागतदेवनारकाणाञ्च तद्बन्धाभावात् मनुष्यस्य ग्रहणम् । 'सेसाणं' इत्यादि, ओघवत्तु ओघोक्तस्वामिनामिहाऽन्तर्भावात् , इमाश्च ता उक्तशेषाः नवप्रकृतयः,-जातिचतुष्कं स्थावरचतुष्कमातपनाम चेति ॥११२।११३।११४।११५। ११६॥ अथ नीललेश्यामार्गणायामेवान्याचार्याभिप्रायेण प्रस्तुतमाह—

केइ उण बिंति णिरयो मिच्छत्ती होइ तिव्व संकिट्ठो ।
सोलसणपुमाईणं तह अपसत्थधुवबंधीणं ॥११७॥
तीसाअ णराईणं णिरयो सम्मो भवे विसुद्धयमो ।
थीआइबारसण्हं मिच्छो णिरयो तदरिहसंकिट्ठो ॥११८॥ (गीतिः)
सव्वविसुद्धो सम्मो दुगइट्ठो सुरविउव्वियदुगाणं ।
आयवदुगस्स सण्णी मिच्छत्ती तदरिहविसुद्धो ॥११९॥
तित्थयरस्स मणुस्सो सम्मत्ती होइ तदरिहविसुद्धो ।
सेसाणं दुगइट्ठो सण्णी मिच्छो तदरिहसंकिट्ठो ॥१२०॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'केइ' इत्यादि, केचिन्महाबन्धकारादय इत्यर्थः ब्रुवन्ति, नीललेश्यामार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकान् वक्ष्यमाणस्वरूपान् इति गम्यते तद्यथा–'सोलसे' त्यादि, 'णपुमसायं सोगारइहुंडणीआणि । सरवज्जा अथिराई दुस्सर कुखगइ छिवट्ठणामाणि । तिरियदुग' मिति नपुंसकवेदादीनां प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां षोडशप्रकृतीनाम् , तथाशब्दस्य समुच्चायकत्वात् त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनाञ्चोत्कृष्टरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्नारकः, प्रस्तुतमार्गणायां मनुजतिरश्चां संक्लेशसद्भावेऽपि अन्तःकोटिकोटिसागरमिताया एव स्थितेर्बन्धप्रवर्त्तनात्

अस्मिन् मते देवानां पर्याप्तावस्थायामप्रशस्तलेश्याऽभावाच्च, नारकस्य ग्रहणम् । यतः तीव्रसंक्लिष्टो नारको विंशतिसागरकोटिकोटिमितामेतासामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन् उत्कृष्टरसबन्धमपि विदधाति नपुंसकवेदादीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावात् , सत्यपि बन्धेऽसातवेदनीयादीनां तस्य तदुत्कृष्टरसबन्धाभावात् उक्तम् 'मिच्छत्ती' इति । अतीव्रसंक्लिष्टस्योत्कृष्टरसबन्धायोगात् 'तीव्रसंक्लिष्ट' इति । 'तीसाअ' इत्यादि, कृष्णलेश्योक्तानां त्रिंशतो मनुष्यद्विकादीनां सम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमो नारकः, हेतुः कृष्णलेश्यामार्गणोक्त एव । स्त्रीवेदादीनां द्वादशानां तदर्हक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्नारकः देवानां तथाविधसंक्लेशाभावात् । यतः अपर्याप्तकानामेव तेषां प्रस्तुतमार्गणान्तःप्रवेश इति । मनुजतिरश्चां संक्लेशशुद्धौ मार्गणापगमाच्च ।

'सुरविउव्वे' त्यादि, सुगमम् , प्रागुक्ताद् विशेषाभावात् । 'आयवे' त्यादि, आतपनामोद्योतनाम्नोः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तदर्हविशुद्धः, अत्र 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः' आतपनाम्नस्तथाविधो मनुष्यस्तिर्यक्चैव बोध्यः, नारकस्य तद्बन्धाभावात् । उद्योतनाम्नस्तु नारकोऽपि, तस्य तद्बन्धाविरोधात् । 'तित्थयररसे' त्यादि गतार्थम् , प्रागुक्तेर्विशेषाभावात् । 'सेसाण' मित्यादि, उक्तशेषाणां दशप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संज्ञी तदर्हसंक्लिष्टः द्विगतिस्थो मनुष्यस्तिर्यग् वा भवति। इमाश्चता उक्तशेषा दशप्रकृतयः.-नरकद्विकं जातिचतुष्कं स्थावरचतुष्कञ्चेति ॥११७।११८।११९। १२०॥ अथ तत्तुल्यवक्तव्यत्वात् कापोतलेश्यामार्गणायामतिदिशन्नाह—

णीलसमो काऊए णेयो सव्वाण बंधगो णवरं ।
तित्थस्स विसुद्धयमो सम्माद्दिट्ठी भवे णिरयो ॥१२१॥

(प्रे०) 'णीलसमो' इत्यादि, कापोतलेश्यामार्गणायां सर्वासामष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनाम् 'बंधगो' त्ति प्रस्तावादुत्कृष्टरसबन्धकः 'णीलसमो' ति नीललेश्यावद् भवति । अनन्तरोक्तवद् भवतीति भावः, कुतः ? तुल्यगतिकस्वामिकत्वात् , किमविशेषेण ? नेत्याह 'णवर' मित्यादि, जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धको विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिः नारको भवेत् । अयं भावः—नीललेश्यायां प्रस्तुतबन्धकतया मनुष्य उक्तः । इह तु स न भवति, यतः मनुष्यस्यैतावत्यां विशुद्धौ कापोतलेश्याऽपगच्छति, तस्याऽनवस्थितलेश्याकत्वात् । नारकस्य तु अवस्थितलेश्याकत्वेन न मार्गणाऽपगम इति । अयं नारकः विशुद्धकापोतलेश्याकमनुष्यापेक्षयाऽनन्तगुणं रसं बध्नातीत्यपि बोद्धव्यम् ॥१२१॥ अथ तेजोलेश्यामार्गणायामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् निर्दिदिक्षुराह—

तेऊअ जसाईणं बत्तीसाए अपमत्तो ।
सव्वविसुद्धो अहवा से काले भाविकयकरणो ॥१२२॥

बारहथीआईणं मिच्छो देवो तदरिहसंकिट्ठो ।
देवो सव्वविसुद्धो सम्मत्ती पणणराईणं ॥१२३॥
मिच्छत्ती देवो खलु तिदुस्सराईण तदरिहकिलिट्ठो ।
आयवदुगस्स तदरिहसुद्धो सेसाण तिव्वसंकिट्ठो ॥१२४॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'तेऊअ' इत्यादि । तेजोलेश्यामार्गणायां बन्धकतया त्रिगतिका जीवा लभ्यन्ते नारकाणां तेजोलेश्याऽयोगात्, तत्र·········जस सायाणि ॥ उबपणिंदितसचउगप घूसाम सुखगइ पणथिराई । सुहधुवबंधागिइ जिण सुर विउवाहारजुगलाणि' इति द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं **'अपमत्तो'** त्ति अप्रमत्तमुनिः सर्वविशुद्धः, **'अहवा'** अथवेति पक्षान्तरद्योतने, ततः पक्षान्तरेण स एवानन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणो बध्नाति, तस्यैव सर्वविशुद्धत्वाभ्युपगमात् । अत्र रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयमोघोत्कृष्टरसबन्धस्य सूक्ष्मसम्परायादिक्षपकस्वामिकत्वात् । '[1]थी [1]पुरिसं [2]हस्सरई मज्झिम[4]संघयण[4]आगईओ य' इति द्वादशानां मिथ्यादृष्टिस्तदर्हक्लिष्टो देवः, नारकाणां तेजोलेश्याकत्वायोगात् तेजोलेश्यावतां मनुष्यतिरश्चामुत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटाकोटीमितस्थितिबन्धसद्भावेन तदुत्कृष्टरसनिर्वर्तकत्वायोगात् यथोक्तो देव एवोत्कृष्टरसं निर्वर्तयति, स चेशानान्तो बोध्यः सनत्कुमारादीनां तेजोलेश्याऽयोगात् । **'पणणराईणं'** मनुष्यद्विकम्, औदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो देव ईशानान्तः, कुतः ? तेजोलेश्यावतां मनुष्यतिरश्चां तद्बन्धायोगात् । **'तिदुस्सराईण'** त्ति दुःस्वरः कुखगतिः सेवार्त्तनाम चेति प्रकृतित्रयस्य मिथ्यादृष्टिस्तदर्हक्लिष्ट ईशानान्तो देव उत्कृष्टरसबन्धकः । अत्र रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं बोध्यम् । अनन्तरगाथाविवरणोक्तानां द्वादशानां स्त्रीवेदादिप्रकृतीनामपि यथोक्तो देव एव बन्धकः किन्तु तासामोघोत्कृष्टरसं बध्नाति, अस्य च प्रकृतित्रयस्य मार्गणाप्रायोग्यमिति ख्यापनाय पृथगुपादानम् । ननु कुतोऽत्र दुःस्वरादीनां त्रिप्रकृतीनामोघोत्कृष्टरसो न बध्यते ? उच्यते, दुःस्वरादीनामोघोत्कृष्टरसस्तु आसां विंशतिकोटिकोटिसागरमितस्थितिबन्धकेनैव संचीयते न च तेजोलेश्यायामासामेतावती स्थितिर्बध्यते एतस्यास्तीव्रसंक्लेशसाध्यत्वात्, प्रकृते तादृक्संक्लेशवतो देवस्य एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धायोगात् । यदा तु तदर्हक्लिष्टः सन् देवः पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं कर्म बध्नन् अष्टादशकोटिकोटिसागरमितामासां स्थितिं बध्नाति, तदा मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसो जायते, न ओघोत्कृष्टरस इति । **'आयवदुगस्स'** आतपनाम्न उद्योतनाम्नश्चोत्कृष्टानुभागं तदर्हविशुद्धो मिथ्यादृष्टिरीशानान्तो देवो निर्वर्तयति । इहाऽऽतपस्यौघोत्कृष्टरसः, उद्योतस्य च मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसो बोध्यः, ओघोत्कृष्टरसस्वामिनस्तु सप्तमपृथ्वीनारकाः प्रकृते च तदप्रवेशात् । **'सेसाणं'** ति उक्तशेषाणां त्रिचत्वारिंशद्-

शुभध्रुवबन्धिनीनां, 'णपुमसायं सोगारइदु ंडणीआणि । सरवज्जा अथिराई' इति एकादशानां, तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नां चेति सर्वसंख्ययाऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्ट ईशानान्तो देव उत्कृष्टरसं बध्नाति ॥१२२।१२३।१२४॥

अथो पद्मलेश्यामार्गणायामुत्कृष्टानुभागबन्धकान् दर्शयति—

पउमाअ जसाईणं बत्तीसाए हवेज्ज अपमत्तो ।
सव्वविसुद्धो अहवा से काले भाविकयकरणो ॥१२५॥
थीआइबारसण्हं मिच्छो देवो तदरिहसंकिट्ठो ।
सव्वविसुद्धो . देवो सम्मत्ती पणणराईणं ॥१२६॥
मिच्छादिट्ठी देवो उज्जोअस्सऽत्थि तदरिहविसुद्धो ।
अइसंकिट्ठो देवो मिच्छत्ती होइ सेसाणं ॥१२७॥

(प्रे०) **'पउमाअ'** इत्यादि, पद्मलेश्यायामपि नरकवर्जा जीवा बन्धकतया द्रष्टव्याः । तत्र संग्रहगाथोक्तानां यशःकीर्तिनामाद्याहारकद्विकपर्यन्तानां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां सर्वविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिरुत्कृष्टरसं बध्नाति । **'अहवा'** अथवेति मतान्तरद्योतने, ततो मतान्तरेणानन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणोऽप्रमत्तमुनिस्तं बध्नाति, तस्यैव सर्वविशुद्धत्वाभ्युपगमात् । अत्रोत्कृष्टत्वं रसस्य मार्गणाप्रायोग्यं बोध्यम् , ओघोत्कृष्टरसस्य सूक्ष्मसम्परायक्षपकस्वामिकत्वात् ! 'थी पुरिसं हस्सरई मज्झिमसंघयणआगईओ य इति स्त्रीवेदादीनां द्वादशानां मिथ्यादृष्टिर्देवः सनत्कुमारादिसहस्रारान्त एवोत्कृष्टरसं बध्नाति, आनतादिदेवानां पद्मलेश्याऽयोगात् , पद्मलेश्यावतां मनुष्यतिरश्चां तद्बन्धायोगाच्च । **'पणणराईणं'** ति नरद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चानां प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो देवः सहस्रारान्तः । **'उज्जोअस्स'** त्ति उद्योतस्योत्कृष्टरसं तदर्हविशुद्धो देवः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो बध्नाति, ओघोत्कृष्टरसस्य सप्तमनरकस्वामिकत्वात् अस्येह मार्गणाप्रायोग्य उत्कृष्टरसो ज्ञेयः । **'सेसाणं'** ति उक्तव्यतिरिक्तानामेकोनषष्टिप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टो देव उत्कृष्टरसं बध्नाति । इमाश्च ता एकोनषष्टिप्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं, मिथ्यात्वमोहनीयं, षोडशकषायाः, भयजुगुप्से, अशुभवर्णादिचतुष्कम् उपघातोऽन्तरायपञ्चकं चेति त्रिचत्वारिंशद्शुभध्रुवबन्धिन्यः '[1]णपुम [1]साय [2]सोगारइ [1]हुंड [1]णीआणि । सरवज्जा [4]अथिराई [1]दुस्सर कुखगइ [1]छिवट्ठणामाणि । [2]तिरियदुगं' इति षोडश चेति । अत्रोत्कृष्टरसमित्यनेनौघोत्कृष्टरसमिति वाच्यम् , पद्मलेश्यामार्गणायामोघोत्कृष्टसंक्लेशस्य संभवेन ज्ञानावरणादीनामोघोत्कृष्टरसस्याप्रतिषेधात् । तदेवं कृतात्र संभाव्यमानबन्धानां नवोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकप्ररूपणा इति ॥१२५।१२६।१२७॥

सम्प्रति शुक्ललेश्यामार्गणायामुत्कृष्टानुभागबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह—

सुइलाअ जसाईणं बत्तीसाए हवेज्ज ओघव्व ।
सव्वविसुद्धो देवो सम्मत्ती पणणराईणं ॥१२८॥
मिच्छादिट्ठी आणतसुरो य थीआइबारसण्हं तु ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सेसाणं तिव्वसंकिट्ठो ॥१२९॥

(प्रे०) **'सुइलाअ'** त्ति इह तिर्यक्प्रायोग्या नरकप्रायोग्याश्च प्रकृतयो नैव बध्यन्ते, अतः सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकतिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योतनामलक्षणाः चतुर्दशप्रकृतीर्वर्जयित्वा षडुत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकविचारणात्र प्रस्तुता । तत्र यशःकीर्त्तिनामाद्याहारकद्विकपर्यन्तानां प्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामोघवदुत्कृष्टरसबन्धको ज्ञेयः, **तद्यथा**–यशःकीर्त्तिनाम, सातम् उच्चैर्गोत्रं चेति त्रिप्रकृतीनां क्षपको दशमगुणस्थानकस्यापश्चिमसमये, पञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कपराघातोच्छ्वाससुखगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयशुभवर्णादिचतुष्कतैजसशरीरनाम-कार्मणशरीरनामाऽगुरुलघुनिर्माणसमचतुरस्रजिननामदेवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपाणामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां क्षपकोऽपूर्वकरणगुणस्थानकस्य षट्सु भागेषु गतेषु तद्बन्धचरमसमये उत्कृष्टरसं निर्वर्तयति । अत्र भावना सुगमत्वात् स्वयं कार्या । **'पणणराईणं'** ति नरद्विकमौदारिकद्विकं वज्रऋषभनाराचं चेति पञ्चानां सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो देव उत्कृष्टानुभागमुपरचयति, मिथ्यादृष्टेरल्पविशुद्धसम्यग्दृष्टेश्चासामुत्कृष्टानुभागबन्धासंभवात् विशेषणद्वयोपादानम् । **'थीआइबारसण्हं'** ति स्त्रीवेदपुरुषवेदहास्यरतिमध्यमसंहननचतुष्कमध्यमसंस्थानचतुष्करूपाणां द्वादशानां मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः **'आनतसुरो य'** आनतसुरः, अत्र चकारस्य मतान्तरद्योतकत्वात् मतान्तरेणानतादिसुरः उत्कृष्टरसं निर्वर्तयति आदिशब्देन प्राणतादिरपीति ज्ञेयम् । आसामुत्कृष्टरसो मार्गणाप्रायोग्यो ज्ञेयः,उत्कृष्टतोऽपीहान्तःकोटाकोटिसागरमितस्थितेरेव बध्यमानत्वात् ,न च तावन्मात्रस्थितिबन्धकस्याशुभप्रकृतीनामोघोत्कृष्टरसो घटते, तदुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकसाध्यत्वादिति । **'सेसाणं'** ति त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां 'णपुमसायं सोगारइ हुंडणीआणि ॥ सरवज्जा अथिराई दुस्सर-कुखगइ-छिवट्ठणामाणि' इति चतुर्दशानां चानतदेवो मतान्तरेणानतादिः देवस्तीव्रसंक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति । तीव्रसंक्लिष्टत्वं चात्र मार्गणाप्रायोग्यं बोध्यम् , ओघतीव्रसंक्लेशस्य मार्गणायाः प्रशस्तत्वेनेहानवकाशात् । रसोऽपि मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टो बोध्यः नौघोत्कृष्टः, तस्य प्रभूतसंक्लेशसाध्यत्वात् ॥१२८।१२९॥

गता लेश्यामार्गणाः । अथाभव्यमार्गणायामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् दिदर्शयिषुराह–

अभवे सव्वविसुद्धो सण्णी उअ दव्वसंयतो मणुसो ।
पणवीसजसाईणं तह देवविउव्वजुगलाणं ॥१३०॥
सव्वविसुद्धो णिरयो देवो वा अत्थि पणणराईणं ।
तदरिहसुद्ध तमतमो उज्जोअस्स इयराण ओघव्व ॥१३१॥ गीतिः)

(प्रे०) 'अभवे' इत्यादि, अभव्यमार्गणायां '......[1]जस [2]सायाणि ॥ [3] उच्चपणिंदि [4]तस चउग [5]परघू[6]सास [7]सुखगइ पणथिराई। [8]सुहधुवबधा[9]गिइ ।' इति पञ्चविंशतिप्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसबन्धकः 'सण्णी उअ' त्ति, संज्ञी चतुर्गतिकः उतशब्दस्य विकल्पार्थकत्वात् मतान्तरेणेत्यर्थः द्रव्यसंयतो मनुष्य उत्कृष्टरसं निर्वर्तयति। 'तह देवविउव्वजुगलाणं' तथाशब्दः साम्यार्थः, ततश्च पूर्ववदेव देवद्विकवैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टरसबन्धको ज्ञेयः, किमुक्तं भवति ? देवद्विकवैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टरसबन्धकः सर्वविशुद्धः संज्ञी अत्र 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तिः' इति न्यायात् संज्ञीति सामान्योक्तावपि देवनारकवर्जः द्विगतिकः संज्ञी बोध्यः, देवनारकाणां तत्प्रकृतिबन्धस्वामित्वप्रतिषेधात्, तदपि कुतः ? तेषां तत्रोत्पादाभावदिति । मतान्तरेण द्रव्यसंयतो मनुष्योऽस्ति ।

'पणणराईण' त्ति नरद्विकमौदारिकद्विकं वज्रऋषभनाराचं चेति पञ्चानां सर्वविशुद्धो नारको देवो वोत्कृष्टरसं निर्वर्तयति । इह सर्वत्र सर्वविशुद्धत्वं बन्धकस्योत्कृष्टत्वं च रसस्य मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम्, ओघसर्वविशुद्धेरासामोघोत्कृष्टरसस्य च यथायथं सम्यग्दृष्ट्यादौ भव्य एव सम्भवात् । 'उज्जोअस्स' त्ति उद्योतनाम्न उत्कृष्टानुभागं तदर्हविशुद्धस्तमस्तमाः सप्तमपृथ्वीनारको बध्नाति । अत्रापि अनुभागस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं वेदितव्यमोघोत्कृष्टरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमपृथ्वीनारकस्वामिकत्वादिह च सम्यक्त्वाभिमुखत्वायोगात् ।

'इयराण' त्ति इतरासामुक्तव्यतिरिक्तानां द्व्यशीतेः प्रकृतीनामोघवदुत्कृष्टरसबन्धका ज्ञेयाः नवरं तत्र बन्धकस्य मिथ्यादृष्टिरित्यपि विशेषणमस्ति अत्र तु तन्न देयं सर्वेषामेव तथात्वेन व्यवच्छेद्याभावात्, अथवात्र मिथ्यादृष्टिरिति विशेषणं स्वरूपदर्शकतया विवक्षणीयम् । द्व्यशीतिप्रकृतयश्चेमाः,—त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः, त्रयोदशनपुंसकवेदादयः, नरकद्विकं, सेवार्त्तनाम, तिर्यग्द्विकं, सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिके, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नी, स्त्रीवेदादयो द्वादश, आतपनाम चेति । इत्यत्र संभाव्यमानबन्धानां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकप्ररूपणा कृता । जिननामाहारकद्विकबन्धस्य विशिष्टसम्यक्त्वाप्रमत्तादिगुणभृद्भव्यस्वामिकत्वेनेह तद्बन्धायोगात् ॥१३०।१३१॥

अथ क्रमप्राप्तसम्यक्त्वमार्गणास्थानेषु प्रस्तुतप्ररूपणां चिकीर्षुः मतिज्ञानादिभिस्तुल्यवक्तव्यत्वेन सम्यक्त्वसामान्यौपशमिकसम्यक्त्वयोः प्रागेवोत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां प्रतिपादितत्वात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

तेउव्व वेअगे खलु बत्तीसजसाइगाण विण्णेयो ।
ओहिव्व जाणियव्वो सेसाणेगूणवण्णाए ॥१३२॥

(प्रे०) 'तेउव्व' इत्यादि, 'वेदके' क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां '... जससायाणि ॥ उच्च पणिंदि तसचउग परघूसास-सुखगइ-पणथिराई । सुहधुवबंधागिइ जिण सुर विउवाहारजुगलाणि' इति द्वात्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः 'तेउव्व' त्ति तेजोलेश्यामार्गणावज्ज्ञेयः, स च अप्रमत्तमुनिः सर्वविशुद्धः, मतान्तरेण स एवानन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणः । अत्र बन्धकस्य सर्वविशुद्धत्वं रसस्य चोत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं वेदितव्यम्, ओघसर्वविशुद्धेरोघोत्कृष्टरसस्य च क्षपकश्रेणावेवाभ्युपगमात्, न च तत्र प्रकृतमार्गणावतारः । 'एगूणवण्णाए' त्ति उक्तशेषाणामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकोऽवधिज्ञानमार्गणावज्ज्ञेयः, कुतः ? तदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽविरतसम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वे सति शुभानामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्या, अशुभयोर्हास्यरत्योः स्वस्थानतत्प्रायोग्यसंक्लेशेन, शेषाऽप्रशस्तप्रकृतीनां च मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । एवमवधिज्ञानमार्गणागतस्वामितो नास्ति कश्चनात्र विशेषः । अवधिज्ञानवच्चेवम्-, नरद्विकमौदारिकद्विकं वज्रऋषभनाराचं चेति पञ्चानां सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः सुरः, मतान्तरेण तादृग् नारकोऽपि, मनुष्यतिरश्चां न तद्बन्ध इति, तथा ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कम् आद्यवर्जद्वादशकषाया भयजुगुप्से अशुभवर्णादिचतुष्कम् उपघातः पञ्चान्तराया इति पञ्चत्रिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनाम् ,असातं, शोकारती,अस्थिराशुभे, अयशःकीर्तिनाम पुरुषवेदश्चेति सप्तानां चोत्कृष्टरसं मिथ्यात्वाभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टश्चतुर्गतिको बध्नाति । हास्यरत्योस्तदर्हक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिश्चतुर्गतिक उत्कृष्टरसबन्धकः । भावनाऽवधिज्ञानमार्गणावत् । इति अत्र सम्भाव्यमानबन्धानामेकाशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकविचारणा कृता ॥१३२॥ अथो क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तत्कर्तुकाम आह—

खइए ओहिव्व भवे णवरि भवे मिच्छसंमुहो जेसिं ।
सिं णयो सट्ठाणे असंयतो तिव्वसंकिट्ठो ॥१३३॥

(प्रे०) 'खइए' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां 'ओहिव्व' त्ति अवधिज्ञानमार्गणावदुत्कृष्टरसबन्धका वाच्याः । किमविशेषेण तद्वद् वाच्याः ? नेत्याह 'णवरि' इत्यादिना, तत्रावधिज्ञानमार्गणायां यासामशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिः सर्वसंक्लिष्ट उक्तः, तासामत्र स्वस्थानसर्वसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्वाच्यः; मिथ्यात्वाभिमुख इति न वाच्यमिति भावः, क्षायिकसम्यक्त्वस्य सादिध्रुवत्वेन प्रच्यवनाभावात् न तद्वतो मिथ्यात्वगमनप्रसंग इति । अत्र चैवं वक्तव्यं भवति–मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽऽद्यकषायचतुष्कावर्जाऽशुभध्रुवबन्धिन्यः पञ्चत्रिंशत् असातं शोकारती अस्थिराशुभे अयशःकीर्तिनाम पुरुषवेदश्चेति

सर्वसंख्यया द्विचत्वारिंशदशुभप्रकृतीनां स्वस्थानसर्वसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टरसं बध्नातीति। शेषाणां तु सर्वासामविशेषेणावधिज्ञानमार्गणावदुत्कृष्टरसबन्धका ज्ञेयाः, **तथाहि**–'जस सायाणि ॥ उच्च पणिंदि तसचउग परघूसास सुखगइ पणथिराई । सुहधुवबंधागिइ जिण सुर विउवाहारजुगलाणि'॥इति द्वात्रिंशत्प्रकृतीनां क्षपक उत्कृष्टरसं बध्नाति । तत्र यशःकीर्त्तिनाम, सातम्, उच्चैर्गोत्रं चेति प्रकृतित्रयस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमये, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां सर्वविशुद्धोऽपूर्वकरणगुणस्थानवर्त्ती तद्बन्धविच्छेदक्षणे उत्कृष्टरसं बध्नाति । तथा मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं चेति पञ्चानां सर्वविशुद्धो देवो, मतान्तरेण नारकोऽपि । हास्यरत्योस्तदर्हक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टरसबन्धकः, अत्र भावनाऽवधिज्ञानवत् स्वयं भावनीया ॥१३३॥ अथ सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणायामुत्कृष्टरसनिर्वर्तकान् निरूपयिषुराह—

मीसे सम्माभिमुहो पणवीसजसाइगाण सुविसुद्धो ।
सुरविउवणरउरलदुगवइराणं पुण दुदुगइट्ठो ॥१३४॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो हस्सरईणं हवेज्ज सेसाणं ।
उक्कोससंकिलिट्ठो णेयो मिच्छत्तगाहिमुहो ॥१३५॥

(प्रे०) **'मीसे'** इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां '....जस सायाणि ॥ उच्च पणिंदि तसचउग परघूसास सुखगइ पणथिराई । सुहधुवबंधागिइ' इति पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां सर्वविशुद्धश्चतुर्गतिकः सम्यक्त्वाभिमुख उत्कृष्टरसं बध्नाति । सुरद्विकवैक्रियद्विकयोः सर्वविशुद्धो द्विगतिस्थः, मनुष्यतिर्यक्चेत्यर्थः, नरद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचं चेति प्रकृतिपञ्चकस्य द्विगतिस्थो देवो नारकश्चेत्यर्थः उत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति । इह बन्धकस्य सर्वविशुद्धत्वं रसस्य चोत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं विज्ञातव्यम्, ओघसर्वविशुद्धेरोघोत्कृष्टरसबन्धस्य च सूक्ष्मसम्परायादिक्षपकस्वामिकत्वादत्र च क्षपकत्वायोगात् । नन्वत्र यशःकीर्त्यादीनां प्रशस्तप्रकृतीनां सम्यक्त्वाभिमुख एवोत्कृष्टरसबन्धक उक्तः, स संयमाभिमुख इति कुतो नोच्यते ? संयमाभिमुखस्य विशुद्धतरत्वात् इति चेद्, उच्यते--विशुद्धयमानस्य मिश्रदृष्टेश्चतुर्थगुणस्थानकस्पर्शनामन्तरेणानन्तरं संयमप्राप्तेरनभ्युपगमात् । **यदुक्तं पञ्चसंग्रहवृत्तौ**–'सम्यग्मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं संयमं च युगपन्न प्रतिपद्यते तथाविशुद्धेरभावात, किन्तु केवलं सम्यक्त्वमेवेति' । हास्यरत्योस्तत्प्रायोग्यक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति, तीव्रक्लिष्टस्य शोकारतिबन्धसंभवेन तद्बन्धायोगात् । **'सेसाणं'** ति उक्तव्यतिरिक्तानां द्विचत्वारिंशतो मिथ्यात्वाभिमुख उत्कृष्टसंक्लिष्टश्चतुर्गतिक उत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति । इमाश्च ता द्विचत्वारिंशत् ,–मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जाः पञ्चत्रिंशदशुभध्रुवबन्धिन्योऽसातं शोकारती अस्थिराशुभे अयशःकीर्त्तिनाम पुरुषवेदश्चेति । तदेवमत्र घटमानबन्धानामष्टसप्ततिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकनिरूपणा कृता ॥१३४।१३५॥

अथ सास्वादनमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकनिरूपणां चिकीर्षुराह—

पणवीसजसाईणं णेयो सासायणे विसुद्धयमो ।
स तु दुगइयो सुरविउवदुगणरुरालदुगवइराणं ॥१३६॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो णेयो हस्सरइजुगलपुरिसाणं ।
दुइअतइअतुरियाणं संघयणागिइतिगाणं च ॥१३७॥
उज्जोअस्स हवेज्जा सत्तमपुढविणिरयो विसुद्धयमो ।
उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छाहिमुहो व सेसाणं ॥१३८॥
अहवा माणुस्सो चिअ पडिवडिओ होइ संयमाहिन्तो ।
पणवीसजसाईणं तह देवविउव्वजुगलाणं ॥१३९॥

(प्रे०) '**पणवीस**' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां यशःकीर्त्तिनामादिसमचतुरस्रसंस्थानपर्यन्तानां प्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां विशुद्धतमश्चतुर्गतिक उत्कृष्टरसं निर्वर्तयति । सुरद्विकवैक्रियद्विकयोर्विशुद्धतमः '**दुगइयो**' द्विगतिको-मनुष्यस्तिर्यक्चेत्यर्थः, देवनारकयोरनन्तरभवे देवगतावुत्पादाभावेन सुरद्विकादिबन्धायोगात् । नरद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां देवो नारकश्च विशुद्धतम उत्कृष्टानुभागं बध्नाति, विशुद्धतमयोः सास्वादनमनुष्यतिरश्चोर्देवद्विकादिबन्धकत्वेन तद्बन्धानभ्युपगमात् । हास्यरतिपुरुषवेदानाम् ऋषभनाराचनाराचार्द्धनाराचसंहननन्यग्रोधसादिकुब्जसंस्थानानां च तत्प्रायोग्यक्लिष्टश्चतुर्गतिक उत्कृष्टरसं बध्नाति, तीव्रसंक्लिष्टस्य तु शोकारतिस्त्रीवेदकीलिकावामनबन्धसम्भवेन तद्बन्धायोगात् । उद्योतनाम्नो विशुद्धतमः सप्तमपृथिवीनारकः, कुतः ? तादृग्देवस्याद्यषड्नरकनारकस्य च मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वेन, मनुष्यतिरश्चां च देवप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धायोगात् । '**सेसाणं**' उक्तशेषाणां मिथ्यात्ववर्जद्विचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः, असातं, शोकारती, स्त्रीवेदः, अस्थिराशुभे, अयशःकीर्त्तिनाम, कीलिका, वामनं दुर्भगत्रिकं, तिर्यग्द्विकं, कुखगतिः, नीचैर्गोत्रं चेति अष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टसंक्लिष्टः स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लिष्ट इत्यर्थः उत्कृष्टरसं निवर्त्तयति । '**मिच्छाहिमुहो व**' अत्र वाकारो मतान्तरद्योतकः, ततश्च मतान्तरेण एतासामष्टपञ्चाशदशुभप्रकृतीनां मिथ्यात्वाभिमुख उत्कृष्टसंक्लिष्ट उत्कृष्टरसं बध्नाति ।

अथ स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशमिथ्यात्वाभिमुखोत्कृष्टसंक्लेशयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते,—हीनतरगुणस्थानान्तरविरहवज्जन्तोर्यः सर्वाधिकः संक्लेशः स स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशः, यथा मिथ्यात्वमार्गणायां मतिज्ञानावरणादेरोघोत्कृष्टरसं जनयतः, यथा वा क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मति-

ज्ञानावरणादेमार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसं बध्नतः, एवमनुत्तरदेवादिमार्गणान्तरेष्वापि द्रष्टव्यम् , तत्स्थजीवानामपि हीनतरगुणस्थानान्तरगमनविरहादिति । मिथ्यात्वाद्यभिमुखोत्कृष्टसंक्लेशस्तु प्रोक्तविलक्षणस्य गुणांतरादिगमनवतो गुणान्तरादिप्राप्तेरर्वागन्तर्मुहूर्तादारभ्या यावद्गुणान्तराद्यप्राप्तिस्तावदनन्तगुणक्रमेण वर्धमानः, यथा सप्तमनरकमार्गणासु अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थस्य ततो मिथ्यात्वगुणे गमनवतो यावद् मिथ्यात्वाऽप्राप्तिस्तावच्चरमान्तर्मुहूर्तेऽनन्तगुणक्रमेण वर्धमानः सम्यग्दृष्ट्यादेः संक्लेशः, यथा वा परिहारविशुद्धिकमार्गणायां छेदोपस्थापनीयसंयमाभिमुखस्य चरमान्तर्मुहूर्ते वर्तमानस्याऽनन्तगुणक्रमेण वर्धमानसंक्लेशस्य जन्तोरिति । एवमेव मार्गणान्तरेष्वाऽयोजनीयमिति । [1]काला[2]ऽन्त[3]र स्थानैरप्येतौ विशेष्येते तद्यथा-स्वस्थानतीव्रसंक्लेश उत्कृष्टतया द्वौ समयौ यावत् तिष्ठति । अभिमुखतीव्रसंक्लेशस्तु अजघन्यानुत्कृष्टतया एकसमयमात्रमेव । स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेश एकसमयादिकालव्यवधानेन पुनरपि भवितुमर्हति ततः समयादिकमप्यन्तरमायाति । अभिमुखोत्कृष्टसंक्लेशस्यान्तरं न संभवति । यदि भवति तर्हि जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तप्रमितं न तु स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशान्तरवत् एकसमयादिकमिति । पतनोन्मुखस्यजन्तोर्विवक्षितगुणस्थानकादेरन्तिमसमये एव भवनात् । स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशश्चरमातिरिक्तेषु तद्गुणस्थानकादिसमयेषु अपि भवति, अभिमुखोत्कृष्टसंक्लेशस्तु तद्गुणस्थानकादेश्चरमातिरिक्तेषु समयेषु न भवति, अनन्तरोक्तादेव हेतोः ।

अत्रेदं बोध्यम्-मरणव्याघातं विना यः प्रतिसमयमनन्तगुणसंक्लेशवृद्ध्या क्रमादधस्तनगुणस्थानकं, मार्गणान्तरं वा प्रति प्रस्थितो तस्यैवाभिमुखोत्कृष्टसंक्लेशो भवितुमर्हति, न मरणशरणीभूय भवान्तरं गत्वा हीनतरगुणप्रतिपित्सोरपीति । तद्यथा-प्रमत्तगुणस्थानकवर्तिनो चिरादिव्यथितमनसो मुनेः प्रतिसमयमनन्तगुणसंक्लेशवृद्ध्याऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादिहीनगुणं प्रति प्रस्थितस्य कस्यचित् स्वगुणस्थानकस्य चरमसमये तदभिमुखोत्कृष्टसंक्लेशो जायते, न पुनः कालं कृत्वा दिवि अयतत्वं स्वीकर्तुं स्स भवति, विवक्षितगुणाद्यभिमुखस्य तद्गुणादिप्राप्तिमन्तरेण मरणानभ्युपगमात् । अत्रायं विशेषः-उपशान्तमोहादेरप्रमत्तं यावदनन्तगुणसंक्लेशवृद्ध्या क्रमादवरोहतोऽपि अभिमुखसंक्लेशो न भण्यते, कुतः सर्वेषु तदन्तरालगुणस्थानकेषु संयतत्वाविरोधात् । ततश्च प्रकृते इदमायातं-अष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं प्रस्तुतमार्गणायां स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लिष्टः सततं द्वौ समयौ यावद् बन्द्धुमर्हति मतान्तरेण-मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टो मार्गणाचरमसमये एकसमयमात्रमेवेति, अनया दिशान्यत्रापि भावनीयम् । स्वस्थानसर्वविशुद्धाऽभिमुखसर्वविशुद्धयोरप्ययमेव विशेषः, नवरं तत्राभिमुखविशुद्धस्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धिवृद्धिर्वाच्या ।

अथ प्रकृतं 'अहवा' त्ति अथवेति पक्षान्तरप्रकाशने इह यथाष्टपञ्चाशदशुभप्रकृतीनां मतान्तरेणोत्कृष्टानुभागबन्धको दर्शितः । तथा कासाञ्चित् शुभप्रकृतीनामपि मतान्तरेणोत्कृष्टानु-

भागबन्धको दर्श्यते 'माणुस्सो चिअ' एवकारोऽत्रान्ययोगव्यवच्छेदपरस्तेनात्र मनुष्यवर्जशेष-गतित्रयवर्तिन उत्कृष्टरसबन्धकत्वं प्रतिषिध्यते । अथ यासामुत्कृष्टरसबन्धकः प्रकृते मनुष्यवर्जो न संभवति ता दर्शयति, 'पणवीस' इत्यादिना । प्राक्प्रसिद्धानां यशःकीर्त्यादिसमचतुरस्रपर्यन्तानां पञ्चविंशतेर्देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्च संयमात् प्रतिपतितो मनुष्य उत्कृष्टरसं बध्नाति, एतन्मते-तद्बन्धकेषु अस्यैव विशुद्धतमत्वाभ्युपगमात् ॥१३६-१३९॥

अथ असंज्ञिमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकान् निर्दिदिक्षुराह—

उक्कोससंकिलिट्ठो णेयो पंचिंदियो असण्णिम्मि ।
पणरहणिरयाईणं तह अपसत्थधुवबंधीणं ॥१४०॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो पणिंदिओ बंधगो मुणेयव्वो ।
तिजुआए वीसाए छिवट्ठआईण पयडीणं ॥१४१॥
सत्तुज्जोआईणं पणिंदिओ होइ तदरिहविसुद्धो ।
पंचिंदिअ सुविसुद्धो सेसाणेगूणतीसाए ॥१४२॥

(प्रे०) 'उक्कोस' इत्यादि । असंज्ञिमार्गणायां '[२]णिरयदुग[१] णपु[१]मसायं [२]सोगारइ [१]हुंड[१]णी-आणि । सरवज्जा[४] अथिराई [१]दुस्सर [१]कुखगइ' इति नरकद्विकादीनां पञ्चदशानां प्रकृतीनां त्रिचत्वारिं-शदशुभध्रुवबन्धिनीनां चोत्कृष्टरसमुत्कृष्टसंक्लिष्टः पञ्चेन्द्रियस्तिर्यग् बध्नाति,

'तिजुआए वीसाए' '·········छिवट्ठणामाणि । तिरियदुगं एगिंदिय थावर सुहुमविग-लतिगाणि ॥ थी पुरिसं हस्सरई मज्झिमसंघयण आगईओ य' इति सेवार्त्तनामादीनां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां तत्प्रायोग्यक्लिष्टः पञ्चेन्द्रियस्तिर्यग् उत्कृष्टानुभागं निर्वर्तयति, तीव्रक्लिष्टस्य नरक-प्रायोग्यबन्धकत्वेन सेवार्त्तादीनामबन्धात् तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति, विकलाक्षादीनां तादृक्संक्लेशा-भावेनात्रोत्कृष्टरसबन्धाभावात् पञ्चेन्द्रिय इति । इह रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम् नौघोत्कृष्टत्वम् ,असंज्ञिनामुत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वाभावात् । अशुभप्रकृतीनामोघोत्कृष्टरसबन्धो हि तदु-त्कृष्टस्थितिबन्धव्याप्तः,ततो व्यापकीभूतोत्कृष्टस्थितिबन्धाभावे तद्व्याप्तस्यौघोत्कृष्टरसस्याप्यभावः ।

'सत्तुज्जोआईणं' ति उद्योतनामाऽऽतपनामनरद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां सप्त-प्रकृतीनां तदर्हविशुद्धः पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्कृष्टरसं बध्नाति, तीव्रविशुद्धस्य देवद्विकादिबन्धसद्-भावेनैतद्बन्धायोगादुक्तं तदर्हविशुद्ध इति । 'सेसाण' इति उक्तशेषाणां :[१]जस [१]सायाणि । [१]उच्च [१]पणिंदि [४]तमचउग [१]परघू[१]सास [१]सुखगइ पण[४]थिराई । [८]सुहधुवबंधा[१]गिइ···[२]सुर[२]विउव···जुगलाणि ॥ इत्येकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां 'सुविशुद्धो' विशुद्धतमइत्यर्थः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग् उत्कृष्टरसं बध्नाति । अत्र सु-

विशुद्धत्वं मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयम् ,ओघसर्वोत्कृष्टविशुद्धेः श्रेणावेवाभ्युपगमात् । तथा उद्योतादिवैक्रियद्विकावमानानां सर्वासां प्रशस्तप्रकृतीनां रसो मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टो बोध्यः ओघोत्कृष्टरसबन्धस्य यथासंभवं संज्ञिन्येव संभवादिती ।।१४०-१४२।। सप्तमूलकर्मणां विंशतिशतोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकान् यथा संभवं सप्ततिशतमार्गणासु निरूप्याथो आयुषामुत्कृष्टरसबन्धकान् निरूपयितुकाम आह–

सव्वासु बंधगो गुरुरसस्स तिव्वाणुभागबंधगओ ।
सागाराइविसिट्ठो सप्पाउग्गाण आऊणं ।।१४३।।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं मुणेयव्वो ।।१४४।।

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि, सर्वासु 'वैक्रियमिश्रकाययोग–'कार्मणकाययोगा'ऽपगतवेद'सूक्ष्मसम्परायो'पशमसम्यक्त्व'मिश्रसम्यक्त्वा'ऽनाहाररूपायुर्बन्धाऽयोग्यमार्गणावर्जत्रिषष्ट्यधिकशतसंख्यासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणां, यासु मार्गणासु यावतां बन्धः सम्भवति तावतामित्यर्थः आयुषां गुरुरसस्योत्कृष्टरसस्य बन्धकः प्राग्व्यावर्णितस्वरूपैः साकारजाग्रदादिविशेषणैर्विशिष्टस्तीव्रानुभागबन्धगतः असंख्येयेषु आयुष्करसबन्धप्रायोग्याध्यवसायस्थानेषु सर्वोत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायस्थानं प्राप्त इत्यर्थः, तथा **'पज्जत्तो'** त्ति सर्वाभिः स्वप्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः ज्ञातव्यः । किं सर्वत्रैव पर्याप्तो ज्ञातव्यः ? न इत्याह–**'जत्थ'** इत्यादि, यत्र मार्गणायां पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति द्विविधा जीवा भवेयुस्तस्यामेव मार्गणायामपर्याप्तानां व्यवच्छेदार्थं पर्याप्त इत्यपि विशेषणं बन्धकस्य वाच्यम् , तत्रापर्याप्तानामुत्कृष्टरसबन्धकत्वाभावात् , अन्यत्र तु पर्याप्त इति विशेषणं न वाच्यं, व्यवच्छेद्याभावात् , केवलमपर्याप्तानामेव प्रवेशाद् वेति ।।१४३-१४४।।

अथायुर्बन्धकस्यान्यदपि विशेषणद्वयं व्यनक्ति—

जहि णिरयाउस्स भवे बंधो तहि तस्स तदरिहकिलिट्ठो ।
सव्वह इयराऊण तदरिहविसुद्धोऽत्थ भण्णइ विसेसो ।।१४५।। (गीतिः)

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र मार्गणासु नरकायुषो बन्धो भवति तत्र तद्बन्धकः तदर्हक्लिष्टो वाच्यः,तस्याप्रशस्तत्वात् ,**'इयराऊण'** त्ति तद्व्यतिरिक्तानां शेषाणां त्रयाणामायुषामुत्कृष्टरसबन्धकः सर्वत्र तदर्हविशुद्धो वाच्यः, तेषां प्रशस्तत्वात् । तीव्रक्लिष्टस्य तीव्रविशुद्धस्य चायुर्बन्धानभ्युपगमात् तदर्हसंक्लिष्टादिः । इति सामान्यत आयुरुत्कृष्टरसबन्धकस्वरूपं प्रदर्श्यात्र विशेषमभिधातुकाम प्रतिजानीते **'अत्थ'** इत्यादिना, अत्रेति आयुषामुत्कृष्टरसबन्धकप्रस्तावे कासुचिन्मार्गणासूक्तातिरिक्तो यो विशेषोऽस्ति स भण्यते, इत ऊर्ध्वमिति शेषः ।।१४५।।

अथ प्रतिज्ञातमेव निर्वोढुकाम आदौ तावत् नरकौघादिषु विंशतिमार्गणासु आयुष्कोत्कृष्ट-रसबन्धकवैशिष्ट्यं प्रदर्शयन्नाह—

णिरय-पढमाइछणिरय-देवसहस्सारअंत-विउवेसुं ।
तिरियाउगस्स मिच्छो भवे णराउस्स सम्मत्ती ॥१४६॥

(प्रे०) '**णिरय**' इत्यादि, 'नरकौघा'ऽऽद्यषड्नरक-'देवौघ-'भवनपति-'व्यन्तर 'ज्योतिष्क-'सौधर्मादिसहस्रारान्तदेव-'वैक्रियकाययोगरूपासु विंशतिमार्गणासु तिर्यगायुष उत्कृष्टरसं तत्तन्मार्गणागतो मिथ्यादृष्टिर्जन्तुः साकारजाग्रदादिविशेषणयुक्तः पर्याप्तस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो बध्नाति । सम्यग्दृष्टेर्मनुष्यायुर्बन्धसद्भावेन तद्बन्धायोगाद् मिथ्यादृष्टिरिति । दर्शनोपयुक्तस्य सुप्तस्य चोत्कृष्टरसबन्धायोगात् साकारादिविशेषणानुवृत्तिः । करणापर्याप्तावस्थायामायुषो बन्धाभावात् सर्वविशुद्धस्यायुर्बन्धानभ्युपगमाच्च पर्याप्तः तदर्हविशुद्धश्चेति विशेषणयोरप्यनुवृत्तिरिति । तथा '**णराउस्स**' त्ति मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकः साकारजाग्रदादिविशेषणविशिष्टः पर्याप्तस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः । ननु सम्यग्दृष्टिरिव मिथ्यादृष्टिरपि कुतो न तदुत्कृष्टरसबन्धकः ? प्रकृतमार्गणासु बन्धे आयुरुत्कृष्टस्थितेः पूर्वकोट्यभिमतत्वेन मिथ्यादृष्टेरपि तद्सम्भवात् , उत्कृष्टरसस्योत्कृष्टस्थितिसहचरितत्वाच्च ? इति चेत् ,सत्यम् ,किन्तु नायमेकान्तो यत् सर्वे उत्कृष्टस्थितिबन्धकास्तदुत्कृष्टरसमेव निर्वर्तयन्ति,ततो मिथ्यादृष्टयपेक्षया सम्यग्दृष्टेर्विशुद्धिप्रकर्षाभ्युपगमाद् उभयोरुत्कृष्टस्थितिबन्धसाम्येऽपि तस्यैवोत्कृष्टरसबन्धकत्वमिति । अत्रायुषोरुत्कृष्टरसो मार्गणाप्रायोग्यो ज्ञेयो,नौघोत्कृष्टरसः,ओघोत्कृष्टरसस्य युगलिकप्रायोग्यत्रिपल्योपममितायुःस्थितिबन्धकतिर्यग्मनुष्यस्वामिकत्वादधिकृतमार्गणासु च तयोरप्रवेशात् ॥१४६॥

इदानीं सप्तमनरकादिमार्गणापञ्चकेषु स्वप्रायोग्यायुषामुत्कृष्टरसबन्धकान् दर्शयति—

सत्तमणिरये मिच्छो आउस्स तिरितिपणिंदितिरियेसुं ।
णिरयतिरिणराऊणं मिच्छादिट्ठी भवे सण्णी ॥१४७॥

(प्रे०) '**सत्तमणिरये**' इत्यादि, सप्तमनरकमार्गणायां '**आउस्स**' त्ति तिर्यगायुषः शेषायुषां तत्र बन्धाभावाद् उत्कृष्टरसं साकारादिविशेषणभाक् पर्याप्तो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो बध्नाति ।

तिर्यगोघ-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिमतीलक्षणासु चतसृषु मार्गणासु नरकतिर्यग्नरायूरूपाणां त्रयाणामायुषां संज्ञी मिथ्यादृष्टिः पूर्वोक्तविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टरसबन्धकः । असंज्ञिनस्तदुत्कृष्टस्थितिबन्धाभावेनोत्कृष्टरसबन्धाभावादुक्तं संज्ञीति ।

सम्यग्दृष्टेर्देवायुर्बन्धकत्वेन तद्बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टिरित्युक्तम् । अत्रोत्कृष्टरस इत्यनेनौघोत्कृष्टरसः, तिर्यग्योनिमतीमार्गणायान्तु नरकायुषस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टरसो ज्ञेयः ॥१४७॥

अथ तिर्यगोघतिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिषु मार्गणासु देवायुषः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु च सम्भाव्यमानबन्धानामायुषामुत्कृष्टरसबन्धकान् निरूपयिषुराह—

देवाउगस्स णेयो देसजई बंधगो दुआऊणं ।
असमत्तपणिंदितिरिय-पणिंदिय-तसेसु खलु सण्णी ॥१४८॥

(प्रे०) '**देवाउगस्स**' इत्यादि, अनन्तरोक्तासु चतसृषु तिर्यग्गतिमार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसं तन्मार्गणागतो देशविरतिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः पूर्वोक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टो बध्नाति, नवरमत्र पर्याप्तः संज्ञी चेति विशेषणद्वयं न वाच्यं, देशविरतिरित्यनेन गतार्थत्वात् रसश्चात्र मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टो बोध्यः, ओघोत्कृष्टरसस्याप्रमत्तमुनिस्वामिकत्वात् । तथा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसरूपासु तिसृषु मार्गणासु '**दुआऊणं**' मनुष्यायुषस्तिर्यगायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धकः '**खलु**'खलुरेवकारार्थः,स चासंज्ञिव्यवच्छेदनपरस्ततश्च साकारो जाग्रत् तत्प्रायोग्यविशुद्धः संज्ञी एव । इह बन्धकस्य पर्याप्त इति विशेषणं न वाच्यम् मार्गणानामपर्याप्तत्वात्, नापि अपर्याप्त इति व्यवच्छेद्याभावात् ॥१४८॥

अथापर्याप्तमनुष्यवर्जत्रिमनुष्यगत्यवान्तरमार्गणा-ऽऽनतादिदेवगत्यवान्तरमार्गणासु आयुषामुत्कृष्टरसबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह—

ओघव्व तिमणुसेसु देवाउस्स इयराण मिच्छत्ती ।
आणतपहुडिसुरेसु तेरसु सम्मो णराउस्स ॥१४९॥

(प्रे०) '**ओघव्व**' इत्यादि, मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-मनुष्यपर्याप्तरूपासु त्रिमार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकः '**ओघव्व**' त्ति ओघवत्, **किमुक्तं भवति ?** ओघतो देवायुष उत्कृष्टरसबन्धको योऽस्ति स एवात्र वाच्यः; स च साकारोपयोगभाग् जाग्रत् तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिः, तथा '**इयराण**' त्ति नरकतिर्यग्मनुष्यायूरूपाणां त्रयाणामायुषामुत्कृष्टरसं साकारो जाग्रत् ज्येष्ठरसबन्धस्थानगतः पर्याप्तो मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति, तत्र नरकायुषस्तदर्हक्लिष्टः द्वयोश्च तदर्हविशुद्ध इति ज्ञेयम् । अत्र चतुर्णामप्यायुषामोघोत्कृष्टरसो वेदितव्यः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाद्योघोत्कृष्टस्थितिबन्धसद्भावेनोघोत्कृष्टरसस्यापि सद्भावात् । नवरं मानुषीमार्गणायां नरकायुष ओघोत्कृष्टरसो न वाच्यः, उत्कृष्टतो द्वाविंशतिसागरोपममिताया एव स्थितेर्बन्धार्हत्वात् । '**आणतपहुडिसुरेसु**' त्ति आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युत-नवग्रैवेयकरूपासु त्रयोदशसु देवगत्य-

वान्तरमार्गणासु नरायुष उत्कृष्टरसं साकारादिविशेषणविशिष्टस्तत्तन्मार्गणागतस्तत्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्निर्वर्तयति । पूर्वकोटीप्रमितस्थितेरुभयोर्बन्धकत्वेऽपि मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टेर्विशुद्धिप्रकर्षाभ्युपगमेन तस्यैवोत्कृष्टरसनिर्वर्तकत्वात् । इह हि सामान्यवक्तव्यतातिरिक्तं यत्किमपि वक्तव्यं यत्र मार्गणासु वर्तते तास्वेव पृथग्निर्देशद्वारेण ग्रन्थकृतोक्तं वक्ष्यते च, अन्यत्र तु सामान्यवक्तव्यतयैव गतार्थत्वात् लाघवार्थश्च तेन साक्षान्नो कथितम्, तत्तु यथास्थानमनुग्रहार्हविनेयजनानुग्रहायास्माभिः स्फुटीकरिष्यते । अत्रैकचत्वारिंशद्गतिमार्गणाऽवान्तरमार्गणासु ग्रन्थकारेणायुषामुत्कृष्टरसबन्धकाः प्ररूपिताः, शेषासु षट्सु गत्यवान्तरमार्गणासु विशेषवक्तव्यताऽभावेनाप्ररूपितत्वाद् वयमेव तान् प्ररूपयामः, **तद्यथा**–मनुष्यापर्याप्तमार्गणायां मनुष्यायुषस्तिर्यगायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धकः साकारो जाग्रत् तीव्ररसबन्धाध्यवसायस्थानं गतस्तदर्हविशुद्धोऽस्ति । यद्यपि अयं बन्धकोऽपर्याप्तो मिथ्यादृष्टिश्च तथापि इमे द्वे विशेषणे न वाच्ये, सर्वेषां बन्धकानां तथात्वेन व्यवच्छेद्याभावात् । तथा पञ्चसु अनुत्तरदेवलोकरूपासु देवगतिप्रतिमार्गणासु मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धं साकारादिविशेषणयुक्तस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः पर्याप्तः करोति । करणापर्याप्तस्य व्यवच्छेदार्थमत्र पर्याप्त इति विशेषणस्य सार्थक्यम्, सम्यग्दृष्टिरिति तु न वाच्यम्, सर्वेषां तथात्वेन व्यवच्छेद्याभावेन वैयर्थ्यापत्तेः । इह उत्कृष्टरसो मार्गणाप्रायोग्यो बोध्यः, ओघोत्कृष्टरसबन्धस्य पर्याप्ततिर्यग्मनुष्यस्वामिकत्वात् । इति गत्यादिमार्गणासु आयुषामुत्कृष्टरसबन्धकविचारणा कृता । अत्र यद्यपि सर्वत्र तत्तन्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरस उक्तस्तथापि अल्पबहुत्वविचारणयाऽनन्तगुणाधिकादिः मोऽस्ति, **तथाहि**–मनुष्यायुष उत्कृष्टरसोऽपर्याप्तमनुष्याऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणयोरल्पः, अपर्याप्तत्वेन तादृग्विशुद्ध्यभावात्, ततो नरकौघा-ऽऽद्यषड्नरक-देवौघादित्रिंशद्देवगतिमार्गणासु अनन्तगुणः, पर्याप्तत्वेन विशुद्धिप्रकर्षवत्त्वात् । ततः तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक् - तिर्यग्योनिमतीपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तरूपासु चतसृषु तिर्यगवान्तरमार्गणासु मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-मनुष्यपर्याप्तलक्षणासु तिसृषु मनुष्यगतिप्रतिमार्गणासु चानन्तगुणः, देवादिभ्योऽसंख्यगुणस्थितिबन्धकत्वेन तेभ्योऽनन्तगुणविशुद्धत्वात्, **तद्यथा**–देवा नारका अपर्याप्ततिर्यङ्मनुष्याश्चोत्कृष्टतया पूर्वकोटिमितामेव परभवायुषः स्थितिं बद्धुमर्हन्ति, पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यास्तु त्रिपल्योपममितां युगलिकप्रायोग्यां आयुःस्थितिं बध्नन्ति, तस्मात् स्थितिदीर्घत्वात् रसबहुत्वं घटत एव तेषाम् । एवमेव तिर्यगायुषो रसस्याल्पबहुत्वं वाच्यम्, नवरमत्राद्यषड्नरकस्थले सप्तापि नरका वाच्याः, सप्तमनरके तिर्यगायुषोबन्धाप्रतिषेधात्, आनतादयस्तु न वाच्याः, तेषां तद्बन्धाभावात् । देवायुष उत्कृष्टरसस्तिर्यगोघपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमती पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं अल्पः, उत्कृष्टतोऽपि सहस्रारदेवप्रायोग्यायुर्बन्धकत्वेनाष्टादशसागरमितस्थितेरेव बन्धात् । ततो मनुष्यौघ मनुष्ययोनिमती मनुष्यपर्याप्तरूपासु तिसृषु मार्गणास्वनन्तगुणः, इह बन्धकस्याप्रमत्तगुणस्थानकभाक्त्वेना-

नन्तगुणविशुद्धत्वात् त्रयस्त्रिंशत्सागरमितस्थितिबन्धकत्वाच्च। देवनारकाणामपर्याप्ततिर्यङ्मनुष्याणां च देवायुषोऽबन्धकत्वादेव प्रस्तुताऽल्पबहुत्वविचारेऽप्रवेशः। नरकायुष उत्कृष्टरसः तिर्यग्योनिमती-मनुष्ययोनिमतीलक्षणयोर्मार्गणयोरल्पः, तासां सप्तमनरकगमनाभावेन उत्कृष्टतयापि षष्ठनरकप्रायोग्य-द्वाविंशतिसागरमितस्थितेरेव बन्धभावात्, ततस्तिर्यक्सामान्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्रूपासु त्रिमार्गणासु मनुष्यौघमनुष्यपर्याप्तलक्षणयोर्द्विमार्गणयोश्चानन्तगुणः, सप्तमनरकप्रायोग्यत्र-यस्त्रिंशत्सागरमितस्थितिबन्धसद्भावेन तेषामनन्तगुणसंक्लिष्टत्वात्, देवनारकाणामपर्याप्ततिर्यङ्-मनुष्याणां च नरकायुर्बन्धाभावादेवात्र प्रस्तावेऽनवकाशस्तेषाम्। इति चतुर्णामायुषामुत्कृष्टरसस्य प्रत्येकं गतिमार्गणास्वल्पबहुत्वविचारणा कृता।

अथ तेषामेवोत्कृष्टरसस्य मिथोऽल्पबहुत्वविचारणा क्रियते, तद्यथा—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय तिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्यरूपयोर्मार्गणयोस्तिर्यगायुषउत्कृष्टरसोऽल्पः,अपर्याप्तत्वेन विशुद्ध्यल्पत्वात्। ततस्सहस्रा-रान्तद्वादशदेवमार्गणाऽष्टनरकमार्गणासु तिर्यगायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः पर्याप्तत्वेन विशुद्धिप्रकर्ष-भाक्त्वात्, अथवाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणयोर्मनुष्यायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः, तिर्यगायुरपेक्षया मनुष्यायुषः प्रशस्ततरत्वेनानन्तगुणविशुद्ध्या तद्रसस्य बध्यमानत्वात्। ततः सर्वदे-वनारकेषु मनुष्यायुषोऽनन्तगुण उत्कृष्टरसः, परस्परं तुल्यः। ततोऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जासु चतुस्तिर्यग्गतिमार्गणासु मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती- पर्याप्तमनुष्यरूपासु त्रिमार्गणासु च तिर्यगायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः, पूर्वकोटिमितमनुष्यायुर्बन्धकदेवनारकापेक्षया तासु त्रिपल्योपममित-युगलिकप्रायोग्यबृहत्तरस्थितिबन्धकत्वेनाऽनन्तगुणविशुद्धत्वात्। ततस्तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु चतसृषु तिर्यग्मार्गणासु मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यलक्षणासु त्रिमनुष्यगत्यवान्तरमार्गणासु च मनुष्यायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः, तुल्यस्थि-तिकादपि तिर्यगायुषो मनुष्यायुषोऽनन्तगुणविशुद्ध्या बध्यमानत्वात्। ततोऽपर्याप्तवर्जचतुस्तिर्यग्गति-प्रतिमार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः, अष्टादशसागरमितस्थितिसहचरितत्वेन विशुद्धिप्रा-बल्यजन्यत्वात्। ततस्तिर्यग्योनिमतीमनुष्ययोनिमतीरूपयोर्मार्गणयोर्नरकायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः रसस्याशुभत्वे सति षष्ठनरकप्रायोग्यद्वाविंशतिसागरमितस्थितिबन्धकेन प्रबलतरसंक्लेशेन जन्यत्वात्। ततस्तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु त्रिमार्गणासु मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमा-र्गणयोश्च नरकायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः, सप्तमनरकसत्कत्रयस्त्रिंशत्सागरमितस्थितिबन्धकेन प्रबलतमसंक्लेशेन जन्यत्वात्। ततो मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-मनुष्यपर्याप्तरूपासु त्रिमार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसोऽनन्तगुणः, अप्रमत्तमुनेरतिशयितविशुद्ध्या जायमानत्वात्। अत्र सुखावबोधाया-ल्पबहुत्वयन्त्रकं त्वेवम्—

कासु मार्गणासु ?	कस्य ?	उत्कृष्टरसः
(१) अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणयोः	तिर्यगायुषः	अल्पः
(२) ततः सर्वदेवसर्वनरकमार्गणासु	,,	अनन्तगुणः
अथवा		
अप. पं. तिर्यगपर्याप्तमनुष्यमा०	मनुष्यायुषः	,,
(३) ततः सर्वदेव-सर्वनारक-मार्गणासु	,,	,,
(४) ततोऽपर्याप्तवर्जचतुस्तिर्यग्मार्गणात्रिमनुष्यमार्गणासु	तिर्यगायुषः	,,
(५) ततोऽपर्याप्तवर्जचतुस्तिर्यग्मार्गणात्रिमनुष्यमार्गणासु	मनुष्यायुषः	,,
(६) ततः अपर्याप्तवर्जचतुस्तिर्यग्गतिमार्गणासु	देवायुषः	,,
(७) ततः तिर्यग्योनिमती-मनुष्ययोनिमतीमार्गणयोः	नरकायुषः	,,
(८) ततः [१]तिर्यगोघ [२]पञ्चे० तिर्यक् [३]पर्याप्तपञ्चे०	,,	,,
तिर्यग्मार्गणासु मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यमार्गणयोश्च	,,	,,
(९) ततो मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यमार्गणासु	देवायुषः	इति ॥१४९॥

गतिमार्गणासु तत् समानवक्तव्यत्वाद् वैक्रियकाययोगादिमार्गणासु चायुषामुत्कृष्टरसबन्धका-न्निरूप्य जात्यादिमार्गणासु तान् निरूरूपयिषुराह—

एगिंदिय-पुहवाइगपणग-णिगोएसु बायरो णेयो ।
दुपणिंदितसेसु तहा पणमणवय-कायजोगेसु ॥१५०॥
ओरालियम्मि थीए पुरिसे णपुमे कसायचउगे य ।
चक्खु-अचक्खूसु तहा भविये सण्णिम्मि आहारे ॥१५१॥
ओघव्व बंधगो खलु जाणेयव्वो चउण्ह आऊणं ।
ओरालमीसजोगे सण्णी मिच्छो दुआऊणं ॥१५२॥

(प्रे०)'**एगिंदिय**'इत्यादि । एकेन्द्रियौघ पृथवीकायौघाऽप्कायौघ तेजस्कायौघ-वायुकायौघ-वनस्पति-कायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघरूपासु सप्तमार्गणासु स्वबन्धार्हायुषोरुत्कृष्टरमबन्धको बादरो ज्ञेयः, किमुक्तं भवति ? अत्रोक्तासु तेजस्कायवायुकायवर्जासु पञ्चसु मार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्ट-रमं साकारादिविशिष्टः पर्याप्तस्तत्तत्प्रायोग्यविशुद्धस्तत्तन्मार्गणागतो बादरो जन्तुर्बध्नाति । इह अपर्याप्तः सूक्ष्मश्चापि मार्गणास्वन्तर्भवतः न तावत्रोत्कृष्टरसबन्धकौ ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तं पर्याप्तो बादरश्चेति । तेजस्कायवायुकायमार्गणयोरायुष उत्कृष्टरसबन्धकः स एव, नवरं तिर्यगायुष एव स भवति न मनुष्यायुषोऽपि,तन्मार्गणागतजीवानां प्रेत्य मनुष्यगतौ गमनानभ्युपगमेन तदबन्धात् । अथ

कतिपयमार्गणासु आयुषामुत्कृष्टरसबन्धकातिदेशं कुर्वन्नाह-'दुपणिंदि' इत्यादिना, तत्र द्विपञ्चेन्द्रियाविति पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ, द्वित्रसाविति त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायाविति चतसृषु मार्गणासु 'तह' त्ति तथाशब्दोऽत्र समुच्चयार्थः पञ्चमनोयोगपञ्चवचनयोगकाययोगौघरूपासु एकादशमार्गणासु, औदारिककाययोगमार्गणायां, स्त्रीवेदपुरुषवेदनपुंसकवेदमार्गणासु, कषायचतुष्के चतसृषु कषायमार्गणास्वित्यर्थः, चशब्दस्तथैव, चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनमार्गणयोर्भव्यमार्गणायां संज्ञिमार्गणायामाहारिमार्गणायां चेति सर्वसंख्ययाऽष्टाविंशतिमार्गणासु 'ओघव्व' त्ति ओघवद् ये ओघप्ररूपणायामायुषामुत्कृष्टरसबन्धका उक्ताःत एवात्र चतुर्णामप्यायुषां वाच्याः, तद्यथा-आसु अष्टाविंशतिमार्गणासु नरकायुष उत्कृष्टरसं पर्याप्तः संज्ञी तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यस्तिर्यग् वा बध्नाति, नवरं पर्याप्तपञ्चेन्द्रियपर्याप्तत्रसमार्गणयोः पञ्चवचनयोगमार्गणासु च पर्याप्त इति विशेषणं पञ्चमनोयोगसंज्ञिमार्गणासु संज्ञी पर्याप्तश्चेति विशेषणद्वयं स्वरूपदर्शकं ज्ञेयम्, मार्गणानां तथात्वेन व्यवच्छेद्याभावात्, तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धं पर्याप्तः संज्ञी तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यस्तिर्यग् वा निर्वर्तयति अत्र विशेषेण विचारणा पूर्ववदेव, भावना तु ओघवत्। देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकस्तदर्हविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिः, प्रस्तुतमार्गणासु तिर्यग्मनुजानां सत्त्वेऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरप्रमाणस्थितिबन्धकस्यास्यैव महात्मनस्तदुत्कृष्टरसनिर्वर्तकत्वात्। तथा 'ओरालमीसजोगे' त्ति औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां 'दुआऊणं' ति तिर्यङ्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टानुभागं संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यस्तिर्यग् वा बध्नाति। औदारिकमिश्रयोगे लब्ध्यपर्याप्तानामेव परभवायुर्बन्धाभ्युपगमात् तेषां च नरकदेवायुर्बन्धायोगात् द्व्यायुषोरित्यनेन तिर्यङ्मनुष्यायुषोर्ग्रहणम्। असंज्ञिनस्तादृग् विशुद्ध्यभावेनोत्कृष्टरसबन्धायोगात् संज्ञीति, पर्याप्तस्य पर्याप्तनामकर्मोदयवतोऽत्रायुर्बन्धाभावादपर्याप्त इत्यपि वाच्यम्। सम्यग्दृशामौदारिकमिश्रयोगे आयुषोऽबन्धात् मिथ्यादृष्टिरिति। इन्द्रियकाययोगवेदकषायाणां कतिपयप्रतिमार्गणासु विशेषवक्तव्यसम्भवात् आयुषामुत्कृष्टरसबन्धका ग्रन्थकृता साक्षात् प्ररूपिताः, तद्व्यतिरिक्तासु कतिपयमार्गणासु तेषां सामान्यवक्तव्येनैव गतार्थत्वात् साक्षान्नोक्तास्तासु त अस्माभिर्मन्दमतिविनेयानुग्रहार्थं प्रदर्श्यन्ते, तद्यथा-'सूक्ष्मैकेन्द्रिय-'बादरैकेन्द्रिय- पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय'पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपासु षट्स्वेकेन्द्रियावान्तरमार्गणासु, नवसु विकलाक्षमार्गणासु, पृथ्वीकायौघा-प्कायौघ-तेजस्कायौघ--वायुकायौघ-वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघवर्जासु सूक्ष्मपृथ्वीकायादित्रयस्त्रिंशत्कायमार्गणासु आहारकतन्मिश्रयोगयोश्चेति सर्वसंख्ययाष्टचत्वारिंशन्मार्गणासु स्वस्वप्रायोग्याणामायुषामुत्कृष्टरसं साकारो जाग्रत् तदर्हविशुद्धो बध्नाति। तत्र सूक्ष्मैकेन्द्रियबादरैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियौघ-सूक्ष्मपृथ्व्यप्तेजोवायुकाय-बादरपृथ्व्यप्तेजोवायुकाय--प्रत्येकवनस्पति-सूक्ष्मसाधारणवनस्पति-बादरसाधारणवनस्पतिरूपासु षोडशमार्गणासु पर्याप्त इत्यपि बन्ध-

कस्य विशेषणं वाच्यम्, कुतः ? अपर्याप्तानामपि जीवानां तास्वन्तर्भावात् तद्व्यवच्छेदार्थमिति। तथा द्वादशसु तेजस्कायवायुकायमार्गणासु केवलं तिर्यगायुषः, आहारकतन्मिश्रमार्गणयोर्देवायुषो बन्धसद्भावेन तस्यैवोत्कृष्टरसबन्धो वाच्यः। शेषासु चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु मनुष्यायुस्तिर्यगायुषोरिति। उत्कृष्टत्वं चात्र रसस्य मार्गणाप्रायोग्यं वेदितव्यम्, कुतः ? मनुष्यतिर्यगायुषोरोघोत्कृष्टरसबन्धस्य पर्याप्तसंज्ञी मिथ्यादृष्टिमनुष्यतिर्यक्स्वामिकत्वात् तयोश्चात्रानन्तर्भावात्। देवायुष ओघोत्कृष्टरसस्याप्रमत्तमुनिस्वामिकत्वाद् आहारकतन्मिश्रयोगिनोश्चाप्रमत्तत्वासम्भवात् ॥१५०-१५२॥

अथ ज्ञानादिमार्गणासु आयुषामुत्कृष्टरसबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु अपमत्तो।
देवाउगस्स णिरयो सुरो य सम्मो णराउस्स ॥१५३॥
मणणाणसंयमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं।
देवाउगस्स णेयो अपमत्तो देससंयमे मणुसो ॥१५४॥ (उद्गीतिः)
तिअणाणायतअभवियमिच्छेसुं दव्वसंयमी मणुसो।
देवाउगस्स तिण्हं सेसाणाऊण ओघव्व ॥१५५॥

(प्रे०) **'णाणतिगे'** इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानरूपासु त्रिमार्गणासु अवधिदर्शनमार्गणायां सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु चेति सर्वसंख्यया सप्तमार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकोऽप्रमत्तमुनिस्तदर्हविशुद्धः साकारो जाग्रच्च, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि प्राग्बद्धजिननामकर्माणामपेक्षया द्वितीयाद्याकर्षापेक्षया वोत्कृष्टरसस्यैव बन्ध इति। **'णराउस्स'** मनुष्यायुषः सम्यग्दृष्टिर्नारको देवश्च तदर्हविशुद्धः पर्याप्त उत्कृष्टरसबन्धकः। करणाऽपर्याप्तानामायुषोऽबन्धकत्व ज्ञापनाय पर्याप्त इति विशेषणं वाच्यं बन्धकस्येति।

तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिसंयमलक्षणासु पञ्चमार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकोऽप्रमत्तमुनिस्तदर्हविशुद्धः साकारादिविशेषणविशिष्टः **'देससंयमे'** त्ति देशविरतिमार्गणायां देवायुष उत्कृष्टरसबन्धको मनुष्यः, कुतः ? देशविरतितिरश्च उत्कृष्टतयाप्यष्टादशसागरमितस्थितेरेव बन्धकत्वेन तदुत्कृष्टरसबन्धायोगात् देवनारकाणां विरतत्वायोगाच्च। इह देशविरतौ देवायुषो रसस्योत्कृष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं ज्ञेयमोघोत्कृष्टरसबन्धस्याप्रमत्तमुनिस्वामिकत्वात्।

'तिअणाण' इत्यादि। मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽसंयमाऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु षण्मार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसबन्धको द्रव्यसंयमी मनुष्यस्तदर्हविशुद्धः। स च नवमग्रैवेयकप्रायोग्यैकत्रिंशत्सागरप्रमितस्थितिबन्धको बोध्यः, द्रव्यसंयतानामुत्कृष्टतया नवमग्रैवेयकं यावदुत्पा-

दाभ्युपगमात्, **'तथा चोक्तं'** जइलिंगमिच्छदिट्ठी, गेवेज्जा जाव जंति उक्कोसं' इति। **'सेसाणाऊण'** त्ति देवायुर्वर्जानां नरकतिर्यग्मनुष्यलक्षणानां त्रयाणामायुषामुत्कृष्टरसबन्धक ओघवज्ज्ञेयः, **तद्यथा**—नरकायुषो मनुष्यतिर्यगायुषोश्च पर्याप्तः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तदर्हक्लिष्टो मनुष्यस्तिर्यग् वोत्कृष्टरसबन्धकः, देवनारकाणामल्पतरस्थितिबन्धकत्वेनोत्कृष्टरसबन्धकृत्वायोगात् ॥१५३-१५५॥

अथ क्रमप्राप्तासु लेश्यामार्गणासु आयुषामुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां प्रचिकटयिषुरादौ तावदप्रशस्तासु त्रिलेश्यासु तान् दर्शयति—

अपसत्थ तिलेसासुं सम्मो मिच्छो व दुगइयो णेयो ।
देवाउगस्स तिण्हं मिच्छत्ती दुगइयो सण्णी ॥१५६॥

'अपसत्थ' इत्यादि, अप्रशस्तत्रिलेश्यारूपासु तिसृषु मार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसबन्धको 'द्विगतिक' इति तिर्यग् मनुष्यो वा, किंविशिष्टः? सम्यग्दृष्टिः मिथ्यादृष्टिर्वा। ननु भवतु सम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टरसबन्धकः, देवायुषः प्रशस्तत्वात्, प्रस्तुतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य विशुद्धिसापेक्षत्वात् सम्यग्दृष्टौ विशुद्धेः संभवाच्च परं मिथ्यादृष्टिः कथमुत्कृष्टरसबन्धकः, तस्य सम्यग्दृष्ट्यपेक्षया हीनविशुद्धत्वादितिचेन्न, प्रस्तुतमार्गणासूत्कृष्टपदे साधिकसागरोपममिताया एव स्थितेर्बन्धसद्भावेन मिथ्यादृष्टेरपि तावत्स्थितिबन्धसम्भवेन च तदुत्कृष्टरसबन्धस्यापि सद्भावात् ।

'तिण्हं' ति नरकतिर्यग्मनुष्यायुष्करूपाणां त्रयाणामायुषामुत्कृष्टरसबन्धकः मिथ्यादृष्टिसंज्ञी तिर्यग् मनुष्यश्च । यद्यपि देवनारकाणां मनुष्यतिर्यगायुषोर्बन्धोऽस्ति तथापि ते न तदुत्कृष्टरसबन्धकाः, यतः प्रस्तुतमार्गणासु त्रिपल्योपममितस्थितिबन्धकैरेव तदुत्कृष्टरसो बध्यते न च देवनारकाः कदाचिदपि एतावत्प्रमाणां स्थितिं बध्नन्ति, तेषामनन्तरभवे युगलधर्मित्वेनोत्पादाभावात् । तथा अयं विशेषः सासादनस्य तिरश्चो मनुष्यस्य वा तदुत्कृष्टस्थितिबन्धसम्भवेऽपि विवक्षाभावादुत्कृष्टरसबन्धाभावाद् वा न तन्निर्देशोऽत्रेति ॥१५६॥ अथ प्रशस्तासु तास्वाह —

सुहलेसासु सुराउस्सोघव्व णराउगस्स सम्मसुरो ।
तेउपउमासु मिच्छो देवो तिरियाउगस्स भवे ॥१५७॥

(प्रे०) **'सुहलेसासु'** इत्यादि, तिसृषु त्रिप्रशस्तलेश्यामार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसबन्धक ओघवद् भवति, कुतः? ओघवदिहापि तदुत्कृष्टरसबन्धस्याप्रमत्तस्वामिकत्वात्। **'णराउगस्स'** त्ति मनुष्यायुषः उत्कृष्टरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिर्देवः, मनुष्यतिरश्चां तद्बन्धाभावात्, नारकाणां च मार्गणाबाह्यत्वात् । मिथ्यादृष्टेस्तथाविधविशुद्ध्याभावात् सम्यग्दृष्टिरिति । **'तेउपउमासु'** त्ति शुक्ललेश्यामार्गणायां तिर्यक्प्रायोग्यबन्धाभावात् तेजःलेश्यापद्मलेश्ययोस्तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यादृष्टिर्देवः, मनुष्यतिरश्चां देवप्रायोग्यबन्धकत्वात्। सम्यग्दृष्टेर्देवस्य मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात्। सास्वादनसत्को विशेषस्त्विहापि प्राग्वद् वेदितव्यः ॥१५७॥

अथ सास्वादनमार्गणायामाह—

सासाणे मणुसो चिअ सुराउगस्स इयराण दुगइट्ठो ।
अमणे पणिंदियो खलु चउण्ह आऊण विण्णेयो ॥१५८॥

(प्रे०) 'सासाणे' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां देवायुष उत्कृष्टरसबन्धको मनुष्यः-एव-कारोऽवधारणार्थः, न तिर्यगपीति भावः, द्रव्यसंयतानामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । 'इयराण' त्ति तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टरसबन्धकः 'दुगइट्ठो' त्ति तिर्यग्मनुष्यश्च युगलिकप्रायोग्यायुर्बन्धकस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वादित्यादि सर्वमोघवत् । अथासंज्ञिमार्गणायामाह—

'अमणे' त्ति चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टरसबन्धकस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः, स च पर्याप्तः 'जत्थ पज्जत्तापज्जत्ते' त्यादिना सामान्यवक्तव्यतायामपर्याप्तस्य निषिद्धत्वात् । तिर्यक्तु अर्थाद् गृह्यते, गतं मार्गणास्वायुषामुत्कृष्टरसबन्धकनिरूपणम् । गते च तस्मिन् समाप्तेयमुत्कृष्टरसबन्धस्वामि प्ररूपणेति ॥१५८॥

अथ जघन्यरसबन्धस्वामित्वम्

विवृतमुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वम् , अथ जघन्यरसबन्धस्वामिनो निर्दिदिक्षुरादौ तावदा-युर्वर्जानां विंशतिशतप्रकृतीनां वक्ष्यमाणार्थोपयोगित्वेन संग्रहं पृथक्करोति—

जिणआहारजुगलपुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई ।
णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ १५९॥
णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य ।
थीणद्धितिगमणचउगसोगारइथीणपुंसाणि ॥१६०॥
सायथिरसुहजससियरतिरिदुगणीआणि णरदुगुच्चाणि ।
संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं॥१६१॥
एगिंदियथावरसुहमविगलतिगणिरयदेवविउवदुगं ।
तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया ॥१६२॥
सुहधुवबंधिउरलतणुवंगा उज्जोअआयवाणि त्ति ।
एत्तो आइम्मि किरिअ जं वोच्छं ता कमा गेज्झा ॥१६३॥

(प्रे०) 'जिण' इत्यादि । अत्र प्रथमं प्रकृतीरेव संगृह्य गणापयति यथा-जिननाम आहारकद्विकं, पुरुषवेदः, चतुःसंज्वलनाः, भयजुगुप्से, हास्यरती, निद्राद्विकं, उपघातः, 'कुवण्णचउगं' ति अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं 'विग्घाणि' पञ्चान्तरायाश्चेति प्रथमगाथायां चतुर्विंशति प्रकृतीनां संग्रहः । तथा

णव आवरणाणि'–त्ति नवावरणानि-पञ्चज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणरूपाणि, **'तइअकसाय'** त्ति तृतीयकषायाः प्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाः, द्वितीयकषायाः अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कात्मकाः, मिथ्यात्वं, स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिलक्षणं **'अण'** त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कं, शोकारती, स्त्रीवेदः, नपुंसकवेद इति द्वितीयगाथायामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां संग्रहः। तथा **'सियर'** त्ति संतराः सप्रतिपक्षाः, ताश्च सातासाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टौ, तिर्यग्द्विकं, नीचैर्गोत्रं मनुष्यद्विकं मनुष्यगतितदानुपूर्वीरूपम्, उच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं आकृतिषट्कं संस्थानषट्कमित्यर्थः, खगतिद्विकं, सुभगत्रिकं-सुभगसुस्वरा-ऽऽदेयरूपं, दुर्भगत्रिकं दुर्भग-दुःस्वराऽनादेयात्मकं चेति चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां संग्रहस्तृतीयगाथायाम्। तथा एकेन्द्रियजातिः, स्थावरनाम, सूक्ष्मत्रिकं-सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणरूपं विकलत्रिकं-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणं, नरकद्विकं, देवद्विकं, वैक्रियद्विकं, त्रसनाम, पञ्चेन्द्रियजातिः, बादरत्रिकं-बादर-पर्याप्त प्रत्येकात्मकं, उच्छ्वासः, पराघात इति चतुर्थगाथायामेकविंशतिप्रकृतीनां संग्रहः; तथा शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ-शुभवर्णादिचतुष्कतैजसशरीरकार्मणशरीराऽगुरुलघुनिर्माणरूपाः, औदारिकशरीरनाम, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, उद्योतनाम, आतपनामेति अर्धपञ्चम्यां गाथायां द्वादशप्रकृतीनां संग्रह इति सार्धचतुर्गाथासु सर्वसंख्यया विंशत्युत्तरशतप्रकृतयः संगृहीताः। **'एत्तो'** त्ति एताभ्यो यां काञ्चिदादौ कृत्वा यावत्संख्याका वक्ष्ये तास्तावत्संख्याकाः क्रमाद् ग्राह्याः। यथा **'चउदसविग्घाइणाण'** इति उक्तौ प्रथमगाथाचतुर्थपादाद् **'विग्घाणि'** इति पदेन पञ्चान्तराया, द्वितीयगाथायाः प्रथमचरणाद् **'णवआवरणाणि'** इति पदेन चत्वारि दर्शनावरणीयानि पञ्चज्ञानावरणीयानि चेत्येवं चतुर्दशप्रकृतयो गृहीतव्याः। तथैव **'भयाइगाणं एगादसण्ह'** इति उक्ते संग्रहगाथातः 'भयेकुच्छे [1] हस्सरई [2] २णिद्दादुगमुवघायो [*] कुवण [*] चउगं' इति एकादश प्रकृतयो बोद्धव्याः। अनया दिशाऽग्रेऽपि यथासंख्यं प्रकृतिग्रहणं वेदितव्यम् ॥१५९-१६३॥

प्रकृतीः संगृह्याथ जघन्यरसबन्धकस्य सामान्यस्वरूपमभिधित्सुराह—

सव्वाणं पयडीणं जहण्णगम्मि अणुभागबंधम्मि।
वट्टमाणो सामी मंदऽणुभागस्स विण्णेयो ॥१६४॥
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामं बंधगं विणा सामी।
सागाराइविसिट्ठो विण्णेयो करणपज्जत्तो ॥१६५॥

(प्रे०) **'सव्वाणं'** इत्यादि। सर्वासां प्रकृतीनां **'मंदऽणुभागस्स'** त्ति जघन्यरसबन्धस्य स्वामी-बन्धको जघन्यानुभागबन्धस्थाने वर्त्तमानः-हीनतमरसबन्धस्थानं बध्नन्नित्यर्थः। कथंभूतः सः? इत्याह—साकारजाग्रदादिविशिष्टः करणपर्याप्तश्च। अनाकारस्य सुप्तादेर्लब्ध्यपर्याप्तस्य लब्धिप-

र्याप्तत्वेऽपि करणाऽपर्याप्तस्य च व्यवच्छेदार्थं साकारादेः करणपर्याप्तस्य चोपादानम् । शुभप्रकृतीनां जघन्यरसोऽतिसंक्लेशेनाऽशुभप्रकृतीनां च सोऽत्यन्तविशुद्धया जन्यते, तादृक्संक्लेशविशुद्धी तु साकारादेः करणपर्याप्तस्य चैव सम्भाव्येते । किं सर्वत्र साकारत्वादि विशिष्टो जघन्यरसस्य बन्धकः ? नेत्याह—'विणा' त्ति परावर्त्तमानमध्यमपरिणामस्तम्, एवं भूतं बन्धकं विना-विहाया-न्यत्रैवोक्तविशेषणविशिष्टो जघन्यरसबन्धको ज्ञेयः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामवान् जघन्यरसबन्ध-कस्तु तादृग्विशेषणविरहितोऽपि स्वबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धं विदधातीति भावः ॥१६४-१६५॥

इति सामान्यतो जघन्यरसबन्धकमभिधायेतः विशेषेण जघन्यानुभागबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह—

अंतिमसमये खवगो चउदसविग्घाइगाण सुहमत्थो ।
खवगो अणियट्टीए अंतखणे पणपुमाईणं ॥१६६॥

(प्रे०) 'अंतिम' इत्यादि, 'विग्घाणि णवआवरणाणि' इति संग्रहगाथोक्तानां पञ्चान्तरायाणां पञ्चज्ञानावरणानां चतुर्दर्शनावरणानां चेति चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धं सूक्ष्मसम्परायाख्यदशम-गुणस्थानकस्थः क्षपकः 'अंतिमसमये' दशमगुणस्थानकस्य चरमसमये करोति । कुतः ? इति चेदु-च्यते एता अशुभप्रकृतयोऽपरावर्त्तमानाश्च, अपरावर्त्तमानाऽशुभानां जघन्यरसमर्वविशुद्धेनैव तद्बन्ध केन निर्वर्त्यते, एतद्बन्धकेषु त्वयमेव विशुद्धतम इति । तथा 'पणपुमाईणं' ति पुरुषवेदसंज्वलन-क्रोधमानमायालोभानां 'अंतखणे' त्ति अनिवृत्तिबादराख्ये नवमगुणस्थानके स्वस्वबन्धचरमसमये क्षपको जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्यथा—पुरुषवेदिक्षपको नवमगुणस्थानकस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु पुरुषवेदस्य सर्वजघन्यामष्टवर्षमितां स्थितिं बध्नाति तदा स तस्य जघन्यानुभागमुपरचयति, स्त्रीवेदिनपुंसकवेदिक्षपकयोः कनिाऽपि पुरुषवेदस्य स्थितिः संख्येयसहस्रवर्षप्रमितैव, न ततोऽप्य-ल्पीयसी, पुरुषवेदिक्षपकापेक्षया तयोरन्तर्मुहूर्त्तात् प्रागेव पुरुषवेदबन्धविरमणात् । पुरुषवेदिक्षपका-पेक्षया दीर्घतरस्थितिबन्धकत्वेन न तयोर्जघन्यरसबन्ध इति भावः ।

तथा संज्वलनक्रोधस्य जघन्यानुभागं क्रोधोदयेनैव क्षपकश्रेणिमारूढः क्षपकस्तद्बन्धचरमसमये बध्नाति, अवधारणं चात्र मानाद्युदयेन क्षपकश्रेणिमारूढानां क्षपकाणां व्यवच्छेदार्थं, यतस्तेषां संज्वलन-क्रोधस्य बन्धः क्रोधोदयारूढापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तादर्वाग् व्युच्छित्तिं याति ततो न ते संज्वलनक्रोधस्य जघन्यरसबन्धमर्हन्ति क्षपकश्रेणौ उत्तरोत्तरसमये अनन्तगुणविशुद्धिवृद्धिमद्भावेन सर्वेषा शुभक-र्मणां प्रतिसमयमनन्तगुणहीनरसबन्धोपलम्भात् । क्रोधोदयारूढस्यैव तज्जघन्यरसबन्धकत्वम् क्रोधो-दयारूढक्षपकश्रेणेः क्रोधोदयविच्छेदानन्तरं मानाद्युदयभाजोऽस्य संज्वलनमानादीनां त्रयाणामपि जघन्यरसबन्धरतत्तद्बन्धचरमसमये भवतीति बोद्धव्यम् । संज्वलनमानस्य जघन्यरसं तदुदयेन क्रोधोदयेन वा श्रेणिमारूढः क्षपकः तद्बन्धचरमसमये विदधाति, न माया लोभोदयारूढावपि

तयोः क्रोधोदयारूढाद् मानोदयारूढाद् वा क्षपकादन्तर्मुहूर्तात्प्राग् मानबन्धोपरमात् । संज्वलनमायालोभयोर्जघन्यरसबन्धस्वस्य मानोदयेन क्रोधोदयेन वा श्रेणिमारूढस्य भवत्येव । संज्वलनमायाया जघन्यरसं मायोदयेन मानोदयेन क्रोधोदयेन वा श्रेणिमारूढस्तद्बन्धान्तिमक्षणे बध्नाति न लोभोदयेन श्रेणिगतोऽपि, कुतः ? अस्य मायाद्युदयेन श्रेण्यारूढक्षपकापेक्षयान्तर्मुहूर्तात्प्रागेव मायाबन्धविच्छेदात् । तथा संज्वलनलोभस्य जघन्यानुभागबन्धः सर्वेषां क्षपकाणां तद्बन्धचरमसमये नवमगुणस्थानकस्यापश्चिमक्षण इत्यर्थः, भवति । इदमत्र तात्पर्यम्—क्रोधोदयेन श्रेणिमारूढः क्षपकश्चतुर्णामपि संज्वलनानां जघन्यरसबन्धं प्रकरोति । मानोदयेन तदारूढः क्षपकः क्रोधवर्जत्रिसंज्वलनानां जघन्यरसं विदधाति । मायोदयेन श्रेणिमारूढः स संज्वलनमायालोभयोर्जघन्यानुभागमुपरचयति न संज्वलनक्रोधमानयोरपि । लोभोदयेन श्रेणिमुपगतः क्षपकः केवलं संज्वलनलोभस्य जघन्यानुभागं विदधाति न शेषत्रिसंज्वलनानामपीति ।।१६६।।

अथो भयादीनामेकादशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकं प्रदर्शयन्नाह—

खवगो भयाइगाणं णेयो एगादसण्ह पयडीणं ।
सगचरमबंधसमये अपुव्वकरणे विसुद्धयमो ।।१६७।।

(प्रे०) '**खवगो**' इत्यादि । भयजुगुप्से हास्यरती निद्राद्विकम् उपघातोऽशुभवर्णादिचतुष्कमिति एकादशप्रकृतीनां जघन्यरसः '**सगचरमबंधसमये**' स्वचरमबन्धसमये स्वस्वबन्धान्तिमक्षणेऽपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती विशुद्धतमः तद्बन्धकेषु सर्वोत्कृष्टविशुद्धिभाक् क्षपकः करोति । अत्रापूर्वकरणोपरितनगुणस्थानकवर्तिनो भयादीनां बन्धाभावादपूर्वकरणवर्तिनो ग्रहणम् । तद्वच्चोपशमकात् क्षपकस्यानन्तगुणविशुद्धत्वात् क्षपक इति । तद्बन्धचरमसमयवर्तिक्षपकाणामपि परस्परं विशुद्धितारतम्योपलम्भाद् विशुद्धतमस्योपादानम् । इह हि भयजुगुप्सा-हास्यरतीनां जघन्यरसबन्धोऽपूर्वकरणचरमसमये बोध्यः, ततः परं तद्बन्धोपरमात् । निद्राद्विकस्य सप्तभागात्मकापूर्वकरणगुणस्थानकस्य प्रथमभागान्तिमक्षणेऽनन्तरोक्तादेव हेतोः । उपघाताऽशुभवर्णादिचतुष्कयोरष्टमगुणस्थानषष्ठभागापश्चिमक्षणे जघन्यरसो बध्यते तत ऊर्ध्वं तद्बन्धाभावात् ।

इदानीं मिथ्यात्वमोहादीनां षोडशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह—

संयमहुत्तविसुध्धो अडमिच्छाईण मिच्छगो सम्मो ।
दुइअकसायाण भवे तइअकसायाण देसजई ।।१६८।।

(प्रे०) '**संयमहुत्त**' इत्यादि । मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति अष्टप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः संयमाभिमुखो विशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यो भवति, कुतः ? उच्यते–इमा हि अशुभाः प्रकृतयोऽशुभानां जघन्यरसो यथासंभवं विशुद्धतमेनैव बन्धकेन क्रियते,

एतद्बन्धकेष्वयमेव विशुद्धतम इति। अत्र संयमाभिमुख इत्यनेनाप्रमत्तत्वाभिमुखो मिथ्यात्वगुणस्थानचरमसमयवर्ती ज्ञेयस्तस्यैव विशुद्धतमत्वोपलम्भात्। यदुक्तं शतकचूर्णौ–"थीणद्धितिगमिच्छत्ताणंताणुबंधीणं एतेसिं अट्ठण्हं कम्माणं चरिमसमयमिच्छद्दिट्ठी से काले संमत्तं संजमं च जुगवं पडिवज्जिउकामो जहन्नाणुभागं करेइ"। एवमग्रेऽपि अप्रमत्ताभिमुखत्वं तत्तद्गुणस्थानकचरमसमयवर्त्तित्वं च ज्ञेयं बन्धकस्य। 'दुइअकसायाण' त्ति द्वितीयकषायाणामप्रत्याख्यानावरणचतुष्कलक्षणानां जघन्यानुभागबन्धकः 'सम्मो' त्ति सम्यग्दृष्टिः संयमाभिमुखोऽप्रमत्ताभिमुखो विशुद्धो मनुष्यो ज्ञेयः यद्यपि संयमाभिमुखेन मिथ्यादृष्टिनापि विशुद्धिबलादप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य अल्परसो बध्यते तथापि तदपेक्षया यथोक्तसम्यग्दृष्टेरनन्तगुणाधिकविशुद्धत्वात्, तस्यैव तज्जघन्यरसनिर्वर्तकत्वम् उक्तं च तत्रैव–"अप्पच्चक्खाणावरणाणं असंजयसम्मद्दिट्ठी से काले संजमं पडिवज्जिउकामो जहन्नं करेइ"। इति। 'तइअकसायाण' त्ति प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धमप्रमत्ताभिमुखो विशुद्धतमो देशविरतिः मनुष्यः करोति, तथा चोक्तं–"पच्चक्खाणावरणाणं देसविरयस्स से काले संजमं पडिवज्जिउकामस्स जहन्नं भवति" त्ति मनुष्यग्रहणं चात्र शेषगतित्रयभाजां संयमाभिमुखत्वायोगात्। ॥१६८॥ साम्प्रतं सातवेदनीयादीनामष्टप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकान् दर्शयति—

परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ मिच्छदिट्ठीयो।
सम्मादिट्ठीयो वा सायाईण अडपयडीणं ॥१६९॥

(प्रे०) 'परियत्तमाण' इत्यादि। 'सायाईण' त्ति सातवेदनीयं स्थिरनाम शुभनाम यशःकीर्त्तिनामेति चतुष्प्रकृतीनां सेतराणां सप्रतिपक्षाणामसातवेदनीया-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्त्तिनामसहितानामिति सर्वसंख्ययाष्टानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा परावर्त्तमानमध्यमपरिणामश्चतुर्गतिको जघन्यानुभागं बध्नाति। कथम्? इति चेदुच्यते, सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटिमिता उत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते, असातस्य तु त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटिमिता। तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसातस्य सम्यग्दृष्टिप्रायोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणां स्थितिं बध्नाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तात् परावृत्त्य सातं बध्नाति, पुनरप्यसातमिति। एवं देशविरताऽविरतसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-मिथ्यादृष्ट्योऽपि अन्यतरं परावृत्त्य परावृत्त्य साताऽसाते बध्नन्ति। तत्र च मिथ्यादृष्टिः परावृत्त्या तावत् बध्नाति यावत् सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमिता ज्येष्ठा स्थितिः, ततः परतोऽपि संक्लिष्टः संक्लिष्टतरः संक्लिष्टतमोऽसातमेव केवलं तावद् बध्नाति यावत् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटिमिता असातस्योत्कृष्टस्थितिः प्रमत्तादपि परतोऽप्रमत्तादयो विशुद्धा विशुद्धतरा विशुद्धतमाः सातमेव केवलं तावद् बध्नन्ति यावत् सूक्ष्मसम्पराये द्वादशमुहूर्ताः, तदेवं व्यवस्थिते सातस्य समयोनपञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीलक्षणायाः स्थितेरारभ्य असातेन सह परावृत्त्या बध्नतो जघन्यानुभागबन्धोचितः परावर्तमान-

मध्यमपरिणामस्तावद् लभ्यते यावत् प्रमत्तगुणस्थानकेऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा सर्वजघन्या-ऽसातस्थितिः । एतेषु हि सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिप्रायोग्येषु स्थितिस्थानेषु प्रकृतेः प्रकृत्यन्तरसंक्रमे मन्दः परिणामो जघन्यानुभागबन्धयोग्यो लभ्यते, नान्यत्र । **तथाहि**—येऽप्रमत्तादयः सातमेव केवलं बध्नन्ति ते विशुद्धत्वात् तस्य प्रभूतमनुभागमुपकल्पयन्ति, योऽपि मिथ्यादृष्टिः सातस्योत्कृष्टां स्थितिमतिक्रान्तोऽसातमेव केवलमुपरचयति सोऽप्यतिक्लिष्टत्वात् तस्य प्रभूतं रसमभिनिर्वर्तयति, तस्माद् यथोक्तस्थितिबन्धे एव जघन्यानुभागबन्धसम्भवः, तथाविधपरिणामसद्भावादिति । इदन्तु बोध्यम्—शतकवृत्त्याद्यभिप्रायेणैकेन्द्रियादयस्तथाविधाध्यवसायाभावेन न जघन्यरसबन्धकाः, केचित्पुनरेकेन्द्रियपर्यवसानानां जीवानां सातवेदनीयादिपरावर्तमानप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामित्वं स्वीकुर्वन्ति, तैरेकेन्द्रियेष्वपि जघन्यपरावर्त्तमानपरिणामस्य प्रतिपादनादिति । तथा अस्थिरा-ऽशुभाऽयशःकीर्त्तीनां विंशतिसागरोपमकोटीकोटिमिता उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता, स्थिर-शुभ यशःकीर्त्तीनां तु दशसागरोपमकोटिकोटिमिता, तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽस्थिर-ऽशुभा ऽयशः-कीर्त्तीनां सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटिकोटिप्रमितां स्थितिं बध्नाति । ततोऽन्तर्मुहूर्ताद् विशुद्धः सन् पुनरपि स्थिरादिकाः प्रतिपक्षभूताः बध्नाति, ततः पुनरप्यस्थिरादिका इति । एवं देशविरता-ऽविरत-मिश्र-सास्वादन मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्त्या स्थिरशुभयशःकीर्त्तीरस्थिर–ऽशुभा–ऽयशःकीर्त्तीश्च तावद् बध्नन्ति यावद् मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने स्थिरादीनामुत्कृष्टा स्थितिः, एतेषु च सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिप्रायोग्येषु स्थितिस्थानेषु जघन्यानुभागबन्धो लभ्यते, नान्यत्र, दशसागरोपमकोटिकोटिपरतो ह्यस्थिरादय एवाशुभाः प्रकृतयो बहुरसाश्च बध्यन्ते । अप्रमत्तादयस्तु विशुद्धाः स्थिरादिकाः शुभप्रकृतीरेव बहुरसा निर्वर्तयन्तीति, नान्यत्र जघन्यानुभाग आसां लभ्यते, अत्र भावना तु सातवद् बोध्येति । **अत्रेदं हृदयम्**—सातादयोऽष्टौ प्रकृतयो मिथ्यादृष्टेरारभ्य प्रमत्तमुनिं यावत् परावृत्त्या बध्यमानैः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामैः जघन्यरसाः क्रियन्ते इति ॥१६९॥

अथ स्त्रीवेदादीनां चतुष्प्रकृतीनां जघन्यरसनिर्वर्तकानभिधातुकाम आह—

तप्पाउग्गविसुद्धो सण्णी मिच्छोऽत्थि थीणपुंसाणं ।
तप्पाउग्गविसुद्धोऽत्थि पमत्तो अरइसोगाणं ॥१७०॥

(प्रे०) **'तप्पाउग्ग'** इत्यादि । स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः जघन्यरसबन्धं मिथ्यादृष्टिः संज्ञी चतुर्गतिकः साकारादिविशिष्टः करणपर्याप्तस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः करोति, सम्यग्दृष्टेः केवलं पुरुषवेदबन्धकत्वेन स्त्रीनपुंसकवेदबन्धाभावादुक्तं मिथ्यादृष्टिरिति । असंज्ञिनस्तादृग्विशुद्ध्यभावात् संज्ञीति । दर्शनोपयुक्तस्याऽपर्याप्तस्य च जघन्यरसबन्धाभावात् साकारादिविशेषणानुवृत्तिः, अस्य प्रकृतिद्वयस्याऽशुभत्वात्, अशुभानां जघन्यरसस्य विशुद्ध्योपलभ्यमानत्वात् विशुद्ध

इति । विशुद्धतरस्य मिथ्यादृष्टेः पुरुषवेदबन्धकत्वेन तदबन्धप्रसङ्गात् तत्प्रायोग्येति । इह यद्यपि सामान्येन तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति उक्तः तथापि **'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तिः'** इतिन्यायात् स्त्रीवेदजघन्यरसबन्धकापेक्षया नपुंसकवेदजघन्यरसबन्धकः क्लिष्टतरो बोद्धव्यः ततो विशुद्धतरश्च स्त्रीवेदजघन्यरसबन्धक इति, **उक्तं च शतकचूर्णौ**—"णपुंसगइत्थिवेदाणं जहन्नगं चउगतिगा मिच्छ-दिट्ठी तप्पाउग्गविसुद्धा बंधंति, तओ विसुद्धतरो पुरिसवेदं बंधंति त्ति काउं । तत्थवि णपुंसगवेदस्स जहन्नं संकिलिट्ठतरो बंधइ, तओ विसुद्धतरो इत्थिवेदस्स ।" अत्र 'चउगतिका' इत्यनेन सामान्यतश्चतुर्गतिका जीवा उक्तास्तथापि देवेषु अनुत्तरवासिवर्जा देवाः स्त्रीनपुंसकवेदयोर्यथासंभवं बन्धकत्वेन ज्ञेयाः, अनुत्तरवासिनां सर्वेषां सम्यग्दृष्टित्वेन स्त्रीवेदनपुंसकवेदबन्धासम्भवात् । **'अरइसोगाणं'** ति अरतिशोकयोर्जघन्यरसं प्रमत्तः षष्ठगुणस्थानवर्त्ती मुनिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो निर्वर्तयति, अप्रमत्तादीनां तद्बन्धप्रायोग्याध्यवसायाभावेन तद्बन्धाभावात् मिथ्यादृष्ट्यादीनां तादृग्विशुद्ध्य-भावेन तज्जघन्यरसनिर्वर्तकत्वायोगाच्च प्रमत्त इति । **उक्तं च पञ्चसंग्रहे**—'अरइसोगाण उ पमत्तो' इति । तथा विशुद्धतरस्य हास्यरतिबन्धसंभवेन तदबन्धप्रसङ्गात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति ॥१७०॥

सम्प्रति नारकदेवायुषो जघन्यरसबन्धकान् दर्शयन्नाह —

णारगदेवाऊणं दुगइट्ठो घोलमाणपरिणामो ।
मिच्छो णिव्वत्तंतो सव्वलहुं पज्जणिव्वत्तिं ॥१७१॥

(प्रे०) **'णारग'** इत्यादि । नारकदेवायुषो जघन्यरसं **'दुगइट्ठो'** त्ति पर्याप्तो मिथ्यादृष्टिर्मनुष्य-स्तिर्यक् च **'णिव्वत्तंतो सव्वलहुं पज्जणिव्वत्तिं'** त्ति सर्वलघ्वीं दशवर्षसहस्रात्मिकां पर्याप्तनि-र्वर्त्तनसमर्थां पर्याप्तप्रायोग्यां स्थितिं बध्नन् **'घोलमाणपरिणामो'** त्ति परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो बध्नाति । अपर्याप्तानामेकेन्द्रियादिचतुरिन्द्रियपर्यन्तानां च तद्बन्धानभ्युपगमात् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियति-र्यक् पर्याप्तमनुष्यो वा तयोः स्वामी । पर्याप्तप्रायोग्येति स्थिते विशेषणमत्र स्वरूपदर्शकं ज्ञेयं न व्यवच्छेदकं देवानां नारकाणां चापर्याप्तत्वायोगात् । परावर्त्तमानपरिणामस्य आयुर्बन्धसम्भवात् 'घोलमाण' इति । अत्र नरकायुषो रसबन्धको मिथ्यादृष्टिः संख्येयवर्षायुष्क उत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोटि-वर्षायुष्क एव बोध्यः, असंख्येयवर्षायुष्कस्य तत्रोत्पत्त्यभावेन तद्बन्धायोगात् । अथ भवतु नरका-युषो बन्धको मिथ्यादृष्टिः, किन्तु देवायुषस्तु सम्यग्दृष्टिरपि सम्भवति बन्धकस्तत्कथमुक्तं केवलं मिथ्यादृष्टिरेव ? उच्यते, सम्यग्दृष्टे जघन्यतोऽपि वैमानिकदेवेष्वेवोत्पादाभिहितत्वात् , न तत्प्रायो-ग्यबन्धकानां जघन्यरसबन्धसम्भवः तत्र जघन्यस्थितेरपि असंख्येयवर्षात्मकत्वात् ॥१७१॥

अथ तिर्यग्मनुष्यायुषो जघन्यरसबन्धस्वामिनं दर्शयति—

तिरियमणुस्साऊणं दुगइट्ठो घोलमाणपरिणामो ।
मिच्छो णिव्वत्तंतो सव्वलहुमपज्जणिव्वत्तिं ॥१७२॥

(प्रे०) '**तिरिय**' इत्यादि तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्च मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा परावर्त्तमानपरिणामः सर्वजघन्यामपर्याप्तप्रायोग्यां क्षुल्लकभवप्रायोग्यां स्थितिं बध्नन् जघन्यानुभागं निर्वर्तयति । देवनारकाणां प्रेत्यापर्याप्तेषूत्पादाभावाद् '**दुगइङ्को**' इत्यनेन मनुष्यस्तिर्यक्च गृहीतः । सम्यग्दृशां मनुष्यतिरश्चां केवलं देवायुर्बन्धसद्भावेन तद्बन्धायोगाद् मिथ्यादृष्टिरिति । क्षुल्लकभवप्रमाणस्थितिबन्धकेषु यस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः जघन्यानुभागस्वामी स ज्ञेय इति ॥१७२॥

अथ सूक्ष्मत्रिकादीनां दशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकान् निर्दिदिक्षुराह—

परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ मिच्छदिट्ठीयो ।
तिरियो व मणुस्सो वा सुहुमाईण दसपयडीणं ॥१७३॥

(प्रे०) '**परियत्तमाण**' इत्यादि, सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं नरकद्विकं देवद्विकमिति दशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामस्तिर्यग् मनुष्यो वा । **तद्यथा**-सूक्ष्मत्रिकं बादरत्रिकेण द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातिरूपं विकलत्रिकं पञ्चेन्द्रियजात्या, नरकद्विकं मनुष्यद्विकादिना, देवद्विकं तिर्यग्द्विकादिना सह परावृत्त्या यदा बध्यते तदा परावर्त्तमानपरिणामेन तिर्यङ् मनुष्यो वा सूक्ष्मत्रिकादेर्जघन्यरसमभिनिर्वर्तयति प्रकृतेः प्रकृत्यन्तरसंक्रमणे मन्दपरिणामोपलम्भात् । देवनारकाणां भवप्रत्ययात् तद्बन्धाभावात् मनुष्यतिरश्चां ग्रहणम् ।

ननु 'निरयदुगस्स अप्पप्पणो जहन्नठिइं बंधमाणो तप्पाओग्गविसुद्धो जहन्नाणुभागं करेइ' इत्यादि, एवम्-'देवदुगस्स अप्पप्पणो उक्कोसठिर्तिं बंधमाणो तप्पाओग्गसंकिलिट्ठो जहन्नं करेइ' इत्थमेव 'विगलतिगसुहुमतिगाण' इत्यादि **शतकचूर्णिवचनात्** नरकद्विकादेर्जघन्यरसबन्धका नरकद्विकादेस्तां तां जघन्यादिस्थितिं बध्नन्त एव भणिताः, न पुनः प्रस्तुतग्रन्थवत् निरयद्विकादेः तत्प्रकृतेः सर्वाक्रान्तस्थितीर्बध्नन्तः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामाः । न चाऽसौ शतकपाठोऽपपाठः, त्रुटितपाठो वा, टीकाग्रन्थेष्वपि नरकद्विकादेर्जघन्यादितत्तत्स्थितिं बध्नतामेव तत्स्वामित्वस्य भणितत्वात् , **तद्यथा**-'नरकद्विकस्याऽशुभप्रकृतित्वाज्जघन्यस्थितिबन्धकाले तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा एते जघन्यानुभागं विदधति । देवद्विकस्य शुभप्रकृतित्वादात्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा अमी जघन्यानुभागं बध्नन्ति' इत्यादि, **शतकटीका** । एवमेव **कर्मप्रकृतिपञ्चसंग्रहवृत्त्यादा अपि** । ततः किम् ? ततः शतकचूर्ण्यादिग्रन्थेन समं प्रस्तुतग्रन्थविरोधः इति चेत् न, उभयत्राऽऽक्षरभेदस्य सत्त्वेऽपि अभिप्रायाऽभेदात् । **तथाहि**-शतकचूर्णिर्हि शतकग्रन्थविवरणरूपा कर्मप्रकृतिचूर्णिश्च कर्मप्रकृतिग्रन्थविवरणात्मिका, शतक-कर्मप्रकृतिग्रन्थयोस्तु अभेद एव, कुतः ? शतकस्याऽर्थतः कर्मप्रकृतिग्रन्थपीठिकास्थानीयत्वात् , यत उक्तं तत्कर्त्रा **बन्धनकरणचरमार्यायाम्**-

एवं बंधणकरणे परूविए सह हि बंधसयगेणं । बंधविहाणाहिगमो सुहमभिगंतुं लहुं होइ ॥१०२॥

इति, इयमस्या वृत्तिः,-'एवं' ति 'एवम्' उक्तप्रकारेणास्मिन् बन्धनकरणे 'बन्धशतकेन' बन्धशतकाख्येन ग्रन्थेन सह प्ररूपिते सति । एतेन किल शतककर्मप्रकृत्योरेककर्तृकता आवेदिता द्रष्टव्या'

इत्यादि । इत्थं हि शतककर्मप्रकृतिचूर्ण्योरपि एकाभिप्रायेण भवितव्यम्, किञ्च कर्मप्रकृतौ अनुकृष्टिप्रस्तावे सातवेदनीयस्योत्कृष्टस्थितिप्रभृत्या समयसमयस्थितिहान्या यावदसातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिस्तावत् यथोत्तररसबन्धाध्यवसायानां तानि चाऽन्यानि चेत्येवंलक्षणामनुकृष्टिमभिधाय 'एवं परित्तमाणीण उ सुभाणं' इत्येवंलक्षणोऽतिदेशः कृतस्तं विवृण्वता चूर्णिकृता शुभपरावर्तमानप्रकृत्यन्तर्गतत्वेन मनुष्यद्विकादिवद् देवद्विकस्याऽपि ग्रहणं कृतमेव, तथा च तच्चूर्णिपाठः—'देवदुगं मणुयदुगं पंचिंदियजाइ' इत्यादि । इत्थमेव स्वजघन्यस्थितिप्रभृतेर्यावत् सातवेदनीयस्योत्कृष्टा स्थितिस्तावत् असातवेदनीयरसबन्धाध्यवसायानां तानि चान्यानि चेत्येवंलक्षणामनुकृष्टिं निरूप्य 'एवं परित्तमाणीणमसुभाणं' इत्येवंलक्षणो योऽतिदेशः कृतस्तं विवेचयता चूर्णिकृताऽशुभपरावर्तमानप्रकृत्यन्तर्गतत्वेन द्वितीयादिपञ्चसंहनननामादिवत् निरयद्विकविकलत्रिकादीनामपि ग्रहणं कृतमेव, तथा च तद्ग्रन्थः—'एवं परित्तमाणीण असुभाणं' ति एवं चेव परित्तमाणीणं असुभपगईणं अणुकड्ढी भाणियव्वा । तं जहा—णिरयदुगं, आदिल्लाओ चत्तारि जातीओ, अंतिमा पंचसंघयणसंठाणा अपसत्थविहायगति, थावरसुहुम' इत्यादि । इह 'तानि-अन्यानिलक्षणाऽनुकृष्टिर्नाम सातवेदनीयादेरुत्कृष्टस्थितेः सातवेदनीयादिजघन्यरसबन्धार्हेऽध्यवसायास्तेषां सर्वेषामन्येषां च नवनवतराणामजघन्यरसबन्धप्रायोग्याणामध्यवसायानां समयसमयहीनस्थितिष्वपि सत्त्वम्, वैपरीत्येनाऽसातवेदनीयादेर्जघन्यस्थितिप्रभृतेरुत्तरोत्तरमधिकाधिकतरस्थितिषु पूर्वपूर्वसर्वाऽध्यवसायानां नवनवतरणामध्यवसायानां च सत्त्वम् । अत एव सातवेदनीयादीनां जघन्यरसबन्धस्वामित्वं सातवेदनीयाद्युत्कृष्टस्थितिबन्धकप्रभृतेर्यावदसातवेदनीयादेर्जघन्यस्थितेर्बन्धकास्तावतां सर्वेषां प्रतिपादितम्, एवमेवाऽसातवेदनीयादिजघन्यस्थितिबन्धकप्रभृतेर्यावत्सातवेदनीयादेरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तेषां सर्वेषाममसातवेदनीयादिजघन्यरसबन्धस्वामित्वं भणितम्, तथा च बन्धशतकचूर्णिः—"सम्मद्दिट्ठी मिच्छो व अट्ठ परियत्तमज्झिमो जयति' त्ति साताऽसातं थिराथिर सुहासुहं जसकित्तिअजसकित्ति एतेसि अट्ठण्ह कम्माणं जहन्नाणुभागं सम्मदिट्ठी वा मिच्छादिट्ठी वा बंधति ।......
.. . उक्कोसठितिओ आढवेत्तु जाव असातस्स सम्मदिट्ठिजोग्गा जहन्नाठिती ताव एतेसु ठितिठाणेसु सम्मद्दिट्ठिमिच्छादिट्ठिजोग्गेसु सव्वेसुवि सव्वजहन्नगो परिणामो तत्तुल्लो लब्भति" इत्यादि, सुसंगतं चैतत्, अन्यथा केवलानां सातवेदनीयाद्युत्कृष्टस्थितिं बध्नतां केवलानामसातवेदनादिजघन्यस्थितिं बध्नतां वा तत्तत्सातवेदनीयादिजघन्यरसबन्धकत्वे यथोक्तानुकृष्टिग्रन्थस्य विरोधात्, न च भवन्त्वेवं सातवेदनीयजघन्यरसबन्धस्वामित्व-तदनुकृष्टिग्रन्थयोर्विरोधः, नरकद्विकादिजघन्यरसबन्धस्वामित्व-तदनुकृष्टिग्रन्थयोस्तु विरोधः स्यादेवेति वाच्यम्, नरकद्विकादिरसबन्धाध्यवसायानुकृष्टयनुरोधेन तज्जघन्यस्थितिं बध्नतामिव सर्वासामाक्रान्ताजघन्यस्थितेर्बन्धकानां जघन्यरसबन्धप्रायोग्याध्यवसायसम्भवेन तेषामपि नरकद्विकादिजघन्यरसबन्धस्वामित्वस्य सुसिद्धेर्नरकगत्यादेर्जघन्यरसबन्धकस्वामित्वमभिधातव्यमेव, तथा च शतकचूर्णौ यत्

'निरयदुगस्स अप्पप्पणो जहन्नठिइं बंधमाणो' इत्यादिना नरकद्विकादीनां यज्जघन्यरसबन्धस्वामित्वं प्रतिपादितं तत्तु आदिदीपकादिन्यायविशेषेण संगमनीयम्, तथा च न कर्मप्रकृतिशतकचूर्णिग्रन्थविरोधः, न वा शतकचूर्णि-प्रस्तुतग्रन्थयोर्विरोधः त्रयाणामपि अभिप्रायस्य तुल्यैकरूपत्वादिति सर्वं सुस्थम् ॥१७३॥ अथ तिर्यग्द्विकादिप्रकृतित्रयस्य प्रकृतं प्रचिकटयिषुराह—

तिरियजुअलणीआणं पुढवीए सत्तमाअ णेरइओ ।
सव्वविसुद्धो मिच्छो सम्माहिमुहो मुणेयव्वो ॥१७४॥

(प्रे०) **'तिरिय'** इत्यादि, तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति त्रिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी सप्तमपृथ्वीनारकः सर्वविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यात्वोदयस्यान्तिमक्षणे मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः । इमा हि अशुभाः प्रकृतयोऽशुभानां यथासंभवं विशुद्ध्याधिक्यभागेव जघन्यरसं बध्नाति एतद्बन्धकेष्वयमेव विशुद्धतमः । **तद्यथा**–तिर्यग्मनुष्याः सम्यक्त्वाभिमुखाः सन्तो विशुद्धत्वात् देवद्विकमुच्चैर्गोत्रं चैव बध्नन्ति अतो न तेषामासां बन्धः, तादृशो देवाः प्रथमादिषष्ठान्तनरकनारकाश्च मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं च बध्नन्ति अतो न तेषामपि तद्बन्धः । सप्तमपृथ्वीनारकेण तु भवप्रत्ययेन यावन्मिथ्यात्वभावस्तावत् तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमेव बध्येते अतो यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य सप्तमपृथ्वीनारकस्य तज्जघन्यरसबन्धकत्वम् । उक्तं **च शतकचूर्णौ**–'तिरियगतितिरियाणुपुव्विणीयागोत्ताणं अहे सत्तमपुढविणेरइको सम्मताभिमुहो करणाइं करेत्त चरिमसमए मिच्छदिट्ठी भवपच्चएण ते णिन्नवि बंधइ, जाव मिच्छत्तभावो, तस्स सव्वजहन्नो अणुभागो भवति । कहं ? तब्बंधकेसु अच्चंतविसुद्धो त्ति' इति ॥१७४॥ अथ नरद्विकादीनां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनामेकेन्द्रियस्थावरयोश्च जघन्यानुभागबन्धकान् विवरिषुराह—

तेवीसणराईणं मिच्छो परियत्तमाणपरिणामो ।
तारिच्छो तिगइट्ठो एगिंदियथावराण भवे ॥१७५॥

(प्रे०) **'तेवीस'** इत्यादि, नरद्विकम्, उच्चैर्गोत्रं, संहननषट्कं, संस्थानषट्कं, खगतिद्विकं, सुभगत्रिकं, दुर्भगत्रिकमिति त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यानुभागं परावर्त्तमानमध्यमपरिणामश्चतुर्गतिको मिथ्यादृष्टि र्बध्नाति, **तद्यथा**–इमा हि प्रकृतयो यदा प्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या बध्यन्ते तदासां जघन्यानुभागबन्धः प्राप्यते, न च सम्यग्दृष्टीनामेतद्बन्धः परावृत्त्या उपलभ्यते, कस्मात् इति चेदुच्यते–इह देवो वा नैरयिको वा सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचयो र्बन्धको भवति, स देवद्विकं तु न बध्नाति तथास्वाभाव्यात् । यस्तु सम्यग्दृष्टितिर्यगादिः देवद्विकं बध्नाति स मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचे न बध्नाति । समचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिसुभगसुस्वरादेयोच्चैर्गोत्रप्रतिपक्षभूतन्यग्रोधनामादिप्रकृतयः सम्यग्दृष्टीनां बन्धमेव नायान्ति ततो मिथ्यादृष्टिरित्युक्तम् ।

इमा हि परावर्त्तमानाः प्रकृतयः, आसां परावर्त्तमानपरिणामेनैव जघन्यरसो जन्यते, अतः परावर्त्तमानमध्यमपरिणाम इत्युक्तम् , तथा चोक्तं **पञ्चसंग्रहस्वोपज्ञवृत्तौ** जघन्यानुभागबन्धप्रस्तावे 'सर्वत्र शुभपरावर्त्तमानानां मध्यमपरिणामोऽशुभप्रकृतिबन्धाभिमुखः अशुभानां शुभप्रकृतिबन्धाभिमुखः अपरावर्तशुभानां संक्लिष्टोऽशुभानां विशुद्धः इति । इह जघन्यरसबन्धक इति प्रकरणाद् गम्यते । **एवं शतकेऽपि**-'परियत्तमाणमज्झिममिच्छद्दिट्ठीओ तेत्तीसं' इति । तथा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः '**तारिच्छो**' त्ति अनन्तरोक्तस्वरूपः, स च मिथ्यादृष्टिः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः तत्प्रतिपक्षभूतद्वीन्द्रियादिजातित्रसनामभ्यां सह परावृत्त्या बध्नन्नित्यर्थः '**तिगइट्ठो**' नरकवर्जत्रिगतिस्थो जघन्यरसबन्धको भवेत् , इह नारकाणां वर्जनं तेषामेकेन्द्रियतयोत्पादाभावेन तद्बन्धाभावात् । **उक्तं च शतके**-'एगिंदियथावरयं मंदाणुभागं करेंति तिगईया । परियत्तमाणमज्झिमपरिणामा नेरइयवज्जा' इति ॥१७५॥

अथ त्रसनामादीनां तान् दर्शयति—

पंचदसतसाईणं सण्णी मिच्छोऽत्थि तिव्वसंकिट्ठो ।
आहारदुगस्स भवे पमत्तहुत्तो य अपमत्तो ॥१७६॥

(प्रे०) '**पंचदस**' इत्यादि, त्रसनाम, पञ्चेन्द्रियजातिः, बादरत्रिकम् , उच्छ्वासनाम, पराघातः, शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टाविति पञ्चदशानां संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टश्चतुर्गतिको जघन्यानुभागं बध्नाति । **तद्यथा**-तिर्यग्मनुष्याः तीव्रसंक्लेशे वर्त्तमाना नरकगतिसहचरिता एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति । नारका देवाश्चेशानादुपरितनाः सनत्कुमारादयः सर्वसंक्लिष्टाः सन्तः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्या बध्नन्त एता जघन्यरसाः कुर्वन्ति, ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टाः सन्तस्त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिवर्जाः शेषास्त्रयोदशप्रकृतीरेकेन्द्रियप्रायोग्या बध्नन्तो जघन्यरसा विदधतीति ! त्रसनामपञ्चेन्द्रियजाती तु संक्लिष्टाः सन्तोऽमी न बध्नन्तीति जघन्यरसो न लभ्यते, इति चतुर्गतिकानां जघन्यरसनिर्वर्तकत्वम् । **तथा च शतके**-'चउगइ उक्कड मिच्छो पन्नरस' इत्यादि । **तथैव पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ**-'शुभध्रुवाः शुभवर्णादिचतुष्कागुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणाख्याः त्रसादिचतस्रः पराघातपञ्चेन्द्रियजात्युच्छ्वासानां पञ्चदशानां चतुर्गतिका अतिसंक्लिष्टमिथ्यादृष्टयो जघन्यानुभागं कुर्वन्ति' इति । तथा '**आहारदुगस्स**' त्ति आहारकद्विकस्य प्रमत्ताभिमुखोऽप्रमत्तमुनिस्तीव्रसंक्लिष्टोऽप्रमत्तगुणस्थानकस्य चरमसमयेऽनन्तरसमये भविष्यत्प्रमत्त इति यावत् जघन्यरसं बध्नाति । इदं हि प्रकृतिद्वयं शुभं, अस्य तीव्रसंक्लेशेनैव जघन्यरससम्भवः अस्य बन्धकेषु यथोक्तो मुनिरेव तीव्रक्लिष्टः **उक्तं च पञ्चसंग्रहे**-'आहार अप्पमत्तो कुणइ जहन्नं पमत्तयाभिमुहो' इति ॥१७६॥

अथौदारिकद्विकादीनां जघन्यरसनिर्वर्तकान् प्रचिकटयिषुराह—

उरलाईणं तिण्हं मिच्छो णिरयो सुरो व संकिट्ठो ।
विउव्वदुगस्स दुगइयो सण्णी मिच्छोऽत्थि तिव्वसंकिट्ठो ॥१७७॥गीतिः

(प्रे०) **'उरलाईणं'** इत्यादि । औदारिकशरीरनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामोद्योत इति प्रकृतित्रयस्य जघन्यरसं तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्नारकः सुरो वा बध्नाति, एता हि तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धेन सहचरिता जघन्यरसा बध्यन्ते, तिर्यग्मनुष्यास्तु एतावति संक्लेशे वर्त्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव रचयेयुरिति तत्परिहारेण नारकसुरयोर्ग्रहणम् । तत्रापि औदारिकाङ्गोपाङ्गस्येशानादुपरितनाः सनत्कुमारादय एव देवा जघन्यरसं बध्नन्ति, ईशानान्तानां तीव्रसंक्लेशवतामेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसम्भवेन तद्बन्धासम्भवात् । **'विउवदुगस्स'** त्ति वैक्रियद्विकस्य देवनारकाणां भवप्रत्ययेन बन्धाभावात् **'दुगइओ'** त्ति तिर्यग् मनुष्यो वा संज्ञी मिथ्यादृष्टि विंशतिसागरोपमकोटिकोट्यात्मकतदुत्कृष्टस्थितिबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो जघन्यरसं बध्नाति । असंज्ञिनः सम्यग्दृष्टेश्चोत्कृष्टसंक्लेशाभावात् संज्ञी मिथ्यादृष्टिः इत्युक्तम् । उत्कृष्टस्थितिबन्धका अपि न सर्वे जघन्यरसबन्धकास्तेषां संक्लेशतारतम्योपलम्भात्, अल्पक्लिष्टस्य हि जघन्यरसबन्धासम्भवाच्चोक्तं तीव्रसंक्लिष्ट इति, **तथा च शतकचूर्णौ**–वेउव्वियदुगस्स जहन्नाणुभागं निरयगइसहियं वीसं सागरोवमकोडाकोडीं बंधमाणो बंधति । कहं ? भन्नइ, तव्वंधकेसु अच्चतसंकिलिट्ठो त्ति काउं ।" ॥१७७॥

अथो आतपनाम्नो जिननाम्नश्च जघन्यरसबन्धकान् विवृणोति—

तिव्वकसायो मिच्छो ईसाणंतो उ आयवस्स भवे ।
मिच्छाहिमुहो सम्मो तिव्वकसायो जिणस्स णरो ॥१७८॥

(प्रे०) **'तिव्वकसायो'** इत्यादि । आतपनाम्नो जघन्यरसं मिथ्यादृष्टिरीशानान्तो देवः, अत्र तद्बन्धकारणे ततस्तीव्रकषायोदयवान् देव एव बध्नाति । स हि एकेन्द्रियजातिं विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमितां बध्नन् अस्य जघन्यरसं निर्वर्तयति । तद्बन्धकेषु अयमेवात्यन्तसंक्लिष्ट इति । नारकाणामेकेन्द्रियजात्यादिबन्धाभावेन तत्सहचरितस्यातपस्यापि बन्धाभाव एव । मनुष्यतिर्यग्भिरष्टादशसागरोपममिता एवैकेन्द्रियजातेः स्थितिरुत्कृष्टतोऽपि बध्यते, ततोऽपि क्लिष्टतराः सन्तस्ते नरकगतिप्रायोग्यमेव निर्वर्तयन्ति, अतो न ते आतपस्योत्कृष्टरसबन्धकाः, उक्तं च **शतकचूर्णौ**–'आसोहम्मो त्ति सोहम्मग्गहणात् ईसाणोवि गहिओ एकश्रेणित्वात् । आसोहम्मा देवा आतवनामस्स सव्वसंकिलिट्ठा एगिंदियजातिं वीसं सागरोवमकोडाकोडिं बंधमाणा आतपस्स जहन्नं अणुभागं बंधंति, तव्बंधकेसु अच्चंतसंकिलिट्ठ त्ति काउं ।" सनत्कुमारादीनामेकेन्द्रियेषूत्पादाभावेन तद्बन्धाभावादीशानान्तदेवानां ग्रहणम् । तथा **'जिणस्स'** त्ति तीर्थंकरनामकर्मणो जघन्यानुभागमविरतसम्यग्दृष्टिर्मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रकषायोदयकलुषितचेता मनुष्यो निर्वर्तयति । अत्र च **देवेन्द्रसूरिपादाः नव्यशतकनामपञ्चमकर्मग्रन्थस्य स्वोपज्ञवृत्तौ**–"अविरतसम्यग्दृष्टिः नरके बद्धायुष्को नरकोत्पत्त्यभिमुखोऽनन्तरमेव मिथ्यात्वं प्रतिपित्सुर्मनुष्यस्तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभागं बध्नाति, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वसंक्लिष्ट इति कृत्वा । **तथैवोक्तं पञ्चसंग्रहे**–'मिच्छनरयाणभिमुहो सम्मद्दिट्ठी उ तित्थस्स' इति ॥१७८॥

ओघतो जघन्यरसबन्धकान् चिन्तयित्वा साम्प्रतं मार्गणासु तान् चिचिन्तयिषुराह—

सव्वासु मग्गणासुं मंदऽणुभागस्स आउवज्जाणं ।
सामी वट्टमाणो जहण्णअणुभागबंधम्मि ॥१७९॥
सागाराइविसिट्ठो मज्झिमपरिणामबंधगं तु विणा ।
जहि पज्जियराऽत्थि दुहा तहि पज्जत्तोऽत्थ भण्णइ विसेसो ॥१८०॥ गीतिः

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि । सप्तविंशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणासु आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां चतुर्विंशतिशतप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धस्य स्वामी बन्धकस्तद्बन्धकेषु जघन्यानुभागबन्धे वर्त्तमानः जघन्यानुभागस्थानं बध्नन्नित्यर्थः, सः कीदृशो भवतीत्याह **'सागाराइविसिट्ठो'** त्ति साकारो ज्ञानोपयुक्तो जाग्रतादिविशेषणैर्विशिष्टः, तथा यत्र मार्गणासु पर्याप्ता अपर्याप्ता इति द्विविधा अपि जीवाः सन्ति तत्र मध्यमपरिणामबन्धकातिरिक्तो जघन्यरसबन्धकः पर्याप्तो बोध्यः, **किमुक्तं भवति** ? उच्यते, यासु मार्गणासु पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति द्विविधा अपि बन्धकाः, तत्र जघन्यरसबन्धकः पर्याप्त एव भवति, न अपर्याप्तोऽपि, प्रशस्ताप्रशस्तजघन्यरसस्य संक्लेशविशुद्ध्यधीनत्वात् तथाविधसंक्लेशविशुद्धी तु यथा पर्याप्तस्य भवतः न तथा अपर्याप्तस्यापीति तद्वर्जनम् । नवरं यासां प्रकृतीनां मध्यमपरिणामेन जघन्यरसो जन्यते, तद्बन्धकेषु सत्यपि पर्याप्तापर्याप्तलक्षणे भेदद्वये अपर्याप्तव्यवच्छेदार्थं पर्याप्त एव बन्धक इति न वाच्यम् , तत्रापर्याप्तस्यापि परावर्तमानमध्यमपरिणामसद्भावेन जघन्यरसनिर्वर्तनसमर्थत्वात् । इति जघन्यरसबन्धकस्य सामान्यस्वरूपं प्रदर्श्य प्रतिमार्गणं यो बन्धकविशेषोऽस्ति तं प्रदर्शनार्थं पठति **'अत्थ भण्णइ विसेसो'** त्ति अत्र मार्गणासु जघन्यरसबन्धकनिरूपणप्रस्तावे यो विशेषो बन्धके वैशिष्ट्यमस्ति स भण्यते इत ऊर्ध्वमिति ॥१७९ १८०॥

अथ प्रतिज्ञातमेव निर्वोढुकाम आदौ तावत् नरकौघमार्गणायां जघन्यरसबन्धकान् सविशेषं दर्शयति–

णिरये सव्वविसुद्धो सम्मोऽत्थि पुमाइअट्ठतीसाए ।
अडमिच्छाईण भवे सम्माहिमुहो विसुद्धमिच्छत्ती ॥१८१॥ (गीतिः)
मज्झिमपरिणामो खलु सम्मो मिच्छो व होइ अट्ठण्हं ।
मायाईण तदरिहविसुद्धो सम्मोऽत्थि अरइसोगाणं ॥१८२॥(गीतिः)
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छत्ती होइ थीणपुंसाणं ।
तिव्वकसायो मिच्छो अट्ठारतमाइगाण भवे ॥१८३॥

तिरियाईणं तिण्हं सव्वविसुद्धो य चरमणेरइयो ।
सम्मत्ताहिमुहो खलु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥१८४॥
तित्थयरस्स हवेज्जा सम्मादिट्ठी तदरिहसंकिट्ठो ।
तेवीसणराईणं मिच्छो परियत्तपरिणामो ॥१८५॥

(प्रे०) '**णिरये**' इत्यादि । नरकौघमार्गणायां......[1]'पुम [4]'चउसंजलण [1]'भय [1]'कुच्छ [1]'हस्स [1]'रई । [2]'णिद्दादुग [1]'भुत्रघायो [8]'कुवण्णचउग च [5]'विग्घाणि । [6]'णवआवरणाणि [5]'तइयदुइअकमाया य' इति संग्रहगाथोक्तानामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिः सर्वविशुद्धो नारकः । इमा हि अशुभाः प्रकृतयः, अशुभानां जघन्यरसं तद्बन्धकेषु विशुद्धतम एव बध्नाति, अतो मिथ्यात्विनं विहायात्र सम्यग्दृष्टेरुपादानं तस्य मिथ्यादृष्टेः सकाशादनन्तगुणविशुद्धत्वात् । सम्यग्दृष्टिष्वपि विशुद्धितारतम्योपलम्भात् मार्गणाप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टविशुद्धिमद्ग्रहणार्थमुक्तं सर्वविशुद्ध इति । '**अड-मिच्छाई०**' त्ति मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति अष्टप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखोऽनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्रतिपित्सुः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टि-नारकः, तद्बन्धकेषु तस्यैव विशुद्धतमत्वात् । तथा '**अट्ठण्हं**' ति सातासाते स्थिरास्थिरे शुभा-शुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इति अष्टानां सातवेदनीयादीनां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमान-मध्यमपरिणामी सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टि र्वा । मध्यमपरिणामस्योभयोरपि तुल्यत्वेन सम्भवादुक्तं सम्यग्-दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्चेति । '**अरइसोगाणं**' ति अरतिशोकयोर्जघन्यानुभागबन्धकस्तदर्हविशुद्धः सम्य-ग्दृष्टिः । अनयोर्जघन्यरसोऽत्र मार्गणाप्रायोग्यो ज्ञेयः, ओघजघन्यरसबन्धस्य प्रमत्तसंयतस्वामिकत्वात् । तथा '**थीणपुंसाणं**' ति स्त्रीवेदनपुंसकवेदयो र्जघन्यरसं तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति । विशुद्धतरस्य पुरुषवेदबन्धसम्भवादुक्तं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । '**अट्ठारतसाइगाण**' त्ति 'तस-पंचिंदियबादरनिगाणि ऊसासपरघाया । सुहधुवबंधिउरलतणुवंगा उज्जोअ '......इति गाथोक्तानामष्टा-दशानां प्रकृतीनां जघन्यरसं मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो बध्नाति । इमा हि प्रशस्ताः, प्रशस्तानां जघन्यरसं तद्बन्धकेषु संक्लिष्टतमो बध्नाति । अयं हि त्रिंशतिसागरकोटीकोटीस्थितिकं तिर्यग्-द्विकं बध्नन्नाम्नां जघन्यानुभागं निर्वर्तयति, एतद्बन्धकेषु अयमेव संक्लिष्टतम इति । '**तिरिया-ईणं**' ति तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति त्रिप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारको जघन्यरसं बध्नाति । तादृग्विशुद्धानां मिथ्यादृशामाद्यषड्नरकनारकाणां मनुष्यद्विकादिबन्धाभ्युपगमात् अस्य तु यावत् स्वल्पमपि मिथ्यात्वोदयस्तावत् तिर्यग्द्विकादिबन्ध-सद्भावाच्च सप्तमपृथ्वीनारकोपादानम् । तथा '**तित्थयरस्स**' त्ति जिननामकर्मणो जघन्यरस-बन्धको नारकः सम्यग्दृष्टिस्तदर्हसंक्लिष्टः । अत्र '**व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तिः**' आद्यत्रिनरक-नारको ज्ञेयः, चतुर्थादिनरकेषु तद्बन्धाभावात् । तीव्रसंक्लिष्टस्य सम्यग्दृष्टिनारकस्य मिथ्यात्वा-

भिमुखत्वात् मिथ्यात्वाभिमुखनारकस्य जिननामबन्धाऽयोगाच्चोक्तं तदर्हसंक्लिष्ट इति । तथा 'सेवोसणराईणं' ति नरद्विकम्, उच्चैर्गोत्रं षट्संहननानि, षट्संस्थानानि, विहायोगतिद्विकं सुभगत्रिकं, दुर्भगत्रिकमिति त्रयोविंशतिप्रकृतीनां जघन्यानुभागं परावर्तमानमध्यमपरिणामः मिथ्यादृष्टिरेव बध्नाति, न सम्यग्दृष्टिः, परावर्तमानप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्तस्येति । न च वाच्यं तीव्रसंक्लिष्ट एव मिथ्यादृष्टिर्नारको जघन्यरसमासां जनयिष्यति, न परावर्त्तमानमध्यमपरिणाम इति,तीव्रक्लिष्टस्य मिथ्यादृष्टिनारकस्य तिर्यग्द्विकादिबन्धाभ्युपगमेन नरद्विकादिबन्धाभावात् परावर्त्तमानपरिणाम एव नारकः तज्जघन्यरसनिर्वर्तक इति । अत्र सामान्योक्तावपि नरद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धस्वामी आद्यषड्नरकनारको ज्ञेयः, मिथ्यादृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकस्य तद्बन्धानभ्युपगमात् । ॥१८१-१८५॥

साम्प्रतमाद्यषड्नरकेषु सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवमार्गणासु च किञ्चिद्विशेषभणनपूर्वकं जघन्यरसबन्धकातिदेशं कुर्वन्नाह—

पढमाइछणिरयेसुं तइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
णिरयव्व णवरि तिण्हं तिरियाईणं णरदुगव्व ॥१८६॥

(प्रे०) 'पढमाइ' इत्यादि । सप्तमनरकमार्गणायां पृथग्वक्तव्यत्वात् तद्वर्जासु आद्यषड्नरकमार्गणासु सनत्कुमारादिसहस्रारान्तरूपासु षट्सु देवमार्गणासु च जघन्यरसबन्धको नरकौघवज्ज्ञेयः । अत्र यो विशेषोऽस्ति तं दर्शयति 'णवरि' इत्यादिना, तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति त्रिप्रकृतीनामत्र मनुष्यद्विकवज्जघन्यरसबन्धो ज्ञेयः, किमुक्तं भवति ? अनन्तरनिरूपितनरकौघमार्गणायां तिर्यग्द्विकादिप्रकृतित्रयस्य जघन्यरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारक उक्तः, अत्र तु परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिस्तज्जघन्यरसबन्धको भवति, कुतः ? आद्यषड्नारकाणां सम्यक्त्वाभिमुखत्वे स्वस्थानविशुद्धत्वे वा मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरेव बन्धाभ्युपगमात् । परावर्त्तमानमध्यमपरिणामवतामेषां यदा मनुष्यद्विकादिना सह परावृत्त्या तिर्यग्द्विकादिर्बध्यते तदैव तस्य जघन्यरसो जन्यते । ततस्तिर्यग्द्विकादीनां त्रिप्रकृतीनां नरकौघवत् बन्धकोऽत्र पृथग् न वाच्यः, किन्तु तत्रोक्तानां नरद्विकादीनां त्रयोविंशतेः तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति षड्विंशतिप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो नारकोऽत्र जघन्यरसबन्धको वेदितव्यः । अत्र सनत्कुमारादिदेवमार्गणासु तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको यथोक्तविशेषणविशिष्टो देवो वाच्यः मार्गणायास्तथात्वात् ॥१८६॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् सप्तमनरकमार्गणायामपि विद्यमानविशेषकथनपूर्वकं नरकौघवज्जघन्यरसबन्धकातिदेशं करोति—

णिरयव्व चरमणिरये सप्पाउग्गाण णवरि सम्मत्ती ।
तिव्वकसायो मिच्छाहिमुहो खलु णरदुगुच्चाणं ॥१८७॥

(प्रे०) 'णिरयव्व' इत्यादि । चरमनिरये सप्तमनरकमार्गणायामित्यर्थः स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको नरकौघवज्ज्ञेयः । अत्रेदमुक्तं भवति–जिननामकर्मणो बन्धश्चतुर्थादि-सप्तमावसानेषु नरकेषु न भवति, अतस्तत्प्रकृतिं विना शेषप्रकृतीनां जघन्यरसनिर्वर्तका यथा नरकौघमार्गणायामुक्तास्तथात्र ज्ञेयाः । 'णवरि' त्ति नवरं नरद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धकोऽत्र मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिर्बोध्यः, कुतः? आसां त्रिप्रकृतीनां शुभत्वात्, अपरावर्त्तमान-परिणामबध्यमानानां शुभप्रकृतीनां जघन्यरसस्तद्बन्धकेषु तीव्रक्लिष्टेनैव बन्धकेन जन्यते, प्रस्तुतमार्गणायामेतद्बन्धकेषु अयमेव तीव्रक्लिष्ट इति कृत्वा, प्रकृते तिर्यग्द्विकादिनाऽऽसां परावृत्त्या बन्धासम्भवाच्च नरकौघमार्गणायां त्वासां बन्धः परावर्त्तमानपरिणामेनापि प्राप्यते यतस्तत्र प्रथमादिगुणस्थानकेषु तिर्यग्द्विकेन सह नरद्विकं नीचैर्गोत्रेणोच्चैर्गोत्रं परावृत्त्या बध्यते, ततस्तत्र परावर्त्तमानपरिणामो मिथ्यादृष्टि र्जघन्यरसबन्धको भवति, तेनात्रेदमायातम्–षट्संहननानि षट्संस्थानानि, द्विविहायोगती, सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमिति विंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्ध-स्वामी परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिर्नारकः, नरकौघमार्गणावद् भवति । नरद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तु यथोक्तः सम्यग्दृष्टिर्नारक इति । शेषाणामेकोनाशीतेः प्रकृतीनामविशेषेण जघन्यरस-बन्धका नरकौघवद् भवन्ति ॥१८७॥ इति सप्रभेदनरकगतिमार्गणायां तत्समानवक्तव्यत्वात् षट्सु देवमार्गणासु च जघन्यरसबन्धस्वामिनोऽभिधायेदानीं तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणायां तानभिधातुकाम आह—

तिरिये सव्वविसुद्धो चउतीसपुमाइगाण देसजई ।
तप्पाउग्गविसुद्धो देसजई अरइसोगाणं ॥१८८॥
देसाहिमुहो सव्वविसुद्धो मिच्छाइगाण अट्ठण्हं ।
मिच्छादिट्ठी णेयो दुइअकसायाण सम्मत्ती ॥१८९॥
मज्झिमपरिणामो खलु सम्मो मिच्छो व होइ अट्ठण्हं ।
सायाईणं मिच्छो पणतीसाए णराईणं ॥१९०॥
तप्पाउग्गविसुद्धो सण्णी मिच्छोऽत्थि थीणपुंसाणं ।
तिरियाईणं तिण्हं विसुद्धबायरअगणिवाऊ ॥१९१॥
सत्तरविउवाईणं सण्णी मिच्छोऽत्थि तिव्वसंकिट्ठो ।
उरलायवजुगलाणं स चिअ भवे तदरिहकिलिट्ठो ॥१९२॥

(प्रे०) 'तिरिये' त्यादि । तिर्यगोघमार्गणायां...'[1]पुम [4]चउसंजलण [1]भय [1]कुच्छ [1]हस्स [1]रई । [2]णिद्दादुग [1]मुवघायो [4]कुवण्णचउगं च [5]विग्घाणि । [6]णवआवरणाणि [4]तइअ...कसाया'

इति चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी सर्वविशुद्धो देशयतिर्देशविरतिरित्यर्थः । एता ह्यशुभाः प्रकृतयः आसां जघन्यरस एतद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धेनैव बन्धकेन जन्यते, प्रस्तुतमार्गणायां तु अयमेवात्यन्तविशुद्ध इति । तथा अरतिशोकयो र्जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो देशविरतिः, एते हि हास्यरतिभ्यां अशुभतरे प्रकृती, ततस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो बन्धक एतयोर्जघन्यरसं निर्वर्तयति, सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिबन्धसद्भावेन तद्बन्धप्रसङ्गात् । तथा प्रथमादिषष्ठान्तेषु गुणस्थानकेषु वर्त्तमानः स्वप्रायोग्यप्रकृष्टतमगुणस्थानकवर्त्ती तत्प्रायोग्यविशुद्ध एवानयो र्जघन्यरसबन्धक इत्यपि द्रष्टव्यमनन्तरोक्तादेव हेतोः । '**मिच्छाइगाण अट्ठण्हं**' ति मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति अष्टानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको देशविरत्यभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, एता हि अशुभतमाः प्रकृतयः, अतः विशुद्धतमबन्धकस्यैव तज्जघन्यरसजनकत्वम् , एतद्बन्धकेषु अयमेव विशुद्धतम इति । '**दुइअकसायाण**' त्ति द्वितीयकषायाणामप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्येत्यर्थः जघन्यरसबन्धको देशविरत्यभिमुखः सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः, एतद्बन्धकेषु अस्यैव विशुद्धतमत्वात् , देशविरतेस्तद्बन्धाभावात् सम्यग्दृष्टेरुपादानम् , स्वस्थानविशुद्धापेक्षया गुणाभिमुखस्यानन्तगुणविशुद्धत्वात् देशविरत्यभिमुख इत्युक्तम् , गुणाभिमुखानामपि अत्र षट्स्थानपतितत्वेन तेषु परस्परं अनन्तगुणहीनाधिकविशुद्ध्युपलम्भात् विशुद्धतमोपादानार्थमुक्तं सर्वविशुद्धो देशविरतिगुणप्राप्तिप्राक्क्षणवर्त्तीति यावत् । '**अट्ठण्हं सायाईणं**' ति सातासाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्ती इति अष्टानां जघन्यरसबन्धको मध्यमपरिणामः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टि र्वा उपलक्षणत्वात् मध्यमपरिणामः सास्वादनः, मिश्रदृष्टि र्देशविरतिश्च, परावर्त्तमानमध्यपरिणामस्य सर्वत्र तुल्यत्वेनोपलम्भात् । तथा '**पणतीसाए पराईणं**' ति नरद्विकम् , उच्चैर्गोत्रं षट्संहननानि, षट्संस्थानानि, खगतिद्विकं, सुभगत्रिकं, दुर्भगत्रिकम्, एकेन्द्रियजातिः, स्थावरनाम, सूक्ष्मत्रिकं, विकलत्रिकं, नरकद्विकम् , देवद्विकमिति पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः, उपलक्षणत्वात् सम्भाव्यमानबन्धानां सास्वादनश्च. तृतीयादिगुणस्थानकवर्ती नरद्विकाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकादिबन्धाभावात् , उच्चैर्गोत्रसमचतुरस्रादीनां प्रतिपक्षभूतानां नीचैर्गोत्रन्यग्रोधादीनां बन्धाभावेन परावृत्त्या तद्बन्धाभावाच्चोक्तं मिथ्यादृष्टिरिति । '**थीणपुंसाणं**' ति स्त्रीवेदनपुंसकवेदयो र्जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः, सर्वविशुद्धस्य पुरुषवेदबन्धसम्भवादुक्तं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति, असंज्ञिनस्तादृग्विशुद्ध्यभावेन जघन्यरसानिर्वर्तकत्वाभावात् संज्ञीति । सर्वत्र मार्गणासु स्त्रीनपुंसकवेदयो र्जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो भवतीत्यपि बोध्यम् सर्वविशुद्धस्य पुरुषवेदबन्धसम्भवेन तद्बन्धाभावात् । तथा '**तिरियाईणं तिण्हं**' ति तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्र चेति त्रिप्रकृतीनां जघन्यानुभागनिर्वर्तको विशेषेण शुद्धो विशुद्धो सर्वविशुद्धो इति यावत् बादरो-अग्निवायु

तेजःकायवायुकायावित्यर्थः, तादृग्विशुद्धानां पृथ्व्यम्बुवनस्पतिकायिकानां विकलाक्षाणां च नरद्विकोच्चैर्गोत्रबन्धसम्भवात् पञ्चेन्द्रियतिरश्चाश्च देवद्विकादिबन्धसम्भवात् तान् सर्वान् परित्यज्य तेजोवायुकाययोरुपादानम् । सूक्ष्मयोस्तयोस्तथाविधविशुद्ध्यभावात् बादराविति । तौ च पूर्वोक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टौ पर्याप्तौ च ज्ञेयौ, अनाकाराऽपर्याप्तयोस्तथाविधविशुद्ध्यभावेनात्र जघन्यरसबन्धकत्वायोगात् । तथा '**सत्तरविउवाईणं**' ति वैक्रियद्विकं, त्रसनाम. पञ्चेन्द्रियजातिः, बादरत्रिकम् , उच्छ्वासनाम, पराघातः, अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य इति सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टः । इमा हि प्रशस्ताः प्रकृतयः, प्रशस्तानां जघन्यानुभागं तद्बन्धकेषु सर्वोत्कृष्टसंक्लेशभाज एव निर्वर्तयन्ति । एतद्बन्धकेषु अयमेव संक्लिष्टतमः, असंज्ञिनः सम्यग्दृष्ट्यादेश्च तथाविधसंक्लिष्टत्वाभावात् संज्ञी मिथ्यादृष्टिश्चेति उक्तम् । एतज्जघन्यरसो बध्यमानोत्कृष्टस्थितिकनरकद्विकादिना सह विंशतिकोटीकोटीसागरोपमादितत्तदुत्कृष्टस्थितिबन्धकैरेव जन्यते, सम्यग्दृष्ट्यादेस्तूत्कृष्टतोऽपि अन्तःकोटिकोटिसागरतोऽधिकस्थितिबन्धस्यैवाभावात् । '**उरलायवजुगलाणं**' ति औदारिकद्विकम् , आतपनाम उद्योतनामेति चतुष्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः '**स चिअ**' स एवाऽनन्तरोक्त एव, **किमुक्तं भवति**, ? संज्ञी मिथ्यादृष्टिः '**तदरिहकिलिट्ठो**' तदर्हक्लिष्टो भवेद् भवतीत्यर्थः,सर्वसंक्लिष्टस्य नरकप्रायोग्यबन्धसम्भवेन वैक्रियद्विकादिबन्धसद्भावात् औदारिकद्विकादिबन्धायोगाच्चोक्तं तदर्हक्लिष्ट इति ॥१८८-१९२॥ अभिहितं तिर्यगोघमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामित्वम् । अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिषु त्रिमार्गणासु विद्यमानकिञ्चिद्विशेषकथनपूर्वकं तदतिदिशति—

तिपणिंदियतिरियेसुं तिरिव्व सव्वाए णवरि मिच्छत्ती ।
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो तितिरियाईणं ॥१९३॥

(प्रे०) '**तिपणिंदिय**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु तिर्यग्गतित्र्यवान्तरमार्गणासु सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका अनन्तरोक्ततिर्यगोघमार्गणावद् ज्ञेयाः । '**णवरि**' नवरमित्यादिनात्र विशेषं दर्शयति, तद्यथा-'**तितिरियाईणं**' ति तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति प्रकृतित्रयस्य जघन्यरसबन्धकोऽत्र परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी मिथ्यादृष्टिर्ज्ञेयः । **किमुक्तं भवति** ? तत्र तिर्यगोघमार्गणायां तिर्यग्द्विकादिप्रकृतित्रयस्य जघन्यरसबन्धकौ सर्वविशुद्धौ बादरौ अग्निवायूक्तौ, अत्र तौ नैव भवतः, तयोरेकेन्द्रियत्वेन प्रकृतमार्गणाबाह्यत्वात् । इह च मनुष्यद्विकेन देवद्विकेन वा परावृत्त्या तिर्यग्द्विकं बध्नतः उच्चैर्गोत्रेण नीचैर्गोत्रं परावृत्त्या बध्नतः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामवतः बन्धकस्य तिर्यग्द्विकादेर्जघन्यरसबन्धो जायते इति ॥१९३॥

अथ अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु जघन्यानुभागबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह—

असमत्तपणिंदितिरिय-पणिंदिय-तसेसु बंधगो णेयो ।
सव्वविसुद्धो सण्णी छायालाए पुमाईणं ॥१९४॥
मज्झिमपरिणामो खलु दुचत्तसायाइपणतसाईणं ।
तप्पाउग्गविसुद्धो सण्णी चउणोकसायाणं ॥१९५॥
तिव्वकसायो सण्णी होइ अडसुहधुवबंधिउरलाणं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सण्णी सेसाण पंचण्हं ॥१९६॥

(प्रे०) 'असमत्त' इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसरूपासु त्रिमार्गणासु 'छायालाए' त्ति '   [1]पुम[4]चउसंजलण [1]भय[1]कुच्छ[1]हस्स[1]रई । [2]णिद्दा[2]दुग[1]मुवघायो [4]कुवण्णचउगं च [5]विग्घाणि । [6]णवआवरणाणि [8]तइअदुइअकसाया य [1]मिच्छमोहो य । [3]थीणद्धितिग[4]मणचउग   ' इति पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धः संज्ञी । इमा हि अप्रशस्ताः, आसां जघन्यरसो विशुद्धतमेनैव बन्धकेन जन्यते, अत उक्तं सर्वविशुद्ध इति स च मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धको ज्ञेयः, तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धकस्यात्र सर्वविशुद्धत्वाभावात् । असंज्ञिनस्तथाविधविशुद्ध्यभावात् संज्ञीति । तथा 'साय-थिर-सुह-जस-सियर-तिरिदुग-णीयाणि णरदुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहग-दुहगतिगं ॥ एगिदिय-थावर-सुहुम विगलतिग   ' इति गाथोक्तानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां तसपंचिंदियआयवतिगाणी' ति पञ्चप्रकृतीनां चेति सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः एता हि परावर्त्तमानाः प्रकृतय आसामत्र स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या बन्धसद्भावेन परावर्त्तमानपरिणामस्यैव जघन्यरसनिर्वर्तकत्वात् । तथा 'चउणोकसायाणं' ति अरतिशोकस्त्रीवेदनपुंसकवेदानां जघन्यानुभागबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः संज्ञी । सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिपुरुषवेदबन्धसद्भावेन अरत्यादेरबन्धात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । स च मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धको ज्ञेयः, तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकस्य तथाविधविशुद्ध्यभावात् , असंज्ञिनस्तथाविधविशुद्ध्यभावात् संज्ञीति । तथा 'अडसुहधुवबन्धिउरलाणं' शुभवर्णादिचतुष्कं, तैजसशरीरं, कार्मणशरीरम् , अगुरुलघु, निर्माणमिति अष्टौ औदारिकशरीरनाम चेति नवानां जघन्यरसबन्धकः संज्ञी तीव्रकषायः सर्वोत्कृष्टसंक्लिष्ट इत्यर्थः । इमा हि प्रशस्ता अपरावर्त्तमानाश्च, अपरावर्त्तमानशुभानां जघन्यरसबन्धस्तद्बन्धकेषु सर्वसंक्लिष्टैरेव क्रियत इति कृत्वा । तथा 'सेसाण पंचण्ह' ति उक्तशेषाणां पराघातोच्छ्वासातपोद्योतौदारिकाङ्गोपाङ्गरूपाणां पञ्चानां जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः संज्ञी । तीव्रसंक्लिष्टस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन पराघातादिबन्धाभावात् तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति । असंज्ञिनः तथाविधसंक्लेशाभावेनात्र जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् संज्ञीति ॥१९४-१९६॥

॥ अवशिष्टजघन्यरसबन्धस्वामित्वाऽनुसन्धानम् ॥

इदानीमपर्याप्तमनुष्यादिषु मार्गणासु जघन्यरसबन्धकान् दिदर्शयिषुराह—

असमत्तणरम्मि सयलविगलपुहविदगवणप्फईसुं च ।
णेयो सव्वविसुद्धो छायालाए पुमाईणं ॥१९६ A ॥
मज्झिमपरिणामो खलु दुचत्तसायाइपणतसाईणं ।
तप्पाउग्गविसुद्धो णेयो चउणोकसायाणं ॥१९६ B ॥
उक्कोससंकिलिट्ठो होइ अडसुहधुवबंधिउरलाणं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो णेयो सेसाण पंचण्हं ॥१९६ C ॥
णवरं तु बायरो खलु पुहवीदगवणणिगोअकायेसुं ।
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामं विण मुणेयव्वो ॥१९६ D ॥

(प्रे०) "**असमत्तणरम्मि**" इत्यादि, असमाप्तनरे, अत्र समाप्तशब्दः पर्याप्तवाचकः ततश्च अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामित्यर्थः, तथा सकलविकलेन्द्रियभेदास्ते चौघपर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्ना नव, तथा सकलशब्दस्य वनस्पतिकायान्तेषु निखिलशब्देष्वपि योजनात् सकलपृथ्वीकायभेदास्ते च सप्त, सकलाप्कायभेदास्तेऽपि सप्त, एकादशसंख्याकाः सकलवनस्पतिकायभेदाश्चेति सकलविकलेन्द्रियादयश्चतुस्त्रिंशन्मार्गणाभेदास्तेषु इति सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु '**छायालाए पुमाईणं**' ति "पुमचउसजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥१५९॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउग'इति जघन्यरसबन्धस्वामित्वोपयोगिप्रकृतिसंग्रहगाथात्रयोक्तानां पुरुषवेदादीनामनन्तानुबन्धिचतुष्कान्तानां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धः, हेतुस्त्वानन्तरोक्ताऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावद्वृत्त्युक्तो वाच्यः । अत्र द्वीन्द्रियौघस्त्रीन्द्रियौघश्चतुरिन्द्रियौघः, पृथ्वीकायौघः, बादरपृथ्वीकायौघः,सूक्ष्मपृथ्वीकायौघः, अप्कायौघः, बादराप्कायौघः सूक्ष्माप्कायौघः, वनस्पतिकायौघः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघः, साधारणवनस्पतिकायौघः, बादरसाधारणवनस्पतिकायौघः, सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायौघश्चेति चतुर्दशमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्त इत्यादि विशेषणं बोध्यम्, आसु अपर्याप्तानामपि अन्तःप्रवेशात् तेषां च तथाविधविशुद्ध्यभावात् ।

'**मज्झिमपरिणामो**' त्ति प्रस्तुतासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु 'साय-थिर-सुह-जससियर-तिरिदुगणीआणि णरदुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुग सुहगदुहगतिगं ॥१६१॥ एगिंदियथावरसुहुमविगलतिग' इति जघन्यरसबन्धस्वामित्वप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां द्विचत्वारिंशतः सातवेदनीयादीनां प्रकृतीनां 'तसपणिदियबायरतिगाणी' ति पञ्चानाञ्च त्रसनामादीनां जघन्यरसबन्धको मध्यमपरिणामः-

परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः, अत्र हेतुरनन्तरोक्तमार्गणावि॒वृतिगत एव ज्ञेयः । '**चउणोकसायाणं**' इति अरतिशोकस्त्रीवेदनपुंसकवेदरूपाणां चतुर्णां नोकषायाणां जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः, सुविशुद्धस्यैतत्प्रकृतिबन्धाभावात्, संक्लिष्टस्य तज्जघन्यरसबन्धाभावाच्च । प्रागुक्तासु द्वीन्द्रियौघादिषु चतुर्दशसु मार्गणासु पर्याप्त इति बन्धकविशेषणमत्रापि ज्ञेयम्, प्रागुक्तादेव हेतोः ।

'**उक्कोससंकिलिट्ठो**' इत्यादि, अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनाम चेति नवानां जघन्यरसबन्धक उत्कृष्टसंक्लिष्टः, आसां प्रशस्तत्वात् ध्रुवबन्धित्वाच्च । न चौदारिकशरीरनाम्नः कुतो ध्रुवबन्धित्वमिति वाच्यम्, प्रस्तुतमार्गणासु तत्प्रतिपक्षशरीरनाम्नो बन्धाभावेन तस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । तथा '**सेसाण पंचण्ह**' ति पराघातोच्छ्वासातपोद्योतौदारिकाङ्गोपाङ्गनामरूपाणामुक्तशेषाणां पञ्चानां जघन्यरसबन्धकः '**तप्पाउग्गकि लिट्ठो**' त्ति तत्तत्प्रकृतिबन्धकेषु सर्वाधिकसंक्लेशवान् । किमुक्तं भवति ? मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणप्रायोग्याणां बन्धप्रवर्त्तनेन पर्याप्तनामादिसहभाविबन्धानां पराघातनामादीनां बन्धाभावात् । अशुभध्रुवबन्ध्यादीनां पराघातनामादीनां च पञ्चानां जघन्यरसबन्धकस्य पर्याप्त इत्यपि विशेषणं प्राग्वित् द्वीन्द्रियौघादिचतुर्दशमार्गणासु ज्ञेयम्, हेतुः सुगमः । अथ कतिपयमार्गणासु विशेषमाह- '**णवरं**' इत्यादि, तत्र '**पुढवी**'त्ति विशेषणाभावात् पृथ्वीकायौघः, अपकायौघः वनस्पतिकायौघः '**णिगोअ**'त्ति निगोदौघः साधारणवनस्पतिकायौघ इति भाव इत्येवं चतसृषु मार्गणासु प्रागुक्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको बादर इत्यपि ज्ञेयम्, सूक्ष्माणामपि मार्गणान्तःप्रवेशात् तेषाञ्चेह जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् । किमुक्तं भवति ? सूक्ष्माणां व्यवच्छेदार्थं बादर इति विशेषणं देयमेव । किं प्रस्तुतमार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको बादर एव भवति ? नेत्याह- '**परियत्तमाणमज्झिमे**' त्यादि, यासां सातवेदनीयादीनां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो भवति, ता विहाय शेषाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको बादरो भवति, न तु सर्वासाम्, कुतः ? परावर्त्तमानपरिणामबध्यमानजघन्यरसानां प्रकृतीनां जघन्यरसो यथा बादरेण तथा सूक्ष्मेणापि जन्तुना बध्यते इति कृत्वा ॥१९६ A ॥१९६ B ॥ *अथाप्रशस्तलेश्यामार्गणासु जघन्यरसबन्धस्वामित्वं विभणिषुस्तावत्कृष्णलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतं दर्शयन्नाह—

किण्हाए दुगइट्ठो सव्वविसुद्धो उ सम्मदिट्ठीयो ।
णेयो पुमाइगाणं पयडीणं अट्ठतीसाए ॥२६६ A ॥
सम्मत्ताहिमुहो खलु मिच्छत्ती दुगइओ विसुद्धयमो ।
अट्ठण्हं पयडीणं मिच्छाईणं मुणेयव्वो ॥२६६ B ॥

* एतासामप्रशस्तलेश्यामार्गणानामनुपदं वक्ष्यमाणाया अभव्यमार्गणायाश्च गाथातद्विवृत्योरनुसन्धानं यथास्थानं मतिमता स्वयं विधेयमिति प्रार्थये ।

तप्पाउग्गविसुद्धो दुगइट्ठो णपुमथीण मिच्छत्ती ।
सोगारईण सम्मो सिं पण्णाअ णिरयो व्व बिंति परे ॥२६६ C॥(गीतिः)
णपुमव्व पणिंदिउरलुवंगतसाण इयराण ओघव्व ।
णपुमव्व बिंति अण्णे सेसअपरियत्तमाणाणं ॥२६६ D॥

(प्रे०) '**किण्हाए**' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां "......पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥१५९॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य" इति गाथावयवसंगृहीतानां पुरुषवेद-संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्सा-हास्य-रति-निद्राद्विको-पघाता-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चका-ऽऽवरणनवक-प्रत्याख्यानावरणाख्यतृतीयकषायचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणाख्यद्वितीयकषायचतुष्करूपाणामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सुविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्द्विगतिस्थो भवनपति-व्यन्तरनिकायस्थो देवः पञ्चम-षष्ठ-सप्तमपृथ्वीनारकश्च भवति । कुतो न मनुष्यतिर्यञ्चावपि इति चेदुच्यते-तयोः परावर्त्तमानलेश्याकत्वेन सर्वविशुद्धयवाप्तौ सत्यां लेश्यायाः परावर्त्तनात् । देवनारकयोस्तु अवस्थितलेश्याकत्वेन तयोरेवा ग्रहणम् । किं च इहोक्तदेवनारकान् विहाय शेषदेवनारकाणां प्रस्तुतमार्गणाबाह्यत्वान्निरुक्तदेवनारकाणामेवोपादानम् ।

'**सम्मत्ताहिमुहो**' इत्यादि, '**अट्ठण्ह**' ति 'मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउग' इति गाथावयवोक्तानां मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां मिथ्यात्वमोहादीनां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखविशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिर्द्विगतिस्थः पूर्वोक्त एव देवो नारकश्चेति, मनुष्यतिरश्चास्तु सम्यक्त्वाभिमुखानां नियमात् प्रशस्तलेश्याकत्वेन प्रस्तुतलेश्याभावात् । शेषदेवनारकाणामपि प्रस्तुतमार्गणाविरहस्तु प्रागेवोक्तः ।

'**तप्पाउग्गविसुद्धो**' इत्यादि, नपुंसकवेदस्त्रीवेदयोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिः प्रागुक्तो देवो नारकश्च तत्प्रायोग्यविशुद्धो, अधिकतरविशुद्धस्य पुरुषवेदबन्धप्रवर्त्तनात् । मिश्रदृष्टेः सम्यग्दृष्टेश्च तद्बन्धाभावात्, सास्वादनिनः स्त्रीवेदबन्धभावेऽपि तस्य पतनाभिमुखत्वेन तादृग्विशुद्ध्यभावाच्चोक्तं मिथ्यादृष्टिरिति । मनुजतिरश्चान्वेतावत्यां विशुद्धौ प्रस्तुतलेश्याऽनवस्थानात्तेषामग्रहणं द्रष्टव्यम् । '**सोगारईण**' इत्यादि, 'तप्पाउग्गविसुद्धो दुगइट्ठो' इति पदेऽत्राप्यनुवर्तेते, शोकारत्योर्जघन्यरसबन्धकः प्रागुक्तो भवनपति-व्यन्तरदेवो पञ्चम-षष्ठ सप्तमपृथ्वीनारकश्च तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः, मिथ्यादृष्टेः सकाशात् सम्यग्दृष्टेर्विशुद्धतरत्वात् सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम् । अधिकविशुद्धस्य हास्यरतिबन्धप्रवर्त्तनादुक्तं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । शेषदेवनारकाणां मनुष्यतिरश्चाश्चाग्रहणं प्राग्वत् ।

अथ पर्याप्तकदेवानां लेश्याविषयकमतान्तरमाश्रित्य प्रकृतमाऽऽह-'**सिं पण्णाअ**' इत्यादि, '**परे**' त्ति **महाबन्धकाराः** पुरुषवेदादयोऽष्टात्रिंशन् मिथ्यात्वादयोऽष्टौ नपुंसकस्त्रीवेदौ शोकारती

चेति प्रागुक्तानां पञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः प्रागुक्तविशेषणविशिष्टो नारक एव, न तु देवोऽपीति ब्रुवन्ति । कुतस्त एवं ब्रुवन्ति ? देवानां तथाविधविशुद्ध्याद्यभावात् । तदपि कुतः ? प्रस्तुतमार्गणायां निरुक्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धप्रायोग्यविशुद्ध्यादेः पर्याप्तकजीवानामेव सम्भवात् । तेषां मते तु पर्याप्तकदेवानामप्रशस्तलेश्याऽनभ्युपगमात् , भवनपत्यादिदेवानामपर्याप्तकानामेव केषांचिदप्रशस्तलेश्यायाः सम्भवो न तु पर्याप्तकानामपि, तेषां तदसम्भवे च न घटते एतन्मते देवानामपि प्रस्तुतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकत्वमिति भावः ।

'णपुमव्व' इत्यादिगाथा, पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामत्रसनामरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको 'णपुमव्व' त्ति यथा प्राग् नपुंसकवेदमार्गणायामुक्तस्तथा ज्ञेयः । स चैवम्-पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः नारको मनुष्यस्तिर्यङ् च । देवानान्तु भवनपतिव्यन्तराणामेवाप्रशस्तलेश्यासम्भवेन तेषाञ्चोत्कृष्टतोऽपि निरुक्तप्रकृत्योरष्टादशकोटिकोटिसागरप्रमितस्यैव स्थितिबन्धस्य सम्भवेन जघन्यरसबन्धासंभवात् । तदपि कुतः ? इह एतयोर्जघन्यरसबन्धो विंशतिकोटिकोटिसागरमितस्थितेर्बन्धकस्यैव भवति, तावत्प्रमाणस्थितिबन्धकानां भवनपतिव्यन्तराणामेकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्बन्धप्रवर्त्तनेन प्रस्तुतप्रकृत्योर्बन्धाभावात् । प्रकृतिबन्धाभावे च कुतस्तज्जघन्यादिरसबन्धावसर इत्येवं देवानां प्रस्तुतप्रकृतिजघन्यरसबन्धाभावात्तद्व्यवच्छेदार्थमोघवदित्यनतिदिश्य नपुंसकवेदवदित्यतिदिष्टम् । औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो जघन्यरसबन्धक इह तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्नारकः । अत्र देवानां वर्जनमनन्तरोक्तनीत्याऽवधार्यम् । मनुजतिर्यञ्चो हि तीव्रसंक्लिष्टाः सन्तो नरकप्रायोग्याः प्रकृतीर्वैक्रियद्विकाद्या बध्नन्ति ततश्च तेऽपि वर्जिता इति ।

'इयराण' त्ति उक्तव्यतिरिक्तानां पञ्चषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः 'ओघव्व' त्ति यथा मार्गणाविशेषस्याऽविवक्षया सामान्यतः प्ररूपणायां प्रागुक्तस्तथा ज्ञेयः, कुतः ? विशेषाभावात् । उक्तेतराः प्रकृतयस्त्विमाः,-सातासातलक्षणे द्वे वेदनीयप्रकृती द्वे च प्रकृती गोत्रकर्मण उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्ररूपे अष्टौ नाम्नः शुभध्रुवबन्धिन्यस्तथा त्रिपञ्चाशदध्रुवबन्धिप्रकृतयः केवलं नामकर्मणस्ताश्च-गतिनामचतुष्कम् आनुपूर्वीनामचतुष्कं पञ्चेन्द्रियजातिवर्जजातिचतुष्कम् औदारिकवैक्रियशरीरनाम्नी । आहारकशरीरस्य बन्धाभाव एव, कुतः ? अप्रमत्तमुनेरेव तद्बन्धप्रवर्त्तनात्तस्य च नियमेन प्रशस्तलेश्याकत्वेन प्रस्तुतमार्गणाबाह्यत्वात् । वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकम् आतपोद्योतनाम्नी पराघातोच्छ्वासौ जिननाम बादरत्रिकं स्थिरषट्कं स्थावरदशकञ्चेति जाताः सर्वसंख्यया पञ्चषष्टिरिति ।

'णपुमव्व विंसि' इत्यादि, अत्र मतान्तरमाश्रित्य पठति 'अण्णे' त्ति **महाबन्धकारा** अनन्तरोक्तप्रकृतिषु मध्ये यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धोऽपरावर्त्तमानपरिणामेन जायते तासां जघन्यरसबन्धको नपुंसकवेदमार्गणोक्तो वाच्यो न त्वोघोक्त इति ब्रुवन्ति,अत्रायं भावः-अनन्तरोक्तासु

प्रकृतिषु मध्ये यासां त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः परावर्त्तमानपरिणामेन भवति तासां जघन्यरसबन्धस्तु यथासंभवं देवानामपि जायते पर्याप्तकवदपर्याप्तजीवानामपि जघन्यरसबन्धसंभवात् । अपर्याप्तावस्थायान्तु अस्मिन् परमतेऽपि देवानामप्रशस्तलेश्याऽप्रतिषेधात् । अनन्तरोद्दिष्टास्त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतयस्त्विमाः,-सातासाते उच्चैर्गोत्रं मनुष्यद्विकं देवद्विकं नरकद्विकं जातिचतुष्कं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं स्थिरषट्कं स्थावरदशकञ्चेति । तथा औदारिकशरीरनामोद्योतनाम्नी पराघातोच्छ्वासौ बादरत्रिकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकमिति पञ्चदशानां जघन्यरसबन्धकत्वेनौघप्ररूपणायां देवा अप्युक्ता अस्मिन् मते तु ते न वक्तव्याः, तीव्रसंक्लेशादिनैव तज्जघन्यरसबन्धसम्भवात् । तीव्रसंक्लेशस्तु पर्याप्तावस्थायामेव संभवति, तस्यान्तु देवानामप्रशस्तलेश्या न भवन्ति एतन्मते इति भणितमेव । आतपनाम्नस्तु जघन्यरसबन्धको देव उक्तः, परमस्मिन् मते तिर्यग्मनुष्या एव ज्ञेयाः, नारकाणां तत्प्रकृतिबन्धविरोधात् देवानामपर्याप्तावस्थायामेवाप्रशस्तलेश्याभ्युपगमाच्चेहौघवदित्यनतिदिश्य नपुंसकवेदवदित्यतिदिष्टमिति । नीचैर्गोत्रं तिर्यग्द्विकं वैक्रियद्विकं जिननाम चेति षण्णां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकास्तु ओघेऽपि यथायोगं नारकास्तिर्यग्मनुष्या वा, अतस्तज्जघन्यरसबन्धस्वामित्वविषये नास्ति कश्चिद् विशेषोऽस्मिन् मतेऽपीति ज्ञेयम् । गतं कृष्णलेश्यामार्गणायां संभाव्यमानबन्धानामायुर्वर्जानामष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामित्वनिरूपणमिति॥२६६ A॥-६६ D॥अथ नीललेश्यामार्गणायां प्रस्तुतं विभणिषुराह–

णीलाअ तिरिव्व भवे तिरिदुगणीआण तसपणिंदीणं ।
संकिट्ठमिच्छणिरयो विउव्वदुगस्स तदरिहकिट्ठो ॥२६६ E ॥
तदरिहकिट्ठो सम्मो णरो जिणस्स इयराण किण्हव्व ।
णवरं तेरसबायरपमुहाणोरालियतणुव्व ॥२६६ F ॥

(प्रे०) 'णीलाअ' इत्यादि, नीललेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः 'तिरिव्व' त्ति तिर्यग्गत्योघमार्गणायां प्राग् यादृग्विशेषणविशिष्टो जन्तुः भणितस्तादृग्विशेषणविशिष्ट एव जन्तुरिहापि भवतीति भावः । स च प्रस्तुतलेश्यावर्त्ती सुविशुद्धस्तेजःकायो वायुकायो वा ज्ञेयः । अयं भावः–तेजोवायुकायवर्जशेषतिर्यग्वत्प्रस्तुतमार्गणावर्त्तिमिथ्यादृष्टिनारकाणामपि परावृत्त्या तिर्यग्द्विकादिबन्धोपलम्भात्ते तज्जघन्यरसबन्धका न भवन्ति, विशुद्धौ सत्यां मनुष्यद्विकादिबन्धप्रवर्त्तनेन तद्बन्धाभावात् । तेजोवायूनान्तु भवस्वाभाव्येन तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात् ध्रुवतया तिर्यग्द्विकादिप्रकृतीनां बन्धः प्रवर्त्ततेऽतस्तेऽत्र जघन्यरसबन्धका भवन्ति, सत्यामपि विशुद्धौ तद्बन्धसद्भावात् ।

'तसपणिंदीणं' ति त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिनाम्नोर्जघन्यरसबन्धकः 'संकिट्ठमिच्छणिरयो' त्ति मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टो नारकः, सम्यग्दृष्टेः सकाशाद् मिथ्यादृष्टेः संक्लेशाधिक्यात्

प्रस्तुतप्रकृत्योश्च प्रशस्तत्वात् जघन्यरसबन्धस्य प्रस्तुतत्वाच्च मिथ्यादृष्टेर्ग्रहणम् । अल्पक्लिष्टस्य जघन्यरसबन्धासम्भवादुक्तं सर्वसंक्लिष्ट इति । प्रस्तुतलेश्यावतो मनुष्यस्य तिरश्चो वोत्कृष्टतोऽन्तःकोटिकोटिसागरोपममिताया एव स्थितेर्बन्धकत्वेन, देवस्य तु प्रस्तुतलेश्यायां प्रस्तुतप्रकृत्योरष्टादशकोटीकोटीसागरमितस्थितितोऽधिकस्थितेर्बन्धाभावाच्चोक्तं नारक इति । किमुक्तं भवति ? प्रस्तुतलेश्यावर्ती यथोक्तविशेषणविशिष्टो नारकोऽस्य प्रकृतिद्वयस्य विंशतिकोटीकोटीसागरोपममितां स्थितिं बध्नन् अस्य जघन्यरसं बध्नाति । '**विउवदुगस्स**'त्ति वैक्रियशरीर-तदङ्गोपाङ्गलक्षणस्य वैक्रियद्विकस्य जघन्यरसबन्धस्वामी '**तदरिहकिट्ठो**' त्ति तदर्हक्लिष्टः, अधिकतरसंक्लेशे प्रस्तुतलेश्यानवस्थानात् । तथा अनन्तरोक्तपदगतस्य 'मिच्छ' इतिशब्दस्यात्रापि अन्वयात् मिथ्यादृष्टिः, देवनारकाणां भवस्वाभाव्येन तद्बन्धाभावेन सामर्थ्यात् मनुष्यस्तिर्यङ् वा । ततश्च वैक्रियद्विकस्य जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तदरिहसंक्लिष्टो मनुष्यस्तिर्यङ् वा भवतीति ज्ञेयम् । प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यग्मनुष्याणामुत्कृष्टसंक्लेशोऽपि अन्तःकोटीकोटीप्रमाणस्थितिबन्धप्रायोग्यः, स च मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठसंक्लेशतोऽनन्तगुणहीनः, नीलकापोतलेश्यामार्गणयोर्मार्गणाप्रायोग्यज्येष्ठसंक्लेशस्य देवनैरयिकाणामेव भावात् । अत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इति निर्दिष्टम् ।

'**तदरिहकिट्ठो**' इत्यादि, द्वितीयगाथा । जिननाम्नो जघन्यरसबन्धस्वामी तदर्हक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो भवति, तदधिकसंक्लेशे कृष्णलेश्योद्गमेन प्रकृतमार्गणाऽपगमादुक्तं तदर्हक्लिष्ट इति । प्रस्तुतलेश्यावर्त्तिनो नारकस्य तथा देवस्य सर्वस्य च तिरश्चो जिननामबन्धाभावादुक्तं मनुष्य इति । अथोक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामिनं दिदर्शयिषुर्बहुसमानवक्तव्यत्वात् सापवादमनन्तरोक्तकृष्णलेश्यामार्गणावदतिदिशति–'**इयराण**' इत्यादिना, इतरासाम्-अत्रापि आहारकद्विकस्य बन्धाभावादुक्तव्यतिरिक्तानां द्वशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी '**किण्हव्व**' त्ति यादृग्विशेषणविशिष्टो जन्तुः कृष्णलेश्यामार्गणायामुक्तस्तादृग्विशेषणविशिष्टः प्राणीहापि ज्ञेयः । इमाश्च ता उक्ततराः प्रकृतयः,-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं मोहनीयसत्काः षड्विंशतिः वेदनीयद्वयमुच्चैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकं तिर्यग्द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकाहारकद्विकजिननामत्रसनामवर्जा नाम्नो द्वाषष्टिः, समुदिताश्चैता जाता दशोत्तरशतशेषप्रकृतय इति । अथ सामान्यतः कृतेऽतिदेशे समापतिताया अतिव्याप्तेः परिजिहीर्षयाऽऽह–'**थावर**' मित्यादि, अनन्तरोद्दिष्टासु प्रकृतिषु मध्ये बादरत्रिकं पराघातोच्छ्वासौ तैजसशरीर-कार्मणशरीर-प्रशस्तवर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघुनामनिर्माणनामरूपश्च प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकमिति त्रयोदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः '**आरालियवणुव्व**' त्ति कृष्णलेश्यामार्गणायामौदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसबन्धकतया यो जन्तुर्यादृग्विशेषणविशिष्टश्चोक्तः स एव तथास्वरूपो ज्ञेयः, न तु तत्रोक्तो निरुक्तप्रकृतिजघन्यरसबन्धकः । अयं भावः–कृष्णलेश्यामार्गणायां निरुक्तत्रयोदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक-

तया तीव्रसंक्लिष्टश्चातुर्गतिको जन्तुरुक्तः, औदारिकशरीरनाम्नस्तु जघन्यरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो देवो नारको वा, मतान्तरेण तु यथोक्तविशेषणसमन्वितो नारक एव। इह प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकानां मनुजतिरश्चां मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशाभावात् निरुक्तप्रकृतीनां प्रशस्तत्वे सति तज्जघन्यरसबन्धस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वाच्च तीव्रसंक्लिष्टो देवस्तादृग् नारको वा जघन्यरसबन्धको भवति। मतान्तरेण पुनस्तीव्रसंक्लिष्टो नारक एव न तु मनुष्यतिर्यञ्चावपि, तथाविधसंक्लेशे तयोः कृष्णलेश्याऽऽगमेन प्रस्तुतमार्गणाऽपगमात्। तदपि कुतः ? तदीयलेश्यायाः परावर्त्तनशीलत्वात्। देवनारकयोस्तु अवस्थितलेश्याकत्वेन संक्लेशविशुद्ध्यन्तरवृद्धावपि तत्तल्लेश्याया अनपगमात्तयोरेव निरुक्तत्रयोदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकत्वमिति ज्ञेयम्। मतान्तरेण तु केवलस्यैव नारकस्य तदुक्तमेव। ॥२६६ E–६६ F॥ अथ कापोतलेश्यामार्गणायां प्रकृतं बिभणिषुर्बहुसमानवक्तव्यत्वादनन्तरोक्तनीललेश्यामार्गणावत् सापवादमतिदिशति—

काऊए सव्वाणं णीलव्व हवेज्ज णवरि तित्थस्स।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मत्ती होइ णेरइयो ॥२६६ G॥

(प्रे०) 'काऊए' इत्यादि, कापोतलेश्यामार्गणायामष्टादशोत्तरशतसंख्याकानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः 'णीलव्व' त्ति अनन्तरोक्तनीललेश्यामार्गणावद् भवति। किमविशेषेण ? नेत्याह- 'णवरी'त्यादि, इह कापोतलेश्यायां जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिर्नारको भवति। अयं भावः—अनन्तरोक्तनीललेश्यामार्गणायान्तु निरुक्तविशेषणविशिष्टो मनुष्यो जिननाम्नो जघन्यरसबन्धक आसीत्, अप्रशस्तलेश्याकदेवानां नीललेश्याकनारकाणां सर्वतिरश्चाञ्च जिननामबन्धाभावात्। इह कापोतलेश्यायान्तु नारकस्य जिननामबन्धो भवति, अतः स एव तज्जघन्यरसबन्धको भवितुमर्हति, अवस्थितलेश्याकत्वात्। मनुष्यस्य तु प्रस्तुतलेश्यायां सत्यपि जिननामबन्धकत्वे तज्जघन्यरसबन्धकतयाऽसौ न प्राप्यते, तस्य परावर्त्तमानलेश्याकत्वेन तादृक्संक्लेशसद्भावेऽप्रशस्ततरलेश्योद्गमेन प्रकृतमार्गणानवस्थानात् प्रस्तुतमार्गणावर्तिमनुष्यस्य तादृक्संक्लेशाभावादिति भावः। गतं कापोतलेश्यामार्गणायामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामित्वम्। तस्मिंश्च गते निष्ठितमिदमप्रशस्तलेश्यास्वायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामित्वनिरूपणम् ॥२६६ G॥

अधुनाऽभव्यमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामिनमाह—

णेयो पुमाइगाणं छायालीसाअ अभवसिद्धीये।
सव्वविसुद्धो सण्णी अण्णयरो अहव दव्वजई ॥२७४ A॥
तिरियजुगलणीआणं सत्तमणिरयो भवे विसुद्धयमो।
अण्णाणदुगव्व भवे सेसाणं अट्ठसट्ठीए ॥२७४ B॥

(प्रे०) **'णेयो'** इत्यादि, अभव्यमार्गणायां 'पुमचउसंजलणे' त्यादिभिः जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारप्रकृतिसङ्ग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धः संज्ञी **'अण्णयरो'** त्ति अन्यतरश्चतसृषु गतिषु मध्ये अन्यतरगतिवर्त्ती, आयामपरावर्त्तमानत्वे सति अप्रशस्तत्वात् जघन्यरसबन्धस्य च प्रस्तुतत्वादुक्तं सर्वविशुद्ध इति । असंज्ञिनां तज्जघन्यरसबन्धाभावात् संज्ञीति । गतिचतुष्केऽपि तज्जघन्यरसबन्धस्याप्रतिषेधात् अन्यतर इति । **'अहव'** त्ति अथवाशब्दो मतान्तरद्योतकः । ततश्च **मतान्तरेण 'दव्वजई'** त्ति द्रव्ययतिः, सुविशुद्ध इत्यनुवर्त्तते, अल्पविशुद्धस्य तज्जघन्यरसबन्धायोगात् , मनुष्य इति तु गम्यते, तद्व्यतिरिक्तानां द्रव्ययतित्वस्याप्यसंभवात् ।

'तिरियजुगलणीआणं' ति तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सप्तमनरकनारको विशुद्धतमः सुविशुद्ध इति यावत् तद्व्यतिरिक्तानां जन्तूनां तादृग्विशुद्धौ तिर्यग्द्विकादिबन्धाभावात् । कुतः ? प्रस्तुतमार्गणावर्त्ती शेषनारकः सर्वदेवश्च सुविशुद्धः सन् मनुष्यद्विकादि बध्नाति न तु कदाऽपि तिर्यग्द्विकादीति । कथं तर्हि सप्तमनारकस्तद् बध्नातीति चेत् , सम्यक्त्वादिविरहावस्थायां सप्तमपृथ्वीनारकस्य तिर्यग्द्विकादिबन्धस्य ध्रुवतया प्रवर्त्तनात् , प्रस्तुतमार्गणायान्तु मिथ्यात्वस्यानादिनिधनत्वेन सम्यक्त्वादिविरहस्य सर्वदोपलम्भात् । अत्रादिशब्दात्सम्यग्मिथ्यात्वादेर्ग्रहणम् ।

अथोक्तशेषप्रकृतिसत्कं तत्समानवक्तव्यत्वादतिदिशति–**'अण्णाणदुगव्व'** इत्यादि, आहारकद्विकजिननामरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामिह बन्धाभावादेकोनपञ्चाशत्प्रकृतिसत्कस्य चेहोक्तत्वादुक्तशेषाणां **'अट्ठसट्ठीए'** त्ति अष्टषष्टिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः **'अण्णाणदुगव्व'**त्ति प्रागुक्ताज्ञानमार्गणाद्विकवद् भवति । कुतः ? आसां जघन्यरसबन्धकस्य तत्रापि सम्यक्त्वादिगुणाभिमुखत्वाभावात् तत्प्रायोग्यविशुद्धः तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो वेतज्जघन्यरसबन्धस्वामीति कृत्वेति भावः । इमाश्च ता उक्तशेषा अष्टषष्टिप्रकृतयः-सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती इत्यष्टौ, शोकारतिस्त्रीवेदनपुंसकवेदा इति चतस्रः, सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकदेवद्विकानीति दश, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्र-षट्संहनन-षट्संस्थान-खगतिद्विक-सुभगत्रिक-दुर्भगत्रिकाणीति त्रयोविंशतिः, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नी, त्रसनाम-पञ्चेन्द्रियजाति बादरत्रिकोच्छ्वासपराघाताऽगुरुलघुध्रुवबन्धिन्य इति पञ्चदश, औदारिकद्विकोद्योतनामरूपास्तिस्रः, वैक्रियद्विकम् , आतपनाम चेति सर्वसंख्ययाऽष्टषष्टिरिति । एतासां जघन्यरसबन्धकस्वरूपं जिज्ञासुना अस्मिन्नेव ग्रन्थे गाथा २५५- २५६ सत्कविवृतिर्विलोकनीयेति ॥२७४ A–७४ B॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धेऽवशिष्ट-
जघन्यरसबन्धस्वामित्वानुसन्धानम् ॥

इदानीं त्रिमनुष्यमार्गणासु जघन्यरसबन्धकानभिधातुकाम आह—

इगवण्णजिणाईण तिणरेसु ओघव्व होइ सम्मो वा ।
मिच्छो वा मज्झिमपरिणामो सायाइअट्ठण्हं ॥१९७॥
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छत्ती होइ थीणपुंसाणं ।
सतरविउव्वाईणं मिच्छत्ती तिव्वसंकिट्ठो ॥१९८॥
उरलाईण चउण्हं मिच्छद्दिट्ठी तदरिहसंकिट्ठो ।
सेसाणऽडतीसाए मज्झिमपरिणाममिच्छत्ती ॥१९९॥

(प्रे०) '**इगवण्ण**' इत्यादि, मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यरूपासु त्रिमार्गणासु एकपञ्चाशतो जिननामादीनां जघन्यरसबन्धक ओघवज्ज्ञेयः, यथा ओघतो जघन्यरसबन्धस्वामित्व-निरूपणायां तत्स्वामिन उक्तास्तथात्रापि ज्ञेया इति भावः, तद्यथा—जिननाम्नो जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः, आहारकद्विकस्य प्रमत्ताभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽप्रमत्तः, पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कमिति पञ्चानां स्वस्वबन्धविच्छेदसमयेऽनिवृत्तिबादरस्थः क्षपकः, हास्य-रतिभयजुगुप्सानां विशुद्धतमो निवृत्तिबादरापश्चिमक्षणे वर्तमानः क्षपकः,अशुभवर्णादिचतुष्कम् उप-घातश्चेति पञ्चानां निवृत्तिबादरस्य षष्ठभागान्तिमसमये वर्तमानः स एव,निद्राद्विकस्यापूर्वकरणगुण-स्थानकप्रथमभागचरमसमये वर्तमानः क्षपकः,अन्तरायपञ्चकं ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमिति चतुर्दशानां जघन्यरसबन्धको दशमगुणस्थानकचरमसमये क्षपकः, प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याप्रमत्ता-भिमुखो देशविरतः,अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य अप्रमत्ताभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिः,मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति अष्टानामप्रमत्ताभिमुखो मिथ्यादृष्टिः, शोकारत्योस्तत्प्रायो-ग्यविशुद्धः प्रमत्तः, अत्र भावनौघवद् वेदितव्या । '**सायाइअट्ठण्हं**' ति सातासाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति अष्टानां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः सम्यग्दृष्टि-र्मिथ्यादृष्टिर्वा । सम्यग्दृष्टिरित्यनेनात्र प्रमत्तावसानः, मिथ्यादृष्टिरित्यनेन च सास्वादनः, मिश्रदृष्टि-रपि बोध्यः, असातवेदनीयादेः सातवेदनीयादिना सह मिथ्यादृष्टेरारभ्य प्रमत्तं यावत् परावर्त्तेन बन्धा-भ्युपगमात् । तथा स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यानुभागं तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति । सम्य-ग्दृशादेस्तद्बन्धायोगादुक्तं मिथ्यादृष्टिरिति, सर्वविशुद्धस्य मिथ्यादृष्टेः पुरुषवेदबन्धसद्भावेन तद्-बन्धाभावात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । तथा '**सत्तरविउव्वाईणं**' ति 'विउव्वदुग।तसपंचिंदिय-बायरतिगाणि ऊसासपरघाया सुहखगबन्धि' इति वैक्रियद्विकादीनां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः,कुतः ? इति चेदुच्यते—इमा हि शुभाः आसां जघन्यरसः सर्वाधिकसंक्लेशव-तैव जन्यते, एतद्बन्धकेषु अयमेवात्यन्तसंक्लिष्ट इति । तथा '**उरलाईण**' त्ति औदारिकशरीरनाम,

तदङ्गोपाङ्गनाम, उद्योतः, आतप इति चतुर्णां जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तदर्हसंक्लिष्टः, सर्वसंक्लिष्टस्य नरकप्रायोग्यवैक्रियद्विकादिबन्धसद्भावेन तद्बन्धायोगात् तदर्हसंक्लिष्ट इति, सम्यग्दृष्टेर्देवप्रायोग्यबन्धसद्भावेनौदारिकद्विकादिबन्धाभावादुक्तं मिथ्यादृष्टिरिति । **सेसाणऽडतीसाए'** त्ति......'तिरिदुगणीआणि णरदुगुआणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं । एगिंदियथावरसुहुमविगलतिगणिरयदेव...... दुगं' इति उक्तशेषाणां तिर्यग्द्विकादीनामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिर्मध्यमपरिणामः परावर्त्तमानमध्यमपरिणाम इत्यर्थः, तिर्यग्द्विकादीरशुभा मनुष्यद्विकादिभिः शुभैः सह परावृत्त्या बध्नता प्रशस्तसंहननसंस्थानादीश्चाद्यवर्जाऽप्रशस्तसंहननसंस्थानादिभिः सह परावृत्त्या बध्नता मिथ्यादृष्टिबन्धकेन परावर्त्तमानपरिणामेनासां जघन्यरसो जन्यते । सम्यग्दृष्ट्यादेस्तिर्यग्द्विकादिबन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टिरिति ।।१९७ १९९।।

अथ देवौघमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामित्वमभिधातुकाम आह—

देवे सव्वविसुद्धो सम्मोऽत्थि पुमाइअट्ठतीसाए ।
अडमिच्छाईणं सुविसुद्धो सम्महिमुहो मिच्छो ।।२००।।
सम्मो मिच्छो वा अडसायाईण परियट्टपरिणामो ।
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छत्ती थीणपुमाणं ।।२०१।।
तप्पाउग्गविसुद्धो सम्मत्ती होइ अरइसोगाणं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मादिट्ठी जिणस्स भवे ।।२०२।।
मज्झिमपरिणामो खलु मिच्छो तिरियाइअट्ठवीसाए ।
तिव्वकसायो मिच्छो गुणवीसाए तसाईणं ।।२०३।।

(प्रे०) **'देवे'** इत्यादि । देवौघमार्गणायां '...[1]पुम[2]चउसंजलण [3]भय[4]कुच्छ [5]हस्स[6]रई । [7]णिद्दादुग[8]सुवघायो [9]कुवण्णचउगं च [10]विग्घाणि । [11]णवआवरणाणि [12]तइअदुइअकसाया।' इति पुरुषवेदादीनाम् अष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकः साकारो जाग्रत् पर्याप्तः सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः, अनाकारस्य करणापर्याप्तस्य च तथाविधविशुद्ध्यनभ्युपगमात् प्रागुक्तानां साकारादित्रिविशेषणत्रयाणामुपादानं कृतम् । इमा ह्यप्रशस्ता आसां जघन्यरसः सर्वविशुद्धेनैव बन्धकेन जन्यते, सर्वविशुद्धत्वं चात्र न मिथ्यादृष्ट्यादेरिति उक्तं सम्यग्दृष्टिरिति । सम्यग्दृशामपि विशुद्धितारतम्योपलम्भादुक्तं सर्वविशुद्ध इति । तथा **'अडमिच्छाईणं'** ति मिथ्यात्वमोहनीयं, स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानां सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः । इमा ह्यशुभतमाः, आसां जघन्यरसो विशुद्धतमेनैव बन्धकेन जन्यते, एतद्बन्धकेषु अयमेव विशुद्धतम

इति । तथा 'अडसायाईण' त्ति सातासाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति अष्टानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टि र्वा, उपलक्षणत्वात् तादृक् सास्वादनो मिश्रदृष्टिश्च । तथा 'थीणपुसाण' ति स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, सर्वविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेश्च पुरुषवेदबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावाद् यथोक्तो मिथ्यादृष्टिरेव तज्जघन्यरसबन्धकः । तथा 'अरइसोगाणं' अरतिशोकयोर्जघन्यरसबन्धस्वामी तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः, सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिबन्धसद्भावेन अरतिशोकबन्धाभावादुक्तं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । मिथ्यादृष्टेस्तथाविधविशुद्धयभावेन जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् सम्यग्दृष्टिरिति । तथा 'जिणस्स' जिननामकर्मणो जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः । तथा 'तिरियाइअडवीसाए'...[२]तिरिदुग[१]णीआणि [२]णरदु[१]गु णाणि । [६]संघयणा[५]गिइछक्क [२]खगइदुगं [३]सुहग[३]दुहगतिगं । [१]एगिंदिय [१]थावर......'इति । तिर्यग्द्विकादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः,सम्यग्दृष्टेस्तिर्यग्द्विकादिबन्धाभावेन नरद्विकादीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह बन्धपरावृत्त्यभावात् मिथ्यादृष्टिरिति । अत्रैकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्जघन्यानुभागबन्धक ईशानान्तो देवो बोध्यः, सनत्कुमारादीनां तद्बन्धाभावात् । तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकयोश्च महस्रारान्तो देवः आनतादिदेवानां तिर्यग्द्विकबन्धाभावेन मनुष्यद्विकस्य परावृत्त्या बन्धाभावात् । तथा 'गुणवीसाए तसाईणं' उक्तव्यतिरिक्तानां 'तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया । सुहधुवबंधि उरलतणुवंगा उज्जोअ-आयवाणि त्ति' इति त्रसादीनामेकोनत्रिंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तीव्रकषायस्तीव्रसंक्लिष्ट इति यावत् , स च महस्रारान्तो ज्ञेयः, आनतादिदेवानां तादृक्संक्लेशाभावात् , इमा हि प्रशस्ताः, प्रशस्तानां जघन्यरसस्तीव्रसंक्लेशेनैव जन्यते, एतद्बन्धकेषु अयमेव तीव्रसंक्लिष्ट इति । अत्र 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः' त्रसनाम, पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकाङ्गोपाङ्गमिति प्रकृतित्रयस्य सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो देवो जघन्यरसबन्धको ज्ञेयः, न ईशानान्तोऽपि सर्वसंक्लिष्टस्य तस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रस्तुतप्रकृतित्रयबन्धायोगात् । आतपनाम्न ईशानान्तो देवो बोध्यः, सनत्कुमारादीनां तद्बन्धाभावात् ॥२००-२०३॥

ओघतो देवौघमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामित्वं निरूप्याथ तत्प्रतिमार्गणासु तन्निरूपयिषुराह—

देवव्व जाणियव्वो सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
भवणवइवंतरेसुं जोइसकप्पदुगदेवेसुं ॥२०४॥
णवरं मिच्छो मज्झिमपरिणामो खलु पणिंदियतसाणं ।
तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छत्ती उरलुवंगस्स॥२०५॥

(प्रे०) 'देवव्व' इत्यादि, भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानरूपासु पञ्चसु देवगति-प्रतिमार्गणासु स्वप्रायोग्याणां सर्वप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽनन्तरनिरूपितदेवौघमार्गणावज्ज्ञेयः । **किमुक्तं भवति ?** उच्यते–सौधर्मेशानयोरनन्तरोक्तवत् षडुत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको वाच्यः, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्केषु जिननामवर्जानां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनामिति, कुतः ? तेषां जिननामबन्धाभावात् । अथात्र यो विशेषोऽस्ति तं दर्शयति **'णवरं'** इत्यादिना, नवरं पञ्चेन्द्रिय-जातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी,औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नश्च तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्ज्ञेयः । देवौघमार्गणायां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोरौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य च जघन्यानुभागबन्धकस्तीव्रक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवः सनत्कुमारादिदेवानाश्रित्योक्तः, तेषामेकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्बन्धाभावेन तीव्रक्लिष्टानामपि तेषां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोरौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य चैव बन्धाभ्युपगमात् । अत्र तु स न भवति, भवनपत्यादीशानावसानेषु देवेषु तीव्रक्लिष्टस्य केवलमेकेन्द्रियजातिस्थावरनामबन्धसद्भावेन पञ्चेन्द्रियजात्यादिबन्धाभावात् । किन्तु यदा परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन एकेन्द्रियजातिस्थावरनामभ्यां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नी परावृत्त्या बध्येते तदा तयोः, तथा तीव्रसंक्लेशेनैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धप्रवर्त्तनेनाङ्गोपाङ्गबन्धाभावात् तत्प्रायोग्यसंक्लेशं भजतोदारिकाङ्गोपाङ्गस्य जघन्यानुभागो जन्यते । **ततश्चेदमायातं**–देवौघमार्गणायां त्रसनामादीनामेकोनविंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टोऽस्ति, अत्र तु स बादरत्रिकम् , उच्छ्वासः, पराघातः, शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, औदारिकशरीरम् , उद्योतः, आतप इति षोडशानामेव । तथा तत्र मध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग्द्विकादीनामष्टाविंशतेः जघन्यरसबन्धकः, अत्र तु स एव पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामसहितानां तासां सर्वसंख्यया त्रिंशत्प्रकृतीनामित्यर्थः । तथा औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो जघन्यरसबन्धको देवौघमार्गणायां तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः, अत्र तु तत्प्रायोग्यक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः, तीव्रक्लिष्टस्य भवनपत्यादीशानान्तदेवस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेनाङ्गोपाङ्गबन्धायोगादिति ॥२०४-२०५॥

अथ आनतादिसुरेषु जघन्यरसबन्धस्वामिनो निर्दिदिक्षुराह—

आणतपहुडिसुरेसु सप्पाउग्गाण पढमणिरयव्व ।
णवरं तिव्वकसायो मिच्छत्ती नरदुगस्स भवे ॥२०६॥

(प्रे०) 'आणत' इत्यादि, पञ्चानुत्तरदेवेषु वक्ष्यमाणत्वात् **'आणतपहुडिसुरेसु'** ति आनतादिनवमग्रैवेयकावसानासु त्रयोदशदेवमार्गणासु स्वप्रायोग्याणां तिर्यग्द्विकोद्योतवर्जानां नरकमार्गणोक्तानां शतप्रकृतीनामित्यर्थः, जघन्यरसबन्धकः प्रथमनरकनारकवज्ज्ञेयः । **तद्यथा**—······
'पुम-वइसंजलण-भयकुच्छ-हस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउरं च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया' इति गाथोक्तानां पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धः

सम्यग्दृष्टिर्देवः । मिथ्यात्वमोहनीयं, स्त्यानर्द्धित्रिकम् , अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति अष्टानां सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिः। सातासाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति अष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टि र्वा। अरतिशोकयोस्तदर्हविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्जघन्यरसबन्धकः। स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः। 'तस-पंचिंदिय-बायरतिगाणि ऊसासपरघाया। सुहधुवबन्धि-उरलतणुवंगा'...... इति त्रसनामादीनां सप्तदशानां मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देवो जघन्यरसबन्धकः। जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकस्तदर्हसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः। अत्र विशेषं दर्शयति 'णवर' मित्यादिना, तद्यथा-'नरदुगस्स' त्ति मनुष्यद्विकस्य जघन्यरसबन्धकोऽत्र तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः। किमुक्तं भवति-प्रथमादिनरकमार्गणायां नरद्विकादीनां त्रयोविंशतेः तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च इति षड्विंशतिप्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धको मिथ्यादृष्टिः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामस्तन्मार्गणावर्त्ती जन्तुरुक्तः अत्र तु तिर्यग्द्विकनरद्विकवर्जानां तासां द्वाविंशतेरित्यर्थः, तद्यथा--उच्चैर्नीचैर्गोत्रयोः '[१]संघयणा[१]गिइछक्कं [२]खगइदुगं [३]सुहग[३]दुहगतिगं' इति गाथोक्तानां विंशतेश्चेति द्वाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिः परावर्त्तमानपरिणामो वाच्यः, तिर्यग्द्विकस्यात्र बन्ध एव नास्ति, नरद्विकस्य सत्यपि बन्धे तद्बन्धकः परावर्त्तमानपरिणामी न भवति, कुतः ? आनतादिदेवानां तिर्यग्द्विकबन्धाभावेन नरद्विकस्य परावृत्त्या बन्धाभावात्। ततश्चात्रेदमायातं-त्रसनामादीनां सप्तदशानां नरद्विकस्य चेति एकोनविंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽत्र तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्भवति। इत्यत्र सम्भाव्यमानबन्धानां शतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका निरूपिताः ॥२०६॥ अथ पञ्चानुत्तरदेवमार्गणासु जघन्यानुभागबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह--

पणऽणुत्तरेसु णेयो अडतीसपुमाइगाण सुविसुद्धो ।
मज्झिमपरिणामो खलु सायाईणऽत्थि अट्ठण्हं ॥२०७॥
तप्पाउग्गविसुद्धो विण्णेयो अरइसोगाणं ।
णेयो सगवीसाए सेसाणं तिव्वसंकिट्ठो ॥२०८॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) 'पणऽणुत्तरेसु' इत्यादि । विजयादिसर्वार्थसिद्धावसानासु पञ्चानुत्तरदेवमार्गणासु '......पुमचउसंजऊणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघाओ कुवण्णचउगं च विग्घाणि। णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया' इति अष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः साकारो जाग्रत् करणपर्याप्तः सर्वविशुद्धो ज्ञेयः। अत्र सम्यग्दृष्टिरिति विशेषणं तु न वाच्यम् बन्धकस्य, सर्वस्य तथात्वेन व्यवच्छेद्याभावात्, अथवा तत्स्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन वाच्यमपि। तथा सातासाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति अष्टानां जघन्यरसबन्धको मध्यमपरिणामः परावर्त्तमानपरिणाम इत्यर्थः, तासां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या बन्धोपलम्भात्। अरतिशोकयो र्जघन्यानुभाग-

बन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः, सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिबन्धसद्भावेन तद्बन्धाभावात् । 'सगवो-साए' त्ति उक्तव्यतिरिक्तानां जिननाम, मनुष्यद्विकम् उच्चैर्गोत्रं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः, सुभगत्रिकं, त्रसनाम, पञ्चेन्द्रियजातिः, बादरत्रिकम् , उच्छ्वासः, पराघातः, शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, औदारिकद्विकमिति सप्तविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः पूर्वोक्तसाकारादिविशेषणविशिष्टः ॥२०७-२०८॥ इति अत्र बन्धयोग्यानामायुर्वर्जानां पञ्चसप्तति-प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकनिरूपणा कृता । गता गतिमार्गणा । अथेन्द्रियमार्गणासु जघन्यरसबन्ध-कानभिधातुकाम आह—

सुविसुद्धो सव्वेसुं एगिंदियसकभेएसु ।
णेयो पुमाइगाणं छायालीमाअ पयडीणं ॥२०९॥ (उपगीतिः)
तप्पाउग्गविसुद्धो होएइ चउण्ह णोकसायाणं ।
उक्कोससंकिलिट्ठो अडसुहधुवबंधिउरलाणं ॥२१०॥
परघाऊसासायवदुगुरलुवंगाण तदरिहकिलिट्ठो ।
तिरियजुगलणीआणं तेऊ वाऊ व सुविसुद्धो ॥२११॥
मज्झिमपरिणामो खलु चउआलीसाअ होइ सेसाणं ।
एगिंदियओहे सगसट्ठीए बायरो णेयो ॥२१२॥

(प्रे०) 'सुविसुद्धो' इत्यादि, [1]एकेन्द्रिय- [2]सूक्ष्मैकेन्द्रिय- [3]बादरैकेन्द्रिय- [4]पर्याप्तसूक्ष्मै-केन्द्रिया- [5]ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय- [6]पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया [7]ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रियरूपेषु सर्वेषु एकेन्द्रिय-स्वकभेदेषु सप्तसु एकेन्द्रियमार्गणासु इत्यर्थः, '......पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । निद्दा-दुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णवआवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउग.......' इतिषट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः साकारः जाग्रत् कर-णपर्याप्तः सर्वविशुद्धः, अनाकारादीनां तथाविधविशुद्ध्यनुपलम्भात् तद्व्यवच्छेदार्थं प्रागुक्त-साकारादिविशेषणत्रयं बोध्यम् । तथा 'चउण्ह णोकसायाणं' ति अरतिशोकस्त्रीवेदनपुंसक-वेदानां चतुर्णां कर्मणां जघन्यरसबन्धकः साकारादिविशेषणविशिष्टः तत्प्रायोग्यविशुद्धः, सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिपुरुषवेदबन्धसम्भवेन तद्बन्धाभावात् । तथा शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ औदारिकशरीरनामेति नव-प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक उत्कृष्टसंक्लिष्टः, इमा हि अपरावर्त्तमानाः शुभाश्च, अपरावर्त्तमानशुभानां उत्कृष्टसंक्लेशेनैव जघन्यरसो जन्यत इति कृत्वा । तथा पराघातः, उच्छ्वासः, उद्योतः, आतपः, औदारिकाङ्गोपाङ्गमिति पञ्चानां जघन्यरसबन्धकः तदर्हक्लिष्टः, सर्वसंक्लिष्टस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय-प्रायोग्यबन्धकत्वेन पराघातादिबन्धाभावात् । अत्रेदं ज्ञातव्यं वर्तते—पराघातोच्छ्वासयो-

जघन्यरसः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकेन निर्वर्त्यते; आतपनाम्नो जघन्यानुभागः पर्याप्तबादर-पृथ्वीकायप्रायोग्यबन्धकेन चीयते, उद्योतस्य जघन्यरसस्तेजोवायुभिन्नपर्याप्तप्रत्येकबादरैकेन्द्रिय-प्रायोग्यबन्धकेन, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नस्तु सः अपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यबन्धकेन जन्यत इति । तथा 'तिरियजुगलणीआणं' ति तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति तिसृणां प्रकृतीनां जघन्य-रसबन्धकः सर्वविशुद्धस्तेजस्कायो वायुकायो वा, तादृग्विशुद्धपृथ्व्यब्वनस्पतिकायिकानां मनुष्यद्वि-कोच्चैर्गोत्रबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् , तेजस्कायस्य वायुकायस्य च ग्रहणम् , तयोस्तथास्वाभाव्यात् सर्वविशुद्धत्वेऽपि तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरेव बन्धोपलम्भात् । तथा 'चउआलीसाअ' त्ति उक्तव्यतिरिक्तानां सातासाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति अष्टानां '[२]णरदु'गु-णाणि [६]संघयणागिइछक्कं [२]खगइदुगं [३]सुहग [३]दुहगतिगं [१]एगिंदिय [१]थावर [३]सुहुम [३]विग-लतिगं । इति एकत्रिंशतः 'तसपंचिंदियबायरतिगाणि इति पञ्चानां चेति सर्वसंख्यया चतु-श्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः, स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सहासां बन्धस्य परावृत्त्योपलभ्यमानत्वात् । एवमुक्ताः सप्तसु एकेन्द्रियमार्गणासु जघन्यरसबन्धकाः । अथ तदन्तर्गतायामेकेन्द्रियौघमार्गणायां बन्धकविशेषं दर्शयति—'एगिंदियओहे' इत्यादिना, एके-न्द्रियौघमार्गणायां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानाः चतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतीर्विनाऽत्रोक्तानां सप्तषष्टिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको बादरो ज्ञेयः, किमुक्तं भवति ? एकेन्द्रियौघमार्ग-णायां सूक्ष्मा बादराश्चेति द्विविधा बन्धकाः सन्ति, तत्र सूक्ष्माणां तथाविधविशुद्धिसङ्क्लेशाभावेन जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् तद्व्यवच्छेदार्थं तत्र जघन्यरसबन्धको बादर इति वाच्यम् , परावर्त्त-मानमध्यमपरिणामस्य तु यथा बादरे तथा सूक्ष्मेऽपि सम्भवात् । परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानजघन्यरसानां तु चतुश्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको बादर एव न वाच्यः, सूक्ष्म-स्यापि तद्बन्धसद्भावात् । तथा सूक्ष्मौघे बादरौघे च पर्याप्ता एव उक्तसप्तषष्टेर्जघन्यरसबन्धका ज्ञेयाः, नत्वपर्याप्ता अपि ॥२०९-२१२॥ अथैकविंशतिमार्गणासु जघन्यरसबन्धस्वामित्वमोघवद-तिदिशन्नाह—

ओघव्व दुपंचिंदियतसपणमणवयणकायजोगेसुं ।
लोहणयणेयरेसुं भविये सण्णिम्मि आहारे ॥२१३॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, [१]पञ्चेन्द्रियौघ- [१]पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- [१]त्रसकायौघ-पर्याप्त-[१]त्रसकाय-[५]पञ्चमनोयोग-[५]पञ्चवचोयोग [१]काययोगौघ- [१]लोभकषाय-चक्षुर्दर्शना - ऽचक्षुर्दर्शन[१]-भव्य-[१]संज्ञ्याऽऽ [१]हारिरूपासु-एकविंशतिमार्गणासु सर्वासां विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनां जघन्य-रसबन्धका ओघवज्ज्ञेयाः, चतुर्गतिकानामपि जीवानामत्र प्रत्येकमन्तःपातित्वात् प्रथमादिदशमाव-सानगुणस्थानकवर्ता जीवानामुपलभ्यमानत्वाच्च ॥२१३॥

सर्वपृथ्वीकायिकाप्कायिकवनस्पतिकायिकभेदेषु जघन्यरसबन्धका अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्य-

गादिभेदेषु तन्निरूपणावसरे प्रागू निरूपिताः,तत्समानवक्तव्यत्वात् ;अथ तेजस्काय-वायुकायसर्वभेदेषु तन्निरूपयन्नाह—

तिरिदुगणीअपुमाइछचत्ताणं सव्वतेउवाऊसु ।
सव्वविसुद्धो तदरिहसुद्धो चउणोकसायाणं ॥२१४॥
उक्कोससंकिलिट्ठो होइ अडसुहधुवबंधिउरलाणं ।
परघाऊसासायवदुगुरलुवंगाण तदरिहकिलिट्ठो ॥२१५॥ (गीतिः)
मज्झिमपरिणामो खलु णेयो सेसाण एगचत्ताए ।
तेउअणिलओहेसु बायरकायोऽत्थि सत्तसट्ठीए ॥२१६॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'तिरिदुग' इत्यादि । सप्ततेजस्कायभेदेषु सप्तवायुकायभेदेषु चेति चतुर्दशमार्गणासु तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति तिसृणां प्रकृतीनां '...... पुमचउसजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइअसुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउग......' इति पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां चेति सर्वसंख्यया एकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः साकारो जाग्रत् सर्वविशुद्धस्तत्तन्मार्गणागतो जन्तुर्ज्ञेयः, इमा हि अप्रशस्ता अपरावर्त्तमानाश्च, अपरावर्तमानाऽशुभानां जघन्यरसस्य सर्वविशुद्धेनैव बन्धकेन बध्यमानत्वात् । तथा 'चउणोकसायाणं' ति शोकारतिस्त्रीवेदनपुंसकवेदानां जघन्यरसबन्धकः तदर्हविशुद्धः, सर्वविशुद्धस्य तद्बन्धाभावात् । तथा शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ औदारिकशरीरनाम चेति नवप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक उत्कृष्टसंक्लिष्टः, इमा हि प्रशस्ता अपरावर्त्तमानाश्च, अपरावर्त्तमानप्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यरसस्य तद्बन्धकेषूत्कृष्टसंक्लिष्टेनैव बन्धकेन जन्यत्वात् । तथा पराघातोच्छ्वासातपोद्योतौदारिकाङ्गोपाङ्गनामलक्षणानां पञ्चप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तदर्हक्लिष्टः, सर्वसंक्लिष्टस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियादिप्रायोग्यबन्धसद्भावेन पराघातादिबन्धाभावात् । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां 'संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं । एगिंदिय-थावर-सुहुम-विगलतिग ...' इति गाथोक्तानामष्टाविंशतेः, त्रसनाम, पञ्चेन्द्रियजातिः, बादरत्रिकमिति पञ्चानां चेति सर्वसंख्ययैकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो ज्ञेयः, आसां स्वस्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् , तद्यथा–आद्यसंहननस्य शेषपञ्चसंहननैः आद्यसंस्थानस्य आद्यवर्जसंस्थानैः अप्रशस्तखगतेः प्रशस्तखगत्या, सुभगत्रिकस्य दुर्भगत्रिकेणेत्यादि । इति तेजस्कायवायुकायभेदेषु जघन्यरसबन्धकानभिधायाथ तद्भेदान्तःपातिनि तेजस्कायौघ-वायुकायौघरूपे भेदद्वये विशेषं दर्शयति 'तेउअणिलओहेसु' इत्यादिना, मध्यमपरिणामेन बध्यमाना एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्विनाशेषाणां सप्तषष्टिप्रकृतीनां बन्धको बादरकायोऽस्ति, किमुक्तं

भवति ? बन्धकस्य बादर इत्यपि विशेषणं वाच्यम् , कुतः ? अत्र भेदद्वये सूक्ष्मस्यापि अन्तःपातित्वात् तस्य च तथाविधसंक्लेशविशुद्धयनुपलम्भात् तद्व्यवच्छेदार्थमिति । तथात्र भेदद्वये बन्धकः पर्याप्त इत्यपि वाच्यम् , अपर्याप्तस्याऽन्तःपातित्वात्तद्व्यवच्छेदार्थमिति । **अत्रायं सारांशः**-इह सर्वेऽपि बन्धकाः पूर्वोक्तैकेन्द्रियमार्गणावदेव सन्ति । नवरं तत्र तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो र्बन्धकौ सुविशुद्धौ तेजस्कायवायुकयावुक्तौ अत्र तु केवलं सुविशुद्धौ बोध्यौ, मार्गणायास्तथात्वेन तेजस्काय-वायुकायाविति विशेषणस्य व्यवच्छेद्याभावेनानुपयोगित्वात् ॥२१४-२१६॥

अथौदारिककाययोगमार्गणायां जघन्यरसबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह—

इगसट्ठिजिणाईणं उरले ओघव्व तिव्वसंकिट्ठो ।
सण्णी मिच्छादिट्ठी सत्तरविउवाइगाण भवे ॥२१७॥
सुविसुद्धबायरो खलु तेऊ वाऊ व तितिरियाईणं ।
उरलाईण चउण्हं सण्णी मिच्छो तदरिहसंकिट्ठो ॥२१८॥(गीतिः)
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो बंधगो मुणेयव्वो ।
मिच्छत्ती पयडीणं पणतीसाए णराईणं ॥२१९॥

(प्रे०) '**इगसट्ठि**' इत्यादि । औदारिककाययोगमार्गणायां जिननामादीनामेकषष्टिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक ओघवज्ज्ञेयः । **तद्यथा**–जिननाम्नो जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखः सम्यग्दृष्टिस्तीव्रक्लिष्टो मनुष्यः । आहारकद्विकस्य जघन्यानुभागबन्धकः प्रमत्ताभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽप्रमत्तमुनिः । पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्कयोः स्वस्वबन्धचरमसमयेऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकवर्त्ती क्षपकः । हास्यरतिभयजुगुप्सानां निवृत्तिबादरचरमसमये वर्त्तमानो विशुद्धतमः क्षपकः । अशुभवर्णादिचतुष्कोपघातयोर्निवृत्तिबादरगुणस्थानस्य षष्ठभागान्तिमसमये वर्त्तमानो विशुद्धतमः क्षपकः । निद्राद्विकस्य निवृत्तिबादरप्रथमभागचरमक्षणे वर्त्तमानः सर्वविशुद्धः क्षपकः । पञ्चान्तरायाः चत्वारि दर्शनावरणानि पञ्चज्ञानावरणानि इति चतुर्दशानां सूक्ष्मसम्परायचरमसमये वर्त्तमानः क्षपकः । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य संयमाभिमुखो विशुद्धतमो देशविरतिर्मनुष्यः । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धकोऽप्रमत्ताभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्विशुद्धतमो मनुष्यः । मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानामप्रमत्ताभिमुखो मिथ्यादृष्टिः सर्वविशुद्धो मनुष्यः । स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यरसबन्धकः । सातासाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तीति अष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा । अत्र भावनौघवत् । वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासः पराघातः शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ इति वैक्रियद्विकादीनां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टि-

स्तीव्रसंक्लिष्टः, स च नरकप्रायोग्यं कर्म बध्नन् वैक्रियद्विकादे विंशत्यादिकोटीकोटीसागरमिततत्त-दुत्कृष्टस्थितिबन्धको बोध्यः, अनुत्कृष्टस्थितिबन्धकस्येह तीव्रसंक्लिष्टत्वाभावेन जघन्यरसबन्ध-कत्वायोगात् । तथा तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति प्रकृतित्रयस्य जघन्यरसबन्धकः सुविशुद्धो बादरस्ते-जस्कायोवायुकायो वा,तेजोवायुव्यतिरिक्तानां सुविशुद्धत्वे मनुष्यद्विकादिबन्धाभ्युपगमात् तेजस्काय-वायुकाययोर्ग्रहणम् । सूक्ष्मयोस्तयोस्तथाविधविशुद्ध्यभावात् बादर इति । तथौदारिकद्विकोद्योतातप-नाम्नां जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तदर्हसंक्लिष्टः, असंज्ञिनस्तथाविधसंक्लेशाभावात् संज्ञीति । सम्यग्दृष्टेर्देवप्रायोग्यवैक्रियद्विकादिबन्धसद्भावेनौदारिकद्विकादिबन्धायोगात् मिथ्यादृष्टि-रिति । सर्वसंक्लिष्टस्य मिथ्यादृष्टेर्नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् तदर्हक्लिष्ट इति । तथा 'पणतीसाए' त्ति नरद्विकमुच्चैर्गोत्रं षट्संहननानि षट्संस्थानानि खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भग-त्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं नरकद्विकं देवद्विकमिति संग्रहगाथोक्तानां नरद्विकादीनां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः, आसां परावर्त्तमानत्वात् ॥२१७-२१९॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां जघन्यानुभागबन्धस्वामिप्रकटनचिकीर्षया व्याचक्षते—

अडतीसपुमाईणं उरालमीसे विसुद्धसम्मत्ती ।
अडमिच्छाईण भवे सण्णी मिच्छो विसुद्धयमो ॥२२०॥
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ मिच्छदिट्ठीयो ।
सम्मादिट्ठीयो वा सायाईण अडपयडीणं ॥२२१॥
तप्पाउग्गविसुद्धो सण्णी मिच्छोऽत्थि थीणपुंसाणं ।
तप्पाउग्गविसुद्धो सम्मत्ती अरइसोगाणं ॥२२२॥
सुविसुद्धबायरो खलु तेऊ वाऊ व तितिरियाईणं ।
सुरविउव्वदुगाण भवे सम्मत्ती तिव्वसंकिट्ठो ॥२२३॥
मिच्छादिट्ठी सण्णी सुहधुवबंधिउरलाण संकिट्ठो ।
परघाऊसासायवदुगुरलवंगाण तदरिहकिलिट्ठो ॥२२४॥ (गीतिः)
तिव्वकसायो मणुमो सम्मादिट्ठी जिणस्स सेसाणं ।
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ मिच्छत्ती ॥२२५॥

(प्रे०) 'अडतीस' इत्यादि । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां पुरुषवेदः, चतुःसंज्वलनाः, भयजुगुप्से, हास्यरती, निद्राद्विकमुपघातः, अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं, पञ्चान्तरायाः, चतुर्दर्शनावरणानि,

पञ्चज्ञानावरणानि प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कमिति संग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिः विशेषेण शुद्धो विशुद्धः सर्वविशुद्ध इति यावत् । इमा हि अप्रशस्ता अपरावर्त्तमानाश्च, आसां जघन्यरसस्तत्तन्मार्गणागतेन सर्वविशुद्धेनैव बन्धकेन जन्यते; प्रस्तुतमार्गणायां तु अयमेव सर्वविशुद्धः, अनुभागबन्धप्रस्ताव औदारिकमिश्रयोगवतामुत्कृष्टतोऽपि चतुर्थगुणस्थानकस्यैव भावात् । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति अष्टानां जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्विशुद्धतमः, असंज्ञिनस्तद्बन्धकत्वेऽपि तथाविधविशुद्ध्यभावेन जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् संज्ञीति । सम्यग्दृशां तद्बन्धाभावात् मिथ्यादृष्टिरिति । अल्पविशुद्धस्य मिथ्यादृष्टेर्जघन्यरसबन्धकत्वायोगाद् विशुद्धतम इति । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति अष्टानां जघन्यानुभागबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा । स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यरसबन्धस्वामी संज्ञी तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्दृष्ट्यादेस्तद्बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टिरिति । सर्वविशुद्धस्य मिथ्यादृष्टेः पुरुषवेदबन्धभावेन तद्बन्धोपलम्भात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । असंज्ञिनस्तथाविधविशुद्ध्यभावेन जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् संज्ञीति । अरतिशोकयोर्जघन्यानुभागनिर्वर्तकः सम्यग्दृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः, मिथ्यादृष्टेस्तथाविधविशुद्ध्यभावात् सम्यग्दृष्टिरिति । सर्वविशुद्धस्य सम्यग्दृष्टेर्हास्यरतिबन्धसम्भवेन तद्बन्धाभावात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । '**त्ति तिरियाईणं**' ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धो बादरस्तेजस्कायो वायुकायो वा, अत्रेतरेषां सर्वविशुद्धत्वे नरद्विकादिबन्धाभ्युपगमात् तान् विहायोक्तं तेजस्कायवायुकायाविति । सूक्ष्मस्य तथाविधविशुद्ध्यभावाद् बादर इति । अल्पविशुद्धस्य बादरस्य जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् सर्वविशुद्ध इति । '**सुरविउवदुगाण**' त्ति देवद्विकवैक्रियद्विकयोस्तीव्रसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः, रसबन्धप्रस्ताव औदारिकमिश्रयोगो हि अपर्याप्तावस्थायां प्राप्यते, तत्र मिथ्यादृष्ट्यादेर्देवद्विकादिबन्धानभ्युपगमात् सम्यग्दृष्टिरिति । अल्पक्लिष्टस्य जघन्यरसबन्धासम्भवात् तीव्रसंक्लिष्ट इति । तथा शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टा औदारिकशरीरनाम चेति नवप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः '**संकिट्ठो**' त्ति सम्यक् क्लिष्टः संक्लिष्टस्तीव्रक्लिष्ट इतियावत् संज्ञी मिथ्यादृष्टिः । इमा हि प्रशस्ताः अपरावर्त्तमानाश्च, आसां जघन्यरसः सर्वसंक्लिष्टेनैव बन्धकेन जन्यते, एतद्बन्धकेष्वयमेव सर्वसंक्लिष्ट इति । तथा पराघात उच्छ्वास उद्योत आतप औदारिकाङ्गोपाङ्गनामेति पञ्चानां जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तदर्हक्लिष्टः, अत्र तीव्रक्लिष्टस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धायोगात् तदर्हक्लिष्ट इति । मिथ्यादृष्टेः सकाशात् सम्यग्दृशोऽनन्तगुणविशुद्धत्वेन जघन्यरसबन्धकत्वाभावाद् मिथ्यादृष्टिरिति, असंज्ञिनो मिथ्यादृष्टेस्तथाविधसंक्लेशाभावात् संज्ञीति । तथा '**जिणस्स**' त्ति जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो मनुष्यः, मिथ्यादृष्ट्यादेस्तद्बन्धाभावात् सम्यग्दृष्टिरिति । अल्पक्लिष्टस्य जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् तीव्रसंक्लिष्ट इति । तिरश्चस्तद्बन्धानभ्युपगमात् देवनारकाणां च

प्रस्तुतमार्गणायामप्रवेशान्मनुष्य इति । तथा 'सेसाणं' ति शेषाणां मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं षट् संहननानि षट्संस्थानानि खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकमिति षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः । यद्यपि उच्चैर्गोत्रं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकमिति एकादशानां प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टयादीनामपि बन्धोऽस्ति तथापि तेषां तत्प्रतिपक्षभूतानां नीचैर्गोत्रादीनां बन्धाभावेन परावृत्त्या बन्धाभावात् सम्यग्दृष्टयादीन् विहाय मिथ्यादृष्टेरुपादानम् , मनुष्यद्विकादीनां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्ध औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां परावर्त्तमानपरिणामेनैवोपकल्प्यत इति कृत्वा ।।२२०-२२५।।

अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायां जघन्यरसबन्धकाभिधित्सया पठति—

विउवे सव्वविसुद्धो सम्मोऽत्थि पुमाइअट्ठतीसाए ।
अडमिच्छाईणं सुविसुद्धो सम्मऽऽहिमुहो मिच्छो ।।२२६।।
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ मिच्छदिट्ठीयो ।
सम्माद्दिट्ठीयो वा सायाईण अडपयडीणं ।।२२७।।
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छत्ती होइ थीणपुंसाणं ।
तप्पाउग्गविसुद्धो सम्मत्ती अरइसोगाणं ।।२२८।।
तिरियाईणं तिण्हं सत्तमपुढवीअ होइ णेरइयो ।
सम्मत्ताहिमुहो खलु मिच्छादिट्ठी विसुद्धयमो ।।२२९।।
मज्झिमपरिणामो खलु मिच्छोऽत्थि णराइपंचवीसाए ।
ईसाणंतसुरो उण एगिंदियथावराण भवे ।।२३०।।
तप्पाउग्गकिलट्ठो सम्माद्दिट्ठी जिणस्स विण्णेयो ।
तिव्वकसायो मिच्छो सेसाणगूणवीसाए ।।२३१।।
तत्थवि ईसाणंतो आयवणामस्स आसहस्सारो ।
सेससुरो णिरयो वा पणिंदितसउरलुवंगाणं ।।२३२।।

(प्रे०) 'विउवे' इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से हास्यरती निद्राद्विकमुपघातः कुवर्णादिचतुष्कं पञ्चान्तरायाः चत्वारि दर्शनावरणानि पञ्च ज्ञानावरणानि प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कमित्यष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्य-

रसबन्धकः सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः, इमा ह्यप्रशस्ताः आसां जघन्यरसो विशुद्धतमेनैव बन्धकेन बध्यते, एतद्बन्धकेष्वयमेव विशुद्धतम इति । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानां मिथ्यात्वमोहादीनां जघन्यानुभागबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः । तत्र सम्यग्दृष्ट्यादेस्तद्बन्धाभावात् मिथ्यादृष्टिरिति । स्वस्थानविशुद्ध्यपेक्षया सम्यक्त्वाभिमुखस्यानन्तगुणविशुद्धत्वात् सम्यक्त्वाभिमुख इति । सम्यक्त्वाभिमुखानामपि विशुद्धेः षट्स्थानपतितत्वेन सर्वविशुद्ध इति । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति अष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्वा, आसां परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् । तथा स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यानुभागबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्दृष्टेः सर्वविशुद्धमिथ्यादृष्टेश्च पुरुषवेदबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् । अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः, तत्र मिथ्यादृष्टेस्तथाविधविशुद्ध्यभावेन जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् सम्यग्दृष्टिरिति । सर्वविशुद्धस्य सम्यग्दृष्टेर्हास्यरतिबन्धोपलम्भात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति प्रकृतित्रयस्य जघन्यरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारकः, भावनोघवत् । तथा '... णरदुगुच्चाणि संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं । णगिंदिय थावर...' इति मनुष्यद्विकादीनां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्दृष्ट्यादेर्मनुष्यद्विकादीनां बन्धकत्वेऽपि परावृत्त्या तद्बन्धाभावेन जघन्यरसबन्धकत्वायोगाद् मिथ्यादृष्टिरिति । अथात्र विशेषं दर्शयति–**'ईसाणंतसुरा'** इत्यादिना, इह नरद्विकादिपञ्चविंशत्यन्तर्गतयोरेकेन्द्रियस्थावरनाम्नोर्जघन्यरसबन्धक ईशानान्तो देव एव ज्ञेयः, नारकाणां सनत्कुमारादिदेवानां चैकेन्द्रियतयोत्पत्त्यभावेन तद्बन्धाभावात् । तथा **'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः'** नरद्विकस्य जघन्यरसबन्धकः सप्तमनरकनारकवर्जो नारक आनतादिदेववर्जो देवो वा बोध्यः सप्तमनरकनारकानतादिदेवस्य परावृत्त्या तद्बन्धाभावेनेह जघन्यरसबन्धकत्वायोगात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य सप्तमनरकनारकवर्जः नारको देवो वा ज्ञेयः अनन्तरोक्तादेव हेतोः । जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः, स च वैमानिको देव आद्यत्रिनरकनारको वा ज्ञेयः, शेषदेवनारकाणां तद्बन्धानभ्युपगमात् । तीव्रक्लिष्टस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वेन प्रस्तुतमार्गणायां जिननामबन्धकत्वायोगात् तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति । तथा **'सेसाणेगुणवोसाए'** त्ति उक्तशेषाणां त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकम् उच्छ्वासः पराघातः शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ औदारिकद्विकम् उद्योतनाम आतपनामेति एकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः । इमा हि प्रशस्ता अपरावर्त्तमानाश्च, आसां जघन्यरसः सर्वसंक्लिष्टेनैव बन्धकेन जन्यते, एतद्बन्धकेषु अयमेव तथेति । इत्येकोनविंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकं सामान्यतया प्रदर्श्याऽथात्रैव विशेषं द्योतयति **'तत्थवि'** इत्यादिना, आतपनाम्नो जघन्यरसबन्धक ईशानान्तो देवो ज्ञेयः, आतपबन्धस्यैकेन्द्रियजातिबन्धसहचरितत्वेन नारकाणां

सनत्कुमारादिदेवानां चैकेन्द्रियजातिबन्धाभावेन तद्बन्धाभावात् । पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामेति त्रयाणां सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो देवो नारको वा बोध्यः, ईशानान्तदेवानां तीव्रसंक्लिष्टत्वे एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन पञ्चेन्द्रियजात्यादिबन्धाभावात् आनतादिदेवानां शुक्ललेश्याकत्वेन तथाविधसंक्लेशाभावादेवात्र तज्जघन्यरसबन्धकत्वायोगात् ॥२२६-२३२॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामनन्तरोक्तवैक्रियकाययोगमार्गणावत् जघन्यरसबन्धकानतिदिशति—

विउव्व विउवमीसे सव्वाण णवरि विसुद्धमिच्छत्ती ।
अडमिच्छाईण तहा तिरिदुगणीआण सट्ठाणे ॥२३३॥

(प्रे०) 'विउव्व' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सर्वासामिह बन्धयोग्यानां षडुत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽनन्तरोक्तवैक्रियकाययोगमार्गणावत् ज्ञेयः । अथात्रैव विशेषमुद्भावयति-'णवरि' इत्यादिना, अत्र मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानां जघन्यरसबन्धको विशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिर्ज्ञेयः । किमुक्तं भवति ? तत्र वैक्रियकाययोगमार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनामष्टानां जघन्यरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखो विशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिरुक्तः, अत्र तु स सम्यक्त्वाभिमुखो न भवति; किन्तु स्वस्थानविशुद्धतम एव मिथ्यादृष्टिः; वैक्रियमिश्रमार्गणावर्तिनो जन्तोरपर्याप्तत्वेन सम्यक्त्वाभिमुखत्वायोगात् । तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तत्र वैक्रियकाययोगमार्गणायां सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारकोऽस्ति, अत्रापि वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां स एव किन्तु स्वस्थानविशुद्धः, सम्यक्त्वाभिमुखो न भवतीति भावः, अनन्तरोक्तादेव हेतोः ॥२३३॥

अथो आहारककाययोगमार्गणायां तन्मिश्रमार्गणायां च जघन्यरसबन्धकप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

आहारदुगे णेयो सव्वविसुद्धो पुमाइतीसाए ।
मज्झिमपरिणामो खलु सायाईण अडपयडीणं ॥२३४॥
तप्पाउग्गविसुद्धो विण्णेयो अरइसोगाणं ।
णेयो छव्वीसाए सेसाणं तिव्वसंकिट्ठो ॥२३५॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) 'आहारदुगे' इत्यादि, आहारककाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां च पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से हास्यरती निद्राद्विकमुपघातोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं पञ्चान्तरायाश्चत्वारि दर्शनावरणानि पञ्चज्ञानावरणानि चेति पुरुषवेदादीनां त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धः । अत्र ह्यासां जघन्यरसो मार्गणाप्रायोग्यो ज्ञेयः, ओघजघन्यरसस्यापूर्वकरणादिक्षपकत्वा-

मिकत्वात् । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति अष्टानां जघन्यरस-बन्धको परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी । अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः, सर्वविशुद्धस्य तद्बन्धा-भावात् । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां [1]जिनना[1]मोच्चैर्गोत्रं प्रथमसंस्थानं [1]प्रशस्तविहायोगतिः [3]सुभगत्रिकं [2]देवद्विकं [2]वैक्रियद्विकं [1]त्रसनाम [1]पञ्चेन्द्रियजातिः [3]बादरत्रिक [1]मुच्छ्वासः [1]परा-घातः [8]शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टाविति षड्विंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः । इमा हि प्रशस्ता इहाऽपरावर्त्तमानाश्च, आसां प्रशस्तापरावर्त्तमानानां जघन्यरसस्य तीव्रसंक्लिष्टेनैव बन्धकेन बध्यमानत्वात् । अत्रासां जघन्यरसो मार्गणाप्रायोग्यो बोध्यः, ओघजघन्यरसस्य निवृत्तिबादरक्षपक-स्वामिकत्वात् प्रकृते च तस्याप्रवेशात् ॥२३४-२३५॥

अथ कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारमार्गणायां च जघन्यरसबन्धकान् निर्दिदिक्षुराह—

कम्माणाहारेसुं अडतीसपुमाइगाण सुविसुद्धो ।
सम्मो अडमिच्छाईण विसुद्धो सण्णिमिच्छत्ती ॥२३६॥
तप्पाउग्गविसुद्धो सम्मत्ती होइ अरइसोगाणं ।
तिरिदुगणीआण चरमणिरयो मिच्छो विसुद्धयमो ॥२३७॥
तिव्वकसायो मिच्छो भवे सगतसाइउरलुवंगाणं ।
दुगइट्ठो तारिच्छो सम्मो देवविउवदुगाणं ॥२३८॥
तिव्वकसायो मिच्छो सण्णी उरलस्स तिव्वसंकिट्ठो ।
सम्मत्ती तिगइट्ठो जिणस्स ओघव्व सेसाणं ॥२३९॥

(प्रे०) 'कम्माणाहारेसु' इत्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारमार्गणायां च पुरुष-वेदः संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से हास्यरती निद्राद्विकमुपघातः कुवर्णादिचतुष्कं पञ्चान्तरायाः पञ्च-ज्ञानावरणानि चतुर्दर्शनावरणानि प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कमिति पुरुषवेदा-दीनामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सुविशुद्धो-विशुद्धतमः सम्यग्दृष्टिः, अत्र अल्पविशुद्ध-स्य जघन्यरसबन्धासम्भवात् सुविशुद्ध इति । सर्वविशुद्धस्यापि मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेः सकाशादन-न्तगुणसंक्लिष्टत्वात् सम्यग्दृष्टिरिति । मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमि-त्यष्टानां जघन्यानुभागबन्धकः संज्ञी विशुद्धः-सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः । सम्यग्दृष्टेस्तद्बन्धाभावा-न्मिथ्यादृष्टिरिति, अल्पशुद्धस्य तस्य जघन्यरसबन्धकत्वायोगात् विशुद्ध इति । विशुद्धत्वं चात्र स्व-स्थानविशुद्धत्वं ज्ञेयं, प्रस्तुतमार्गणयोर्विग्रहगतावेव सद्भावात् तत्र च सम्यक्त्वाभिमुखत्वायोगात् । असं-ज्ञिनस्तथाविधविशुद्धयभावेन जघन्यरसबन्धाभावात् संज्ञीति । तथा 'अरइसोगाणं' अरतिशोक-

योर्जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः,सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिबन्धसद्भावेन तद्बन्धाभावात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति। मिथ्यादृष्टेस्तादृग्विशुद्ध्यभावेन जघन्यरसबन्धकत्वायोगात् सम्यग्दृष्टिरिति। तथा 'तिरिदुगणीअाण' त्ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यानुभागबन्धको मिथ्यादृष्टिर्विशुद्धतमश्चरमनिरयः सप्तमपृथ्वीनारक इत्यर्थः। सप्तमनारकवर्जतादृग्विशुद्धस्य चतुर्गतिकमिथ्यादृष्टेर्नरद्विकादिबन्धसद्भावेन तद्बन्धाभावात् चरमनिरय इति। अल्पविशुद्धस्य जघन्यरसबन्धासम्भवात् विशुद्धतम इति। अत्र विशुद्धतम इत्यनेन स्वस्थानसर्वोत्कृष्टविशुद्धिभाग् ज्ञेयः,प्रस्तुतमार्गणयोरपर्याप्तावस्थाभावित्वेनात्र सम्यक्त्वाभिमुखत्त्वायोगात् , अयं बन्धको हि सम्यक्त्वाभिमुखविशुद्धतमापेक्षयाऽनन्तगुणहीनविशुद्धो भवतीत्यपि बोध्यम्। 'सगतसाइउरलुवंगाणं' ति त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकमुच्छ्वासपराघाताविति सप्तानामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नश्च जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तीव्रकषायः सर्वसंक्लिष्ट इति यावत् 'दुगइट्ठो' त्ति देवो नारको वा, अत्र तीव्रकषायस्य मनुष्यस्य तिरश्चो वाऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन त्रसानामादिबन्धाभावाद् देवनारकयोर्ग्रहणम्। सम्यग्दृष्टेर्देवस्य नारकस्य च तथाविधसंक्लेशाभावेन तज्जघन्यरसबन्धायोगात् मिथ्यादृष्टिरिति। अल्पकषायस्य मिथ्यादृष्टेर्जघन्यरसबन्धासम्भवात् तीव्रकषाय इति। अत्र 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः' त्रसनामपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नां जघन्यरसबन्धकः नारको देवश्च सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो बोध्यः, ईशानान्तदेवस्य तीव्रकषायत्वे एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन त्रसनामादिबन्धायोगात् , आनतादिदेवानां शुक्ललेश्याकत्वेन तथाविधसंक्लेशाभावेन जघन्यरसबन्धकत्वाभावाच्च। तथा बादरत्रिकोच्छ्वासपराघातानां जघन्यरसबन्धकः नारको देवश्च भवनपत्यादिसहस्रारान्तः, तीव्रकषायस्यापि देवस्य बादरत्रिकादिबन्धोपलम्भात् भवनपत्यादिसहस्रारान्तदेवस्य ग्रहणम्। आनतादिदेवानामग्रहणे चाऽत्र पूर्वोक्त एव हेतुः। तथा वैक्रियद्विकदेवद्विकयोर्जघन्यरसबन्धकः 'तारिच्छो सम्मो' त्ति तीव्रकषायः सम्यग्दृष्टिः, 'दुगइट्ठो' इतिपदं डमरुकमणिन्यायात् पूर्वार्धवदत्रोत्तरार्धेपि योजनीयं ततो द्विगतिस्थो-मनुष्यस्तिर्यग् वा बोध्यः, देवनारकाणां तथास्वाभाव्येन तद्बन्धाभावात्। प्रस्तुतमार्गणयोरपर्याप्तावस्थाभावित्वादपर्याप्तावस्थायां च मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियद्विकदेवद्विकबन्धानभ्युपगमात् सम्यग्दृष्टिरिति। अल्पकषायस्य सम्यग्दृष्टेर्जघन्यरसबन्धाभावात् तीव्रकषाय इति। तथा 'उरलस्स' त्ति औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रकषायश्चतुर्गतिको बोध्यः, तत्र नारकः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो देवश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकः, ईशानान्तो देवो बादरैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकः, मनुष्यस्तिर्यङ्चापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्तज्जघन्यरसबन्धको भवतीति ज्ञेयम्। सम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्य तिरश्चो वौदारिकशरीरनामबन्धाभावात्, सम्यग्दृष्टेर्देवस्य तादृशो नारकस्य च विशुद्धत्वेन जघन्यरसबन्धाभावाच्च मिथ्यादृष्टिरिति। असंज्ञिनो मनुष्यस्य तिरश्चो वा तादृक्संक्लेशाभावेनेह जघन्यरसबन्धाभावात् संज्ञीति।

अल्पकषायस्य संज्ञिमिथ्यादृष्टेर्जघन्यरसबन्धासम्भवात् तीव्रकषाय इति । तथा 'जिणस्स' जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टस्त्रिगतिकः, तिरश्चो जिननामबन्धानभ्युपगमात् त्रिगतिक इति । मिथ्यादृष्टयादेस्तद्बन्धाभावात् सम्यग्दृष्टिरिति, अल्पसंक्लिष्टस्य सम्यग्दृष्टेर्जघन्यरसबन्धासम्भवात् तीव्रसंक्लिष्ट इति । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां जघन्यरसबन्धक ओघवज्ज्ञेयः । तद्यथा–स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशकीर्त्तीत्यष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टि र्वा । आतपनाम्नस्तीव्रसंक्लिष्ट ईशानान्तो देवः । उद्योतनाम्नो मिथ्यादृष्टिः सर्वसंक्लिष्टः सर्वनारकः सहस्रारान्तो देवश्च । तैजसशरीरनामकार्मणशरीरनामशुभवर्णादिचतुष्कागुरुलघुनिर्माणरूपाणां शुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानां संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टश्चतुर्गतिकः । नरद्विकमुच्चैर्गोत्रं षट् संहननानि षट् संस्थानानि खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमिति त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकः । एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः स एव त्रिगतिको, नारकाणां तद्बन्धाभावात् । सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकयोरपि स एव किन्तु द्विगतिको, देवानामपि तद्बन्धायोगादित्यादिभावना ओघवत् । इत्यत्र सम्भाव्यमानबन्धानां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः सप्रपञ्चं निरूपिताः । आहारकद्विकनरकद्विकयोः प्रस्तुते बन्धासम्भवात् न तद्रसबन्धकविचारणावसर इति । ॥२३६-२३९॥

अथ वेदमार्गणायां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणां चिकीर्षुरादौ तावत् स्त्रीवेदमार्गणायां तां कर्तुकाम आह—

थीए सचरमसमये चउदसविग्घाइपणपुमाईणं ।
खवगो मिच्छो मज्झिमपरिणामो तिरियजुगलणीआणं ॥२४०॥ (गीतिः)
संकिट्ठो दुगइट्ठो सण्णी मिच्छो पणिंदियतसाणं ।
उरलुज्जोआण सुरो मिच्छत्ती तिव्वसंकिट्ठो ॥२४१॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो मिच्छत्ती होइ उरलुवंगस्स ।
ओघव्व तिणवतीए विण्णेयो सेसपयडीणं ॥२४२॥

(प्रे०) 'थीए' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां त्रिगतिका एव जीवा यथास्थानमधिकरिष्यन्ते बन्धकतया, नारकाणां नियमेन नपुंसकवेदित्वात् । तत्र पञ्चज्ञानावरणानि चतुर्दर्शनावरणानि पुरुषवेदः चतुःसंज्वलनाः पञ्चान्तरायाश्चेति एकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकः स्वचरमसमयेऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्रीवेदोदयचरमसमये वर्त्तमान

इत्यर्थः,इमा हि विशुद्धतमेनैव बन्धकेन जघन्यरसाः क्रियन्ते, एतद्बन्धकेषु अयमेव विशुद्धतम इति । अत्रासां जघन्यरसो मार्गणाप्रायोग्यो ज्ञेयः, ओघजघन्यरसस्य सूक्ष्मसम्परायादिक्षपकस्वामिकत्वात् । तथा **तिरियजुगलणीआण'** त्ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिः परावर्त्तमान-मध्यमपरिणामः, मनुष्यद्विकादिना सह परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् , अत्रापि रसो मार्गणाप्रायोग्य-जघन्यो ज्ञेयः । ओघजघन्यरसस्य सप्तमपृथ्वीनारकस्वामिकत्वात् , प्रकृते च तस्याप्रवेशात् । तथा पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनामेति प्रकृतिद्वयस्य जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः संक्लिष्टो द्विग-तिस्थो-मनुष्यस्तिर्यग् वा ज्ञेयः, देवानां तीव्रसंक्लिष्टत्वे एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन तद्बन्धा-योगात्-नारकाणां मार्गणाबाह्यत्वाच्च द्विगतिस्थ इति । स च विंशतिकोटिकोटिसागरमितोत्कृष्ट-स्थितिकं नरकद्विकं बध्नन्नस्य प्रकृतिद्वयस्य जघन्यरसं निर्वर्तयति । असंज्ञिन उत्कृष्टस्थितिबन्धा-भावात् संज्ञीति । सम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टतोऽपि अन्तःकोटिकोटिसागरमितस्थितेरेव बन्धाद् मिथ्या-दृष्टिरिति । तथा औदारिकशरीरनामोद्योतयोर्जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिः सुरो देवीति यावत् , तीव्र-संक्लिष्टस्य मनुष्यस्य तिरश्चश्च नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन वैक्रियद्विकबन्धसद्भावात् सुर इति । स च स्त्रीवेदिसुरः एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन् तिर्यग्द्विकस्य विंशतिकोटिकोटिसागरमितोत्कृष्ट-स्थितिबन्धकोऽनयोर्जघन्यरसं बध्नाति, प्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टस्थितिबन्धव्या-प्यत्वात् । तथा **'उरलुवंगस्स'** त्ति औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टि-स्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः, तीव्रक्लिष्टस्य मिथ्यादृष्टेर्देवस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन तथा तादृशो मनुष्यस्य तिरश्चो वा नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति । स च तिर्यग्द्विकस्याष्टादशकोटिकोटिसागरमिताऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धको बोध्यः । एतावती स्थितिः सम्य-ग्दृष्टिना नैव बध्यते तस्योत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटिकोटिसागरमितस्थितिबन्धस्यैव भावादुक्तं मिथ्या-दृष्टिरिति । **'तिणवतीए'** इत्यादि, उक्तातिरिक्तानां त्रिनवतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक ओघवज्ज्ञेयः, तद्यथा–भयजुगुप्साहास्यरतिनिद्राद्विकशुक्लवर्णादिचतुष्कोपघाता इत्येकादशप्रकृतयो निवृत्तिबादरगुणस्थाने तत्प्रकृतिबन्धविच्छेदक्षणे क्षपकेण जघन्यरसा बध्यन्ते । सातासाते स्थिरा-स्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी आमि-थ्यादृष्टि आप्रमत्तम् । मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं षट्संहननानि षट्संस्थानानि खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नीति पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्या-दृष्टिस्त्रिगतिकः, नारकाणां मार्गणाबाह्यत्वात् । नरकद्विकं देवद्विकं विकलत्रिकं सूक्ष्मत्रिकमिति दशप्रकृतीनां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिर्द्विगतिकः, देवानामपि तद्बन्धाभावात् । बादरत्रिकमुच्छ्वासः पराघातः शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टाविति त्रयोदशानां जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टस्त्रिगतिकः । आहारकद्विकस्य प्रमत्तत्वाभिमुखोऽप्रमत्तस्तीव्रसंक्लिष्टः । जिननाम्नो मिथ्यात्वाभिमुखः सम्यग्दृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो मनुष्यः । वैक्रियद्विकस्य जघन्यरस-

बन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो मनुष्यस्तिर्यग् वा । मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति अष्टानामप्रमत्तत्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिः । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याप्रमत्तत्वाभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिः । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याप्रमत्तत्वाभिमुखो देशविरतिः । स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यानुभागबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः । शोकारत्योः प्रमत्तमुनिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यरसबन्धकः । आतपनाम्नो जघन्यानुभागबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्ट ईशानान्तो देवः । सर्वत्र भावनौघवत् । इति स्त्रीवेदमार्गणायां विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामिन उक्ताः ॥२४०-२४२॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामिनः प्रकटयति—

पुरिसे संते खवगो चउदसविग्घाइनाणपुमाईणं ।
मज्झिमपरिणामो खलु मिच्छो तिरियदुगणीआणं ॥२४३॥
उरलदुगुज्जोआणं मिच्छो देवोऽत्थि तिव्वसंकिट्ठो ।
ओघव्व जाणियव्वो सेसाणं पंचणवतीए ॥२४४॥

(प्रे०) 'पुरिसे' इत्यादि, इह पुरुषवेदमार्गणायामपि त्रिगतिका एव जीवा यथास्थानं बन्धकाः, नारकाणां केवलं नपुंसकवेदित्वात् । तत्र पञ्च ज्ञानावरणानि चत्वारि दर्शनावरणानि पञ्चान्तरायाः पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कमिति एकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकः 'संते' स्वान्ते पुरुषवेदोदयचरमक्षणे वर्त्तमान इत्यर्थः, इह पुरुषवेदस्यौघजघन्यरसो ज्ञेयः ज्ञानावरणादीनामष्टादशानां च मार्गणाप्रायोग्यो जघन्यरस इति, तदोघजघन्यरसस्यापगतवेदिस्वामिकत्वात् । तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति प्रकृतित्रयस्य जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः तेजोवायुसप्तमपृथ्वीनारकवर्जानां जन्तूनां मध्यमपरिणामेनैव तज्जघन्यरसनिर्वर्तकत्वात् । औदारिकद्विकोद्योतयोर्जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देवः । तत्र औदारिकशरीरनामोद्योतयोर्जघन्यरसबन्धको भवनपत्यादिसहस्रारान्तो देवो बोध्यः, आनतादिदेवानां तथाविधसंक्लेशाभावात् । औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नस्तु सनत्कुमारादिसहस्रारान्तो देवः, ईशानान्तानां देवानां तीव्रसंक्लिष्टत्वे एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धासम्भवात् । 'सेसाणं पंचणवतीए' त्ति उक्तशेषाणां पञ्चनवतेः प्रकृतीनां जघन्यानुभागबन्धक ओघवज्ज्ञेयः । अत्रायं भावः,— अनन्तरोक्तायां स्त्रीवेदमार्गणायां यथा त्रिनवतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका ओघवदुक्तास्तथात्रापि वाच्याः, तथा तत्र पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसबन्धक ओघवन्न भवति किन्तु संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्द्विगतिस्थ एव, अत्र तु तयोरपि जघन्यरसबन्धक ओघवत् संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टस्त्रिगतिकः । तीव्रसंक्लिष्टत्वे सनत्कुमारादीनां देवानामपि तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात्, ततश्चात्रेदमा-

यानं-स्त्रीवेदमार्गणायामुक्तानां त्रिनवतेः प्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोश्चेति पञ्चनवतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका अत्र ओघवद् भवन्ति, तत्रापि ओघप्ररूपणायां यासां बन्धकाश्चतुर्गतिका जीवा उक्ताः सन्ति तासामत्र नारकवर्जास्त्रिगतिका वाच्याः, कुतः ? नारकाणां प्रस्तुतमार्गणाऽनन्तःपातित्वात् । इति कृता विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणा पुरुषवेदमार्गणायाम् । ॥२४३।२४४॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायां जघन्यरसबन्धकान् विवृणोति—

णपुमे संते खवगो चउदसविग्घाइपणपुमाईणं ।
उरलदुगुज्जोआणं संकिट्ठो णारगो मिच्छो ॥२४५॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सण्णी तिरियो णरो व मिच्छत्ती ।
आयवणामस्स भवे ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥२४६॥

(प्रे०) 'णपुमे' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां पञ्चज्ञानावरणानि चत्वारि दर्शनावरणानि पञ्चान्तरायाः पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कमिति एकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकः 'संते' स्वं=मार्गणा तस्या अन्ते नपुंकवेदोदयचरमक्षणे वर्त्तमान इत्यर्थः, तद्बन्धकेषु तस्यैव विशुद्धतमत्वात् तत ऊर्ध्वं मार्गणोपरमाच्च । तथा औदारिकद्विकोद्योतयोर्जघन्यरसबन्धको नारको मिथ्यादृष्टिः 'संकिट्ठो' सम्यक् क्लिष्टः संक्लिष्टः तीव्रक्लिष्ट इति भावः । देवानां मार्गणाबाह्यत्वात् मनुष्यतिरश्चां तीव्रक्लिष्टत्वे नरकप्रायोग्यवैक्रियद्विकादिबन्धसद्भावेन तद्बन्धाभावाच्चोक्त नारक इति । सम्यग्दृष्टेः तीव्रसंक्लेशाभावेन तज्जघन्यरसबन्धायोगाद् मिथ्यादृष्टिरिति । अल्पक्लिष्टस्य मिथ्यादृष्टेरपि न तज्जघन्यरसबन्धस्सम्भवेत् अत उक्तं संक्लिष्टः तीव्रक्लिष्ट इति भावः । तथा 'आयवणामस्स' त्ति आतपनाम्नो जघन्यरसबन्धकः तत्प्रायोग्यक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा देवानां मार्गणानन्तःपातित्वात् नारकाणां तद्बन्धाभावाच्चोक्तं तिर्यग् मनुष्यो वा । सर्वक्लिष्टस्य मनुष्यस्य तिरश्चो वा नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति । असंज्ञिन इह जघन्यरसबन्धप्रायोग्यसंक्लेशाभावात् संज्ञीति । आतपबन्धस्यैकेन्द्रियजातिबन्धसहभावित्वेन सम्यग्दृष्ट्यादेस्तद्बन्धाभावाद् मिथ्यादृष्टिरिति । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणामष्टनवतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका ओघवज्ज्ञेयाः, तद्यथा—स्त्रीवेदमार्गणायामुक्तानां त्रिनवतेः प्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति । तत्र त्रिनवतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका अचिरादुक्तस्त्रीवेदमार्गणाविवृत्तेरवधारणीयाः, पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसबन्धकः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः तीव्रसंक्लिष्टो बोध्यः, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिः सर्वविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारक इति । ओघप्ररूपणायां तस्यैव तज्जघन्यरसबन्धकतयोक्तत्वात् तद्यथा— तिरियदुअलणीआणं पुढवीए सत्तमाअ णेरइयो । सव्वविसुद्धो मिच्छो सम्माहिमुहो मुणेयव्वो इति ।

अत्रेदमवधेयम्-अष्टनवतिप्रकृत्यन्तर्गतानां यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकतया ओघ-प्ररूपणायां देशा अप्युक्ता अत्र ते तत्तया न वाच्याः, तेषां प्रकृतमार्गणाबाह्यत्वात् ॥२४५।२४६॥

अथ अपगतवेदमार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानां सप्तदशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकान् निर्दिदिक्षुराह—

गयवेए सेढीए अपुरिसवेएणुवट्ठिओ पडिउं ।
चरमसमयम्मि तिण्हं सेसाणोघव्व विण्णेयो ॥२४७॥

(प्रे०) 'गयवेए' इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां 'तिण्हं' सातमुच्चैर्गोत्रं यशःकीर्त्तिनामेति तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकश्चरमसमये ज्ञेयः। किमुक्तं भवति ? उपशमश्रेणेः प्रतिपतन् नवम-गुणस्थानकेऽवेदित्वस्याऽपश्चिमक्षणे वर्त्तमानोऽनन्तरसमये भविष्यत्सवेदी ज्ञेयः, अन्यविशेषं दर्शयति 'अपुरिसवेएणुवट्ठिओ' पुरुषवेदातिरिक्तवेदेन स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा उपस्थितः श्रेणिमुपगतो जन्तुरस्य प्रकृतित्रयस्य जघन्यरसं बध्नाति, न तु पुरुषवेदेन श्रेणिमुपस्थितोऽपि, कुतः ? पुरुषवेदेन श्रेणिमुपस्थितस्य श्रेणेः प्रतिपततः स्त्रीवेदिनपुंसकवेद्युपस्थापकापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तमर्वाग् वेदोदयो भवति। तस्मात् स्त्रीवेदिनपुंसकवेद्युपशमकस्यैव जघन्यरसबन्धकत्वम्, अवरोहतः ततोऽपि अन्त-र्मुहूर्तं यावदुत्तरोत्तरमनन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्धमानसंक्लेशवत्त्वात्। 'सेसाण' त्ति पञ्चज्ञानावरणचतुर्दर्श-नावरणपञ्चान्तरायरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक ओघवद् दशमगुणस्थानकस्य चरम-क्षणवर्त्ती क्षपको ज्ञेयः, तत ऊर्ध्वं तद्बन्धोपरमात् ॥२४७॥

अथ कषायमार्गणासु जघन्यरसबन्धकप्रतिपिपादयिषयाऽऽदौ तावत् क्रोधमार्गणायां तान् प्रतिपादयति—

कोहे संजलणाणं चउण्ह विग्घाइचउदसण्हं च ।
खवगो अणियट्टीए सचरमसमये मुणेयव्वो ॥२४८॥

(प्रे०) 'कोहे' इत्यादि, क्रोधमार्गणायां संज्वलनक्रोधमानमायालोभरूपाणां चतुष्प्रकृतीनां पञ्चज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणपञ्चान्तरायरूपाणां चतुर्दशानां च जघन्यरसबन्धकः क्षपकः अनि-वृत्तिकरणे स्वचरमसमये क्रोधोदयचरमसमये वर्त्तमानो ज्ञातव्यः, तद्यथा–क्रोधोदयेनाऽऽरूढक्षपक-श्रेणिः नवमगुणस्थानकस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु संज्वलनक्रोधोदयचरमसमये आसामष्टादशप्रकृ-तीनां जघन्यरसं बध्नाति, ततः परं तस्य मानोदयसंभवेन मार्गणाया विनष्टत्वात्। इह संज्वलन-क्रोधस्यौघजघन्यरसो बध्यते शेषाणां सप्तदशानां मार्गणाप्रायोग्यजघन्यरसः, संज्वलनमानादीना-मोघजघन्यरसस्य क्षपकश्रेणौ तत्तदुदयविच्छेदसमयवर्त्तिभिः, ज्ञानावरणादीनां तु चतुर्दशानां दशम-गुणस्थानकचरमसमयवर्त्तिभिर्महात्मभिर्बध्यमानत्वात् ॥२४८॥

अथ क्रोधमार्गणायामुक्तशेषाणां मानादिमार्गणासु च सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक-प्ररूपयिषयाऽऽह—

माणाईसु दोसु एगदुसंजलणवज्जपयडीणं ।
एमेव जाणियव्वो तीसु वि ओघव्व सेसाणं ॥२४९॥

(प्रे०) "**माणाईसु**" इत्यादि, मानमार्गणायामेकसंज्वलनवर्जप्रकृतीनाम्, मायामार्गणायां द्विसंज्वलनवर्जप्रकृतीनामनन्तरोक्तानामेवमेव जघन्यरसबन्धको ज्ञातव्यः, **किमुक्तं भवति ?** मानमार्गणायां संज्वलमानमायालोभानां ज्ञानावरणादीनां च चतुर्दशानां जघन्यरसबन्धकः स्वचरमसमये मार्गणाचरमसमये मानबन्धोदयान्तिमक्षणे वर्त्तमानः क्षपकः ज्ञेयः, मानोदयारूढक्षपकस्य क्रोधबन्धविच्छेदात् परतोऽपि अन्तर्मुहूर्त्तं यावन्मार्गणाया विद्यमानत्वेन क्रोधजघन्यरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमयवर्त्तित्वाभावात् । तथैव मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानयोर्जघन्यरसबन्धो मार्गणाचरमसमये न भवति, अनन्तरोक्तादेव हेतोः । इह संज्वलनमानस्यौघजघन्यरसः संज्वलनमायालोभयोर्ज्ञानावरणादीनां चतुर्दशानां च मार्गणाप्रायोग्यजघन्यरसो ज्ञेयः ? कुतः संज्वलनमायालोभयोरोघजघन्यरसबन्धस्य तु तत्तदुदयविच्छेदसमये क्षपकश्रेणौ तथा ज्ञानावरणादीनाश्चतुर्दशानां दशमगुणस्थानकचरमसमयवर्त्तिक्षपकस्यैव सम्भवात् । तथा मायामार्गणायां संज्वलनमायालोभयोर्ज्ञानावरणादीनां चतुर्दशानां च जघन्यरसं मायोदयचरमसमये मार्गणाचरमसमये वर्त्तमानः क्षपकः बध्नाति । इह संज्वलनमायाया ओघजघन्यरसो बध्यते, संज्वलनलोभस्य ज्ञानावरणादीनाञ्च चतुर्दशानां मार्गणाप्रायोग्यजघन्यरसः पूर्वोक्तादेव हेतोरिति । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां प्रकृतीनां '**तीसु**' त्ति क्रोधमानमायारूपासु तिसृषु अपि मार्गणासु ओघवज्जघन्यरसबन्धका ज्ञेयाः, तत्र क्रोधमार्गणायामुक्तशेषाणां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां मानमार्गणायां त्र्युत्तरशतप्रकृतीनां मायामार्गणायां चतुरुत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका ओघवद् भवन्ति । तद्यथा–पुरुषवेदस्य जघन्यरसोऽनिवृत्तिबादरस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु तद्बन्धविच्छेदसमये वर्त्तमानेन क्षपकेण बध्यते । तथा भयादीनामेकादशानां प्रकृतीनां जघन्यरसो निवृत्तिबादरे विशुद्धतमेन क्षपकेण, तत्राऽपि भयजुगुप्साहास्यरतीनां जघन्यरसं निवृत्तिबादरस्य चरमसमये वर्त्तमानो विशुद्धतमः क्षपकः, निद्राद्विकस्य जघन्यरसं तस्यैव प्रथमभागस्य चरमसमये वर्त्तमानो विशुद्धतमः क्षपकः, अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातयोर्जघन्यरसं तस्यैव षष्ठभागस्य चरमसमये वर्त्तमानो विशुद्धतमः क्षपको बध्नातीति । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कलक्षणस्य कषायचतुष्टयस्य जघन्यरसमप्रमत्ताभिमुखो विशुद्धतमो देशविरतिः,अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य जघन्यरसमप्रमत्ताभिमुखो विशुद्धतमोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्बध्नाति । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानां जघन्यरसमप्रमत्ताभिमुखो विशुद्धतमो मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति । शोकारत्योर्जघन्यरसं तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तमुनिः स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यरसं तत्प्रायोग्यविशुद्धः संज्ञी मिथ्या-

दृष्टिः चतुर्गतिकः । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामश्चतुर्गतिकः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा, सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकदेवद्विकरूपाणां दशप्रकृतीनां जघन्यरसं परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः सर्वविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखो मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारकः, नरद्विकमुच्चैर्गोत्रं षट्संहननानि षट्संस्थानानि खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमिति त्रयोविंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसं परावर्त्तमानमध्यमपरिणामश्चतुर्गतिको मिथ्यादृष्टिः, एकेन्द्रियस्थावरयोः जघन्यरसं परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मनुष्यस्तिर्यग् देवो वा बध्नाति । त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासः पराघातः शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टाविति पञ्चदशानां जघन्यरसं तीव्रसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः, आहारकद्विकस्य जघन्यरसं प्रमत्तत्वाभिमुखः संक्लिष्टोऽप्रमत्तमुनिः, आतपनाम्नो जघन्यरसं तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरीशानान्तो देवः, जिननामकर्मणो जघन्यरसं तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः, औदारिकद्विकोद्योतयोर्जघन्यरसं तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्नारकः सुरो वा, वैक्रियद्विकस्य जघन्यरसं तीव्रसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा बध्नाति । अत्र हेत्वादिनिरूपणमोघनिरूपणतोऽवधारणीयम् । इति क्रोधमार्गणायामोघवद्बध्यमानजघन्यरसानां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणा कृता । मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधोऽनन्तरोक्ता द्व्युत्तरशतप्रकृतयश्चेति त्र्युत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका ओघवद् भवन्ति, मायामार्गणायां तु संज्वलनक्रोधः संज्वलनमानः अत्रोक्ता द्व्युत्तरशतप्रकृतयश्चेति चतुरुत्तरशतप्रकृतीनामिति । अत्रेदं बोध्यम्—इह मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य, मायामार्गणायां च संज्वलनक्रोधसंज्वलनमानयोर्जघन्यरसबन्धका ओघवदुक्तास्ते 'स्वबन्धचरमसमये-तत्तत्प्रकृतिबन्धचरमक्षणे जघन्यरसं बध्नन्ति' इत्युल्लेखमाश्रित्याज्ञेयाः, वस्तुतस्तु क्रोधोदयेन आरूढक्षपकश्रेणेः संज्वलनक्रोधस्य जघन्यरसापेक्षया मानोदयेन मायोदयेन चाऽऽरूढक्षपकश्रेण्योस्तज्जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिक एव भवति, यतः क्रोधोदयारूढक्षपकश्रेणेः सकाशात् तयोः संज्वलनक्रोधबन्धस्याऽऽन्तर्मुहूर्तात् प्रागुपरमात् । तथा क्रोधोदयेन मानोदयेन वाऽऽरूढक्षपकश्रेण्योः यथाक्रमं संज्वलनक्रोधस्य संज्वलनमानस्य च जघन्यरसाऽऽपेक्षया मायोदयेनाऽऽरूढक्षपकश्रेणेः संज्वलनक्रोधमानयोर्जघन्यरसोऽनन्तगुणाधिको बोध्यः, क्रोधोदयेन मानोदयेन चाऽऽरूढक्षपकश्रेण्योः सकाशात् मायोदयारूढस्य संज्वलनक्रोधमानबन्धस्याऽऽन्तर्मुहूर्तात् प्रागुपरमात् इति । लोभमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामिनस्तु प्रागेव निरूपिताः सन्ति, पञ्चेन्द्रियौघादिषु एकविंशतौ मार्गणासु जघन्यरसबन्धकनिरूपणक्षणे, इति कृतं कषायमार्गणाचतुष्के जघन्यरसबन्धकनिरूपणम् ॥२४९॥ अथ त्रिज्ञानादिमार्गणासु जघन्यरसनिर्वर्तकान् निरूपयन्नाह—

इगचत्तजिणाईणं ओघव्व तिणाणओहिसम्मेसुं ।
मज्झिमपरिणामो खलु सायाईण अडपयडीणं ॥२५०॥

तप्पाउग्गविसुद्धो पमत्तगो होइ अरइसोगाणं ।
सेसाण मिच्छहुत्तो असंयमो तिव्वसंकिट्ठो ॥२५१॥
तहि वि पणणराईणं णिरयसुरो होइ चउसुराईणं ।
तिरियणरो सेसाणं इगवीसाए चउगइट्ठो ॥२५२॥

(प्रे०) '**इगचत्त**' इत्यादि, मतिज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शनसम्यक्त्वौघरूपासु पञ्चसु मार्गणासु 'जिणआहा जुगलपुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि। णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया......' इति गाथोक्तानां जिननामादीनामेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका ओघवद् भवन्ति । **तद्यथा**–जिननाम्नो जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखः अविरतसम्यग्दृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो मनुष्यः । तथा आहारकद्विकस्य जघन्यरसनिर्वर्तकः तीव्रसंक्लिष्टः प्रमत्तत्वाभिमुखोऽप्रमत्तमुनिः । पुरुषवेदचतुःसंज्वलनानां स्वस्वबन्धचरमसमये वर्त्तमानोऽनिवृत्तिबादरक्षपकः । भयजुगुप्साहास्यरतीनां जघन्यरसबन्धको निवृत्तिबादरचरमक्षणवर्त्ती सर्वविशुद्धः क्षपकः । निद्राद्विकस्य जघन्यरसबन्धको निवृत्तिबादरस्य प्रथमभागचरमक्षणे वर्त्तमानो विशुद्धतमः क्षपकः । उपघाताऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कयोः जघन्यरसबन्धको निवृत्तिबादरस्य षष्ठभागान्तिमक्षणवर्त्ती विशुद्धतमः क्षपकः । पञ्चान्तरायपञ्चज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणानां सूक्ष्मसम्परायस्य चरमक्षणे वर्त्तमानः क्षपकः । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य जघन्यरसोऽप्रमत्तत्वाभिमुखेन सर्वविशुद्धेन देशविरतिना बध्यते । तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धोऽप्रमत्तत्वाभिमुखेन सर्वविशुद्धेनाऽविरतसम्यग्दृष्टिना क्रियते । अत्र हेत्वादिप्ररूपणाऽविशेषेण ओघवद् वाच्या । '**सायाईण**' त्ति सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति अष्टानां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो बोध्यः, ननु ओघप्ररूपणायामासां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा इति उक्तमस्ति, अत्र तु केवलं परावर्त्तमानमध्यमपरिणाम इति, कुतः ? मिथ्यादृशां मार्गणाबाह्यत्वात् सर्वेषां बन्धकानां सम्यग्दृष्टित्वेन सम्यग्दृष्टिरिति विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वाभावाच्च । अरतिशोकयोः जघन्यरसं प्रमत्तमुनिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो बध्नाति, सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् । '**सेसाण**' त्ति उक्तशेषाणां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टो '**असंयमो**' मिथ्यादृष्ट्यादेर्मार्गणाबाह्यत्वादविरतसम्यग्दृष्टिर्बोध्यः । आसां शुभत्वादेतद्बन्धकेषु चास्यैवात्र संक्लिष्टतमत्वात् । इति सामान्यतस्त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकान् प्ररूप्य तत्र विशेषप्रतिपादनपरो ग्रन्थकार आह '**तहि वि**' त्ति तत्रापि मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानां नरद्विकादीनां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको यथोक्तविशेषणविशिष्टो नारकः सुरो वाऽस्ति ।

किमुक्तं भवति ? मत्यादिज्ञानवतो नियमात् सम्यग्दृष्टित्वात् तादृशां मनुष्यतिरश्चां देवद्विकवैक्रियद्विकादिबन्धकत्वेन तद्बन्धायोगात् । देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिस्तिर्यग्मनुष्यो वा जघन्यरसं बध्नाति । नारकदेवानामनन्तरभवे देवनयोत्पत्त्यभावेन तद्बन्धाभावात् । 'इगतीसाए' त्ति त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकोच्छ्वासनामपराघातशुभध्रुवबन्ध्यष्टकसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकत्रिंशतेः प्रकृतीनां नारकतिर्यग्मनुष्यदेवरूपश्चतुर्गतिको मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यरसबन्धको भवति । इह त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसो मार्गणाप्रायोग्यो बोध्यः, ओघजघन्यरसस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वादिति । इति कृतात्र सम्भाव्यमानबन्धानामेकाशीतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणा ॥२५०-२५१-२५२॥

अथ मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां जघन्यरसबन्धकं निरूपयितुकाम आह—

ओघव्व दुतीसाए आहारदुगाइगाण मणणाणे ।
मज्झिमपरिणामो खलु अडसायाईण विण्णेयो ॥२५३॥
तप्पाउग्गविसुद्धो पमत्तगो होइ अरइसोगाणं ।
सेसाण अयतहुत्तो पमत्तगो तिव्वसंकिट्ठो ॥२५४॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां 'आहारजुगलपुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिहादुगसुवघाओ कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णवआवरणाणि ......' इति आहारकद्विकादीनां द्वात्रिंशत्प्रकृतानां जघन्यरसबन्धक ओघवद् भवति । तद्यथा—आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकः प्रमत्तत्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽप्रमत्तमुनिः, पुरुषवेदचतुःसंज्वलनानां स्वस्वबन्धविच्छेदसमये वर्त्तमानोऽनिवृत्तिबादरक्षपकः, भयजुगुप्साहास्यरतीनां निवृत्तिबादरचरमसमये वर्त्तमानो विशुद्धतमः क्षपकः, निद्राद्विकस्य निवृत्तिबादरप्रथमभागचरमक्षणे वर्त्तमानो विशुद्धतमः क्षपकः, उपघाताऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कयोर्निवृत्तिबादरषष्ठभागचरमसमयवर्ती विशुद्धतमः क्षपकः, पञ्चान्तरायपञ्चज्ञानावरणचतुर्दर्शनावरणरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्ती क्षपकः, सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्यऽयशःकीर्त्तीत्यष्टानां जघन्यरसं परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो बध्नाति, अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तमुनिर्जघन्यरसं बध्नाति । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां षड्विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः अयताभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः प्रमत्तमुनिः । मनःपर्यवज्ञानिनो महामुनेरनन्तरं मिथ्यात्वगमनाभावेन तदभिमुखत्वायोगादयताभिमुख इत्यनेनाविरतसम्यग्दृष्टित्वाभिमुख इति बोध्यम् । आसां रसोऽत्र मार्गणाप्रायोग्यो जघन्यो बोध्यः, कुतः ? जिननामवर्जानां शेषपञ्चविंशतेरोघजघन्यरसस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात्, जिननाम्नश्च मिथ्यात्वाभिमुखाऽविरतसम्य-

ग्दृष्टिस्वामिकत्वात् । अथ षड्विंशतिप्रकृतीर्नामग्राहं दर्शयामः, तद्यथा–जिननामोच्चैर्गोत्रं प्रथम-संस्थाननाम शुभखगतिः सुभगत्रिकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टाविति । इति निरूपिता मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामष्टषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः ।।२५३-२५४।।

अथ तिसृषु अज्ञानमार्गणासु तत्समानवक्तव्यत्वाद् मिथ्यात्वमार्गणायां च जघन्यरसबन्धकान् प्रचिकटयिषुराह—

अण्णाणतिगे मिच्छे छायालाए पुमाइपयडीणं ।
सव्वविसुद्धो णेयो मिच्छत्ती संयमाहिमुहो ।।२५५।।
मज्झिमपरिणामो खलु हवए सायाइअट्ठपयडीणं ।
तदरिहसुद्धो मिच्छो चउण्ह ओघव्व सेसाणं ।।२५६।।

(प्रे०) 'अण्णाण' इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञान-विभङ्गज्ञान-मिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु 'पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउग च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइयदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउग' इति गाथोक्तानां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको संयमाभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्ज्ञेयः, इमा ह्यप्रशस्ताः प्रकृतयः, आसां जघन्यरसो विशुद्धतमेनैव बन्धकेन बध्यते, प्रकृतमार्गणासु अस्यैव विशुद्धतमत्वात् इति । अत्र मिथ्यादृष्टिरिति बन्धकस्य विशेषणमज्ञानमार्गणासु द्वितीयादिगुणस्थानकवर्तां व्यवच्छेदकत्वात् व्यवच्छेदकतया, मिथ्यात्वमार्गणायां तु व्यवछेद्याभावात् तत्स्वरूपप्रतिपादनपरतया विवक्षणीयम् । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति अष्टानां प्रकृतीनां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यरसं बध्नाति ।

इह पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्यजघन्यरसो बध्यते, ओघजघन्यरसस्य अनिवृत्तिबादरादिक्षपकस्वामिकत्वात् । मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानामोघजघन्यरस इति । 'चउण्ह' त्ति शोकारतिस्त्रीवेदनपुंसकवेदलक्षणानां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसं तदर्हविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति । अत्र शोकारत्योर्मार्गणाप्रायोग्यजघन्यरसो ज्ञेयः, ओघजघन्यरसस्य प्रमत्तमुनिस्वामिकत्वात् , स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोस्त्वोघजघन्यरसः, तद्बन्धकेषु अस्यैव विशुद्धतमत्वात् । तथा 'सेसाणं' ति उक्तातिरिक्तानामेकोनषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका ओघवद् भवन्ति । तद्यथा–सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकदेवद्विकलक्षणानां दशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारकः, नरद्विकोच्चैर्गोत्रषट्-

संहननषट्संस्थानखगतिद्विकसुभगत्रिकदुर्भगत्रिकरूपाणां त्रयोविंशतेः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकः, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः स एव नारकवर्जः त्रिगतिकः, त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकोच्छ्वासपराघाताष्टशुभध्रुवबन्धिरूपाणां पञ्चदशानां तीव्रसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः, औदारिकद्विकोद्योतयोः सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवो वा नारको वा, वैक्रियद्विकस्य तीव्रसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा, आतपनाम्नो मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देव ईशानान्तः ! इतीह सम्भाव्यमानबन्धानां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणा कृता । ॥२५५-२५६॥

अथ संयमौघमार्गणायां बहुसमानवक्तव्यत्वात् किञ्चिद्विशेषं प्रकटयन् मनःपर्यवज्ञानमार्गणावज्जघन्यरसबन्धकातिदेशं करोति—

सव्वाण संयमे खलु मणणाणव्व णवरं विणा तित्थं ।
जेसिं अयताहिमुहो बोद्धव्वो मिच्छहुत्तो सिं ॥२५७॥

(प्रे०) **'सव्वाण'** इत्यादि, संयमौघमार्गणायां बध्यमानानामष्टषष्टिसंख्याकानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद् ज्ञेयाः । अत्र विशेषं दर्शयति **'णवरं'** इत्यादिना, जिननाम विना यासां जघन्यरसबन्धकस्तत्र मनःपर्यवमार्गणायामयताभिमुख उक्तः तासामत्र मिथ्यात्वाभिमुखो बोद्धव्यः । **तद्यथा**–उच्चैर्गोत्रं समचतुरस्रसंस्थानं शुभखगतिः सुभगत्रिकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातोऽष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य इति पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः प्रमत्तमुनिर्जघन्यरसबन्धकः । तथा जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकः स एव अयताभिमुखो मनःपर्यवज्ञानमार्गणावज्ज्ञेयः, एवमेव शेषाणां द्विचत्वारिंशतोऽपि प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽविशेषेण मनःपर्यायज्ञानमार्गणावद् बोद्धव्यः । ताश्चेमाः–आहारकद्विकादयो द्वात्रिंशत् , सातवेदनीयादयोऽष्टौ शोकारतीति द्विचत्वारिंशत् , आसां जघन्यरसबन्धका मनःपर्यवज्ञानमार्गणाविवृत्तेरवधारणीया इति ॥२५७॥

अथ सामायिकछेदोपस्थापनीययोः संयमाऽवान्तरमार्गणयोर्जघन्यरसबन्धकान् प्रकटयति–

सामाइअछेएसु मग्गणचरमसमये भवे खवगो ।
चउदसविग्घाईणं सेसाणं संयमव्व भवे ॥२५८॥

(प्रे०) **'सामाइअ'** इत्यादि, सामायिकछेदोपस्थापनीयरूपयोर्द्वयोर्मार्गणयोः पञ्चान्तरायाः पञ्च ज्ञानावरणानि चतुर्दर्शनावरणानीति चतुर्दशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मार्गणाचरमसमयवर्त्ती क्षपको ज्ञेयः, **किमुक्तं भवति ?** नवमगुणस्थानकचरमसमयवर्त्ती क्षपकोऽत्रासां चतुर्दशानां जघन्यरसं निर्वर्तयति । यद्यपि दशमगुणस्थानके इतोऽल्पतरो रसो बध्यते किन्तु न तत्र प्रकृतमार्गणावसरः, अत उक्तं **'मग्गणचरमसमये'** नवमगुणस्थानकचरमसमय इति । इह आसां

जघन्यरसो मार्गणाप्रायोग्यो ज्ञेयः, ओघजघन्यरसस्य सूक्ष्मसम्परायक्षपकस्वामिकत्वात् । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः संयमौघमार्गणावद् भवन्ति । तद्यथा—आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकः प्रमत्ताभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽप्रमत्तमुनिः, पुरुषवेद-चतुःसंज्वलनानां स्वस्वबन्धविच्छेदसमये वर्त्तमानोऽनिवृत्तिबादरक्षपकः, भयजुगुप्साहास्यरतीनां निवृत्तिबादरचरमसमयस्थो विशुद्धतमः क्षपकः, निद्राद्विकस्य निवृत्तिबादरप्रथमभागचरमसमयवर्त्ती विशुद्धतमः क्षपकः, उपघाताऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कयोर्निवृत्तिबादरषष्ठभागचरमसमयवर्त्ती विशुद्धतमः क्षपकः, सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति अष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः प्रमत्तमुनिः, अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः स एव, उच्चैर्गोत्रं समचतुरस्रसंस्थानं शुभखगतिः सुभगत्रिकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टाविति पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः प्रमत्तमुनिः, जिननाम्नः स एव अयताभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टो जघन्यरसबन्धक इति ॥२५८॥

अथ परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां जघन्यरसबन्धकानां निरूपयिषयाऽऽह—

परिहारे अपमत्तो सव्वविसुद्धोऽत्थि अहव से काले ।
यो होहिइ कयकरणो सो होइ पुमाइतीसाए ॥२५९॥
सायाईणऽट्ठण्हं णेयो परियत्तमाणपरिणामो ।
तप्पाउग्गविसुद्धो पमत्तगो अरइसोगाणं ॥२६०॥
ओघव्व जाणियव्वो आहारदुगस्स सेसपयडीणं ।
णेयो छेआहिमुहो पमत्तगो तिव्वसंकिट्ठो ॥२६१॥

(प्रे०) 'परिहारे' इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां पुरुषवेदः चतुःसंज्वलनाः भयजुगुप्से हास्यरती निद्राद्विकमुपघातः कुवर्णादिचतुष्कं पञ्चान्तरायाः पञ्चज्ञानावरणानि चतुर्दर्शनावरणानीति त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिः । अत्रैव मतान्तरं दर्शयति-'अहव' इत्यादिना, अथवा मतान्तरेण इत्यर्थः, योऽनन्तरसमये कृतकरणो भविष्यति स विशुद्धतमोऽप्रमत्तमुनिः पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः, एतन्मते अस्यैव विशुद्धतमत्वाभ्युपगमात् । इहासां रसो मार्गणाप्रायोग्यो जघन्यो बोध्यः, ओघजघन्यरसस्याऽनिवृत्तिबादरादिक्षपकस्वामिकत्वात् । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी प्रमत्तो मुनिः । तथा अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तमुनिर्जघन्यरसबन्धकः, सर्वविशुद्धस्य तद्बन्धाभावात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति, अप्रमत्तस्य तद्बन्धायोगात् प्रमत्त इति । आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धक ओघवत् , स च प्रमत्ताभिमुखस्तीव्र-

संक्लिष्टोऽप्रमत्तमुनिर्ज्ञेयः । 'सेसपयडीणं' ति उक्तशेषाणां जिननाम उच्चैर्गोत्रं समचतुरस्र-संस्थानं सुखगतिः सुभगत्रिकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनामाऽष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य इति षड्विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः छेदोपस्थापनीय-संयमाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः प्रमत्तमुनिः, परिहारविशुद्धिकस्याऽनन्तरं चतुर्थगुणस्थानकादिगमना-भावेन अत्र तद्बन्धेषु अस्यैव संक्लिष्टतमत्वात् । इति अत्र सम्भाव्यमानबन्धानामष्टषष्टेः प्रकृ-तीनां जघन्यरसबन्धकविचारणा कृता ॥२५९-२६१॥

अथ देशविरतिमार्गणायां जघन्यरसबन्धकान् निरूपयितुकाम आह—

देसे संयमहुत्तो चउतीसपुमाइगाण सुविसुद्धो ।
मज्झिमपरिणामो खलु अडसायाईण विण्णेयो ॥२६२॥
सोगारईण तदरिहसुद्धो सेसाण तिव्वसंकिट्ठो ।
मिच्छाहिमुहो णवरं जिणस्स मणुसो अयतहुत्तो ॥२६३॥

(प्रे०) 'देसे' इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां '...पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादु-गमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइअ ...कसाया...' इति पुरुषवेदादीनां चतुस्त्रिं-शतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः संयमाभिमुखः सर्वविशुद्धः, अत्र एतद्बन्धकेषु अस्यैव विशुद्ध-तमत्वात् । इह प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य ओघजघन्यरसो बध्यते, शेषाणाञ्च पुरुषवेदादीनां त्रिंशतो मार्गणाप्रायोग्यो जघन्यरसः, आसामोघजघन्यरसबन्धस्याऽनिवृत्तिबादरादिक्षपकस्वामिक-त्वात् । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां सातवेदनीयादीनां जघन्य-रसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो ज्ञेयः । शोकारत्योर्जघन्यरसं तदर्हविशुद्धो बध्नाति, सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिबन्धसद्भावेन तद्बन्धायोगात् । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां षड्विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखः । अत्रैव विशेषं व्यनक्ति 'णवरं' इत्यादिना, किमुक्तं भवति ? उक्तशेषासु षड्विंशतौ प्रकृतिषु जिननाम्नोऽत्र जघन्यरसबन्धको-ऽयताभिमुखश्चतुर्थगुणस्थानकाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टो देशविरतिमनुष्यो ज्ञेयः, अनन्तरमार्गणाविवृत्तौ उक्तानां जिननामवर्जानामुच्चैर्गोत्रादीनां पञ्चविंशतेः जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखो मनुष्यस्तिर्यग् वेति ॥२६२-२६३॥

अथ सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां बध्यमानानां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकान् दर्शयति—

सुहुमे विग्घाईणं चउदसण्ह खवगो सचरमखणे ।
सायजसुच्चाण भवे सेढीए पडिअ चरमखणे ॥२६४॥

(प्रे०) '**सुहमे**' इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां पञ्चाऽन्तरायाः पञ्चज्ञानावरणानि चतुर्दर्शनावरणानि इति चतुर्दशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकः '**सचरमखणे**' स्व-चरमक्षणे-मार्गणाचरमसमये दशमगुणस्थानकान्तिमसमये वर्त्तमानोऽनन्तरक्षणे भविष्यत्क्षीणमोह-छद्मस्थवीतरागो भवतीत्यर्थः । इमा हि अप्रशस्ताः प्रकृतयः, आसां जघन्यरसो विशुद्धतमेनैव बन्धकेन चीयते, एतद्बन्धकेषु अनन्तरसमयभविष्यत्क्षीणमोहवीतरागस्यैव विशुद्धतमत्वात् । तथा सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं यशःकीर्त्तिनामेति त्रिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक उपशमक उपशमश्रेणेः प्रतिपतन् '**चरमखणे**' चरमक्षणे भवति । **किमुक्तं भवति ?** उपशमश्रेणिं समारूढो महामुनि-रुपशान्तमोहगुणस्थानकस्याऽन्तर्मुहूर्तात्मकाऽद्धाक्षयेण ततः प्रतिपतन् प्रतिसमयमनन्तगुणसंक्लेशवृद्ध्याऽवरोहन् दशमगुणस्थानकचरमसमये वर्त्तमानोऽनन्तरसमये नवमगुणस्थानकमधिगच्छन्नुपशमक आसां सातवेदनीयादीनां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसं बध्नाति । इमा हि प्रशस्ताः प्रकृतयः, आसां जघन्यरसोऽत्र संक्लिष्टतमेनैव बन्धकेन जन्यते, प्रस्तुतमार्गणायामस्यैव महात्मनः संक्लिष्टतमत्वात् ॥२६४॥

अथासंयममार्गणायां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणां कर्त्तुकाम आह—

अयते सव्वविसुद्धो सम्मादिट्ठी उ संयमाहिमुहो ।
विण्णेयो पयडीणं अडतीसाए पुमाईणं ॥२६५॥
तप्पाउग्गविसुद्धो सम्मत्ती होइ अरइसोगाणं ।
ओघव्व जाणियव्वो सेसाणं अट्ठसयरीए ॥२६६॥

(प्रे०) '**अयते**' इत्यादि, असंयममार्गणायां '...पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुग-मुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया...' इति पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः संयमाभिमुखः प्रस्तावादप्रमत्ताभिमुखः सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः । इमा हि अप्रशस्ताः प्रकृतयः, आसां जघन्यरसो विशुद्धतमेनैव बन्धकेन जन्यते प्रस्तुतमार्गणायामेतद्बन्धकेषु अयमेव विशुद्धतम इति । इह द्वितीयकषायाणां चतुर्णामप्रत्याख्यानावरणानामोघजघन्यरसो बध्यते,पुरुषवेदादीनां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां तु मार्गणाप्रायोग्यो जघन्यरसः, कुतः ? आसामोघजघन्यरसस्य अनिवृत्तिबादरादिक्षपकेण बध्यमानत्वात् । अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्जघन्यरसं बध्नाति, सर्वविशुद्धस्य तस्य हास्यरतिबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावादुक्तं तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च तथाविधविशुद्ध्यभावेनाऽत्र जघन्यरसबन्धकत्वाभावादुक्तं सम्यग्दृष्टिरिति । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणामष्टसप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका ओघवद् भवन्ति । **तद्यथा**—मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमन-

न्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानां जघन्यरसबन्धकोऽप्रमताभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, साता-साते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां परावर्तमानमध्यमपरिणामः सम्यग्दृष्टि-र्मिथ्यादृष्टिर्वा। स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः, सूक्ष्मत्रिकविकल-त्रिकनरकद्विकदेवद्विकरूपाणां दशानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा, तिर्यगद्विकनीचैर्गोत्रयोः सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारकः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्विकसुभगत्रिकदुर्भगत्रिकलक्षणानां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामश्चतुर्गतिको मिथ्यादृष्टिः, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः परावर्त्तमानपरिणामो मिथ्यादृष्टिस्त्रिगतिकः, नारकाणां भवप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात्। त्रसनाम-पञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकोच्छ्वासनामपराघाताऽष्टशुभध्रुवबन्धिरूपाणां पञ्चदशानां जघन्यरस-बन्धकः तीव्रसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकः, औदारिकद्विकोद्योतयोः सर्वसंक्लिष्टो मिथ्या-दृष्टिर्देवो नारको वा, वैक्रियद्विकस्य तीव्रसंक्लिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा, आत-पनाम्नः तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिरीशानान्तो देवः, जिननाम्नः तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः, जिननामबन्धकानां देवनारकाणां मिथ्यात्वगमनाभावेन तेषां तदभिमुखत्वा-योगात् तिरश्चां जिननामबन्धाभावाच्च। इत्यत्र सम्भाव्यमानबन्धानामष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणा कृता ॥२६५-२६६॥

अथ तेजोलेश्यामार्गणायां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणां चिकीर्षुराह—

तेऊए अपमत्तो सव्वविसुद्धोऽत्थि अहव से काले।
यो होहिइ कयकरणो सो होइ पुमाइतीसाए ॥२६७॥
तप्पाउग्गविसुद्धो मिच्छो देवो णपुंसगस्स भवे।
मज्झिमपरिणामसुरो मिच्छो तिरियाइअट्ठवीसाए ॥२६८॥ (गीतिः)
मिच्छत्ती दुगइट्ठो सुरविउव्वदुगाण तिव्वसंकिट्ठो।
तदरिहकिट्ठो देवो पणिंदितसउरलुवंगाणं ॥२६९॥
आयवउज्जोआणं चउदसण्हं च बायराईणं।
उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छादिट्ठी सुरो णेयो ॥२७०॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मो देवो जिणस्स विण्णेयो।
ओघव्व जाणियव्वो सेसाणगूणतीसाए ॥२७१॥

(प्रे०) 'तेऊए' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां '........पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई।

णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि। णवआवरणाणि ......' इति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिरस्ति, इमा हि अप्रशस्ताः प्रकृतयः, आसां जघन्यरसो विशुद्धतमेनैव बन्धकेन जन्यते, एतद्बन्धकेषु अस्यैव विशुद्धतमत्वात् । इहासां जघन्यरसो मार्गणाप्रायोग्यो बध्यत इत्यपि ज्ञेयम्, ओघजघन्यरसस्याऽनिवृत्तिबादरादिक्षपकस्वामिकत्वात् । **'अहव'** अथवेति मतान्तरद्योतकः, ततश्च **मतान्तरेण 'से काले'** त्ति यो विशुद्धतमोऽप्रमत्तमुनिरनन्तरसमये कृतकरणो भविष्यति स आसां जघन्यरसबन्धको भवति, एतन्मते अस्यैवात्र विशुद्धतमत्वात् । **'णपुंसगस्स'** त्ति नपुंसकवेदस्य जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्देवो भवति । तेजोलेश्याकानां मनुष्यतिरश्चां देवप्रायोग्यबन्धकत्वेन नपुंसकवेदस्य बन्धाभावादुक्तं देव इति । सर्वविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेश्च देवस्य पुरुषवेदबन्धसद्भावेन तद्बन्धाभावादुक्तं तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिरिति । **'तिरियाइअट्ठवीसाए'** त्ति 'तिरिदुगणीआणि णरगु णाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं एगिंदिय थावर......' इति तिर्यग्द्विकादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिर्देवः, तेन यदा तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकेन,मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकेन, नीचैर्गोत्रमुच्चैर्गोत्रेण, उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रेण सह परावृत्त्या बध्यते तदा तज्जघन्यरसो जन्यते, एवं संहननषट्कादिष्वपि वाच्यम् । तेजोलेश्याकः संक्लिष्टपरिणामो देवस्तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं हुंडकसंस्थानं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम इत्यादिकं बध्नाति एव किन्तु न तेन तासां जघन्यरसो बध्यते संक्लिष्टत्वात्, एवं विशुद्धपरिणामो देवो मनुष्यद्विकादीः प्रशस्तप्रकृतीर्बध्नाति किन्तु न तासां जघन्यरसं, तस्य विशुद्धत्वेन भूरिरसजनकत्वात्, ततो यदा परावर्त्तमानपरिणामः सन् तेजोलेश्याको मिथ्यादृष्टिर्देवः परावृत्त्या ता बध्नाति तदा तासां जघन्यरसो बध्यते । तथा **'सुरविउवदुगाण'** त्ति सुरद्विकं वैक्रियद्विकमिति चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तीव्रक्लिष्ट उत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः **'दुगइट्ठो'** त्ति मनुष्यो वा तिर्यग् वा, देवनारकाणां भवप्रत्ययेन तद्बन्धायोगात् किञ्चिदून्यूनसंक्लेशवन्मिथ्यादृशां सम्यग्दृशां च मनुष्यतिरश्चां तज्जघन्यरसनिर्वर्तकत्वायोगादुक्तं तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिश्चेति, आसां जघन्यरसो मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशादनन्तगुणहीनसंक्लेशेन जन्यते इत्यपि बोद्धव्यम् । मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशस्य देवस्वामिकत्वात् । तथा **'पणिंदितसउरलुवंगाणं'** ति पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तदर्हक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवो बोध्यः, कुतः ? तेजोलेश्यावतां मनुष्यतिरश्चां देवप्रायोग्यबन्धकत्वेनौदारिकाङ्गोपाङ्गबन्धासम्भवात्, पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोः बन्धसम्भवेऽपि न तज्जघन्यरसलाभः, तेषां देवप्रायोग्यबन्धकत्वेन विशुद्धत्वात्, तेजोलेश्यावतो देवस्य तीव्रक्लिष्टस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन पञ्चेन्द्रियजात्यादिप्रकृतित्रयबन्धासंभवादुक्तं तदर्हक्लिष्ट इति । सम्यग्दृष्टे-

देवस्य जघन्यरसबन्धप्रायोग्यसंक्लेशासंभवादुक्तं मिथ्यादृष्टिरिति । तथा आतपोद्योतयोर्बादरत्रिक-सूक्ष्मोच्छ्वासनाम पराघातनामाऽष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनामेति बादरनामादिचतुर्दशानां च जघन्यरसबन्धक उत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिर्देवः, स चैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धको ज्ञेयः, तस्यैव तथाविधसंक्लेशसद्भावेन तज्जघन्यरसबन्धसम्भवात् । 'जिणस्स' त्ति जिननाम्नो जघन्यरस-बन्धकः तत्प्रायोग्यक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिर्देवः, सर्वसंक्लिष्टस्य सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यात्वाभिमुखत्वाद् जिननामबन्धकदेवस्य मिथ्यात्वगमनाभावाच्चोक्तं तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति । तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक ओघवद् ज्ञातव्यः । तद्यथा–मिथ्यात्व-मोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानां जघन्यरसबन्धकोऽप्रमत्ताभिमुखः सर्ववि-शुद्धो मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यः, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽप्रमत्ताभिमुखः सर्वविशुद्धः सम्यग्दृष्टिर्मनु-ष्यः, प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य यथोक्तविशेषणविशिष्टो देशविरतो मनुष्यः, सातासाते स्थिरा-स्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृ-ष्टिर्वा त्रिगतिकः, नारकाणां तेजोलेश्याऽभावात् । स्त्रीवेदस्य जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिस्त्रिगतिकोऽनन्तरोक्तादेव हेतोः, अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तमुनिः, आहा-रकद्विकयोः प्रमत्ताभिमुखोऽप्रमत्तमुनिस्तीव्रसंक्लिष्टः । इति द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनामत्र संभाव्य-मानबन्धानां जघन्यरसबन्धकनिरूपणम् ,सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकलक्षणानामष्टानां प्रकृतमार्ग-णायां बन्धासम्भवात् ।।२६७-२७१।।

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् किञ्चिद्विशेषकथनपूर्वकं पद्मलेश्यामार्गणायां तेजोलेश्यावदतिदिशति–

एवं पउमाअ णवरि मिच्छसुरो थीअ तदरिहविसुद्धो ।
उक्कोससंकिलिट्ठो पणिंदितसउरलुवंगाणं ।।२७२।।

(प्रे०) 'एवं' इत्यादि, पद्मलेश्यामार्गणायां संभाव्यमानबन्धानां जघन्यरसबन्धका एव-मेव तेजोलेश्यावदेव ज्ञेयाः, किमविशेषेण ते तेजोलेश्यावद् ज्ञेयाः ? नेत्याह–'णवरि' इत्या-दिना, अत्र पद्मलेश्यामार्गणायां स्त्रीवेदस्य बन्धकस्तदर्हविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्देव एव ज्ञेयः, न तु तेजोलेश्यावत् त्रिगतिकः, पद्मलेश्यावतां मनुष्यतिरश्चां केवलं पुरुषवेदबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् । पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नां जघन्यरसबन्धकः 'मिच्छसुरो' इतिपदं गाथापूर्वार्धादत्रानुकर्षणीयं ततश्च मिथ्यादृष्टिः उत्कृष्टसंक्लिष्टः सुरो भवति, किमुक्तं भवति ? तेजोलेश्यावतो मिथ्यादृष्टेर्देवस्योत्कृष्टसंक्लिष्टत्वे एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामबन्धो भवति , अत्र पद्मलेश्यामार्गणायां तु तृतीयादिदेवलोकनाकिनां तीव्रक्लिष्टत्वेऽपि भवप्रत्ययेनैव न बध्यत एकेन्द्रियप्रायोग्यं कर्म किन्तु पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमेव; ततो यदा तृतीयादिदेवलोकवासी पद्मलेश्याको मिथ्यादृष्टिर्देव उत्कृष्टसंक्लिष्टो भवति तदा स

पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां तिसृणां प्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यरसं बध्नाति । शेषाणामेकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपनामवर्जानां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽविशेषेण तेजोलेश्यामार्गणावज्ज्ञेयः । इति अत्र संभाव्यमानबन्धानां नवोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणा कृता । तेजोलेश्यावत् सूक्ष्मत्रिकादीनामष्टानाम् एकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतापनाम्नां चाप्यत्र बन्धाभावात् ॥२७२॥

अथो शुक्ललेश्यामार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामिनः प्रचिकटयिषुराह—

पणासाहाराइगअडसायाईण होइ सुक्काए ।
ओघव्व जिणस्स सुरो सम्मत्ती तदरिहकिलिट्ठो ॥२७३॥
तिव्वकसायो मिच्छो आणतदेवो य णरदुगस्स तहा ।
सत्तरहतसाईणं सेसऽब्वीमाअ तेउव्व ॥२७४॥

(प्रे०) '**पणास०**' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां पञ्चाशदाहारकादीनामष्टानां च सातवेदनीयादीनां जघन्यरसबन्धक ओघवद् भवति, तद्यथा–आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकः प्रमत्ताभिमुखः सर्वसंक्लिष्टोऽप्रमत्तयतिः, पुरुषवेदचतुःसंज्वलनानामनिवृत्तिबादरक्षपकः तत्तद्बन्धचरमसमये वर्त्तमानः, भयजुगुप्साहास्यरतिनिद्राद्विकोपघाताऽशुभवर्णादिचतुष्काणां तत्तद्बन्धविच्छेदसमयवर्त्ती अपूर्वकरणस्थः सर्वविशुद्धः क्षपकः, अन्तरायपञ्चकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काणां सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्ती क्षपकः, प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य संयमाभिमुखः सर्वविशुद्धो देशविरतिर्मनुष्यः, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽप्रमत्ताभिमुखः सर्वविशुद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः, मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानामप्रमत्ताभिमुखः सर्वविशुद्धो मिथ्यादृष्टिः, शोकारत्योस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तमुनिः, सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टि र्वेति । तथा '**जिणस्स**' त्ति जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः सुरो ज्ञेयः, नारकाणां शुक्ललेश्याऽभावात् तिरश्चां जिननामबन्धाभावात् जिननामबन्धकशुक्ललेश्याकमनुष्यस्य तथाविधसंक्लेशाभावाच्चोक्तं सुर इति । तीव्रसंक्लिष्टस्य शुक्ललेश्याकदेवस्य मिथ्यादृष्टित्वात् जिननामबन्धकस्य च नियमात् सम्यग्दृष्टित्वेन तीव्रसंक्लिष्टत्वायोगात् तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति । इह जिननाम्नो मार्गणाप्रायोग्यजघन्यरसो ज्ञेयः; ओघजघन्यरसबन्धस्य मिथ्यात्वाभिमुखसम्यग्दृष्टिमनुष्यस्वामिकत्वात् इति । '**णरदुगस्स तहा । सत्तरहतसाईणं**' मनुष्यद्विकस्य तथा त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकोच्छ्वासपराघाताऽष्टशुभध्रुवबन्ध्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गरूपाणां सप्तदशानां च जघन्यरसबन्धकस्तीव्रक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः आनतदेवः; शुक्ललेश्याकमनुष्यतिरश्चां देवद्विकबन्धसद्भावेन मनुष्यद्विकस्य बन्धाभावात्, तेषां विशुद्धत्वेन त्रसनामादीनाञ्च जघन्यरसबन्धाभावात्, प्राणता-

दिदेवानां तथाविधसंक्लेशाभावाच्चोक्तम् आनतदेव इति । चकारस्यात्र मतान्तरद्योतकत्वात् मतान्तरेण न केवलमानतदेवः किन्तु प्राणतादिरपि मिथ्यादृष्टिस्तीव्रसंक्लिष्टो देवः, एतन्मतेन मिथ्यादृशां प्राणतादिदेवानां तथाविधसंक्लेशोपलम्भाऽप्रतिषेधात् । इहासां रसो मार्गणाप्रायोग्यो जघन्यो ज्ञेयः, ओघजघन्यरसस्यौघोत्कृष्टसंक्लेशेन परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन वा जन्यत्वात्, तद्यथा–मनुष्यद्विकस्य परावर्त्तमानपरिणामेन त्रसनामादीनाञ्चौघोत्कृष्टसंक्लेशेन जघन्यरसो बध्यत इति । 'सेसऽडवीसाअ' त्ति उक्तशेषाणामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः तेजोलेश्यावद् ज्ञेयः, तद्यथा–नीचैर्गोत्रमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमिति द्वाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो मिथ्यादृष्टिः सुरः । सुरद्विकवैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वा, इहोत्कृष्टसंक्लिष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशादनन्तगुणहीनमित्यपि ज्ञातव्यम् । स्त्रीनपुंसकवेदयोर्जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धो मिथ्यादृष्टिर्देवः, प्रशस्तलेश्यावतां मनुष्यतिरश्चां पुरुषवेदबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात् । इत्यत्र घटमानबन्धानां चतुरुत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकनिरूपणं कृतम्, सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकैकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपनामतिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां शुक्ललेश्यायां बन्धानभ्युपगमात् ॥२७३-२७४॥

अथ क्रमप्राप्तासु सम्यक्त्वमार्गणासु जघन्यरसबन्धकस्य दिदर्शयिषया सम्यक्त्वौघमार्गणायां तत्समानवक्तव्यत्वेन मतिज्ञानादिमार्गणासु जघन्यरसबन्धकनिरूपणक्षणे तन्निरूपितत्वात् आदौ तावदुपशमसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामिनं दर्शयन्नाह—

उवसामगो उवसमे ओघव्व भवे पुमाइतीसाए ।
संकिट्ठणरो अयतो जिणस्स ओहिव्व सेसाणं ॥२७५॥

(प्रे०) 'उवसामगो' इत्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां '……पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउग च विग्घाणि । णव आवरणाणि……' इति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक उपशामक ओघवद् भवति, तद्यथा–पुरुषवेदचतुःसंज्वलनानां जघन्यरसबन्धकस्तत्तद्बन्धचरमसमये वर्त्तमानोऽनिवृत्तिबादरोपशमकः, भयजुगुप्साहास्यरतीनाम् अपूर्वकरणचरमसमयवर्त्ती सर्वविशुद्ध उपशमकः, निद्राद्विकस्याऽपूर्वकरणप्रथमभागचरमक्षणवर्त्ती सर्वविशुद्धः उपशमकः, उपघातकुवर्णादिचतुष्कयोरपूर्वकरणषष्ठभागचरमसमयवर्त्ती सर्वविशुद्धः उपशमकः, अन्तरायपञ्चकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काणां सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्ती अनन्तरसमये भविष्यदुपशान्तमोहवीतरागो जघन्यरसबन्धकः । ननु आसां जघन्यरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात् कुतोऽत्र ओघवदित्युक्तम् ? सत्यम्, आसामोघजघन्यरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वेऽपि स्थलसाम्यात् ओघवद् इत्युक्तम्, यथा क्षपकोऽनिवृत्तिबादरस्य संख्येयेषु भागेषु गतेषु पुरुषवेदस्य जघन्यरसं बध्नाति तथा

उपशामकोऽपि स्वप्रायोग्यजघन्यरसं बध्नाति। एवमेव शेषप्रकृतीनां बन्धकेष्वपि भावनीयम्। वस्तुगत्या तु ओघजघन्यरसापेक्षयाऽनन्तगुणो रस आसामुपशामकेन बध्यते, तस्य क्षपकापेक्षयाऽनन्तगुणहीनविशुद्धत्वात्। 'जिणस्स' जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकोऽयतोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः संक्लिष्टः तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो न तु संक्लिष्टतम इत्यर्थः, कुतः ? बद्धजिननाम्न उपशमसम्यग्दृष्टेर्नरकायुःसत्ताऽभावेन मिथ्यात्वगमनायोगात् मिथ्यात्वगमनाभिमुखस्यैव सम्यग्दृष्टेः संक्लिष्टतमत्वाच्चेति। 'सेसाणं' ति उक्तातिरिक्तानामत्र सम्भाव्यमानबन्धानां पञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः अवधिज्ञानमार्गणावद् ज्ञेयः। तद्यथा–शोकारत्योर्जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तयतिः, सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः। मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानां जघन्यरसनिर्वर्तको मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः सुरो नारको वा, अत्र रसस्य जघन्यत्वं बन्धकस्य च तीव्रसंक्लिष्टत्वं मार्गणाप्रायोग्यं विज्ञेयम्। उच्चैर्गोत्रं प्रथमसंस्थानं शुभविहायोगतिः सुभगत्रिकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य इति एकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टश्चतुर्गतिकः, देवद्विकवैक्रियद्विकयोस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखो मनुष्यस्तिर्यग् वा, आहारकद्विकस्य प्रमत्ताभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽप्रमत्तः, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽप्रमत्ताभिमुखः सर्वविशुद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिः प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याप्रमत्ताभिमुखः सर्वविशुद्धो देशविरतः। इति कृतात्र सम्भाव्यमानबन्धानामेकाशीतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकप्ररूपणा उपशमसम्यक्त्वमार्गणायाम् ॥२७५॥

अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यानुभागार्जकान् प्रचिकटयिषुराह—

चालीसाहाराइअरइसोगाण खइअम्मि ओघव्व।
मज्झिमपरिणामो खलु अडसायाईण विण्णेयो ॥२७६॥
तिव्वकसायो णिरयो सुरो व णरउरलजुगलवइराणं।
तिव्वकसायो तिरियो णरो व देवविउवदुगाणं ॥२७७॥
तित्थयरस्स तिगइयो असंयमी होइ तिव्वसंकिट्ठो।
उक्कोससंकिलिट्ठो सेसाणं एगवीसाए ॥२७८॥

(प्रे०) 'चालीस' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां '· · आहारजुगलपुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि। णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य·······' इति आहारकद्विकादीनां चत्वारिंशतः प्रकृतीनाम् अरतिशोकयोश्च जघन्यरसबन्धक ओघवद् भवति। तद्यथा–आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकः, प्रमत्ताभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टोऽप्रमत्तयतिः पुरुषवेदचतुः-

संज्वलनानामनिवृत्तिबादरक्षपकस्तत्तद्बन्धविच्छेदसमये वर्त्तमानः, भयजुगुप्साहास्यरतीनां निद्राद्विकस्य उपघाताऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कयोश्च तत्तद्बन्धविच्छेदसमयवर्त्ती अपूर्वकरणस्थः सर्वविशुद्धः क्षपकः, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काऽन्तरायपञ्चकानां सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्ती क्षपकः, प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽप्रमत्ताभिमुखः सर्वविशुद्धो देशविरतिः। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽप्रमत्ताभिमुखः सर्वविशुद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिः। अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तयतिः। '**अडसायाईण**' त्ति साताऽसाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां सातवेदनीयादीनां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः चतुर्थादिषष्ठपर्यवसानगुणस्थानकस्थः, आद्यत्रिगुणस्थानकवर्त्तिनां प्रकृतमार्गणासु अनन्तःपातित्वात्, सप्तमादिगुणस्थानकभृताम् असाताऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तीनां बन्धाभावेन सातस्थिरशुभयशःकीर्त्तीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् तासां बन्धस्य परावृत्त्याऽनुपलम्भाच्च यथोक्तः चतुर्थादिषष्ठान्तगुणस्थानकस्थ आसामष्टानां जघन्यरसबन्धको भवति। मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां जघन्यरसबन्धकस्तीव्रकषायस्तीव्रसंक्लिष्टो नारको वा सुरो वा, सम्यग्दृशां मनुष्यतिरश्चां तद्बन्धाभावात्। इहासां रसो मार्गणाप्रायोग्यो जघन्यो ज्ञेयः, कुतः? नरद्विकवज्रर्षभनाराचयोरोघजघन्यरसस्य चतुर्गतिकमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् औदारिकद्विकस्य च जघन्यरसबन्धस्य मिथ्यादृष्टिदेवनारकस्वामिकत्वाच्च। संक्लेशोऽप्यत्र मार्गणाप्रायोग्यतीव्रो ज्ञेयः ओघतीव्रसंक्लेशस्य मिथ्यादृक्ष्वेवोपलम्भात्। '**देवविउव्वदुगाणं**' ति देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यरसबन्धकस्तीव्रकषायः सर्वसंक्लिष्टस्तिर्यग् वा मनुष्यो वा, अत्रापि तीव्रत्वं कषायस्य रसस्य च जघन्यत्वं मार्गणाप्रायोग्यं विज्ञेयम्। '**तित्थयररसस्स**' तीर्थंकरनामकर्मणो जिननामकर्मणो जघन्यरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टोऽसंयमी अविरतसम्यग्दृष्टिस्त्रिगतिकः, तिरश्चां जिननामबन्धकत्वाभावात्। तीव्रसंक्लेशोऽत्र मार्गणाप्रायोग्यो ज्ञेयः, ओघिकतीव्रसंक्लेशस्य मिथ्यादृशामेव सम्भवात्। '**सेसाणं**' ति उक्ताऽवशिष्टानाम् उच्चैर्गोत्रं समचतुरस्रसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य इति एकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक उत्कृष्टसंक्लिष्टश्चतुर्गतिकोऽविरतसम्यग्दृष्टिः, इमा हि प्रशस्ताः प्रकृतयः, आसां जघन्यरस उत्कृष्टसंक्लिष्टेनैव बन्धकेन बध्यते, प्रस्तुतमार्गणायाम् अविरतसम्यग्दृष्टेरेव कस्यचित् तथाविधसंक्लिष्टत्वसंभवात्। इति एकाशीतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकनिरूपणम् ॥२७६-२७८॥ अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यरसनिर्वर्तकान् निरूपयितुकामस्तेजोलेश्यादिमार्गणावदतिदिशन्नाह—

तेउव्व वेअगे खलु तीसाअ पुमाइगाण णायव्वो।
ओहिव्व जाणियव्वो सेसाणं एगवण्णाए ॥२७९॥

(प्रे०) 'तेउव्व' इत्यादि, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां '......पुमचउसंजलणभयकुच्छ-हस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि। णव आवरणाणि'...... इति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः 'तेउव्व' त्ति तेजोलेश्यामार्गणावद् ज्ञेयः, । तद्यथा–सर्वविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिः, अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणो वा सर्वविशुद्धोऽप्रमत्तमुनिरासां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसं बध्नाति। 'एगवण्णाए' त्ति एकपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः 'ओहिव्व' त्ति अवधिज्ञानमार्गणावज्ज्ञेयः, तद्यथा—प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य जघन्यरसबन्धकः संयमाभिमुखः सर्वविशुद्धो देशविरतिः। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य संयमाभिमुखः सर्वविशुद्धोऽविरतसम्यग्दृष्टिः। शोकारत्योस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तयतिः। सातवेदनीयादीनामष्टानां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः प्रमत्तपर्यवसानः। मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखो देवो वा नारको वा। उच्चैर्गोत्रं समचतुरस्रसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं-सुभगसुस्वराऽऽदेयात्मकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य इति एकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखः सर्वसंक्लिष्टोऽविरतसम्यग्दृष्टिश्चतुर्गतिकः। देवद्विकवैक्रियद्विकयोः सर्वसंक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो वा तिर्यग् वा। तथा जिननाम्नो जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टो मनुष्यः, जिननामबन्धकानां देवनारकाणां मिथ्यात्वाभिमुखत्वायोगात्। आहारकद्विकस्य तीव्रसंक्लिष्टः प्रमत्ताभिमुखोऽप्रमत्तमुनिः। इति एकाशीतेः प्रकृतीनां वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यरसबन्धकनिरूपणम् ॥२७९॥

अथ सम्यक्त्वमिथ्यात्वमार्गणायां जघन्यरसनिर्वर्तकान् दर्शयति—

मीसे सम्माहिमुहविसुद्धोऽत्थि पुमाइअट्ठतीसाए।
अरइदुगस्स तदरिहविसुद्धो ओहिव्व सेसाणं ॥ २८०॥

(प्रे०) 'मीसे' इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां प्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदाद्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्कपर्यन्तानामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धश्चतुर्गतिकः, मिश्रदृष्टेरुपशमादिसम्यक्त्वप्राप्त्यसंभवात् 'सम्माहिमुहो' त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वाभिमुखः। अरतिशोकयोर्जघन्यरसबन्धकस्तदर्हविशुद्धः, सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिबन्धोपगमेन तद्बन्धानुपलम्भात्। 'सेसाणं' ति उक्तातिरिक्तानामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽवधिज्ञानमार्गणावज्ज्ञेयः, तद्यथा–मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टो देवो वा नारको वा। उच्चैर्गोत्रं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य इत्येकविंशतेः प्रकृतीनां मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टश्चतुर्गतिकः। देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्मिथ्यात्वाभिमुखः सर्वसंक्लिष्टो

मनुष्यो वा तिर्यग् वा जघन्यरसबन्धकः। सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती-त्यष्टानां परावर्तमानमध्यमपरिणामः ॥२८०॥ इति अत्र संभाव्यमानबन्धानामष्टसप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामित्वप्ररूपणा कृता। अथ सास्वादनमार्गणायां तां चिकीर्षुराह—

सासाणे सुविसुद्धो मिच्छूणपुमाइपंचचत्ता।
तप्पाउग्गविसुद्धो णेयो थीअरइसोगाणं ॥ २८१ ॥
तिरियजुगलणीआणं सव्वविसुद्धो हवेज्ज तमतमगो।
विउवदुगस्स तिरिक्खो मणुओ वा होइ संकिट्ठो ॥२८२॥
उक्कोससंकिलिट्ठो अट्ठारतसाइगाण बोद्धव्वो।
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो होइ सेसाणं ॥२८३॥

(प्रे०) 'सासाणे' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां संग्रहगाथोक्तानां मिथ्यात्ववर्जानां पुरुषवेदाद्यनन्तानुबन्धिचतुष्कपर्यन्तानां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धः स्वस्थानसर्वविशुद्ध इत्यर्थः, सास्वादनस्य सम्यक्त्वादिगुणाभिमुखत्वायोगात्। मिथ्यात्वमोहस्य मिथ्यादृष्टेरेव बन्धाभ्युपगमादत्र मिथ्यात्वबन्धस्य वर्जनम्। तथा 'थीअरइसोगाणं' स्त्रीवेदाऽरतिशोकानां तत्प्रायोग्यविशुद्धो जघन्यरसबन्धकः, सर्वविशुद्धस्य पुरुषवेदहास्यरतिबन्धसम्भवात्। इहासां मार्गणाप्रायोग्यो जघन्यो रसो बोध्यः,स्त्रीवेदौघजघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात्, अरतिशोकयोश्चौघजघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धप्रमत्तमुनिस्वामिकत्वात्। तथा 'तिरियजुगलणीआणं' ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धकः सर्वविशुद्धः तमस्तमकः सप्तमपृथ्वीनारकः, तद्वर्जानां चतुर्गतिकानामपि सर्वविशुद्धानां सास्वादनानां मनुष्यद्विकादिबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावादुक्तं तमस्तमक इति। तथा 'विउवदुगस्स' त्ति वैक्रियद्विकस्य जघन्यरसबन्धकस्तिर्यग् वा मनुष्यो वा संक्लिष्टः तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो न तु सर्वसंक्लिष्टः, सर्वसंक्लिष्टानां मनुष्यतिरश्चामत्र तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावात्। तथा त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकोच्छ्वासपराघाताऽष्टशुभध्रुवबन्ध्यौदारिकद्विकोद्योतरूपाणामष्टादशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धक उत्कृष्टसंक्लिष्टश्चतुर्गतिकः, उत्कृष्टसंक्लेशेनैवासामत्र जघन्यरसबन्धोपलम्भात्। सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां मनुष्यद्विकम् उच्चैर्गोत्रं सेवार्त्तवर्जसंहननपञ्चकं हुंडकवर्जसंस्थानपञ्चकं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकं देवद्विकमिति त्रयोविंशतेश्च जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः, आसामत्र स्वप्रतिपक्षाभिः प्रकृतिभिः सह परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् ॥२८१-२८३॥

अथ असंज्ञिमार्गणायां जघन्यरसनिर्वर्तकानभिधातुकाम आह—

अमणम्मि पुमाईणं छायालाए पणिंदिसुविसुद्धो ।
तप्पाउग्गविसुद्धो पणिंदियोऽत्थि चउणोकसायाणं ॥२८४॥
तिरियजुगलणीआणं सुविसुद्धो बायराग्गिवाऊ उ ।
सत्तरविउवाईणं पणिंदियो तिव्वसंकिट्ठो ॥२८५॥
तप्पाउग्गकिलिट्ठो पणिंदियोऽत्थि उरलायवदुगाणं ।
मज्झिमपरिणामो खलु तेआलीसाअ सेसाणं ॥२८६॥

(प्रे०) '**अमणम्मि**' इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां पुरुषवेदचतुःसंज्वलनभयजुगुप्साहास्यरति-निद्राद्विकोपघातकुवर्णादिचतुष्काऽन्तरायपञ्चकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणच-तुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कमिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणां पुरुष-वेदादीनां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सुविशुद्धो विशुद्धतमः पञ्चेन्द्रियो भवति, यद्यपि अस्यां मार्गणायामेकेन्द्रियादिचतुरिन्द्रियावसाना अपि जीवाः समवतरन्ति तथापि न तेऽत्रासां जघन्यरसबन्धस्वामिनः तथाविधविशुद्ध्यभावात् । ननु एकेन्द्रियादयोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापेक्षया नियमात् अल्पतरस्थितिबन्धका भवन्ति, अशुभप्रकृतीनामल्पतरस्थितिबन्धस्तदल्पतररसबन्धे हेतुरित्यपि नियमो वर्तते तत् कथं न त एकेन्द्रियादयोऽत्र आसां जघन्यरसबन्धकाः? उच्यते, एकेन्द्रियादीनामल्पतरस्थितिबन्धकत्वेऽपि तथाविधविशुद्ध्यभावात् न तेऽत्र जघन्यरसबन्धकाः, अपि चाल्पतरस्थितिबन्धकत्वं तेषां जातिप्रत्ययं विज्ञेयं न तु विशुद्धिप्रकर्षहेतुकमिति । विशुद्धिप्रकर्षहेतुकाऽल्पतरस्थितिबन्धस्यैव अशुभप्रकृतीनामल्पतररसबन्धप्रयोजकत्वमित्यलम् । तथा '**चउणोकसायाणं**' अरतिशोकशोकस्त्रीवेदनपुंसकवेदयोश्च जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः पञ्चेन्द्रियः, सर्वविशुद्धस्य हास्यरतिपुरुषवेदबन्धसद्भावेन तदबन्धप्रसङ्गात् तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । तथा '**तिरियजुअलणीआणं**' ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धकः सुविशुद्धो विशुद्धतमो बादरः तैजसकायो वायुकायो वा, तुरेवकारार्थः तेनेतरैकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यवमानानां प्रतिषेधो ध्वन्यते, तेषां सुविशुद्धत्वे मनुष्यद्विकादिबन्धसद्भावेन तद्बन्धाभावात् । तेजोवायुकाययोस्तु भवप्रत्ययात् सुविशुद्धत्वेऽपि मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रबन्धाभावेन तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरेव बन्धोपलम्भात् । '**सत्तरविउवाईणं**' ति वैक्रियद्विकत्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकोच्छ्वासनामपराघाताऽष्टशुभध्रुवबन्धिरूपाणां सप्तदशानां वैक्रियद्विकादीनां जघन्यरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः पञ्चेन्द्रियः, स च नरकप्रायोग्यबन्धको ज्ञेयः, तस्यैव तीव्रसंक्लिष्टत्वोपलम्भात् '**उरलायवदुगाणं**' ति औदारिकद्विकाऽऽतपोद्योतानां जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यक्लिष्टः पञ्चेन्द्रियः, एकेन्द्रियादिचतुरिन्द्रियान्तानां जीवानामसंज्ञित्वेऽपि तथाविधसंक्लेशाभावेन तज्जघन्यरसनिर्वर्तकत्वाभावादुक्तं

पञ्चेन्द्रिय इति । तीव्रसंक्लिष्टस्य पञ्चेन्द्रियस्य नरकप्रायोग्यवैक्रियद्विकादिबन्धकत्वेन औदारिकद्विकादिबन्धायोगात् तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इति । 'सेसाण' त्ति उक्तावशेषाणां सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती नरकद्विकं देवद्विकं मनुष्यद्विकम् उच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकमिति त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको मध्यमपरिणामः परावर्तमानमध्यमपरिणामः । इह 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते:' नरकद्विकदेवद्विकयोर्जघन्यरसबन्धकः पञ्चेन्द्रिय एव बोध्यः, चतुरिन्द्रियपर्यन्तानां तद्बन्धानभ्युपगमात् । सातवेदनीयादीनामेकोनचत्वारिंशतस्तु एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियावसाना अविशेषेण जघन्यरसबन्धकतया ज्ञेयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामस्य सर्वेषामविशेषात् । इति पर्यवसितमसंज्ञिमार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकनिरूपणम् । आहार्यनाहारिमार्गणयोर्जघन्यरसबन्धकानां यथास्थानं प्रागेव निरूपितत्वात्, एतत्पर्यवसाने पर्यवसितमिदं सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणासु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामित्वमिति ॥२८४-२८६॥

सप्तमूलकर्मोत्तरप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकान् मार्गणासु निरूप्य आयुष उत्तरप्रकृतीनां तान् तास्वेव प्रचिकटयिषुरादौ तावदायुर्जघन्यरसबन्धकस्वरूपादिकं दर्शयन्नाह—

सव्वह आऊणं लहुरसस्स मंदाणुभागबंधगओ ।
मज्झिमपरिणामो जहि मिच्छियरा तहि भवे मिच्छो ॥२८७॥

(प्रे०) 'सव्वह' इत्यादि, सर्वत्र-सर्वासु आयुर्बन्धयोग्यासु त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु, वैक्रियमिश्रकाययोगकार्मणकाययोगाऽपगतवेदसूक्ष्मसम्परायोपशमसम्यक्त्वमिश्रसम्यक्त्वाऽनाहारिरूपासु सप्तसु आयुर्बन्धायोगात् । 'लहुरसस्स' त्ति जघन्यरसस्य बन्धक इति शेषः 'मंदाणुभागबंधगओ' त्ति अल्पतमरसबन्धस्थानं प्राप्तः अल्पतमरसबन्धं कुर्वन्नित्यर्थः, स पुनः कीदृशो भवतीत्याह 'मज्झिमपरिणामो' त्ति मध्यमपरिणामः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणाम इत्यर्थः, घोलणापरिणामपरिणत इति यावत्, एतेनायुष्प्रकृतिबन्धनैयत्यं दर्शितम् । पूर्वोक्तेन 'मंदाणु' इत्यादिना जघन्यरसबन्धनैयत्यमिति । तथा 'जहि' त्ति यासु मार्गणासु यस्यायुषो बन्धको मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिश्चेति उभौ भवेताम् तत्र तस्य जघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिर्भवति । कुतः ? उच्यते—उभौ बन्धकौ तु यथास्थानं देवायुर्मनुष्यायुषोरेव सम्भवतः, शेषायुर्द्वयस्य सम्यग्दृष्टेर्बन्धायोगात् । तथायुषां जघन्यरसस्य जघन्यस्थित्यधीनत्वात् सम्यग्दृष्टेश्च जघन्यस्थितिबन्धायोगादिति॥२८७॥अथ नरकदेवायुषोर्जघन्यरसबन्धकस्य विशेषस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—

णिरयामराउगाणं सव्वासु बंधगो जहण्णयरं ।
णिव्वत्तंतो णेयो सगसगपज्जत्तणिव्वत्ति ॥२८८॥

(प्रे०) **'णिरय०'** इत्यादि, सर्वासु तद्बन्धयोग्यासु मार्गणासु नरकदेवायुषोर्जघन्यरसबन्धको जघन्यतरां स्वकस्वकपर्याप्तनिर्वृत्तिं निर्वर्तयन् ज्ञेयः, कोऽर्थः ? तत्तद्मार्गणासु स्वबन्धप्रायोग्यां आयुषः सर्वजघन्यां स्थितिं बध्नन् नरकदेवायुषोर्जघन्यरसबन्धको भवति, यथा मिथ्यादृष्टिमार्गणायां स्वबन्धप्रायोग्या देवायुषः सर्वजघन्या स्थितिर्दशवर्षसहस्रात्मिका भवनपत्यादिदेवप्रायोग्या बध्यते । ततो मिथ्यादृष्टिमार्गणायां देवायुषो जघन्यरसबन्धको दशवर्षसहस्रमितस्थितिबन्धक एव भवति; न समयाद्यधिकस्थितिबन्धकोऽपि, कुतः ? आयुषां जघन्यरसबन्धस्य तज्जघन्यस्थितिबन्धव्याप्यत्वात् , तदपि कथं ? श्रूयतां, सामान्यतः कर्मणां दीर्घतरा स्थितिरशुभा गण्यते तथापि विशेषचिन्तायां तिर्यग्मनुष्यदेवायूरूपाणां त्रयाणामायुषां दीर्घतरा स्थितिः शुभा, तद्रसस्य शुभत्वे सति तत्स्थितिवृद्धौ तद्रसवृद्धेः । इमा हि पुण्यप्रकृतयः अत आसां रसः शुभ एव, अथ एवंस्थिते यदा यदा आसां बन्धका विशुद्धिप्रकर्षादधिकतरं रसं बध्नन्ति तदा तदा ते दीर्घतरस्थितिबन्धका एव भवन्ति, तत्स्थितेः रसस्य च शुभत्वात् । उक्तं च **नव्यशतकवृत्तौ**–"प्रस्तुतायुष्कत्रयस्य स्थितिवृद्धौ रसोऽपि वर्धते स च शुभः, सुखजनकत्वात्, इत्यतोऽपि प्रस्तुतायुष्कस्थितेः शुभत्वं, शुभरसवृद्धिहेतुत्वात् ।"यदा तु विशुद्धिमान्द्यादल्पतरं रसं निवर्तयन्ति तदा तत्स्थितिरपि अल्पतरा बध्यते । एवं यत्र यत्राऽल्पतररसबन्धः तत्र तत्राऽल्पतरस्थितिबन्ध एवेति नियमबलादुक्तम् 'आयुषां जघन्यरसबन्धस्य तज्जघन्यस्थितिबन्धव्याप्यत्वादिति' । ननु नरकायुषः कथम् ? तस्याऽप्रशस्तत्वात् । श्रृणु, यथा नरकायुषो रसस्याऽप्रशस्तत्वं तथैव तत्स्थितेरपि, अतः संक्लेशाधिक्येन यदा तस्य अधिकतरो रसो बध्यते तदा तद्बन्धका दीर्घतरस्थितिबन्धका एव भवन्ति, तथा मन्दसंक्लेशेन यदा तन्मन्दरसमभिनिर्वर्तयन्ति तदा तत्स्थितिरप्यल्पतरा बध्यत इत्येवं मन्दरसबन्धकस्याल्पतरस्थितिबन्धोपलम्भात् , नरकायुर्विषयेऽपि घटतेऽयं जघन्यरसबन्धस्य तज्जघन्यस्थितिबन्धव्याप्यत्वादितिरूपो नियम इत्यलं प्रपञ्चेन । अथ प्रकृतम्–तथैव सम्यक्त्वमार्गणायां देवायुषो मार्गणाप्रायोग्या सर्वजघन्या स्थितिः सौधर्मसुरसदनवेद्या साधिकपल्योपमप्रमिता बन्धमर्हति,ततः सम्यक्त्वमार्गणायां देवायुषो जघन्यरसबन्धकः साधिकपल्योपममितस्थितिबन्धक एव भवति, न ततोऽपि अल्पतरस्थितिबन्धक इति ।

ननु **'सगसगपज्जत्तणिव्वत्ति'** मिति गाथोत्तरार्द्धद्वितीयपादांशस्य को भावार्थः ? उच्यते-द्विविधमायुर्भवति, पर्याप्तजीवप्रायोग्यम-ऽपर्याप्तजीवप्रायोग्यश्च, ततोऽत्र नरकदेवायुर्जघन्यरसबन्धप्रस्तावे यो बन्धकः स्वबन्धप्रायोग्यां पर्याप्तनिर्वर्तनसमर्थां देवायुषो नरकायुषो वा जघन्यतरां सर्वजघन्यामिति यावत् स्थितिं बध्नाति स सुरायुषो नरकायुषो वा जघन्यरसबन्धको भवति ।

अत्र **'पज्जत्तणिव्वत्ति'** मित्यनेन पर्याप्तनिर्वर्तनसमर्थामिति यदुक्तं तद्देवनरकायुषोः स्वरूपप्रतिपादनपरं ज्ञेयम् , देवनरकप्रायोग्यायुषोर्नियमेन पर्याप्तप्रायोग्यत्वात् , अपर्याप्तप्रायोग्यं देवायुर्नरकायुर्वा न भवति, देवनारकाणां लब्ध्यपर्याप्तत्वायोगात् , ततः पूर्वोक्तनीत्या यथासंभवं जघन्यां दशवर्षसहस्रादिमितां मिथ्यात्वादिषु सर्वासु मार्गणासु पर्याप्तनिर्वर्तनसमर्थां पर्याप्तप्रायोग्यामित्यर्थः

स्थितिं बध्नन् देवायुषो नरकायुषो वा जघन्यरसबन्धको भवति ॥२८८॥ अथ कासुचिन्मार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यरसबन्धकस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह —

सव्वणिरयदेवेसुं विउवतिणाणोहितिसुहलेसासुं ।
सम्मत्तवेअगेसुं खाइअसासायणेसुं च ॥२८९॥
तिरियमणुसाउगाण वि जहजोग्गं बंधगो जहण्णयरं ।
णेयो णिव्वत्तंतो सगसगपज्जत्तणिव्वत्तिं ॥२९०॥

(प्रे०) 'सव्व०' इत्यादि, अष्टासु [८]सर्वनरकभेदेषु [३०]त्रिंशत्सर्वदेवभेदेषु [१]वैक्रियकाययोग-[३]ज्ञानत्रिका- ऽवधिदर्शन-[३] प्रशस्तलेश्यात्रिक-[१]सम्यक्त्वौघ-[१]क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-[१]क्षायिकसम्यक्त्व-[१]सास्वादनरूपासु द्वादशसु मार्गणासु चेति सर्वसंख्यया पञ्चाशन्मार्गणासु **'तिरियमणुसाउगाण वि'** तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यरसबन्धकः **'जहजोग्गं'** ति यत्र मनुष्यायुषस्तिर्यगायुष उभयोर्वायुषोर्बन्धः सम्भवति तत्र तस्य तयोर्वेत्यर्थः, स्वस्वपर्याप्तप्रायोग्यां सर्वजघन्यां स्थितिं बध्नन् तिर्यग्मनुष्येष्वपर्याप्तजीवानां सत्त्वेऽपि नरकादिमार्गणागतजीवानां मनुष्येषु तिर्यक्षु वा लब्ध्यपर्याप्तेषूत्पादाभावेन अपर्याप्तप्रायोग्यस्थितिबन्धाभावात् । अपेः समुच्चायकार्थकत्वात् अत्रोक्तासु यासु यासु मार्गणासु देवायुषो नरकायुषो वा बन्धः सम्भवति, तासु तासु मार्गणासु देवनारकायुषोर्मनुष्यतिर्यगायुषोश्च स्वार्हां-मार्गणार्हां पर्याप्तप्रायोग्यां जघन्यतरां सर्वजघन्यामित्यर्थः स्थितिं बध्नन् जघन्यरसबन्धको भवति । अथ कस्यां मार्गणायां कस्यायुषः जघन्यतरा-सर्वजघन्या स्थितिः कियत्प्रमाणा बध्यते ? इति तु जिज्ञासुभिर्मुनिमतल्लिकेनाऽस्मत्सहाध्यायिना **जगच्चन्द्रविजयेन** विवृत्त उत्तर-**प्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थो**ऽवलोकनीयः,ग्रन्थविस्तरभयान्नात्र प्रदर्श्यते अस्माभिरिति॥२८९-२९०॥ अथ शेषासु मार्गणास्वपर्याप्तप्रायोग्यतिर्यग्मनुष्यायुषोर्बन्धसम्भवेन तज्जघन्यरसबन्धकस्वरूपं दर्शयन्नाह–

सेसासु मग्गणासुं णिव्वत्तंतो अपज्जणिव्वत्तिं ।
सव्वजहण्णं णेयो जम्हा खुड्डभवठिइबंधो ॥२९१॥

(प्रे०)**'सेसासु'**इत्यादि,उक्तशेषासु त्रयोदशोत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोरित्यनुवर्त्तते जघन्यरसबन्धकः तदपर्याप्तप्रायोग्यां सर्वजघन्यां स्थितिं बध्नन् भवति,अत्र स्थितेरपर्याप्तप्रायोग्यत्वे हेतुं दर्शयति **'जम्हा'**इत्यादिना,यत आसु मार्गणासु तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्च सर्वजघन्यः स्थितिबन्धः क्षुल्लकभवमितो भवति, क्षुल्लकभवमितायाः स्थितेर्नियमेन अपर्याप्तप्रायोग्यत्वात् , पर्याप्तप्रायोग्यायाः तिर्यगायुषो मनुष्यायुषो वा सर्वजघन्यस्थितेस्तु क्षुल्लकभवप्रायोग्यस्थित्यपेक्षया संख्येयगुणबृहत्तरत्वादिति ॥२९१॥गतं मार्गणासु आयुर्जघन्यरसबन्धस्वामित्वं गते च तस्मिन् समाप्तमिदं स्वामित्वद्वारमिति ।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरप्रकृतिरसबन्धे पञ्चमं स्वामित्वद्वारं समाप्तिमगात् ॥

॥ षष्ठं साद्यादिद्वारम् ॥

अथ 'यथोद्देशनिर्देशः' इति न्यायात् क्रमप्राप्तं साद्यादिद्वारं विवरिषुरादौ तावदोघतो ध्रुवबन्धिप्रकृतिसत्कोत्कृष्टादिरसबन्धसम्बन्धिनः साद्यादिभङ्गानाह—

सुहियरधुवबंधीणं कमा अणुकोसियो य अजहण्णो ।
बंधम्मि चउविगप्पो सेसो तिविहोऽत्थि दुविगप्पो ॥२९२॥

(प्रे०) 'सुहियर०' इत्यादि, प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां तैजसशरीरनामादीनामष्टानां त्रिचत्वारिंशतश्च ज्ञानावरणादीनामशुभध्रुवबन्धिनीनां क्रमाद् 'अणुक्कोसियो' इत्यादि, अनुत्कृष्टरसोऽजघन्यरसश्च 'बंधम्मि' त्ति बन्धे बन्धमाश्रित्येति भावः, प्रत्येकं साद्यादिचतुर्विकल्पः चतुष्प्रकारो भवति । तथाहि-न विद्यते आदिर्यस्य बन्धस्य, अनादिकालात् संतानभावेन सततप्रवृत्तेः सोऽनादिः । कदाचिदपि बन्धाविरमणादनन्तः । यस्य बन्धस्यापूर्वो बन्धविच्छेदात् परतो वा पुनरारम्भो भवति स सादिः, सहादिना वर्त्तते इति व्युत्पत्तेः । यस्य च बन्धस्य भवादिप्रत्ययादबन्धो भवति स सान्तः, सहान्तेन वर्त्तत इति कृत्वा । अत्र हि प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यानन्तरोक्ताश्चत्वारः प्रकारा भवन्ति, कथमिति चेदुच्यते-आसामुत्कृष्टरसबन्धस्य बन्धविच्छेदस्य च श्रेणावेव संभवेन सर्वेषामभव्यानामप्राप्तश्रेणीनां भव्यानाञ्चानादिकालात्तदनुत्कृष्टरसबन्धस्यैव प्रवर्त्तनात् अनादिः । अभव्यानां शश्वत्कालं तदनुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनादनन्तः । सादिस्तु यदाऽऽसामबन्धक उपशमश्रेणेः प्रतिपतन् निवृत्तिबादरगुणस्थानके पुनरेतद्बन्धं विदधाति तदाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्यादिर्भवति, उत्कृष्टरसबन्धस्य तु क्षपकश्रेणावेव भावात् , सोऽयं सादिबन्धः । अनन्तरोक्त एव बन्धकः पुनः श्रेणिमारोहन् श्रेणौ आसामबन्धं करोति तदा सान्तो ऽसौ बन्धः, अन्तेन सह वर्त्तते इति कृत्वा । इत्येवमनाद्यनन्तसादिसान्तलक्षणाः चत्वारः प्रकाराः प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य प्राप्यन्त इति । अशुभध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्य साद्यादिचतुष्प्रकारविषया भावना त्वेवम्—मिथ्यात्वादीनामशुभध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसबन्धः सम्यक्त्वाद्यभिमुखानाम् , ज्ञानावरणादीनाञ्च स क्षपकश्रेणावेव भवति, ततः सम्यक्त्वादिगुणानभिमुखानामनादिमिथ्यादृशादीनां नैरन्तर्येण तदजघन्यरसबन्धः प्रवर्त्तते, अतोऽनादिबन्धः । अभव्यानां कदाचिदपि सम्यक्त्वादिगुणाप्राप्तेः तेषां शश्वत्कालमजघन्यरसबन्ध एव इति अनन्तः, अन्तविरहितत्वात् । उपशान्तमोहादिगुणात् प्रतिपतन् तत्तद्बन्धस्थानं प्राप्य पुनस्तद्बन्धमारभते कश्चित्तदा सादिबन्धः, स चैवम्—उपशान्तमोहगुणस्थानकस्थः सर्वासां ध्रुवबन्ध्यादीनामबन्धकः उपशान्ताद्धाक्षयेणैकादशगुणस्थानकात् प्रतिपतन् दशमगुणस्थानके ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां बन्धं करोति रसञ्चाजघन्यं बध्नाति, जघन्यरसबन्धस्य क्षपकश्रेणावेव सद्भावात् ।

ततः सोपानावरोहणक्रमेणाऽवरोहन् नवमगुणस्थानके संज्वलनचतुष्कस्य बन्धं तदजघन्यरसबन्धं च करोति, पूर्वोक्तादेव हेतोः। ततोऽष्टमगुणस्थानके भयजुगुप्सानिद्राद्विकाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपाणां नवानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसोपेतं बन्धमारभते। ततोऽवरोहन् षष्ठगुणस्थानकेऽन्तर्मुहूर्तं विश्रम्य परिणामपातात् प्रथमगुणस्थानकमपि प्राप्नोति, तत्र च मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाद्यद्वादशकषायलक्षणानां षोडशानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामभिनवबन्धमारभते रसं चाजघन्यं बध्नाति, तज्जघन्यरसबन्धस्य गुणाभिमुखानामेव सम्भवात्। इति तु दिङ्मात्रम्। मनीषिभिः प्रकारान्तरेणाप्यासां कासाञ्चिदजघन्यरसबन्धस्य सादित्वं भावितुं शक्यते। इति भावितमप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य सादित्वम्।

सान्तबन्धस्त्वेवम्–अनन्तरोक्त एव जन्तुरन्यः कश्चिद् वा चतुर्थादिगुणस्थानकानि प्रतिपित्सुरासां बन्धस्यैतदजघन्यरसबन्धस्य च विच्छेदं करोति तदाऽजघन्यरसबन्धः सान्तो भवति, अन्तेन सह वर्तनात्।

'सेसो' इत्यादि, शेषस्त्रिविधो रसो द्विविकल्पो भवति। अयं भावः–प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामष्टानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य चतुष्प्रकारत्वेनोक्तत्वात्, तासामुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यरूपस्त्रिविधो रसबन्धः, सादिः सान्तश्चेति द्विप्रकारो भवति। त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनान्तु जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपः त्रिविधो रसबन्धः सादिसान्तरूपो द्विप्रकारो भवति, तदजघन्यरसबन्धस्य चतुष्प्रकारत्वेन प्रतिपादितत्वात्। भावना त्वेवम्–प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धो बन्धविच्छेदसमये क्षपकश्रेण्यां समयं यावद् भवति, तदा सादिबन्धः; बन्धस्यादिभावात्। समयं बद्ध्वा क्षपकस्तदबन्धको भवति, अत एव अयं बन्धः सान्तः, अन्तसद्भावात्।

आसां जघन्यरसं तीव्रसंक्लेशेन मिथ्यादृष्टिर्बध्नाति तीव्रसंक्लेशश्चोत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायी। अत एव समयं समयौ वाऽऽसां जघन्यरसं कश्चिद् बध्नाति, तदा सादिर्जघन्यरसबन्धः। समयानन्तरं समयद्वयानन्तरं वाऽजघन्यरसं बध्नाति, तदा जघन्यरसबन्धस्यान्तसद्भावेन सान्तोऽसौ जघन्यरसबन्धः।

तीव्रसंक्लेशाद् यदा जघन्यरसं बध्नाति तदाऽजघन्यरसबन्धस्यान्तसद्भावेन सान्तः। एकद्विसमयानन्तरं पुनरजघन्यरसं बध्नाति तदाऽसौ सादिबन्धः, तदादिभावात्।

अप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां जघन्यादिरसबन्धत्रयाणां द्विप्रकारत्वमेवं भावनीयम्–संयमाभिमुखस्य कस्यचित् प्रथमगुणस्थानकचरमसमये मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्काणामष्टानां सामयिकजघन्यरसबन्धाऽनन्तरं तद्बन्धो भवति, एवं जघन्यरसबन्धः सादिः, तदादिभावात्, सान्तश्चाऽनन्तरसमये तदन्तभावात्। एवमेवाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य चतुर्थगुणस्थानकचरमसमये प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य तु पञ्चमगुणस्थानकचरमसमये संयमाभिमुखस्य जन्तोः समयं तज्जघ-

न्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् जघन्यरसबन्धः सादिः, आदिभावात् । अनन्तरसमये तदबन्धप्रवर्त्तनात्, असौ बन्धः सान्तः ।

संज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातनिद्राद्विकदर्शनावरणचतुष्कज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकरूपाणां सप्तविंशतेः जघन्यरसबन्धस्य क्षपकश्रेणौ तद्बन्धविच्छेदसमये प्रवर्त्तनादसौ जघन्यरसबन्धः सादिः, समयान्तरे तद्बन्धविरमणात् सान्तः ।

सर्वासामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धस्तीव्रसंक्लिष्टेन मिथ्यादृष्टिना समयं समयौ वा क्रियते, तदा स सादिबन्धः, तद्बन्धस्य आदिभावात् । एकद्विसमयानन्तरं पुनरनुत्कृष्टरसबन्धो जायते, तदोत्कृष्टरसबन्धः, सान्तो भवति, तद्बन्धस्यान्तसद्भावात् । उत्कृष्टरसबन्धानन्तरमनुत्कृष्टरसबन्धो भवति तदाऽसौ अनुत्कृष्टरसबन्धः सादिः । कालान्तरे तीव्रसंक्लेशवशात् पुनरुत्कृष्टरसबन्धो जायते तदाऽसौ अनुत्कृष्टरसबन्धः सान्तो भवति, तदन्तभावात् । इति ओघतो ध्रुवबन्धिनीनामेकपञ्चाशतः प्रकृतीनां साद्यादिभङ्गप्ररूपणा कृता ॥२९२॥

अथ ओघत एवाऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनामुत्कृष्टादिरसबन्धसत्कान् साद्यादिप्रकारानाह—

बंधम्मि साइअधुवो सेसाणं चउविहो वि अणुभागो ।

(प्रे०) **'बंधम्मि'** इत्यादि, शेषाणामुक्तशेषाणां त्रिसप्ततिलक्षणानां सर्वासामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामित्यर्थः **'चउविहो'** त्ति उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याऽजघन्यभेदभिन्नश्चतुर्विधोऽपि **'अणुभागो'** अनुभागः पदैकदेशे पदोपचारात् अनुभागबन्धः **'बंधम्मि'** बन्धमाश्रित्य सादिरध्रुवश्चेति द्विप्रकारो भवति, अध्रुवबन्धित्वात् । अयं भावः—जघन्यरसबन्ध उत्कृष्टरसबन्धश्च कस्याश्चिदपि प्रकृतेर्यथाक्रमं समयचतुष्कात् समयद्विकात् परतो न प्राप्यते ततो यदा तद्बन्धप्रायोग्याध्यवसायं गतो जन्तुर्जघन्यमुत्कृष्टं वा रसबन्धमारभते तदाऽसौ बन्धः सादिबन्धो भवति, उत्कृष्टतोऽपि समयचतुष्कात् समयद्विकात् वा परतो विवक्षितोत्कृष्टादिरसबन्धस्य विरामसंभवात् असौ बन्धः सान्तः, अन्तसद्भावात् । शेषाऽनुत्कृष्टाऽजघन्यरसबन्धयोः सादिसान्तत्वं प्रकृतिबन्धस्य सादिसान्तत्वाभ्यां भावनीयम् । शेषौ अनाद्यनन्तरूपौ द्वौ बन्धभेदौ तु न सम्भवतः, रसाधारभूतानां प्रकृतीनामेवाऽध्रुवबन्धित्वात् । इति ओघतः सर्वासां प्रकृतीनां चतुर्विधरसबन्धस्य साद्यादिप्रकारान् प्रदर्श्याथ मार्गणासु तान् दिदर्शयिषुः कासुचिन्मार्गणासु सापवादमोघवदतिदिशन्नाह—

ओघव्व अणाणदुगे अजयाचक्खुभविमिच्छेसुं ॥२९३॥
णवरि धुवो भविये णो सेसासुं चउविहो वि अणुभागो ।
दुविगप्पो विण्णेयो मप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥२९४॥

(प्रे०) **'ओघव्वे'** त्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपेऽज्ञानद्विके असंयमाऽचक्षुर्दर्शनभव्यमिथ्यात्वेषु चेति षट्सु मार्गणासु स्वस्वमार्गणाबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरसबन्धरूपाणां चतुर्णां रसबन्धानां प्रत्येकं साद्यादिभेदभिन्नाश्चत्वारोऽपि प्रकारा ओघवद् भवन्ति, अत्र हि अचक्षुर्दर्शनभव्यवर्जमार्गणासु भावनाविषये ओघापेक्षयेदं वैलक्ष्यं ज्ञेयम्, **तद्यथा**–अज्ञानद्विकासंयममिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु प्रशस्तानां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धोऽभिमुखावस्थायां जायते, ततो यदोत्कृष्टरसबन्धः प्रवर्त्तते तदाऽसौ बन्धः सादिः, समयान्तरे मार्गणा एवापगच्छति, अतोऽसौ बन्धः सान्तः। परिणामपातात् पुनर्मार्गणाप्रविष्टस्य योऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्रवर्त्तते सोऽनुत्कृष्टरसबन्धः सादिः, पुनर्यथासंभवमुत्कृष्टरसबन्धो यदा जायते तदाऽसौ अनुत्कृष्टरसबन्धः सान्तः, अन्तसद्भावात्। शेषानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरसबन्धानां साद्यादिप्रकाराः तद्भावना चौघवदेव ज्ञातव्या, विशेषाभावात्।

तथाऽशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धोऽभिमुखावस्थायां भवति, ततो यदा जघन्यरसबन्धः प्रवर्त्तते तदाऽसौ बन्धः सादिः, आदिमावात्। समयान्तरे मार्गणाऽपगच्छति, ततोऽसौ बन्धः सान्तः, अन्तकलितत्वात्। पुनर्मार्गणाप्रविष्टस्याऽजघन्यरसबन्धो भवति असौ अजघन्यरसबन्धः सादिः। यथासंभवं यदा जघन्यरसबन्धोऽबन्धो वा जायते तदाऽसौ अजघन्यरसबन्धः सान्तः, अन्तवत्त्वात्। शेषजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धानां साद्यादिप्रकाराः तद्भावना चौघवदेव ज्ञेया, विशेषाभावात्।

'णवरि' त्ति अथ कृतातिदेशेऽयं विशेषो द्रष्टव्यः, कः? इत्याह–**'धुवो'** इत्यादि, भव्यमार्गणायां कस्याश्चिदपि प्रकृतेः उत्कृष्टादिभेदभिन्नात् चतुर्विधात् रसबन्धात् कोऽपि रसबन्धो ध्रुवो न भवति, सिद्धिगमनकाले तदन्तभावात्। अथोक्तशेषासु चतुःषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां चतुर्विधस्य रसबन्धस्य प्रस्तुतभङ्गानाह–**'सेसासु'** मित्यादिना, उक्तशेषासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणां तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टभेदभिन्नश्चतुर्विधोऽपि रसबन्धः **'दुविगप्पो'** त्ति सादिः सान्तश्च इति द्विप्रकारो भवति, कुतः? एकजीवमाश्रित्य सर्वासां प्रस्तुतमार्गणानां सादिसान्तत्वात् ॥२९३-२९४॥ इति गतं मार्गणासूत्कृष्टादिरसबन्धानां साद्यादिप्ररूपणम्। गते च तस्मिन् गतमिदं साद्यादिप्ररूपणम्।

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधान उत्तरपयडिरसबन्धे षष्ठं साद्यादिद्वारं समाप्तिमगात् ॥

॥ अथ सप्तमं कालद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तं कालद्वारं बिभणिषुरादौ तावद् ग्रन्थलाघवार्थं विंशत्युत्तरशतप्रकृतिभ्यः काश्चित्प्रकृतीः क्रमं विनिश्चित्य संगृह्य च गाथात्रयेन पृथक्करोति—

मिच्छं थीणद्धितिग-मण-अपच्चक्खाण-तदियरकसाया ।
तिरियदुगं णीअं तह णरदुगवइराणि उरलं च ॥२९५॥
उरलंगं-पणिंदिय-तस-परघू-सास-बायरतिगाणि ।
पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्चसुरविउवदुगतित्थं ॥२९६॥(गीतिः)
सायथिरहस्सदुगजसअसायअरइदुगअथिरदुगअजसा ।
आहारदुगमिमाओ इह जा वुच्चन्ति ता कमा गेज्झा ॥२९७॥(गीतिः)

(प्रे०)'**मिच्छं**'इत्यादि,'**इह**'त्ति प्रस्तावात् कालद्वारप्ररूपणायामेताभ्यो'मिच्छ' मित्यादिगाथा-त्रयोक्ताभ्यः प्रकृतिभ्यो याः प्रकृतयः 'उच्यन्ते' 'सत्सामीप्ये सद्वद्' इति वचनाद् भविष्यदर्थे वर्त-माना, तथा च वक्ष्यन्ते इत्यर्थः, ताः क्रमादानुपूर्व्या ग्राह्याः, यथा '**सत्तपुमाईण**' इत्युक्तया द्वितीयगाथाया उत्तरार्धतः पुरुषवेदसुखगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानां प्रकृतीनां ग्रहणं कार्यमिति ।

अथ संगृहीताः प्रकृतीरेव दर्शयति-'**मिच्छं**' ति मिथ्यात्वं स्त्यानर्द्धित्रिकम् 'अण'त्ति पदैकदेशे पदोपचाराद् अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् '**अपच्चक्खाण**'त्ति अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कम् '**तदियर**' त्ति तस्मादितरं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमित्यर्थः, तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं मनुष्यद्विकं वज्रर्षभनाराचम् औदारिकशरीरनाम इति प्रथमगाथायां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां संग्रहः । तथा औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम बादरत्रिकं पुरुषवेदः शुभविहायोगतिः प्रथम-संस्थानं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रं सुरद्विकं वैक्रियद्विकं तीर्थकरनामेति विंशतेः प्रकृतीनां संग्रहो द्वितीय-गाथायाम् । तथा सातवेदनीयं स्थिरद्विकं-स्थिरशुभनामरूपं हास्यद्विकं-हास्यरतिरूपं यशःकीर्त्तिनाम असातवेदनीयम् अरतिद्विकम्-अरतिशोकरूपम् अस्थिरद्विकम्-अस्थिराऽशुभात्मकम् अयशःकीर्त्तिनाम आहारकद्विकमिति चतुर्दशप्रकृतीनां संग्रहः तृतीयगाथायाम् , इति गाथात्रये सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनां संग्रहः कृतः, तासूक्तनीत्या तत्र तत्र यथासंख्यं वक्ष्यमाणसंख्याकाः प्रकृतयस्तां तां वक्ष्यमाणां प्रकृतिमादौ कृत्वा ग्राह्याः । शेषाः प्रकृतयस्तु यथास्थानं नामग्राहं वक्ष्यन्ते अतो नात्र संगृहीताः ॥२९५ २९७॥

अथोघत उत्कृष्टस्थबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च काल उपायेन दर्श्यते —

सव्वाण लहू समयो गुरुअणुभागस्स सिं गुरू वि भवे ।
जाण खवगो अहिमुहो वा सामी दुसमयाऽण्णेसिं ॥२९८॥

(प्रे०) '**सव्वाण**' इत्यादि, यावत्कालमुत्कृष्टादे रसस्य नैरन्तर्येण बन्धः प्रवर्त्तते तावान् कालस्तस्य उत्कृष्टादिरसबन्धस्य कालो भण्यते,तत्र एकेन विवक्षितेन जीवेन बन्द्धमारब्धस्योत्कृष्टाद्यन्यतमस्य रसस्य बन्धोऽविच्छिन्नतयोत्कर्षतो यावत्कालं प्रवर्तते ततः परं नियमेन विरमति, स सर्वकालः एकजीवमाश्रित्य तस्य बन्द्धमारब्धस्योत्कृष्टाद्यन्यतमस्य रसस्योत्कृष्टकाल उत्कृष्टबन्धकालो भवति। उत्कृष्टादिरसस्य विवक्षितैकजीवाश्रयो बन्धो यावन्तम् एकसमय-द्विसमया-ऽन्तर्मुहूर्तादिरूपं कालमनतिक्रम्य नैव विरमति तावान् समयादिकालस्तु तस्य उत्कृष्टादिरसस्यैकजीवाश्रयो जघन्यो बन्धकालो भण्यते । अत्र ग्रन्थकारः प्रथममुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं दर्शयति–'**लहू समयो**' इत्यादिना, सर्वासां चतुर्विंशत्युत्तरशतसंख्याकानां प्रकृतीनां '**गुरुअणुभागस्स**' उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयो भवति, कुतः? समयं यावद् उत्कृष्टरसं बद्ध्वा जन्तोरनुत्कृष्टरसबन्धाऽऽरम्भणाद् अबन्धकभवनाद् वा । '**सिं गुरू वि**' त्ति अपेः संग्रहार्थकत्वात् तासां प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसबन्धस्य उत्कृष्टकालोऽपि एकसमयो भवति, कासामित्याह–'**जाण खवगो अहिमुहो वा सामी**' त्ति यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः क्षपकः सम्यक्त्वाद्यभिमुखो वा भवति । तद्यथा–सातवेदनीयम् उच्चैर्गोत्रं यशःकीर्त्तीति प्रकृतित्रयस्योत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकसमयो भवति,सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्तिना क्षपकेण बध्यमानत्वात् । सुरद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः सुखगतिः यशःकीर्त्तिवर्जं त्रसदशकं त्रसनामाद्यो नवेत्यर्थः,वैक्रियद्विकम् आहारकद्विकं तैजसशरीरकार्मणशरीरनाम्नी समचतुरस्रसंस्थाननाम निर्माणनाम जिननाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् अगुरुलघुनाम उच्छ्वासनाम पराघातनामेत्येकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामप्युत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल एकसमयो भवति, अपूर्वकरणषष्ठभागचरमसमयवर्त्तिना सर्वविशुद्धेन क्षपकेण बध्यमानत्वात् । तथैवोद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल एकसमयो ज्ञेयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन सप्तमपृथ्वीनारकेण बध्यमानत्वात् । इत्येवं त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टोऽपि काल एकसमयो भवति । '**अण्णेसिं**' ति अन्यासामेकनवतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ भवति, तस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तादृग्विशुद्ध्या वा जन्यत्वात् , स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशविशुद्ध्योश्चोत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वात् ॥२९८॥

अथ अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालः सर्वासां प्रकृतीनां प्रदर्श्यते—

जिणसुहधुवबंधीणमगुरुअणुभागस्स होअइ जहण्णो ।
भिन्नमुहुत्तं समयो णेयो सेसाण पयडीणं ॥२९९॥

(प्रे०)'**जिणसुह०**'इत्यादि,जिननाम्नोऽगुरुलघुनामनिर्माणनामतैजसशरीरनामकार्मणशरीरनामप्रशस्तवर्णादिचतुष्करूपाणामष्टानां च शुभध्रुवबन्धिनीनाम् '**अगुरुअणुभागस्स**' त्ति उत्कृष्टरसाद्

अनन्तभागादिविभागेन हीनो यावज्जघन्यरसः स सर्वोऽपि अनुत्कृष्टरसो गीयते, तस्यानुत्कृष्टरसस्य जघन्यो बन्धकालः **'भिन्नमुहुत्तं'** ति अन्तर्मुहूर्तमितो भवति, **तद्यथा**–कश्चित् क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्महात्मा उपशमश्रेण्यां निवृत्तिबादरसप्तमभागप्रथमसमये आसामबन्धको भूत्वोपशान्तमोहगुणस्थानकं प्राप्य उपशमाऽद्धाक्षयेणोपशान्तमोहगुणस्थानकाच्च प्रतिपत्य निवृत्तिबादरगुणस्थानके पुनस्तद्-बन्धमारभमाण आसां नवानामनुत्कृष्टरसबन्धं करोति, उत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात्, ततः परं क्रमादवरोहन् षष्ठगुणस्थानं प्राप्नोति, तदन्वन्तर्मुहूर्तं यावत् संख्यातवारमावृत्त्या षष्ठसप्तमगुणस्थाने स्पृशन्नासामनुत्कृष्टरसबन्धं निर्वर्तयति। ततः श्रेणिमारोहन् निवृत्तिबादरगुणस्थानकषष्ठभागचरमसमये आसामबन्धं करोति तदा आसां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते। उपशमसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेणेः प्रतिपत्याऽचिरात् श्रेणिमारोढुकामस्य, तादृशस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेः सकाशात् षष्ठादिगुणस्थानके दीर्घतरान्तर्मुहूर्तात्मककालावस्थानाभ्युपगमेनोपशमसम्यग्दृष्टेर्जघन्य-कालासंभवात्। **तद्यथा**–उपशमसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणेरवरुह्य षष्ठादिगुणस्थानके प्रथमं क्षायोपशमि-कसम्यक्त्वं समासादयति, तत्र जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावद् विश्रम्याऽन्तर्मुहूर्तेन पुनरुपशमसम्य-क्त्वं क्षायिकसम्यक्त्वं वा समासाद्य श्रेणिमारोहन् यथास्थानं तदबन्धको भवति, एवमुपशमसम्य-ग्दृष्टेः श्रेणिद्वयगतबन्धयोरन्तराले दीर्घतरकालं यावत्तदनुत्कृष्टरसबन्धः प्रवर्तत इति अत्र क्षायिक-सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम्। अन्यमाश्रित्य तदनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालासंभवात् एकस्मिन् भवे श्रेणिद्वयकर्तुर्ग्रहणम्। **'सेसाण'** त्ति उक्तशेषाणां पञ्चदशोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयो भवति। **तद्यथा**—सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं देवद्विकं मनुष्यद्विकं त्रसदशकमौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपोद्योतनाम्नी पञ्चेन्द्रियजातिः प्रशस्तविहायोगतिरिति त्रिंशतः शुभप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एक एव समयो भवति, तासां परावर्त्तमानत्वात् अध्रुवबन्धित्वाच्च, यदा कश्चित् प्राणी एकसमयं यावत् इमा अनुत्कृष्टरसाः बद्ध्वा अध्रुवबन्धित्वा-देव एतत्प्रतिपक्षप्रकृत्यन्तरं बध्नाति, आसामबन्धं वा करोति, तदाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य काल एकसमयो लभ्यते। देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामुपशमश्रेणावबन्धको भूत्वा श्रेणेरवरोहन् समयं यावत्तद्बन्धं कृत्वा दिवं गतस्य, मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानामनुत्कृष्टरसबन्धयो-रन्तराले समयं यावदनुत्कृष्टरसबन्धं करोति तस्य यथोक्तः समयमात्रः काल आयाति। आहारकद्विकस्य एकसमयात्मकोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाल एवं प्राप्यते-यदा किल कश्चिद् मुनिः प्रमत्तगुणस्थानकादप्रमत्त-गुणस्थानकं गत्वा तत्र समयं यावत् आहारकद्विकमनुत्कृष्टरसोपेतं निर्वर्त्य आयुःक्षयेण तत्क्षणं पञ्च-त्वं प्राप्नोति तमाश्रित्य, उपशमश्रेणेरवरोहन् निवृत्तिबादरगुणस्थानके समयं यावदाहारकद्विकमनु-त्कृष्टरसोपेतं बद्ध्वा तत्कालं देवत्वं गच्छति तं चाश्रित्य, आहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धजघन्य-

काल एकसमयो लभ्यते, दिवंगतस्याहारकद्विकबन्धोपरमात् । एवमेव यथासंभवं शेषप्रकृतीनामपि भावना कार्या । असातवेदनीयं प्रथमवर्जसंहननपञ्चकं प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिः तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कं नरकद्विकं स्थावरदशकं स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणा-ऽस्थिराऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्तिरूपं नीचैर्गोत्रमिति एकत्रिंशतोऽप्रशस्तानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य जघन्यो बन्धकाल एकसमयः, आसां परावर्त्तमानत्वात् , आसामनुत्कृष्टरसबन्धस्य एकसमयात्मको जघन्यकालस्तदा प्राप्यते यदा कश्चित् समयं यावदनुत्कृष्टरसोपेताः एता बद्ध्वा समयान्तरे तत्प्रतिपक्षभूताः प्रकृतीः बध्नाति, अथवाऽऽसामुत्कृष्टरसं बद्ध्वा कश्चित् समयं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति ततः पुनरुत्कृष्टरसं,तमाश्रित्यैकसमयात्मको जघन्यकालः एतासामनुत्कृष्टरसबन्धस्योपलभ्यते, समयान्तरेऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य विरमणात् । तथा ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकमोहनीयषड्विंशतिकाऽन्तरायपञ्चकरूपाणां पञ्चचत्वारिंशतो घातिप्रकृतीनामप्रशस्तवर्णादिचतुष्कस्योपघातनाम्न आयुश्चतुष्कस्य चोत्कृष्टरसं निर्वर्त्य समयं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति ततश्चोत्कृष्टरसं तदाऽऽसामेकसमयो जघन्यकालोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योपलभ्यते उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावदनुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् ॥२९९॥

अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं प्रदर्श्य, तस्यैवोत्कृष्टकालं प्रचिकटयिषुराह—

सुहधुवबंधीण गुरू तिविगप्पो ऊणअद्धपरिअट्टो ।
तइओ परमोऽत्थि असुहधुवउरलाणं असंखपरियट्टा॥३००॥(गीतिः)
बत्तीससागरसयं सत्तपुमाईण तितिरियाईणं ।
लोगाऽसंखा णरदुगवइराणं जलहितेत्तीसा ॥३०१॥
णेयो सुराइगाणं चउण्ह तिण्णि पलिओवमाऽब्भहिया ।
पणसीइसागरसयं पणिंदियाईण सत्तण्हं ॥३०२॥
उरलोवंगजिणाणं तेत्तीसा सागरोवमाऽब्भहिया ।
भिन्नमुहुत्तं णेयो छायालीसाअ सेसाणं ॥३०३॥

(प्रे०) **'सुहधुवबंधीण'** इत्यादि, तैजसशरीरनामकार्मणशरीरनामप्रशस्तवर्णादिचतुष्काऽगुरुलघुनिर्माणरूपाणामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य **'गुरू'** त्ति उत्कृष्टो बन्धकालः **'तिविगप्पो'** त्ति त्रिप्रकारः भवति, तद्यथा–अनाद्यनन्त इति प्रथमप्रकारः, अनादिसान्त इति द्वितीयस्तृतीयस्तु सादिसान्तः । तत्र आद्यविकल्पद्वये आद्यन्ताभावेन प्रतिनियतकालमर्यादाभावात् सादिसान्तलक्षणस्य तृतीयस्यैव विकल्पस्य छद्मस्थस्यापि गम्यामुत्कृष्टपदगतां कालमर्यादां दर्शयति

ग्रन्थकारः '**ऊणअद्धपरिअट्टो**' इत्यादिना, '**तइओ**' त्ति तृतीयः सादिसान्तरूपः कालः '**परमो**' त्ति उत्कृष्टो देशोनार्धपुद्गलपरावर्त्तमितो भवति । तद्यथा--कश्चिद् विज्ञातवास्तवविश्वस्वरूपो महामुनिर्ध्यानधारया मोहधूलिमुपशमयितुकाम उपशमश्रेणिमारोहन् निवृत्तिबादरगुणस्थानकषष्ठभागान्ते आसामष्टानां प्रकृतीनां बन्धविच्छेदं कृत्वाऽबन्धको भूत्वोपशान्तमोहः सन् उपशान्ताद्धाक्षयेणोपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतद् निवृत्तिबादरगुणस्थानके आसामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धमारभते, ततो विषमतया कर्मगतेः दुर्निवारतया भवितव्यतायाः स एव महात्मा तीर्थंकृतादीनामासातनादिना देशोनार्धपुद्गलपरावर्त्तं यावत् **करालकषायैकहेतुकं संसारं** परिभ्रमन् तत्र निरन्तरमासामनुत्कृष्टरसं बध्नाति । ततः कर्मलाघवेन समासादित**भवजलधितरणपटुप्रवहणप्रकल्पमनुजभवः** सावशेषेऽन्तर्मुहूर्तमिते निजायुष्के चारित्रमोहक्षपणामारभते, तत्र क्षपकश्रेणौ निवृत्तिबादरगुणस्थानकषष्ठभागचरमसमयं यावदासां शुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धं करोति, ततः परं तदबन्धको भवति । एवं शुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य उत्कृष्टो बन्धकालो देशोनार्धपुद्गलपरावर्त्तप्रमितो भवति । '**असुहधुवउरलाणं**' ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं मप्तनोकषायाणामध्रुवबन्धित्वाद् मोहनीयैकोनविंशतिकम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम अन्तरायपञ्चकमित्यशुभध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत् औदारिकशरीरनाम चेति चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्यपुद्गलपरावर्त्तमितः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिलक्षणो भवति, यत इमा एकेन्द्रियाणां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावन्नैरन्तर्येण अनुत्कृष्टरसा बध्यमानास्तिष्ठन्ति, कुतः ? अशुभध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशत उत्कृष्टरसबन्धस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् , औदारिकशरीरनाम्न एकेन्द्रियाणां ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्तदुत्कृष्टरसबन्धस्य च सम्यग्दृष्टिदेवस्वामिकत्वात् । '**सत्तपुमाईणं**' ति प्रस्तुतकालद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदसुखगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रलक्षणानां पुरुषवेदादीनां सप्तानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य उत्कृष्टो बन्धकालः '**बत्तीससागरसयं**' द्वात्रिंशदधिकशतसागरोपमप्रमाणः प्राप्यते, तद्यथा--अन्तर्मुहूर्तात्मकेन सम्यग्मिथ्यात्वकालेन अन्तरितः सम्यक्त्वकालो द्वात्रिंशदधिकशतातरप्रमितो भवति । तावत्कालपर्यन्तं सम्यक्त्वादिगुणप्रत्ययेनैव पुरुषवेदादिप्रतिपक्षभूताः स्त्रीवेदनपुंसकवेदाशुभविहायोगत्याद्यवर्जसंस्थानपञ्चकदुर्भगत्रिकनीचैर्गोत्रलक्षणाः प्रकृतयो नैव बध्यन्ते, ततः तावत्कालपर्यन्तं पुरुषवेदादीनाम् अविच्छिन्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धो भवति, तत्प्रकृतिबन्धकालस्य तावत्प्रमाणत्वादिति भावः । उक्तं च **नव्यशतके**--'बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे, (६०)' । पुरुषवेदोत्कृष्टरसस्य मिथ्यादृष्टिना, शुभप्रशस्तविहायोगत्यादीनां षण्णामुत्कृष्टरसस्य क्षपकेण बध्यमानत्वात् । **अत्रेदमपि बोध्यम्**--यो द्वात्रिंशदधिकशतसागरपर्यन्तं सम्यक्त्वादिगुणोपेतः सन्नपि अन्तराले उपशमश्रेणिं न करोति तमेव जीवमाश्रित्यासां सप्तानां पुरुषवेदादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य यथोक्त उत्कृष्टबन्धकालो लभ्यते, अन्तरा उपशमश्रेणेरारोहकस्य तु श्रेणौ

यथास्थानं तत्तत्प्रकृतेरबन्धप्रवर्त्तनेनानुत्कृष्टरसबन्धस्य यथोक्तः कालो न भवति, अन्तरालेऽबन्धप्रवर्त्तनेन तावत्कालं नैरन्तर्येणानुत्कृष्टरसबन्धाभावात्। अत्रोक्तो द्वात्रिंशदुत्तरशतसागरमितः कालः पूर्वसूरिभिरेवं समर्थितः, **यदाहुः देवेन्द्रसूरिपादाः**-"विजय-वैजयन्त-जयन्ताऽपराजितसंज्ञितेषु चतुर्ष्वपि विमानेषु मध्येऽन्यतरस्मिन् कस्मिंश्चिद् विमाने वारद्वयगमनेन एका षट्षष्टिः, ततः सम्यक्त्वमिथ्यात्वान्तर्मुहूर्तेनान्तरिता पुनरच्युतदेवलोके वारत्रयगमनेनाऽन्या षट्षष्टिः यदाह भाष्यसुधाम्भोधिः,—

दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नऽच्चुए अहव ताइं।
अहिरेगं नरभवियं, नाणाजीवाण सव्वद्धा (विशेषा० भा० ४३६)

एवं च षट्षष्टिद्वयमिलने द्वात्रिंशं शतं सागरोपमाणां विजयादिषु पर्यटतो जन्तोः सम्पद्यत इति।"
इदं तु दिङ्मात्रम् अतोऽन्यथाऽपि यथासम्भवं समर्थनीयः। **'तितिरियाईणं'** ति तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य बन्धकाल उत्कृष्टो **'लोगाऽसंखा'** त्ति असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणसमयराशिप्रमितो भवति, **तद्यथा**—तेजोवायुषु उत्पन्नो जन्तुः भवप्रत्ययेनैव अनुत्कृष्टरसयुक्तं तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रम् च बध्नाति, न तु तद्विपक्षभूतं मनुष्यादिद्विकं न वोच्चैर्गोत्रमपि, ततो यः कश्चिज्जन्तुरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणसमयराशिमितां तेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिं समापयति तमाश्रित्याऽऽसामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालो लभ्यते। **तेजोवायुभ्य उद्वृत्तो जन्तुः** शेषतिर्यग्भेदेषु उत्पन्नः सन् आदौ अन्तर्मुहूर्त्तं यावत्तिर्यग्द्विकं बध्नाति, ततः परं मनुष्यद्विकादिना सह परावृत्त्या तद्बन्धारम्भणात् तिर्यग्द्विकादेरबन्धमपि अनुभवति ततस्तदनुत्कृष्टरसबन्धस्यापि निष्ठापको भवति, एवमनुत्कृष्टरसबन्धस्य निष्ठापनं प्राप्यते। **ततश्चात्रेदमायातम्**—तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणसमयराशिप्रमिततेजोवायूत्कृष्टकायस्थितितुल्यस्तत्पूर्वोत्तरकालिकाऽन्तर्मुहूर्त्ताभ्यां सातिरेकस्तेजोवायुकायमाश्रित्य भवतीति। **'णरदुगवइराण'** ति मनुष्यद्विकं वज्रर्षभनाराचाख्यं प्रथमसंहनननाम चेति तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः **'जलहि त्तीसा'** त्ति त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि भवति, अनुत्तरवासिदेवानां नियमेन सम्यग्दृष्टित्वेन तेषां स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावद् मनुष्यद्विकाद्यसंहननयोर्बन्धोपलम्भात्, अन्तरा उत्कृष्टरसस्य बन्धमाश्रित्य अनुत्कृष्टरसबन्धस्य तावत्कालासम्भवात् आ-उपपाताद् आच्यवनमनुत्कृष्टरसबन्धक एवात्र ग्राह्यः। अनुत्तरस्वर्गाच्च्युतो मनुजभवप्रथमसमयादेव देवद्विकं बन्द्धुमारभते, तस्य सम्यग्दृष्टित्वात्, तत्र मनुष्यद्विकबन्धाभावेन तद्रसस्यापि अबन्धप्रवर्त्तनात् अनुत्तरवासिदेवोत्कृष्टभवस्थितिमितत्रयस्त्रिंशत्सागरप्रमाण एव मनुष्यद्विकादिप्रकृतित्रयस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल इति। न च उत्कृष्टस्थितिकं सम्यग्दृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकमप्याश्रित्य एतत्प्रकृतित्रयस्यानुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकाल उपपद्यते, तस्यापि त्रयस्त्रिंशत्सागरस्थितिकत्वात् इति वाच्यम्, यथोक्तसप्तमपृथ्वीनारकस्य भवप्रथमचरमान्तर्मुहूर्तयोर्मिथ्यात्वसद्भावेन तत्र च तिर्यग्द्विकादिबन्धोपलम्भात् तमाश्रित्यान्तर्मुहूर्तद्वयोनानि एव त्रयस्त्रिंशत्

सागरोपमाणि कालः प्राप्यते, ततोऽनुत्तरवासिदेवस्यैवात्रार्थे ग्रहणम् । **'सुराइगाणं चउण्ह'** त्ति सुरद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः **'तिण्णि पलिओवमाऽब्भहिया'** त्ति साधिकत्रिपल्योपमानि भवति। **तद्यथा**–कश्चित् पूर्वकोटयायुष्को मनुष्य एकत्रिभागावशेषे स्वायुषि त्रिपल्योपममितं पारभविकं युगलिकायुष्कं बद्ध्वाऽन्तर्मुहूर्तात् परतः सम्यक्त्वमासाद्य क्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वमासादयति, ततः प्रभृति सम्यक्त्वगुणबलादेव देवद्विकवैक्रियद्विकेऽनुत्कृष्टरसोपेते च निर्वर्तयति, तदुत्कृष्टरसस्य क्षपकश्रेणावेव सम्भवात् बद्धायुष्कस्य च क्षपकश्रेण्यारोहाभावात् । ततः समापिततद्भवायुः त्रिपल्योपमायुष्कयुगलधर्मित्वेनोत्पन्नः सन्नाभवं देवद्विकवैक्रियद्विकेऽनुत्कृष्टरसयुक्ते बध्नाति, युगलधर्मिणामाभवं देवप्रायोग्यबन्धसम्भवात् श्रेण्यारोहाभावाच्च । ततश्च्युतो देवत्वे तु मनुष्यद्विकौदारिकद्विके बध्नाति, एवं सुरद्विकादीनां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो यथोक्तो देशोनपूर्वकोटयेकत्रिभागाधिकं पल्योपमत्रयं भवति । **'पणिंदियाईण सत्तण्हं'** ति पञ्चेन्द्रियजातिनाम त्रसनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमिति पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां सप्तानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः **'पणसीइसागरसयं'** पञ्चाशीत्यधिकं शतं सागरोपमाणां भवति तत्प्रकृतिबन्धकालस्योत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात् । **तथा चोक्तं शतकनाम्नि पञ्चमकर्मग्रन्थे देवेन्द्रसूरिपादैः**:'जलहिसयं पणसीयं परघुस्सासे पणिंदितसचउगे' इति । आसां यथोक्त उत्कृष्टबन्धकालस्तैरेव एवं प्रत्यपादि 'जलहिसय'मित्यादिगाथाविवृतौ, तथा च तद्ग्रन्थः—

"षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टस्थितिको द्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुभवन्नासां विपक्षबन्धासम्भवादेता एव प्रस्तुतसप्तप्रकृतीर्बद्धवान्, ततः पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्यजन्म सम्प्राप्य देशविरतिरत्नं लब्ध्वा चतुःपल्योपमस्थितिकेषु देवेषु सुपर्वत्वमनुभूयाप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषु समुत्पद्य सम्पूर्णसंयमं च परिपाल्य नवमग्रैवेयकविमाने एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको महर्द्धिरमरो भूत्वोत्पादोत्तरकालं मिथ्यात्वोदयवान् भवति, च्यवनकाले च सम्यक्त्वं प्रतिपद्य षट्षष्टिसागरोपमाण्यच्युतदेवलोके वारत्रयेणानुभवति, पुनरन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय भूयोऽपि सम्यग्दर्शनमवाप्य विजयादिषु वारद्वयेन पुनः षट्षष्टिसागरोपमाणि समनुभवति, तस्मादेतेषु तमःप्रभापृथिवीप्रभृतिस्थानेषु पर्यटन् जीवः कचिद्भवप्रत्ययात् कचिच्च सम्यक्त्वप्रत्ययादेतावन्तं कालमेताः सप्तापि प्रकृतीः सततं बध्नातीति ।" आ-उत्कृष्टबन्धकालमासामनुत्कृष्टरस एव च बध्यते,उत्कृष्टरसबन्धस्य तु क्षपकस्वामिकत्वेनैकसामयिकत्वात् । अत्र देवभवान्तरालवर्तिषु मनुष्यभवेषूपशमश्रेणेरनारोहक इत्यपि बोध्यम्, अन्यथा श्रेणौ तद्बन्धप्रवर्तनेन यथोक्तकालानुपपत्तेः । **'उरलोवंगजिणाणं'** औदारिकाङ्गोपाङ्गनामजिननाम्नोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति । भावना त्वेवम्–सप्तमपृथिवीनारको भवप्रत्ययात् पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बन्धं कुर्वाण औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽपि बन्धं सततं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितस्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावत् करोति ततः उद्वृत्तस्तिर्यग्भवे अपर्याप्तावस्थायामन्तर्मुहूर्तं यावत् त्रसप्रायोग्यबन्धं विदधद् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो बन्धं प्रकरोति । इत्येवमन्तर्मुहूर्तेना-

धिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि यावत् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो निन्तरो बन्धो जायते । उत्कृष्टस्थितिकानुत्तरवासिदेवस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावत् तदनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवेऽपि ततश्च्यवनानन्तरं मनुजभवप्रथमसमयादेव देवद्विकबन्धसंभवात् , न तस्य यथोक्तः कालः संभवति, ततः सप्तमपृथ्वीनारकस्य ग्रहणम् । जिननाम्न उत्कृष्टो बन्धकालः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरमित एवं भवति—कश्चित् पूर्वकोटयायुष्कसम्यग्दृष्टिर्मनुष्योऽष्टवार्षिकः सन् यथासमयं जिननामबन्धमनुत्कृष्टरसयुक्तमारभते, उत्कृष्टरसबन्धस्य चरमभवे क्षपकश्रेणौ सम्भवात् । तत्र मनुष्यत्वे आभवं तद् बध्नन् कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्धविमाने देवत्वं प्राप्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावत् तदेव बध्नाति, ततश्च्युत्वा मनुजभवे देशोनपूर्वकोटिं यावत् जिननाम बध्नन् क्षपकश्रेणौ तद्बन्धविच्छेदसमयं यावत् अनुत्कृष्टरसबन्धं करोति । **उक्तं च पञ्चसंग्रहवृत्तौ**—'तीर्थकर कर्म देशोनपूर्वकोटिद्वयाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि बध्यते' इति । एवं देशोनमनुजभवद्वयसातिरेकस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितो जिननामकर्मणोऽनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो भवतीति । **'छायालीसाअ सेसाणं'** ति सातासाते हास्यरतिशोकारतिस्त्रीवेदनपुंसकवेदरूपाः षड् नोकषायाः आयुश्चतुष्कं नरकद्विकं जातिचतुष्कम्-एकेन्द्रियद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियात्मकम् आहारकद्विकम् आद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकं कुखगतिः आतपनाम उद्योतनाम स्थावरदशकं स्थिरादित्रिकं-स्थिरशुभयशःकीर्त्तिरूपं चेति उक्तशेषाणां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः **'भिन्नमुहुत्तं'** ति अन्तर्मुहूर्तं भवति, तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वेनोत्कृष्टतोऽपि तस्य आन्तर्मुहूर्त्तिकत्वात् । तद्यथा—आतपोद्योता आहारकद्विकमायुश्चतुष्कमिति प्रकृत्यष्टकवर्जा अत्रोक्ताः सातवेदनीयादयोऽष्टात्रिंशत् प्रकृतयः स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह यथायथं प्रथमादिषष्ठगुणस्थानकं यावत् परावृत्त्या बध्यन्ते, परावृत्त्या बध्यमानानां प्रकृतीनां बन्धस्य उत्कृष्टतोऽपि आन्तर्मुहूर्तिकत्वेन तदनुत्कृष्टरसबन्धस्यापि तावत्प्रमाणत्वात् । यद्यपि आतपनामादीनां विपक्षभूताः प्रकृतयो न विद्यन्ते तथापि आतपनाम प्रथमगुणस्थानके उद्योतनाम च आद्यगुणस्थानकद्वये तथाऽऽयुश्चतुष्कमन्तर्मुहूर्तं यावत् बद्ध्वा अवश्यं विरमति तत्तद्बन्धकः, ततोऽन्तर्मुहूर्तकालस्तदनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टतोऽपि प्राप्यते, तत्प्रकृतिबन्धस्यापि उत्कृष्टत आन्तर्मुहूर्तिकत्वात् । आहारकद्विकं तु सप्तमाष्टमगुणस्थानकयोरेव बध्यते तयोः समुदितकालस्योत्कृष्टतोऽपि आन्तर्मुहूर्तिकत्वात् , **उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ**—"देसूण पुव्वकोडिं संजमे अणुपालेमाणु जंमि जंमि काले अपमत्तो भवति तंमि तंमि काले आहारसत्तगं बंधति अप्पमत्तद्धा य छउमत्थस्स अन्तोमुहुत्तातो परतो णत्थि, एस आहारसत्तगस्स उक्कोसो बंधकालो इति ।" ॥२००-२०३॥

इति ओघतः सर्वासां चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं बन्धकालं निरूप्य, अथ मार्गणासु स्वस्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टादिरसबन्धस्य जघन्यादिकालं

दर्शयन् अल्पवक्तव्यत्वादादौ तावन्मार्गणास्वायुषामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टश्च कालं दर्शयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं णेयो जेट्ठेयराणुभागाणं ।
ओघव्व जहण्णियरो सप्पाउग्गाण आऊणं ॥३०४॥
णवरं जाणेयव्वो कालो देवाउगस्स उक्कोसो ।
आहारमीसजोगे समयो तिव्वाणुभागस्स ॥३०५॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, आयुर्बन्धयोग्यासु त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणासु 'सप्पाउग्गाण' त्ति तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणामायुषां 'जेट्ठेयराण' त्ति उत्कृष्टरसबन्धस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य च 'जहण्णियरो' त्ति जघन्य उत्कृष्टश्च बन्धकाल ओघवद् भवति । तद्यथा—उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकालः समयमात्रः, समयान्तरेऽनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्तनात् आयुर्बन्धविरमणाद् वा । तथा तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, सर्वत्र नरकायुर्वर्जायुषामुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यस्वस्थानविशुद्ध्या नरकायुष्यस्य तु तत्प्रायोग्यस्वस्थानसंक्लेशेन बध्यमानत्वात्तयोश्चोत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वात् ।

तथाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकाल एक एव समयः, समयान्तरे उत्कृष्टरसबन्धारम्भणात् आयुर्बन्धविरमणाद् वा । तथा तस्यैवोत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , आयुर्बन्धाद्धाया उत्कृष्टतस्तावन्मात्रत्वात् । अथात्राऽपवादं दर्शयति 'णवर' मित्यादिना, आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां देवायुष उत्कृष्टरसबन्धस्य बन्धकाल उत्कृष्टतोऽपि एक एव समयः, मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टरसबन्धस्वीकरणात् । किमुक्तं भवति ? अनन्तरसमयभविष्यदाहारकयोगिनामेव केषांचिद् आहारकमिश्रयोगिनां समयमात्रो देवायुष उत्कृष्टरसबन्धो भवतीति भावः । न चौदारिकमिश्रमार्गणायामपि तत्र सम्भाव्यमानबन्धयोर्मनुष्यतिर्यगायुषोरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल एक एव समयः कथं नोच्यते इति वाच्यम् , यतो यथाऽऽहारकमिश्रमार्गणायामनन्तरसमयभविष्यदाहारकयोगी देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकः प्राप्यते, न तथौदारिकमिश्रमार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धयोर्मनुष्यतिर्यगायुषोः, औदारिकमिश्रमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तजीवानामेवायुर्बन्धकत्वात् , तेषाश्चाऽऽमरणमवस्थितौदारिकमिश्रयोगित्वेनौदारिककाययोगित्वायोगात् । तथा सर्वविशुद्ध्या तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भवेन तस्याश्चोत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वेन चौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां मनुष्यतिर्यगायुषोरुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ एव, न त्वेकः समय इति । अथ 'सप्पाउग्गाण आऊण' मिति गाथोत्तरार्द्धश्रवणेन भवत्येव प्रश्नः यत् कस्यां मार्गणायां कियन्ति आयूंषि बन्धप्रायोग्याणि ?अतः 'णिरयपढमाइछणिरय' इत्यादिगाथापट्केन स्वामित्वद्वारे प्रदर्शितानि तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याण्यायूंषि विस्मरणशीलवाचकानुग्रहार्थं स्वाऽविस्मृत्यर्थं चात्र दर्शयामः, तद्यथा—

¹नरकौघा-⁶ऽऽद्यषड्नरक-⁷सर्वैकेन्द्रिय-⁸सर्वविकलेन्द्रिय-⁹सर्वपृथ्वीकाय-¹⁰सर्वाऽप्काय-¹¹सर्ववनस्पतिकाया-¹ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-¹ऽपर्याप्तमनुष्या-¹ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया--¹ऽपर्याप्तत्रसकाय-¹²देवौघादिसहस्रारान्तदेवभेदौ¹दारिकमिश्रकाययोग-¹वैक्रियकाययोगरूपासु षट्षष्टिमार्गणासु द्वयोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोर्बन्धः। ¹सप्तमनरकमार्गणायां सर्वतेजःकायभेदेषु सर्ववायुकायभेदेषु चेति सर्वसंख्यया पञ्चदशसु मार्गणासु तिर्यगायुर्लक्षणस्यैकस्याऽऽयुषो बन्धः। ¹तिर्यगोघ-¹पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-¹तिर्यग्योनिमती¹पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-¹मनुष्यसामान्य-¹मनुष्ययोनिमती-¹पर्याप्तमनुष्य- ¹पञ्चेन्द्रियौघ¹पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-¹त्रसकायौघ-¹पर्याप्तत्रसकाय-⁴पञ्चमनोयोग-⁴पञ्चवचनयोग-¹काययोगसामान्यौ-¹दारिककाययोग-³वेदत्रिक--⁴कषायचतुष्क--¹मत्यज्ञान¹श्रुताज्ञान--¹विभङ्गज्ञाना¹ऽसंयम¹चक्षुर्दर्शना- ऽचक्षुर्दर्शना-³ऽशुभलेश्यात्रिक-¹भव्या-¹ऽभव्य -¹मिथ्यात्व-¹संज्ञ - ऽसंज्ञ्या¹ऽऽहारिरूपासु पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु चतुर्णामायुषां बन्धः। ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूपासु अष्टसु मार्गणासु द्वयोर्देवमनुष्यायुर्लक्षणयोरायुषोर्बन्धः। तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-सास्वादनरूपासु तिसृषु मार्गणासु नरकायुर्वर्जानि त्रीण्यायूंषि बध्यन्ते। आनतादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तेषु अष्टादशसु देवभेदेषु एकस्य मनुष्यायुर्लक्षणस्यायुषो बन्धः। आहारकतन्मिश्रयोग-मनःपर्यवज्ञान -संयमौघ -सामायिक--छेदोपस्थापनीय--परिहारविशुद्धि-देशविरतिरूपासु अष्टसु मार्गणासु एकस्य देवायूरूपस्यायुषो बन्धः। इति तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याण्यायूंषि विज्ञाय तदुत्कृष्टादिरसबन्धस्य जघन्यादिबन्धकाल एकसमयादिरूपो यथासंभवं चिन्तनीयः। इति मार्गणासु आयुषामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोर्जघन्योत्कृष्टकालप्ररूपणम् ॥२०४-२०५॥

सर्वासु मार्गणास्वायुर्वर्जस्वप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य जघन्यं बन्धकालं दर्शयितुकाम आह—

सव्वासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं।
गुरुअणुभागस्स लहू कालो समयो मुणेयव्वो ॥२०६॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' त्ति सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणामायुषामुक्त्वात्तद्वर्जानाम् यस्यां मार्गणायां यावत्यः प्रकृतयो बध्यन्ते तत्र तावतीनामित्यर्थः। उत्कृष्टरसबन्धस्य '**लहू**' त्ति जघन्यः कालः समयः-सूक्ष्मतमकालांशरूपो ज्ञातव्यः, यथा आद्यत्रिनरकमार्गणासु नरकौघमार्गणायां च आयुर्वर्जसप्तकर्मणां त्र्युत्तरशतोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समय इति वक्तव्यं भवति। सुरद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकनरकद्विकसूक्ष्मत्रिकजातिचतुष्काऽऽतपस्थावरनामरूपाणां सप्तदशानां प्रकृतीनां नरकगतौ बन्धाभावात्। तथा तुर्यादिनरकमार्गणासु जिननामाऽपि नैव बध्यते ततः तत्र द्व्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः समय इति वक्तव्यम्। एवं शेषमार्गणासु अपि बन्धप्रायोग्याः प्रकृतीः स्वधियाऽनन्तरोक्तात् स्वा-

मित्वद्वाराद् वाऽवगम्य तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समय इति प्रज्ञापनीयम् ॥३०६॥

अथ सर्वासु मार्गणासु उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं प्रचिकटयिषुराह—

जहि जाण अत्थि सामी खवगो उवसामगो उअ अहिमुहो ।
तहि ताण गुरू समयो णेयो इयराण दो समया ॥३०७॥
णवरि भवे समयो वा सव्वाण गुरू तिमिस्सजोगेसु ।
कम्माणाहारेसु समयो सव्वाण विण्णेयो ॥३०८॥
परिहाराईसु चउसु कयकरणो विज्जए जया सामी ।
तय ताण भवे समयो इहरा समगा दुवे णेयो ॥३०९॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यस्यां मार्गणायां यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी क्षपक उपशमको गुणाद्यभिमुखो वाऽस्ति तस्यां मार्गणायां तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः एकसमयोऽविभाज्यकालांशरूपो ज्ञेयः, क्षपकस्य आरोहत उपशामकस्य सम्यक्त्वादिगुणाभिमुखस्य च सर्वोत्कृष्टविशुद्धेः, अवरोहत उपशामकस्य मिथ्यात्वादिदोषाभिमुखस्य वा सर्वोत्कृष्टसंक्लेशस्य चोत्कृष्टतोऽपि समयमात्रस्थायित्वात् , शुभाशुभोत्कृष्टरसबन्धस्य च सर्वोत्कृष्टविशुद्धिसंक्लेशव्याप्यत्वात् । 'इयराण' त्ति इतरासां यासामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी क्षपकादित्रितयमध्ये एकोऽपि न भवति तासामित्यर्थः उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालो द्वौ समयौ ज्ञेयः, उत्कृष्टतोऽपि स्वस्थान उत्कृष्टविशुद्ध्यादेर्द्विसमयस्थायित्वात् । तथा 'णवरी'त्यादि, यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी क्षपक उपशमकः गुणाद्यभिमुखो वा न भवति, तासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ भवतीति । अनन्तरगाथाप्रतिपादितेऽर्थेऽपवादं व्यनक्ति-'तिमिस्सजोगेसु' ति औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्राऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेषु त्रिषु मिश्रयोगेषु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः 'समयो वा' वाकारस्य मतान्तरद्योतकत्वात् **मतान्तरेण** एकसमयो ज्ञेयः, **किमुक्तं भवति** ? औदारिकादिमिश्रयोगलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु बन्धकानां क्षपकत्वादिविशेषणविरहितत्वेऽपि **आचार्यान्तरमतानुरोधेन** तत्रोत्कृष्टरसबन्धस्य उत्कृष्टकाल एकसमयो भवति, एतन्मते मार्गणाचरमसमये एवोत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमात् ,अन्यथा द्वौ समयौ इति । तथा कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारिमार्गणायाश्च स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एक एव समयः, न तु द्वौ, मार्गणाचरमसमये एवोत्कृष्टरसबन्धोपलम्भात् । 'परिहाराईसु' त्ति परिहारविशुद्धिसंयम-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु यासां यशःकीर्तिनामादीनां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी

अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणो विद्यते, मतान्तरेणेति शेषः, तासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एक एव समयः, 'इहरा' इतरथा यदि अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरण एव तदुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामीति न मन्यते तर्हीति भावः, तासां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ। इति प्रत्येकं मार्गणासु उत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालप्रतिपत्त्यर्थं ग्रन्थकृता सापवाद उपायो दर्शितः। अथ स्वस्मृत्यर्थं किञ्चिद्विस्तरतो विवृणमः। तद्यथा—नरकौघमार्गणायां नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकजातिचतुष्काऽऽहारकद्विकस्थावरचतुष्काऽऽतपनामरूपाणां सप्तदशानां बन्धाभावात् त्र्युत्तरशतप्रकृतीनां बन्धः, इहानुभागबन्धप्ररूपणायां प्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमित्यष्टौ प्रकृतयो विवक्षिताः, अन्यथा सप्तकर्मणामेव प्रस्तुतत्वेन प्रकृतीनां त्र्युत्तरशतत्वानुपपत्तेः। तासु द्व्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ। उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात्।

सप्तमनरकमार्गणायां जिननाम्नोऽपि बन्धाभावात् द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां बन्धः, तासु एकाधिकशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्य तूत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात्।

[3]प्रथमादिनरकत्रय सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवरूपासु नवसु मार्गणासु पूर्वोक्तानां नरकद्विकाद्यातपनामपर्यन्तानां सप्तदशानां प्रकृतीनां बन्धाभावात् त्र्युत्तरशतप्रकृतयो बन्धमर्हन्ति, तासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, अत्र तदुत्कृष्टरसबन्धकानाम् अभिमुखत्वाद्ययोगात्।

चतुर्थादिषष्ठरूपासु तिसृषु नरकमार्गणासु अत्रोक्तानां नरकद्विकादीनां सप्तदशानां जिननाम्नश्च बन्धाभावात् द्व्युत्तरशतप्रकृतयो बध्यन्ते, आसामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, अनन्तरोक्तादेव हेतोः।

आनतादिनवमग्रैवेयकपर्यन्तासु त्रयोदशमार्गणासु नरकद्विकादीनां सप्तदशानां तिर्यग्द्विकोद्योतयोश्च बन्धो न विद्यते, ततः प्रकृतिशतमेवात्र बन्धमर्हति, तस्योत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, अत्र तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य गुणाद्यभिमुखत्वायोगात्।

तिर्यगोघ-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिमती-पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियरूपासु चतसृषु मार्गणासु आहारकद्विकजिननामरूपं प्रकृतित्रयं न बध्यते, अतः सप्तदशोत्तरशतप्रकृतय एवात्र बन्धमर्हन्ति, तासामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, अनन्तरोक्तादेव हेतोः।

[1]अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-[1]ऽपर्याप्तत्रसकाया[1]ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-[1]ऽपर्याप्तमनुष्य-[6]सर्वविकलेन्द्रिय[3][6]त्रसकायवर्जपञ्चस्थावरकायसर्वभेद[9]सर्वैकेन्द्रियभेदरूपासु एकोनषष्टिमार्गणासु देवद्विक-

नरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननामरूपाणां नवानां प्रकृतीनां बन्धाभावाद् एकादशोत्तर-शतप्रकृतीनां बन्धोऽत्रोपलभ्यते, तासामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्विसमयात्मकः, अत्र तदु-त्कृष्टरसबन्धकस्य गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् । नवरं सर्वतेजोवायुभेदेषु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रप्रकृतीनां बन्धाभावादष्टोत्तरशतप्रकृतयो ज्ञातव्याः ।

मनुष्यौघ–पर्याप्तमनुष्य-मनुष्ययोनिमत्यौदारिककाययोग-स्त्रीवेद-पुरुषवेदरूपासु षट्सु मार्ग-णासु विंशत्युत्तरशतलक्षणाः सर्वाः प्रकृतयो बन्धार्हाः, तासु सातवेदनीयादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामु-त्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः । तत्र सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमयक्षपकेण, स्त्रीवेदपुरुषवेदमार्गणयोस्तु अनिवृत्ति-करणे मार्गणाचरमसमये वर्तमानेन क्षपकेण, पञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कपराघातोच्छ्वासप्रश-स्तविहायोगतिस्थिरपञ्चकशुभध्रुवबन्ध्यष्टकसमचतुरस्रजिननामदेवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकरूपा-णामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य निवृत्तिबादरक्षपकेण तद्बन्धविच्छेदसमये निर्वर्त्त-नीयत्वात् । शेषाणामष्टाशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालो द्वौ समयौ, तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तादृग्विशुद्ध्या वा बध्यमानत्वात् ।

देवौघमार्गणायां सौधर्मेशानदेवलोकयोश्च देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्म-त्रिकविकलत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां बन्धानर्हत्वात् षडुत्तरशतं प्रकृतीनां बध्यते, तासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ भवति, तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य अत्र गुणाद्यभिमुख-त्वाभावात् ।

भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्करूपासु तिसृषु मार्गणासु अनन्तरोक्ता देवद्विकादिविकलत्रिकाव-सानाश्चतुर्दश जिननाम चेति पञ्चदशप्रकृतयो न बध्यन्ते, अतः पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनामेव बन्धः, तासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, अनन्तरोक्तादेव हेतोः ।

विजयादिषु पञ्चसु अनुत्तरदेवलोकेषु प्रत्येकं स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वमोहनीयाऽनन्तानु-बन्धिचतुष्कस्त्रीवेदनपुंसकवेदनरकद्विकतिर्यग्द्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजातिचतुष्काऽऽ-द्यवर्जसंहननपञ्चकाऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चकाऽशुभविहायोगतिस्थावरचतुष्कदुर्भगत्रिकाऽऽतपोद्योतनीचै-र्गोत्ररूपाणां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां बन्धाभावात् पञ्चसप्ततेः प्रकृतीनां बन्धोऽभिमतः, तासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तद्बन्धकस्य गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् सर्वासा-मुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानसंक्लेशेन तादृग्विशुद्ध्या वा संभवात् । स्वस्थानसक्लेशविशुद्ध्योश्चो-त्कृष्टतोऽपि द्विसामयिकत्वात् ।

पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रस-पर्याप्तत्रस-मनोयोगपञ्चक-वचनयोगपञ्चक-काययोगौघ नपुं-सकवेद-कषायचतुष्क-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्याहारिरूपासु पञ्चविंशतौ मार्गणासु सर्वा विंश-

त्यधिकशतलक्षणाः प्रकृतयो बन्धमर्हन्ति । तासां मध्ये ओघोक्तसमयमात्रकालानां त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः समयमात्रो भवति, शेषाणां सप्ताशीतेः प्रकृतीनां तूत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ भवति,भावना ओघवत् , तत्रापि नपुंसकवेदो लोभवर्ज-कषायत्रिकं चेति चतसृषु मार्गणासु सातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणामुत्कृष्टरसबन्धस्य समयप्रमाणो बन्धकालोऽनिवृत्तिकरणे मार्गणाचरमसमये प्राप्यमाणत्वात् बोध्यः ।

औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोर्बन्धानर्हत्वात् षोडशोत्तरशतं प्रकृतीनां बन्धार्हम् । तदुत्कृष्टरसबन्धकानां गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, **मतान्तरेण** तु एकः समयः,मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमात् ।

वैक्रियकाययोगमार्गणायां देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिक-रूपाश्चतुर्दशप्रकृतयो न बन्धमर्हन्ति, ततस्तत्र षडुत्तरशतप्रकृतीनां बन्ध उपलभ्यते, तासु उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयमात्रो भवति, तस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन जन्यत्वात् , शेषाणां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्ट-संक्लेशेन स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या वा बध्यमानत्वात् ।

वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामनन्तरोक्ता एव षडुत्तरशतप्रकृतयो बध्यन्ते, वैक्रियमिश्रयोगस्यापर्याप्तावस्थाभावित्वेन तत्र गुणाद्यभिमुखत्वायोगात् सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ भवति। **मतान्तरेण** सर्वासां षडुत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य उत्कृष्टो बन्धकालः समयमात्रो ज्ञेयः,एष च'णवरि'इत्यादिना प्रागेव दर्शितः,अस्मिन् मते अपर्याप्तावस्थाचरमसमये अनन्तरसमयभविष्यद्वैक्रिययोगिनामेव सर्वोत्कृष्टसंक्लेशविशुद्ध्यभ्युपगमात् तयोश्च वैक्रियमिश्रयोग-चरमसमये सद्भावात् ।

आहारककाययोगमार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिकं मिथ्यात्वं संज्वलनवर्जा द्वादशकषायाः स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकम् आतपनाम उद्योतनाम जातिचतुष्कमौदारिक-द्विकमाहारकद्विकं संहननषट्कम् आद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरचतुष्कं दुर्भग-त्रिकं नीचैर्गोत्रमिति चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां बन्धाऽसम्भवात् षट्षष्टेः प्रकृतीनां बन्धो जायते, तासां सर्वासामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, आहारकयोगिनो गुणाद्यभिमुखत्वाभावेन स्वस्थानसंक्लिष्टादेरेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् , स्वस्थानसंक्लेशविशुद्ध्योश्चोत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वात् ।

आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायामपि अनन्तरोक्तानां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां बन्धाभावात् षट्षष्टिरेव प्रकृतयो बध्यन्ते, तासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्विसमयमितो ज्ञेयः, अनन्तरोक्तादेव हेतोः । **मतान्तरेण** आसामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः समयमात्रो भवति,

एतन्मते आहारकमिश्रयोगस्य चरमसमयेऽनन्तरसमयभविष्यदाहारकयोगिन एवासामुत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमात् ।

कार्मणाऽनाहारिमार्गणयोः प्रत्येकमाहारकद्विकनरकद्विकयोर्बन्धाभावात् षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां बन्धोऽभिमतः, तत्रासां सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः समयमात्रः, कार्मणयोगस्यानाहारित्वस्य च चरमसमय एवोत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धयभ्युपगमेन तत्रैवोत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् , इह कार्मणयोगोऽनाहारित्वं च सकषायाणां ग्राह्यम् , केवलिनो रसबन्धाभावात् ।

अपगतवेदमार्गणायां नवनवतेः प्रकृतीनां बन्धाभावात् एकविंशतेः प्रकृतीनां बन्धो भवति नासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः समयमात्रः, तद्यथा—सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिरूपाणां तिसृणामुत्कृष्टरसस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्तिक्षपकेण, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकसंज्वलनचतुष्करूपाणामष्टादशानां चोत्कृष्टरसबन्धस्य उपशमश्रेणेः प्रतिपतताऽनन्तरसमये भविष्यत्सवेदिना निर्वर्तनीयत्वात् ।

मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-मिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु आहारकद्विकजिननामरूपाणां तिसृणां बन्धाभावात् सप्तदशोत्तरशतप्रकृतयो बध्यन्ते, तासूद्योतनाम्न उत्कृष्टरसस्योत्कृष्टबन्धकालः समयमात्रः, सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रसातवेदनीयपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कपराघातोच्छ्वाससुखगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेयशुभध्रुवबन्धाष्टकसमचतुरस्रसंस्थाननामदेवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, संयमाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः समयमितः, सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । इत्येवं पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः समयप्रमितो भवति, तद्व्यतिरिक्तानां द्व्यशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ भवति,स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशादिना बध्यमानत्वात् ।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघोपशमसम्यक्त्वलक्षणासु षट्सु मार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिकं मिथ्यात्वमोहनीयमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरचतुष्कं दुर्भगत्रिकमातपोद्योतनाम्नी नीचैर्गोत्रमित्येकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रथमद्वितीयगुणस्थानकयोर्बन्धार्हत्वेनात्र बन्धाभावात् एकाशीतिरेव प्रकृतयो बध्यन्ते, तासु चतुःसप्ततेरुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयो भवति, तच्चैवं-सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य मतिज्ञानादिषु पञ्चसु मार्गणासु सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्तिना क्षपकेण,उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां तादृशेनोपशमकेन बध्यमानत्वात् , तथा पञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कप-

राघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतिस्थिरपञ्चकशुभध्रुवबन्ध्यष्टकसमचतुरस्रनामजिननामदेवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकरूपाणामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य मतिज्ञानादिषु पञ्चसु मार्गणासु निवृत्तिबादरक्षपकेण; उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां तादृशेनोपशामकेन, ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्काऽसातवेदनीयकषायद्वादशकभयजुगुप्साशोकारतिपुरुषवेदाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तिनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातनामाऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योक्तषट्स्वपि मार्गणासु मिथ्यात्वाभिमुखेनोपचीयमानत्वात् । हास्यरतिमनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ ज्ञेयः, तद्बन्धकस्य गुणाद्यभिमुखत्वायोगात् ।

मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां मतिज्ञानादिमार्गणोक्तानां स्त्यानर्द्धित्रिकादिनीचैर्गोत्रपर्यवसानानामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनाम् अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणरूपकषायाष्टकमनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचलक्षणानां त्रयोदशानां च प्रकृतीनां बन्धाभावात् अष्टषष्टेः प्रकृतीनां बन्धाभ्युपगमः, तासु सातवेदनीयादीनां तिसृणामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकसमयः, सूक्ष्मसम्परायचरमसमयवर्त्तिना क्षपकेण निर्वर्तनीयत्वात् । पञ्चेन्द्रियजात्याद्याहारकद्विकावसानानामनन्तरमार्गणाप्रतिपादितानामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामपि उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो **बन्धकाल एकः समयः** निवृत्तिबादरक्षपकेणोपरच्यमानत्वात् । अनन्तरोक्तासु मतिज्ञानादिमार्गणासु व्यावर्णिताभ्यो ज्ञानावरणाद्यन्तरायपञ्चकावसानाभ्यो द्विचत्वारिंशतः प्रकृतिभ्यः कषायाष्टकवर्जानां ज्ञानावरणादीनां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयमात्रो भवति, अयताभिमुखेन बध्यमानत्वात् । हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, गुणाद्यभिमुखस्य तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वाभावात् ।

संयमौघसामायिकछेदोपस्थापनीयरूपासु तिसृषु मार्गणासु सर्वं मनःपर्यवमार्गणावद् ज्ञेयम्, नवरं ज्ञानावरणादीनां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः समयमात्रः मिथ्यात्वाभिमुखप्रमत्तापेक्षया, तथा सामायिकछेदोपस्थापनीयमार्गणयोः सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्त्तिरूपाणां तिसृणामुत्कृष्टरसबन्धस्य एकसमयात्मक उत्कृष्टबन्धकालोऽनिवृत्तिकरणचरमसमयक्षपकापेक्षया ज्ञेयः ।

परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां मनःपर्यवज्ञानमार्गणावत् स्त्यानर्द्धित्रिकादिवज्रर्षभनाराचान्तानां द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां बन्धाभावात् अष्टषष्टिः प्रकृतयो बन्धार्हाः, तासु '......जस सायाणि ॥ उच्चवणिदितसचउगपरघूसासुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइ-जिणसुरविउवाहारजुगलाणि ॥' इति गाथोक्तानां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, स्वस्थानविशुद्धतमेन निर्वर्तनीयत्वात्, **मतान्तरेण** एकसमयः, एतन्मते तदुत्कृष्टरस-

स्यानन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणेनैव बध्यमानत्वात् । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कासातवेदनीयसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साशोकारतिपुरुषवेदाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तिनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातनामाऽन्तरायपञ्चकरूपाणां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयात्मकः छेदोपस्थापनीयसंयमाभिमुखेन निर्वर्तनीयत्वात्, परिहारविशुद्धिकानामनन्तरं मिथ्यात्वादिगमनाऽभावेन छेदोपस्थापनीयसंयमाभिमुखस्यैव संक्लिष्टत्वोपलम्भात् । हास्यरत्योस्तु द्वौ समयौ, तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वात् ।

देशविरतिमार्गणायामनन्तरमार्गणोक्ताभ्यो यशःकीर्त्तिनामादिभ्यो द्वात्रिंशतः प्रकृतिभ्यः त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयो ज्ञेयः, संयमाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । आहारकद्विकस्यात्र बन्धाभावात् त्रिंशतः प्रकृतीनामेव ग्रहणम् । अनन्तरमार्गणोक्ता ज्ञानावरणपञ्चकादयश्चतुस्त्रिंशत् प्रकृतयः प्रत्याख्यानावरणचतुष्कं चेति अष्टात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, मिथ्यात्वाभिमुखेनोपचीयमानत्वात् । हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालो द्वौ समयौ, तस्य स्वस्थानसंक्लेशेन जन्यत्वात् । इत्यत्र संभाव्यमानबन्धानां सप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टबन्धकालविचारणा । शेषाणां स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वमोहनीयाऽऽद्यकषायाष्टकस्त्रीवेदनपुंसकवेदनरकद्विकतिर्यग्द्विकजातिचतुष्काऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चकाऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चकाऽप्रशस्तविहायोगतिस्थावरचतुष्कदुर्भगत्रिकाऽऽतपोद्योतनीचैर्गोत्रौदारिकद्विकमनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचाऽऽहारकद्विकरूपाणां पञ्चाशतः प्रकृतीनां देशविरतेर्बन्धाभावादेव नात्र तासां रसबन्धकालविचारणा । तद्यथा—व्यापकीभूतप्रकृतिबन्धाभावात् तद्व्याप्यस्य रसबन्धस्याप्यभावः, तदभावे च तद्व्याप्यस्योत्कृष्टरसबन्धस्याप्यभावस्तदभावाच्च सुतरां विरता पञ्चाशतः प्रकृतीनामत्रोत्कृष्टरसबन्धकालविचारणेति ।

सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादादीनामभावात् मिथ्यात्वादिहेतुकाः स्त्यानर्द्धित्रिकनिद्राद्विकासातवेदनीयमोहनीयषड्विंशतिकयशःकीर्तिवर्जनामकर्मप्रकृतिसप्ततिकनीचैर्गोत्ररूपाः त्र्युत्तरशतप्रकृतयो नैव बध्यन्ते, अतः सप्तदशानां प्रकृतीनामेवात्र बन्धोऽभिमतः, तासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः समयप्रमाणो भवति, यशःकीर्तिनामादीनां तिसृणामुत्कृष्टरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमयवर्त्तिनाऽनन्तरसमयभविष्यत्क्षीणकषायछद्मस्थवीतरागेण क्षपकेण, ज्ञानावरणादीनां चतुर्दशानां चोपशमश्रेणेरवरोहता मार्गणाचरमसमयवर्त्तिनाऽनन्तरसमयभविष्यद्बादरकषायोपशमकेन क्रियमाणत्वात् ।

असंयतमार्गणायाम् आहारकद्विकस्य बन्धाभावात् अष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनां बन्धः, तासु यशःकीर्त्तिनामसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रशुभध्रुवबन्ध्यष्टकसमचतुरस्रजिननामदेवद्विकवैक्रियद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतिस्थिरादिपञ्चकरूपाणां त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृ-

ष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, संयमाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः एकसमयात्मकः,सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकाऽसातवेदनीयमोहनीयषड्विंशतिकनरकद्विकतिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकजातिचतुष्कौदारिकद्विकसंहननषट्काऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चकाऽशुभवर्णादिचतुष्काऽशुभविहायोगतिस्थावरदशकाऽऽतपोपघातनीचर्गोत्राऽन्तरायपञ्चकरूपाणां सप्ताशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तदुत्कृष्टरसबन्धकानामत्र गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् ।

कृष्ण-नील-कापोतलेश्यारूपासु तिसृषु मार्गणासु अष्टादशोत्तरशतप्रकृतयो बध्यन्ते, आहारकद्विकस्य बन्धाभावात् । तत्र कृष्णलेश्यामार्गणायामुद्योतवर्जसप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनाम् , नीलकापोतलेश्यामार्गणयोश्च सर्वासामष्टादशोत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तदुत्कृष्टरसबन्धकानां गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् । उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः कृष्णलेश्यामार्गणायामेकसमयात्मको भवति, सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् ।

तेजोलेश्यामार्गणायां विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकनरकद्विकानां बन्धाभावात् द्वादशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धार्हाः. तत्र...'जससायाणि ॥ उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुरविउवाहारजुगलाणि॥' इति यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, गुणाभिमुखत्वविरहितेन स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेन निर्वर्तनीयत्वात् । **मतान्तरेण** आसामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयप्रमाणः,एतन्मते अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणेनैवासामुत्कृष्टरसबन्धस्य जन्यत्वात् । ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकाऽसातवेदनीयमोहनीयषड्विंशतिकतिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकैकेन्द्रिजात्यौदारिकद्विक-संहननषट्काऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चकाऽशुभवर्णादिचतुष्काऽशुभविहायोगति-स्थावरनामा-ऽस्थिरषट्का-ऽऽतपोद्योतोपघात-नीचैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकरूपाणामशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ,तदुत्कृष्टरसबन्धकानां गुणाद्यभिमुखत्वायोगात् ।

पद्मलेश्यामार्गणायां नरकद्विकजातिचतुष्कस्थावरचतुष्काऽऽतपरूपाणामेकादशानां बन्धाभावात् नवोत्तरशतप्रकृतयो बन्धमर्हन्ति । तत्र यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः समयमात्रः अथवा द्वौ समयौ, अत्र हेत्वादिविचारणा तेजोलेश्यावत् । एकेन्द्रियस्थावराऽऽतपानामत्र बन्धाभावात् , अनन्तरोक्ताभ्यो ज्ञानावरणपञ्चकादिभ्योऽशीतेः प्रकृतिभ्यः सप्तसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, अत्र हेतुस्तथैव ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां नरकद्विकतिर्यग्द्विकजातिचतुष्कस्थावरचतुष्काऽऽतपोद्योतरूपाणां चतुर्दशानां बन्धाभावात् षडुत्तरशतप्रकृतय एव बन्धयोग्याः, तासु 'जससायाणि ॥ उच्चपणिंदितसचउगपरघूससुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुरविउवाहारजुगलाणि ॥' इति यशःकीर्तिनामादीनां

द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः; क्षपकेण जन्यत्वात् । शेषाणां चतुःसप्ततेरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्यादिना बध्यमानत्वात् ।

अभव्यानामवस्थितप्रथमगुणस्थानकत्वेन चतुर्थादिगुणस्थानकभाविबन्धयोः आहारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धाभावात् अभव्यमार्गणायां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धमर्हन्ति, तासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालो द्वौ समयौ, अभव्यानां सर्वदैव गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् ।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामेकाशीतिः प्रकृतयो बन्धार्हाः, मत्यादिज्ञानमार्गणासु नामग्राहं प्रतिपादितानां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां बन्धाभावात् । तत्र 'जससायाणि॥ उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुरविउव्वाहारजुगलाणि'॥ इति यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टः काल एकसमयः, **मतान्तरेण** द्वौ समयौ भवति, अत्र हेतुस्तेजोलेश्यावत् । मत्यादिज्ञानमार्गणासु नामग्राहं प्रदर्शितानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयः, मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात्, हास्यरतिनरद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तदुत्कृष्टरसबन्धकानां गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् ।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि स्त्यानर्द्धित्रिकादीनामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां बन्धाऽनर्हत्वात् एकाशीतेः प्रकृतीनां बन्धः । तासु अनन्तरमार्गणाप्रतिपादितानां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः समयमात्रः, तद्बन्धकस्य क्षपकत्वात् । मत्यादिज्ञानमार्गणासु नामग्राहं दर्शितानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनां हास्यरतिमनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां चेति उक्तशेषाणामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरधस्तनगुणस्थानगमनविरहेण तदभिमुखत्वायोगात्, स्वस्थाने संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायमानत्वादिति भावः ।

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायां मतिज्ञानमार्गणोक्ताः स्त्यानर्द्धित्रिकादय एकोनचत्वारिंशत् आहारकद्विकं जिननाम चेति सर्वसंख्यया द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनां बन्धायोग्यत्वात् अष्टसप्ततेः प्रकृतीनां बन्धः । तत्र [५]ज्ञानावरणपञ्चकस्त्यानर्द्धित्रिकवर्जं दर्शनावरणषट्क[६] [१२]कषायद्वादशक [२]शोकारति[२]भयजुगुप्सा[१]पुरुषवेदा[१]ऽसातवेदनीया[४]ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्का ऽस्थिरा-[१]ऽशुभा-[१]ऽयशःकीर्त्यु[१]-[१]पघाता-ऽन्तरायपञ्चकरूपाणां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयः, मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । तथा यशःकीर्त्तिनामसातवेदनीयोच्चैर्गोत्रपञ्चेन्द्रियजातित्रसचतुष्कपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतिस्थिरपञ्चकशुभध्रुवबन्ध्यष्टकसमचतुरस्रसंस्थाननामरूपाणां पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धस्योत्कृष्टः कालः समयमात्रः, सम्यक्त्वाभिमुखेन जन्यत्वात् । देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपि उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एक एव समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन मनु-

ण्येण तिरश्चा वा बध्यमानत्वात् । औदारिकद्विकमनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचानामपि एक एव समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन देवेन मतान्तरेण तादृशेन नारकेणापि जन्यत्वात् । हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य गुणाद्यभिमुखत्वायोगात् ।

सास्वादनमार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयनपुंसकवेदनरकद्विकजातिचतुष्कस्थावरचतुष्कसेवार्त्तसंहननहुंडकसंस्थानाऽऽतपाऽऽहारकद्विकजिननामलक्षणानामष्टादशानां प्रकृतीनां बन्धानभ्युपगमात् द्व्युत्तरशतं प्रकृतयो बन्धार्हाः, तासामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, मिथ्यात्वं प्रति प्रस्थितानां सर्वेषां तद्बन्धकानां संक्लिष्टत्वेनाऽभिमुखत्वादिविशेषानभ्युपगमात् । मतान्तरेण मिथ्यात्ववर्जाऽशुभध्रुवबन्धिन्यो द्विचत्वारिंशत् असातवेदनीयं शोकारती स्त्रीवेदः तिर्यग्द्विकमऽप्रशस्तविहायोगतिः अस्थिराऽशुभे अयशःकीर्त्तिनाम कीलिकासंहनननाम वामनसंस्थाननाम दुर्भगत्रिकं नीचैर्गोत्रमिति अष्टपञ्चाशतोऽशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयप्रमितो भवति, एतन्मते मिथ्यात्वाभिमुखस्याऽनन्तरसमयभविष्यन्मिथ्यादृष्टेरेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वसंभवात् । शेषाणां चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ इति ।

असंज्ञिमार्गणायामाहारकद्विकजिननामवर्जं सप्तदशोत्तरं प्रकृतिशतं बध्यते । तत्र सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, प्रकृतमार्गणायां जीवानामत्रस्थितगुणस्थानकवत्त्वेन गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् ॥३०७-३०९॥ इति विवृतं मार्गणासु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालप्रमाणम् । इत्येवं मार्गणासु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्योत्कृष्टकालप्ररूपणां समाप्य अथ तास्वेव स्वस्वबन्धार्हाणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं व्याचिख्यासुराह—

दुपणिंदितसपुमेसुं असंयमाचक्खुचक्खुभवियेसुं ।
तह सण्णिम्मि जहण्णो कालो अगुरुअणुभागस्स ॥३१०॥
भिन्नमुहुत्तं हवए तित्थयरसुहधुवबंधिपयडीणं ।
समयो आऊ वज्जिअ सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥३११॥

(प्रे०) '**दुपणिंदि०**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेदा-ऽसंयमा ऽचक्षुर्दर्शन-चक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञिरूपासु दशसु मार्गणासु '**तित्थ**' इत्यादि, जिननाम्नः तैजसकार्मणशरीरप्रशस्तवर्णादिचतुष्कागुरुलघुनिर्माणाख्यानामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां चेति नवानां प्रकृतीनाम् '**अगुरुअणुभागस्स**' गुरुः उत्कृष्टः न गुरुः अगुरुः स चासौ अनुभागः अगुर्वनुभागः तस्य, अनुत्कृष्टानुभागस्येत्यर्थः, उत्कृष्टात् रसादनन्तभागादिना हीनो यावज्जघन्यरमः स सर्वोऽपि रसोऽत्रानुत्कृष्टानुभागो गीयते, तस्य '**कालो**' त्ति बन्धकालः कीदृशः स ? इत्याह— '**जहण्णो**' त्ति जघन्यः अल्पिष्टोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवति । पञ्चेन्द्रियौघादिषु दशसु मार्गणासु

जिननामादीनां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तमितो भवतीति अक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्—अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोर्जिननामादीनां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः ओघप्ररूपणोक्तरीत्याऽऽगच्छति, तद्यथा—कश्चित् तद्भवसिद्धिकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्जीवः उपशमश्रेणिमारोहन् निवृत्तिबादरगुणस्थानके जिननामादीनामबन्धको भवति, ततः क्रमादुपशान्तमोहवीतरागत्वमनुभूय एकादशस्य गुणस्थानकस्याऽन्तर्मुहूर्तात्मिकाया अद्धायाः क्षयेण श्रेणेः प्रतिपतन्नयमुपशामकमहात्मना निवृत्तिबादरगुणस्थानके आसां नवानां जिननामादीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसोपेतं बन्धमारभते, उत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात् । ततः सोपानाऽवरोहणक्रमेण प्रमत्तगुणस्थानकं यावदवरोहति, तत्र चाऽन्तर्मुहूर्तं स्थित्वाऽप्रमत्तगुणस्थानकं व्रजति पुनरन्तर्मुहूर्तेन प्रमत्तत्वमासादयति एवं संख्येयवारं षष्ठसप्तमगुणस्थाने स्पृशन् तत्र जिननामादीनामनुत्कृष्टरसं चिनोति, ततोऽचिरात् क्षपकश्रेणिमारोहन् निवृत्तिबादरषष्ठभागद्विचरमसमये तदनुत्कृष्टरसस्याऽबन्धं करोति, तदेवमस्य महात्मनः श्रेणिद्वयाऽन्तरालेऽन्तर्मुहूर्तं यावज्जिननामादीनामनुत्कृष्टरसबन्धः प्रवर्तते । न चोपशमश्रेण्यवरोहणानन्तरं प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणयोः षष्ठसप्तमगुणस्थानयोः संख्यातवारं स्पर्शनया जिननामादीनामनुत्कृष्टरसबन्धकालस्य संख्येयानि अन्तर्मुहूर्तानि भविष्यन्ति,षष्ठादिगुणस्थानके नैरन्तर्येण तद्बन्धप्रवर्त्तनादिति वाच्यम् , संख्यातानां षष्ठसप्तमगुणस्थानकसत्कानामन्तर्मुहूर्तानां संमिलनेऽपि अन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वाभ्युपगमात् , षष्ठादिगुणस्थानकसत्कान्तर्मुहूर्तानां प्रत्येकं लघुत्वात् अत्रोक्तस्य चान्तर्मुहूर्तस्य बृहत्तरत्वादिति भावः । न च प्रभूतानामन्तर्मुहूर्तानां सम्मिलने एकमेवान्तर्मुहूर्तमिति कथं श्रद्धातुं शक्यते ? इति वाच्यम्, अष्टमादिद्वादशपर्यन्तानां गुणस्थानकानां प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकत्वेऽपि सर्वेषां पिण्डीकृतस्याऽपि कालस्याऽन्तर्मुहूर्तमितत्वादित्यलम् ।

पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसकायौघ-संज्ञिरूपासु तिसृषु मार्गणासु जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्त्तमनन्तरोक्तनीत्याऽऽयाति । अष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां तु मार्गणाजघन्यकायस्थितिमाश्रित्येति, किमुक्तं भवति ? कश्चित् प्रतनुपुण्यप्राग्भारो जन्तुः पञ्चेन्द्रियादिषूत्पद्य क्षुल्लकभवमितमन्तर्मुहूर्तात्मकं स्वायुर्यावदासामनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा मार्गणान्तरं गच्छति तदा ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते । ननु जिननामवदासामपि श्रेणिद्वयाऽन्तरालसत्काऽन्तर्मुहूर्तं कुतो न गृह्यते ?, उच्यते- तदपेक्षया क्षुल्लकभवसत्कान्तर्मुहूर्तकालस्याऽल्पीयस्त्वात् जघन्यकालप्ररूपणायां संभवे हि अल्पतरकालस्य बृहत्तरस्य ग्रहणाऽनौचित्यात् ।

पर्याप्तत्रसपर्याप्तपञ्चेन्द्रियपुरुषवेदरूपासु तिसृषु मार्गणासु जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः श्रेणिद्वयान्तरालमाश्रित्योपपादनीयः । अष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां त्वनुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्त-

मुहूर्तात्मकः कालः मार्गणाजघन्यकायस्थितिमाश्रित्य श्रेणिद्वयान्तरालमाश्रित्य वेति उभयथाऽप्यन्त-र्मुहूर्तं प्राप्यते, मार्गणाजघन्यकायस्थितेः श्रेणिद्वयान्तरालजघन्यकालस्य च प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । ततोऽत्र जघन्यकालप्ररूपणायां यल्लघुतरं भवेत्तदेवान्तर्मुहूर्तं ग्राह्यम्। असंयममार्गणायां जिननामा-दीनां नवानामनुत्कृष्टरसबन्धजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वमेवमुपपादनीयम्, तद्यथा—कश्चिज्जन्तुर्देश-विरतेः संयमाद् वाऽनाभोगेन प्रतिपत्याऽसंयतोऽविरतसम्यग्दृष्टिर्भवति, अन्तर्मुहूर्तं यावत् तुर्य-गुणस्थानके स्थित्वाऽचिरादेव पुनर्देशविरतिं संयमं वा स्वीकरोति, तस्य जिननामादीनामनुत्कृष्ट-रसबन्धोऽयतावस्थायामन्तर्मुहूर्तं यावद् भवति, ततः परं देशविरत्यादौ गमनात् । आभोगेन देश-विरत्यादेः प्रतिपतितस्य पुनस्तद्गुणप्रतिपत्तौ यथाप्रवृत्तकरणाऽपूर्वकरणात्मकं करणद्वयमवश्यं करणीयं भवति, आभोगेन पतितस्य करणद्वयमकृत्वा तद्गुणप्रतिपत्त्यनभ्युपगमात् । तथा चोक्तं—**कर्मप्रकृतिचूर्णौ उपशमनाकरणे**—'अह पुण आभोएण देसविरतितो विरतितो वा वि पडिओ आभोएणं मिच्छत्तं गंतु पुणो देसविरतिं वा विरतिं वा पडिवज्जेति अन्तोमुहुत्तेण वा विगिट्ठेण वा कालेण तस्स पडिवज्जमाणस्स एयाणि चेव करणाणि णियमा काऊण पडिवज्जियव्वं।' ननु जिननामा-दीनां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य जघन्यो बन्धकालः समयप्रमाणः कुतो न भवति ? उच्यते—अनुत्कृष्टरसबन्धस्य समयात्मको जघन्यकालोऽत्र प्रकारद्वयेन प्राप्यते, कश्चिदुत्कृष्टरसं बद्ध्वा समयं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति पुनरुत्कृष्टमिति उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालेऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य एक-समयः कालो भवतीति प्रथमप्रकारः । समयं यावदनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्ध-सम्भवेन तद्बन्धाद् विरमति, तदाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य एकसमयात्मको जघन्यः काल आयाति । प्रकृते जिननामादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमये संभवेन द्विरुत्कृष्टरसबन्धाभावः, तदभावे च कुतस्तदन्तरालेऽनुत्कृष्टरसबन्धावकाशः, अतो न प्रथमेन प्रकारेण समयप्रमाणता जघन्यरसबन्धकालस्य भवितुमर्हति जिननामादीनाम् । तथा त्रसनामादीनां प्रतिपक्ष-भूतस्थावरनामादिवत् नाऽऽसां जिननामादीनां प्रतिपक्षभूताः प्रकृतयो विद्यन्ते येन तद्बन्धसद्भावेन आसां समयमात्रोऽनुत्कृष्टरसोपेतो बन्धो भूत्वा विरमेत् अतो द्वितीयेनाऽपि प्रकारेण न समयप्रमा-णता जिननामादीनां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धजघन्यकालस्येति । **'सेसाणं'** ति उक्त-शेषाणां पञ्चेन्द्रियौघादिषु नवसु मार्गणासु एकादशोत्तरशतप्रकृतीनामसंयममार्गणायां च नवोत्तरशत-प्रकृतीनाम्, तत्राऽऽहारकद्विकबन्धायोगात् अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयो भवति, **अत्रेयं घटना**—त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य समयप्रमाणः कालः प्रकार-द्वयेन भवति, **तद्यथा**—तासामुत्कृष्टरसं बद्ध्वा समयं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति पुनः कषायप्रकर्षा-दुत्कृष्टं स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्तनादित्येवमुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयमात्रोऽ-नुत्कृष्टरसबन्धकालः प्राप्यते इति प्रथमः प्रकारः । उत्कृष्टरसं बध्नन् समयमनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा मार्गणान्तरं व्रजति तमाश्रित्याऽसंयमाऽचक्षुर्भव्यमार्गणावर्जसप्तमार्गणास्वेकसमयः प्राप्यते तदनुत्कृष्टरसबन्धस्येति

द्वितीयः प्रकार इति । अध्रुवबन्धिनीनामष्टषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य समयमात्रः कालः समयं यावदनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा तद्बन्धं करोति,तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धमारभते,मार्गणान्तरं वा व्रजति तमाऽऽश्रित्याऽऽगच्छति । समयं यावद् बन्धं कृत्वा कालकरणेन बन्धविच्छेदात् समयप्रमाणः कालो ज्ञेयः आहारकद्विकस्येति । 'आउवज्जिअ' त्ति आयुषामनुत्कृष्टरसबन्धजघन्यकालस्य प्रागुक्तत्वात् तद्वर्जसप्तकर्मोत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धजघन्यकालप्ररूपणमत्रोत्तरत्र च ज्ञेयम् ॥३१०-३११॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं दर्शयति—

ओरालमीसजोगे धुवसुरविउवदुगउरलतित्थाणं ।
भिन्नमुहुत्तं अहवा समयो समयोऽत्थि सेसाणं ॥३१२॥

(प्रे०) '**ओरालमीस०**' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकपञ्चाशत् प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यो, देवद्विकं वैक्रियद्विकमौदारिकशरीरनाम जिननाम चेति सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालः '**भिन्नमुहुत्त**' ति अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणो भवति, रसबन्धप्रस्तावे प्रस्तुतमार्गणायास्तावत्कालप्रमाणत्वात् तत्र तत्तद्बन्धकानां मार्गणावसानं यावदनुत्कृष्टरसस्यैव बन्धसद्भावाच्च । ननु औदारिकादिमिश्रकाययोगमार्गणासु मार्गणाचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमात् कुतोऽत्रोच्यते मार्गणावसानं यावदनुत्कृष्टरसस्यैव बन्धसद्भावादिति ? "णवरि समयो व जेट्ठो सव्वाण गुरू तिमिस्सजोगेसु" इति वचनेनौदारिकादिमिश्रकाययोगमार्गणासु तच्चरमसमये उत्कृष्टरसबन्धोपलम्भात् समयोनमेवान्तर्मुहूर्तं कालोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य वक्तुमुचित इति चेत् । अत्रोच्यते-औदारिकादिमिश्रमार्गणासु यो बन्धको मार्गणाचरमसमये स्वबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं बध्नाति, तस्येतरापेक्षया मिश्रावस्थासत्कान्तर्मुहूर्तं दीर्घतरं भवति, ततोऽनुत्कृष्टरसबन्धोऽपि तस्य चिरं प्रवर्तते इतरस्य मार्गणावस्थानं यावदनुत्कृष्टरसबन्धकस्य तु तल्लघुतरमिति । जघन्यकालमानस्य प्रस्तुतत्वात् मार्गणाचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धकमाश्रित्यात्र नोच्यतेऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालमानम् , मार्गणाद्विचरमसमयं यावत्प्रवर्त्तमानस्य तदनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालस्य दीर्घतरत्वात् । ततोऽत्र युक्तमुक्तमस्माभिर्मार्गणावसानं यावदनुत्कृष्टरसस्यैव बन्धसद्भावात् , आसां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः समयोनमन्तर्मुहूर्तमिति न वक्तव्यं किन्तु अन्तर्मुहूर्त्तमेवेति तात्पर्यम् । '**अहवा समयो**' अथवाशब्दस्य मतान्तरद्योतनपरत्वात् **मतान्तरानुरोधेन** प्रागुक्तानां ध्रुवबन्ध्यादीनां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयो भवति, कुतः ? अस्मिन् मते न केवलं मार्गणाचरमसमये किन्तु तदन्तराऽपि उत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमात् , ततो यदा कश्चिदौदारिकमिश्रकाययोगी पूर्वोक्तानां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनां समयं समयौ वोत्कृष्टरसं बद्ध्वा समयं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति पुनरुत्कृष्टं तदोत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभावी समय-

मात्रोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः प्राप्यते, अस्मिन् मते आन्तर्मुहूर्तातिमिकायामौदारिकादिमिश्रकाययोगावस्थायाम् अनेकशः परावृत्त्योत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनस्याविरोधात् , एवं सामयिकानुत्कृष्टरसबन्धानन्तरं मार्गणापरावर्त्तनादपि । 'समयोऽत्थि संसाणं' ति उक्तशेषाणां हास्यरती शोकारती स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदाः सातासाते गोत्रद्विकं तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं जातिपञ्चकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननपट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकं पराघातोच्छ्वासातपोद्योतनामानीति एकोनषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः समयमात्रो भवति, तासामध्रुवबन्धित्वेन तत्तत्प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्यापि एकसमयमात्रत्वात् । व्यापकीभूतस्य प्रकृतिबन्धकालस्य समयप्रमाणत्वे तद्व्याप्यस्य रसबन्धकालस्य समयप्रमाणता सुलभा, तथा सति तद्व्याप्यस्यानुत्कृष्टरसबन्धकालस्य समयप्रमाणता तु नितरां सुलभेति ॥३१२॥

अथ वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं प्रचिकटयिषुराह—

वेउव्वमीसजोगे धुवपणपरघाइउरलतित्थाणं ।
भिन्नमुहुत्तं अहवा समयो समयोऽत्थि संसाणं ॥३१३॥

(प्रे०) 'वेउव्व' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां 'धुव' त्ति ध्रुवबन्धिन्यो ज्ञानावरणादय एकपञ्चाशत् , प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन वर्णादिचतुष्कस्य द्विर्गणनात् 'पणपरघाइ' त्ति पराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाः पराघातनामादयः पञ्च, औदारिकशरीरनाम, जिननाम चेति सर्वसंख्ययाऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तम् , मतान्तरेण एकसमयो ज्ञेयः, वैक्रियमिश्रकाययोगो देवनारकाणामऽपर्याप्तावस्थाभावी प्रस्तुतः, देवनारकाः तथाभवस्वाभाव्यादेव पर्याप्तप्रायोग्यं बादरप्रायोग्यं चैव कर्म निर्वर्तयन्ति, ततः पराघातादिप्रकृतिपञ्चकं नैरन्तर्येण वैक्रियमिश्रयोगे बध्यमानमुपलभ्यते, ततो ध्रुवबन्धिवदस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तादिरायाति । औदारिकशरीरनामाऽपि सर्वैर्देवनारकैजिननाम च विशिष्टसम्यक्त्ववद्भिस्तैर्नैरन्तर्येण बध्यते इति अन्तर्मुहूर्तादिमानता तदनुत्कृष्टरबन्धजघन्यकालस्येति । अत्र हेत्वादयोऽनन्तरोक्तौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणावद् ज्ञेयाः ।

'संसाणं' ति उक्तशेषाणां हास्यरती शोकारती त्रयो वेदाः द्वे वेदनीये गोत्रद्विकं तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकमेकेन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं त्रसनाम स्थिरषट्कं स्थावरनामाऽस्थिरषट्कम् आतपोद्योतनाम्नीत्यष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, अध्रुवबन्धित्वेन तत्प्रकृतिबन्धजघन्यकालस्यापि समयमात्रत्वात् ॥३१३॥ अथ आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां बध्यमानप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यं कालं व्यनक्ति—

तेरहतित्थाईणं समयो आहारमीसजोगम्मि ।
सेसाण मुहुत्तंतो अहवा समयो मुणेयव्वो ॥३१४॥

(प्रे०) 'तेरह' इत्यादि, आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां "¹तित्थं ¹।।साय ¹थिर ²हुस्सदुग ¹जस ¹असाय ²अरइदुग ²अथिरदुग ¹अजसा ।' इतिगाथोक्तानां सातवेदनीयादीनां द्वादशानां जिननाम्नश्चानुत्कृष्टरस-बन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, तत्र सातवेदनीयादीनां परावर्तमानत्वेन एकसामयिकतद्बन्धान-न्तरं समयान्तरे तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवेन तद्बन्धसम्भवात् तथा जिननाम्नो मार्गणाचरम-समयेऽभिनवबन्धस्य प्रवर्त्तनात् समयप्रमाणो जघन्यकालः । 'सेसाण' उक्तशेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से पुरुषवेदो देवद्विक-पञ्चेन्द्रियजाति - वैक्रियद्विक-समचतुरस्रसंस्थाननामा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क -प्रशस्तविहायोगति--पराघातोच्छ्वासनामोपघात-त्रस-चतुष्क-सुभगत्रिकाणि अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य उच्चैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकमिति त्रिपञ्चाशतः प्रकृती-नामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, मार्गणाजघन्यकायस्थितिप्रमाणो भवतीत्यर्थः आहारकमिश्रयोगजघन्यकायस्थितिवर्ता नैरन्तर्येण तदनुत्कृष्टरसबन्धोपलम्भात् । मतान्त-रेण एकसमयोऽनन्तरोक्तानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालो भवति, अस्मिन् मतेऽनुत्कृष्टरस-बन्धादुत्कृष्टरसबन्धः, उत्कृष्टाच्चाऽनुत्कृष्ट इति परावृत्त्या रसबन्धाप्रतिषेधात् , ततः कश्चित् समयं समयौ वोत्कृष्टरसं बद्ध्वाऽनुत्कृष्टरसं समयं यावद् बध्नाति पुनरध्यवसायविशेषादुत्कृष्टमिति उत्कृष्ट-रसबन्धद्वयान्तरालभावी समयमात्रो जघन्यकालोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य प्राप्यत इति ॥३१४॥

अथ ज्ञानादिमार्गणासु सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धजघन्यकालं प्रचिक-टयिषुराह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते उवसमे भवे समयो ।
चउदससायाइमणुससुरुरलविउव्वदुगवइराणं ॥३१५॥
सेसाण मुहुत्तंतो णेयो अण्णाणजुगलमिच्छेसुं ।
भिन्नमुहुत्तं सुहधुवबंधीणियराण समयोऽत्थ ॥३१६॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघो-पशमसम्यक्त्वरूपासु षट्सु मार्गणासु सातवेदनीयस्थिरद्विकहास्यरतियशःकीर्तिनामाऽसातवेदनीयाऽ-रतिशोकाऽस्थिरद्विकाऽयशःकीर्तिनामाऽऽहारकद्विकलक्षणानां चतुर्दशानां सातवेदनीयादीनां मनुष्य-द्विकदेवद्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकवज्रर्षभनाराचानां चाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयो भवति । भावना त्वेवम्-सातवेदनीयादीनां द्वादशानां परावर्त्तमानत्वात् अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्य-काल एकसमय आयाति । आहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयस्त्वेवम्-कश्चिद् विष-

यादिविरक्तः प्रमत्तमुनिरध्यवसायविशुद्धयाऽप्रमत्ताख्यं सप्तमं गुणस्थानं गत्वा समयं यावदाहारकद्विक-मनुत्कृष्टरसोपेतं बद्ध्वा तत्क्षणमेव आयुःक्षयाद् दिवं व्रजति, तमाश्रित्याऽऽयाति, उत्कृष्टरसबन्धस्य निवृत्तिबादरक्षपकस्वामिकत्वात् देवानां भवस्वाभाव्येन तद्बन्धाभावाच्च। मनुष्यद्विकौदारिकद्विकव-ज्रर्षभनाराचानामुत्कृष्टरसबन्धद्वयाऽन्तराले समयमनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् प्रकृतमार्गणागतदेवाना-श्रित्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयो भवति। सुरद्विकवैक्रियद्विकयोस्तूपशमश्रेणे-रवरोहन् समयं यावद् तद्बन्धं विधाय दिवंगतस्तमाश्रित्य समयमात्रोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते। '**सेसाण मुहुत्तंतो**' त्ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकं स्त्यानर्द्धित्रिकवर्जदर्शनावरणषट्कमाद्य-वर्जाः द्वादशकषाया भयजुगुप्से पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिनामसमचतुरस्रसंस्थानाऽप्रशस्तवर्णादिच-तुष्कप्रशस्तविहायोगतित्रसचतुष्कसुभगत्रिकपराघातोच्छ्वासोपघातजिननामानि अष्टौ शुभध्रुवबन्धि-न्य उच्चैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकञ्चेति अष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्त-र्मुहूर्तं भवति। **तद्यथा**-उपशान्ताद्धाक्षयेणोपशमश्रेणेः प्रतिपत्य कश्चित् प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् क्रमाद-वरुह्य तत्र कषायाष्टकवर्जानां ज्ञानावरणादीनां पञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धं करोति, ततोऽन्तर्मुहू-र्तात् क्षपकश्रेणिमारोहन् तत्तद्बन्धविच्छेदसमयेऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य पर्यवसानं करोति, तदा श्रेणि-द्वयान्तरालभावी अन्तर्मुहूर्तात्मकः कालः पूर्वोक्तानां पञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योपल-भ्यते। यद् वाऽन्तर्मुहूर्तात्मिकां मार्गणाजघन्यकायस्थितिमाश्रित्याऽऽसामनुत्कृष्टरसबन्धस्य अन्त-र्मुहूर्तात्मकः कालो भवति, अनयोर्यदन्तर्मुहूर्तं लघुतरं भवेत् तदत्र ग्राह्यम्, जघन्यकालस्य प्रस्तुत-त्वात्। कषायाष्टकस्यानुत्कृष्टरसबन्धजघन्यकालविषये इयं घटना-कश्चित् कर्मलाघवात् सम्यक्त्व-रत्नमुपलभ्य चतुर्थगुणस्थानके स्थितो **महात्मा परिमितसंसारित्वात्, धर्मधनः सम्य-क्त्वरत्नोपेतत्वाद्** अन्तर्मुहूर्तं यावत् कषायाष्टकस्याऽनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा विशुद्धिप्रकर्षाद् देश-विरतत्वं प्रतिपद्यते तदाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य यदि संयतत्वमश्नुते तर्हि प्रत्याख्यानावरणचतु-ष्कस्यापि अबन्धं करोति, इत्येवं देशविरतिप्रतिपत्तारमाश्रित्याऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य, सर्वविरतेश्च स्वीकर्त्तारमाश्रित्य कषायाऽष्टकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, गुणस्थाना-न्तरगमनेनाऽन्तर्मुहूर्तात् परतस्तद्बन्धोपरमात्। न च समयं यावत् चतुर्थगुणस्थानकं स्पृष्ट्वा सर्वविरत्यादिकं प्रतिपित्सोः कषायाष्टकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयो भवतीति वाच्यम्, जघन्यतोऽपि चतुर्थगुणस्थानकस्य आन्तर्मौहूर्तिकत्वात्। अवधिज्ञानतद्दर्शनमार्गणयोः समयमात्रजघन्यकायस्थित्यभिप्रायेण तत्र बन्धार्हाणां सर्वासामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्य काल एक-समयो ज्ञेयः, समयान्तरे मार्गणाया एवाऽनवस्थानात्।

तथा '**अण्णाणजुगलमिच्छेसु**' ति मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-मिथ्यात्वरूपासु तिसृषु मार्ग-णासु शुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानामगुरुलघुनिर्माणतैजसकार्मणशरीरप्रशस्तवर्णादिचतुष्करूपाणामनुत्कृ-

ष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति, मार्गणाजघन्यकालस्य तावत्प्रमाणत्वात् । तथथा—विषमतया कर्मपरिणतेः निमित्तानां प्राबल्याच्च यदा कश्चिज्जन्तुरनन्तकालेनाप्युपलभ्यं सम्यक्त्वरत्नं त्यक्त्वा मिथ्यात्वादिकं प्रतिपद्य अन्तर्मुहूर्तात् पुनः सम्यक्त्वादिकमासादयति तमाश्रित्य शुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, सम्यक्त्वादेः प्रतिपतितस्य जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्तात्परत एव पुनस्तद्गुणप्राप्तेः । '**इयराण समयोऽत्थि**' त्ति इतरासामुक्तव्यतिरिक्तानां नवोत्तरशतप्रकृतीनामाहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावात् अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः समयप्रमाणो भवति । तत्र ज्ञानावरणादीनां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले यदा कश्चित् समयं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति तदाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य समयमात्रो जघन्यः कालः प्राप्यते । शेषाणामध्रुवबन्धिनीनां शुभानामशुभानां चाध्रुवबन्धित्वादेव समयप्रमाणता तदनुत्कृष्टरसबन्धकालस्येति ॥३१५-३१६॥

साम्प्रतं परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानामष्टषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं प्रतिपिपादयिषुराह—

चउदसमायाईणं परिहारम्मि समयो मुहुत्तंतो ।
पुमअसुहधुवाण खणो भिन्नमुहुत्तं व सेसाणं ॥३१७॥

(प्रे०) '**चउदस०**'इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां 'सायथिरहस्सदुगजसअसायअरइदुगअथिरदुगअजसा । आहारदुग'मिति सातवेदनीयादीनां चतुर्दशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः, तत्र सातवेदनीयादीनां द्वादशानां परावर्तमानत्वात् । आहारकद्विकस्य त्वेवम्—कश्चित् प्रमत्तमुनिरध्यवसायविशुद्धयाऽप्रमत्तगुणस्थानं स्पृष्ट्वा तत्र आहारकद्विकं समयमात्रमनुत्कृष्टरसोपेतं बद्ध्वा तत्क्षणं पञ्चत्वमुपगच्छति, तदाऽऽहारकद्विकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य समयमात्रो जघन्यः कालः प्राप्यते, दिवं गतस्य तत्कालमेव तद्बन्धोपरमात् मार्गणोपरमाच्च । पुरुषवेदस्य ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघाताऽन्तरायपञ्चकरूपाणां सप्तविंशतेश्चाशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तम् ,जघन्यतोऽपि मार्गणाया आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् तत्र नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भाच्च । अत्र मुग्धप्रेरकः ननु त्रयाणामपि वेदानां परावर्त्तमानत्वात् कुतः पुरुषवेदस्यापि नैरन्तर्येण बन्ध इति प्रतिपाद्यते भवद्भिरिति, अत्र ब्रूमः-नपुंसकवेदस्य प्रथम एव गुणस्थानके स्त्रीवेदस्य च द्वितीयं गुणस्थानकं यावदेव बन्धाऽभिहितत्वेन वेदानां तत्र परावर्तमानत्वेऽपि तृतीयादिगुणस्थानकतोऽनिवृत्तिबादरं यावत् पुरुषवेदो नैरन्तर्येण बन्धमर्हतीति अस्मदुक्तौ विरोधाभावात् । '**सेसाणं**'ति उक्तातिरिक्तानां देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियद्विकं समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासजिननामानि त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य उच्चैर्गोत्रमिति षड्विंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः '**खणो**'त्ति एकसमयः

'**भिन्नमुहुत्तं वा**' वाकारो मतान्तरद्योतकः ततो मतान्तरेणाऽन्तर्मुहूर्तं भवति, अत्रायं विवेकः,– स्वस्थानसर्वविशुद्ध्या तदुत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगममतेनोत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभावी समयमात्रः कालोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य प्राप्यते, तद्यथा–कश्चित् परिहारविशुद्धिकमुनिः समयं समयौ वोत्कृष्टरसं बद्ध्वा एकं समयमनुत्कृष्टरसबन्धं करोति, ततश्चोत्कृष्टरसबन्धमेवमुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले समयं यावदनुत्कृष्टरसबन्धः प्रवर्त्तते । **कृतकरणमते**ऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणः कालोऽवसेयः । **समयमात्रजघन्यकायस्थितिकमते** तु सर्वासां समयमात्रो बन्धकालो बोद्धव्य इति ॥३१७॥ अथ देशविरतिमिश्रसम्यक्त्वमार्गणयोर्बध्यमानानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यं कालं व्यनक्ति—

देसविरईमीसेसुं सायाईणं दुवालसण्ह भवे ।
समयो भिन्नमुहुत्तं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥३१८॥

(प्रे०) '**देसविरइ०**' इत्यादि,अत्र मार्गणाद्वये बन्धप्रायोग्यप्रकृतिसंख्याया असमानत्वेऽपि कालप्ररूपणायां विशेषादर्शनात् एकत्र प्रतिपादयति ग्रन्थकारः । तद्यथा–देशविरतिमिश्रसम्यक्त्वमार्गणयोः 'सायथिरद्दुस्सदुगजसअसायअरइदुगअथिरदुगअजसा' इति सातवेदनीयादीनां द्वादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयः, तासां परावर्त्तमानत्वेन समयान्तरेऽपि स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवात् । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । तत्र देशविरतौ स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वाद्यकषायाऽष्टकवर्जा अशुभध्रुवबन्धिन्य एकत्रिंशत्तथा पुरुषवेदो देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं शुभध्रुवबन्ध्यष्टकं पराघातनामोच्छ्वासनाम जिननामोच्चैर्गोत्रमित्यष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, जघन्यतोऽपि देशविरतिमार्गणाया आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । इह देशविरतेरान्तर्मौहूर्तिकत्वं तु बहुभिः प्रकारैरुपपद्यते, तद्यथा–(१) संयमात् परिभ्रष्टः समासादितदेशविरतिपरिणामोऽन्तर्मुहूर्तं यावद् देशविरतत्वमनुभूयाऽयतसम्यग्दृष्टित्वं प्रतिपद्यते, (२) तादृश एव कश्चिन्मिथ्यात्वमनुगच्छति । (३) अविरतसम्यग्दृष्टिः कश्चिद्देशविरतत्वं प्रतिपद्यान्तर्मुहूर्तात् परतः परिणामविशुद्ध्या सर्वविरतिमासादयति, (४) कश्चिद् मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं देशविरतिं च युगपत् प्रतिपन्नः सन् अन्तर्मुहूर्तात् सर्वविरतिम् , (५) तादृशः कश्चित् पुनर्मिथ्यात्वं व्रजति, (६) कश्चन मुनिः परिणामहान्या देशविरत्वमामाद्य पुनरन्तर्मुहूर्तात् संयमे स्थिरो भवति, (७) कश्चिदविरतसम्यग्दृष्टिः परिणामविशुद्ध्या देशविरतिं प्रतिपद्यान्तर्मुहूर्तात् पुनः परिणामप्रतिपातेन स्वप्राक्तने गुणस्थानके तिष्ठति (८) कश्चित् सर्वविरतिपरिणामप्रतिपातेन देशविरतिमासाद्याऽन्तर्मुहूर्तात् पञ्चत्वमुपगतो दिवि अयतत्वमनुभवतीत्यादिभिः प्रकारैरन्यैरपि च तैरान्तर्मुहूर्त्तिकं देशविरतत्वं स्वयं परिभावनीयम् । येन केनाऽपि प्रकारेण प्राप्तदेशविरतिगुणोऽन्तर्मुहूर्तं यावज्जघन्यतोऽपि तद्गुणानुभूतिं विना नैव त्यजति तद्गुण-

स्थानमिति तात्पर्यम् । न चाप्रमत्तादिगुणस्थानकवत् समयं यावत् पञ्चमगुणस्थानकं स्पृष्ट्वा पञ्चत्वमधिगच्छन्तं देशविरतमाश्रित्य देशविरतेर्जघन्यकालो भविष्यति समयमात्र इति वाच्यम्, आगमे तथाऽदर्शनात् , प्रत्युत देशविरतिजघन्यकालस्यान्तर्मुहूर्त्तत्वप्रतिपादनपरपाठ आगमे दरीदृश्यते, तथा चोक्तं **पञ्चसंग्रहे**–'अंतमुहुत्ताओ पुव्वकोडी देसो उ देसूणा' **तद्वृत्तिस्त्वेवम्**–'जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिं यावद् देशसयमो भवत्येकस्मिन् जीवे' इति ।

ननु भवतु देशविरतेर्जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, किन्तु अन्तरा उत्कृष्टरसबन्धसम्भवेन विघटयिष्यति भवदुक्तं ज्ञानावरणादीनां पञ्चाशतः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तात्मकमनुत्कृष्टरसबन्धकालमानमिति चेन्न, विशिष्टपरिज्ञानाभावात्, देशविरतिमार्गणायां ज्ञानावरणादीनामशुभानामुत्कृष्टरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन देशविरतेन देवद्विकादीनां च शुभानामप्रमत्ताभिमुखेन तेन मार्गणाचरमसमय एव बध्यमानत्वात् तदन्तरा भवदुक्तोत्कृष्टरसबन्धाऽसम्भवात् ।

मिश्रमार्गणायामुक्तशेषाणां पूर्वोक्ता जिननामवर्जा ज्ञानावरणादयः सप्तपञ्चाशत् अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचमिति षट्षष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, मिश्रसम्यक्त्वमार्गणाया उत्कृष्टतोऽपि आन्तर्मुहूर्तिकत्वात्, तद्बन्धकानां नैरन्तर्येणाऽनुत्कृष्टरसोपेततद्बन्धोपलम्भाच्च । अत्र इदमपि बोध्यम्–अत्रोक्तासु षट्षष्टौ प्रकृतिषु देवद्विकवैक्रियद्विके प्रकृतमार्गणागतैर्मनुष्यतिर्यग्भिरेव बध्येते, देवनारकाणां भवस्वाभाव्यात्तद्बन्धायोगात् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानि तु देवनारकैरेव बध्यन्ते, मिश्रदृष्टिमनुष्यतिरश्चां मिश्रदृष्टिगुणप्रत्ययात् देवद्विकादीनामेव बन्धसद्भावेन मनुष्यद्विकादीनां बन्धायोगात्, ततो देवद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालो मनुष्यतिरश्च आश्रित्य, मनुष्यद्विकादीनाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालो देवनारकानाश्रित्य प्राप्यते । तदतिरिक्तानां ज्ञानावरणादीनां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालश्चतुर्गतिकान् मिश्रसम्यग्दृष्टीनाश्रित्य प्राप्यते इति तु प्रासङ्गिकमुक्तम् ॥३१८॥

अथ तेजोलेश्यामार्गणायां बध्यमानप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकालस्य प्रचिकटयिषयाऽऽह–

तेऊए णेयो सुहधुवपणपरघाइपणसुराईणं ।
भिन्नमुहुत्तं अहवा समयो समयोऽत्थि सेसाणं ॥३१९॥

(प्रे०) 'तेऊए' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायामष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासबादरत्रिकाणि देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामानि चेति अष्टादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, मनुष्यतिरश्चां प्रत्येकं लेश्याया जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्त्तस्थायित्वात्, ततोऽन्तर्मुहूर्तात्मकतेजोलेश्याऽवस्थानकाले आसामष्टादशानामनुत्कृष्टरसबन्धोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् प्रवर्त्तते । एतच्च कृतकरणस्यैव ज्येष्ठरसबन्धस्वामित्वापेक्षया बोध्यम् । **'अहवा समयो'**

अथवाशब्दस्य मतान्तरद्योतनपरत्वात् , मतान्तरेण अनन्तरोक्तानामष्टादशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयः, एतन्मते तदुत्कृष्टरसबन्धस्य कृतकरणस्वामिकत्वानियमात् । तत उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावदनुत्कृष्टरसबन्धमाश्रित्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयो भवति । 'सेसाणं' ति अष्टादशानामुक्तत्वात् सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकानां बन्धाभावाच्च उक्तशेषाणां चतुर्नवतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो ज्ञेयः । अशुभध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकानुत्कृष्टरसबन्धमाश्रित्य समयात्मकस्तज्जघन्यबन्धकाल आयाति, स तु ईशानान्तदेवानेवाश्रित्य भवति, कुतः ? तेजोलेश्यावतां मनुष्यतिरश्चां विशुद्धपरिणामत्वेनाऽशुभध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धाभावात् तदभावे च तदन्तरालभावी सामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धोऽपि नोपलभ्यते । न च तेजोलेश्यावतां देवानामपि कथं भविष्यति अशुभध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्ध इति वाच्यम् , तेषामवस्थितलेश्याकत्वेन संक्लिष्टत्वाविरोधात् । ततो यदा ते संक्लेशं भजन्ति तदा तासामुत्कृष्टरसबन्धं विदधतीति । एवमुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभावी समयमात्रोऽनुत्कृष्टरसबन्ध उपलभ्यत ईशानान्तदेवानाश्रित्येति । तथाऽध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः, तासामध्रुवबन्धित्वादेव । तत्रापि कासाश्चिद्देवानेवाश्रित्य कासाश्चित्तु तिर्यग्मनुष्यानपीति ॥३१९॥ अथ पद्मलेश्यामार्गणायां बन्धार्हाणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालमुपदर्शयन्नाह—

पउमाअ सुरविउव्वदुगसुहधुवजिणसगपणिंदिआईणं ।
भिन्नमुहुत्तं अहवा समयो समयोऽत्थि सेसाणं ॥३२०॥

(प्रे०) 'पउमाअ' इत्यादि, पद्मलेश्यामार्गणायां सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकैकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनामरूपाणामेकादशानां प्रकृतीनां बन्धाऽनर्हत्वात् नवोत्तरशतप्रकृतीनां बन्धः । तासु सुरद्विकवैक्रियद्विकशुभध्रुवबन्ध्यष्टकजिननामपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकलक्षणानां विंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, प्रस्तुतमार्गणाजघन्यकायस्थितेस्तावत्कालप्रमाणत्वात् , इदं तु अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणानां विशुद्धतमानां मनुष्याणां तदुत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगममतेन बोध्यम् । 'अहवा समयो' अथवाशब्दोऽत्र मतान्तरद्योतकः, ततो मतान्तरेण आसां विंशतेः सुरद्विकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयोऽस्ति, अस्मिन् मते स्वस्थानविशुद्धतमानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धाऽभ्युपगमात् । तत उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभावी एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां नवाशीतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयोऽस्ति । तत्र त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभावी एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धो देवानाश्रित्योपलभ्यते, पद्मलेश्याकमनुष्यतिरश्चां विशुद्धत्वेन तदुत्कृष्टरसबन्धासम्भवात् । तथा असातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिस्त्रीवेदनपुं-

सकवेदपुरुषवेदनीचैर्गोत्रतिर्यग्द्विकाऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चकाऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चकाऽप्रशस्तविहायोगत्यस्थिरषट्करूपाणामष्टाविंशतेरशुभाऽध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य एकसमयात्मको जघन्यः कालः, तासामध्रुवबन्धित्वात् तदुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनाच्च । इहाऽनन्तरोक्ताभ्योऽष्टाविंशतेः प्रकृतिभ्यः स्त्रीवेदपुरुषवेदनपुंसकवेदनीचैर्गोत्रतिर्यग्द्विकाऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चकाऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चकाऽप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगत्रिकरूपाणां विंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यकालो देवानाश्रित्य बोध्यः, पद्मलेश्यावतां मनुष्यतिरश्चां नियमात् पुरुषवेदोच्चैर्गोत्रदेवद्विकाऽऽद्यसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिसुभगत्रिकाणामेव बन्धसम्भवेन तद्बन्धायोगात् । तथा असातवेदनीयहास्यरतिशोकारत्यऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तिरूपाणामष्टानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य एकसमयात्मको जघन्यकालः त्रिगतिकानपि जीवानाश्रित्य प्राप्यते, नारकाणां तु प्रकृतमार्गणाऽनन्तःपातित्वात् । सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकौदारिकद्विकाऽऽहारकद्विकवज्रर्षभनाराचसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिस्थिरषट्कोद्योतलक्षणानामष्टादशानां शुभाऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामप्यनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकालः, तासामध्रुवबन्धित्वात् तदुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धोद्भवाच्च । इहाऽनन्तरोक्ताभ्योऽष्टादशप्रकृतिभ्यो मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचोद्योतरूपाणां षण्णां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालो देवानेवाऽऽश्रित्य प्राप्यते, पद्मलेश्याकानां मनुष्यतिरश्चां नियमाद् देवप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धायोगात् । तथा सातवेदनीयस्थिरनामशुभनामयशःकीर्त्तिनामरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालः एकसमयात्मकः त्रिगतिकानपि जीवानाश्रित्योपलभ्यते, तिसृष्वपि गतिषु स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या तासां बन्धोपलम्भात् । मनुष्यानाश्रित्य तूत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभाव्यपि एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते, स्वस्थानविशुद्धतमस्य अप्रमत्तमुनेर्नैकवारमुत्कृष्टरसबन्धसम्भवेन तदन्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् । सुभगत्रिकसमचतुरस्रप्रशस्तविहायोगत्युच्चैर्गोत्ररूपाणां षण्णामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यो बन्धकालः देवान् मनुष्यान् चाश्रित्य प्राप्यते, तत्र देवेषु तासां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् । मनुष्याणामुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले तासामेकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । पद्मलेश्याकमनुष्याणां तत्प्रतिपक्षभूतदुर्भगत्रिकाद्यशुभप्रकृतिबन्धाभावेन परावृत्त्या तद्बन्धानुपलम्भात् । तिर्यग्गतिकान् जीवानाश्रित्य तु नैवाऽऽयाति सुभगत्रिकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य एकसमयात्मको जघन्यकालः, कुतः ? पद्मलेश्याकानां तिरश्चां परावृत्त्या तद्बन्धाभावात् न परावर्त्तमानतयैकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः, न चोत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभावी एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः, तेषां मार्गणाप्रायोग्यविशुद्धतमत्वाभावेन तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वाभावात्, तदभावे च तद्द्वयाऽन्तरालभाव्येकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्यापि अभाव इति ।

अत्रेदमपि बोध्यम्-पूर्वोक्तानां सातवेदनीयादीनां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसामयिकत्वमुपपादयद्भिरस्माभिर्यदुक्तं 'मनुष्यानाश्रित्य तूत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभाव्यपि एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते' तत्तु स्वस्थानविशुद्धतमानामप्रमत्तमुनीनां तदुत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमाभिप्रायेण ज्ञेयम्। ये त्वाचार्याः अनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणानामेव विशुद्धतमानामप्रमत्तमुनीनां सातवेदनीयस्थिरशुभयशःकीर्त्युत्कृष्टरसबन्धकत्वं मन्वते, तेषामभिप्रायेणोत्कृष्टरसबन्धद्वयाऽन्तरालभावी एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धो न प्राप्यते, किन्तु परावर्त्तमानतयैव,तन्मते सकृदेवोत्कृष्टरससम्भवेनोत्कृष्टरसबन्धद्वयभाव्यन्तरालाभावात्, तदभावे च तत्र भाविन एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्याप्यभावः। तथा सुभगत्रिकादीनां 'षण्णामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यो बन्धकालो देवान् मनुष्यान् चाश्रित्य प्राप्यते' इति अस्माभिर्यदुक्तम्, तत्र मनुष्यानाश्रित्येति यदुक्तं तत् स्वस्थानविशुद्धतमानामुत्कृष्टरसबन्धस्वीकर्तृमतेन ज्ञेयम्। अनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणानामेव विशुद्धतमानां तदुत्कृष्टरसबन्धाऽभ्युपगन्तृमतेन तु देवानेवाश्रित्यैकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्ध उपलभ्यते न मनुष्यानप्याश्रित्येति, एतन्मते उत्कृष्टरसबन्धद्वयानुपलम्भात् प्रकृतमार्गणागतमनुष्याणां तत्प्रतिपक्षभूतप्रकृतिबन्धाभावेन परावृत्त्या तद्बन्धाभावाच्च। तथा आहारकद्विकस्यैकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः समयं यावत् स्पृष्टाप्रमत्तगुणस्थानकस्य भवति, आहारकद्विकबन्धस्य विशिष्टसंयमहेतुकत्वेन द्विसंगस्य तस्य तद्बन्धाभावात्। इति अनुत्कृष्टरसबन्धजघन्यकालचिन्ताप्रस्तावे तत्स्वामित्वमपि यत्किञ्चित् चिन्तितं तत्तु तत्त्वचिन्तायाः चित्तस्थैर्यैकहेतुत्वेन प्रभूतकर्मनिर्जराहेतुत्वात्॥३२०॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यं कालं प्रकटयन्नाह—

सुक्काए विण्णेयो सुहधुवजिणसगपणिंदिआईणं।
भिन्नमुहुत्तं समयो हवए सेसाण पयडीणं॥३२१॥

(प्रे०) 'सुक्काए' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायामष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्यो जिननामपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकाणीति षोडशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते। स तु मनुष्यतिरश्च आश्रित्य ज्ञेयः, तेषां लेश्यायाः परावर्त्तमानत्वेन प्रकृतमार्गणाया अन्तर्मुहूर्तस्थायित्वात्। तत्रापि जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालो मनुष्यानेवाश्रित्य वेदितव्यः, तिरश्चां तद्बन्धाभावात्। देवानाश्रित्य तु नैव प्राप्यते पूर्वोक्तानां षोडशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालः, कुतः? तेषां लेश्याया अपरावर्त्तमानत्वात् तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्तदुत्कृष्टरसबन्धाभावाच्च। तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां नवतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकाल एकसमयो भवति। तत्र अशुभध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशतोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः, उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावदनुत्कृष्टरसबन्धोपलम्भात्।

तथाऽनन्तरमार्गणाविवृत्युक्तानामशुभाध्रुवबन्धिनीनां तिर्यग्द्विकवर्जानामसातवेदनीयादीनां षड्विंश-तेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालः समयः, तासामध्रुवबन्धित्वेन समयं यावदनुत्कृष्टरस-बन्धप्रवर्त्तनानन्तरं तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवात्। तदुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्ट-रसबन्धप्रवर्त्तनाच्चेत्यादि सर्वं पद्मलेश्यावत् । सुरद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसम-यात्मको जघन्यबन्धकाल उपशमश्रेणेरवरोहतो निवृत्तिबादरे समयं यावत्तद्बन्धसंपादनानन्तरं दिवंगतस्य मुनेरागच्छति, दिवि तद्बन्धोपरमात् । सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकौदारिक-द्विकाऽऽहारकद्विकवज्रर्षभनाराचसमचतुरस्रप्रशस्तविहायोगतिस्थिरषट्करूपाणां सप्तदशानां शुभाऽ-ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयः, अत्र हेत्वादि सर्वं पद्मलेश्यावत् , नवरं सातवेदनीयस्थिरशुभयशःकीर्त्तिनाम्नामेकसमयात्मकोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः त्रिगति-कानाश्रित्य तासां परावर्त्तमानबन्धोपलम्भादेव वाच्यः, न तु मनुष्यानाश्रित्योत्कृष्टरसबन्धद्वयान्त-रालभाव्यपि एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः, कुतः ? शुक्ललेश्यामार्गणायां क्षपकश्रेणौ तदुत्कृष्टरस-बन्धोपलम्भात् कुत उत्कृष्टरसबन्धद्वयावकाशः ? तत्र तु सकृदेकसामयिकश्चैवोत्कृष्टरसबन्धो जायते. ततः परं तद्बन्धोपरमात् । सुभगत्रिकसमचतुरस्रप्रशस्तविहायोगत्युच्चैर्गोत्राणामनुत्कृष्टरसबन्ध-स्यैकसमयात्मको जघन्यकालो देवानेवाश्रित्याऽऽयाति, तेषामेव परावृत्त्या तद्बन्धसम्भवात् । न तु पद्मलेश्यावत् मनुष्यानपि आश्रित्य, तेषां परावृत्त्या तद्बन्धाभावेन जघन्यतोऽपि अन्त-र्मुहूर्तं यावत् तदनुत्कृष्टरसबन्धोपलम्भात् । उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभावी एकसामयिकोऽनुत्कृ-ष्टरसबन्ध आसामपि न प्राप्यते, एतदुत्कृष्टरसबन्धस्यापि क्षपकश्रेणावेव सद्भावात् ॥३२१॥ अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं व्याचिख्यासुराह—

खइए भिन्नमुहुत्तं सुहधुवजिणसगपणिंदियाईणं ।
छसुखगइआइगाण य समयो सेसाण पयडीणं ॥३२२॥

(प्रे०) 'खइए' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां शुभध्रुवबन्ध्यष्टकजिननाम्नोः पञ्चेन्द्रि-यजातित्रसनामपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाणां सप्तानां पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां प्रशस्तविहायो-गतिसमचतुरस्रसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां षण्णां चेति सर्वसंख्यया द्वाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरस-बन्धस्य जघन्यकालः 'भिन्नमुहुत्तं' ति अन्तर्मुहूर्तं भवति, प्रस्तुतमार्गणायां जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् तदनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् , तद्यथा–कश्चिज्जिननामसत्कर्मा क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिर्महा-भागः संयतो दर्शनसप्तकक्षयात् क्षायिकसम्यक्त्वमासाद्यान्तर्मुहूर्तं विश्रम्याऽचिरात् क्षपकश्रेणिमारो-हति, तत्र तत्तद्बन्धविच्छेदसमयं यावदनुत्कृष्टरसबन्धं करोति, इत्येवं क्षायिकसम्यक्त्वप्राप्तेरारभ्य श्रेणौ तत्तत्प्रकृत्यनुत्कृष्टरसबन्धविच्छेदं यावत् सर्वोऽपि कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । अथवा कश्चिज्जिन-नामसत्कर्मा क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणौ यथास्थानं सर्वासामबन्धं कृत्वोपशमाद्धाक्षयेण ततः

प्रतिपतन् पुनस्तद्बन्धमारभते, ततोऽन्तर्मुहूर्तकालेन क्षपकश्रेणिमारोहन् सर्वासामबन्धं कुर्वाणोऽनुत्कृष्टरसबन्धावसानं करोति तदा श्रेणिद्वयान्तरालभावी अन्तर्मुहूर्तात्मकोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यः कालः प्राप्यते। तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणामेकोनषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयो भवति। तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानामशुभध्रुवबन्धिनीनां पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यकाल उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकं समयं यावदनुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् प्राप्यते, किमुक्तं भवति? कश्चित् समयं समयौ वा यावदुत्कृष्टरसं बद्ध्वाऽध्यवसायविशुद्ध्या तदनुत्कृष्टरसबन्धमारभते, तमपि एकं समयं बद्ध्वा कषायातिरेकात् पुनरुत्कृष्टरसबन्धं करोति तदोत्कृष्टरसबन्धद्वयविचाले एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यत इति। तथाऽसातवेदनीयहास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदास्थिराशुभाऽयशःकीर्त्तिरूपाणां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकाल एकसमयः, उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् यद्वा पुरुषवेदवर्जानां परावर्त्तमानत्वेन तासां समयं यावदनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा समयान्तरे तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽऽरम्भणाच्च प्राप्यते। तथा सातवेदनीयस्थिरशुभयशःकीर्त्तिरूपाणां चतसृणां शुभाऽध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यकालः तासामध्रुवबन्धित्वेनैव बोध्यः। ननु इमाः परावृत्त्या बध्यन्ते तदा आसामनुत्कृष्टरसबन्ध एव तत् कथमवसीयते? इति चेदुच्यते, आसामुत्कृष्टरसबन्धस्य तु क्षपकश्रेणावेव सद्भावेन तत्र च प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेन बन्धपरावृत्तेरभावात्। मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनाम्नामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकालः, देवानां नारकाणां वा तदुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराल एव एकसामयिकानुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात्। तथा सुरद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकाल एकसमयरूपः उपशमश्रेणेरवरोहन् निवृत्तिबादरगुणस्थानके समयमनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा पञ्चत्वमुपगच्छति तद्बन्धकस्तदा उपलभ्यते, दिवि तद्बन्धोपरमात्। आहारकद्विकस्य तु प्रकारान्तरेणाऽपि एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते, तद्यथा—कश्चित् प्रमत्तमुनिः परिणामविशुद्ध्याऽप्रमत्तगुणस्थानमासाद्य तत्र समयमाहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसं बध्नाति तदुत्कृष्टरसस्य निवृत्तिबादरे एव सम्भवात्, तत आयुःक्षयेणाऽचिराद् दिवमुपसर्पति, तत्र चाऽऽहारकद्विकस्याऽबन्धो भवति, आहारकद्विकबन्धस्याऽप्रमत्तसंयमहेतुकत्वात्, इत्येवं प्रकारान्तरेणाऽपि आहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकालो घटामञ्चति। इति क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामेकाशीतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालप्ररूपणम् ॥३२२॥

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां तावतीनामेव प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य तच्चिकीर्षुराह—

समयोऽत्थि वेअगे खलु चउदससायाइपणणराईणं।
भिन्नमुहुत्तं पुरिसअसुहधुवबंधिपणतीसाणं ॥३२३॥

सेसाण छवीसाए समयो होइ अहवा मुहुत्तंतो ।
सेसासु भवे समयो सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥३२४॥

(प्रे०) '**समयो**' इत्यादि, '**वेअगे**' त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां 'सायथिरहस्सदुग-जसअसायअरइदुगअथिरदुगअजसा । आहारदुगं' इति प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथात्रयवोक्तानां सातवेदनीयादीनां चतुर्दशानां प्रकृतीनां 'नरदुगवइराणि उरलं च ॥ उरलोवंगं' इति गाथात्रयवोक्तानां नरद्विकादीनां पञ्चानां चेति सर्वसंख्ययैकोनविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकाल एकसमयः, स च सातवेदनीयादीनां द्वादशानां परावर्त्तमानत्वात् , आहारकद्विकस्य तु समयं यावदप्रमत्तगुणस्थानके बन्धं विधाय बन्धकस्य दिवमुपसर्पणात् , नरद्विकादीनां च पञ्चानामुत्कृष्टरसबन्धद्वयाऽन्तरालैकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवाद् विज्ञेयः । तथा '**भिन्नमुहुत्तं**' इत्यादि, पुरुषवेदस्य स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्वमोहनीयाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानामशुभध्रुवबन्धिनीनां पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां चाऽनुत्कृष्टरसस्य जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । तत्र कषायाष्टकवर्जानां यावन्मार्गणा तावन्नैरन्तर्येण तद्बन्धसद्भावात् मार्गणाजघन्यकायस्थितेश्च तावत्प्रमाणत्वात् । कषायाष्टकबन्धार्हचतुर्थपञ्चमगुणस्थानकयोरपि प्रत्येकं जघन्यकायस्थितेरान्तर्मुहूर्तिकत्वाच्च । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां देवद्विकवैक्रियद्विकपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतित्रसचतुष्कसुभगत्रिकशुभध्रुवबन्ध्यष्टकपराघातोच्छ्वासजिननामोच्चैर्गोत्ररूपाणां षड्विंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकालः '**समयो होइ**' एकः समयो भवति, तदुत्कृष्टरसबन्धद्वयविचाले सामयिकानुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् '**अहवा मुहुत्तंतो**' त्ति अथवाकारो मतान्तरद्योतनपरः ततो **मतान्तरेण** षड्विंशतेरपि प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । **तद्यथा**–अस्मिन् मते उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालेऽनुत्कृष्टरसबन्धो न मन्यते, अनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणानां मनुष्याणामेवोत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमात् , इत्येवं एतन्मतेन प्रस्तुतमार्गणायामेकजीवाश्रयः सकृदेव पूर्वोक्ताना षड्विंशतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धो जायते, तत उत्कृष्टरसबन्धद्वयाभावे कुतस्तदन्तरालावकाशः? तस्मात् जघन्यकायस्थितिप्रमाणोऽन्तर्मुहूर्तात्मक एवानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकालो भवति । '**सेसासु**' इत्युक्तशेषासु चत्वारिंशदुत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामित्यर्थः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो भवति । अथ उक्तशेषा मार्गणा एव दर्शयामः–नरकौघसप्तनरकरूपा अष्टौ नरकमार्गणाः । तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपाः पञ्च [५]तिर्यग्गतिमार्गणाः । सर्वा [४]मनुष्यगतिमार्गणाः । त्रिंशत्संख्याकाः सर्वा[३०] देवमार्गणाः । पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोः प्रागुक्तत्वात् तद्वर्जा एकेन्द्रियौघादयः [१७]सप्तदशेन्द्रियमार्गणाः । चत्वारिंशत्[४०] कायमार्गणाः, त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाययोः पृथगुक्तत्वात् । पञ्चदश[१५]योगमार्गणाः, त्रिमिश्रयोगेषु पृथगभिहितत्वात् ।

स्त्रीवेदनपुंसकवेदाऽपगतवेदरूपाः तिस्रो [3]वेदमार्गणाः, पुरुषवेदमार्गणायां पृथगभिहितत्वात् । क्रोध-मानमायालोभभेदभिन्नाश्चतस्रः [4]कषायमार्गणाः । विभङ्गज्ञानमनःपर्यवज्ञानरूपे द्वे [2]ज्ञानमार्गणे, शेष-ज्ञानभेदेषु विशेषवक्तव्यताया: सद्भावेन प्राक्पृथगुक्तत्वात् । संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-सूक्ष्मसम्परायरूपाः चतस्रः [4]संयममार्गणाः, शेषासु तिसृषु संयममार्गणासु प्रागुक्तत्वात् । कृष्ण-नील-कापोतलेश्याख्यास्तिस्रो[3]ऽप्रशस्तलेश्यामार्गणाः, तिसृषु प्रशस्तलेश्यामार्गणासु पृथगभिहितत्वात् । [1]अभव्यमार्गणा, भव्यमार्गणायां पृथगुक्तत्वात् । [1]सास्वादनमार्गणा, शेषासु षट्सु सम्यक्त्वमार्गणासु प्राक्पृथगभिहितत्वात् । [1]असंज्ञिमार्गणा, संज्ञिमार्गणायां प्रागुक्तत्वात् । [2]आहार्यनाहारिरूपे द्वे मार्गणे इति चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणाः । अथ आसु प्रत्येकं स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकाल एकः समयः यथा प्राप्यते तथा गतिमार्गणासु प्रदर्शनद्वारेण दिङ्मात्रं सूचयामः । **तद्यथा**–अष्टसंख्याकासु सर्वासु नरकगतिमार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं मिथ्यात्वमोह-नीयं कषायषोडशकं भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामान्तरायपञ्चकमिति अशुभध्रुवबन्धि-नीनां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यकालः प्रकारद्वयेन प्राप्यते, तत्र समयमुत्कृष्टरसं बद्ध्वा एकं समयमनुत्कृष्टरसं बध्नाति पुनरुत्कृष्टरसं बध्नातीत्येवमुत्कृष्ट-रसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते । यद्वोत्कृष्टरसं बद्ध्वा समयमनुत्कृ-ष्टरसं बध्नाति ततः कालं कृत्वा जन्तुर्गत्यन्तरमासादयति, तदा मार्गणचरमसमयभावी एक साम-यिकोऽनुत्कृष्टरसबन्ध उपलभ्यते, इति प्रकारद्वयेन मिथ्यादृशं नारकमाश्रित्याशुभध्रुवबन्धिनीनाम-नुत्कृष्टरसस्यैकसमयात्मको जघन्यबन्धकालः प्राप्यते । नरकौघाऽऽद्यषड्नरकरूपासु सप्तमार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति सप्तानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्यैकसामयिको बन्धः सास्वा-दनमप्याश्रित्य प्राप्यते । **तद्यथा**–आसां सप्तानामबन्धकः कश्चित् सम्यग्दृष्टिर्नारकः भवचरमसमये सास्वादनं प्राप्य तत्र समयं स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कयोरनुत्कृष्टरसं निर्वर्त्य गत्यन्तरं गच्छति तदा एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्ध उपलभ्यते इति तृतीयप्रकारेणैकसामयिकाऽनुत्कृष्ट-रसबन्धस्य घटना । ननु सप्तमनरकस्य कुतो वर्जनम् ? सास्वादनगुणस्थानकस्य तत्राऽप्रतिषेधात् , उच्यते,–तत्र सत्यपि सास्वादनगुणस्थानके सप्तमपृथ्वीनारकस्तत्र कालं न करोति नाऽपि मिथ्यात्वं प्राप्य प्रथमसमये उत्कृष्टरसबन्धं करोति न वा तत्रान्तर्मुहूर्तात्प्राक् पञ्चत्वं गच्छति ।

तैजसशरीरनामकार्मणशरीरनामप्रशस्तवर्णादिचतुष्कागुरुलघुनिर्माणरूपाः शुभध्रुवबन्धिन्यो-ऽष्टौ त्रसचतुष्कं पराघातोच्छ्वासौ पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकद्विकमिति नरकगतौ ध्रुवतया बध्यमानानां सप्तदशानां शुभप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यो बन्धकालः सप्तम-नरकवर्जनरकौघादिषु सप्तसु नरकमार्गणासु प्रकारद्वयेनोपलभ्यते, **तद्यथा**–उत्कृष्टरसबन्ध-द्वयान्तराले सामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनेन, भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धानन्तरं तच्चरमसमये

अनुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनेन वा । सप्तमनरकमार्गणायां तु प्रथमेनैव प्रकारेण एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते, न भवचरमसमयभाव्यपि, कुतः ? तत्र भवचरमान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वाभावात् । तदभावे च भवद्विचरमसमये तदुत्कृष्टरसबन्धाभाव इति । तथा हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा असातवेदनीयं नीचैर्गोत्रम् तिर्यग्द्विकम् आद्यवर्जं संहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिः अस्थिरषट्कमित्यष्टाविंशतेरशुभाऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां, सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रं मनुष्यद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः स्थिरषट्कमुद्योतमिति चतुर्दशानां शुभाऽध्रुवबन्धिनीनां चानुत्कृष्टरसबन्धस्य एकसमयात्मको जघन्यकालः सप्तमनरकवर्जनरकगतिसर्वमार्गणासु प्रकारत्रयेण संभवति । तद्यथा–(१) हास्यादीनामशुभानामुद्योतवर्जसातवेदनीयादीनां च शुभानां सामयिकानुत्कृष्टरसबन्धानन्तरं स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसंभवेन एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते, तासां परावर्त्तमानत्वेन तत्प्रकृतिबन्धस्यापि जघन्यत एकसामयिकत्वात् । उद्योतनाम्नः समयमनुत्कृष्टरसबन्धं कृत्वा द्वितीयसमये तदबन्धं करोति तमाश्रित्य एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते,(२) हास्याद्युद्योतपर्यन्तानां प्रत्येकं समयं समयौ वोत्कृष्टरसं बद्ध्वा समयमनुत्कृष्टरसं बध्नाति, पुनरुत्कृष्टरसं बध्नाति, तदोत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते (३) भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसं बद्ध्वा भवचरमसमये समयमनुत्कृष्टरसं निर्वर्त्य जन्तुर्मार्गणान्तरं गच्छति तदा मार्गणाचरमसमयभावी एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्ध उपलभ्यते । सप्तमनरकमार्गणायां हास्यादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकः समयो जघन्यकालोऽनन्तरोक्तेनैव प्रकारत्रयेण प्राप्यते । तथा सातवेदनीयादीनां त्रयोदशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यकालोऽनन्तरोक्तेन प्रकारद्वयेन प्राप्यते, न तृतीयेन प्रकारेण, कुतः ? सप्तमपृथ्वीनारकस्य भवद्विचरमसमये प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धाभावेन चरमसमये सामयिकानुत्कृष्टरसबन्धायोगात् । ननु सप्तमपृथ्वीनारकस्य भवद्विचरमसमये सातवेदनीयादीनामुत्कृष्टरसबन्धः कुतो न सम्भवति ?, सम्यक्त्वाभावात् । नरकगतौ विनोद्योतं प्रशस्तानां प्रकृतीनां सम्यग्दृष्टय एवोत्कृष्टरसबन्धकाः, सप्तमपृथ्वीनारकस्य तु भवचरमान्तर्मुहूर्ते नियमात् मिथ्यात्वसद्भावेन तत्र प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धायोगात् । उद्योतनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यः कालः पूर्वोक्तेन प्रथमेनैव प्रकारेण प्राप्यते, न शेषप्रकारद्वयेनापि, सम्यक्त्वाभिमुखस्यैवोत्कृष्टरसबन्धसद्भावेन उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकानुत्कृष्टरसबन्धायोगात्, सम्यक्त्वाभिमुखत्वद्वयान्तरालस्य जघन्यतोऽपि आन्तर्मुहूर्तिकत्वात् । तथैव न भवचरमसमयभावी सामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः, तस्य भवचरमान्तर्मुहूर्ते नियमात् सम्यक्त्वानभिमुखत्वेन भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धायोगात्, तदयोगे च चरमसमयभावी एकसामयिकानुत्कृष्टरसबन्धस्याप्यभावः । एवमेव नरकौघमार्गणायामपि उद्योतनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धकालप्ररूपणायां वक्तव्यम् ।

जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यो बन्धकालः (१) उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकानुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनेन (२) भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धानन्तरं तच्चरमसमये चानुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनेनेति प्रकारद्वयेन नरकौघाद्यनरकत्रयरूपासु चतसृषु नरकमार्गणासु प्राप्यते, चतुर्थादिनरकेषु तद्बन्धाभावात् । इति नरकमार्गणासु त्र्युत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योपपादनपुरस्सरमेकसामयिकजघन्यबन्धकालप्ररूपणम् ।

अथ तिर्यग्गतिमार्गणासु विचार्यते,-तत्र तिर्यग्गत्योघमार्गणायामशुभध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यो बन्धकालः नरकमार्गणावदुपपादनीयः,**तद्यथा**-उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकानुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनेन भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धानन्तरं मार्गणाचरमसमयेऽनुत्कृष्टरसबन्धसंपादनेन च अनुत्कृष्टरसस्य जघन्यो बन्धकाल एकसमयः प्राप्यते । तथा स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यबन्धकालः सास्वादनमप्याश्रित्य प्राप्यते । शुभध्रुवबन्ध्यष्टकस्यैकसमयात्मकोऽनुत्कृष्टरसबन्धकालः उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकानुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् प्राप्यते, इत्येकेनैव प्रकारेण न तु प्रकारान्तरेणाऽपि । तथा हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा असातवेदनीयं नीचैर्गोत्रं नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरदशकमित्यष्टात्रिंशतोऽशुभाऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं देवद्विकं मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम समचतुरस्रनाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसदशकं पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनामेत्यष्टाविंशतेः शुभाऽध्रुवबन्धिनीनां चानुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकालः, तासामध्रुवबन्धित्वात् , तथा नरकमार्गणानिर्दिष्टप्रकारेणाऽपि यथासंभवं भावनीयः । एवमेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु तिसृषु तिर्यग्गतिमार्गणासु सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यो बन्धकाल एकसमयरूपो ज्ञातव्यः । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चेति द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनामत्र ध्रुवतया बध्यमानानामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यो बन्धकालः (१) उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् (२) भवद्विचरमसमये तदुत्कृष्टरसं बद्ध्वा भवचरमसमये समयमनुत्कृष्टरसमुपनिबध्य पञ्चत्वं प्राप्य जन्तुर्मार्गणान्तरं व्रजति तमाश्रित्य च प्राप्यते । तिर्यगोघमार्गणोक्तानां नरकद्विकवर्जानां षट्त्रिंशतो हास्यादीनामशुभाऽध्रुवबन्धिनीनां, तथा देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धाभावात् औदारिकशरीरनाम्नोऽत्र ध्रुवबन्धित्वेन प्रागुक्तत्वाच्च तद्वर्जानां त्रयोविंशतेः सातवेदनीयादीनामध्रुवबन्धिशुभप्रकृतीनामिति सर्वसंख्यैकोनषष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यबन्धकालः प्रकारत्रयेण प्राप्यते, **तद्यथा**-(१) तासां परावर्त्तमानत्वेन, उच्छ्वासनामादीनां च परावर्त्तमानसहचरितत्वेन, एकसाम-

यिकतत्प्रकृतिबन्धोपलम्भात् तदुपलम्भे चैकसामयिकानुत्कृष्टरसबन्धस्य सुप्राप्यत्वात् (२) उत्कृष्टरसबन्धद्वयविचाले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात्, (३) भवद्विचरमसमये उत्कृष्टं चरमसमये च सामयिकमनुत्कृष्टं रसबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरं गच्छति तमाश्रित्य। इति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यबन्धकालो हेतुपुरस्सरः प्रतिपादितः।

मनुष्यौघमार्गणायां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकालो नरकमार्गणावज्ज्ञेयः तद्यथा–(१) उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् (२) भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धं कृत्वा भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टरसबन्धमेकसामयिकं विधाय यो जन्तुर्मार्गणान्तरं गच्छति तं चाश्रित्य इति प्रकारद्वयेन एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्ध उपलभ्यते। तथा स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कयोः सम्यक्त्वाद् भ्रष्टः समयं सास्वादनं प्राप्य तत्रैकसामयिकमनुत्कृष्टरसबन्धं कृत्वा मार्गणान्तरमासादयति तमाश्रित्यैकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते। एवं कषायाष्टकस्यापि। श्रेणितोऽवरोहतो जन्तोर्बन्धद्वितीयसमये कालकरणेन मार्गणाऽपगमात् ज्ञानावरणादिसप्तविंशतेः समयमात्रो बन्धकालो बोध्यः। शुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानां जिननाम्नश्चेति नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य जघन्यो बन्धकाल एकः समयः, उपशमश्रेणेः प्रतिपतन् निवृत्तिबादरगुणस्थानके समयमनुत्कृष्टरसबन्धं कृत्वाऽऽयुःक्षयेण जन्तोर्देवत्वाश्रयणात् प्राप्यते, इत्येकेनैव प्रकारेणाऽऽसां नवानामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यबन्धकाल उपपद्यते, प्रकारान्तरेण तदुपपत्तेरभावात्। तथा सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं देवद्विकं मनुष्यद्विकं वैक्रियद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसदशकं पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनामेति अष्टाविंशतेरध्रुवबन्धिनीनां प्रशस्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यो बन्धकाल एवमुपपद्यते-तत्र सातवेदनीयादीनां परावर्त्तमानत्वात्, पराघातोच्छ्वासातपोद्योतनाम्नाञ्चाध्रुवबन्धित्वात्। तथा मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचातपोद्योतरूपाणां सप्तानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यो बन्धकाल उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवादपि प्राप्यते। देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनवकं पराघातनाम उच्छ्वासनामेति अष्टादशानां प्रकृतीनामुपशमश्रेणेः प्रतिपतन् निवृत्तिबादरगुणस्थानके तद्बन्धप्रथमसमये एकसमयमनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं यशःकीर्त्तिनामेति तिसृणां च श्रेणेरवरोहन् दशमगुणस्थानकप्रथमसमये समयमनुत्कृष्टरसं बद्ध्वाऽऽयुःक्षयेण दिवमुपसर्पति जन्तुस्तदा एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्राप्यते। आहारकद्विकस्यैकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धः प्रमत्तगुणस्थानकात् अप्रमत्तगुणस्थानकं गत्वा तत्र समयमनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा यद्वा उपशमश्रेणेरवरोहन् निवृत्तिबादरे समयमनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा कालं करोति तमाश्रित्य प्राप्यते। असातवेदनीयं नीचै-

गोत्रं हास्यरती शोकारती त्रयो वेदास्तिर्यग्द्विकं नरकद्विकं जातिचतुष्कम् आद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरदशकमित्यष्टात्रिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः (१) तासां परावर्त्तमानत्वेन समयान्तरे बन्धपरावर्त्तनात् (२) उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् (३) भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसं बद्ध्वा चरमसमये चाऽनुत्कृष्टरसमुपनिबध्य आयुःक्षयेण मार्गणान्तरं गतं वाश्रित्येति प्रकारत्रयेण प्राप्यते। इति मनुष्यौघमार्गणायां विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यबन्धकालप्ररूपणम् ।

मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यरूपयोः द्वयोर्मार्गणयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकालो मनुष्यौघवज्ज्ञेयः,नवरं मनुष्ययोनिमतीमार्गणायां प्रकारसम्बन्धी कश्चिद्विशेषोऽस्ति स स्वयमूह्यः । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यो बन्धकालोऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद् ज्ञेयः ।

त्रिंशद्देवगतिमार्गणासु स्वस्वप्रायोग्याणामशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यबन्धकालः (१) उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् प्राप्यते, (२) भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसं बद्ध्वा चरमसमयेऽनुत्कृष्टरसं निर्वर्त्य बन्धको गत्यन्तरं गच्छति तदा प्राप्यते, (३) ग्रैवेयकान्ता देवाः उपशमसम्यक्त्वात् प्रतिपत्य समयं सास्वादने स्थित्वा स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कयोः अनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा भवान्तरं गच्छति तदा एकसामयिकोऽनुत्कृष्टरसबन्धो भवति । अनुत्तरवासिनां स्त्यानर्द्धित्रिकादेर्बन्धाभावात् ग्रैवेयकान्तानेवाश्रित्य तृतीयः प्रकारः । इत्यशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपजघन्यकालस्य हेतुपुरस्सरं प्ररूपणम् ।

अथ शुभध्रुवबन्ध्यादीनां तत्क्रियते, तत्रेशानान्तदेवमार्गणासु शुभध्रुवबन्ध्यष्टकं बादरत्रिकमौदारिकशरीरनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम जिननामेति पञ्चदशानां शुभानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यो बन्धकालः (१) उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् (२) भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसबन्धानन्तरं चरमसमयेऽनुत्कृष्टरसबन्धं विधाय जन्तोर्मार्गणान्तरगमनाच्च प्राप्यते ।

सनत्कुमारादिमहस्रारान्तेषु एवमेव प्रकारद्वयेन मार्गणाप्रायोग्यशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयात्मको जघन्यो बन्धकालः प्राप्यते । नवरं तत्राऽनन्तरोक्ताः पञ्चदश त्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम पञ्चेन्द्रियजातिश्चेति अष्टादशानामिति वाच्यम्, तत्र त्रसनामादीनामपि सातत्येन बन्धोपलम्भात् । आनतादिसर्वार्थसिद्धान्तेषु देवेष्वपि अनेनैव प्रकारद्वयेन मार्गणाप्रायोग्यशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यबन्धकाल उपलभ्यते, नवरमत्र पूर्वोक्ता अष्टादश मनुष्यद्विकं चेति विंशतेः प्रकृतीनामिति वाच्यम्, अत्र मनुष्यद्विकस्य स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेन

तस्य ध्रुवतया बन्धसद्भावात् । अध्रुवबन्धिनीनां तूत्कृष्टरसबन्धप्रयुक्तः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रयुक्तो वा समयः प्राप्यते । इमाश्च तास्तत्तन्मार्गणाप्रायोग्या अध्रुवबन्धिन्यः, तद्यथा–भवनपत्यादीशानान्तासु पञ्चसु मार्गणासु सातासाते हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकम् एकेन्द्रियजातिः पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकमातपनामोद्योतनाम त्रसनाम स्थिरषट्कं स्थावरनाम गोत्रद्विकमस्थिरषट्कञ्चेत्यष्टचत्वारिंशत् । सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु देवभेदेषु मार्गणाप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिन्योऽनन्तरोक्ता द्विचत्वारिंशदेव प्रकृतयः,यत एकेन्द्रियजातिस्थावराऽऽतपनामरूपं प्रकृतित्रिकं तत्र न बध्यते, त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामरूपं प्रकृतित्रिकं तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धीति । आनतादिनवमग्रैवेयकान्तेषु देवभेदेषु तु ताश्चत्वारिंशत्, मनुष्यद्विकस्यापि तत्र मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । पञ्चसु अनुत्तरसुरभेदेषु सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति द्वादश एव मार्गणाप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिन्यः, शेषाणां तत्र बन्धार्हाणां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । इति सप्तचत्वारिंशद्गत्यवान्तरमार्गणासु तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यो-बन्धकालो हेतुपुरस्सरो दर्शितः ।

शेषासु द्विनवतौ मार्गणासु स्वस्वप्रायोग्याणामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यो बन्धकालः एवमुपपादनीयः तद्यथा-कासाञ्चित् प्रकृतीनां परावर्त्तमानत्वात्, कासाञ्चिदुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकानुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात्, कासाञ्चिद् भवद्विचरमसमये उत्कृष्टरसं बद्ध्वा चरमसमयेऽनुत्कृष्टरसं निर्वर्त्य मृत्वा च जन्तोर्मार्गणान्तरव्रजनात्, कासाञ्चिद् अबन्धात् परत एकसमयमनुत्कृष्टरसबन्धं विधाय कालं कृत्वा जन्तोर्मार्गणान्तरगमनाद् वा, इत्यादिभिः प्रकारैर्यथासंभवं स्वयमुपपादनीयः । तथा एकसामयिकजघन्यकायस्थितिकासु मनोयोगादिमार्गणासु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकालो जघन्यकायस्थितिमप्याश्रित्य चिन्तनीयः, तत्सर्वं तु ग्रन्थविस्तरभयादेवास्माभिर्नात्र वितन्यते ॥३२४॥ इति मार्गणासु स्वबन्धार्हाणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यकालं निरूप्याऽथ तासु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालं निरूपयिषुरादौ तावद् ध्रुवबन्धिप्रकृतिविषयकं तं निरूपयन् तत्र बहुकासु मार्गणासु तस्य कायस्थितिप्रमाणत्वात् तासु च 'जेट्ठा ससकायट्ठिई' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वाद् यासु स्वोत्कृष्टकायस्थितितो न्यूनोऽनुत्कृष्टरसबन्धकालस्तासु तं दर्शयति—

एगिंदिये णिगोए पणकायेसुं छसुहुमभेएसुं ।
जेट्ठो असंखलोगा अगुरुरसस्स धुवबंधीणं ॥३२५॥

(प्रे०) 'एगिंदिये' इत्यादि, एकेन्द्रियौघमार्गणायां 'णिगोए' त्ति निगोदे साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणायामित्यर्थः 'पणकायेसु' त्ति पृथ्वीकायाऽप्कायतेजःकायवायुकायवनस्-

तिकायलक्षणासु पञ्चसु कायमार्गणासु 'छसुहुमभेएसु' सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मपृथ्वीकाय-सूक्ष्माप्काय-सूक्ष्मतैजसकाय-सूक्ष्मवायुकाय-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायरूपासु षट्सु सूक्ष्मसत्कमार्गणासु इति सर्वसंख्यया त्रयोदशमार्गणासु ज्ञानावरणादीनामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनाम्'अगुरुरसस्स' त्ति अनुत्कृष्टरसबन्धस्य 'जेट्ठो' त्ति उत्कृष्टः, प्रस्तावाद् बन्धकालः 'असंखलोगा' त्ति असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणो भवति । भावना त्वेवम्–एकेन्द्रियौघमार्गणायां साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणायां पृथ्व्यादिपञ्चकायौघमार्गणासु च यथा बादरास्तथा सूक्ष्मा अपि जीवा अन्तःपतन्ति, तत्रोत्कृष्टरसबन्धका बादरा एव, सूक्ष्मास्तु स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावदनुत्कृष्टरसमेव बध्नन्ति, तेषां बादरापेक्षया हीनतरसंक्लेशविशुद्धिसद्भावात् । ततोऽनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालः स्वस्वसूक्ष्मोत्कृष्टकायस्थितेरल्पतरो नैवाऽऽयाति, सा च कायस्थितिरुत्कृष्टतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणा इति घटत एवैकेन्द्रियौघादिमार्गणासु यथोक्तो अनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालः । नन्वेकेन्द्रियकायस्थितेरसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मकाऽनन्तकालप्रमाणत्वात् तावत्कालमनुत्कृष्टरसबन्धकमाश्रित्यैकेन्द्रियौघमार्गणायां ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य काल उत्कृष्टतोऽनन्तकालो भवितुमर्हतीति चेन्न, अनन्तकालमेकेन्द्रियत्वे वसतोऽपि जन्तोरसंख्येयकालादूर्ध्वं नियमेनोत्कृष्टरसबन्धसम्भवेनाऽनुत्कृष्टरसबन्धकाल उत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाण एव । तत्कुतोऽवसीयते इति चेत् , एकेन्द्रियौघमार्गणायामेकजीवाश्रयोत्कृष्टरसबन्धाऽन्तरस्योत्कृष्टपदेऽसंख्येयकालतया वक्ष्यमाणत्वात् । ततः किम् ? उच्यते, असंख्येयकालात् परतोऽविच्छिन्नतयाऽनुत्कृष्टरसबन्धो भवितुं नार्हतीति ।

षट्सु सूक्ष्मसत्कमार्गणाभेदेषु यद्यपि प्रस्तुतकालोऽसंख्येयलोकप्रमाणः तथापि स स्वोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयगुणहीनो ज्ञातव्यः, न तु सूक्ष्मसत्कोत्कृष्टकायस्थितिमितो न वा देशोनतत्कायस्थितिप्रमितः, कुत इति चेदुच्यते–नानाजीवाश्रयोत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य निषेत्स्यमानत्वात् , ततः किम् ? उच्यते, प्रस्तुतमार्गणासु प्रतिसमयमुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा अधिका वा प्राप्यन्ते, यतो यस्यां मार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धका जघन्यरसबन्धका वा यद्यसंख्येयलोकतः स्तोका एव तर्हि नानाजीवाश्रयोत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यरसबन्धस्य वाऽन्तरं प्राप्यते इति नियमः । प्रस्तुतमार्गणासु तु अन्तरं नास्ति उत्कृष्टरसबन्धस्य,अतो ज्ञायते उत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयलोकप्रमाणा अधिका वा सन्ति । तथा प्रस्तुतमार्गणागतजीवापेक्षया मार्गणाकायस्थितिरसंख्येयगुणाऽधिका, ततो यदि मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितोऽनुत्कृष्टरसबन्धकालः स्यात् तर्हि नानाजीवाश्रयोत्कृष्टरसबन्धान्तरं भवितुमर्हति, न च तथाऽस्ति किन्तु मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेर्निर्वाहकः सर्वोऽपि जीवोऽनुत्कृष्टरसबन्धानामन्तराऽसंख्येयश उत्कृष्टरसबन्धान् करोति ततश्च स्वोत्कृष्टकायस्थितितोऽसंख्येयगुणहीनोऽनुत्कृष्टरसबन्धकालो भवति न तु ततोऽधिक इति ॥ ३२५॥ अथाऽज्ञान-

द्विकादिषु षट्सु मार्गणासु अभव्यमार्गणायां च ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालस्य दिदर्शयिषयाऽऽह—

णेयो अण्णाणदुगे असंजमाचक्खुभवियमिच्छेसुं ।
ओघव्व असंखेज्जा परिअट्टा होअइ अभविये ॥३२६॥

(प्रे०) 'णेयो' इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपेऽज्ञानद्विके असंयमाऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-मिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु चेति सर्वसंख्यया षड्मार्गणासु ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरस-बन्धस्योत्कृष्टो बन्धकाल ओघवद् भवति । प्रस्तुतासु षट्सु मार्गणासु शुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरस-बन्धस्त्रिविधः प्राप्यते अनाद्यनन्तोऽनादिसान्तः सादिसान्तश्चेति तत्राद्यप्रकारद्वयकालस्याऽनियतत्वेन वक्तुमशक्यत्वात् सादिसान्तलक्षणस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धतृतीयप्रकारस्योत्कृष्टकाल ओघप्ररूपणायां यथा दर्शितोऽस्ति तथा अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोर्भावनीयः, अज्ञानद्विकाऽसंयममिथ्यात्वरूपाणां चतसृणां मार्गणानां तु सादिसान्तकायस्थितेरुत्कृष्टतोऽपि देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमितत्वात् तत्रौघोक्तो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमितोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः प्राप्यते । तथाऽशुभध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकाल आवलिकाऽसंख्येयभागगताऽसंख्येयसमय-राशिप्रमिताऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तमितसाधिकैकेन्द्रियकायस्थितिमितो भवति, प्रस्तुतमार्गणासु पञ्चेन्द्रियाणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वेनैकेन्द्रियादीनां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् केवलानुत्कृष्टरस-बन्धसद्भावात् तेषामुत्कृष्टकायस्थितेश्च यथोक्तमानत्वात् ।

तथाऽभव्यमार्गणायां शुभानामशुभानां च ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो-ऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तमितो भवति, इह हि संज्ञिनामेवोत्कृष्टरसबन्धो जायते ततोऽसंज्ञिसत्कोत्कृष्टकाय-स्थितेन्यूनतरकालो न संभवति अनुत्कृष्टरसबन्धस्य, उत्कृष्टकालप्ररूपणायाः प्रस्तुतत्वात् , असंज्ञिका-यस्थितेश्चोत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तमितत्वात् । सा चासंज्ञिनः कायस्थितिरेकेन्द्रियकायस्थितेः साधिका भवति । ननु कश्चिदभव्यजीव एकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं समाप्य द्वीन्द्रियादिषूत्पन्नः सन् तत्राऽपि ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसं बध्नाति, अभव्यमार्गणायां संज्ञिन एवोत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् । ततः पुनः कालान्तरे एकेन्द्रियो भूत्वा तदुत्कृष्टकायस्थितिं समापयति इत्येवं भूयो भूय एकेन्द्रि-योत्कृष्टकायस्थितिं यावदनुत्कृष्टरसबन्धकरणेनाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽनन्तपुद्गलपरा-वर्त्तमितो भवतीति चेत् । न वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् , अभव्यप्राप्येषु सर्वसांसारिकभावेषु सुदुर्लभनव-मग्रैवेयकप्राप्तेरन्तरस्याऽपि उत्कृष्टतस्तावत्कालप्रमाणत्वेनाभिहितत्वात् , उक्तं च **पञ्चसंग्रह-वृत्तौ मलयगिरिपादैः**,—'नवमग्रैवेयकदेवान् यावत् सर्वत्राऽपि भूयःस्वदेवनिकाये उत्पद्यमानस्योत्कृष्ट-मन्तरं स्थावरकालः आवलिकाऽसंख्येयभागवर्त्तिसमयराशिप्रमाणाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तमानः' इति

ततोऽभव्यमार्गणायां ध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालस्तु सुतरां यथोक्तोऽसंख्येय-पुद्गलपरावर्त्तप्रमितसाधिकैकेन्द्रियकायस्थितिमितो भवति, न ततोऽधिक इति ॥३२६॥

अथ उक्तशेषासु मार्गणासु ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालं प्रचिकटयिषु-राह—

जेट्ठा ससकायठिई सप्पाउग्गाण होइ सेसासुं ।
णवरं सुरसुइलासुं अडमिच्छाईण एगतीसुदही ॥३२७॥ (गीतिः)
णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे मुणेयव्वो ।
मज्झऽट्ठकसायाणं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥३२८॥

(प्रे०) 'जेट्ठा' इत्यादि, उक्तशेषासु सार्धशतमार्गणासु 'सप्पाउग्गाण' त्ति तत्र तत्र बन्धप्रा-योग्याणां ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितो भवति, तत्र तिर्यग्गत्योघाद्याः कतिपया मार्गणा विहाय शेषमार्गणासु रसबन्धाऽध्यवसायापेक्षया काय-स्थितिसमयानामल्पत्वात् । ततोऽत्र किमायातमिति चेत् , उच्यते–विवक्षितः कश्चिज्जीवः प्रतिसमयं पृथक् पृथग् रसबन्धाऽध्यवसायं स्पृशन् मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावदुत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायमस्पृष्ट्वा प्रस्तुतमार्गणासु अनुत्कृष्टमेव रसबन्धं कर्तुं शक्नोति. रसबन्धाध्यवसायापेक्षया कायस्थितिसमयानाम-संख्येयगुणहीनत्वात् । अपि च वक्ष्यमाणायां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टरसबन्धान्तरप्ररूपणायामुत्कृष्ट-रसबन्धस्याऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणमन्तरं वक्ष्यते, ततः प्रकृते तिर्यग्गत्योघादि-मार्गणासु रसबन्धाऽध्यवसायापेक्षया कायस्थितेराधिक्येऽप्येकेन्द्रियाणामुत्कृष्टरसबन्धस्याभावात् ,प्रस्तुत मार्गणानां च कायस्थितेरेकेन्द्रियप्रधानत्वाद् यथोक्तोऽनुत्कृष्टरसबन्धकालः प्राप्यते, एकजीवाश्रयस्तु सुतरां मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावदुत्कृष्टरसबन्धस्याभावः संभवति । इति शेषमार्गणासु सम्भाव्यमान-बन्धानां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालमभिधायाऽथ तत्रैव कासुचिद् मार्गणास्वा-पतितामतिव्याप्तिमुद्धरयन्नाह–'णवरं' इत्यादिना, यद्यपि सामान्येन सार्धशतमार्गणासु स्वस्वोत्कृष्ट-कायस्थितिप्रमितस्तत्र तत्र संभाव्यमानबन्धानां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्ध-काल उक्तस्तथापि विशेषचिन्तायाम् 'सुरसुइलासु' ति देवौघमार्गणायां शुक्ललेश्यामार्गणायां च 'अडमिच्छाईण' त्ति मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां प्रकृती-नामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः 'एगतीसुदही' त्ति एकत्रिंशत्सागरोपमाणि ज्ञेयः, किमुक्तं भवति ? देवौघमार्गणायाः स्वोत्कृष्टकायस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि शुक्ललेश्यायाश्च साधिकत्रय-स्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरवासिदेवानाश्रित्याऽस्ति किन्तु तेषां नियमात् सम्यग्दृष्टित्वेन मिथ्यात्वा-दिप्रकृत्यष्टकं तैर्नैव बध्यते, ततो मिथ्यादृष्टीन् नवमग्रैवेयकसुरानाश्रित्य मिथ्यात्वादीनामष्टानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो यथोक्त एकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाण आयाति, तेषां

भवस्थितेः कायस्थितेर्वोत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात् । तत्रापि **'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः'** शुक्ललेश्यामार्गणायां साधिकैकत्रिंशत्सागरोपमाणि वाच्यानि, देवेषूत्पित्सूनां मनुष्यतिरश्चाम् इतो मरणादन्तर्मुहूर्तादर्वाक् स्वागामिदेवभवसत्कलेश्योद्भवात् । अत्रापि रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येय-लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् एकत्रिंशत्सागरोपममितायाः कायस्थितेश्च तदपेक्षयाऽल्पत्वात् समग्रामुत्कृष्टकायस्थितिं यावदनुत्कृष्टरसबन्धो न विरुध्यते इति । तथा **'णाणतिगे'** त्ति मति-ज्ञानश्रुतज्ञानाऽवधिज्ञानरूपे ज्ञानत्रिके **'ओहिम्मि'** त्ति अवधिदर्शनमार्गणायां चकारः समुच्चयार्थः **'सम्मत्ते'** त्ति सम्यक्त्वौघमार्गणायां **'वेअगे'** त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामिति सर्वसंख्यया षट्सु मार्गणासु **'मज्झऽट्ठकसायाणं'** ति अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-लक्षणानामष्टानां कषायाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः **'तेत्तीसा सागराऽब्भहिया'** देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः । भावना त्वेवम्–कश्चित् सर्वविरतिः मनुष्योऽत्र कषायाष्टकस्याबन्धक आयुःक्षयेण अनुत्तरस्वामिदेवेषूत्पन्नः सन् तत्र त्रयस्त्रिंशत्सागरो-पममितस्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावत् कषायाष्टकस्यानुत्कृष्टरसं बध्नाति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य मिथ्या-दृष्टिस्वामिकत्वात्, अनुत्तरस्वामिदेवस्य च नियमेन सम्यग्दृष्टित्वात् । ततश्च्युत्वा पूर्वकोट्या-युष्केषु मनुष्येषूत्पन्नः सन् तत्रापि सततमामामनुत्कृष्टरसं बध्नाति ततो भवचरमान्तर्मुहूर्ते सर्व-विरतिं प्रतिपद्य कषायाष्टकस्याऽबन्धको भवति, इत्येवं कषायाष्टकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्ध-कालो मतिज्ञानादिषड्मार्गणासु यथोक्तो देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यते। ननु स एव मनुष्यः सर्वविरतिमनासाद्य देवेषूत्पद्य तत्र कषायाष्टकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धं करोति तदाऽत्रोक्तकालापेक्षया दीर्घतरोऽपि कालः प्राप्यते कषायाष्टकानुत्कृष्टरसबन्धस्येति चेन्न, अनुत्तरस्व-र्गादागतस्य मनुष्यस्य तद्भवेऽवश्यं सर्वविरतिप्रतिपत्तिरिति मतेनेदमुक्तं द्रष्टव्यम् । **सप्ततिका-भाष्यवृत्त्यभिप्रायेण** तु अविरतसम्यग्दृष्टेः कालः षट्षष्टिसागरोपममितो दृश्यते, तदभिप्रायेण तु अत्रोक्तादधिकतरोऽपि कालो वाच्य इति । प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य तु **तत्त्वार्थवृत्तिकृदाद्य-भिप्रायेण** देशविरतेर्वारत्रयमच्युतगमनेन सातिरेकषट्षष्टिसागरोपमाणि यावत् निरन्तरं बन्ध-सद्भावात् तावत्प्रमाणः कालोऽवगन्तव्यः । अथ 'जेट्ठा ससकायठिई सप्पाउग्गाण होइ सेसासु' इति गाथावयवेन यत् शेषमार्गणासु तत्र संभाव्यमानबन्धानां ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरस-बन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमित उक्तः तत् कस्या मार्गणायाः कियत्प्रमाणा उत्कृष्टकायस्थितिरिति जिज्ञासायां 'कायठिई उक्कोसा' इत्यादिना **मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थे** तद्विवृतौ च सविस्तरं सोपपत्तिकं दर्शितं *कायस्थितिप्रमाणमत्र यन्त्रतो दर्श्यते–

---

* अनन्तरवक्ष्यमाणकायस्थितिप्रमाणयन्त्रके कासाञ्चिन्मार्गणानां कायस्थितिर्भवस्थितिप्रमाणत्वे-नातिदिश्यते, किन्तु तन्मार्गणागतजीवानां भवस्थितिः सुप्रतीतत्वान्न वक्ष्यतेऽस्माभिः, जिज्ञासुभिः मूल-प्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थो ग्रन्थान्तराणि वा विलोकनीयानीति ।

❀ A निरयगत्योघः,
❀ B प्रथमनिरयभेदः
★ B ६, द्वितीयाद्याः,
÷ C तिर्यग्गत्योघः
÷ D पञ्चेन्द्रियतिर्द-गोघः,
+ D तत्पर्याप्त०,
÷ E तदपर्याप्त०,
+ D तिरश्ची,
÷ D मनुष्यौघः,
+ D पर्याप्तमनुष्यः,
÷ E अपर्याप्तमनुष्यः
+ D मानुषी,
❀ A देवगत्योघः,
❀ B २,भवन-व्यन्तर०
● B सर्वार्थसिद्धः,
★ B २६,ज्योतिष्काद्याः
÷ C एकेन्द्रियौघः,
÷ F बादर „ „
+ G तत्पर्याप्तभेदः,
÷ E तदपर्याप्त „
÷ H सूक्ष्मैकेन्द्रियौघ
+ E तत्पर्याप्तभेदः,
÷ E तदपर्याप्त „
÷ G द्वीन्द्रियौघः,
+ I पर्याप्तद्वीन्द्रियः,*
÷ E अपर्याप्त „

÷ G त्रीन्द्रियौघः,
+ J पर्याप्तत्रीन्द्रियः
÷ E अपर्याप्त „
÷ G चतुरिन्द्रियौघः
+ K पर्याप्तचतुरिन्द्रियः*
÷ E अपर्याप्त „
÷ L पञ्चेन्द्रियौघः
+ M पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः
÷ E अपर्याप्त „
÷ H ४,पृथिव्यप्तेजो-वायुकायौघः,
÷ C वनस्पतिकायौघः
÷ N साधारण „ „
÷ O प्रत्येक „ „ „
÷ O ५ बादरपृथिव्य-प्तेजोवायुसाधार-णवनौघभेदाः,
÷ H ५,सूक्ष्मपृथिव्या-दिपञ्चसूक्ष्मौघाः,
+ G ३, पर्याप्तबादर-पृथिव्यब्वायु०
+ J पर्याप्तबादरतेज-स्कायः,
+ E „ „,साधारणवन०
+ G „ प्रत्येकवन०
+ E ५, पर्याप्तसूक्ष्म-पृथिव्याद्याः,

÷ P त्रसकायौघः,
+ M पर्याप्तत्रसकायः*
÷ E १२,शेषाऽपर्याप्त-सूक्ष्मबादरपृथिव्या-द्यपर्याप्तत्रसान्ताः,
∴ E १०, मनोवचो-योगभेदाः,
+ C काययोगौघः,
∴ Q औदारिकः,
△ E „ मिश्रः,
∴ E वैक्रियः,
+ E „ मिश्रः,
∴ E आहारकः,
+ E „ मिश्रः,
∴ R कार्मणः,
∴ S स्त्रीवेदः,
+ M पुरुषवेदः,
∴ C नपुंसकवेदः,
∴ E अपगतवेदः,
+ E ३,क्रोध-मान-माया., *
∴ E लोभ,
+ T २,मति-श्रुतज्ञाने,
∴ T अवधिज्ञानम् *
∴ U मनःपर्यवज्ञानम्*
+ V २, मतिश्रुता-ऽज्ञाने,

∴ W विभङ्गज्ञानम्,
∴ U २,सयमौघ-परि-*
+ U देश० [हार०
∴ U २,सामा०छेद०
∴ E सूक्ष्मसम्परायः,
+ V असंयमः
+ L चक्षुर्दर्शनम् *
● X अचक्षुर्दर्शनम्,
∴ T अवधिदर्शनम्,*
+ W कृष्णलेश्या.
+ Y ४,नील-कापोत-*तेजः-पद्मलेश्याः
+ W शुक्ललेश्या,
● Z २,भव्याऽभव्यौ
+ T सम्यक्त्वौघः,
+ T क्षायोपशमिकम्,
+ W क्षायिकम्,
+ E औपशमिकम्,
+ E सम्यग्मिथ्यात्वम्
∴ & सासादनम्,
+ V मिथ्यात्वम्,
÷ M संज्ञी,
÷ C असंज्ञी,
△ F आहारी,
∴ R अनाहारी,

❀,A इत्या-दिना संज्ञिता मार्गणाः संख्यया—

A	२	U	६
B	३६	V	४
C	६	W	४
D	६	X	१
E	५०	Y	४
F	२	Z	२
G	८	&	१
H	१०		१५०
I	१	❀	५
J	२	★	३२
K	१	÷	५०
L	२	+	४८
M	४	△	२
N	१	●	४
O	६	∴	२९
P	१		१५०
Q	१		
R	२		
S	१		
T	६		

जघन्यकायस्थितिः-❀ १० वर्षसहस्र० ★ स्वजघन्यभवस्थितिः ÷ क्षुल्लकभव.=२५६ आवलिकाः, △ त्रिसमयोनक्षुल्लकभव + अन्तर्मुहूर्तम् ∴ १ समय. ● या उत्कृष्टा सैव जघन्या ।

उत्कृष्टकायस्थितिः-A ३३ सागरोपम० B स्वोत्कृष्टभवस्थितिः, C असंख्यपुद्गलपरावर्त० D पूर्वकोटि-पृथक्त्वा-ऽभ्यधिकपल्योपमत्रयम् E अन्तर्मुहू० F अङ्गुलाऽसंख्यभाग० G संख्येयवर्षसहस्र० H असंख्येया लोकाः I संख्येयवर्ष० J संख्येयदिवस० K संख्येयमास० L साधिकसहस्रसागरोप० M सागरोपमशतपृथक्त्वं N सार्धद्वय-पुद्गलपराव० O ७० कोटिकोटिसागरोप० P साधिकसागरोपमसहस्रद्वयम् Q देशोनद्वाविंशतिवर्षसहस्र० R त्रिसमय० S पल्योपमशतपृथक्त्व० T साधिक ६६ सागरोपम० U देशोनपूर्वकोटिः V भङ्गत्रयं, तृतीयभङ्गे देशोनाऽर्धपुद्गल-परावर्त० W ३३ सागरोपम० यथासम्भवं साधिक० X अनादिध्रुव० अनाद्यध्रुव० Y क्रमेण साधिक १०-३-१८ सागरोप० Z क्रमेणा-ऽनाद्यध्रुवा-ऽनादिध्रुवभङ्गौ & ६ आवलिकाः ।

*मतान्तरे कायस्थितिः-उत्कृष्टपदे-पर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-बादराग्निकायलक्षणमार्गणाचतुष्टये संख्येय-वर्षसहस्राणि । पर्याप्तत्रस-चक्षुर्दर्शनमार्गणयोः सागरोपमसहस्रद्वयम् । नीललेश्यायां साधिकसप्तदशसागरोपम० । कापो-तलेश्यायां साधिकसप्तसागरोपमाणि । जघन्यपदे-क्रोध-मान-मायामार्गणासु समयः । अवधि-मनःपर्यवज्ञाना-ऽवधि-दर्शनसंयमौघ-परिहारविशुद्धिकसंयमेष्वन्तर्मुहूर्तम् ।

इति दर्शितं समासेन सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु जघन्योत्कृष्टकायस्थितिमानम् , विशेषार्थिना तु अस्यैव बन्धविधानग्रन्थस्य मूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थो ग्रन्थान्तराणि वा विलोकनीयानि । अथ प्रकृतम्–एकेन्द्रियौघ-साधारणवनस्पतिकायौघ-पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायौघ–सूक्ष्मैकेन्द्रिय-पृथ्वीकायाप्काय-तेजःकाय-वायुकाय-साधारणवनस्पतिकायौघा-ऽज्ञानद्विका-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-मिथ्यात्वा-ऽभव्यलक्षणासु विंशतिमार्गणासु पृथगुक्तत्वात्-तद्वर्जासु नरकौघादिषु सार्धशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितो भवति, तत्तन्मार्गणाकायस्थितेः समयसंख्यापेक्षया तत्तन्मार्गणाप्रायोग्याणां रसबन्धाऽध्यवसायानामधिकतरत्वात् । ननु तिर्यग्गत्योघमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिरसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मकाऽनन्तकालप्रमिता अस्ति तन्मार्गणाप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायास्त्वसंख्येयाः, एवं रसबन्धाऽध्यवसायानां कायस्थितिसमयापेक्षयाऽनन्तगुणहीनत्वात् कथं तावत्कालमनुत्कृष्ट एव रसबन्धो भवितुमर्हतीति चेत् , उच्यते–तिर्यग्गत्योघ-काययोगौघ नपुंसकवेदा-ऽसंज्ञिरूपासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सर्वैकेन्द्रियजीवानामप्यन्तःप्रवेशात् तेषां च तिर्यग्गत्योघादिमार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धासंभवात् , तेषामपि कायस्थितेरसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तमितत्वात् भवत्येव तिर्यग्गत्योघादिषु चतसृषु मार्गणासु ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्य बन्धकाल असंख्येयपुद्गलपरावर्त्ता इति ।

अत्र इदमप्यवधेयम्–देवौघः शुक्ललेश्येति मार्गणाद्वये त्रिचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनामेवाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः क्रमात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमात्मकोऽन्तर्मुहूर्त्तद्वयाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमात्मकश्च स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितो ज्ञेयः, न तु तत्र बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामेकपञ्चाशतः प्रकृतीनां कुतः ? मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्काणां 'अडमिच्छाईण एगतीसुदही' त्यनेनात्रैव पृथगुक्तत्वात् । अत्र हि शुक्ललेश्यामार्गणायां कषायाष्टकस्याऽनुत्तरभवोत्तरभवसत्केनैकेनैवान्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ज्ञेयानि, न त्वन्तर्मुहूर्त्तद्विकेन सहितानि तानि, कुतः ? अनुत्तरसुरेषूत्पित्सूनां संयतत्वात् तेषां च कषायाष्टकस्य बन्धाभावात् । तथैव ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन–सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणासु षट्सु मार्गणासु पञ्चत्रिंशत एव ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः स्वोत्कृष्टकायस्थितिमितो वाच्यः न तु तत्र बन्धप्रायोग्याणां त्रिचत्वारिंशतः । कुतः ? अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां मध्यमाष्टकषायाणां 'मज्झऽट्ठकसायाणं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया' इत्यनेन पृथगुक्तत्वात् ॥३२७-३२८॥

गतं मार्गणासु ध्रुवबन्धिप्रकृतिविषयमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालनिरूपणम् , अथ तत्र अध्रुवबन्धिविषयं तदाह—

सव्वासु मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण अधुवबंधीणं ।

सप्पाउग्गाण गुरू अत्थि अतिव्वाणुभागस्स ॥३२९॥

(प्रे०) **'सव्वासु'** इत्यादि, सर्वासु सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु **'अवक्खमाणाण'** त्ति अनन्तरवक्ष्यमाणगाथासु नामग्राहमवक्ष्यमाणानाम् **'अधुवबंधीणं'** ति अध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां कियतीनामित्याह **'सप्पाउग्गाण'** स्वप्रायोग्याणां तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामित्यर्थः **'अतिव्वाणुभागस्स'** त्ति अनुत्कृष्टरसबन्धस्य **'गुरू'** उत्कृष्टः, काल इति प्रकरणाद् गम्यते **'मुहुत्तंतो'** त्ति अन्तर्मुहूर्तमस्ति इत ऊर्ध्वमनन्तरवक्ष्यमाणगाथासु तत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां कियतीनामपि अध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालमानं स्वस्वोत्कृष्टकायस्थित्यादिमितं वक्ष्यते, यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः पृथक् प्रतिपादितो न दृश्येत तासां सर्वासामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, न ततोऽप्यधिक इत्यर्थः, तासामध्रुवबन्धित्वेन अन्तर्मुहूर्तात् परतस्तद्बन्धविरमणात् , स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवाद् वा । यथा सातवेदनीयस्योत्कृष्टतोऽनुत्कृष्टरसबन्धोऽन्तर्मुहूर्तं यावदेव भवति, ततः परं तत्प्रतिपक्षभूतस्याऽसातवेदनीयस्य बन्धसद्भावात् , तथैवोद्योतनाम्नोऽप्यनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं, ततः परं तद्बन्धस्याऽवश्यं विरमणादित्येवं शेषप्रकृतिविषयमपि यथासंभवं ज्ञेयम् ॥३२९॥

साम्प्रतं नरकगत्योघादिषु एकादशसु मार्गणासु नामग्राहं कासाञ्चित् अध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं प्रतिपादयति—

णिरय-चरमणारग-किण्हासु तितिरियाइ-णवुरलाईणं ।
ससगुरुकायठिई सा सगतिपुमणराइगाण देसूणा॥३३०॥ (गीतिः)
णिरये जिणस्स णेयो अब्भहिया सागरोवमा तिण्णि ।
पढमाइछणिरयेसुं लेसासु य णीलकाऊसुं ॥३३१॥
उरलाईण णवण्हं सगगुरुकायट्ठिई मुणेयव्वो ।
सा देसूणा णेयो सत्तपुमाइतिणराईणं ॥३३२॥
णवरि सगुरुकायठिई देसूणा तिरिउरालियदुगाणं ।
किण्हाए ओरालियदुगस्स खलु णीलकाऊसुं ॥३३३॥
तित्थस्स पढमणिरये देसूणुदही तिसागरा ऊणा ।
दुइअणिरयम्मि अहिया तइअणिरयकाउलेसासुं ॥३३४॥

(प्रे०) 'णिरय०' इत्यादिगाथापञ्चकम्, नरकगत्योघ-सप्तमनरक-कृष्णलेश्यारूपासु तिसृषु मार्गणासु तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातोच्छ्‌वासबादरत्रिकलक्षणानां द्वादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, प्रागुक्तगाथाविवृतिगतकायस्थितियन्त्रतो नरकौघादिमार्गणानां कायस्थितिमवगम्य तत्प्रमितोऽत्रानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालस्तिर्यग्द्विकादीनां द्वादशानां प्रकृतीनां वाच्यः। अत्र भावना त्वेवम्–कश्चिद् मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारकः स्वोत्पत्तिसमयादारभ्याऽऽमरणमुत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायमस्पृशन्नासां द्वादशानामनुत्कृष्टरसं बध्नाति तमाश्रित्य चरमनरकमार्गणायां यथोक्तः कालः प्राप्यते। नरकगत्योघमार्गणायामपि तमेव सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य यथोक्त उत्कृष्टो बन्धकालस्तिर्यग्द्विकादीनां द्वादशप्रकृतीनां प्राप्यते, तत्र सप्तमनारकस्यान्तःप्रवेशात् मिथ्यादृष्टिना तेनाऽऽभवं ता ध्रुवतया बध्यन्त इति कृत्वा च। तथैव कृष्णलेश्यामार्गणायामपि तमेव सप्तमपृथ्वीनारकमपेक्ष्य यथोक्त उत्कृष्टकालो द्रष्टव्यः; तस्याऽऽभवं कृष्णलेश्याकत्वात्। कृष्णलेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकादिविषयः कश्चिद् विशेषस्तु ग्रन्थकृता अचिरादत्रैव वक्ष्यते। न च स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावदनुत्कृष्टरसबन्धः कुतोऽत्र संभवति कदाचिदन्तरोत्कृष्टरसबन्धस्यापि संभवादिति वाच्यम्, औदारिकद्विकादीनां नवानां तूत्कृष्टरसबन्धस्य प्रकृतमार्गणासु सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वेन मिथ्यादृष्टेस्तदसम्भवात्। तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्भवत्यपि उत्कृष्टरसबन्धः कस्यचिन्मिथ्यादृष्टेः प्रकृतमार्गणागतजन्तोस्तथापि अनुत्कृष्टबन्धकालप्रस्तावात् न तेनेहाधिकारः, यतः कस्यचिन्मिथ्यादृशः स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावदनयोरनुत्कृष्टरसबन्धो न विरुध्यते, तदुत्कृष्टकायस्थितिसमयेभ्यो रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणाधिकत्वात्। यासु यासु मार्गणासु असंख्यलोकतो न्यूना कायस्थितिस्तासु तासु मार्गणासूत्कृष्टकायस्थितिवतामपि जन्तूनामुत्कृष्टरसबन्धस्यानावश्यकत्वात्। तथा 'सगतिपुमणराइगाण' त्ति 'पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्च' इति कालद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथावयवोक्तानां पुरुषवेदादीनां सप्तानां प्रकृतीनां 'णरदुगवइराणि' इति मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां मनुष्यद्विकादीनां तिसृणां प्रकृतीनां चेति सर्वसंख्यया दशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः 'सा' त्ति स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना अन्तर्मुहूर्तात्मकेनैकेन देशेनोना नरकगत्योघादिमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेया। सप्तमनरके उत्पत्त्यनन्तरं कस्यचिज्जन्तोरन्तर्मुहूर्तात् परतः सम्यक्त्वप्राप्तिसम्भवात् तत्प्राप्त्यनन्तरं भवचरमान्तर्मुहूर्तं मुक्त्वाऽऽभवं सततमेतद्बन्धसद्भावेन तावत्कालमाऽऽसामनुत्कृष्टरसबन्धस्यापि संभवाच्च। तथा नरकौघमार्गणायां जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः पल्योपमाऽसंख्येयभागेनाऽभ्यधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि, जिननामसत्कर्मणस्ततोऽधिकस्थितिकनारकतयोत्पत्तिप्रतिषेधात्। इयमत्र भावना–कश्चिद् बद्धनरकायुष्को मनुष्यो देवगुर्वादिसामग्रीमुपलभ्य तथा च क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमासाद्य तत्प्रकर्षवशाज्जिननाम्नो निकाचनां करोति, ततो भवचरमान्तर्मुहूर्ते नरकं प्रति प्रस्थितः सन् सम्यक्त्वरत्नं परित्यज्य मिथ्यादृष्टीभूय तृतीयनर-

कायप्रस्तरे पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकत्रिसागरोपमस्थितिकनारकतयोत्पद्यते तत्र जिननामसत्ताप्रभावेणान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं सम्यक्त्वं समासाद्यामरणमनुत्कृष्टरसोपेतं जिननाम बध्नाति तमाश्रित्याऽन्तर्मुहूर्त्तोनपल्योपमासंख्येयभागाऽभ्यधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि जिननामानुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालतया प्राप्यन्ते नरकगत्योघमार्गणायामिति । चरमनरकमार्गणायां तु जिननाम्नो बन्ध एव नास्ति। कृष्णलेश्यामार्गणायामस्त्येव तद्बन्धः, किन्तु स मनुष्याणामेव, तेषां च लेश्यायाः परावर्त्तमानत्वेन आन्तर्मुहूर्तिकत्वात् जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य कालोऽपि तावत्प्रमाणादधिको न भवति ततः परं मार्गणाऽपगमात् , तस्मादत्र नोक्तः साक्षाद् ग्रन्थकृता 'मुहुत्ततो अवक्खमाणाणे' त्यादिनैवोक्तप्रायस्त्वात् । अथ यासामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तमेवास्ति तासां 'मुहुत्ततो अवक्खमाणाण' इत्यादिना ग्रन्थकृता संक्षेपेणैव दर्शितत्वात् वाचकसौकर्याय स्वस्मृत्यर्थं च कस्यां मार्गणायां कासां कियतीनाञ्च प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति तदेव दर्शयामः-तत्र नरकौघमार्गणायां सातासातवेदनीये हास्यरती शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ आद्यवर्जं संहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरुद्योतनाम स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनामाऽस्थिरषट्कमित्येकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति, तत्र सातवेदनीयहास्यरत्यादीनामन्तर्मुहूर्त्तात् परतः स्वप्रतिपक्षाऽसातवेदनीयशोकारत्यादिप्रकृतिबन्धसम्भवेन तद्बन्धविरमणात् , उद्योतनाम्नोऽध्रुवबन्धित्वेनाऽन्तर्मुहूर्तात् परतोऽबन्धसम्भवात् । देवद्विकनरकद्विकजातिचतुष्कवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकाऽऽतपनामस्थावरचतुष्करूपाणां सप्तदशानां प्रकृतीनां नरकगतौ बन्धाभावात् , तिर्यग्द्विकादीनां त्रयोविंशतेश्च प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालस्य मार्गणोत्कृष्टकायस्थित्यादिप्रमितत्वेन पृथगुक्तत्वादिति निष्ठितमिदं निरयगत्योघमार्गणायामध्रुवबन्धिप्रकृतिविषयमनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालनिरूपणम् । सप्तमनरकमार्गणायामपि सातवेदनीयादीनामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तमित्यादि सर्वं नरकगत्योघवत्। कृष्णलेश्यामार्गणायामनन्तरोक्तानां सातवेदनीयादीनामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामाऽऽहारकद्विकवर्जानां देवद्विकादीनां पञ्चदशानां जिननाम्नश्चेति पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं पूर्वोक्तादेव हेतोः। अथप्रथमादिषड्नरकनीलकापोतलेश्यारूपासु अष्टासु मार्गणास्वाह–'उरलाईण णवण्ह' मित्यादिना, तत्र औदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाणां नवानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमितो ज्ञातव्यः, नारकाणां स्वस्वकायस्थितिं यावदासां नवानां ध्रुवतया बन्धोपलम्भात् । नीलकापोतलेश्ययोरपि तद्वतो नारकानाश्रित्य तद्ध्रुवबन्धसद्भावात् । उत्कृष्टकायस्थितिं यावत् सततमनुत्कृष्टरसबन्धस्तु कायस्थितिसमयेभ्यो रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणत्वात् । तथा 'सत्तपुमाइतिणराईणं' ति पुरुषवेदसुखगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानां मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां तिसृणां चेति दशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः 'सा देसूणा' प्रस्तुताऽष्टमार्गणास्वस्वोत्कृष्टकाय-

स्थितिर्देशोनाऽपर्याप्तावस्थासत्काऽन्तर्मुहूर्तेनोनेत्यर्थः । तद्यथा-प्रथमादिनरकेषूत्पन्नो जन्तुरन्तर्मुहूर्तात् पर्याप्तो जायते ततो यथासंभवं झगिति सम्यक्त्वं समासाद्य तत्प्रभावेणाऽमरणं पुरुषवेदादिकमेव प्रकृतिदशकं बध्नाति न तत्प्रतिपक्षभूतं स्त्रीवेदतिर्यग्द्विकाद्यपि । ननु अपर्याप्तावस्थायामपि पुरुषवेदादिबन्धसद्भावेन देशोनोत्कृष्टकायस्थितिरत्र न वक्तव्या किन्तु सम्पूर्णा एव कायस्थितिरिति चेन्न, अपर्याप्तावस्थायां सम्यक्त्वाभावात् तत्र स्त्रीवेदादिबन्धस्यापि नियमेन सद्भावात्, पर्याप्तावस्थायामपि सम्यक्त्वप्राप्त्यनन्तरमेव सततं पुरुषवेदादिबन्धसम्भवात् च देशोना कायस्थितिरेवात्रोक्तानां पुरुषवेदादीनां दशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः । न च प्रथमनरकमार्गणायां क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुत्पादसंभवेन तमाश्रित्य प्रथमनरकमार्गणायां पुरुषवेदादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालः सम्पूर्णा कायस्थितिर्भवत्येव इति वाच्यम्, क्षायिकसम्यग्दृशां तत्रोत्कृष्टकायस्थितावुत्पत्त्यभावादिति । अथ सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वोक्तासु कृष्णादिलेश्यामार्गणासु कश्चिद् विशेषं दर्शयति मूलकारः 'णवरि' इत्यादिना, यद्यपि पूर्वं नरकगत्योघादिमार्गणात्रिके सामान्यतः तिर्यग्द्विकादीनां द्वादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमित उक्तः, तथापि विशेषचिन्तायां तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकयोः कृष्णलेश्यामार्गणायां स देशोनस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितो भवति, तद्यथा-कृष्णलेश्याया उत्कृष्टा स्वकायस्थितिः सप्तमनरकनारकमाश्रित्य प्राप्यते, तस्य पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्तादारभ्यागामिभवाद्यान्तर्मुहूर्तं यावत् तदवस्थानात्, इह हि पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते सत्यामपि कृष्णलेश्यायां तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकौ नैव बध्येते तत्र तस्य नरकद्विकादिबन्धसम्भवात् । ततोऽन्तर्मुहूर्तोनस्वोत्कृष्टकायस्थितिमितोऽनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालस्तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकयोरायाति न तु सम्पूर्णा स्वोत्कृष्टकायस्थितिरिति । तथा 'णीलकाउसु' त्ति नीलकापोतलेश्यामार्गणयोरौदारिकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो देशोना स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिः 'खलु' निश्चयेन ज्ञेयः, तत्तद्वतां नारकाणां स्वपूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते सत्योरपि प्रकृतमार्गणयोरौदारिकद्विकबन्धासंभवात्, नरकं प्रति प्रस्थितानां तु नीलादिलेश्यावतां नरकद्विकबन्धोपलम्भात् । अथ जिननामानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं सम्भाव्यमानतद्बन्धासु मार्गणासु दर्शयति 'तित्थस्स' इत्यादिना. प्रथमनरकमार्गणायां देशोनोदधिः देशोनसागरोपममित्यर्थः, द्वितीयनरकमार्गणायां देशोनानि त्रीणि सागरोपमाणि जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालो ज्ञेयः, जिननामबन्धकस्योत्कृष्टस्थितिकनारकेषूत्पत्त्यभावात् । तथा तृतीयनरकमार्गणायां कापोतलेश्यामार्गणायां च 'अहिया' त्ति अधिकानि-पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि जिननामाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालो ज्ञेयः, भावनात्र नरकगत्योघमार्गणावद् । अथ प्रथमादिषड्नरकमार्गणासु यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति ता दर्शयामः- पूर्वोक्ताः सातवेदनीयादय एकोनत्रिंशत् तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं चेति द्वात्रिंशत् प्रकृतय इति ।

ननु नरकगत्योघमार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः स्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमित उक्तः, अत्र तु कुतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेवेति चेत् , उच्यते–तत्र नरकगत्योघमार्गणायां सप्तमपृथ्वीनारकस्यापि अन्तःप्रवेशात् सप्तमपृथ्वीमिथ्यादृष्टिनारकस्य च सततं तद्बन्धोपलम्भात् ,प्रथमादिषड्नरकमार्गणासु तु मिथ्यादृशामपि नारकाणां तिर्यग्द्विकादेर्मनुष्यद्विकादिना सह परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् उत्कृष्टतोऽपि अन्तर्मुहूर्तमेव तदनुत्कृष्टरसबन्धकालः प्राप्यते ततः परं तद्बन्धस्य परावर्त्तनात् । तथा नीलकापोतलेश्यामार्गणयोरनन्तरोक्ता द्वात्रिंशत् देवद्विकं नरकद्विकं जातिचतुष्कं वैक्रियद्विकमातपनाम स्थावरचतुष्कं जिननाम चेति अष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं, ततः परं तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् , तथास्वाभाव्येन तद्बन्धविरमणाद् वा। नवरमत्र कापोतलेश्यायां जिननाम वर्जयित्वा सप्तचत्वारिंशत एव प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालमानमन्तर्मुहूर्तं वाच्यम् , तदनुत्कृष्टरसबन्धकालस्य 'तिसागरा···अहिया' इत्यादिना पृथगुक्तत्वात् । नन्वध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः कर्मग्रन्थादिषु ग्रन्थेषु त्रिसप्ततिः श्रूयन्ते, अत्र त्वेकोनसप्ततीराश्रित्य निरूपणं कृतं करिष्यते च तत्कुतः ?, चतुर्णामायुषां प्राक्पृथग्निरूपितत्वात् , यथास्थानं एवमेव निरूपयिष्यमाणत्वाच्च ॥३३०-३३४॥

साम्प्रतं तिर्यग्गत्योघमार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं चिचिन्तयिषुराह—

तिरियम्मि तिण्णि पलिया पुमाइएगादसण्ह अब्भहिया ।
ते सगपणिंदियाईणुरलतितिरियाइगाण ओघव्व ॥३३५॥ (गीतिः)

(प्रे०) **'तिरियम्मि'** इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायामध्रुवबन्धिन्य आयुर्वर्जाः षट्षष्टिः प्रकृतयो बध्यन्ते, आहारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धाभावात् । तत्र 'पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्चसुरभिउवदुग' इति पुरुषवेदादीनामेकादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः त्रीणि पल्योपमानि, तद्यथा–कश्चित् संख्यातवर्षायुष्को मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यः त्रिपल्योपममितं युगलिकतिर्यगायुर्बद्ध्वा पश्चात् सुदेवगुर्वादिसामग्रीमासाद्य तद्वशात् सम्यक्त्वं क्रमेण च क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्य स्वायुःक्षयेण युगलधर्मितिर्यक्त्वेनोत्पन्नः सन् सम्यक्त्वबलादुत्पत्तिसमयादेव पुरुषवेदादीनामेकादशानां प्रकृतीनां नैरन्तर्येण बन्धमारभते स चाऽऽभवमासामनुत्कृष्टमेव रसं बध्नाति प्रस्तुतमार्गणायां पुरुषवेदादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य देशविरतितिर्यक्स्वामिकत्वात् युगलधर्मिणां च देशविरतत्वायोगात् । तथा '·····पणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणि ।' इति सप्तानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः'ऽब्भहिया ते'अभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि भवति कुतः ? संख्यातवर्षायुष्कः संज्ञी पञ्चेन्द्रियतिर्यग् युगलिकतिर्यक्त्वेनोत्पित्सुः स्वभवचरमान्तर्मुहूर्त्तादारभ्यासां बन्ध-

मारभते ततस्तत्रोत्पन्नः सन् त्रिपल्योपममितां स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावत् तासामनुत्कृष्टमेव रसं बध्नाति तदुत्कृष्टरसबन्धस्येह देशविरतिस्वामिकत्वात् । 'उरलतितिरियाइणाण' त्ति औदारिकशरीरनाम तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल ओघवद् भवति,स कियानिति चेत् ,उच्यते—असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यात्मकः, स च तेजोवायुकायोत्कृष्टकायस्थितिमाश्रित्य ज्ञेयः, तेजोवायुकायिका हि स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् सततमनुत्कृष्टमेव च रसबन्धं कुर्वन्त्यासाम् , प्रस्तुतमार्गणायां तदुत्कृष्टरसबन्धस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्वामिकत्वात् । अथेह यासामनुत्कृष्टबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तमस्ति ता एवाध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीर्दर्शयामः,—सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ मनुष्यद्विकं नरकद्विकं जातिचतुष्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपनामोद्योतपनाम स्थिरशुभे यशःकीर्तिनाम स्थावरदशकं चेति चतुश्चत्वारिंशत् । आसां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, ततः परं स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावेन तथास्वाभाव्येन वा तद्बन्धस्य विरमणादिति ॥३३५॥

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिषु तिसृषु मार्गणासु संभाव्यमानबन्धानामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं व्याचिख्यासुराह—

तिपणिंदियतिरियेसुं पुमाइएगादसण्ह पल्लतिगं ।
णवरं जोणिमईए सिं देसूणं मुणेयव्वो ॥३३६॥
तीसुं पि तिण्णि पलिया अब्भहिया सगपणिंदियाईणं ।

(प्रे०) 'तिपणिंदिय०' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमती-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु तिसृषु मार्गणासु 'पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्चसुरविउवदुग' इति पुरुषवेदादीनामेकादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः पल्योपमत्रिकं त्रीणि पल्योपमानीत्यर्थः, भावनात्र अनन्तरोक्ततिर्यग्गत्योघमार्गणावत् । किं तिसृष्वपि मार्गणासु यथोक्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि भवति ? नेत्याह—'णवर' मित्यादिना, तिर्यग्योनिमतीमार्गणायामत्रोक्तानां पुरुषवेदादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि भवति न तु परिपूर्णानि तानि, कुत इति चेदुच्यते—योनिमतीत्वेन तु मिथ्यादृष्टिरेवोत्पद्यते, उत्पन्नायास्तस्या यावन्मिथ्यात्वं तावत् पुरुषवेदादिप्रतिपक्षभूताः प्रकृतयः नपुंसकवेदादयोऽपि परावृत्त्या बध्यन्ते ततो यदा सा तिरश्ची यथासमयं सम्यक्त्वं प्राप्य नैरन्तर्येण पुरुषवेदादीनां बन्धमारभते ततः प्रभृति प्रस्तुतकालस्य गणना क्रियते, स च कालो यथोक्तो देशोनत्रिपल्योपमानि एव, त्रिपल्योपमात्मकयुगलिकोत्कृष्टस्थितेः मिथ्यात्वकालेन हीनत्वात् । तथा 'तीसुं पि' त्ति

प्रस्तुतासु तिसृष्वपि मार्गणासु 'सगपणिंदियाईणं' ति......'पणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणी' ति सप्तानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालस्त्रीणि पल्योपमानि साधिकानि, भावनाऽनन्तरोक्ततिर्यग्गत्योघमार्गणावत् । तथेहोक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशतोऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । ताश्चेमाः—अनन्तरोक्ततिर्यग्गत्योघमार्गणायां प्राक्प्रदर्शिताः सातवेदनीयादयश्चतुश्चत्वारिंशद् औदारिकशरीरनामतिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणि चेति अष्टचत्वारिंशत् । अत्रेदं बोध्यम्—तिर्यग्गत्योघमार्गणायां तेजोवायूनामप्यन्तःप्रवेशात् ताना-श्रित्य तत्रौदारिकशरीरनामादीनां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल ओघवत् असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाण उक्तः, प्रस्तुतमार्गणात्रिके तु केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवाऽन्तर्भावात् तेषां चौदारिकशरीरनामादिबन्धकानां वैक्रियशरीरनामादिना सह परावृत्त्या बन्धसम्भवात् स कालोऽन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते ॥३३६॥

अथ मनुष्यौघादिषु तिसृषु मनुष्यगतिप्रतिमार्गणासु सार्धगाथया प्रकृतमाह—

तिणरेसु जिणस्स भवे कोडीपुव्वाण देसूणा ॥३३७॥
अब्भहियं पल्लतिगं होज्जाट्ठारहपणिंदियाईणं ।
णवरं जोणिमईए पुमाइएगादसण्ह देसूणं ॥३३८॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'तिणरेसु' इत्यादि, मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यरूपासु तिसृषु मार्गणासु जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोना पूर्वकोटिर्भवति । तद्यथा–प्रकृतमार्गणावर्ती पूर्वकोट्यायुष्कः कश्चिन्मनुष्यो मानुषी वा वर्षपृथक्त्वस्वाऽऽयुषि जिननाम्नो बन्धमारभते भवचरमसमयं यावच्च तद् बध्नाति तमाश्रित्य वर्षपृथक्त्वात्मकेन देशेनोना पूर्वकोटिः प्राप्यते जिननामानुत्कृष्टरसबन्धस्येति । न च इतो मरणादूर्ध्वमपि तस्य जिननामबन्धप्रवर्त्तनादत्रोक्तकालादधिकतरः कालो भवति तदनुत्कृष्टरसबन्धस्येति वाच्यम् , जिननामबन्धको मनुष्यो मानुषी वा मरणानन्तरं देवेषु नरकेषु वा एवोत्पद्यते अयन्तु देवतयैवोत्पद्यते, तत्रास्य मार्गणाविनाशात् नास्ति अतोऽधिकतरकालावकाशः । तथा '..पणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणि । पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्चसुरविउव्वदुग......, इति प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामष्टादशानां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽभ्यधिकं पल्योपमत्रिकं साधिकानि त्रीणि पल्योपमानि भवतीत्यर्थः । भावना त्वेवं-पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यो स्वभवत्रिभागशेषे त्रिपल्योपमात्मकमागामिभवसत्कं युगलमनुष्यायुर्बद्ध्वाऽन्तर्मुहूर्त्तेन सम्यक्त्वं ततः क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्नोति, ततः प्रभृति अत्र इतो मरणादूर्ध्वं युगलिकभवे च सम्यक्त्वबलादासां नैरन्तर्येणाऽनुत्कृष्टं च रसबन्धं करोति,उत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात् । इत्येवं यथोक्तः अन्तर्मुहूर्त्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि त्रिपल्योपमानि कालो भवति । युगलिकमनुष्यभवाद् मृतस्यापि तस्य क्षायिकसम्यक्त्वबलेनैताः सर्वाः

सुरद्विकवैक्रियद्विकवर्जाः पञ्चेन्द्रियजात्यादयो देवभवे आभवं नैरन्तर्येण बध्यन्ते तथापि स कालोऽत्र न गण्यते; प्रस्तुतमार्गणाया विनष्टत्वात्, इति मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्यरूपमार्गणाद्वयमन्कभावना। मानुषीमार्गणायां तु बद्धत्रिपल्योपमयुगलमानुष्यायुष्का संख्येयवर्षायुष्का काचित् मिथ्यादृष्टिमानुषी स्वभवचरमान्तर्मुहूर्तादारभ्य युगलभवचरमसमयं यावत् पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातोच्छ्वास-बादरत्रिकरूपाणां सप्तानां प्रकृतीनां नैरन्तर्येणाऽनुत्कृष्टरसबन्धं करोति तामाश्रित्याऽन्तर्मुहूर्ताऽभ्यधिकानि एव त्रिपल्योपमानि आसां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां सप्तानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः प्राप्यते न तु मनुष्यसामान्यवद् देशोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि त्रिपल्योपमानि, कुतः ? उच्यते,--तावत्कालस्तु सम्यग्दृष्टिमेवाश्रित्य प्राप्यते, सम्यग्दृष्टेस्तु युगलिनीतयोत्पादाभाव इति। अथ पुरुषवेदाद्येकादशप्रकृतिविषयं विशेषं तु ग्रन्थकार एव प्रकटयति 'णवर' मित्यादिना, तत्र 'जोणिमईए' त्ति मानुषीमार्गणायां पुरुषवेदप्रशस्तविहायोगतिसमचतुरस्रसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रदेवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणामेकादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोनपल्योपमत्रिकं भवति, तद्यथा--आसां पुरुषवेदादीनां सततमपरावृत्त्या बन्धः सम्यग्दृष्टेरेव संभवति, सम्यग्दृष्टिस्तु योनिमतीषु नैवोत्पद्यते तस्य पुंस्त्वेनैवोत्पत्तिसम्भवात्, ततो यः कश्चिन्मिथ्यादृष्टिः संख्याततवर्षायुष्को मनुष्यस्तिर्यग् वा त्रिपल्योपमायुष्कयुगलमानुषीतयोत्पद्य यथाकालं सम्यक्त्वमासाद्यासामेकादशानामपरावृत्त्या बन्धमारभते तदा तमाश्रित्य देशोनानि त्रिपल्योपमानि कालो भवति, सम्यक्त्वप्राप्तेः प्राग् मिथ्यात्वावस्थायां तत्प्रतिपक्षस्त्रीवेदादिबन्धसम्भवात्। अथात्रोक्तशेषाणां यासामध्रुवबन्धिप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमेवास्ति ता नामग्राहं दर्शयामः;-सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं जातिचतुष्कमौदारिकद्विकमाहारकद्विकं संहननषट्कमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकं कुखगतिः नीचैर्गोत्रमातपनामोद्योतनाम स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनाम स्थावरदशकमिति पञ्चाशत्। आसामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य काल उत्कृष्टोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव, ततः परं स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावेन तथास्वाभाव्याद् वा तद्बन्धविरमणात्। इति प्रस्तुतमार्गणात्रिके एकोनसप्ततेरध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालप्ररूपणम् ॥३३८॥ अथ देवौघादिमार्गणासु तत्र तत्र सम्भाव्यमानबन्धानामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालं प्रचिकटयिषुराह—

देवे सोहम्माइगसव्वत्थंतेसु देवभेएसु ।
जेट्ठा ससकायठिई गुणवीसणराइतित्थाणं ॥३३९॥

(प्रे०) 'देवे' इत्यादि, देवौघ-सौधर्माद्यच्युतान्तसानद्वादशकल्प-नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तररूपासु सर्वात्रिंशतां देवमार्गणासु '........णरदुगवइराणि उरलं च ॥ उरलोवंगपणिदियतसपरघूसासबायरति-गाणि । पुमसुवगइ इगसमगिइसुभगतिगुच्च.......' इति कालद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मनु-

ष्यद्विकादीनामेकोनविंशतेर्जिननाम्नश्चेति सर्वसंख्यया विंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमितो भवति । इह देवौघ-सौधर्मेशानदेवरूपासु तिसृषु मार्गणासु मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचौदारिकाङ्गोपाङ्गनामपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपुरुषवेदसुखगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रजिननामरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां यथोक्तः स्वोत्कृष्टकायस्थितिमितः कालस्तत्तन्मार्गणागतान् सम्यग्दृष्टीनेव जन्तूनाश्रित्य बोद्धव्यः, मिथ्यादृशां तत्प्रतिपक्षभूततिर्यग्द्विकादिबन्धसद्भावेन मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् सततं तद्बन्धासम्भवात् । औदारिकाङ्गोपाङ्गनामजिननाम्नोः प्रतिपक्षप्रकृत्यभावेऽपि मिथ्यादृष्टेः स्थावरनामबन्धेन सहौदारिकाङ्गोपाङ्गनामबन्धाभावाद् , जिननाम्नस्तु विशिष्टसम्यग्दृशामेव बन्धसद्भावात् तदनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽपि सम्यग्दृष्टीनेवाश्रित्योपपादनीयः, देवौघे तु मिथ्यादृशामुत्कृष्टस्थितिकत्वाभावाच्च । तथा सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवरूपासु षट्सु देवमार्गणासु औदारिकाङ्गोपाङ्गनामपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामवर्जानामनन्तरोक्तानां मनुष्यद्विकादीनामेकादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य उत्कृष्टः कालः तत्तन्मार्गणास्वोत्कृष्टकायस्थितिमितः सम्यग्दृश एव जन्तूनाश्रित्य ज्ञातव्यः, पूर्वोक्तादेव हेतोः । तथाऽऽनतादिनवमग्रैवेयकपर्यन्तासु त्रयोदशसु देवमार्गणासु सर्वेषां शुक्ललेश्याकत्वेन मिथ्यादृशामपि सततं मनुष्यद्विकस्यैव बन्धसद्भावात् । वज्रर्षभनाराचपुरुषवेदसुखगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रजिननामरूपाणां नवानामेव प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य यथोक्तः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमित उत्कृष्टः कालः सम्यग्दृष्टीनाश्रित्य ज्ञेयः, मिथ्यादृशां तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावेन तावत्कालं सततं तद्बन्धाभावात् । तथा विजयादिसर्वार्थसिद्धान्तेषु पञ्चसु देवभेदेषु सर्वेषां तद्गताऽसुमतां सम्यग्दृष्टित्वेन अत्रोक्तानां विंशतेरपि प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य यथोक्त उत्कृष्टः काल उत्कृष्टस्थितिकान् सर्वानेवाश्रित्याऽऽयाति । तथा देवौघादिषु चतसृषु मार्गणासु औदारिकशरीरनामपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाणां षण्णाम् , सनत्कुमारादिषु सप्तमार्गणास्वनन्तरोक्तानामौदारिकशरीरनामादीनां षण्णामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामपञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नां चेति नवानाम् , आनतादिषु त्रयोदशसु मार्गणासु अनन्तरोक्तानां नवानां मनुष्यद्विकस्य चेति एकादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो यथासंभवमुत्कृष्टायुष्कान् मिथ्यादृष्ट्यादीन् मार्गणागतान् सर्वान् जन्तूनाश्रित्य प्राप्यते, कुतः ? आसां तत्र ध्रुवबन्धेन बन्धोपलम्भात् । अत्र परः,-ननु सततं स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् तत्तत्प्रकृतीनां सत्यपि बन्धे तावत्कालमनुत्कृष्टरसोऽपि तासां बध्यत इति कथं ज्ञायते ? अत्रोच्यते-प्रस्तुतमार्गणासु वक्ष्यमाणनानाजीवाश्रयोत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टाऽन्तरप्रस्तावेऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिसमयप्रमितमन्तरं दर्शयिष्यते, उत्कृष्टतस्तावन्कालं तन्मार्गणागतेषु सर्वेषु जीवेषु कश्चिदपि जन्तुरुत्कृष्टरसं नैव बध्नाति, ततो विवक्षितः कश्चिदेको जीवस्तु मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् सुतरामनुत्कृष्टरसबन्धं कर्तुमर्हति, उत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टाऽन्तरापेक्षया कायस्थितिकालस्याऽतिस्तोकत्वात् । अपि च त्रय-

स्त्रिंशदादिसागरोपममितकायस्थितिसत्कसमयेभ्यः प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्यरसबन्धाऽध्यवसायानाम-संख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितत्वेनाऽसंख्येयगुणत्वात्। ततः किम्? यदा कश्चिन्मार्गणोत्कृष्टकाय-स्थितिं यावदुत्कृष्टरसबन्धाऽध्यवसायमस्पृष्ट्वा प्रतिसमयमन्याऽन्याऽध्यवसायं स्पृशन्ननुत्कृष्टरसबन्ध-मेव निर्वर्तयति तदाऽपि तस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्य यथोक्त उत्कृष्टः कालो भवतीत्यलम्। अथाऽत्रोक्ता-तिरिक्तानां यासामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य काल उत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवाऽस्ति ताः स्फुटतरं दर्शयामः तद्यथा–देवौघ-सौधर्मेशानरूपासु तिसृषु मार्गणासु सातासाते हास्यरती शोका-रती स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिराद्यवर्जं संहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रश-स्तविहायोगतिरातपनामोद्योतनाम स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनाम स्थावरनामाऽस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रमिति पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयः, आसामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तम्, नरकद्विकदेवद्विकसूक्ष्म-त्रिकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां तत्र बन्धाभावात्, मनुष्यद्विकादीनामेको-नविंशतेर्जिननाम्नश्च तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणतया पृथगुक्तत्वात्। इति देवौघादिमार्गणा-स्वेकोनसप्तत्यध्रुवबन्धिप्रकृतिविषयमनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालनिरूपणम्। तथा सनत्कुमारादिसह-स्रारान्तदेवमार्गणासु त्वनन्तरोक्ता नरकद्विकादयश्चतुर्दशैकेन्द्रियजातिः स्थावरनामाऽऽतपनाम चाऽपि न बध्यन्ते, अत एकेन्द्रियजात्यादिप्रकृतित्रयवर्जानामनन्तरोक्तानां सातवेदनीयादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृ-तीनाम्, आनतादिनवमग्रैवेयकान्तासु त्रयोदशसु देवमार्गणासु सातवेदनीयादीनामेकोनत्रिंशतः प्रकृ-तीनाम्, तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोरप्यत्र बन्धाभावात्, पञ्चाऽनुत्तरसुरमार्गणासु सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरशुभे यशःकीर्तिनामाऽस्थिराशुभेऽयशःकीर्त्तिनामेति द्वादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्ट-रसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति ॥३३९॥

अथ भवनपत्यादिदेवमार्गणासु संभाव्यमानबन्धानामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरस-बन्धस्योत्कृष्टं कालं प्रकटयन्नाह—

भवणतिगे सगुरुठिई पणपरघाइउरलाण सा ऊणा।
तिणराइसगपुमाइगपणिंदितसउरलुवंगाणं ॥३४०॥

(प्रे०)'भवणतिगे' इत्यादि, भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्कदेवरूपासु तिसृषु मार्गणासु पराघात-नामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमिति पञ्चानां प्रकृतीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, प्रस्तुतमार्गणास्वेतासां तावत्कालं ध्रुवत्वेन बन्धोपलम्भात्, तावत्कालमनुत्कृष्टरसबन्धस्तु कायस्थितिसमयेभ्यो रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणत्वात्। तथा 'तिणराइ' इत्यादि, मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचपुरुषवेदप्रशस्तविहायोगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रि-कोच्चैर्गोत्रपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामरूपाणां त्रयोदशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरस-बन्धस्योत्कृष्टः कालः 'ऊणा' त्ति अन्तर्मुहूर्त्तात्मकेन देशेनोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति,

कुतः ? अपर्याप्तावस्थासत्काऽन्तर्मुहूर्ते प्रस्तुतमार्गणासु मनुष्यद्विकादिप्रतिपक्षभूततिर्यग्द्विकादिबन्धसद्भावात् पर्याप्तावस्थायामपि सम्यक्त्वप्राप्तेः परत एव नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भाच्च । तथा सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिराद्यवर्जं संहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमशुभविहायोगतिरातपनामोद्योतनाम स्थिरशुभे यशःकीर्तिनाम स्थावरनामाऽस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रमिति पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तम् , ततः परं सातत्येन तद्बन्धाभावात् । इत्यत्र संभाव्यमानबन्धानां चतुःपञ्चाशतोऽध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालनिरूपणम् ॥३४०॥

अथैकेन्द्रियौघादिषु षट्सु मार्गणासु अध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं चिचिन्तयिषुराह —

एगिंदिय-तेउ-अणिल-तस्सुहमेसुं असंखिया लोगा ।
उरलस्स तहा तिण्हं तिरियाईणं मुणेयव्वो ॥३४१॥

(प्रे०) '**एगिंदिय०**' इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-तेजस्कायौघ-वायुकायौघ-सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मतेजस्काय-सूक्ष्मवायुकायरूपासु षट्सु मार्गणासु '**उरलस्स**' त्ति औदारिकशरीरनाम्नस्तथाशब्दः समुच्चयार्थः '**तिण्हं तिरियाईणं**' ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति चतसृणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः '**असंखिया लोगा**' असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपो ज्ञातव्यः । भावना ध्रुवबन्धिवत् , कुतः? आसामत्र ध्रुवत्वेन बन्धोपलम्भात् । तत्र एकेन्द्रियौघसूक्ष्मैकेन्द्रियरूपे मार्गणाद्वये तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्ध्रुवबन्धस्तु यथाक्रमं तन्मार्गणाऽन्तःपातिनस्तेजोवायुकायिकान् सूक्ष्मतेजोवायुकायिकानेवाश्रित्य बोध्यः, पृथ्व्यादीनां मनुष्यद्विकादिबन्धसद्भावेन तद्ध्रुवबन्धाभावादिति प्रसङ्गादुक्तम् । अथ प्रकृतम्-एकेन्द्रियौघ-तेजस्कायौघ-वायुकायौघरूपासु तिसृषु मार्गणासु बादरैकेन्द्रिया बादरतेजःकायिका बादरवायुकायिका जीवा यथासंभवं मार्गणाप्रायोग्यमुत्कृष्टरसं बध्नन्ति, सूक्ष्मास्तु तथाविधसंक्लेशविशुद्ध्यभावादनुत्कृष्टमेव रसं बध्नन्ति, ततोऽनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालचिन्तायां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनामुत्कृष्टकायस्थितेन्यूनतरः कालो नैवाऽऽयाति । तदुत्कृष्टकायस्थितिस्तु यथोक्ताऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणा इति । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रिय-सूक्ष्मतेजःकाय-सूक्ष्मवायुकायलक्षणासु तिसृषु मार्गणास्वपि औदारिकशरीरनामादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणोऽस्ति । नवरमयं कालः तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयगुणहीनो वेदितव्यः, कुतः? सूक्ष्मैकेन्द्रियादिप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकप्रमाणत्वेऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियाद्युत्कृष्टकायस्थितिसमयेभ्योऽसंख्यगुणहीनत्वात् उत्कृष्टकायस्थितिं यावत् सूक्ष्मत्वे तिष्ठतो जन्तोः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयतमे भागे व्यतिक्रान्ते सकृन्मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धस्याऽवश्य-

कत्वाच। इत्येवमुत्कृष्टकायस्थितौ स्थितानां सूक्ष्माणामसंख्येयवारमुत्कृष्टरसबन्धकरणेनाऽनुत्कृष्टरसबन्धकालस्य कायस्थित्यसंख्येयतमभागमात्रस्यैव संभवात् । अथ यासामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टःकालोऽन्तर्मुहूर्तमेवाऽस्ति ता उक्तशेषाः प्रकृतयो नामग्राहं दर्शयामः,ताश्चेमाः-सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषस्त्रीनपुंसकवेदाः मनुष्यद्विकं जातिपञ्चकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतनामानि त्रसदशकं स्थावरदशकमुच्चैर्गोत्रमिति षट्पञ्चाशत् । इत्यत्र संभाव्यमानबन्धानां षष्टेरध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालविचारणा। नवरमत्र तेजोवायुकायौघसूक्ष्मतेजोवायुकायरूपे मार्गणाचतुष्के षट्पञ्चाशतः स्थले सातवेदनीयादयस्त्रिपञ्चाशदेव प्रकृतयो वाच्याः, अत्र मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तथास्वाभाव्येन बन्धाभावात् ॥३४१॥

अथ बादरैकेन्द्रियमार्गणायां प्रस्तुतं विभणिषुराह—

गुरुकायठिई णेयो बायरएगिंदियम्मि उरलस्स ।
तिण्हं तिरियाईणं कम्मठिई वा मुणेयव्वो ॥३४२॥

(प्रे०) '**गुरुकायठिई**'इत्यादि,बादरैकेन्द्रियमार्गणायामौदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः '**गुरुकायठिई**'मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितो ज्ञेयः, स चाङ्गुलासंख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणो गणनयाऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपः,कोऽत्र हेतुः ?,उच्यते-मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिसमयेभ्यः प्रस्तुतमार्गणाप्रायोग्यरसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वेनासंख्येयगुणत्वात् । यस्यां मार्गणायां स्वप्रायोग्यरसबन्धाऽध्यवसायेभ्यः स्वोत्कृष्टकायस्थितिसमयाः स्तोकास्तत्रोत्कृष्टकायस्थितिं यावदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽनावश्यकत्वेनाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्याऽविरोधात् । तथा' **तिण्हं तिरियाईणं**' तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः'**कम्मठिई वा**' उत्कृष्टकालस्य प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टाः कर्मस्थितयस्ताश्च मोहनीयकर्माश्रित्य सप्ततिकोटिकोटिसागरोपमप्रमिताः । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः सप्ततिकोटिकोटिसागरोपमाणीत्यर्थः तद्यथा—प्रस्तुतमार्गणावर्त्ती कश्चिज्जन्तुर्बादरतेजस्कायो बादरवायुर्वा सप्ततिकोटिकोटिसागरमितमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् तेजोवायुत्वे स्थितस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः सततमनुत्कृष्टं च रसबन्धं करोति । ततः परं मार्गणान्तरगमनेन पृथ्व्यादावुत्पादेन वा मनुष्यद्विकादिबन्धसद्भावेन तदबन्धसम्भवात् । वाकारोऽत्र मतान्तरद्योतकः ततो मतान्तरेण प्रस्तुतप्रकृतित्रयस्यानुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालोऽङ्गुलासंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिप्रमितसमयावनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यात्मकः, असकृद् बादरतेजोवायुषु परावृत्त्योत्पादेन तावत्कालं तत्राऽवस्थानसंभवात् । अयं कालो बादरैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितेर्न्यूनतरोऽपि संभवति । अत्राप्युक्तशेषाणामध्रुवबन्धिनीनामनन्तरगाथाविवृतिप्रान्तोक्तानां सातवेदनीयादीनां षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्त-

मुहूर्तं भवतीति ॥३४२॥अथ बादरपर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणायामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं निर्दिदिक्षुराह—

जाणेयव्वो बायरपज्जत्तेगिंदियम्मि संखेज्जा ।
वाससहस्सा तिरिदुगओरालियणीअगोआणं ॥३४३॥

(प्रे०) **'जाणेयव्वो'** इत्यादि, बादरपर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणायां तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनामनीचैर्गोत्ररूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः संख्येयानि वर्षसहस्राणि भवति, कुत इति चेदुच्यते—प्रस्तुतमार्गणायां बादरपर्याप्ततेजोवायूनामप्यन्तःप्रवेशः, तैस्तथाभवस्वाभाव्येन तिर्यग्द्विकादयश्चतस्रोऽपि प्रकृतयः सततं बध्यन्ते, ततः प्रकृते उत्कृष्टकालचिन्तायां बादरपर्याप्ततेजोवायूत्कृष्टकायस्थितेरल्पतरः कालो नैव संभवति । न च प्रस्तुतकालः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियकायस्थितिमित एव भविष्यति बादरपर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरपि संख्येयवर्षसहस्रप्रमाणत्वादिति वाच्यम् , ग्रन्थकृतोत्कृष्टकायस्थितिरित्यनुक्त्वा संख्येयानि वर्षसहस्राणीति एवोक्तत्वेन मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेन्यूनतरकालस्यापि संभवाद् ,बादरपर्याप्तैकेन्द्रियपृथ्व्यादिपञ्चभेदैः पूर्यमाणस्य कालस्य केवलं तेजोवायुभ्यां पूरयितुमसंभवाच्च । तथात्रोक्तशेषाणां संभाव्यमानबन्धानां सातवेदनीयादीनां षट्पञ्चाशतोऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । अथोक्तशेषाः षट्पञ्चाशत् प्रकृतयः,-सातासाते हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा मनुष्यद्विकं जातिपञ्चकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासातपोद्योतनामानि त्रसदशकं स्थावरदशकमुच्चैर्गोत्रमिति षट्पञ्चाशदिति ॥३४३॥

अथ विकलेन्द्रियौघादिमार्गणासु अध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालप्रचिकटयिषयाऽऽह—

विगलिंदियबायरभूदगपत्तेअवणतरसमत्तेसु ।
बायरणिगोअकाये उरलस्सऽत्थि गुरुकायठिई ॥३४४॥

(प्रे०) **'विगलिंदिय०'** इत्यादि, द्वीन्द्रियौघ-त्रीन्द्रियौघ-चतुरिन्द्रियौघ-बादरपृथ्वीकाय-बादराऽप्काय-प्रत्येकवनस्पतिकायरूपासु षट्सु मार्गणासु **'तस्समत्तेसु'** ति पर्याप्तद्वीन्द्रिय-पर्याप्तत्रीन्द्रिय-पर्याप्तचतुरिन्द्रिय-पर्याप्तबादरपृथ्वीकाय-पर्याप्तबादराऽप्काय-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायरूपासु षट्सु बादरसाधारणवनस्पतिकाये चेति त्रयोदशसु मार्गणासु औदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिः तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमितो भवति, प्रस्तुतमार्गणागतजीवानामनन्तरभवे देवनारकेषूत्पादाभावाद् वैक्रियशरीरनामबन्धाभावेन मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावदौदारिकनाम्नः सातत्येन बन्धोपलम्भाद् तदुत्कृष्टरसबन्धस्य तु कदाचिदेव सम्भवाच्च ।

अनन्तरोक्तगाथाविवृतिप्रान्तोक्ताः सातवेदनीयादयः षट्पञ्चाशत् तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमित्युक्तशेषाणामेकोनषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, सातवेदनीयादीनां संभाव्यमानप्रतिपक्षप्रकृतीनां स्वप्रतिपक्षभूताऽसातवेदनीयादिबन्धसद्भावेन, पराघातोच्छ्वासातपोद्योतानां चाऽध्रुवबन्धित्वादेव तथास्वाभाव्येनाऽन्तर्मुहूर्तात् परतो बन्धविरमणादिति ॥३४४॥ अथ पञ्चेन्द्रियौघादिषु कतिपयमार्गणासु तिर्यग्द्विकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालमोघवदतिदिशन्नाह-

ओघव्व दुपंचिंदियतसचक्खुअचक्खुभवियसण्णीसुं ।
णेयो तिरियाईणं पयडीणं सत्तवीसाए ॥३४५॥
णवरं जाणेयव्वो दुपणिंदितसेसु चक्खुसण्णीसुं ।
साहिअतेत्तीसुदही तिरियदुगोरालणीआणं ॥३४६॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञिरूपासु अष्टासु मार्गणासु 'तिरियदुगं णीअं तह णरदुगवइराणि उरलं च ॥ उरलंगपणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणि । पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्चसुरविउव्वदुगतित्थं ॥' इति कालद्वारमन्त्कप्रकृतिसंग्रहे सार्द्धगाथोक्तानां तिर्यग्द्विकादीनां सप्तविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल ओघवद् भवति । तद्यथा-तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽसंख्येयलोका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणः स चाऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यात्मको भवति । तथा मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । औदारिकशरीरनाम्नोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्ताः । औदारिकाङ्गोपाङ्गजिननाम्नोः साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाणां सप्तानां प्रकृतीनां पञ्चाशीत्यधिकं शतं सागरोपमाणाम् । पुरुषवेदसुखगतिप्रथमाकृतिसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानां द्वात्रिंशदधिकं शतं सागरोपमाणाम् । देवद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः साधिकानि त्रीणि पल्योपमानीति, भावनौघवद् गाथा (३००-३०३) विवृत्तितोऽवसेया, ग्रन्थगौरवभयादत्र न प्रदर्श्यते । अथात्रैव पञ्चेन्द्रियौघादिषु षट्सु मार्गणासु तिर्यग्द्विकादिविषयं विशेषं प्रतिपादयन्नाह 'णवरं' 'मित्यादिना, तद्यथा-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-चक्षुर्दर्शन-संज्ञिरूपासु षट्सु मार्गणासु तिर्यग्द्विकौदारिकशरीरनामनीचैर्गोत्ररूपाणां चतसृणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल ओघवदसंख्येयलोकादिर्न वाच्यः किन्तु साधिकानि त्रयस्त्रिंशदेव सागरोपमाणि, कुतः ? ओघप्ररूपणायामसंख्येयलोकादिप्रमितकाल एकेन्द्रियबन्धकानाश्रित्य प्राप्यते, इह पञ्चेन्द्रियौघादिषु मार्गणासु तु एकेन्द्रियजीवानामप्रवेशाद् यथोक्तः कालः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सप्तमनरकनारकमाश्रित्याऽऽयाति, तस्य षट्स्वपि मार्गणास्वन्तःपातित्वात् , स च काल एवम्-उत्कृष्टस्थितिको मिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारकः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावदासां तिर्यग्द्विकादीनामनुत्कृष्टरसं बध्नाति

ततश्च्युतस्तिर्यग्भवेऽपर्याप्तावस्थायां यावदन्तर्मुहूर्तमेता एव बद्ध्वा ततः परमेतत्प्रतिपक्षभूतान्मनुष्यद्विकादीन् बध्नन् तद्बन्धाद् विरमति, इत्येवमन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पञ्चेन्द्रियौघादिषु षण्मार्गणासु तिर्यग्द्विकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालतया प्राप्यन्ते, अत्र नीचैर्गोत्रस्याऽन्तर्मुहूर्त्तद्वयेनाभ्यधिकानीति वाच्यमिति । अथोक्तशेषाणां सातवेदनीयादीनां यासां द्विचत्वारिंशतोऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ता द्विचत्वारिंशदिमाः-सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ नरकद्विकं जातिचतुष्कमाहारकद्विकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमाद्यवर्जं संहननपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपोद्योतनाम्नी स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनाम स्थावरदशकमिति द्विचत्वारिंशदिति ॥३४५-३४६॥

अथ पृथ्वीकायौघादिषु सप्तसु मार्गणासु प्रक्रान्तं बिभणिषुराह—

उरलस्स असंखेज्जा लोगा पुढविदगवणणिगोएसु ।
सुहमेसुं पुढवीदगणिगोअकायेसु विण्णेयो ॥३४७॥

(प्रे०) 'उरलस्स' इत्यादि, पृथ्वीकायौघाऽप्कायौघ-वनस्पतिकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघ सूक्ष्मपृथ्वीकाय-सूक्ष्माऽप्काय-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायौघरूपासु सप्तसु मार्गणासु **'उरलस्स'** त्ति औदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः **'असंखेज्जा लोगा'** असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपः, घटना त्वेवम्- पृथ्वीकायौघादिषु चतसृषु मार्गणासु बादरजीवा एवोत्कृष्टरसबन्धं कर्तुमर्हन्ति न सूक्ष्मा अपि, तथाविधसंक्लेशविशुद्ध्यभावात् । ततोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयात्मकसूक्ष्मोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् कश्चित् सूक्ष्मपृथ्व्यादिर्जन्तुः सूक्ष्मत्वे औदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धं कृत्वा तत उद्वृत्तो बादरत्वे यावत्तदुत्कृष्टरसं न बध्नाति स सर्वोऽपि कालोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य प्राप्यते, स च असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयमितः सूक्ष्मपृथ्व्यादिसूक्ष्मत्रिकमाधिकोत्कृष्टकायस्थितिरूपः । तथा सूक्ष्मपृथ्वीकायादिषु तिसृषु मार्गणासु औदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमितसमयप्रमाण एव, नवरमयं कालः सूक्ष्मपृथ्व्यादिस्वस्वोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयगुणहीनो वेदितव्यः, स्वोत्कृष्टकायस्थितिं समापयतो जन्तोरन्तराऽसंख्येयवारं मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धप्रवर्तनात् । तथा सातासाते हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिपञ्चकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतनामानि त्रसदशकं स्थावरदशकं गोत्रद्विकमित्येकोनपञ्चाशतोऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तम् , ततः परं तद्बन्धस्यैव विरमणात् । ॥३४७॥ सम्प्रति बादरतेजस्कायादिषु मार्गणासु प्रकृतं प्रतिपादयन्नाह—

हवए बायरबायरपज्जेसुं तेउवाउकायेसुं ।
तिरियाइतिगुरलाणं सगसगकायट्ठिई जेट्ठा ॥३४८॥

(प्रे०) 'हवए' इत्यादि, बादरतेजःकायौघ-बादरवायुकायौघ-बादरपर्याप्ततेजःकाय-बादरपर्याप्तवायुकायरूपासु चतसृषु मार्गणासु तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौदारिकशरीररूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिस्तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमितो भवति, प्रस्तुतमार्गणासु एतावत्कालं यावद् आसां ध्रुवत्वेन बन्धोपलम्भात्, उत्कृष्टकायस्थितिपर्यन्तं तत्रावस्थितानां केषाञ्चित् कदाचिदेवोत्कृष्टरसबन्धसम्भवाच्च। इहाऽनन्तरगाथाविवृतिप्रान्तोक्ताभ्य एकोनषष्टिप्रकृतिभ्यः सातवेदनीयादीनां त्रिपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरत्र तथास्वाभाव्येन बन्धाभावात् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालस्यात्रैव गाथायां पृथगुक्तत्वाच्चेति ॥३४८॥

अथ काययोगौघाऽसंज्ञिरूपयोर्मार्गणयोरध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं व्याकुर्वन्नाह—

कायासण्णीसु भवे उरलस्स असंखपोग्गलपरट्टा ।
तिण्हं तिरियाईणं असंखलोगा मुणेयव्वो ॥३४९॥

(प्रे०) 'कायासण्णीसु' इत्यादि, काययोगौघा-ऽसंज्ञिरूपयोर्द्वयोर्मार्गणयोरौदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्ताः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितो भवति, तद्यथा–प्रस्तुतमार्गणयोरेकेन्द्रियजीवा अपि संभवन्ति, इहोत्कृष्टरसबन्धकस्तु काययोगमार्गणायां संज्ञिपञ्चेन्द्रियः असंज्ञिमार्गणायां च पञ्चेन्द्रियो विद्यते, तद्व्यतिरिक्तानामेकेन्द्रियादीनां तथाविधसंक्लेशविशुद्ध्यभावात् ।

तत एकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं समाप्य पञ्चेन्द्रियत्वे यावदौदारिकनाम्न उत्कृष्टरसं न बध्नाति, तावान् स सर्वोऽपि कालोऽस्यानुत्कृष्टरसबन्धकालतया प्राप्यते, स च कालः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिप्रमिताऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मकोऽस्तिएकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तमितत्वात् । तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणः, स च तेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिमपेक्ष्य ज्ञातव्यः, तद्यथा– प्रस्तुतमार्गणयोरासां तिसृणामुत्कृष्टरसबन्धकाः पञ्चेन्द्रिया एव, प्रस्तुतमार्गणाऽन्तःपातिनस्तेजोवायुकायिकास्तु स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावदासामनुत्कृष्टमेव रसं बध्नन्ति, ततः कश्चिज्जन्तुस्तेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिं यावदासामनुत्कृष्टरसं बद्ध्वा तत उद्वृत्यान्तर्मुहूर्तं यावदनुत्कृष्टरसं बध्नाति स सर्वोऽपि काल आसामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालत्वेन प्राप्यते स च कालः साधिकतेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिरूपाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यात्मको भव-

तीत्यर्थः। तथा काययोगौघमार्गणायामनन्तरगाथाविवृतिप्रान्तातिदिष्टानां सातवेदनीयादीनां त्रिपञ्चाशतः नरकद्विकदेवद्विकमनुष्यद्विकाऽऽहारकद्विकवैक्रियद्विकजिननामोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्वादशानां चेति पञ्चषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, ततः परं तद्बन्धस्य मार्गणाया वा विरमणात्। आहारकद्विकबन्धस्याऽप्रमत्तमुनेरेव सद्भावात् जिननाम्नस्तु बन्धोविशिष्टसम्यक्त्ववत्संज्ञिन एवेति हेतोरसंज्ञिमार्गणायामाहारकद्विकजिननामवर्जानां द्विषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयः ॥३४९॥

अथौदारिककाययोगमार्गणायामनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालं प्रकटयन्नाह—

उरले सगकायठिई जेट्ठा ओरालियस्स विण्णेयो ।
देसूणा तिसहस्सा वासा तिण्ह तिरियाईणं ॥३५०॥

(प्रे०) '**उरले**' इत्यादि. औदारिककाययोगमार्गणायाम् '**ओरालियस्स**' त्ति औदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमितः,स चाऽन्तर्मुहूर्तहीनद्वाविंशतिवर्षसहस्राणि,द्वाविंशतिवर्षसहस्रात्मकोत्कृष्टस्थितिकपृथ्वीकायस्य तावत्कालमविच्छिन्नतया तद्बन्धप्रवर्त्तनात्, अन्तर्मुहूर्तहीनत्वं चात्राऽपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रयोगसद्भावात्। न चान्तरोत्कृष्टरसबन्धसम्भवेन नैव घटते यथोक्तप्रमाण उत्कृष्टकाल औदारिकशरीरनामाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्येति वाच्यम्, प्रस्तुतमार्गणायां पर्याप्तमनुष्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चामेव तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भवेन पृथ्वीकायिकस्य तावत्कालमनुत्कृष्टरसबन्धस्यैव सद्भावात्। तथा '**तिण्ह तिरियाईणं**' ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः '**देसूणा**' त्ति अन्तर्मुहूर्तात्मकेन देशेनोनानि त्रिवर्षसहस्राणि करणपर्याप्तवायुकायस्योत्कृष्टतस्तावत्कालं तद्बन्धोपलम्भात्। तथा 'इचए बायर' इत्यादिगाथाविवृतिप्रान्तनिर्दिष्टानां सातवेदनीयादीनां त्रिपञ्चाशतः अनन्तरगाथाविवृत्तिप्रान्तोक्तानां नरकद्विकादीनां द्वादशानां चेति पञ्चषष्टेरुक्तशेषाऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, ततः परं तद्बन्धस्य मार्गणाया वा विरमणात् ॥३५०॥

अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोरनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालं दर्शयन्नाह—

कम्माणाहारेसुं पंचसुराईण होइ दो समया ।
सेसाणं सट्ठीए सगगुरुकायट्ठिई णेयो ॥३५१॥

(प्रे०)'**कम्माण०**'इत्यादि, कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोः 'सुरविउव्वदुगतित्थ' मिति देवद्विकादीनां पञ्चानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, छद्मस्थानामिमे मार्गणे विग्रहगतावेव भवतः, ततो द्वाभ्यां वक्राभ्यां गत्यन्तरं व्रजन्तं जन्तुमाश्रित्य यथोक्त एव कालः प्राप्यते, संज्ञिभ्यः संज्ञिषूत्पद्यमानानां त्र्यादिवक्राणामसम्भवात्। तथा '**सट्ठीए**' त्ति सातासाते

हास्यरती शोकारती त्रयो वेदाः मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं पराघातनाम उच्छ्वासनामाऽऽतपनामोद्योतनाम त्रसदशकं स्थावरदशकं गोत्रद्विकमित्युक्तशेषाणां पष्टेरेवाध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां, नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोरत्र बन्धाभावात् अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालस्त्रिसमयात्मकस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितो ज्ञेयः,एकेन्द्रियत्वेनोत्पित्सोर्विग्रहगतौ तावत्कालं तद्बन्धोपलम्भात् ॥३५१॥ अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारिरूपयोर्मार्गणयोर्बध्यमानानामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालविषयकं मतान्तरं प्रतिपादयन्नाह—

थावरपाउग्गाणं बत्तीसाए हवेज्ज समयतिगं ।
दुखणा तेत्तीसाए तसपाउग्गाण बिंति परे ॥३५२॥
थावरपाउग्गाओ पयडी बत्तीसअधुवबंधीओ ।
सायेयर-हस्सरई सोगारइणपुमतिरियदुगं ॥३५३॥
एगिंदियहुंडउरलपरघाऊसासआयवदुगाणि ।
णवथावराइबायरतिगथिरजुगलजसणीआणि ॥३५४॥

(प्रे०) 'थावर०' इत्यादि, 'थावरपाउग्गाणं' ति तत्र स्थावरप्रायोग्याः प्रकृतयो नाम याः प्रकृतयो बध्यमानेन स्थावरनाम्ना सह बध्यन्ते, तासां स्थावरप्रायोग्याणां वक्ष्यमाणानां द्वात्रिंशतो नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः समयत्रिकं त्रयः समया भवति, कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोरिति अनुवर्त्तते । तथा 'तसपाउग्गाण' त्ति याः प्रकृतयः स्थावरनाम्ना सह नैव किन्तु त्रसनामसहगता एव बध्यन्ते तास्त्रसप्रायोग्यास्तासां त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो 'दुखणा' त्ति द्वौ समयौ इति 'परे' केचिदन्ये आचार्या ब्रुवन्ति । यतो विग्रहगतौ वर्त्तमानः त्रसतया स्थावरतया वोत्पद्यमानो जन्तुस्तत्प्रायोग्या एव प्रकृतीर्बध्नातीति तेषामभिप्राय इति । अथ स्थावरप्रायोग्या द्वात्रिंशत् प्रकृतीरेव दर्शयति 'थावरपाउग्गाओ' इत्यादिना, तद्यथा—सातासाते हास्यरती शोकारती नपुंसकवेदः तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिर्हुंडकसंस्थानमौदारिकशरीरनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनामोद्योतनाम दुःस्वरनाम्नस्त्रसप्रायोग्यत्वात् तद्वर्जं स्थावरनवकं बादरत्रिकं स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनाम नीचैर्गोत्रमिति ॥३५२-३५४॥

अथ वेदमार्गणासु बन्धार्हाणामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालं प्रचिकटयिषुरादौ तावत्स्त्रीवेदमार्गणायां तं दर्शयन्नाह—

थीअ पणवण्णपलिआ सत्तपुमाइतिणराइगाण तहा ।
उरलोवंगाईणं तिण्हं होएइ देसूणा ॥३५५॥

अहियपणवण्णपलिया पणपरघाइउरलाण तित्थस्स ।
देसूणपुव्वकोडी ऊणतिपल्लाऽत्थि चउसुराईणं ॥३५६॥ (गीतिः)

(प्रे०) **'थीअ'** इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां 'पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्च' इति प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथावयवोक्तानां पुरुषवेदादीनां सप्तानां प्रकृतीनां 'णरदुगवइराणि' इति मनुष्यद्विकादीनां तिसृणां तथाशब्दः समुच्चयार्थः 'उरलोवंगपणिंदियतस' इति औदारिकाङ्गोपाङ्गादीनां तिसृणां चेति सर्वसंख्यया त्रयोदशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो देशोनानि पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानि भवति। अन्तर्मुहूर्त्तात्मकाऽपर्याप्तावस्थानन्तरं समासादितसम्यक्त्वाया उत्कृष्टस्थितिकेशानाऽपरिगृहीताया देव्यास्तावत्कालमेव नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात्, सम्यक्त्वयुक्तायास्ततश्च्युतायाः सत्यपि पुरुषवेदादिबन्धे तस्याः पुंस्त्वेनोत्पादेन मार्गणाऽपगमात् न ततोऽपि अधिकतरकालस्य संभवः । तथा 'परघूसासबायरतिगाणि' इति प्रकृतिसंग्रहगाथावयवोक्तानां पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमिति पराघातनामादीनां पञ्चानामौदारिकशरीरनाम्नश्चेति षण्णां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः **'अहिय'** त्ति साधिकानि पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानि, पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमात्मकोत्कृष्टस्थितिकेशानदेवीतयोत्पित्सोः संख्येयवर्षायुष्कायाः मिथ्यादृष्टिस्त्रियः स्वभवचरमान्तर्मुहूर्तादारभ्य देवीसत्कभवपर्यन्तं यावत्तथा सुरसदनाच्च्युतायास्तस्या अनन्तराऽऽगामिभवाऽऽद्याऽन्तर्मुहूर्त्तं सततं तद्बन्धोपलम्भात्, रसबन्धाऽध्यवसायेभ्यः यथोक्तकालसमयानामसंख्येयगुणहीनत्वेन तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धस्यानावश्यकत्वाच्च। नवरमौदारिकशरीरनाम्नो देवीप्राग्भवसत्कान्तर्मुहूर्तं न ग्राह्यं, तत्र वैक्रियशरीरनाम्नो बन्धप्रवर्त्तनात् । तथा **'तित्थस्स'** त्ति जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोना पूर्वकोटिः, पूर्वकोट्यायुष्कमानुष्या वर्षपृथक्त्वस्याऽऽयुष्के निकाचितजिननाम्न्या आभवं तद्बन्धोपलम्भात्। आगामिनि भवे तु तस्याः पुंस्त्वेनोत्पादसद्भावेन मार्गणोपरमात् नात्रोक्तात् कालादधिकतरस्य कालस्य संभवः । तथा **'चउसुराईणं'** ति देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः 'ऊण' त्ति किञ्चिदूनानि त्रिपल्योपमानि, अपर्याप्तावस्थायां युगलिन्यास्तद्बन्धाभावात् अपर्याप्तावस्थासत्काऽन्तर्मुहूर्तरहितानि त्रीणि पल्योपमानीत्यर्थः, पर्याप्तावस्थायां युगलिकानां सततं देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धसद्भावात् । अथात्रोक्तशेषाणां यासां पञ्चचत्वारिंशतोऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य काल उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ता एव दर्शयामः,-सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कमाहारकद्विकमाद्यवर्जं संहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपनामोद्योतनाम स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनाम स्थावरदशकं नीचैर्गोत्रमिति पञ्चचत्वारिंशदिति ॥३५५-३५६॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायां प्रकृतं प्रकटयन्नाह—

पुरिसे ओघव्व भवे बारपुमाईण पणणराईणं।
तेत्तीसा अयरा सगपणिंदियाईण उण तिवट्ठिसयं ॥३५७॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'पुरिसे' इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां 'पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्चसुरविउवदुगतित्थ' मिति द्वादशानां पुरुषवेदादीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल ओघवद् भवति, तद्यथा–पुरुषवेदप्रशस्तविहायोगतिसमचतुरस्रसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वात्रिंशदधिकं सागरोपमाणां शतम्। देवद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोनपूर्वकोट्य कत्रिभागाऽभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि। जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोनमनुजभवद्वयकालेनाऽधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि। भावनाऽत्रौघवदेव। तथा 'पणणराईणं' ति मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनामरूपाणां पञ्चानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, अनुत्तरवासिसुरस्य तावत्प्रमाणां स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावत् सततं तद्बन्धोपलम्भात्। तथा 'सगपणिंदियाईण' त्ति पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमिति सप्तानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालस्त्रिषष्ट्यधिकं शतं सागरोपमाणां भवति, तद्यथा–कश्चित् पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्योऽष्टवार्षिकः सन् देशविरतिं प्रतिपद्याऽऽभवं च तां परिपाल्य चतुःपल्योपमस्थितिकेषु देवेषु सपर्यत्वमनुभूयाऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषु समुत्पद्य सम्पूर्णं च संयमं परिपाल्य नवमग्रैवेयकविमाने एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकोऽमरो भूत्वा उत्पादोत्तरकालं मिथ्यात्वोदयवान् भवति, च्यवनकाले च सम्यक्त्वं प्रतिपद्य षट्षष्टिसागरोपमाणि अच्युतदेवलोके वारत्रयेणाऽनुभवति, पुनरन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वमनुभूय भूयोऽपि सम्यक्त्वमवाप्य विजयादिषु वारद्वयेन पुनः षट्षष्टिसागरोपमाणि समनुभवति। एतेषु पूर्वोक्तेषु मनुजादिभवेषु क्वचित् सम्यक्त्वबलात् क्वचिच्च भवप्रत्ययात् स जीव एताः प्रकृतीः सततं बध्नाति, अतो यथोक्तः कालः प्राप्यते आसां सप्तानामनुत्कृष्टरसबन्धस्यापि, उत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकश्रेणावेव भावात्।

अथोक्तशेषाणां यासां पञ्चचत्वारिंशतोऽध्रुवबन्धिनीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, ता अनन्तरोक्तगाथावृत्तिप्रान्तादवसेयाः। इति पुरुषवेदमार्गणायामेकोनसप्ततेरध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालप्ररूपणा कृता ॥३५७॥

अथ नपुंसकवेदमार्गणायामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालस्य प्रचिकटयिषयाऽऽह–

णपुमे तेत्तीसुदही सत्तपुमाइतिणराइगाए भवे।
देसूणाऽब्भहिया उण उरलोवंगाइअट्ठण्हं ॥३५८॥
उरलतितिरियाईण ओघव्व हवेज्ज चउसुराईणं।
देसूणपुव्वकोडी जिणस्स अब्भहियमयरतिगं ॥३५९॥

(प्रे०) 'णपुमे' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां पुरुषवेदप्रशस्तविहायोगतिप्रथमसंस्थान-सुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां पुरुषवेदादीनां सप्तानां मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां तिसृणां मनुष्यद्विकादीनां चेति दशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनानि, उत्कृष्टस्थितिकसम्यग्दृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकस्य भवाऽऽद्यान्तिमाऽन्तर्मुहूर्तयोर्मिथ्यात्वसद्भावेनाऽन्तर्मुहूर्तद्वयोनानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि भवतीत्यर्थः, अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं सम्प्रासादितसम्यक्त्वस्य सप्तमपृथ्वीनारकस्य भवचरमान्तर्मुहूर्तं यावत् सम्यक्त्वबलात् एतत्प्रतिपक्षभूतस्त्रीवेदादिबन्धाभावेनाऽन्तर्मुहूर्त्तद्वयोनानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि यावत् पुरुषवेदादीनां दशानां नैरन्तर्येण बन्धो भवतीति भावः ।

तथा 'उरलोवंगाइअट्ठण्हं' ति औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमित्यष्टानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः 'अब्भहिया' त्ति अभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति, सप्तमपृथ्वीनारकस्य तथाभवस्वाभाव्यादाऽऽभवमाऽऽगामिभवाऽऽद्यान्तर्मुहूर्त्तं च नियमेन तद्बन्धोपलम्भात् । तथा 'उरलतितिरियाईण' त्ति औदारिकशरीरनाम तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल ओघवद् भवति, स चैवम्-औदारिकशरीरनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्ताः साधिकैकेन्द्रियकायस्थितिमितो भवति । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः पुनरसंख्येयलोकाः साधिकतेजोवायूत्कृष्टकायस्थित्यात्मकाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणो भवतीत्यर्थः, भावनात्रौघवदेव । तथा 'चउसुराईणं' ति देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोना पूर्वकोटिः, पूर्वकोटयायुष्कस्य मनुष्यस्य तिरश्चो वा सम्यक्त्वप्राप्त्युत्तरकालं नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात् । न चाऽसंख्येयवर्षायुष्कं युगलधर्मिणमाश्रित्यातोऽपि दीर्घतरः कालः प्राप्यते एतन्निरन्तरबन्धस्येति वाच्यम् , युगलिकस्य स्त्रीपुरुषाऽन्यतरवेदित्वेन प्रकृतमार्गणाबाह्यत्वात् , नपुंसकवेदिनो मनुष्यस्य तिरश्चो वा नियमेन मिथ्यादृष्टितयोत्पादसद्भावेन सम्यक्त्वप्राप्त्युत्तरकालात्परत एवाऽऽसां निरन्तरबन्धसम्भवाच्च देशोना पूर्वकोटिरित्युक्तम् ।

तथा 'जिणस्स' त्ति जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽभ्यधिकमतरत्रिकं साधिकत्रीणि सागरोपमाणीत्यर्थः पल्योपमाऽसंख्येयभागाभ्यधिकत्रिसागरोपमस्थितिकस्य पूर्वभवनिकाचितजिननाम्नस्तृतीयपृथ्व्याद्यप्रतरनारकस्य तावत्कालं नैरन्तर्येण तद्बन्धसम्भवात् । अचिरव्याख्यातस्त्रीवेदमार्गणाविंशतिप्रान्तोक्तानां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रवर्जानामत्रोक्तशेषाणां सातवेदनीयादीनां द्विचत्वारिंशतोऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्वर्जनं चात्र तयोरनुत्कृष्टरसबन्धकालस्यौघवदतिदिष्टत्वात् ॥३५८-३५९॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतं प्रकटयन्नाह-

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मखइअवेअगेसु विण्णेयो ।
जेट्ठा सगकायठिई चउद्दसपणिंदियाईणं ॥३६०॥
पंचणराईण भवे तेत्तीसुदही जिणस्स तेऽब्भहिया ।
अहियतिपल्लाऽत्थि सुराइचउण्हं वेअगे उ देसूणा ॥३६१॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, मतिज्ञान–श्रुतज्ञाना–ऽवधिज्ञाना–ऽवधिदर्शन–सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वरूपासु सप्तसु मार्गणासु पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातनामोच्छ्वासनामबादरत्रिकपुरुषवेदसुखगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां चतुर्दशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः 'जेट्ठा सगकायठिई' तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्विज्ञेयः, श्रेणिविरहितावस्थायां सततं तद्बन्धोपलम्भात् । तथा 'पंचणराईण' त्ति मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सर्वार्थसिद्धसुरस्य तावत्कालं नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात् । तथा 'जिणस्स' त्ति जिननाम्नो देशोनमनुजभवद्वयेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, भावनौघवत् । तथा 'सुराइचउण्हं' ति देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालो देशोनपूर्वकोटयेकत्रिभागाभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि, भावनौघवत् । अत्रैव विशेषं दर्शयति 'वेअगे उ देसूणा' तुरेवार्थः ततः वेदके क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि भवति, चतुर्विंशत्यष्टाविंशतिमोहनीयप्रकृतिसत्कर्मणः क्षयोपशमसम्यग्दृष्टेर्युगलिकतयोत्पादाभावेन यथासंभवं सम्यक्त्वप्राप्तिसमनन्तरमेव तद्बन्धकयुगलिकस्य प्रस्तुतमार्गणायां प्रवेशात् । प्रस्तुतासु सप्तस्वपि मार्गणासु सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती आहारकद्विकमिति चतुर्दशानां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्तं, तत्प्रकृतिबन्धस्योत्कृष्टत आन्तर्मुहूर्त्तिकत्वात् ॥३६०-३६१॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु संभाव्यमानबन्धानामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टं बन्धकालं चिचिन्तयिषुराह—

मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
जेट्ठा सगकायठिई गुणवीसपणिंदियाईणं ॥३६२॥

(प्रे०) 'मणणाण०' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनीयसंयम-परिहारविशुद्धिसंयम-देशविरतिरूपासु षट्सु मार्गणासु '... ...पणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणि । पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्चसुरविउव्वदुगनिरय' मिति प्रस्तुतकालद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामेकोनविंशतेरध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः 'जेट्ठा'

चि उत्कृष्टा स्वकायस्थितिः देशोनपूर्वकोटिप्रमितप्रकृतमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमितो भवतीत्यर्थः, प्रकृतमार्गणानां प्रत्येकमुत्कृष्टतस्तावत्कालाऽवस्थानात्, समग्रां कायस्थितिं यावत् सततं तद्बन्धोपलम्भाच्च । अत्रोक्तातिरिक्तानां सातासाते हास्यरती शोकारती आहारकद्विकं स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति चतुर्दशानामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, ततः परं स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावेन स्वबन्धविरमणात् । देशविरतिमार्गणायां त्वनन्तरोक्तानां द्वादशानामेव यथोक्तः कालो वाच्यः, तत्राहारकद्विकस्य बन्धाभावात् ॥३६२॥

अथ मत्यज्ञानादिषु चतसृषु मार्गणासु अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं निरूरूपयिषुराह—

तिरियाइतिगुरलाणं अण्णाणदुगे अभवियमिच्छेसु ।
ओघव्व एगतीसा अयरा णेयो णरदुगस्स ॥३६३॥
देसूणं पल्लतिगं सुखगइआइछगचउसुराईण ।
साहियतेत्तीसुदही उरलोवंगाइअट्ठण्हं ॥३६४॥

(प्रे०) '**तिरियाई**' त्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञाना-ऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौदारिकशरीरनाम्नामनुत्कृष्टरसबन्धस्य उत्कृष्टः काल ओघवद् भवति, स च तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणः साधिकतेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिप्रमितः । औदारिकशरीरनाम्नश्चाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तमितः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिमितो भवति, भावनौघवत् । '**णरदुगस्स**' त्ति मनुष्यद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकाल एकत्रिंशत् सागरोपमाणि, नवमग्रैवेयकसुरस्य प्रस्तुतमार्गणास्वन्तःप्रवेशात् उत्कृष्टस्थितिकस्य च तस्य भवप्रत्ययादेतावत्कालं मनुष्यद्विकबन्धस्य प्रवर्त्तनात् । तथा '**सुखगइआइछगचउसुराईणं**' ति सुखगतिसमचतुरस्रसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रदेवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां दशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोनं पल्योपमत्रिकम्, प्रस्तुतमार्गणावर्त्तियुगलधर्मिणामपर्याप्तावस्थायां तत्प्रतिपक्षभूतकुखगत्यादीनां बन्धसद्भावेनाऽपर्याप्तावस्थासत्काऽन्तर्मुहूर्तेन न्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि यावत् नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात्, तदुत्कृष्टरसस्य तु मत्यज्ञानादिषु तिसृषु मार्गणासु केनचित् सम्यक्त्वाभिमुखेनाऽभव्यमार्गणायां च केनचित् कदाचिदेव सर्वविशुद्धेन सञ्ज्ञिना बध्यमानत्वाच्च । तथा '**उरलोवंगाइअट्ठण्हं**' ति औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमित्यष्टानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, सप्तमपृथ्वीनारकस्य स्वोत्कृष्टभवस्थित्यात्मकेषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमेषु आगामितिर्यग्भवाद्यान्तर्मुहूर्ते च सततं तद्बन्धोपलम्भात् । अथ उक्तशेषाणां यासामध्रुवबन्धिनीनां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टःकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति ता एव

दर्शयामः—सातासाते हास्यरती शोकारती त्रयो वेदाः नरकद्विकं जातिचतुष्कं संहननषट्कं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपनामोद्योतनाम स्थिरशुभे यशःकीर्तिनाम स्थावरदशकमिति द्विचत्वारिंशदिति ॥३६३-३६४॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां संभाव्यमानबन्धानामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं प्रचिकटयिषुराह--

विब्भंगे कायठिई गुरू तितिरियाइणवुरलाईणं ।
जलहीण एगतीसा जाणयव्वो णरदुगस्स ॥३६५॥

(प्रे०) 'विब्भंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाणां द्वादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः 'कायठिई' त्ति मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, उत्कृष्टस्थितिकमिथ्यादृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकस्याऽऽभवं तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । अत्र 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः'देशोना कायस्थितिर्ज्ञेया, नारकस्यैव नैरन्तर्येण तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । मतान्तरेण तु सम्पूर्णा कायस्थितिरपि बोध्या, कुतः ? एतन्मते सप्तमपृथ्वीनारकस्योत्कृष्टभवस्थितेः सकाशात् मार्गणाकायस्थितेः किञ्चिन्न्यूनत्वात् ।

'जलहीण' इत्यादि, मनुष्यद्विकस्यैकत्रिंशत्सागरोपमाणि, उत्कृष्टस्थितिकग्रैवेयकसुरस्याऽऽभवं तद्बन्धोपलम्भात् । 'मुहुत्तंतो अवक्खमाणाणे' ति वचनादुक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां द्विपञ्चाशतोऽध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , कुतः ? तासां परावर्त्तमानत्वात् , परावर्त्तमानप्रकृतिसहचारित्वाद् वा । इमाश्च ता द्विपञ्चाशत्—देवद्विकं नरकद्विकं जातिचतुष्कं वैक्रियद्विकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकमातपोद्योतनाम्नी स्थावरदशकं स्थिरषट्कं सातासाते हास्यरती शोकारती त्रयो वेदाः उच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥३६५॥

अथाऽसंयममार्गणायां प्रकृतं व्याचिख्यासुराह—

उरलोवंगाईणं पंचदसण्हमयतेऽहिया जलही ।
तेत्तीसोघव्व भवे सगतिरियाइगसुराइपणगाणं ॥३६६॥ (गीतिः)

(प्रे०)'उरलोवंगाईणं'इत्यादि,असंयममार्गणायाम् 'उरलोवंगपणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणि । पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्च' इति औदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनां पञ्चदशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः'अहिया जलही तेत्तीसा'त्ति साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि भवति, तद्यथा--सप्तमपृथ्वीनारकस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमात्मकस्योत्कृष्टकायस्थितिं यावदागामितिर्यग्भवाऽऽद्याऽन्तर्मुहूर्ते च सततमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो बन्धोपलम्भात् । तथाऽत्रोक्तानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां चतुर्दशानां त्रयस्त्रिंशत्सागरमितोत्कृष्टस्थितिकाऽनुत्तरसुरस्य दिवि त्रयस्त्रिंशत्सागरो-

पमाणि यावत् ततोऽपि च्युतस्य तस्य मनुजभवे देशोनपूर्वकोटिं यावच्च सततं तद्बन्धोपलम्भात्, देशोनत्वं चात्र मनुजभवे तस्य यथाकालं संयतत्वप्रतिपत्तिसम्भवात् । इत्येवमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्ताऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां चतुर्दशानां तु देशोनपूर्वकोटयाऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः । तथा 'तिरियदुगं णीअं तह णरदुगवइराणि उरलं च' इति गाथावयवोक्तानां तिर्यग्द्विकादीनां सप्तानां 'सुरविउवदुगतित्थ'मिति देवद्विकादीनां पञ्चानां चेति सर्वसंख्यया द्वादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल ओघवद् भवति । तद्यथा—तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणः असंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यात्मकसाधिकतेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिप्रमाण इत्यर्थः । मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां तिसृणां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, उत्कृष्टस्थितिकाऽनुत्तरसुरस्य तावत्कालं सततं तद्बन्धोपलम्भात् । औदारिकशरीरनाम्नोऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, एकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितेस्तावन्मितत्वात् । सुरद्विकवैक्रियद्विकयोर्देशोनपूर्वकोटित्रिभागाऽभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि । जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवन्ति । तथात्रोक्तशेषाणां सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ नरकद्विकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपनामोद्योतनाम स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनाम स्थावरदशकमिति चत्वारिंशतोऽध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं, कुतः ?, ततः परं नैरन्तर्येण तद्बन्धासंभवात् ॥३६६॥

अथ तिसृषु प्रशस्तलेश्यामार्गणास्वाह—

तीसुं सुहलेसासुं चउदसगपणिंदियाइतित्थाणं ।
जेट्ठा सगकायठिई सा हीणा पणणराईणं ॥३६७॥

(प्रे०)'तीसुं' इत्यादि, तिसृषु प्रशस्तलेश्यामार्गणासु ...'पणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणि । पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्च' इति कालद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां चतुर्दशानां जिननाम्नश्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः 'जेट्ठा' त्ति तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः,प्रस्तुतमार्गणागतसम्यग्दृष्टिदेवानां स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावत् स्वप्राग्भवाऽऽगामिभवचरमप्रथमाऽन्तर्मुहूर्तयोश्च नैरन्तर्येण तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । तथा 'सा हीणा' इत्यादि, मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकरूपाणां पञ्चानां देशोना कायस्थितिः, सम्यग्दृष्टिसुरानेवाश्रित्य प्रस्तुतकालस्य संभव इति कृत्वा । देशोनत्वञ्चात्राऽन्तर्मुहूर्त्तद्वयात्मकं ज्ञेयम् , यथोक्तसुराणां प्राग्भवागामिभवचरमप्रथमाऽन्तर्मुहूर्त्तयोर्देवप्रायोग्यबन्धप्रवर्त्तनेन तद्बन्धाभावात् । उक्तशेषाणां तत्र तत्र बन्धार्हाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , कुतः ?, उच्यते—तासु कासाञ्चित् परावर्त्तमानत्वात्, कासाञ्चित् अपरावर्तमानत्वेऽपि तद्बन्धस्योत्कृष्टबोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् , कासाञ्चिद् बन्धकानां मनुष्यतिर्यग्मात्रत्वेनाऽन्तर्मुहूर्तात् परतो मार्गणाया

अनवस्थानात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः,—तत्र तेजोलेश्यामार्गणायाम् सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ तिर्यग्द्विकं देवद्विकमेकेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकमाहारकद्विकमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपनामोद्योतनाम स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनाम स्थावरनामाऽस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रञ्चेति एकचत्वारिंशत् । पद्मलेश्यामार्गणायामेकेन्द्रियस्थावराऽऽतपवर्जा अनन्तरोक्ता अष्टात्रिंशत् । शुक्ललेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकोद्योतयोरपि बन्धाभावात् तेजोलेश्योक्ताः पञ्चत्रिंशदिति ॥३६७॥

अथ सास्वादनमार्गणायां प्रस्तुतमाह–

सासायणे णरदुगतितिरियाइगणवुरलाइगाण तहा ।
दससुखगइआईणं णेया सगजेट्ठकायठिई ॥३६८॥

(प्रे०) 'सासायणे' इत्यादि सास्वादनमार्गणायां 'णरदुग' त्ति मनुष्यद्विकस्य 'तितिरियाइग' त्ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः 'णवुरलाइगाण' त्ति औदारिकशरीरनाम तदङ्गोपाङ्गनाम पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमिति नवानां 'दससुखगइआईणं' ति प्रशस्तविहायोगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रसुरद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां दशानां चेति सर्वसंख्यया चतुर्विंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः ज्ञेयः । भावना त्वेवम्–आनतादिनवमग्रैवेयकान्तः सास्वादनः सुरः सास्वादनोत्कृष्टकायस्थितिं यावद् मनुष्यद्विकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धं कर्त्तुमर्हति तस्य भवप्रत्ययेनैव मनुष्यद्विकबन्धसम्भवात्, शेषत्रिगतिकानां सहस्रारान्तानां च सुराणां सास्वादनानां तिर्यग्द्विकादीनां परावृत्त्या बन्धसद्भावेन तावत्कालं नरद्विकस्य नैरन्तर्येण बन्धासंभवादानतादिसुरस्यात्र ग्रहणम् । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तु सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्यैतावत्कालं निरन्तरो बन्धः प्रवर्त्तते, शेषचतुर्गतिकानां सासादनानां मनुष्यद्विकादिबन्धसम्भवेन सास्वादनोत्कृष्टकायस्थितिं यावद् नैरन्तर्येण तद्बन्धाभावात् । औदारिकद्विकाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य यथोक्तः कालस्तु देवान् नारकान् वाश्रित्य प्राप्यते, सास्वादनमनुजतिरश्चामन्तरा वैक्रियद्विकबन्धसम्भवेन तेषां षडावलिकात्मकसास्वादनोत्कृष्टकायस्थितिं यावदविच्छिन्नतया तद्बन्धाभावात् । पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमिति सप्तानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य यथोक्तो मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमित उत्कृष्टः कालश्चतुर्गतिकान् सास्वादनानाश्रित्य प्राप्यते, चतुर्गतिकानां सासादनानां सातत्येन तद्बन्धोपलम्भात् । तथा प्रशस्तविहायोगत्यादीनां वैक्रियद्विकपर्यन्तानां दशानां युगलिकमनुजतिरश्च आश्रित्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य यथोक्तः सास्वादनोत्कृष्टकायस्थितिप्रमितः काल उपलभ्यते, पर्याप्तकानां युगलिकानां भवप्रत्ययेनैवाऽविच्छिन्नतया तद्बन्धसद्भावात् । शेषसास्वादनानां तत्प्रतिपक्षभूताऽप्रशस्तविहायोगत्यादिभिः सह परावृत्त्या बन्धसम्भवेन तावत्कालं नैरन्तर्येण तद्बन्धाऽसम्भवाच्च । अथ यासामध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य काल उत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेवा-

स्ति ताः प्रकृतीर्दर्शयामः–सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीपुरुषवेदौ सेवार्त्तवर्जसंहननपञ्चकं मध्यमसंस्थानचतुष्कं कुखगतिः स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनामोद्योतनामाऽस्थिरषट्कमिति । आसामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवतीति ॥३६८॥

अथाऽऽहारिमार्गणायामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टं बन्धकालं प्रकटयन्नाह—

आहारे तिणराइगउरलोवंगाइवीसपयडीणं ।
ओघव्व सकायठिई गुरू तितिरियाइउरलाणं ॥३६९॥

(प्रे०) '**आहारे**' इत्यादि, आहारिमार्गणायां 'णरदुगवइराणि' इति तिसृणां मनुष्यद्विकादीनां प्रकृतीनाम् 'उरलोवंगपणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणि । पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्चसुरविउवदुर्गातत्थ' मिति विंशतेः प्रकृतीनां चेति सर्वसंख्यया त्रयोविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः काल ओघवद् भवति । तद्यथा–मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां तिसृणां त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि । औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि । पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकमिति सप्तानां पञ्चाशीत्यधिकं शतं सागरोपमाणाम् । पुरुषवेदसुखगतिप्रथमाकृतिसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानां द्वात्रिंशदधिकं शतं सागरोपमाणम् । सुरद्विकवैक्रियद्विकयोर्देशोनपूर्वकोट्येकत्रिभागाभ्यधिकानि त्रिपल्योपमानि । जिननाम्नस्तु मनुजभवद्वयाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । भावनौघवद् गाथा(३०१-३०३)विवृतितोऽवधारणीया । तथा '**तितिरियाइउरलाणं**' ति तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रौदारिकशरीरनामरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालः '**सकायठिई गुरू**' त्ति मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरङ्गुलाऽसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणिप्रमितो भवतीत्यर्थः, तत ऊर्ध्वं नियमेन विग्रहगतिसम्भवेन तत्र चाऽनाहारित्वसद्भावेन प्रकृतमार्गणाऽयोगात् । तथा सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ नरकद्विकं जातिचतुष्कमाहारकद्विकमाद्यवर्जं संहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपोद्योतनाम्नी स्थिरशुभे यशःकीर्त्तिनाम स्थावरदशकमित्यत्रोक्तशेषाणामध्रुवबन्धिनीनां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, ततः परं सातवेदनीयादीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावेनाऽऽतपोद्योतयोश्च तथास्वभावेन बन्धोपरमात् ।

तदेवं 'णिरयचरमणारग......इत्यादिभिः गाथाभिर्विंशत्युत्तरशतमार्गणासु संभाव्यमानबन्धानामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः प्ररूपितः । अथ यासु नैकस्या अपि प्रकृतेरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽन्तर्मुहूर्त्तादधिकस्तासु पञ्चाशन्मार्गणासु 'सव्वासु मुहुत्तंतो अवक्खमाणाण.......'इत्यादिगाथयैव ग्रन्थकृतोक्तत्वात् अस्माभिः किञ्चिद् विस्तरतो भण्यते–तत्र अपर्याप्तमनुष्यः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगिति द्वे गतिमार्गणे । अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः, पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः, अपर्याप्तद्वीन्द्रियः, अपर्याप्तत्रीन्द्रियः, अपर्याप्तचतुरिन्द्रियः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय इति सप्त-

न्द्रियमार्गणाः। पर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायः, पर्याप्तसूक्ष्माप्कायः, पर्याप्तसूक्ष्मतेजःकायः, पर्याप्तसूक्ष्मवायुकायः, पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायः, अपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायः, अपर्याप्तसूक्ष्माप्कायः, अपर्याप्तसूक्ष्मतेजः-कायः, अपर्याप्तसूक्ष्मवायुकायः, अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायः, अपर्याप्तबादरपृथ्वीकायः, अपर्याप्तबा-दराप्कायः, अपर्याप्तबादरतेजःकायः, अपर्याप्तबादरवायुकायः, अपर्याप्तबादरनिगोदः, पर्याप्तबादरनिगोदः अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, अपर्याप्तत्रसकाय इत्यष्टादश कायमार्गणाः। मनोयोगौघादयः पञ्च मनो-योगमार्गणाः, पञ्च वचोयोगमार्गणा, औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियतन्मिश्रकाययोगौ, आहारक-तन्मिश्रकाययोगौ इति पञ्चदश योगमार्गणाः। अपगतवेदः। चत्वारः कषायाः। सूक्ष्मसम्परायचारि-त्रम्। उपशमसम्यक्त्वं, मिश्रसम्यक्त्वमिति सर्वसंख्यया पञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकं वध्यमानानामध्रुव-बन्धिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, मार्गणाकायस्थितेरुत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहू-र्त्तिकत्वात् अत्रायं विशेषः—यासां प्रकृतीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या बन्धः तासामनुत्कृष्ट-रसबन्धस्योत्कृष्टकालो मार्गणाकायस्थितेः सङ्ख्येयगुणहीनो बोध्यः, अन्तर्मुहूर्त्तात्मकोत्कृष्टकायस्थिति-मध्ये संख्येयवारान् यावत् परावर्तमानप्रकृतीनां बन्धस्य परावृत्तेः ॥३६९॥

मार्गणासु अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यं ततश्चोत्कृष्टं कालं निरूप्याऽथ जघन्यस्याऽजघन्यस्य चानुभागबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं च कालं निरूपयिषुरादौ तावदोघतः सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यानु-भागबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्च कालं प्रकटयन्नाह—

सव्वाण लहू समयो लहुअणुभागरस होअए जेसिं।
खवगो अदुव अहिमुहो सामी तेसिं गुरू समयो ॥३७०॥
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो अत्थि बंधगो जेसिं।
तेसिं चउरो समया सेसाण भवे दुवे समया ॥३७१॥

(प्रे०) 'सव्वाण' इत्यादि, सर्वासां प्रकृतीनां 'लहुअणुभागस्स' त्ति जघन्यरसबन्ध-स्य 'लहू' त्ति जघन्यः काल एकसमयो भवति, अजघन्यानुभागबन्धद्वयान्तराले समयं तत्प्रवर्त्तनात् क्षपकस्य सम्यक्त्वादिगुणाद्यभिमुखस्य वाऽशुभप्रकृतीनां सामयिकजघन्यरसबन्धानन्तरं तत्प्रकृतिबन्ध-विरमणाच्च। अथ जघन्यानुभागबन्धस्यैवोत्कृष्टं कालं प्रचिकटयिषुराह 'होअए जेसिं' इत्यादि, यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी क्षपको गुणाद्यभिमुखो वा भवति तासां जघन्य-रसबन्धस्योत्कृष्टोऽपि काल एक एव समयः, क्षपकस्य सर्वोत्कृष्टविशुद्धे गुणाद्यभिमुखस्य सर्वोत्कृष्ट-विशुद्ध्यादेर्नैकसमयस्थायित्वेनाऽनन्तरसमये तद्बन्धाभावात्। तथा यासां प्रकृतीनां जघन्यरस-बन्धस्य स्वामी परावर्त्तमानमध्यमपरिणामोऽस्ति तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामप्रायोग्यजघन्यरसबन्धाऽध्यवसायस्योत्कृष्टतश्चतुःसमयस्थायि-

त्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति शेषाणां यत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी क्षपको गुणाद्यभिमुखः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो वा न भवति तत्प्रकृतीनामित्यर्थः जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशादेस्तज्जन्यत्वात् स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धयोरुत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वात् ।

अथ यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, यासां स चत्वारः समयाः, यासाञ्च स द्वौ समयौ तत्सर्वं दर्शयामः, तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं पुरुषवेदः संज्वलनक्रोधमानमायालोभा हास्यरती भयजुगुप्से अशुभवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम निद्राद्विकमिति त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः एकसमयः, क्षपकेण तत्तद्बन्धचरमसमये समयं तद्बध्यमानत्वात् । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमिति षोडशानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकसमयः, संयमाभिमुखेन तद्बन्धचरमसमये समयं तद्बध्यमानत्वात् । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकसमयः; सर्वविशुद्धेन सम्यक्त्वाभिमुखेन मिथ्यादृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकेण मिथ्यात्वचरमसमय एव बध्यमानत्वात् । आहारकद्विकजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, सर्वसंक्लिष्टेन प्रमत्ताभिमुखेनाऽप्रमत्तेन बध्यमानत्वात् । जिननाम्नः स एकः समयः, तीव्रसंक्लिष्टेन मिथ्यात्वाभिमुखेन सम्यग्दृष्टिमनुष्येण सम्यक्त्वचरमसमये बध्यमानत्वात् । इति सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एक एव समयः,क्षपकेण गुणाद्यभिमुखेन वा बध्यमानत्वात् ।

सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां चतुर्णामायुषां सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकदेवद्विकरूपाणां दशानां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्विकसुभगत्रिकदुर्भगत्रिकरूपाणां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनामेकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोश्चेति सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन तत्तद्बन्धकेन बध्यमानत्वात् । ततः किमिति चेत् , परावर्त्तमानमध्यमपरिणामानां प्रत्येकमुत्कृष्टतोऽपि चतुःसमयस्थायित्वात् । स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोररतिशोकयोश्च प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तत्प्रायोग्यविशुद्धेन तद्बन्धकेन बध्यमानत्वात् । त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकोच्छ्वासनामपराघातनामशुभध्रुवबन्ध्यष्टकरूपाणां पञ्चदशानामौदारिकद्विकोद्योतरूपाणां तिसृणां वैक्रियद्विकस्य आतपनाम्नश्चेति एकत्रिंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तीव्रसंक्लिष्टेन तत्तद्बन्धकेन बध्यमानत्वात् ॥३७०-३७१॥ इति सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्च कालं निरूप्य तासामेवाऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालमोघतो निर्दिदिक्षुराह—

अलहुरसस्स जहण्णो कालो असुहधुवबंधितित्थाणं ।
भिन्नमुहुत्तं णेयो सेसाणं होअए समयो ॥३७२॥

(प्रे०) '**अलहु०**' इत्यादि, ज्ञानावरणादीनां त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चेति चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयः । '**सेसाणं**' ति अशुभध्रुवबन्ध्यादिव्यतिरिक्तानामशीतिलक्षणानां शुभध्रुवबन्ध्यादीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः '**समयो**' त्ति एकः समयो भवति । भावना त्वेवम्-कस्या अपि प्रकृतेरजघन्यरसबन्धस्य काल एकः समयः प्रकारद्वयेनोपलभ्यते, तथाहि-यदि तत्प्रकृतिबन्धः कदाचित् समयमपि प्रवर्तेत; (२) यदि वा तत्प्रकृतिजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकोऽजघन्यरसबन्धः सम्भवेत् । इह निरुक्ताऽशुभध्रुवबन्ध्यादीनां जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्तं बन्धसद्भावेन कदाचिदपि समयमात्रमेव तद्बन्धाभावात् । सम्यक्त्वादिगुणाभिमुखानां क्षपकाणां यथासंभवं तज्जघन्यरसबन्धस्य सद्भावेन जघन्यरसबन्धाऽनन्तरमेव तदबन्धसम्भवेन च जघन्यरसबन्धद्वयाभावात् तदन्तरालभाविसामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्याऽप्यभावः ।

अथासामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं यथा प्राप्यते तथा भाव्यते, **अत्रायं नियमः**-विवक्षितप्रकृतेरबन्धप्रायोग्यादुपरितनगुणस्थानकादवरुह्य तद्बन्धप्रायोग्यगुणस्थानकमागत्याऽन्तर्मुहूर्तात्मकतद्गुणस्थानकजघन्यकालं यावत्तद्बन्धं कृत्वा पुनस्तदबन्धको भवति तदा यथोक्तोऽन्तर्मुहूर्तकालो विवक्षितप्रकृतेरजघन्यरसबन्धस्य प्राप्यते, तज्जघन्यरसबन्धस्य तु गुणाद्यभिमुखानां तद्बन्धचरमसमय एवोपलम्भात् , अत्र घटना-मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां प्रकृतीनामबन्धप्रायोग्यादुपरितनात् चतुर्थादिगुणस्थानकादवरुह्य कश्चिज्जीवस्तद्बन्धप्रायोग्यप्रथमगुणस्थानकमागत्याऽन्तर्मुहूर्तात्मकमिथ्यात्वगुणस्थानकजघन्यकालं यावन्मिथ्यात्वमोहादीनां बन्धं कृत्वा चतुर्थादिगुणस्थानकं गत्वा तदबन्धको भवति तदा मिथ्यात्वमोहादीनामष्टानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते, जघन्यतोऽपि तत्र मिथ्यात्वगुणस्थानकेऽन्तर्मुहूर्तं यावदवस्थानात् । तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽबन्धकः कश्चित् पञ्चमगुणस्थानकाच्चतुर्थगुणस्थानकमागत्य तत्राऽन्तर्मुहूर्तमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कबन्धं विधाय पुनः पञ्चमादिगुणस्थानके तदबन्धको भवति, तदाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्काऽजघन्यरसबन्धस्याऽन्तर्मुहूर्तात्मको जघन्यः कालः प्राप्यते । तथा षष्ठाद् गुणस्थानकात् प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽबन्धकः पञ्चमगुणस्थानमागत्य तत्र जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्तं तद्बन्धं विधाय परिणामविशुद्धया पुनः षष्ठादिगुणस्थानकं गत्वा तदबन्धको भवति तदा प्रत्याख्यानावरणचतुष्काऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं प्राप्यते । तथा निद्राद्विकस्य भयजुगुप्सयोरप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातनाम्नोः संज्वलनचतुष्कस्य ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरण-

चतुष्काऽन्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशानां जिननाम्नश्चोपशमश्रेणौ अबन्धकस्ततः प्रतिपत्य तत्तत्प्रकृतिबन्धप्रायोग्यं गुणस्थानकं प्राप्य तद्बन्धमारभते ततोऽन्तर्मुहूर्तात् पुनः श्रेणिमारोहन् तदबन्धको भवति तदा श्रेणिद्वयान्तराले आसामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तर्मुहूर्त्तात्मको जघन्यः कालः प्राप्यते, श्रेणिद्वयान्तरालस्य जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । इति अशुभध्रुवबन्ध्यादीनां चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धाऽन्तर्मुहूर्त्तात्मकजघन्यकालविषया घटना ।

तथा शेषाणामशीतेः शुभध्रुवबन्ध्यादीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः एकः समय एवमुपपादनीयः, तद्यथा–तैजसशरीरनामकार्मणशरीरनामप्रशस्तवर्णादिचतुष्काऽगुरुलघुनिर्माणरूपाणां शुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्य एकसमयात्मकः कालो जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् प्राप्यते । तच्चैवम्–कश्चित् संज्ञी मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टसंक्लेशादामां जघन्यरसं बद्ध्वा संक्लेशमान्द्यात् समयमजघन्यरसबन्धं निर्वर्त्य पुनरुत्कृष्टसंक्लेशमासाद्य जघन्यरसं बध्नातीत्येवं जघन्यरसबन्धद्वयान्तरालेऽजघन्यरसबन्धस्य एकसमयात्मको जघन्यो बन्धकालः प्राप्यते । तथा सातासाते हास्यरती शोकारती त्रयो वेदाः चत्वार्यायूंषि गतिचतुष्कं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं संहननषट्कं संस्थानषट्कमानुपूर्वीचतुष्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतनामानि त्रसदशकं स्थावरदशकं गोत्रद्विकमिति द्विसप्ततेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, तासामध्रुवबन्धित्वेन तत्प्रकृतिबन्धस्यापि जघन्यत एकसामयिकत्वात् । व्यापकस्य प्रकृतिबन्धस्यैकसामयिकत्वे तद्व्याप्यस्याऽजघन्यरसबन्धस्यैकसामयिकत्वं सूपपन्नमिति । आयुष्कचतुष्कस्य तु प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्यतोऽपि आन्तर्मुहूर्तिकत्वेऽपि कश्चिदायुर्बन्धप्रथमसमयेऽजघन्यरसं बद्ध्वा द्वितीयसमये जघन्यरसं बध्नाति यद्वा आयुर्बन्धाद्धाया द्विचरमसमये जघन्यरसबन्धं निर्वर्त्य चरमसमयेऽजघन्यरसबन्धं विदधाति, यद्वा जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावदजघन्यं रसं बध्नातीति प्रकारत्रयेणाऽजघन्यरसबन्धस्य समयमात्रो जघन्यकालः प्राप्यते । ॥३७२॥ अथौघतोऽजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं प्रचिकटयिषुराह–

असुहधुवाण तिभंगोऽणाइअणंतो अणाइअधुवो य ।
साइअधुवो य जेट्ठो देसूणो अद्धपरियट्टो ॥३७३॥

(प्रे०) '**असुहधुवाण**' इत्यादि, अशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धः '**तिभंगो**' त्रिप्रकारो भवति, अनाद्यनन्तोऽनाद्यध्रुवः साद्यध्रुवश्च, तत्राद्यप्रकारद्वयकालस्याऽनियतत्वेन वक्तुमशक्यत्वात् ज्ञानावरणादीनां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां तृतीयस्य साद्यध्रुवलक्षणस्याऽजघन्यानुभागबन्धस्य 'जेट्ठो' त्ति उत्कृष्टः कालो देशोनार्धपुद्गलपरावर्त्तः, उपशमश्रेणेः प्रतिपत्य यथा-

स्थानं तत्तत्प्रकृतीनां बन्धमारभ्य उत्कृष्टतो देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तादूर्ध्वं क्षपकश्रेणौ तद्बन्धप्रवर्त्तनात् , श्रेणिद्वयान्तरालकालस्य चोत्कृष्टतोऽपि तावन्मात्रत्वात् ॥३७३॥

अथ 'सेसाणं' तमाह—

णेयो ओरालियसुहधुवबंधीणं असंखपरियट्टा ।
सेसाणं पयडीणं भवे अजेट्ठाणुभागव्व ॥३७४॥

(प्रे०) 'णेयो' इत्यादि, औदारिकशरीरनाम्नोऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां चेति नवानां प्रकृतीनामजघन्यानुभागस्योत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्ताः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिमानो ज्ञेयः, तासां जघन्यरसबन्धस्य पञ्चेन्द्रियेषु संभवेनैकेन्द्रियस्योत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तदजघन्यरसबन्धस्यैव सद्भावात्, साधिकत्वञ्चात्र पञ्चेन्द्रियत्वं प्राप्तस्यापि जन्तोर्यावद्य जघन्यरसबन्धो न वा तद्बन्धोपरमस्तावदजघन्यरसबन्धस्यैव प्रवर्त्तनात् । पञ्चेन्द्रियत्वे तु यथासमयं संक्लेशवृद्धया शुभध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसबन्धसम्भवात् , औदारिकशरीरनाम्नश्च वैक्रियशरीरनाम्ना सह परावृत्त्या बन्धसम्भवेन तद्बन्धविरमणात्रोक्तकालादधिकतरस्यापि कालस्य सम्भव इति । अत्रौदारिकशरीरस्यानन्तरवक्ष्यमाणाऽतिदेशेनाप्युक्तप्रमाणः कालः प्राप्यते तथापि प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां कालेन साम्यसद्भावात् स्पष्टनिर्देशः । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां द्वासप्ततेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः 'अजेट्ठाणुभागव्व' त्ति अनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालवद् भवतीत्यर्थः, तद्यथा—पुरुषवेदप्रशस्तविहायोगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रलक्षणानां सप्तानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालो द्वात्रिंशदधिकं शतं सागरोपमाणाम् । तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः सोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपः । मनुष्यद्विकप्रथमसंहननयोस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि । देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्देशोनपूर्वकोटयैकत्रिभागाऽभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि । पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातनामोच्छ्वासनामबादरत्रिकलक्षणानां सप्तानामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः पञ्चाशीत्यधिकं शतं सागरोपमाणाम् । औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नः सोऽन्तर्मुहूर्ताभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि । जिननाम्नो देशोनमनुजभवद्वयाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि । तथा सातासाते हास्यरती शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ चत्वार्यायूंषि नरकद्विकं जातिचतुष्कमाहारकद्विकमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकं कुखगतिरातपनाम उद्योतनाम स्थिरशुभयशःकीर्तिरूपं स्थिरत्रिकं स्थावरदशकञ्चेति षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भावनाऽत्र गाथा (३०१ ३०३) विवृतितोऽनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालवद् ज्ञेया ॥३७४॥

ओघतो जघन्याऽजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टञ्च कालं निरूप्य अथ मार्गणासु

तन्निरूपयिषुः स्वल्पवक्तव्यत्वादादौ तावदायुषां जघन्याऽजघन्यानुभागबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टञ्च कालं तत्समानवक्तव्यत्वादोघवदतिदिशन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं भवे जहण्णेयराणुभागाणं ।
ओघव्व जहण्णियरो सप्पाउग्गाण आऊणं ॥३७५॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, सर्वास्वायुर्बन्धयोग्यासु त्रिषष्ट्यधिकशतलक्षणासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणामायुषाम्'जहण्णेयराणु भागाणं' ति जघन्याऽजघन्यानुभागयोर्जघन्यरसबन्धस्याऽजघन्यरसबन्धस्य चेत्यर्थः 'जहण्णियरो' त्ति प्रत्येकं जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च ओघवद् भवति । सर्वासु मार्गणासु तत्र तत्र बन्धप्रायोग्याणामायुषां जघन्यरसबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालः, तेषामेव चाऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालो यावानोघप्ररूपणायां प्रागुक्तस्तावान् भवति, तद्यथा-सर्वासु मार्गणासु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणामायुषां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयो भवति, अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावत् तत्प्रवर्त्तनात् , आयुर्बन्धचरमसमये सामयिकजघन्यरसबन्धानन्तरं तद्बन्धविरमणाद् वा । तथा तस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, आयुषां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् , जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामानाञ्चोत्कृष्टतश्चतुःसमयस्थायित्वात् । तथा तत्र तत्र स्वप्रायोग्याणामायुषामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एक एव समयः, जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावत्प्रवर्त्तनात् , आयुर्बन्धाद्धाया द्विचरमसमये जघन्यरसबन्धानन्तरं चरमसमयेऽजघन्यरसस्य समयमात्रं बध्यमानत्वाद् वा । तथा तस्यैव उत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तम् ,आयुषां बन्धस्योत्कृष्टतोऽपि आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् , अथ कस्यां मार्गणायां कानि कियन्ति चायूंषि बध्यन्ते इत्याशङ्कायामुच्यते-यन्मार्गणागतजीवाः प्रेत्याऽनन्तरभवे यासु यावतीषु च गतिषु गन्तुमर्हन्ति तत्तद्गतिप्रायोग्याणि तावन्ति चैवायूंषि विवक्षितमार्गणायां बध्यन्ते इति नियमः । अत्र विशेषविस्तरस्तु अस्यैव ग्रन्थस्य गाथा (३०४-३०५) विवृत्तितो ज्ञेयः । ॥३७५॥

मार्गणास्वायुषां जघन्यरसबन्धस्याऽजघन्यरसबन्धस्य च प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं च कालं निरूप्याऽथ मार्गणासु स्वस्वबन्धप्रायोग्याणामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यं कालं दर्शयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
लहुअणुभागस्स लहू कालो समयो मुणेयव्वो ॥३७६॥

(प्रे०)'सव्वासु' इत्यादि सर्वासु सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु आयुषामनन्तरोक्तत्वात्, आयुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां तत्तद्मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं 'लहुअणु भागस्स' त्ति जघन्यरसबन्धस्य 'लहू' त्ति जघन्यः कालः 'समयो' त्ति एक एव समयो ज्ञातव्यः, तस्य कादाचित्कत्वेनाऽजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयमपि प्रवर्त्तनात् , समयं यावज्जघन्यरसबन्धानन्तरं तत्प्रकृतिबन्धविरमणाद् वा, रसबन्धाध्यवसायानां प्रत्येकं जघन्यत एकसमयस्थायित्वाच्च ॥३७६॥

अथ मार्गणासु स्वबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं प्रचिकटयिषुराह-

जहि जाण अत्थि सामी खवगो उवसामगो उआहिमुहो ।
तहि तेसिं उक्कोसो कालो समयो मुणेयव्वो ॥३७७॥
परियत्तमाणमज्झिमपरिणामो अत्थि बंधगो जेसिं ।
तेसिं चउरो समया सेसाण भवे दुवे समया ॥३७८॥
णवरि दुसमया जेसिं तिमिस्सजोगेसु ताण समयो वा ।
जइ तणुपज्जत्तीए णिट्ठवगो दीज्जए सामी ॥३७९॥
परिहाराईसु चउसु कयकरणो दिज्जए जया सामी ।
तह ताण भवे समयो इहरा णेयो दुवे समया ॥३८०॥

(प्रे०) 'जहि' इत्यादि, यत्र यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी क्षपक उपशमको गुणाद्यभिमुखो वा अस्ति तत्र तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एक समयो ज्ञातव्यः, क्षपकस्योपशमकस्य गुणाद्यभिमुखस्य च यथासंभवमुत्कृष्टविशुद्धिसंक्लेशयोरुत्कृष्टतोऽप्येकसामयिकत्वात् । तथा यत्र यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य 'बंधगो' त्ति स्वामी परावर्त्तमानमध्यमपरिणामोऽस्ति तत्र तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समया अस्ति, जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामानामुत्कृष्टतश्चतुःसमयस्थायित्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति शेषाणां यत्र यासां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी क्षपकादिः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो वा न भवति तत्र तासामित्यर्थः, जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धयोरुत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वात् । अथात्रैव विशेषं दर्शयति 'णवरि' त्यादिना, औदारिकमिश्रादित्रिमिश्रयोगमार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽनन्तरोक्तनीत्या द्वौ समयौ प्राप्यते तासां मतान्तरेण एकसमयो भवति, यदि अनन्तरसमयभविष्यत्शरीरपर्याप्तिपर्याप्तकस्तासां जघन्यरसबन्धस्वामी दीयते स्वीक्रियते इति भावः । 'परिहारे' त्यादि परिहारविशुद्धिसंयम-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-तेजोलेश्या-पद्मलेश्यारूपासु चतसृषु मार्गणासु यासां ध्रुवबन्ध्यादीनां प्रकृतीनां 'सामी' त्ति जघन्यरसबन्धकः कृतकरणो दीयते-स्वीक्रियते मतान्तरमधिकृत्येति शेषः, तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयो भवति, 'इहरा' इतरथा-यदि स्वस्थानविशुद्धस्तज्जघन्यरसबन्धकः स्वीक्रियते तर्हि, प्रस्तुतकालो द्वौ समयौ ज्ञेयः । अथ कासु मार्गणासु कासां कियतीनाञ्च प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, द्वौ समयौ, समयो वा भवति, तदेव विस्तरतो दर्शयामः-तत्र नरकौघमार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां त्रयाणां एकादशानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्ध-

स्योत्कृष्टः काल एक एव समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन तद्बन्धकेन मिथ्यात्वचरमसमये समयं बध्यमानत्वात् । तथा मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमिति त्रयोविंशतेः सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां चेति सर्वसंख्ययैकत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानपरिणामेन तद्बन्धकेन बध्यमानत्वात् । पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से हास्यरती निद्राद्विकमुपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमन्तरायपञ्चकं ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कमिति अष्टात्रिंशतोऽरतिशोकयोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चेति सर्वसंख्यया द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तद्बन्धकेन स्वस्थानविशुद्धया बध्यमानत्वात् । तथा त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम शुभध्रुवबन्ध्यष्टकमौदारिकद्विकमुद्योतनामेत्यष्टादशानां जिननाम्नश्चेति सर्वसंख्ययैकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वादिति नरकौघमार्गणायां संभाव्यमानबन्धानां त्र्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालनिरूपणम् ।

आद्यषड्नरकमार्गणासु सनत्कुमारादिसहस्रारान्तलक्षणासु षट्सु देवमार्गणासु चेति द्वादशसु मार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन मिथ्यात्वचरमसमये समयं बध्यमानत्वात् । नरकौघमार्गणोक्ता मनुष्यद्विकादयस्त्रयोविंशतिः सातवेदनीयादयो अष्टौ तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रञ्चेति चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । नरकौघमार्गणोक्तानां पुरुषवेदादिनपुंसकवेदपर्यन्तानां द्विचत्वारिंशतः त्रसनामादिजिननामपर्यन्तानामेकोनविंशतेः प्रकृतीनां च प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तत्रोक्तादेव हेतोः । नवरं चतुर्थादिषष्ठलक्षणेषु त्रिषु नरकेषु त्रसनामादीनामष्टादशानामेव जघन्यरसबन्धस्य यथोक्त उत्कृष्टः कालो वाच्यः, तत्र जिननाम्नो बन्धाभावात् । सप्तमनरकमार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनामेकादशानामेकसमयो नरकौघवत् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, मिथ्यात्वाभिमुखेन सम्यक्त्वचरमसमये बध्यमानत्वात् । नरकौघमार्गणोक्तानां पुरुषवेदादीनां द्विचत्वारिंशतः त्रसनामादीनामष्टादशानां च प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, यथाक्रमं तत्प्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन च बध्यमानत्वात् । तथा संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकं सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टाविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् ।

तथा तिर्यगोघमार्गणायां मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानाम-प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य चेति द्वादशानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, देशविरत्यभिमुखेन बध्यमानत्वात् । मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगति-द्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं नरकद्विकं देवद्विकं सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्य-रसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से हास्यरती निद्राद्विकमुपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमन्तरायपञ्चकं ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्करूपाणि नवाऽऽवरणानि प्रत्याख्यानावरणचतुष्कं चेति जघन्यरस-बन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनां चतुस्त्रिंशतस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर-रतिशोकयोः स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोश्चेति सर्वसंख्ययैकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्ध-स्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या तत्प्रायोग्यविशुद्ध्या वा बध्यमानत्वात् । तथा 'विउव्वदुगं । तमपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया ॥ सुहधुवबंधि...' इति वैक्रियद्विकादीनां सप्तदशानामौदारिकद्विकोद्योतनामाऽऽतपनामरूपाणां च चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्यो-त्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्ट-संक्लेशेन वेत्यर्थः बध्यमानत्वात् ।

पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ–तिर्यग्योनिमती–पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियरूपासु तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालोऽनन्तरोक्ततिर्यगोघमार्गणावद् वाच्यः, नवरं चत्वारः समयाः षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां वाच्याः, अत्र तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणा-मेन बध्यमानत्वात् । द्वौ समयौ पुनरष्टात्रिंशत्प्रकृतीनामेव तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्यात्र स्वस्थानविशुद्ध्याऽबध्यमानत्वात् ।

'अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग -'ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया- ऽपर्याप्तत्रसकाया -'ऽपर्याप्तमनुष्य -'सकल-विकलेन्द्रियभेद-'सकलपृथ्वीकायभेद-'सकलाऽप्कायभेद-''सकलवनस्पतिकायभेदरूपासु द्वयूनचत्वा-रिंशन्मार्गणासु 'सायथिरसुहजससियरतिरिदुगणीआणि णरदुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुह-गदुहगतिगं । एगिंदियथावरसुहमविगलतिग' इति सातवेदनीयादीनां द्विचत्वारिंशतः त्रसनामपञ्चे-न्द्रियजातिबादरत्रिकरूपाणां पञ्चानां चेति सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा 'पुमचउसंजलणभयकु-च्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउगसोगारइथीणपुंसाणी' ति पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसब-न्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, स्वस्थानविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । तथा शुभध्रुवबन्धिन्यो

अष्टौ औदारिकद्विकं पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योताश्चेति चतुर्दशानामपि प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरस-बन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तस्य स्वस्थानसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् , इति अपर्याप्तपञ्चेन्द्रि-यादिष्वष्टात्रिंशन्मार्गणास्वेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालनिरूपणम् ।

मनुष्यौघ-मानुषी-पर्याप्तमनुष्यरूपासु तिसृषु मार्गणासु मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽन-न्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-जिननामाऽऽहारकद्विक-हास्यर-तिभयजुगुप्साऽशुभवर्णादिचतुष्कोपघातनिद्राप्रचलापुरुषवेदसंज्वलनचतुष्कज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरण-चतुष्काऽन्तरायपञ्चकरूपाणामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकसमयः, अप्रमत्ताद्यभिमुखेन तत्तद्बन्धचरमसमये समयं बध्यमानत्वात् । तथा साताऽसाते स्थि-रास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं नरकद्विकं देवद्विकञ्चेति षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः चत्वारः समयाः, तस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्तनीयत्वात् । तथा शोकारती स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ चेति चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः द्वौ समयौ, प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमा-नत्वात् । प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धिर्नाम विवक्षितप्रकृतिबन्धप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धिः । अधिकतर-विशुद्धेर्हास्यरतिपुरुषवेदबन्धसद्भावेन शोकादेर्बन्धाऽसम्भवात् । प्रस्तुतप्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेरपि स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेरिवोत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वाच्च । तथा ......'विउव्वदुगं । तस-पंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया ॥ सुहधुवबंधि......, इति वैक्रियद्विकादीनां सप्तदशानामौदा-रिकद्विकातपनामोद्योतनामरूपाणां चतसृणां चेति एकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । इति सर्वासां त्रिंशदुत्तरशतलक्षणानां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालप्ररूपणा मनुष्यौघादिषु तिसृषु मार्गणास्विति ।

देवौघमार्गणायां षडुत्तरशतप्रकृतीनां बन्धः । तत्र मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानु-बन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एक एव समयः, सम्यक्त्वा-ऽभिमुखेन मिथ्यात्वचरमसमये समयं बध्यमानत्वात् । तथा'...... तिरिदुगणीआणि णरदुगुच्चा-णि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं । एगिंदियथावर''...... इति जघन्यरसबन्धस्वा-मित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां तिर्यग्द्विकादीनामष्टाविंशतेः साताऽसाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानाञ्च जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानपरिणा-मेन बध्यमानत्वात् । तथा'.......... तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया । सुहधुवबंधिउरलतणु-वंगा उज्जोअआयवाणि' इति त्रसनामादीनामेकोनविंशतेर्जिननाम्नश्चेति विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरस-बन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तद्बन्धकेषु स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वात् । तथा पुरुषवेदादि-

द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तत्र............'पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया' इति पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतो जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया, स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ शोकारती चेति चतसृणां प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानरूपासु पञ्चसु मार्गणासु सर्वमनन्तरोक्तदेवौघमार्गणावज्ज्ञेयम् ,नवरमत्र चत्वारः समया अष्टात्रिंशत्प्रकृतीनां वाच्याः, न तु षट्त्रिंशतः, पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोरपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामेनोपलम्भात् । तथा बादरत्रिकादीनां सप्तदशानां जिननाम्नश्चेति अष्टादशानामेव जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वेन द्वौ समयौ वाच्यौ, न तु देवौघमार्गणावद् विंशतेः, कुतः ? पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसस्यात्र परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्केषु सप्तदशानामेव द्वौ समयौ, जिननाम्नो बन्धाभावात् ।

आनतादिषु चतुःकल्पेषु नवसु ग्रैवेयकेषु चेति त्रयोदशसु मार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन मिथ्यात्वचरमसमये बध्यमानत्वात् । तथोच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमिति एकविंशतेः सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां नीचैर्गोत्रस्य च प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा .....'तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया । सुहधुवबंधिउरलतणुवंगा ......' इति गाथोक्तानां त्रसनामादीनां सप्तदशानां मनुष्यद्विकजिननाम्नोश्चेति विंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । तथैव शेषद्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तत्र पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतो जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया, स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ शोकारती चेति चतसृणां प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् । इत्यत्र सम्भाव्यमानबन्धस्य प्रकृतिशतस्य जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालप्ररूपणा, शेषाणां विंशतेः प्रकृतीनामत्र बन्धासम्भवात् ।

तथा पञ्चसु अनुत्तरसुरमार्गणासु पञ्चसप्ततिः प्रकृतयो बध्यन्ते । तत्र सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं शुभध्रुवबन्ध्यष्टकं त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं प्रथमसंहननं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनाम जिननामोच्चैर्गोत्रमिति सप्तविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ,

स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । तथा शेषाणां चत्वारिंशतः प्रकृतीनामपि प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालो द्वौ समयौ, तत्र पुरुषवेदसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साहास्यरतिनिद्राद्विकोपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्काऽन्तरायपञ्चकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां प्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतो जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया, अरतिशोकयोश्च प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

एकेन्द्रियसर्वभेदरूपासु सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकमेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां बन्धः, तत्र साताऽसाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति अष्टानां "णरदुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं ॥ एगिंदियथावरसुहुमविगलतिग..." इति मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतस्त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिबादरत्रिकरूपाणां पञ्चानां चेति सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्तनीयत्वात् । तथा सप्तषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तत्र तैजसशरीरकार्मणशरीरप्रशस्तवर्णादिचतुष्काऽगुरुलघुनिर्माणनामरूपं शुभध्रुवबन्ध्यष्टकमौदारिकशरीरनामेति नवानां जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन, पराघातनामोच्छ्वासनामाऽऽतपनामोद्योतनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम चेति पञ्चानां प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन, 'पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउग ...', इति पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया, स्त्रीनपुंसकवेदौ शोकारती चेति चतसृणां मार्गणाहप्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-मनोयोगपञ्चक-वचोयोगपञ्चक-काययोगौघ-लोभकषाय-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञ्याहारिरूपास्वेकविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं सर्वा विंशत्युत्तरशतलक्षणाः प्रकृतयो बध्यन्ते, तत्र ज्ञानावरणपञ्चकादीनां द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः । सातवेदनीयादीनां त्रिचत्वारिंशतश्चत्वारः समयाः । शेषाणां त्रसनामादीनां पञ्चविंशतेर्द्वौ समयौ, अत्र भावनादिसर्वमोघवद् गाथा (३७०-३७१) विवृतितोऽवमातव्यम् । नवरमोघप्ररूपणायां चतुःसमयाः सातवेदनीयादीनां सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुक्ताः, अत्र तु त्रिचत्वारिंशतः, आयुर्वर्जानां प्रस्तुतत्वात् ।

सप्तसंख्याकेषु सर्वतेजस्कायभेदेषु तावत्सु सर्ववायुकायभेदेष्विति चतुर्दशमार्गणाभेदेषु साताऽसाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिर्बादरत्रिकं सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकञ्चेति एकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त-

मानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा सप्तषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं द्वौ समयौ, तत्र ध्रुवबन्ध्यष्ट-कौदारिकशरीरनाम्नोर्जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन पराघातनामोच्छ्वासनामाऽऽतपनामोद्योतनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामेति पञ्चानां प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन, 'पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ।। णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउगं' इति पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशतस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया, स्त्रीनपुंसकवेदशोकारतीनां च जघन्यरसस्य प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

औदारिककाययोगमार्गणायां सर्वमोघवद् , नवरमत्र तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसः स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया बध्यते । ततोऽत्र ज्ञानावरणादीनामेकोनपञ्चाशत एव प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकाल एकः समयः, द्वौ समयौ तु तत्रोक्तानां त्रसनामादीनामेकविंशतेः स्त्रीवेदनपुंसकवेदशोकारतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति अष्टाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालतया वाच्यौ, सातवेदनीयादीनां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं चत्वारः समयाः, भावनादि ओघवत् ।

औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां मनुष्यद्विकजातिपञ्चकसंहननषट्कसंस्थानषट्कखगतिद्विकत्रसदशकस्थावरदशकसातवेदनीयाऽसातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपाणां चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेनैव बध्यमानत्वात् । तथा शेषाणां द्विसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तत्र '...पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउगं' इति षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च तत्तद्बन्धकैःस्वस्थानसर्वोत्कृष्टविशुद्धया, स्त्रीवेदनपुंसकवेदशोकारतीनां प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया, सुरद्विकवैक्रियद्विकजिननामशुभध्रुवबन्ध्यष्टकौदारिकशरीरनामरूपाणां चतुर्दशानां तत्तद्बन्धकैः स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन, पराघातनामोच्छ्वासनामाऽऽतपनामोद्योतनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामेति पञ्चानां जघन्यरसस्य प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । मतान्तरेण आसां द्विसप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः,औदारिकमिश्रयोगचरमसमये एव तद्बन्धोपलम्भात् सामयिकजघन्यरसबन्धात् परतो मार्गणाया एवोपरमादिति भावः ।

वैक्रियकाययोगमार्गणायां मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कतिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन मिथ्यात्वचरमसमये समयं बध्यमानत्वात् । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां '......णरदुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं पणि-

दियथावर' इति मनुष्यद्विकादीनां पञ्चविंशतेश्चेति सर्वसंख्यया त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा द्वाषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र 'तसपंचिंदिय-बादरतिगाणि ऊसासपरघाया। सुहधुवबंधितउरलतणुवंगा उज्जोअआयवाणि' इति त्रसनामादीनामेकोनविंशतेर्जिननाम्नश्च तद्बन्धकैः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेन, 'पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया' इति पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतो मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या स्त्रीनपुंसकवेदशोकारतीनां च जघन्यरसस्य प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् ।

वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां वैक्रियकाययोगमार्गणोक्तानां सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनां च पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा त्रिसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, मिथ्यात्वमोहादीनामेकादशानामपि जघन्यरसस्यात्र मिथ्यादृष्टिभिः स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । मतान्तरेण त्रिसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, एतन्मते अनन्तरसमयभविष्यद्वैक्रियकाययोगिनो वैक्रियमिश्रयोगचरमसमय एव तज्जघन्यरसबन्धाभ्युपगमात् ।

आहारककाययोगमार्गणायां सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथाऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र जिननामोच्चैर्गोत्रसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिसुभगत्रिकरूपाणां सप्तानां 'देवविउवदुगं। तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया ॥ सुहधुवबंधि..........' इति देवद्विकादीनामेकोनविंशतेश्च जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन, '.......पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि' इति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतो जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या,अरतिशोकयोश्च जघन्यरसस्य प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् ।

आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां सर्वमविशेषेणाऽऽहारककाययोगवद् वाच्यम् । नवरं मतान्तरेणाऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एक समयो वाच्यः, कुतः ? अस्मिन् मते मार्गणाचरमसमय एव जघन्यरसबन्धस्य सम्भवात् ।

कार्मणकाययोगाऽनाहारिरूपयोर्द्वयोर्मार्गणयोः सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानाम् '............णरदुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं। पणिंदियथावरसुहुमविगलतिग' इति मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतश्चेति सर्वसंख्ययैकोनचत्वारिंशतः

प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालस्त्रयः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वेऽपि मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेस्तावन्मितत्वात् । तथा शेषाणां सप्तसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः '......पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई ॥ णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया' इति पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतश्चेति सर्वसंख्ययैकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य तत्तद्बन्धकेनोत्कृष्टविशुद्धया, स्त्रीवेद-नपुंसकवेदशोकारतीनां प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया, जिननामदेवद्विकवैक्रियद्विकानां मार्गणागतसम्यग्दृष्टिप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन, 'तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया । सुहधुवबंधिउरलतणुवंगा उज्जोअआयवाणि' इति एकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् ।

स्त्रीवेदमार्गणायामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयः, तत्र 'पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणि' इति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य क्षपकेण, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोरप्रमत्ताभिमुखेन, आहारकद्विकस्य प्रमत्ताभिमुखेन, जिननाम्नो मिथ्यात्वाभिमुखेन, मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां जघन्यरसस्य संयमाभिमुखेन तत्तद्बन्धचरमसमये बध्यमानत्वात् । तथा षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, तासां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वात् ,ताश्चेमाः- [१]साय[२]थिर [२]सुह[२]जससियर[२]तिरिदुग[१]णीआणि[२]णरदु[१]गुच्चाणि । [६]संघयणा[६]गिइछक्कं[२]खगइदुगं [३]सुहग[३]दुहगतिगं । [१]एगिंदिय[१]थावर[३]सुहुम[३]विगलतिग[२]णिरय[२]देव...दुग' मिति षट्चत्वारिंशत् । तथा पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र '[५]विउव्वदुगं । तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया । सुहधुवबंधिउरलतणु ...उज्जोअआयवाणि' इति विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य तत्तद्बन्धकेन सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेन, औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन, स्त्रीनपुंसकवेदशोकारतीनाञ्च जघन्यरसस्य प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

पुरुषवेदमार्गणायां सर्वमविशेषेणाऽनन्तरोक्तस्त्रीवेदमार्गणावद् वाच्यम् । नवरं भावनायामौदारिकाङ्गोपाङ्गस्य सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेन जघन्यरसबन्धो वाच्यः । नपुंसकवेदमार्गणायामपि तथैव नवरमेकसमयो द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालतया वाच्यः, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरपि जघन्यरसस्यात्र सम्यक्त्वगुणाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । तथा चत्वारः समयाः त्रिचत्वारिंशत एव प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालतया ज्ञेयाः, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्यात्र परावर्त्तमानपरिणामेनाऽनुपलम्भात् ।

अपगतवेदमार्गणायां संभाव्यमानबन्धानां सर्वासां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काऽन्तरायपञ्चकसंज्वलनचतुष्कसातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपाणामेकविंशतिप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्य-

रसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, प्रस्तुतमार्गणायामासां जघन्यरसस्य श्रेणावेव सम्भवात् श्रेणौ बध्यमानजघन्यरसानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकालस्योत्कृष्टतोऽपि समयमात्रत्वात् ।

क्रोध-मान-मायारूपासु तिसृषु मार्गणासु स्त्रीवेदमार्गणोक्तानामेकोनपञ्चाशतस्तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोश्चेति द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, क्षपकेण गुणाद्यभिमुखेन वा बध्यमानत्वात् । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां 'णरदुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदूहगतिग । एगिंदियथावर-सुहमविगलतिगणिरयदेव...दुग' मिति पञ्चत्रिंशतश्चेति सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा शेषाणां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र 'तिरियदुग । तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया । सुहधुववण्णचउरलतणुवंगा उज्जोअआयवाणी'ति एकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्योत्कृष्टसंक्लेशेन, स्त्रीवेदनपुंसकवेदहास्यरतीनां च जघन्यरसस्य प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघरूपासु पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकमेकमप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, तत्र पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगसुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणी'ति त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य तत्तत्प्रकृतिबन्धचरमसमये क्षपकेण, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानामप्रमत्ताभिमुखेन , आहारकद्विकस्य प्रमत्ताभिमुखेन, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रवज्रर्षभनाराचसमचतुरस्रप्रशस्तविहायोगतिसुभगत्रिकजिननामरूपाणां दशानां '' देवविउवदुगं । तसपचिंदियबायरतिगाणि ऊसास-परघाया । सुहधुवअविउरलतणुवंगा' इत्येकविंशतेश्चेति सर्वसंख्ययैकत्रिंशतः प्रकृतीनां मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् , जघन्यरसस्येति सर्वत्र बोध्यम् । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्तनीयत्वात् । तथाऽरतिशोकयोर्जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां सर्वमनन्तरोक्तमतिज्ञानादिमार्गणावद् वाच्यम्, नवरमेकसमयोऽष्टापञ्चाशत एव प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य वाच्यः, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कमनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गरूपाणां त्रयोदशानां प्रकृतीनामत्र बन्धाभावात् ।

मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-मिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु पुरुषवेदादीनामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात्, इमाश्च ता एकोनपञ्चाशत् '···पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगसुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धि

तिगमणचउग·····' इति पुरुषवेदादयः षट्चत्वारिंशत् तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रञ्चेति । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां'···णरदगुच्चाणि। संघयणागिइछवक खगइदुगं सुहगदुहगतिगं। एगिंदियथावरसुहुमविगलतिगणिरयदेव···दुग' मिति पञ्चत्रिंशतश्चेति सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ,तत्र'···विउवदुगं। तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया। सुहधुवबंधिउरलतणुवंगा उज्जोअआयवाणी'ति एकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन,स्त्रीवेदनपुंसकवेदशोकारतीनां च जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनीयसंयमरूपासु तिसृषु मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणामष्टषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धोत्कृष्टकालस्य प्ररूपणाऽविशेषेण पूर्वोक्तमनःपर्यवज्ञानमार्गणावत् कार्या ।

परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामष्टात्रिंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, तत्राऽऽहारकद्विकजघन्यरसस्य प्रमत्ताभिमुखेन,'······देवविउवदुगं। तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया। सुहधुवबंध···, इति गाथोक्तानां देवद्विकादीनामेकोनविंशतेः प्रथमसंस्थाननामप्रशस्तविहायोगतिसुभगत्रिकजिननामोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तानां चेति षड्विंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य छेदोपस्थापनीयाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभनाम्नी यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा '······पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगसुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि। णव आवरणाणी' ति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया, शोकारत्योश्च जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वादासां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, मतान्तरेण पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, अनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणेन सुविशुद्धेन समयं बध्यमानत्वात् ।

देशविरतिमार्गणायां पुरुषवेदादीनां षष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयः, तत्र ·· ···पुमचउसंजलण······' इत्यादिगाथोक्तानां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्याऽप्रमत्ताभिमुखेन, परिहारविशुद्धिमार्गणोक्तानां जिननामवर्जानां देवद्विकाद्युच्चैर्गोत्रान्तानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन, जिननाम्नस्तु अविरतसम्यग्दृष्टित्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात्, जघन्यरसस्येति सर्वत्र ज्ञेयम् । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा अरतिशोकयोः प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां बध्यमानानां सप्तदशलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, प्रस्तुतमार्गणायाः श्रेणावेव सद्भावात् तत्र च प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्ध्यादेरुपलम्भात् । सप्तदश प्रकृतयश्चेमाः—ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काऽन्तरायपञ्चकानि सातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणि चेति ।

असंयममार्गणायां पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, तत्र '..... पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । ...' इत्यादिगाथाक्रमोक्तानां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्याऽप्रमत्ताभिमुखेन मार्गणाचरमसमये, जिननाम्नस्तु जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन तत्तद्बन्धचरमसमये बध्यमानत्वात् । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इत्यष्टानां '...... णरदुगुच्च' इत्यादिना जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथाक्रमोक्तानां पञ्चत्रिंशतश्चेति सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा पञ्चत्रिंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र......'विउव्वदुगं । ....'इत्यादिना जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां वैक्रियद्विकादीनामेकविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य तत्तद्बन्धकैः स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन, अरतिशोकस्त्रीनपुंसकवेदानां जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् ।

कृष्णलेश्यामार्गणायां द्वादशप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, तत्र मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कतिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशानां प्रत्येकं जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन मिथ्यात्वचरमसमये, जिननाम्नो जघन्यरसस्य तु मिथ्यात्वाभिमुखेन सम्यक्त्वचरमसमये निर्वर्त्तनीयत्वात् ।

तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इत्यष्टानां ...... 'णरदुगुच्च, ...' इत्यादिना स्वामित्वद्वारप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मनुष्यद्विकादिदेवद्विकावसानानां पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां चेति त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्तनीयत्वात् । तथा शेषाणां त्रिषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र ...... विउव्वदुगं । तस........ इत्यादिना स्वामित्वद्वारप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां वैक्रियद्विकाद्यातपावसानानामेकविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन'.... पुमचउसजलण ..... ' इत्यादिना जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदाद्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्काख्यद्वितीयकषायावसानानामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या स्त्रीनपुंसकवेदशोकारतीनां च प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् ।

नीलकापोतलेश्यामार्गणयोः प्रत्येकं मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकः समयः, सम्यक्त्वाभिमुखेन मिथ्यात्वचरमसमये बध्यमानत्वात्। तथा सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनाञ्च पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात्। सप्तषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र......'विउव्वदुगं। तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया। सुहधुवबंधिउरलतणुवंगा उज्जोअआयवाणि' इति वैक्रियद्विकादीनामेकविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन, जिननाम्नः स्वस्थानसंक्लेशेन, '..... पुमचउसंजलण-.......'इत्यादिना गाथोक्तानामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या, शोकारतिस्त्रीनपुंसकवेदानां प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात्।

तेजोलेश्यामार्गणायामष्टादशप्रकृतीनां जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एक एव समयः, तत्र मध्यमकषायाऽष्टकस्य मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्काणां चेति षोडशानां जघन्यरसस्याऽप्रमत्ताभिमुखेन, आहारकद्विकजघन्यरसस्य च प्रमत्ताभिमुखेन बध्यमानत्वात्। तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती ति सातवेदनीयादीनामष्टानां '....तिरिदुगणीआणि णरदुगुच्चाणि। संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं। एगिंदियथावर ....इति तिर्यग्द्विकादीनामष्टाविंशतेस्त्रसपञ्चेन्द्रियजातिनाम्नोश्च प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात्।

तथा षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र देवद्विकं वैक्रियद्विकं बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम शुभध्रुवबन्ध्यष्टकमौदारिकशरीरनामोद्योतनामाऽऽतपनाम चेति विंशतेः प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन, औदारिकाङ्गोपाङ्गनामजिननाम्नोः प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन, '...पुमचउसंजलण...' इत्यादिना जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारस्थप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनां नवाऽऽवरणावसानानां त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या, स्त्रीनपुंसकवेदशोकारतीनां च जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात्। मतान्तरेण पुरुषवेदादीनामपि त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एक एव समयः, एतन्मतेऽनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणस्यैव समयं यावत् तज्जघन्यरसबन्ध इत्यभ्युपगमात्। ततश्चैतेन मतेन जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयोऽष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनाम्। द्वौ समयौ तु षड्विंशतेरेव प्रकृतीनामिति।

पद्मलेश्यामार्गणायां सर्वं तेजोलेश्यामार्गणावद् वाच्यम्। नवरमेकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामत्र बन्धाभावात्तद्वर्जानामेव प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य कालोऽत्र

वाच्यः । तथ्यथा-एकसमयोऽष्टादशप्रकृतीनां कषायाष्टकादीनां जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः । चत्वारः समयाः सातवेदनीयादीनां चतुस्त्रिंशत एव प्रकृतीनां, कुतः ? एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोरत्र बन्धाभावात् पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशेन जायमानत्वाच्चेदं प्रकृतिचतुष्कं तेजोलेश्यामार्गणोक्ताभ्योऽष्टात्रिंशत्प्रकृतिभ्यो वर्जनीयमिति । तथा द्वौ समयौ देवद्विकादीनां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालः, कुतः? आतपनाम्नोऽत्र बन्धाभावात् तेजोलेश्यामार्गणोक्तेभ्यो देवद्विकादिभ्यः षट्पञ्चाशतोऽस्य वर्जनम्, पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसस्यात्र संक्लेशजन्यत्वेन तयोश्चात्र संकलनं कर्त्तव्यं भवतीति कृत्वा । मतान्तरेण एकसमयोऽष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनाम् , द्वौ समयौ सप्तविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकाल इति ।

शुक्ललेश्यामार्गणायामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, तत्र 'पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणी' ति त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य क्षपकेण, मध्यकषायाष्टकस्य मिथ्यात्वमोहस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानाञ्च जघन्यरसस्याऽप्रमत्ताभिमुखेन, आहारकद्विकजघन्यरसस्य प्रमत्ताभिमुखेन तद्बन्धचरमसमये बध्यमानत्वात् । तथा '.........उच्चाणि । संघयणागिइछक्क' मित्यादिना स्वामित्वद्वारप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानामुच्चैर्गोत्रादीनामेकविंशतेः सातवेदनीयादीनामष्टानां नीचैर्गोत्रस्य चेति त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्तनीयत्वात् । तथा शेषाणामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, तत्र मनुष्यद्विकस्य '...तसपंचिंदिये' त्यादिना गाथोक्तानां सप्तदशानां सुरद्विकवैक्रियद्विकयोश्चेति सर्वसंख्यया त्रयोविंशतेः जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन, जिननाम्नो जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन, स्त्रीनपुंसकवेदशोकारतीनां जघन्यरसस्य प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् ।

उपशमसम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, तत्र पुरुषवेदादीनां त्रिंशतो जघन्यरसस्य श्रेणौ, मध्यमकषायाष्टकजघन्यरसस्याऽप्रमत्ताभिमुखेन, आहारकद्विकजघन्यरसस्य प्रमत्ताभिमुखेन तत्तद्बन्धचरमसमये बध्यमानत्वात् । मातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभनाम्नी यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती त्यष्टानां सातवेदनीयादीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालश्चत्वारः समयाः, परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा शेषाणां त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनाम् , उपशमसम्यक्त्वमार्गणायान्तु शोकारती जिननाम चेति तिसृणामेव प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, गुणाद्यभिमुखेन परावर्तमानपरिणामेन वाऽबध्यमानत्वात् । त्रयस्त्रिंशच्चेमाः-मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं वज्रर्षभनाराचनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं '...देवविउवदुगं । तसपंचिंदियबायरनिगाणि

ङ्कासपरघाया । सुहधुवबंधिउरलतणुवंगा' इति त्रिंशत् जिननाम शोकारती चेति । उपशमसम्य-क्त्वमार्गणायां देवद्विकादीनान्तु त्रिंशत एक एव समयः, मिथ्यात्वाभिमुखेन मार्गणाचरमसमये समयं बध्यमानत्वात् ।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां त्वेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकसमयः, तत्राऽऽहारकद्विकजघन्यरसस्य प्रमत्ताभिमुखेन मध्यकषायाष्टकजघन्यरसस्याऽप्रमत्ताभिमुखेन, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रप्रथमसंहननप्रथमसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिसुभगत्रिक-देवद्विकवैक्रियद्विकत्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियजातिनामोच्छ्वासपराघातशुभध्रुवबन्ध्यष्टकौदारिकद्विकजिन-नामरूपाणामेकत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । चत्वारः समयाः सातवेदनीयादीनामष्टानां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः । शेषाणां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तत्र '......पुमचउसंज-लण' इत्यादिना गाथाक्रमेणोक्तानां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया, अरतिशोकयोः जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् । मतान्तरेण पुरुषवेदादीनां त्रिंशत एक एव समय इति ।

मिश्रदृष्टिमार्गणायां '····पुमचउसंजलण··' इत्यादिक्रमेण गाथोक्तानां पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतोऽनन्तरमार्गणोक्तानां च जिननामवर्जानां मनुष्यद्विकादीनां त्रिंशत इति सर्वसंख्ययाऽष्टषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः काल एकः समयः, अभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये निर्वर्तनीयत्वात् । तथा सातवेदनीयादीनामष्टानां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा अरतिशोकयोर्जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां सातासाते देवद्विकं मनुष्यद्विकमन्तिमवर्जसंहननपञ्चक-मन्तिमवर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगतिद्विकं स्थिरषट्कमस्थिरषट्कमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्येकत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा शेषाणामेकसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्यादिना बध्यमानत्वात् । इमाश्च ता एकसप्ततिः-'····पुमचउसंजलण··' इत्यादिना पुरुषवेदाद्यनन्तानुबन्धिचतुष्कावसाना मिथ्यात्ववर्जाः पञ्चचत्वारिंशत् शोकारती स्त्रीवेदः तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकमुद्योतनाम त्रसचतुष्कं पञ्चेन्द्रियजातिरुच्छ्वासनाम पराघातनाम शुभध्रुवबन्ध्यष्टकञ्चेत्येकसप्ततिः । मतान्तरमाश्रित्य प्रस्तुतकालप्ररूपणा स्वयमूह्या, सुगमत्वान्न दर्श्यते ।

असंज्ञिमार्गणायां सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां'···णरदुगे'

त्यादिक्रमेण गाथोक्तानां च पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्योत्कृष्टो बन्धकालश्चत्वारः समयाः,परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । शेषाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनाम् जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ, तत्र'''' विउव्वदुगे'त्यादिक्रमेण गाथोक्तानां सप्तदशानाम् औदारिकशरीरनाम तदङ्गोपाङ्गनामाऽऽतपनामोद्योतनाम चेति चतसृणां प्रत्येकं जघन्यरसस्य तत्तद्बन्धकेन स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशेन वा, '''' पुमचउसंजलणे' त्यादिक्रमेण गाथोक्तानां पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशतस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति सर्वसंख्ययैकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया,स्त्रीनपुंसकवेदशोकारतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थाने प्रकृतिप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् ॥३७७-३८०॥

मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टं कालं निरूप्य मार्गणासु अजघन्यरसबन्धस्य जघन्यं कालं निरूरूपयिषुराह-

सव्वासु होइ समयो अवक्खमाणाण आउवज्जाणं ।
सप्पाउग्गाण लहू कालो अलहुअणुभागस्स ॥३८१॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि,सर्वासु सप्तत्यधिकशतलक्षणासु मार्गणासु आयुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रत्येकं '**अलहुअणुभागस्स**'तत्र लघुः जघन्यो, न लघुरलघुः जघन्यरसादधिको यावत् सर्वोत्कृष्टरसः स सर्वोऽपि अलघ्वनुभागः अजघन्यरसोऽभिधीयते, जघन्यव्यतिरिक्तत्वात्, तस्य जघन्यो बन्धकाल एकः समयो भवति । किं सर्वासु मार्गणासु तत्र तत्र बन्धप्रायोग्याणां सर्वासामेव प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयो भवति ? नेत्याह'**अवक्खमाणाण**'त्ति अवक्ष्यमाणानां यासां प्रकृतीनां वक्ष्यमाणोऽन्तर्मुहूर्त्तादिः काल इत ऊर्ध्वं दर्शयिष्यते तद्व्यतिरिक्तानामेव प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो भवति न तु सर्वासां प्रकृतीनां न वा सर्वासु मार्गणासु, कुतः ? कासुचिन्मार्गणासु कासाञ्चित् प्रकृतीनां जघन्यतोऽपि तस्यान्तर्मुहूर्तादिप्रमाणत्वात् ॥३८१॥

अथ नरकौघादिमार्गणासु एकसमयभिन्नाऽजघन्यरसबन्धकालवत्प्रकृतिं तदजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालश्च प्रकटयन्नाह-

णिरय-पढमाइछणिरय-सुरगेविज्जंत-इत्थिवेएसुं ।
दुपणिंदितिरिणरेसुं मिच्छस्स भवे मुहुत्तंतो ॥३८२॥

(प्रे०) '**णिरय०**' इत्यादि, नरकौघे प्रथमादिषड्नरकमार्गणासु देवौघ-भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क सौधर्मादिद्वादशकल्प-नवग्रैवेयकरूपासु ग्रैवेयकान्तासु पञ्चविंशतिदेवमार्गणासु स्त्रीवेदमार्गणायां '**दुपणिंदितिरि**'' त्ति पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिर्यग्योनिमतीमार्गणयोः '**दुणर**' त्ति पर्या-

ष्यमनुष्य-मनुष्ययोनिमतीमार्गणयोश्चेति सर्वसंख्यया सप्तत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽजघन्यरसबन्धजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति, मिथ्यात्वगुणस्थानकालस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वेन तत्र तावत्कालं सातत्येन मिथ्यात्वबन्धोपलम्भात् उपरितनाद् द्वितीयादिगुणस्थानकाद् मिथ्यात्वं प्राप्तस्याऽन्तर्मुहूर्त्तादृते मार्गणान्तरं गुणान्तरं वा गमनाभावेन विवक्षितमार्गणायां जघन्यतोऽपि तावत्कालं तद्बन्धोपलम्भाच्च । शेषाणां स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एक एव समयो भवति । भावना त्वेवम्-तैजसशरीरकार्मणशरीरप्रशस्तवर्णादिचतुष्काऽगुरुलघुनिर्माणरूपाणामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां त्रसचतुष्कपञ्चेन्द्रियपराघातोच्छ्वासौदारिकद्विकरूपाणां च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसं तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः समयं समयौ वा बध्नाति, तीव्रसंक्लेशस्योत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वात् । ततः परमजघन्यं रसं समयं यावद् बद्ध्वा पुनः संक्लेशवृद्ध्या तीव्रसंक्लिष्टः सन् यदा तज्जघन्यरसं बध्नाति मार्गणान्तरं वा व्रजति तदा जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले मार्गणान्तरगमनेन वा एकसामयिकोऽजघन्यरसबन्धः प्राप्यते । अथ मिथ्यात्ववर्जाऽशुभध्रुवबन्धिनीनां सर्वासां चाध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामजघन्यरसस्यैकसामयिकबन्धस्य भावना-तत्र स्वप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानकेऽपि बध्यमानानामशुभध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसस्य जघन्यो बन्धकाल एक समयः, तासां जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् तस्याश्च समयान्तरेऽपि पुनः संभवात् जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकोऽजघन्यरसबन्धः प्राप्यते । इह स्वप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानके बध्यमाना अशुभध्रुवबन्धिप्रकृतयश्चेमाः-नरकगतिषु देवगतिमार्गणासु च स्वप्रायोग्यमुत्कृष्टं चतुर्थगुणस्थानकं, तत्राऽपि बध्यमाना अशुभध्रुवबन्धिन्यो ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातनामाऽन्तरायपञ्चकरूपाः पञ्चत्रिंशत् । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणाद्वये स्वप्रायोग्यमुत्कृष्टं पञ्चमं गुणस्थानकं तत्र बध्यमाना अशुभध्रुवबन्धिन्योऽप्रत्याख्यानचतुष्कवर्जा अनन्तरोक्ता एकत्रिंशत्, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽऽचतुर्थं गुणस्थानकं यावदेव बन्धाभ्युपगमात् । तथोक्तशेषाणां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां ध्रुवबन्धिनीनां सर्वासां चाध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां जघन्यतो बन्धस्यैवैकसामयिकत्वात् तदजघन्यरसबन्धस्याप्येकसामयिकत्वमुपपद्यते, तद्यथा-चतुर्थगुणस्थानकाच्च्युत उपशमसम्यग्दृष्टिर्नारको देवो वा सास्वादनमागत्य तत्र समयं यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कयोर्बन्धं विधाय मार्गणान्तरं प्राप्नोति तदा स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सप्तानां प्रकृतीनामेकसामयिको बन्धः प्राप्यते, निरुक्तासु नरकमार्गणासु देवमार्गणासु च । तथोपशमसम्यक्त्वोपेतो देशविरतितिर्यक् पञ्चमाद् गुणस्थानकात् सास्वादनमागत्य समयं यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्काणां बन्धं विधायाऽऽयुःक्षयान्मार्गणान्तरं प्राप्नोति तदा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतिमार्गणयोरेकादशानां प्रकृतीनामेकसामयिको बन्धः प्राप्यते । मनुष्यमार्गणयोः स्त्रीवेदमार्गणायां चोपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतन्तः मिथ्यात्ववर्ज-

शेषसर्वासां ध्रुवबन्धिनीनामबन्धकास्तत्तत्प्रकृतिबन्धस्थानं प्राप्य समयं यावत् ता बद्ध्वाऽऽयुःक्षयेण मार्गणान्तरं व्रजन्ति तदा तानाश्रित्य सामयिको बन्ध उपलभ्यते ज्ञानावरणपञ्चकादीनां पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनाम् । स्त्यानर्द्धित्रिकाऽऽद्यद्वादशकषायरूपाणां पञ्चदशानां प्रकृतीनामेकसमयरूपो जघन्यो बन्धकालः, य उपशमसम्यग्दृष्टिः प्रमत्तमुनिः परिणामपातात् सास्वादनं प्राप्य तत्र समयं यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकादिकं बद्ध्वाऽऽयुःक्षयेण मार्गणान्तरं गच्छति तमाश्रित्योपलभ्यते । इति ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां चैकसमयरूपो जघन्यो बन्धकालः । तत्तन्मार्गणाप्रायोग्याणामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां त्वेकसमयरूपो जघन्यो बन्धकालस्तासामध्रुवबन्धित्वादेव सर्वत्राऽवगन्तव्यः ॥३८२॥ अथ सप्तमनरकमार्गणायामाह–

भिन्नमुहुत्तं सत्तमणेरइये होअए चउदसण्हं ।
अडमिच्छाईणं तह तिरिक्खणरगोअजुगलाणं ॥३८३॥

(प्रे०) 'भिन्नमुहुत्तं' इत्यादि, सप्तमनरकमार्गणायां मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकगोत्रद्विकानां चेति चतुर्दशानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, तद्यथा–सप्तमनरकमार्गणायां सास्वादने मरणाभावेन मिथ्यात्वगुणस्थानकस्य च जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्त्तमितत्वेन, तत्र भवचरमान्तर्मुहूर्त्ते नियमाद् मिथ्यात्वसद्भावेन तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरपरावृत्त्या बन्धोपलम्भेन च मिथ्यात्वाद्यष्टानां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति एकादशानां बन्धो जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं यावदुपलभ्यते । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरान्तर्मौहूर्त्तिको बन्धस्तु तत्र तस्य सम्यक्त्वसहचरितत्वात् सम्यक्त्वकालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । तथोक्तशेषाणामष्टाशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एक एव समयः, तत्राऽष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां, मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टे चतुर्थे गुणस्थानकेऽपि बध्यमानानामशुभध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां चेति सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामेकसामयिकोऽजघन्यरसबन्धो जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावत् तत्प्रवर्त्तनात् प्राप्यते, भावनाऽत्राऽनन्तरोक्तनरकौघादिमार्गणावत् । तथा त्रसचतुष्कादीनां नवानां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसंक्लेशेन जायमानत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकोऽजघन्यरसबन्धो लभ्यते । तथा षट्त्रिंशतः प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वेन तासां प्रत्येकं बन्धस्यापि जघन्यत एकसामयिकत्वात् तदजघन्यरसबन्धस्याऽपि जघन्यत एकसामयिकत्वम् । इति सप्तमनरकमार्गणायां संभाव्यमानबन्धानां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालनिरूपणम् ॥३८३॥

अथ तिर्यग्गतिसामान्यादिषु मार्गणासु प्रक्रान्तमाह—

मिच्छस्स खुड्डगभवो तिरियपणिंदितिरिणरणपुंसेसुं ।
थीणद्धितिगाणाणं भवे पणिंदितससण्णीसुं ॥३८४॥

**सासणगुरुकालाओ हीणो कालो भवे मुहुत्तंतो ।
तित्थस्स खुड्डगभवो हवेज्ज सेसअसुहधुवाणं ॥२८५॥**

(प्रे०) '**मिच्छस्स**' इत्यादि, तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्य-मनुष्यौघ-नपुंसकवेद-रूपासु चतसृषु मार्गणासु मिथ्यात्वस्याऽजघन्यरसबन्धजघन्यकालः क्षुल्लकभवः षट्पञ्चाशदुत्तरशत-द्वयाऽवलिकाप्रमित इत्यर्थः, प्रस्तुतमार्गणानां प्रत्येकं जघन्यतस्तावत्कालस्थायित्वात् , तत्र मिथ्यात्व-स्य ध्रुवतया बन्धोपलम्भाच्च । तथा मिथ्यात्ववर्जानां संभाव्यमानबन्धानां शेषप्रकृतीनां प्रत्येकम-जघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः, तत्र तिर्यगोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्यरूपयोर्द्वयोर्मार्ग-णयोरष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनामेकत्रिंशतश्च मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टे पञ्चमेऽपि गुणस्थानके बध्यमानानां ज्ञानावरणादीनामशुभध्रुवबन्धिनीनामिति एकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसस्यैकसाम-यिको बन्धकालो जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावत् तत्प्रवर्त्तनात् प्राप्यते । तथा सप्तसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं बन्धस्यैव जघन्यत एकसामयिकत्वात् तदजघन्यरसबन्धस्यापि जघन्यः काल एक एव समयः, तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामेकादशा-नामेकसामयिको बन्धः, यदा कश्चित् पञ्चमगुणस्थानकात् च्युत उपशमसम्यग्दृष्टिः समयं यावत् सास्वादने तद्बन्धं विधाय मार्गणान्तरं व्रजति तदा तमाश्रित्य प्राप्यते । षट्षष्टेः प्रकृतीनां तु अध्रुव-बन्धित्वादेव तासां प्रत्येकं जघन्यतो बन्धस्य एकसामयिकत्वमिति ।

मनुष्यौघ-नपुंसकवेदरूपयोर्द्वयोर्मार्गणयोर्मिथ्यात्ववर्जानामेकोनविंशत्युत्तरशतलक्षणानां शेष-प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य एकसमयरूपो जघन्यकालो 'णिरयपढमाइछणिरय' इत्या-दिप्रागुक्तगाथाविवृत्तिव्यावर्णितपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावद् भावनीयः ।

पञ्चेन्द्रियजात्योघ-त्रसकायसामान्य-संज्ञिरूपासु तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणां सप्तानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः '**सासणगुरु-कालाओ हीणो**' षडावलिकाप्रमाणात् सास्वादनोत्कृष्टकालाद् यथासंभवं हीनो न्यूनोऽसंख्येय-समयरूपो भवति । किमुक्तं भवति ? स्त्यानर्द्धित्रिकादीनामबन्धक उपशमसम्यग्दृष्टिरीशाना-न्तदेवः परिणामपातात् सास्वादनमागत्य तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकादेर्बन्धं कुर्वन् कालं कृत्वा मार्गणा-न्तरमेकेन्द्रियत्वमासादयति तदा सास्वादनसत्को यावान् कालो देवत्वेऽतिक्रान्तस्तावान् कालो निरुक्तासु तिसृषु मार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सप्तानामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालतया आयाति । यदि पुनः समयं यावत् सास्वादनमनुभूय एकेन्द्रियेषूत्पद्येत तर्हि समयप्रमाणः कालो विज्ञेयः । ननु जघन्यरसबन्धद्वयान्तरालेऽजघन्यरसबन्धस्य संभवेन तत्र जघन्यः काल आयातीति चेन्न, निरुक्तमार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां जघन्यरसबन्धोऽभिमुखावस्थायामेव संभ-वति, अभिमुखावस्थाद्वयान्तरालवर्त्तिनश्च कालस्य षडावलिकात्मकात् सास्वादनकालाद् बृहत्तरत्वात्

जघन्यकालस्य च प्रस्तुतत्वाद् नैवाऽऽयाति जघन्यरसबन्धद्वयान्तरालेऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः किन्तु उक्तनीत्या एकेन्द्रियत्वे उत्पित्सोः सास्वादनस्यैवेति ।

जिननामकर्मणोऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं, श्रेणिद्वयान्तरालजघन्यकालस्याऽऽन्तर्मौहूर्तिकत्वात्, इदमुक्तं भवति–उपशमश्रेणौ जिननाम्नोऽबन्धको भूत्वा श्रेणेः प्रतिपत्य पुनस्तद्बन्धं विदधाति अन्तर्मुहूर्ताच्च परतो भूयः श्रेणिमारोहन् तत्र श्रेणौ तदबन्धको भवति तमाश्रित्य यथोक्तो जघन्यः कालः प्राप्यते। 'सेसअसुहधुवाण' त्ति स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानां ज्ञानावरणादीनां षट्त्रिंशतः शेषाऽशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः क्षुल्लकभवः षट्पञ्चाशदुत्तरशतद्वयाऽऽवलिकाप्रमित इत्यर्थः, पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणानां जघन्यकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वेन तावत्कालं सातत्येन तत्र तद्बन्धसम्भवात् । तथोक्तशेषाणां जिननामवर्जानामष्टषष्टेरध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः, तासां प्रत्येकं जघन्यतो बन्धस्यैवैकसामयिकत्वात् , एकसामयिको बन्धस्तु तासामध्रुवबन्धित्वादिति ॥३८४-३८५॥

अथ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वाह—

पज्जपणिंदितसेसुं णयणे थीणद्धितिगअणाण भवे ।
पंचिंदियव्व जिणियरअसुहधुवाणं मुहुत्तंतो ॥३८६॥

(प्रे०) 'पज्जपणिंदि०' इत्यादि, पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रसकायलक्षणयोर्द्वयोर्मार्गणयोः 'णयणे' त्ति चक्षुर्दर्शनमार्गणायाञ्चेति त्रिषु मार्गणाभेदेषु प्रत्येकं स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणां सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः 'पंचिंदियव्व' त्ति अनन्तरगाथोक्तपञ्चेन्द्रियौघवत् सास्वादनोत्कृष्टकालाद् यथासंभवं हीनः कालो भवति । 'जिण' त्ति तीर्थकरनाम्नः 'इयरअसुहधुवाणं' ति इतरासां स्त्यानर्द्धित्रिकादिव्यतिरिक्तानां ज्ञानावरणादीनां षट्त्रिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं, निरुक्तमार्गणानां प्रत्येकं जघन्यकायस्थितेस्तावत्कालात्मकत्वात् ज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धित्वेन तावत्कालं सातत्येन तद्बन्धोपलम्भाच्च । जिननाम्नस्तु श्रेणिद्वयजघन्यान्तरालमपेक्ष्य यथोक्तोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणोऽजघन्यरसबन्धजघन्यकालः प्राप्यते, श्रेणिद्वयान्तरालस्य जघन्यतस्तावत्प्रमाणत्वात् । शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ जिननामवर्जा अध्रुवबन्धिन्यस्ताश्चाष्टषष्टिरिति उक्तशेषाणां पट्सप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः, तत्र शुभध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्य एकः समयः, जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समय यावदजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् , अध्रुवबन्धिनीनां च प्रत्येकं बन्धस्यैव जघन्यत एकसामयिकत्वात् ॥३८६॥

अथौदारिकादिमिश्रकाययोगमार्गणासु प्रस्तुतमाह—

ओरालमीसजोगे समयो अहवा भवे मुहुत्तंतो ।
धुवबंधिसुरविउवदुगओरालियतित्थणामाणं ॥३८७॥
एमेव विउवमीसे धुवुरलपंचपरघाइतित्थाणं ।
आहारमीसजोगे बारहसायाइवज्जाणं ॥३८८॥

(प्रे०) '**ओरालमीस०**' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां '**धुवबंधि**' त्ति एकपञ्चाशत् ध्रुवबन्धिन्यो देवद्विकं वैक्रियद्विकमौदारिकशरीरनाम जिननाम चेति सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः '**समयो**' त्ति एकः समयः, **तद्यथा**–प्रस्तुतमार्गणायामत्रोक्तानां ध्रुवबन्ध्यादीनां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या वा बध्यमानत्वेन, तयोश्च समयान्तरे पुनरपि भवितुमर्हत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तरालेऽजघन्यरसस्यैकसमयरूपो जघन्यो बन्धकालः प्राप्यते । **अहवा भवे मुहुत्तंतो**' त्ति अथवाशब्दो मतान्तरद्योतकः ततो **मतान्तरेण** निरुक्तानां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, अस्मिन् मते मार्गणाचरमसमयेऽनन्तरसमयभविष्यदौदारिककाययोगिनां केषाञ्चिदेवोत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धयोस्तज्जन्यस्य जघन्यरसबन्धस्य च सम्भवेन तद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषामन्तर्मुहूर्तात्मकमार्गणाकालं यावत् तदजघन्यरसबन्धसम्भवात् । तथा उक्तशेषाणामेकोनषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एक एव समयः, तासां बन्धकालस्यापि जघन्यत एकसमयात्मकत्वात् । '**विउवमीसे**' त्ति वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां '**धुव**' त्ति ध्रुवबन्धिन्य एकपञ्चाशत् औदारिकशरीरनाम '**पंचपरघाइ**' त्ति पराघातनामोच्छ्वासनामबादरत्रिकमिति पञ्च जिननाम चेति सर्वसंख्ययाऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालः '**एमेव**' त्ति एवमेव, **किमुक्तं भवति ?** औदारिकमिश्रमार्गणावदेकसमयः, **मतान्तरेण** अन्तर्मुहूर्तं भवति । तत्रोक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एक एव समयः, तासामध्रुवबन्धित्वात् । ननु पराघातनामादयो देवद्विकादयश्चाऽऽगमेऽध्रुवबन्धितया श्रूयन्ते तत्कुतस्तासामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः शेषाऽध्रुवबन्धिवद् एक एव समय इत्यनुक्त्वा मतान्तरेणाऽन्तर्मुहूर्तमभिधीयते ? उच्यते–वैक्रियमिश्रमार्गणायामौदारिकशरीरनामपराघातनामादीनाम् औदारिकमिश्रमार्गणायां च सम्यग्दृष्टिमपेक्ष्य देवद्विकवैक्रियद्विकादीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् इति । '**आहारमीसजोगे**' आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां सातवेदनीयं स्थिरद्विकं हास्यद्विकं यशःकीर्त्तिनामाऽसातवेदनीयमरतिद्विकमस्थिरद्विकमयशःकीर्त्तिनामेति कालद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः सातवेदनीयादीर्द्वादशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एवमेवेत्यनुवर्त्तते, तत एकः समयो, **मतान्तरेणाऽन्तर्मुहूर्त्तं** भवति । भावनौदारिकमिश्रमार्गणावत् । तथा

सातवेदनीयादीनां द्वादशानां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एक एव समयः, तासां प्रत्येकं बन्धस्य परावर्त्तमानत्वेन जघन्यत एकसामयिकत्वात् ॥३८७-३८८॥

अथ क्रोधादिकषायमार्गणासु प्राह—

कोहाईसु चउसु समयो सव्वाण होइ सयमुज्झो ।
कासं चि विसेसो खलु अंतमुहुत्तलहुठिइगमये ॥३८९॥

(प्रे०) '**कोहाईसु**' इत्यादि क्रोध-मान-माया-लोभरूपासु चतसृषु कषायमार्गणासु विंशत्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः, प्रस्तुतमार्गणानां जघन्यकायस्थितेः समयप्रमाणत्वात् । अथ मतान्तरेण अत्रैव विशेषं सम्भावयति '**अंतमुहुत्तलहुठिइगमये**' इत्यादिना, येषामाचार्याणां मते लोभवर्जक्रोधादिकषायमार्गणानां प्रत्येकं जघन्या कायस्थितिरन्तर्मुहूर्तमस्ति तन्मते कासाञ्चित् प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धजघन्यकालविषयोऽन्तर्मुहूर्त्तादिरूपो विशेषः स्वयमूह्यः । अथ सम्भाव्यमानविशेषमेव संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा-क्रोधादिमार्गणात्रिके ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसस्य जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, कथम् ? उपशमश्रेणेः प्रतिपतन् क्रमात् संज्वलनमायामानक्रोधानामुदयस्थानं प्राप्य तत्राऽन्तर्मुहूर्त्तं यावज्ज्ञानावरणादीनां चतुर्दशानां बन्धं करोति यदि च समयमत्र बद्ध्वाऽऽयुःक्षयेण गत्यन्तरं व्रजति तत्राऽपि अन्तर्मुहूर्त्तं यावन्मार्गणाया अवस्थानाऽभ्युपगमाद् यथोक्तोऽन्तर्मुहूर्त्तात्मकः काल आयाति । तथा मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽऽद्यद्वादशकषायरूपाणां षोडशानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसस्य जघन्यो बन्धकालोऽस्मिन् मतेऽपि एक एव समयः, स चैवम्—क्रोधाद्युदय एकसमयावशेषे कश्चित् प्रमत्तमुनिर्मिथ्यात्वगुणस्थानकं गत्वा विवक्षितक्रोधादिमार्गणायां समयं यावदासां बन्धं कृत्वा मार्गणान्तरं व्रजति, तमाश्रित्यैकसमयरूपो यथोक्तोऽजघन्यरसबन्धकालः प्राप्यते । तथा जिननाम्नोऽजघन्यरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यः कालो, विवक्षितक्रोधादिमार्गणाचरमसमये तद्बन्धमारभ्याऽनन्तरसमये मार्गणान्तरं व्रजति तमाश्रित्य प्राप्यते । एवं संज्वलनचतुष्कादिरूपाणां शेषाशुभध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालसत्कः सम्भाव्यमानविशेषः स्वपरिज्ञयैव परिभावनीयः । शुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानां प्रत्येकमजघन्यरसस्यैकसमयरूपो जघन्यबन्धकालो जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावदजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् प्राप्यते । तथा जिननामवर्जशेषाऽध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यो बन्धकालस्तासामध्रुवबन्धित्वेन तद्बन्धस्य जघन्यत एकसामयिकत्वात् । लोभकषायमार्गणाया जघन्यकायस्थितेः सर्वेषामाचार्याणां मते एकसामयिकत्वात्, तत्र बध्यमानानां विंशत्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकालो जघन्यकायस्थितिकालमाश्रित्यैवो-

पपद्यते ॥३८९॥ अथ वेदमार्गणासु प्रकान्तं विभणिषुः स्त्रीनपुंसकवेदमार्गणयोर्यथास्थानमुक्तत्वात् पुरुषवेदमार्गणायां तदाह–

असुहधुवछतीसाए थीणद्धितिगाणचउगवज्जाणं ।
जिणणामस्स य पुरिसे भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥३९०॥

(प्रे०) 'असुह०' इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जषट्त्रिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽजघन्यरसस्य जघन्यो बन्धकालः अन्तर्मुहूर्तं, मार्गणाजघन्यकायस्थितेस्तावत्कालप्रमितत्वात् । स्त्यानर्द्धित्रिकादिसप्तप्रकृतीनामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां जिननामवर्जानां सर्वासामष्टषष्टिलक्षणानामध्रुवबन्धिनीनाञ्चाऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालः एक एव समयः, तद्यथा–उपशमसम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्याः सास्वादनगुणस्थानके स्त्यानर्द्धित्रिकादिसप्तप्रकृतीनां समयं बन्धं कृत्वा कालं च कृत्वा देवीतयोत्पद्यन्ते तानाश्रित्य तासामजघन्यरसबन्धकालः समयप्रमाणः प्राप्यते, शुभध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं तत्प्रवर्त्तनात्, आहारकद्विकवर्जाऽध्रुवबन्धिनीनां जघन्यतो बन्धस्यैव एकसामयिकत्वात् । आहारकद्विकस्य त्वेवम्–अप्रमत्तगुणस्थानके समयं तद् बद्ध्वा यद्वा श्रेणेरवरोहन् समयं तद् बद्ध्वाऽऽयुःक्षयेण दिवंगतस्तमाश्रित्य एकसमयरूपोऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः प्राप्यते, दिवि तद्बन्धविच्छेदात् ॥३९०॥ अथ मतिज्ञानादिमार्गणास्वाह—

धुवबंधिजिणणराइगगुणवीसाणं दुणाणसम्मेसु ।
भिन्नमुहुत्तमुवसमे जिणवज्जाणेवमेव भवे ॥३९१॥

(प्रे०) 'धुवबंधि०' इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-सम्यक्त्वसामान्यरूपासु तिसृषु मार्गणासु 'धुवबंधि' त्ति प्रस्तुतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाष्टवर्जानां त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नो मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामपराघातनामोच्छ्वासनामबादरत्रिकपुरुषवेदसुखगतिप्रथमसंस्थानसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां कालद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानामेकोनविंशतेश्च मनुष्यद्विकादीनां प्रकृतीनामिति सर्वसंख्यया त्रिषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसस्य जघन्यबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयः, प्रस्तुतमार्गणानां प्रत्येकं जघन्यकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् मनुष्यद्विकादीनामपि तत्तद्बन्धस्वामिभिः ध्रुवबन्धिवद् ध्रुवत्वेन बध्यमानत्वाच्च । नन्विह जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसमयरूपोऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः कुतो न भवति इति चेत्, उच्यते, प्रस्तुतमार्गणासु निरुक्तानां त्रिषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानविशुद्ध्या तादृक्संक्लेशेन वाऽबध्यमानत्वादासां प्रकृतीनामत्राध्रुवबन्धित्वाभावाच्च । देवद्विकं वैक्रियद्विकं ''साय' थिर' हस्सदुग' जस' असाय' अरइदुग' अथिरदुग' अजसा । इति गाथोक्ताः सातवेदनी-

यादयो द्वादशाऽऽहारकद्विकं चेति सर्वसंख्ययाऽष्टादशानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयः, तासां प्रत्येकं बन्धकालस्यैव जघन्यत एकसमयरूपत्वात् ।

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वादतिदिशति 'उवसमे' इत्यादिना, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायाम् 'एवमेव' त्ति सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽनन्तरोक्तवदेव ज्ञेयः। किमविशेषेण ? नेत्याह–'जिणवज्जाण' जिननामवर्जानां प्रकृतीनाम् , कुतः ? जिननाम्नोऽजघन्यरसबन्धस्याऽनन्तरोक्तवदन्तर्मुहूर्तं न भवति किन्त्वेकसमयः, कुतः ? तज्जघन्यरसस्य स्वस्थानसंक्लेशेन बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य लाभात् ॥३९१॥

अथ अवधिज्ञानतद्दर्शनमार्गणयोराह—

ओहिदुगे णेयो धुवचउद्दसपणिंदियाइतित्थाणं ।
भिन्नमुहुत्तं व भवे भिन्नमुहुत्तं तु पणणराईणं ॥३९२॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'ओहिदुगे' इत्यादि, अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणयोः 'धुव' त्ति अत्र बन्धार्हाणां त्रिचत्वारिंशतः शुभाशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां 'चउद्दस' त्ति '...पणिंदियतसपरघूसासबायरतिगाणि । पुमसुखगइपढमागिइसुभगतिगुच्च....' इति पञ्चेन्द्रियजात्यादिचतुर्दशानां जिननाम्नश्चेति सर्वसंख्ययाऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं, प्रस्तुतमार्गणयोर्जघन्यकायस्थितेरान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । 'व' त्ति वाशब्दो विकल्पार्थकः ततो विकल्पान्तरेण मतान्तरेणेत्यर्थः, स एकः समयः भवति, कुतो ? अस्मिन् मते जघन्यकायस्थितेरेकसमयमितत्वात् । 'भिन्नमुहुत्तं तु' इत्यादि, मनुष्यद्विकादिपञ्चप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव, तुकारस्यैवकारार्थत्वात् । शेषाणामष्टादशानां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल उभयमते एक एव समयः ॥३९२॥

अथ मत्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

अण्णाणदुगे मिच्छे असुहधुवाणं भवे मुहुत्तंतो ।
मिच्छत्तस्स विभंगे समयो अहवा मुहुत्तंतो ॥३९३॥

(प्रे०) 'अण्णाणदुगे' इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-मिथ्यात्वरूपासु तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसस्य जघन्यो बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवेत् , प्रस्तुतमार्गणानां जघन्यकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् निरुक्तानां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याभिमुखावस्थायामेव संभवात् तद्बन्धानन्तरं मार्गणाया अपगमाच्च । शेषाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एक एव समयः, तत्र शुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानां जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं तत्प्रवर्तनात् , पट्षष्टेरध्रुवबन्धिनीनां तु बन्धस्यैव जघन्यत एकसामयिकत्वात् ।

विभङ्गज्ञानमार्गणायां मिथ्यात्वस्याऽजघन्यरसबन्धजघन्यकाल एकः समयः, कथं ? कस्यचिन्मिथ्यादृशो मनुष्यस्य तिरश्चो वा विभङ्गज्ञानमुत्पद्यानन्तरसमये एवोपरमतीति । 'अहवा मुहुत्तंतो' त्ति अथवाशब्दो मतान्तरद्योतकः, ततश्च येषां मते मिथ्यादृशो मनुष्यस्य तिरश्चो वा विभङ्गज्ञानमुत्पद्यानन्तरं जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्तं यावत् तिष्ठति तन्मतेन मिथ्यात्वस्याऽजघन्यरसबन्धजघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, विभङ्गत्वे तावत्कालं मिथ्यात्वबन्धप्रवर्त्तनात् । शेषाणां षोडशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः, मार्गणाजघन्यकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् उपशमसम्यक्त्वात् पततां देवनारकाणां सासादने सामयिकावस्थानानन्तरं कालकरणेन प्रस्तुतमार्गणायां यथोक्तः समयमात्रो वा जघन्यो बन्धकालः प्राप्यते । तथाऽष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां तु जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले अपि एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य संभव इति ॥३९३॥

अथ परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामाह—

परिहारविसुद्धीए समयो सव्वाण होइ पयडीणं ।
अहवा चउद्दसण्हं सायाईणं भवे समयो ॥३९४॥
समयो भिन्नमुहुत्तं वा पुमअसुहधुवबंधिपयडीणं ।
सेसाण छवीसाए भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥३९५॥

(प्रे०) '**परिहारे**' त्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां '**सव्वाण**' त्ति तत्र संभाव्यमानबन्धानामष्टषष्टिलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः '**समयो**' त्ति एक एव समयः, मार्गणाजघन्यकायस्थितेर्जघन्यत एकसमयप्रमाणत्वात् । '**अहवा**' त्ति अथवाशब्दस्य मतान्तरद्योतनपरत्वात् **मतान्तरेणाऽऽन्तर्मौहूर्तिकजघन्यकायस्थितिमतेनेत्यर्थः** '**चउद्दसण्हं**' ति 'सायथिरहस्सदुगजससमसायअरइदुगअथिरदुगअजसा । आहारदुग' मिति प्रस्तुतद्वारान्तःप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां सातवेदनीयादीनां चतुर्दशप्रकृतीनामेवाऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयो भवति, तासामध्रुवबन्धित्वात् । तथा '**समयो**' इत्यादि, पुरुषवेदो ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्सोपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्काऽन्तरायपञ्चकरूपाशुभध्रुवबन्धिन्यश्च सप्तविंशतिरिति सर्वसंख्ययाऽष्टाविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः । '**भिन्नमुहुत्तं वा**' वाकारस्य विकल्पान्तरपरत्वात् विकल्पान्तरेण **मतान्तरेण** भिन्नमुहूर्तमन्तर्मुहूर्तं भवति. **किमुक्तं भवति** ? आसामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धस्येत्यभ्युपगमपरेण मतेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसमयोऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल उपलभ्यते, अनन्तरसमयभाविष्यत्कृतकरणस्यैव सर्वविशुद्धस्याऽप्रमत्तस्यैतज्जघन्यरसबन्ध इति स्वीकर्तृमतेन त्वासामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तमायाति,

मार्गणाजघन्यकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् । तथा **'सेसाण छवीसाए'** त्ति देवद्विकपञ्चेन्द्रिय-जातिवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसंस्थाननामप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसचतुष्कसुभग-त्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणामष्टादशानां मार्गणाप्रायोग्यशुभध्रुवबन्धिनीनां तैजसशरीरकार्मणशरीरप्रशस्त-वर्णादिचतुष्काऽगुरुलघुनिर्माणरूपाणामष्टानाञ्च शुभध्रुवबन्धिनीनामिति षड्विंशतेः प्रकृतीनामजघ-न्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, तज्जघन्यरसस्याऽभिमुखावस्थायां समय बध्यमान-त्वाद् मार्गणाकायस्थितेर्जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वाच्च ।

ननु ध्रुवबन्धिमार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिन्योः कः प्रतिविशेषः ? याः प्रकृतयः स्वबन्धार्हासु सर्वासु मार्गणासु स्वबन्धविच्छेदं यावद् ध्रुवतया बध्यन्ते ता ध्रुवबन्धिन्य इति भण्यन्ते, यास्तु स्व-बन्धार्हासु कासुचिदेव मार्गणासु ध्रुवतया बध्यन्ते तासु मार्गणासु ता मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिन्य इति ॥ ३९४-३९५ ॥

अथ देशविरतिमार्गणायां सम्यक्त्वमिथ्यात्वादिमार्गणासु च प्रकृतमाह—

भिन्नमुहुत्तं देसे मीसे सायाइबारवज्जाणं ।
असुहधुवजिणाण भवे असंयमाचक्खुभवियेसुं ॥ ३९६ ॥

(प्रे०) **'भिन्नमुहुत्तं'** ति देशविरतिमार्गणायां मिश्रदृष्टिमार्गणायां च प्रत्येकं 'सायथिरहस्स-दुगजसअमायअरइदुगअथिरदुगअजसा' इति कालद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तसातवेदनीयादिद्वादश-प्रकृतिवर्जानां प्रस्तुतमार्गणयोर्ध्रुवत्वेन बध्यमानानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति, प्रकृतमार्गणयोर्जघन्यकायस्थितेरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् , तासामत्र ध्रुवबन्धि-त्वात् , जिननाम्नः पुनस्तद्बन्धकानाश्रित्य बन्धस्य ध्रुवकल्पत्वात् तज्जघन्यरसस्याऽभिमुखावस्था-यामेव बध्यमानत्वाच्च । अयं भावः-देशविरतिमार्गणायां सप्ततिः प्रकृतयो बध्यन्ते, तत्राऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति, तासामत्र ध्रुवत्वेन बन्धोपल-म्भात् , सातवेदनीयादीनां द्वादशानां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयः, तासां प्रत्येकमध्रुवबन्धित्वेन तद्बन्धस्य जघन्यत एकसामयिकत्वात् ।

तथा मिश्रदृष्टिमार्गणायामष्टसप्ततिप्रकृतीनां बन्धः । तत्र षट्षष्टिप्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरस-बन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, तासामत्र ध्रुवबन्धित्वात्, सातवेदनीयादीनां द्वादशानां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एक एव समयः, तासामध्रुवबन्धित्वात् ।

असंयममार्गणाऽचक्षुर्दर्शनमार्गणा भव्यमार्गणा इति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं ज्ञानावरण-पञ्चकादिलक्षणानां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां जिननाम्नश्चाऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्तं, तत्र त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धित्वात् मार्गणाकायस्थितेश्च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहू-र्तिकत्वात् । जिननाम्नस्त्वध्रुवबन्धित्वेऽपि तद्बन्धस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमितत्वात् । उक्तशेषाणां

प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एक एव समयः, तत्र तैजसशरीरनामकार्मणशरीरनामप्रशस्तवर्णादिचतुष्काऽगुरुलघुनिर्माणरूपाणामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धोपलम्भात् । स्वस्वप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिव्यतिरिक्तानां शेषाणां तु अध्रुवबन्धित्वादेवैकसामयिकोऽजघन्यरसबन्ध इति ॥३९६॥

अथ लेश्यामार्गणासु प्रकृतं व्याचिख्यासुरादौ तावत् त्रिसृष्वप्रशस्तासु तासु तदाह—

किण्हाअ मुहुत्तंतो अडमिच्छाइजिणणामकम्माणं ।
णेयो मिच्छाईणं अट्ठण्हं णीलकाऊसुं ॥३९७॥

(प्रे०) '**किण्हाअ**' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कजिननामरूपाणां नवप्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति, तज्जघन्यरसबन्धस्याऽभिमुखावस्थायामेव संभवात् मार्गणाजघन्यकायस्थितेश्चान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । आहारकद्विकस्येह बन्धासम्भवात् उक्तशेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयो भवति, 'होइ समयो अवक्खमाणाण' इति प्राक्कन्निर्देशात् । तथाहि—शुभध्रुवबन्धिजघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन, मिथ्यात्वाद्यष्टवर्जशेषाऽशुभध्रुवबन्धिनीनां च पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकाऽजघन्यरसबन्धसम्भवात् । तथा षट्षष्टेः प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव सामयिकोऽजघन्यरसबन्ध इति ।

'**णीलकाऊसु**' ति नीलकापोतलेश्ययोर्मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , मार्गणाजघन्यकायस्थितेरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात्तज्जघन्यरसबन्धस्याऽभिमुखावस्थायामेव सम्भवाच्च । अत्राऽपि कृष्णलेश्यावदाहारकद्विकस्य बन्धासम्भवात् शेषाणां दशाधिकशतप्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकसमयः, जिननाम्नोऽपि जघन्यरसस्यात्र स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य सम्भवात् ॥३९७॥

अथ तेजःपद्मलेश्ययोः प्रकृतमाह-

तेउपउमासु णेयो सगवीसअसुहधुवाण समयो वा ।
भिन्नमुहुत्तं वांतमुहुत्तमडकसायमिच्छाणं ॥३९८॥

(प्रे०) 'तेउ०' इत्यादि, तेजःपद्मलेश्ययोर्ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणषट्कसंज्वलनचतुष्कभयजुगुप्साऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघाताऽन्तरायपञ्चकरूपाणां सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालः '**समयो**' समयः, एकसमय इत्यर्थः, स्वस्था-

नोत्कृष्टविशुद्ध्या तज्जघन्यरसबन्धसम्भवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकाऽजघन्यरसबन्धसम्भवात्। **'वा भिन्नमुहुत्तं'** वाकारस्य मतान्तरख्यापकत्वात् **मतान्तरेणा**ऽनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणस्यैवाऽप्रमत्तस्यैतज्जघन्यरसबन्ध इति स्वीकर्तृमतेनेत्यर्थः आसामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्त्तं ज्ञेयः, आसां ध्रुवबन्धित्वाद् मार्गणाकायस्थितेर्जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वाच्च। तथा **'अडकसायमिच्छाणं'** ति अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां कषायाणां मिथ्यात्वमोहनीयस्य चाऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति, तज्जघन्यरसस्याऽभिमुखावस्थायां बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तरालभाविसामयिकबन्धाभावात् तद्बन्धयोग्यप्रस्तुतलेश्याविशिष्टाऽधस्तनगुणस्थानानां च जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वात्।

तथा **'होइ समयो अवक्कमाणाण'** इति निर्देशात् तेजोलेश्यामार्गणायामुक्तशेषाणां षट्सप्ततेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः। तत्र शुभध्रुवबन्धिन्यष्टकस्य जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धसम्भवात्। स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणां सप्तानामबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टिश्चतुर्थगुणस्थानकात् प्रतिपत्य सास्वादने समयं ता बद्ध्वा मार्गणान्तरं व्रजति तदा तासां सामयिकोऽजघन्यरसबन्धः प्राप्यते। एकषष्टेः प्रकृतीनां तु अध्रुवबन्धित्वादेव तासामजघन्यरसबन्धस्यैकसमयरूपो जघन्यकाल इति। पद्मलेश्यामार्गणायां सर्वं तेजोलेश्यावद्, नवरमत्र त्रिसप्ततेरेव प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यैकसमयः जघन्यकालतया वाच्यः, एकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनाम्नामप्यत्र बन्धाभावात् ॥३९८॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां प्रस्तुतमाह-

सुक्काअ मुहुत्तंतो थीणद्धितिगाणचउगवज्जाणं।
णेयो छत्तीसाए अपसत्थाण धुवबंधीणं ॥३९९॥

(प्रे०) **'सुक्काअ'** इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जानां षट्त्रिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालः **'मुहुत्तंतो'** त्ति अन्तर्मुहूर्त्तं ज्ञेयः, मार्गणाजघन्यकायस्थितेरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात्। मिथ्यात्वमोहनीयस्य मध्यमकषायाष्टकस्य चान्तर्मौहूर्त्तिकाऽजघन्यरसबन्धसत्कभावना तेजःपद्मलेश्यावत्। तथा ज्ञानावरणपञ्चकादीनां सप्तविंशतेः प्रकृतीनां बन्धविच्छेदो यद्यपि दशमादिषूपरितनेषु गुणस्थानकेषु जायते तथापि श्रेणेरवरोहन् आसामबन्धकस्तत्तत्प्रकृतिमन्तर्मुहूर्त्तं बद्ध्वैव मार्गणान्तरं व्रजति, यदि च श्रेणौ कालं करोति तदा तु देवत्वे सागरोपमादिरूपं दीर्घतरं कालं तदजघन्यरसबन्धं निर्वर्तयति, तथैव जघन्यरसबन्धद्वयान्तरालभाव्यपि एकसामयिकोऽजघन्यरसबन्धो नैव प्राप्यते, प्रस्तुतमार्गणायामासां जघन्यरसबन्धस्य क्षपकश्रेणावेव सद्भावात् क्षपकश्रेणिद्वयस्य चाऽसम्भवात्, इत्थं मार्गणाजघन्यकायस्थितिरूपोऽन्तर्मुहूर्त्तात्मको जघन्यकाल आसामजघन्यरसबन्ध-

स्य प्राप्यते, न तु ततोऽपि न्यूनः समयादिरिति । तथोक्तशेषाणामत्र संभाव्यमानबन्धानां सप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एक एव समयः, तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणां सप्तानां सामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य भावना तेजोलेश्यामार्गणावत् । त्रिषष्टेस्तु प्रकृतीनां सामयिकोऽजघन्यरसबन्धस्तासामध्रुवबन्धित्वात् ॥३९९॥

अथ सम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतं प्रकटयन्नादौ तावत् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह–

वेअगमम्मे णेयो चउदसमायाइवज्जपयडीणं ।
भिन्नमुहुत्तं तासुं जाणऽत्थि कयकरणो वि सिं व भवे ॥४००॥(गीतिः)

(प्रे०) 'वेअग०' इत्यादि, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सातवेदनीयादिचतुर्दशवर्जानामत्र बन्धार्हाणां सप्तषष्टेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्त्तं, मार्गणाजघन्यकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् । अत्रैव मतान्तरं दर्शयति 'तासु' इत्यादिना, तासु सप्तषष्टिप्रकृतिषु यासां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-संज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघाता-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां पुरुषवेदस्य च जघन्यरसबन्धस्य स्वामी अपेर्विकल्पान्तरपरत्वात् विकल्पान्तरेण अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणः 'सिं' ति तासां 'व भवे' वा भवति, अयमर्थः-सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य च स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया जघन्यरसबन्ध इति स्वीकर्तृमते तासामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एकः समयो भवति, जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं तत्संभवात् । सर्वविशुद्धस्य अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणस्यैव स इति स्वीकर्तृमतेन सोऽन्तर्मुहूर्त्तं, मार्गणाजघन्यकायस्थितेरान्तर्मुहूर्त्तिकत्वात्, कृतकरणस्यान्तर्मुहूर्त्तादृते मार्गणापरावृत्तेरभावाच्च । सातवेदनीयादिचतुर्दशानामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एक एव समयः, तत्र सातवेदनीयादिद्वादशानां परावर्त्तमानत्वात् । आहारकद्विकस्य तु समयं बद्ध्वा बन्धकस्य कालकरणेन तद्बन्धविच्छेदात् ॥४००॥

अथ क्षायिकसम्यक्त्वादिमार्गणयोराह—

खइए भिन्नमुहुत्तं णेयो असुहधुवबंधिपुरिसाणं ।
मिच्छत्तस्स जहण्णा कायठिई होइ आहारे ॥४०१॥

(प्रे०) 'खइए' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां पञ्चत्रिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य चाऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालोऽन्तर्मुहूर्त्तं ज्ञेयः, तद्यथा-प्रत्याख्यानावरणचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानामबन्धकोऽनाभोगेन प्रतिपत्य प्रमत्तगुणस्थानकात् चतुर्थगुणस्थानकमधिगच्छति, तत्र जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावत् कषायाष्टकं बद्ध्वा पुनः षष्ठादिगुणस्थानकमासादयति तदा कषायाष्टकस्याऽजघन्यरसबन्धस्य यथोक्तोऽन्तर्मुहूर्त्तमानो जघन्यः

कालः प्राप्यते । तथा सप्तविंशतेः शेषाऽशुभध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य च क्षायिकसम्यक्त्वप्राप्तेरनन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तात् क्षपकश्रेणौ तद्बन्धविच्छेदं कुर्वतो यथोक्तो जघन्यः काल आयाति । उक्तशेषाणां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालः 'होइ समयो अवक्खमाणाण' इतिवचनात् एकः समयो भवति, तत्र सातवेदनीयादिद्वादशानां परावर्त्तमानत्वात्, आहारकद्विकस्य समयं बद्ध्वाऽऽयुःक्षयेण देवत्वाऽऽसादनात्, शुभध्रुवबन्धिन्यादीनामेकत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धसम्भवात् ।

अथोत्तरार्द्धेनाहारिमार्गणायां प्रकृतमाह–'**मिच्छत्तस्स**' इत्यादि, आहारिमार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालः '**जहण्णा कायठिई**' त्ति त्रिसमयन्यूनक्षुल्लकभवरूपा प्रकृतमार्गणाजघन्यकायस्थितिर्भवति । **तद्यथा**–कश्चिन्मिथ्यादृष्टिः त्रिवक्रया विग्रहगत्या क्षुल्लकभवाऽऽयुष्कत्वेनोत्पद्याऽऽयुःक्षयेण विग्रहगत्यैव भवान्तरं व्रजति तमाश्रित्य यथोक्तः कालः प्राप्यते । उक्तशेषाणामेकोनविंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल एक समयः, तत्राऽऽद्यद्वादशकषायस्त्यानर्द्धित्रिकरूपाणां पञ्चदशानां यथोक्तकाल एवमुपपादनीयः, **तद्यथा**—कश्चित् संयमात् पतितः सास्वादनं प्रतिपद्य समयमेता बद्ध्वा आयुःक्षयेण विग्रहगत्या भवान्तरं गच्छति तमाश्रित्य प्राप्यते, संयमे तद्बन्धाभावाद् विग्रहगतौ तस्यानाहारित्वेन प्रकृतमार्गणाविच्छेदाच्च । तथा शुभध्रुवबन्धिन्यष्टकस्य जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसमयरूपोऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालः प्राप्यते, कुतः ? अस्य प्रकृत्यष्टकस्य जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन सम्भवात् । मिथ्यात्वादिवर्जानां सप्तविंशतिलक्षणानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां शेषाशुभध्रुवबन्धिनीनां श्रेणौ अबन्धको भूत्वा ततः प्रतिपतन् तत्तद्बन्धस्थाने समयं बद्ध्वा विग्रहगत्या कश्चित् भवान्तरं गच्छति तदा यथोक्त एकसमयरूपः कालः प्राप्यते । जिननाम्नोऽपि भावना ज्ञानावरणपञ्चकवदेव कर्त्तव्या । तथाऽष्टषष्टिलक्षणानां सर्वासामध्रुवबन्धिनीनामध्रुवबन्धित्वादेवैकसमयरूपोऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यः काल इति । अत्रोक्तशेषासु [1]अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-[2]ऽपर्याप्तमनुष्य- पञ्चाऽनुत्तरदेवमार्गणा-[7] [8]पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियवर्जसर्वेन्द्रियमार्गणा-[40] [41]त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकायवर्जसर्वकायमार्गणा-[42] [43]त्रिमिश्रयोगवर्जसर्वयोगमार्गणा- [3]ऽवेदमार्गणा- [1]मनःपर्यवज्ञानमार्गणा-[1]संयमौघ[1]सामायिक- छेदोपस्थापनीय-[1]सूक्ष्मसम्पराया- [1]ऽभव्य-[1]सास्वादना-[1]ऽसंज्ञ्य-[1]ऽनाहारिरूपासु नवाशीतिमार्गणासु तत्र तत्र संभाव्यमानबन्धानां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकः समयः, **तद्यथा**–सर्वत्र सम्भाव्यमानबन्धानामध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेवैकसामयिकोऽजघन्यरसबन्धः । ध्रुवबन्धिविषयिणी भावना त्वेवम्–अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्ऽपर्याप्तमनुष्य–पञ्चाऽनुत्तरदेव-सप्तदशेन्द्रियमार्गणा—चत्वारिंशत्कायमार्गणा–ऽम-

ध्या–ऽसंज्ञिमार्गणारूपासु षट्षष्टौ मार्गणासु ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामेकसामयिकोऽजघन्यरसबन्धः, तासु प्रत्येकमेकस्यैव गुणस्थानकस्य विद्यमानत्वेन तासां च जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धिभ्यां संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाजघन्यरसबन्धसम्भवात् । काययोगसामान्ये अत्रैवाऽन्यथा भावयिष्यते, अतस्तद्वर्जशेषचतुर्दशयोगमार्गणानामवेदमार्गणासास्वादनाऽनाहारिमार्गणानाञ्चेति सप्तदशमार्गणानां प्रत्येकं जघन्यकायस्थितेरेकसामयिकत्वेन स्वप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकाल एकसमयः । काययोगौघे पञ्चाशल्लक्षणानां सर्वासां ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चाऽजघन्यरसबन्धस्यैकसमयो जघन्यकालः, श्रेण्यादेः प्रतिपतन् मार्गणाचरमसमये तत्तत्प्रकृतिबन्धस्थानं प्राप्य समयं यावत्तद् बद्ध्वा मनोयोगादिरूपं मार्गणान्तरं व्रजति तदा प्राप्यते, शेषाध्रुवबन्धिनीनान्तु अध्रुवबन्धित्वादनन्तरोक्तनीत्या चापीति ।

तथा मनःपर्यवज्ञानसंयमसामान्यसामायिकछेदोपस्थापनीयसूक्ष्मसम्परायरूपासु पञ्चसु मार्गणासु श्रेणितोऽवरोहन् तत्तत्प्रकृतिबन्धस्थानं प्राप्य तत्र समयं बद्ध्वाऽऽयुःक्षयेण मार्गणान्तरं गच्छति तमाश्रित्य ध्रुवबन्धिनीनामेकसमयरूपोऽजघन्यरसबन्धकालः प्राप्यते ॥४०१॥

मार्गणासु सप्तकर्मणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यकालं प्रदर्श्य अथ तास्वेव सप्तकर्मणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालं बहुसमानवक्तव्यत्वादनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टकालवदतिदिशन्नाह—

> सव्वासु मग्गणासु सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
> अगुरुसव्व हवेज्जा अजहण्णरसस्स उक्कोसो ॥४०२॥
> णवरं अण्णाणदुगे असंजमाचक्खुभवियमिच्छेसु ।
> धुवबंधीणोघव्व उ णवरि ण भविये अणाइधुवो ॥४०३॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, सर्वासु सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु स्वप्रायोग्याणां तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालः' अगुरुसव्व' अनुत्कृष्टरस इव भवति, यावान् असंख्येयलोकादिरूप उत्कृष्टः कालोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य 'एगिंदिये णिगोए...' इत्यादिगाथाभिर्ध्रुवबन्धिनीनाम्, 'सव्वासु मुहुत्तंतो' इत्यादिगाथाभिश्चाध्रुवबन्धिनीनां प्रागुक्तस्तावान् अजघन्यरसबन्धस्यापि भवति, समानस्वामिकत्वात् । किं सर्वासु मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽविशेषेण तासामनुत्कृष्टरसबन्धकालवद् भवति ? नेत्याह–'णवर' मित्यादि, गतार्थम् । भावार्थः पुनरयम्–मत्यज्ञान-श्रुताऽज्ञानाऽसंयमाऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-मिथ्यात्वरूपासु षट्सु मार्गणासु ध्रुवबन्धिनीनां सर्वासामेकपञ्चाशल्लक्षणानां प्रकृतीनां प्रत्येक-

मजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकाल ओघवद् भवति, न त्वनन्तरकृतातिदेशानुसारेणाऽनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्ट-कालवत् । कुतः ? आस्वशुभध्रुवाणां जघन्यरसस्य गुणाभिमुखेन बध्यमानत्वात् , अभव्यानाञ्च गुणा-भिमुखत्वायोगात्तथा शुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनां जघन्यरसस्य पञ्चेन्द्रियैरेव बध्यमानत्वादिति । अथ **'णवरि ण भविये अणाइधुवो'** इत्यनेन अपवादस्याऽपवादं दर्शयति । अयं भावः,—ओघप्ररूपणायाम-भव्यानामप्यन्तर्भावेन तत्रानादिध्रुवादित्रिप्रकारोऽजघन्यरसबन्धः प्राप्यते, भव्यमार्गणायास्तु अनादि-ध्रुवत्वाभावादस्यां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यानाद्यनन्तकालस्य निषेधः कृतः । ततश्च भव्यमार्गणायामनादिसान्तः सादिसान्त इति द्विप्रकारोऽजघन्यरसबन्धोऽशुभध्रुवप्रकृ-तीनाम् । शेषमत्यज्ञानादिमार्गणासु तासामेव प्रकृतीनामनाद्यनन्तः अनादिसान्तः सादिसान्त इति त्रिप्रकारोऽजघन्यरसबन्धः संभवति, मार्गणाया अनादिध्रुवत्वादिसंभवात् । तत्र आद्यप्रकारद्वय-कालस्याऽनियतत्वेन वक्तुमशक्यत्वात् अशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां सादिसान्तलक्षणस्य तृतीय-प्रकारस्याऽजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टः कालो देशोनार्धपुद्गलपरावर्त्तः, श्रेणिद्वयान्तरालकालस्योत्कृष्टतो-ऽपि तावन्मात्रत्वात् । तथा शुभध्रुवबन्धिनीनामष्टानां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टकालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, आसां जघन्यरसबन्धस्य पञ्चेन्द्रियेष्वेव संभवात् पञ्चेन्द्रियजातेरुत्कृष्टान्तरस्य चोत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात् । इति मार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धोत्कृष्ट-कालप्ररूपणा ॥४०२-४०३॥

इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धे सप्तममेकजीवाश्रयकालद्वारं समाप्तिमगात् ॥

॥ अथ सप्तममन्तरद्वारम् ॥

ओघत आदेशतश्च कालद्वारं निरूप्य क्रमप्राप्तमन्तरद्वारं निरुरूपयिषुर्वक्ष्यमाणाऽर्थोपयोगित्वे-नादौ तावत् कतिपयाः प्रकृतीः संगृह्य पृथक् करोति—

अत्थाइम्मि किरिअ जं जाओ वुच्चन्ति ता कमा गेज्झा ।
एत्तो आहारदुगं णिद्दुगं च तइअकसाया ॥४०४॥
दुइअकसाया मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा ।
संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं ॥४०५॥
तिरियदुगुज्जोआयवथावरएगिंदिसुहुमविगलतिगं ।
णिरयसुरविउव्वदुगं उच्चणरदुगवइरुरलुवंगाणि ॥४०६॥ (गोत्तिः)
उरलं परघूसासा बायरतिगजिणपणिंदितससायं ।
हस्सरइथिरसुहजसा असायअरइअथिरदुगऽजसं ॥४०७॥

(प्रे०) 'अत्थाइम्मि' इत्यादि, अत्र वक्ष्यमाणान्तरद्वारे एताभ्यः सार्धत्रयगाथावक्ष्यमाणाभ्यः प्रकृतिभ्यो यां प्रकृतिमादौ कृत्वा या यतिसंख्याकाः प्रकृतय उच्यन्ते तास्ततिसंख्याकाः प्रकृतयः क्रमात् आनुपूर्व्या ग्राह्याः । अथ प्रकृतीरेव संगृह्णाति-आहारकद्विकं निद्राद्विकं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमिति प्रथमगाथोत्तरार्धेऽष्टानां प्रकृतीनां संग्रहः । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं मिथ्यात्वं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीवेदो नपुंसकवेद आद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जं संस्थानपञ्चकं दुर्भगत्रिकं कुखगतिर्नीचैर्गोत्रमिति द्वितीयगाथायामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां संग्रहः ।

तिर्यग्द्विकमुद्योतनामाऽऽतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकमुच्चैर्गोत्रं मनुष्यद्विकं वज्रर्षभनाराचनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामेति तृतीयगाथायां त्रयोविंशतेः प्रकृतीनां संग्रहः । औदारिकशरीरनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकं जिननाम पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम सातवेदनीयं हास्यरती स्थिरशुभनाम्नी यशःकीर्तिनामासातवेदनीयमरतिशोकरूपमरतिद्विकमस्थिराऽशुभनामरूपमस्थिरद्विकमयशःकीर्तिनामेति चतुर्थगाथायामेकत्रिंशतः प्रकृतीनां संग्रहः, इति सार्धत्रयगाथास्वेकाशीतेः प्रकृतीनां संग्रहः ॥४०४-४०७॥

अथौघत उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं दर्शयति—

खवगोऽत्थि जाण सामी गुरुअणुभागस्स अंतरं णो सिं ।
उज्जोअस्स जहण्णं भिन्नमुहुत्तं खणोऽण्णेसिं ॥४०८॥

(प्रे०) 'खवगो' इत्यादि, 'जाण'त्ति'...असमायाणि ॥ उच्चपणिंदितसचउगपरघूसासमुखगइपणथिराई । सुहधुववंधागिइजिणसुरविउव्वाहारजुगलाणि ॥' इत्युत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां यासां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी क्षपकोऽस्ति 'सिं' ति तासामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, क्षपकश्रेणिद्वयाभावात् ।

तथोद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, तदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽभिमुखावस्थायामेव सद्भावात्, अभिमुखावस्थयोरन्तरालस्य च जघन्यत आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । एवमग्रेऽपि यत्र यासामुत्कृष्टो जघन्यो वा रसबन्धोऽभिमुखावस्थायां संभवति तासामुत्कृष्टादिरसबन्धस्याऽन्तरं यदि भवति तर्हि जघन्यतोऽपि तदन्तर्मुहूर्तं ततोऽधिकं वा भवति, न तु समयादिकम् । यत एकदा सम्यक्त्वाद्यभिमुखो भूत्वा तं गुणं सम्प्राप्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावत् तत्र गुणे स्थित्वा, मिथ्यात्वादिकं गत्वान्तर्मुहूर्त्तात् परत एव पुनः सम्यक्त्वाद्यभिमुखो भवितुमर्हति न ततोऽप्यर्वागिति ।

तथोक्तशेषाणामेकनवतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं 'खणो' त्ति एकः समयः, एतासां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य तत्प्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन वा निर्वर्त्तनीयत्वात् तत्प्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धयादेरन्तरस्य च जघन्यत एकसामयिकत्वात् ॥४०८॥

अथौघत उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दर्शयन्नाह—

देवाउ पणणराइगउज्जोआणऽत्थि अद्धपरिअट्टो ।
देसूणो उक्कोसं सेसाण असंखपरिअट्टा ॥४०९॥

(प्रे०) 'देवाउ' इत्यादि, देवायुर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकऋषभनाराचरूपं मनुष्यपञ्चकमुद्योतनामेति सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तः, आसां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्यग्दृष्ट्यादिस्वामिकत्वात् सम्यक्त्वादेश्चोत्कृष्टाऽन्तरस्य तावन्प्रमाणत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति अनन्तरगाथाविवृत्तिदर्शितानां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्याऽनन्तरोक्तगाथया निषिद्धत्वादुक्तशेषाणां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः साधिकासंज्ञ्युत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, यत आसां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव भवति । भावना त्वेवम्—संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा यथायथमासामुत्कृष्टरसं बद्ध्वैकेन्द्रियादिकत्वं प्राप्ताः सन्तोऽसंज्ञ्युत्कृष्टकायस्थितिं यावदासामुत्कृष्टरसं न बध्नन्ति, ततोऽप्युद्वृत्ताः सन्तः संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वे यावदुत्कृष्टरसबन्धं न करोति स सर्वोऽपि काल आसां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरतया प्राप्यत इति ॥४०९॥

अथौघतोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं प्रतिपादयन्नाह—

आहारदुगस्स भवे लहु अणुक्कोसगाणुभागस्स ।
भिन्नमुहुत्तं समयो णेयो सेसाण पयडीणं ॥४१०॥

(प्रे०) 'आहारदुगस्से' त्यादि, आहारकद्विकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य 'लहु' ति जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं भवति, तद्बन्धप्रायोग्यसप्तमाऽष्टमगुणस्थानकयोः पुनः प्राप्तिरूपाऽन्तरस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात्, तद्यथा-कश्चिदाहरकद्विकबन्धकोऽप्रमत्तमुनिः प्रमत्तगुणस्थानकं गत्वा तत्र जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनरप्रमत्तगुणस्थानकमागत्याहारकद्विकबन्धमारभते, यद्वा उपशमश्रेणावाहारकद्विकस्याबन्धं कृत्वा उपशमाऽद्धाक्षयेणोपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतन् निवृत्तिबादरगुणस्थानके आहारकद्विकबन्धमारभते, अत्रापि अबन्धकालस्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वेनोभयथाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् । तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां द्वाविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयो भवति, तत्र सातवेदनीयादीनामध्रुवबन्धित्वेन तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्याऽपि जघन्यत एकसामयिकत्वात् । ज्ञानावरणपञ्चकादीनां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकोत्कृष्टरसबन्धलक्षणस्यैकसामयिकान्तरस्य सम्भवात् । शुभध्रुवबन्धिन्यष्टकजिननामरूपाणां नवानां तूपशमश्रेणौ एकसमयमबन्धं कृत्वा तत्कालमायुःक्षयेण देवत्वं प्राप्तस्य दिवि पुनस्तद्बन्धप्रवर्त्तनात् ॥४१०॥

अथौघतोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दर्शयन्नाह—

बत्तीससागरसयं जेट्ठं मिच्छाइपंचवीसाए ।
मज्झऽट्ठकसायाणं कोडी पुव्वाण देसूणा ॥४११॥
होइ असंखपरट्टा णिरयणरसुराउछणिरयाईणं ।
तिरियाउस्स पुहुत्तं सयजलहीणं मुणेयव्वो ॥४१२॥
तेवट्ठिसागरसयं तिरियाइतिगस्स णरदुगुच्चाणं ।
लोगाऽसंखा अहियं पल्लतिगं तिवइराईणं ॥४१३॥
पणसीइसागरसयं णवायवाईण अद्धपरियट्टो ।
आहारदुगस्सूणो सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥४१४॥

(प्रे०) 'बत्तीस०' इत्यादि, "[1]मिच्छ [2]थीणद्धितिग [3]मणचउग [4]थी [5]णपुमा। [6]संघयणा [7]गिइपणगं [8]दुहगतिग [9]कुखगई [10]णीअं" इति प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वात्रिंशदधिकं सागरशतं, मिश्रसहितसम्यक्त्वकालस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् तावन्कालं तद्बन्धाभावाच्च । तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वकोटिः, सर्वविरतस्य तद्बन्धाभावात् सर्वविरत्युत्कृष्टकालस्य च यथोक्तप्रमाणत्वात् । तथाऽऽयुःशब्दस्य प्रत्येकमभि-

सम्बन्धान्नरकायुर्मनुष्यायुः सुरायुः 'छणिरयाइं' त्ति 'णिरयसुरविउव्वदुग' मिति गाथाद्वयवोक्ता नरक-द्विकादयश्च षडिति नवानां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिरितिभावः, तत्र मनुष्यायुर्वर्जप्रकृत्यष्टकस्यैकेन्द्रियाणां बन्धाऽनर्हत्वात् , बन्धार्हत्वेऽपि मनुष्यायुष्कस्य तिर्यग्गत्युत्कृष्टकायस्थितिसमापकानां तिरश्चां चरमतिर्यग्भवादृते मनुष्यायुर्बन्धस्याभावात् । तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'पुहुत्त सयजलहीणं' सागरोपमशतपृथक्त्वं, देवनरकमनुष्यगतिरूपे गतित्रिके समुदिताऽवस्थानकालस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् । तिर्यग्गतेरुद्वृत्तो जन्तुर्देवादिगतिषु परिभ्रमन् यदि मनुष्यभवे सम्यक्त्वादिसामग्रीं समासाद्य मोक्षं न गच्छति तर्हि यथोक्तकालात् परतोऽवश्यं तिर्यगायुर्बद्ध्वा तिर्यक्षूत्पद्यत इति भावः । तथा तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमाणां शतं, तत्प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'लोगाऽसंखा' असंख्येयाः लोकाः, तेजोवायुकायिकानां समुदितोत्कृष्टकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात्, तेषां च तथास्वाभाव्येन तद्बन्धाभावात् । तथा 'तिवइराईणं' ति वज्रर्षभनाराचनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामौदारिकशरीरनामलक्षणस्य प्रकृतित्रयस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकं पल्योपमत्रिकं, क्षायिकसम्यग्दृष्टियुगलिकस्य त्रिपल्योपमात्मकोत्कृष्टस्थितिकस्य पूर्वभवसत्कदेशोनपूर्वकोटिचरमत्रिभागादारभ्याऽऽभवं तद्बन्धाभावात् । तथा 'आयवथावरएगिंदिसुहुमविगलतिग' इति प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां नवानामातपनामादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पञ्चाशीत्यधिकं शतं सागरोपमाणां, तत्तत्प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वात् । आहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तः,तद्बन्धप्रायोग्यमप्रमाप्रमगुणस्थानकयोः सकृत् प्राप्त्यनन्तरं पुनस्तत्प्राप्तेरन्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणामेकषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं भवति, तत्प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वात् । इह सर्वासां चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरनिरूपणे सामान्यतोऽयमेव हेतुर्द्रष्टव्यः, अत्रार्थे भावनादिविस्तरस्तु अस्यैव बन्धविधानस्य प्रकृतिबन्धग्रन्थादवलोकनीयः । इमाश्च ता उक्तशेषा एकषष्टिः प्रकृतयः—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणपट्कं वेदनीयद्विकमन्तरायपञ्चकं संज्वलनचतुष्कं पुरुषवेदः हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पञ्चेन्द्रियजातिः नामध्रुवबन्धित्रयोदशकं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ जिननाम त्रसदशकम-स्थिरमशुभमयशःकीर्तिनाम चेति ॥४११-४१४॥

ओघत उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यं ततस्तस्यैवोत्कृष्टं ततोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चाऽन्तरं निरूप्य मार्गणासु तन्निरूपयिषुरादौ तावत्तासु आयुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां सप्तमूलकर्मोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं निरूपयति—

कम्माणाहारेसुं तिव्वणुभागस्स णत्थि सव्वेसिं ।
अंतरमण्णासु खणो गुरुकालो जत्थ जाण तत्थण मिं ॥४१५॥(गीतिः)
णवरि णिरयचरमणिरयदुपणिंदियतसणपुंसअयतेसुं ।
णयणेयरकिण्हासुं भविये सण्णिम्मि आहारे ॥४१६॥
उज्जोअस्स जहण्णं भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज सव्वासुं ।
जाणाउगवज्जाणं सेसाणं अत्थि मिं समयो ॥४१७॥

(प्रे०) 'कम्माणे' त्यादि, कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोर्बन्धार्हाणां सर्वासां षोडशोत्तरशतलक्षणानामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति; मार्गणावस्थानकालस्यातिस्तोकत्वेन द्विरुत्कृष्टरसबन्धस्यासम्भवात् । 'अण्णासु' इत्यादि, उक्तातिरिक्तासु यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य काल उत्कृष्टतोऽप्येक एव समयो भवति तासु मार्गणासु 'सिं' ति तासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं न भवति, तदुत्कृष्टरसस्य क्षपकेण गुणाद्यभिमुखादिना मार्गणाचरमसमये वा बध्यमानत्वात् सकृत्तदुत्कृष्टरसबन्धानन्तरं पुनर्बन्धाभावान्मार्गणाया वाऽपगमादिति भावः ।

अथात्रैवाऽपवादं दर्शयति 'णवरि' इत्यादिना, नरकौघ-सप्तमनरक-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्त-पञ्चेन्द्रिय–त्रसकायौघ–पर्याप्तत्रसकाय-नपुंसकवेदा-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन–कृष्णलेश्या-भव्य-संज्ञ्या ऽऽहारिरूपासु चतुर्दशसु मार्गणासूद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । अत्रायं भावः–यद्यपि अनन्तरोक्तासु नरकौघादिमार्गणासु उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टोऽपि काल एक एव समयो भवति तथापि तासु तदुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं प्राप्यते, कुतः ? मार्गणाचरमसमये क्षपकश्रेण्यां वा तदुत्कृष्टरसबन्धस्याभावात् , किमुक्तं भवति ? यासां प्रकृतीनां समयप्रमाण उत्कृष्टरसबन्धो मार्गणाचरमसमये क्षपकश्रेण्यां वा भवति तासामेवोत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं न भवति तद्व्यतिरिक्तानां तु भवतीति नियमात् , तच्च जघन्यतो यथोक्तमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम् । प्रकृते भावना त्वेवम्-कश्चित् सप्तमपृथ्वीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखत्वचरमसमय उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसं बद्ध्वाऽन्तर्मुहूर्त्तं सम्यक्त्वे स्थित्वाऽचिरान्मिथ्यादृष्टीभूय पुनः सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां तदुत्कृष्टरसबन्धं करोति तदा यथोक्तमन्तरं प्राप्यते । नरकौघपञ्चेन्द्रियौघादिषु शेषासु त्रयोदशमार्गणास्वपीयमेव भावना, तत्र सप्तमपृथ्वीनारकस्यान्तःपातित्वात् । यद्यपि मनोयोगादिमार्गणासूद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं भवितुमर्हति, मार्गणाचरमसमये क्षपकश्रेणौ वा तदुत्कृष्टरसबन्धस्याभावात् तथापि तासु मार्गणासु द्विरुत्कृष्टरसबन्धस्याभावादन्तरं नैव प्राप्यते इति तु सम्यगवधारणीयम् । इति विशेषं प्रदर्श्याथ सर्वासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां शेषाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं दर्शयति 'सिं समयो' इत्यादिना, किमुक्तं भवति ? यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टो बन्धकाल एकसमयो न भवति तासां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरस-

बन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयो भवति, कुतः ? तासामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन स्वस्थानतत्प्रायोग्यसंक्लेशेन तादृग्विशुद्धया वा बध्यमानत्वात् । ततः किम् ? स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशादीनां जघन्यान्तरस्यैकसामयिकत्वात् । अथ कासु मार्गणासु कियतीनां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं न संभवति कियतीनाञ्चैतज्जघन्यमेकसमयादिकं तदेव दर्शयामः,—पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः नपुंसकवेदश्चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं भव्यः संज्ञी आहारीति दशसु मार्गणासु 'जससायाणि ॥ उच्चपणिदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुरविउवाहारजुगलाणि ॥ 'इति उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसस्य क्षपकेण बध्यमानत्वात् । तथोद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमुक्तम् , तत उक्तशेषाणां सप्ताशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयो भवति, तदुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धलक्षणस्य जघन्यत एकसामयिकान्तरस्य सम्भवात् ।

तथा मनुष्यौघो मानुषी पर्याप्तमनुष्या औदारिककाययोगः स्त्रीवेदः पुरुषवेद इति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, क्षपकेण बध्यमानत्वात् । शेषाणामष्टाशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, उद्योतनाम्नोऽपि उत्कृष्टरसस्यात्र स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

नरकौघसप्तमनरकवैक्रियकाययोगकृष्णलेश्यामार्गणासु उद्योतस्योत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमपृथ्वीनारकस्यैव तद्भावात् सम्यक्त्वाभिमुखत्वस्य जघन्यान्तरस्यापि तावन्मितत्वात् , बन्धप्रायोग्यशेषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यान्तरं समयप्रमितम् , स्वस्थानसंक्लेशेन तादृग्विशुद्धया वा तदुत्कृष्टरसबन्धस्य भावात् ।

मनोयोगपञ्चकं वचनयोगपञ्चकं काययोगौघः कषायचतुष्कमिति पञ्चदशसु मार्गणासु पूर्वोक्तानां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशत उद्योतनाम्नश्चेति त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तत्र द्वात्रिंशतो हेतुरनन्तरोक्तवद् , उद्योतनाम्नस्तु मार्गणाऽवस्थानकालस्याऽल्पत्वेन द्विरुत्कृष्टरसबन्धाभावात् । तथोक्तशेषाणां सप्ताशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धरूपस्यान्तरस्य सम्भवात् ।

तथा मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं मिथ्यात्वमिति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकम्'........ जससायाणि ॥ उच्चपणिदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबधागिइ .... 'इति यशःकीर्त्तिनामादीनां पञ्चत्रिंशतेः देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनाम्नामुद्योतनाम्नश्चेति सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसस्याऽभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात् । तथोक्तशेषाणां बन्धार्हाणां द्व्यशीतेः प्रकृ-

तीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयो भवति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धिभ्यां निर्वर्त्तनीयत्वात् ।

तथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिद्विकं सम्यक्त्वौघ उपशमसम्यक्त्वमिति षट्सु मार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से उपघातनामाप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमन्तरायपञ्चकमिति पञ्चत्रिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामसातवेदनीयं शोकारती पुरुषवेदोऽस्थिराशुभे अयशःकीर्त्तिनामेति सप्तानां चाऽसातवेदनीयादीनां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्याऽभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वेन तथैव यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य क्षपकश्रेणौ बध्यमानत्वेन चेति सर्वसंख्यया चतुःसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति । तथा मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां हास्यरत्योश्चोत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तस्य यथाक्रमं स्वस्थानविशुद्धयातादृक्संक्लेशेन वा बध्यमानत्वात् ।

तथा मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमौघमार्गणायां सामायिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनीयमार्गणायाञ्च ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से उपघातनामाप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमन्तरायपञ्चकमिति सप्तविंशतेरप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनाम् असातवेदनीयं शोकारती पुरुषवेदोऽस्थिराशुभे अयशःकीर्त्तिनामेति सप्तानामसातवेदनीयादीनाञ्चेति सर्वसंख्ययाऽऽसां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां द्वात्रिंशतश्च यशःकीर्त्तिनामादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, अभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये क्षपकश्रेणौ वा बध्यमानत्वात्, हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयस्तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् ।

देशविरतिमार्गणायामनन्तरोक्तानां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽऽहारकद्विकवर्जत्रिंशद्यशःकीर्त्तिनामादीनाञ्चेति सर्वसंख्ययाऽष्टषष्टेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसस्याभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात् । हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानतत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् ।

परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणस्यैव प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्ध इति स्वीकर्त्तृमते सर्वासामष्टषष्टिलक्षणानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणावद् वाच्यम् । स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्ध इति स्वीकर्तृमते तु मनःपर्यवज्ञानमार्गणोक्तानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां चतुस्त्रिंशत एव प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, अभिमुखावस्थायां मार्गणावसानसमये बध्यमानत्वात् । यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतो हास्यरत्योश्चोत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया स्वस्थानसंक्लेशेन च बध्यमानत्वात् ।

तथाऽसंयममार्गणायामाहारकद्विकवर्जयशःकीर्तिनामादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसस्य संयमाभिमुखेन मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात् । उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धान्तरस्यान्तर्मुहूर्तत्वेन मूलकृतोक्तत्वादुक्तशेषाणां सप्ताशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयस्तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानसंक्लेशविशुद्धिभ्यां बध्यमानत्वेनोत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकानुत्कृष्टरसबन्धरूपान्तरस्य सम्भवात् ।

तथा तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोर्द्वात्रिंशतो यशःकीर्त्तिनामादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति । इति 'अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्ध'इतिस्वीकर्तृमताभिप्रायेण । 'स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेस्तदुत्कृष्टरसबन्ध इतिस्वीकर्तृमते तु यशःकीर्त्तिनामादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः । शेषाणां तेजोलेश्यामार्गणायामशीतेः प्रकृतीनां, पद्मलेश्यामार्गणायां तु सप्तसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमुभयमते एकः समयः, तत्र कासाञ्चिदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानसंक्लेशेन कासाञ्चिच्च स्वस्थानविशुद्धया बध्यमानत्वात् ।

शुक्ललेश्यामार्गणायां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, क्षपकेण बध्यमानत्वात् । तथोक्तशेषाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, स्वस्थानसंक्लेशेन तादृग्विशुद्धया वा निर्वर्तनीयत्वात् ।

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धजघन्यान्तरप्ररूपणाऽविशेषेण परिहारविशुद्धिसंयममार्गणावत् कर्त्तव्या, नवरं तत्र ज्ञानावरणादीनां चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनामन्तरं नास्तीत्युक्तम् इह तु ज्ञानावरणादीनां चतुस्त्रिंशतः मध्यमकषायाष्टकस्य चेति द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति इति वाच्यम् । तथा मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं प्रथमसंहननमिति पञ्चानामपि बन्धस्यात्र सद्भावात् एतेषामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरन्त्वेकः समयः ।

मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायां हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्प्रायोग्यस्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तदुत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वात् । शेषाणां षट्सप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, अभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात् ।

सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां मिथ्यात्ववर्जाप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो द्विचत्वारिंशदसातवेदनीयं शोकारती अस्थिराशुभे अयशःकीर्त्तिनाम स्त्रीवेदः कीलिकासंहनननाम वामनसंस्थाननाम दुर्भगत्रिकं नीचैर्गोत्रं तिर्यग्द्विकमप्रशस्तविहायोगतिश्चेति सर्वसंख्ययाऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं '... खणो गुरुकालो जत्थ जाण ......' इत्यादिग्रन्थेन निषिद्धत्वाद् नास्ति, तदुत्कृष्टरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वेन तदुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टतोऽप्येकसामयिकत्वात् । तथोक्तशेषाणां चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं 'जाणाउगवज्जाणं सेसाणं भत्थि सि समयो' इतिग्रन्थेनैकसमयः, तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तादृग् -

विशुद्धया वा बध्यमानत्वात्, एतद्धि सास्वादनिनो मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टसंक्लेशाभ्युपगन्तुर्मताभिप्रायेण। ये तु सास्वादनस्य मार्गणाद्विचरमादिसमयेऽपि उत्कृष्टसंक्लेशं मन्वते तेषां मतेनात्र बन्धार्हाणां द्व्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, एतन्मते सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना निर्वर्तनीयत्वात्।

तथापगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायाश्च यथाक्रमं बध्यमानानामेकविंशतेः सप्तदशानाञ्च प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तत्र प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य क्षपकेण, अप्रशस्तप्रकृतीनाञ्चोपशमश्रेणेरवरोहता मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात्।

औदारिकमिश्रयोगमार्गणायां वैक्रियमिश्रयोगमार्गणायामाहारकमिश्रयोगमार्गणायाश्च बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसस्य मार्गणाचरमसमय एव बध्यमानत्वात्, एतद्धि 'अनन्तरसमये भविष्यदौदारिकादियोगिन एवोत्कृष्टरसबन्ध' इति मताभिप्रायेण। 'मार्गणाद्विचरमादिसमयेऽपि उत्कृष्टरसबन्ध' इति स्वीकर्तृ मते तु इह बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले अनुत्कृष्टरसबन्धलक्षणस्य सामयिकान्तरस्य सम्भवात्। इति कृता पञ्चेन्द्रियौघादिषु आहारकमिश्रकाययोगपर्यन्तासु त्रिषष्टिमार्गणासु संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धजघन्यान्तरप्ररूपणा। नरकौघसप्तमनरकतिर्यग्मनुष्यवर्जद्विचत्वारिंशद्गतिमार्गणासु द्विपञ्चेन्द्रियवर्जसप्तदशेन्द्रियमार्गणासु द्वित्रसवर्जचत्वारिंशत्कायमार्गणासु आहारककाययोगे नीलकापोतलेश्याद्वये अभव्यमार्गणायां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायाञ्चेति सर्वसंख्यया शेषासु पञ्चोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं संभाव्यमानज्येष्ठरसबन्धान्तराणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्रोत्कृष्टरसस्य स्वस्थानसंक्लेशेन विशुद्ध्या वा बध्यमानत्वेनोत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽनुत्कृष्टरसबन्धलक्षणस्य एकसामयिकान्तरस्य सम्भवात् ॥४१५-४१७॥

मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं निरूप्य तत्रैव तस्योत्कृष्टमन्तरं निरूरूपयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानामवक्ष्यमाणानां प्रकृतीनामुपलक्षणत्वात् अवक्ष्यमाणासु मार्गणासु च बन्धार्हाणां संभाव्यमानज्येष्ठरसबन्धान्तराणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना स्वस्वगुरुकायस्थितिरिति दर्शयन्नाह—

सव्वासु अत्थि जेसिं अवक्खमाणाण आउवज्जाणं।
जेट्ठरसस्स गुरू सिं समगुरुकायट्ठिई ऊणा ॥४१८॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि सर्वासु मार्गणासु 'अवक्खमाणाण' त्ति यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमिह साक्षान्न वक्ष्यते तासाम् 'आउवज्जाणं' ति सप्तकर्मणामेव प्रस्तुतत्वात्। आयुषस्त्वाग्रे पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् आयुर्वर्जप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् '**सस-**

गुरुकायट्ठिई' त्ति स्वस्वमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना भवति, उपलक्षणाद् यासु मार्गणासु कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमिह साक्षान्न वक्ष्यते तासु बन्धार्हाणां सम्भाव्यमानोत्कृष्टरसबन्धान्तराणां सर्वासामपि तद् देशोनोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेयम् । (१) यतो यत्रासंख्येयलोकेभ्यो न्यूना कायस्थितिः तत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धोऽनेकशो भवितुमर्हति तासामुत्कृष्टत उत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिरिति नियमात् । (२) तथा यत्राऽसंख्यलोकेभ्योऽधिका कायस्थितिः, तत्र यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः संज्ञित्वादिविशेषणविशिष्टा जीवाः, तत्रैकेन्द्रियत्वादिकमुत्कृष्टरसबन्धे प्रतिबन्धकं भवति ततस्तत्रापि तासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः भवति। ननु नरकौघे जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमनन्तरवक्ष्यमाणगाथायां साधिकत्रिसागरोपममात्रं वक्ष्यते, तत्र कायस्थितेस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमितत्वात् प्रथमनियमभङ्गापत्तिरिति चेन्न, उत्कृष्टतोऽपि साधिकत्रिसागरोपमस्थितिकानामेव नारकाणां तद्बन्धकत्वात् ॥४१८॥

अथ यासु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना स्वोत्कृष्टकायस्थितिर्न भवति किन्तु ततोऽपि हीनम्, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां तदेव दर्शयन्नादौ तावन्नरकौघादिगतिमार्गणासु दर्शयति—

णिरयतइअणिरयेसुं तित्थस्स भवे तिसागराऽब्भहिया ।
तिरिये देसो सामी जाणऽत्थि सिमद्धपरिअट्टो ॥४१९॥

(प्रे०) **'णिरय०'** इत्यादि, नरकौघमार्गणायां तृतीयनरकमार्गणायाञ्च जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि; ततोऽधिकतरस्थितिकनारकाणां जिननाम्नो बन्धाभावात् । तथा 'अवक्खमाणाणे' तिवचनाज्जिननामवर्जानां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिः । तथा **'तिरिये'** त्ति तिर्यग्गत्योघमार्गणायां **'जाण'** त्ति देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसदशकं पराघातनामोच्छ्वासनामाऽगुरुलघुनाम निर्माणनाम सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रमिति यासामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी **'देसो'** त्ति देशविरतः **'सिं'** ति तासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमर्धपुद्गलपरावर्त्तः, ततः परमवश्यं मानुष्यप्राप्त्या मार्गणाऽपगमात् । तथोक्तशेषाणां मनुष्यद्विकादीनामष्टाशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मिका स्वोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना, असंज्ञिषूत्कृष्टरसबन्धाभावात् ॥४१९॥

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह—

तिपणिंदियतिरियेसु सव्वाए तह तिणरेसु जाण ऽत्थि।
तेसिं खलु पुव्वाणं कोडिपुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४२०॥

(प्रे०) 'तिपणिंदिये' त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सामान्यतिर्यग्योनिमतीपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्रूपासु तिसृषु तिर्यग्गतिमार्गणासु बन्धार्हाणां सप्तदशोत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनाम्, तथा मनुष्यौघमनुष्ययोनिमतीपर्याप्तमनुष्यरूपासु तिसृषु मनुष्यगतिमार्गणासु क्षपकप्रायोग्याणां देवद्विकादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तराभावेन यासामष्टाशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं विद्यते तासां 'खलु' निश्चयेनोत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं पूर्वाणां कोटिपृथक्त्वं ज्ञातव्यं, भोगभूमिजेषूत्कृष्टरसबन्धाभावात् सङ्ख्येयवर्षायुष्कतिर्यगादीनामुत्कृष्टकायस्थितेश्च तावत्प्रमाणत्वात्। ॥४२०॥ अथ देवौघमार्गणायामाह—

देवे अहियदुअयरा तिआयवाईण जाण सम्मत्ती।
सामी तव्वज्जाणं सेसाणं सागराऽट्ठार ॥४२१॥

(प्रे०) 'देवे' इत्यादि, देवौघमार्गणायामातपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनामेति तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिके द्वे सागरोपमे, सनत्कुमारादिदेवानां तद्बन्धाभावात्। तथा यासां 'णरुरलदुगवइराणि जमसायाणि॥ उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई। सुहधुवबंधागिइजिण'……इति एकत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी सम्यग्दृष्टिर्देवोऽस्ति तद्वर्जानां शेषाणां द्विसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमष्टादशसागरोपमाणि देशोनानि, तदधिकस्थितिकानामानतादिदेवानां विशुद्धशुक्ललेश्याकत्वेन तथाविधसंक्लेशाभावात्, तदभावे च तेषामप्रशस्तप्रकृत्युत्कृष्टरसबन्धाभावः तदभावे च न तद्द्वयान्तरालवर्त्यन्तरावकाशः। तत्राऽपि तिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां तिसृणामप्रशस्तप्रकृतीनां बन्धस्य तु सहस्रारान्तानामेव देवानां सम्भवेन नाष्टादशसागरोपमेभ्योऽधिकान्तरावकाशः। मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतः प्रकृतीनान्तूत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः देशोनानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणीत्यर्थः, तदुत्कृष्टरसबन्धकेषु अनुत्तरदेवानामप्यन्तर्भावात् ॥४२१॥ अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणासु सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दर्शयन्नाह—

सव्वाणं एगिंदियपुहवाइचउगणिगोयकायेसुं।
मिं सुहुमेसु तह वणे णेयं लोगा असंखेज्जा ॥४२२॥
णवरं दसेणूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं।
एगिंदिये तहा से सुहुमे उज्जोअणामस्स ॥४२३॥

(प्रे०) 'सव्वाणं' इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-पृथ्वीकायौघा-ऽप्कायौघ-तेजःकायौघ-वायुकायौघ-साधारणवनस्पतिकायौघरूपासु षट्सु मार्गणासु 'सिं सुहुमेसु' त्ति तासामेव षट्सु सूक्ष्मभेदेषु वनस्पत्योघमार्गणायाञ्चे ति सर्वसंख्यया त्रयोदशसु मार्गणासु प्रत्येकम् 'सव्वाणं' ति तत्र संभाव्यमानबन्धानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमऽसंख्येया लोकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयप्रमाणमित्यर्थः, तत्र एकेन्द्रियौघादिषु षट्सु वनस्पत्योघमार्गणायाञ्च सूक्ष्माणामुत्कृष्टरसबन्धाभावात् तदुत्कृष्टकायस्थितिं यावदुत्कृष्टरसबन्धस्याभावः । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियौघादिषु षट्सु मार्गणासूत्कृष्टकायस्थितिममापकानां तदुत्कृष्टकायस्थितिं यावदसंख्येयवारं मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धस्य संभवेऽपि उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालस्य असंख्येयलोकप्रमाणत्वात् । तच्च कायस्थितितोऽसंख्येयगुणहीनं द्रष्टव्यम् । अथात्रैव विशेषं दर्शयति 'णवर' मित्यादिना, एकेन्द्रियौघमार्गणायां 'से सुहमे' त्ति तस्य सूक्ष्मे सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणायाञ्चेत्यर्थः उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'देसेणूणा जेट्ठा कायट्ठिई' देशोना उत्कृष्टकायस्थितिस्तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, न त्वसंख्येयलोकाः । कुतः अनयोर्मार्गणयोस्तेजोवायूनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वेन वनस्पत्याद्युत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तदुत्कृष्टरसबन्धस्यासंभवात् वनस्पत्याद्युत्कृष्टकायस्थितेश्च देशोनमार्गणोत्कृष्टस्थितिरूपत्वादिति ॥४२२-४२३॥ अथ काययोगौघौदारिककाययोगयोराह—

अंतमुहुत्तं काये उरले जाणऽत्थि सिं भवे णपुमे ।
देसूणद्धपरट्टो उज्जोअणराइपंचण्हं ॥४२४॥

(प्रे०) 'अंतमुहुत्त' मित्यादि, काययोगौघमार्गणायामौदारिककाययोगमार्गणायाञ्च यासां '...... जससायाणि । उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबन्धागिइजिणसुरविउव्वाहारजुगलाणी' ति यशःकीर्त्तिनामादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वेन, काययोगौघमार्गणायां पुनरुद्योतनाम्नोऽप्युत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य प्रागेव निषिद्धत्वेन चाऽन्तराभावात् 'जाणऽत्थि' त्ति औदारिककाययोगमार्गणायां यासामष्टाशीतेः, काययोगे तु सप्ताशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धान्तरलाभः तासां तदुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं, प्रस्तुतमार्गणयोः संज्ञिनामुत्कृष्टरसबन्धकत्वात्, तेषांञ्च प्रस्तुतमार्गणयोरुत्कृष्टकायस्थितेरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात्, तदपि कुत इति चेत्, संज्ञिसत्कयोगानां प्रत्यन्तर्मुहूर्त्तं परावर्त्तनात् । तथा 'णपुमे' त्ति नपुंसकवेदमार्गणायामुद्योतनाम मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनामेति पण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तः, तत्रोद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्वामिकत्वात्, मनुष्यद्विकादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् सम्यक्त्वाभिमुखत्वादीनामुत्कृष्टान्तरस्य च यथोक्तमानत्वात् । यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतोऽन्तराभावात् शेषाणां द्व्यशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः ॥४२४॥

अथ अज्ञानद्विकादिषु मार्गणासु प्रकृतमाह—

अण्णाणदुगे मिच्छे जाण भवे सिं असंखपरिअट्टा ।
देसूणपुव्वकोडी अडसुहमाईण विब्भंगे ॥४२५॥
बिंति मुहुत्तंतोऽण्णे तिआयवाईण दुअयराऽब्भहिया ।
ओघव्व जाणियव्वो असंजमाचक्खुभवियेसुं ॥४२६॥

(प्रे०) 'अण्णाणदुगे' इत्यादि, मत्यज्ञानमार्गणायां श्रुताज्ञानमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायाञ्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकम् 'जाण भवे' त्ति आतपनामवर्जानां सर्वासां पञ्चत्रिंशतः प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य संयमाद्यभिमुखावस्थायां सद्भावेनोत्कृष्टरसबन्धाऽनन्तरसमय एव मार्गणाया विनष्टत्वेनोत्कृष्टरसबन्धद्वयाभावात्तदन्तराभावः, ततो यासामेकाशीतेरप्रशस्तप्रकृतीनामातपनाम्नश्चोत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं विद्यते तासां तदसंख्येयपुद्गलपरावर्ताः, संज्ञिनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धसंभवात् सादिसान्तलक्षणाया असंज्ञिकायस्थितेश्चोत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मकत्वात् । विभङ्गज्ञानमार्गणायां सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकरूपाणां सूक्ष्मनामादीनामष्टानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वाणां कोटिः, कुतः ? देवनारकाऽसंख्येयवर्षायुष्कमनुजतिरश्चां भवप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात् । मिथ्यादृशामुत्कृष्टस्थितिकसंख्येयवर्षायुष्कमनुजतिरश्चां यथासंभवं स्वभवप्रारम्भावसानयोरेव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनाच्च । न चात्र संख्येयवर्षायुष्काणां मनुजतिरश्चामुत्कृष्टस्थितिकभवपृथक्त्वमाश्रित्य देशोनपूर्वकोटिपृथक्त्वमन्तरमाशङ्कनीयं, विभङ्गविरहितानामेव मनुजतिरश्चां तिर्यग्मनुजेषु प्रेत्य गमनाभ्युपगमात्, एकं च भवमाश्रित्य प्रस्तुतान्तरस्योत्कृष्टतोऽपि यथोक्तप्रमाणत्वात् । तथा लुप्ताऽकारस्य दर्शनात् 'अण्णे' त्ति अन्ये आचार्या **महाबन्धकारादयः** प्रस्तुतमन्तरमन्तर्मुहूर्तमेव ब्रुवन्ति, यतस्तेषामभिप्रायेण मनुजतिर्यक्षु विभङ्गज्ञानस्यावस्थानमुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम् । तथाऽऽतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनामेति तिसृणां साधिके द्वे सागरोपमे, सनत्कुमारादीनां तद्बन्धाभावात् । तथा '...... जससायाणि । उच्चपणिंदितसचउगपरघूसामसुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइ' इति यशःकीर्तिनामादीनां पञ्चविंशतेः देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनाम्नामुद्योतनाम्नश्चेति सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, संयमाद्यभिमुखानामेव तद्बन्धसद्भावेन सकृदुत्कृष्टरसबन्धानन्तरं मार्गणाया विनाशात् । तदुत्कृष्टरसबन्धद्वयाभावेन तदन्तरालभाविनोऽन्तरस्याऽसंभवात् । तथा तद्वर्जानामेकसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, मिथ्यादृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकस्य द्विरुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् । असंयमाऽचक्षुर्दर्शनभव्यरूपासु तिसृषु मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवज्ज्ञातव्यम्, तद्यथा—मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचोद्योतरूपाणां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तः, आसा-

मुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्यग्दृष्ट्यादिस्वामिकत्वात् सम्यक्त्वादेश्चोत्कृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । तथा '...जससायाणि । उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुरविउवाहार-जुगलाणी' ति उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽसंयममार्गणायामभिमुखस्वामिकत्वेन, अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोश्च क्षपकस्वामिकत्वेन तदन्तराभावात्. शेषाणां द्व्यशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्‌गलपरावर्ताः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भवादेकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितेश्च तावत्प्रमाणत्वात् । असंयममार्गणायामाहारकद्विकस्य बन्धाऽनर्हत्वात् तत्र निषिद्धान्तराः प्रकृतयः त्रिंशदेव बोध्याः ॥४२५-४२६॥ अथाऽप्रशस्तलेश्यास्वाह–

बारससुहमाईणं भिन्नमुहुत्तं तिअसुहलेसासुं ।
दोसु जिणस्स वि णेयं काऊए तिअयराऽब्भहिया ॥४२७॥
पल्लासंखियभागो जिणवज्जसुहणरजोग्गतीसाए ।
तिण्हायवाइगाण य परे कमूणाठिई मुहुत्तंतो ॥४२८॥ (गीतिः)

(प्रे०) '**बारसे**' त्यादि, कृष्णनीलकापोतलेश्यारूपासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणासु '.... सुहुमविगलतिगं । णिरयसुरविउव्वदुग' मिति प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां द्वादशानां सूक्ष्मत्रिकादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं '**भिन्नमुहुत्तं**' ति अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं भवति, मनुजतिरश्चामेव तद्बन्धकत्वात् तेषाञ्च विवक्षितलेश्याया उत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । '**दोसु**' त्ति कृष्णनीललेश्यामार्गणयोर्जिननाम्नोऽपि प्रस्तुतमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, यतः कृष्णनीललेश्याकदेवनारकाणां तद्बन्धाभावः, तिरश्चान्तु सर्वेषां तद्बन्धाभावः; मनुष्याणां लेश्यायाः परावर्त्तमानत्वेन विवक्षितलेश्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकेति । '**काऊए**' त्ति कापोतलेश्यामार्गणायां जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि, जिननामबन्धकानां नारकतयोत्पित्सूनामुत्कृष्टतः साधिकत्रिसागरोपमस्थितिकनारकेष्वेवोत्पादात् । अन्तरञ्चैवम्-उत्कृष्टस्थितिककापोतलेश्याको नारकः स्वभवप्रारम्भे यथासमयं जिननाम्नः समयं यावदुत्कृष्टरसं बद्ध्वाऽनुत्कृष्टरसबन्धं प्रारभते ततः परं भवचरमसमये तदुत्कृष्टरसं बध्नाति, एवमुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तरालभावि यथोक्तमन्तरं भवति ।

'**पल्लासंखियभागो**' इत्यादि, तिसृष्वप्रशस्तलेश्यास्वित्यनुवर्त्तते, तत्र मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं समचतुरस्रं वज्रर्षभनाराचसंहननं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकं सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रमिति एकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां तिसृणां चातपस्थावरैकेन्द्रियनामरूपाणामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागः, तत्रैकोनत्रिंशतो भगवद्भक्तिभराणामप्रशस्तलेश्याकोत्कृष्टस्थितिकानां सम्यग्दृशां भवनपत्यादिदेवानां स्वभवप्रारम्भावसानयोरेव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । आतपनाम्नस्तत्प्रायोग्यविशुद्धानां, स्थावरनाम्नै-

केन्द्रियजातिनाम्नोश्च तीव्रसंक्लिष्टानां प्रकृतमार्गणागतानां मिथ्यादृशां भवनपत्यादिदेवानां स्वभव-प्रारम्भावसानयोरेव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । उक्तशेषाणां त्रिसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः । अथ मतान्तरमाह–**'परे कमूणा ठिई मुहुत्तंतो'** त्ति परे महाबन्धकारादयः क्रमादूना स्थितिर्मुहूर्तान्त इतिभणन्तीति शेषः । अयम्भावः-महाबन्धकारादयो मनुष्यगतिवेद्यानां प्रशस्तानामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं नारकानाश्रित्य तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं ब्रुवन्ति, ते हि सम्यग्दृशां नारकाणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धं मन्वत इति कृत्वा । आतपनामादीनां तिसृणां प्रकृतीनान्तु तदन्तर्मुहूर्त्तं, तेषां मते पर्याप्तकानां देवानामप्रशस्तलेश्याया अभावात्, मनुजतिरश्चाञ्च विवक्षितलेश्याया उत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तंस्थायित्वात् । अस्मिन् मते द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, कस्यचिद् यथासंभवं मार्गणाऽऽद्यन्तयोरेव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् ॥४२७-४२८॥ अथ प्रशस्तलेश्यात्रिके प्राह—

तेउपउमासु सामी सट्ठाणम्मि जइ अत्थि अपमत्तो ।
जाण तया विण्णेयं तेसिं अंतोमुहुत्तं तु ॥४२९॥
णेयं अयराऽट्ठारह सुक्काए पणणराइवज्जाणं ।
जाणऽत्थि सिं अभविये सव्वाण असंखपरिअट्टा ॥४३०॥

(प्रे०) **'तेउ०'** इत्यादि, तेजोलेश्यापद्मलेश्यामार्गणयोर्यासां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी **'सट्ठाणम्मि'** त्ति यदि स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धोऽप्रमत्तो मुनिरस्तीति स्वीक्रियते तदा तासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् ,ततः परं लेश्याया अनवस्थानात् । किमुक्तं भवति ? यस्मिन् मते आसां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणोऽप्रमत्तमुनिर्वर्त्तते तन्मते आसामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, द्विः कृतकरणत्वाभावात् तदभावे चोत्कृष्टरसबन्धद्वयाभावः तदभावे च तदन्तरालवर्त्तिनोऽन्तरस्याप्यभावः, विवक्षितरसबन्धद्वयान्तरालकालस्यैवान्तरपदार्थत्वात् । शेषाणामशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः । पद्मलेश्यामार्गणायां शेषाणां सप्तसप्ततेरित्येव वाच्यम् ,तत्रैकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनाम्नां बन्धाऽनर्हत्वात् । **'सुक्काए'** त्ति शुक्ललेश्यामार्गणायां यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वेनान्तराभावात् **'जाणऽत्थि'** त्ति यासां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमस्ति तासां मनुष्यपञ्चकवर्जानामेकोनसप्ततेः प्रकृतीनामित्यर्थः उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमष्टादशसागरोपमाणि, इदञ्च जघन्यस्थितिकानामेवाऽऽनतदेवानां तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वमाश्रित्योक्तं द्रष्टव्यम् । 'तद्व्यतिरिक्तानां प्राणतादिदेवानामपि तदुत्कृष्टरसबन्ध' इत्यभिप्रायेण त्वतोऽधिकमप्यन्तरमवगन्तव्यम् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभना-

गचरूपस्य मनुष्यपञ्चकस्योत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः अन्तर्मुहूर्त्तादिना न्यूनानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणीत्यर्थः, अनुत्तरसुराणामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् ।

'अभविये' त्ति अभव्यमार्गणायां सप्तदशोत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, संज्ञिनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात्, सादिसान्तरूपाया असंज्ञ्युत्कृष्टकायस्थितेस्तावन्मितत्वाच्च । तथा 'णिरयतइयणिरये' त्यादिगाथाभिश्चत्वारिंशन्मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धान्तरस्योक्तत्वात् कार्मणकाययोगोऽपगतवेदः सूक्ष्मसम्परायोऽनाहारीति चतसृषु मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य प्रागेव निषिद्धत्वाच्च शेषासु षड्विंशत्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं संभाव्यमानोत्कृष्टरसबन्धाऽन्तराणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य मार्गणान्तराद्यभिमुखत्वाभावेन कस्यचिद् यथासंभवं मार्गणाद्यन्तयोरेवोत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् । इमाश्च ताः षड्विंशत्युत्तरशतमार्गणाः—नरकौघतृतीयनरकमार्गणयोरुक्तत्वात् शेषाः प्रथमादिनरकमार्गणास्ताश्च षड्, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, अपर्याप्तमनुष्यः, देवौघे उक्तत्वात् तद्वर्जा एकोनत्रिंशद्देवमार्गणाः, एकेन्द्रियौघसूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणयोरुक्तत्वात् शेषाः सप्तदशेन्द्रियमार्गणाः, ओघपृथ्व्यादिचतुष्कसूक्ष्मपृथ्व्यादिचतुष्कौघसूक्ष्मभेदभिन्नसाधारणवनस्पतिकायवनस्पतिकायौघरूपासु एकादशमार्गणासूक्तत्वात् शेषा एकत्रिंशत् कायमार्गणाः, काययोगौघौदारिककाययोगयोरुक्तत्वात् कार्मणयोगे च प्रस्तुतान्तरस्याऽसंभवात् शेषाः पञ्चदश योगमार्गणाः, स्त्रीपुरुषवेदौ, चत्वारः कषायाः, मत्यादिज्ञानचतुष्कम्, अयते उक्तत्वात् सूक्ष्मसंपराये चोत्कृष्टरसबन्धान्तरस्यासंभवात् तद्वर्जाः पञ्च संयममार्गणाः, चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं, मिथ्यात्वे उक्तत्वात् तद्वर्जाः षट् सम्यक्त्वमार्गणाः, संज्ञी, असंज्ञी, आहारी चेति ।

अथाऽनन्तरोक्ताभ्यः षड्विंशत्युत्तरशतमार्गणाभ्यः कस्यां मार्गणायां कियतीनां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति कियतीनां च तदुत्कृष्टतो देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, तदेव दर्शयामः- तृतीयवर्जप्रथमादिसप्तमान्ताः षड् [६]नरकभेदाः, [१]अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्[१]-ऽपर्याप्तमनुष्य[२९]एकोनत्रिंशद्देवभेदाः निखिलविकलाक्ष-त्रिबादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियरूपाः [१४]पञ्चदशेन्द्रियभेदाः बादरपृथ्व्यादिचतुष्कसत्काः [१२]सर्वे भेदास्ते च द्वादश [४]पर्याप्तसूक्ष्मपृथ्व्यादिचतुष्कम् [४]अपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्व्यादिचतुष्कं [३]त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः त्रयो [३]बादरसाधारणवनस्पतिकायभेदाः [१]पर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायो[१]ऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायो[१]ऽपर्याप्तत्रसकायः [१]आहारककाययोगः [१]असंज्ञी चेति त्र्यशीतौ मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः । तथा पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः स्त्रीवेदः पुरुषवेदश्चक्षुर्दर्शनं संज्ञी आहारी चेति नवसु मार्गणासु प्रत्येकम् ....'जससायाणि ।। उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुह-

धुवबंधागिइजिणसुरविउव्वाहारजुगलाणी' ति यशःकीर्त्तिनामादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकश्रेणौ निर्वर्त्तनीयत्वात्, शेषाणामष्टाशीतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां यशःकीर्त्यादीनां द्वात्रिंशतोऽन्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकश्रेणौ प्रवर्त्तनात्। शेषाणामिह बन्धार्हाणामेकोनपञ्चाशतस्तद्देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः।

पञ्च मनोयोगाः पञ्च वचोयोगाः चत्वारः कषाया इति चतुर्दशसु मार्गणासु प्रत्येकमनन्तरोक्ता यशःकीर्त्तिनामादयो द्वात्रिंशदुद्योतनाम चेति त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतमन्तरं नास्ति, तज्जघन्यान्तरप्ररूपणाप्रस्ताव एव निषिद्धत्वात्। शेषाणां सप्ताशीतेः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः। वैक्रियकाययोगमार्गणायामुद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, अभिमुखावस्थायां समयं तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात्, मार्गणाया उत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिकत्वेन पुनरुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात्प्राग् मार्गणाऽपगमाच्च। शेषाणां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनां तद्देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः। औदारिकमिश्रकाययोगः वैक्रियमिश्रकाययोगः आहारकमिश्रकाययोगश्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां तन्नास्ति, अनुत्कृष्टरसबन्धप्रयुक्तस्यैव तस्य संभवात् मार्गणाचरमसमय एव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनाच्च। मतान्तरेण सर्वासां तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना, एतन्मते मार्गणाद्विचरमादिसमयेऽपि उत्कृष्टरसबन्धस्य संभवेन कदाचित् कस्यचिद् यथासंभवं मार्गणाऽऽद्यन्तयोरेव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात्। मत्यादिज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघश्चेति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम हास्यरती चेति सप्तानामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना, तदुत्कृष्टरसस्य क्रमात् स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वेन कदाचिन्मार्गणाऽऽद्यन्तयोरेव तत्प्रवर्त्तनात्। शेषाणामिह बन्धार्हाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां तन्नास्ति, क्षपकश्रेणौ मार्गणाचरमसमये वा तदुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात्। उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकादीनां सप्तानामनन्तरोक्तमत्यादिज्ञानमार्गणावदेव। शेषाणां चतुःसप्ततेस्तन्नास्ति, तत्र यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशत उत्कृष्टरसबन्धस्योपशमश्रेणावेव सद्भावात् प्रस्तुतमार्गणायाश्च द्विरुपशमश्रेणेरभावात्। ततः किम्? श्रेणिद्वयाभावेनोत्कृष्टरसबन्धद्वयाभावः तदभावे च कुतस्तदन्तरालभाव्यन्तरावकाश इति। शेषद्विचत्वारिंशतस्तूत्कृष्टरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमय एव प्रवर्त्तनान्नास्त्युत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमिति।

मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकचारित्रं छेदोपस्थापनीयचारित्रञ्चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना। शेषाणां षट्षष्टेः प्रकृतीनां प्रस्तुतमन्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमय एव प्रवर्त्तनात्।

देशविरतौ हास्यरत्योर्देशोनामार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः। शेषाणामष्टषष्टेर्नास्ति तदुत्कृष्टरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमय एव प्रवर्त्तनात्।

तथा परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां कृतकरणमते सर्वमविशेषेणाऽनन्तरोक्तमनःपर्यवज्ञानमार्गणावद् वाच्यम् । मतान्तरेण ये तु 'कृतकरणव्यतिरिक्तानामपि उत्कृष्टरसबन्ध' इति स्वीकुर्वते तेषां मतेनेत्यर्थः, यशःकीर्त्तिनामादीनां द्वात्रिंशतो हास्यरत्योश्चेति सर्वसंख्यया चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया वा तदुत्कृष्टरसबन्धस्य निर्वर्त्तनीयत्वात् । तथा ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से उपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमन्तरायपञ्चकमसातवेदनीयं शोकारती पुरुषवेदः अस्थिराशुभेऽयशःकीर्त्तिनाम चेति चतुस्त्रिंशतस्तन्नास्ति, अभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमयएव तदुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् ।

तथा क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां कृतकरणमते मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम हास्यरती चेति सप्तानां देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः । शेषाणां चतुःसप्ततेस्तु तन्नास्ति । मतान्तरेणाऽनन्तरोक्तानां मनुष्यद्विकादीनां सप्तानां द्वात्रिंशतो यशःकीर्त्तिनामादीनाञ्च देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, अस्मिन् मते यशःकीर्त्तिनामादीनामप्युत्कृष्टरसबन्धः कृतकरणव्यतिरिक्तैरपि क्रियत इति कृत्वा ।

तथा मिश्रदृष्टिमार्गणायां हास्यरत्योर्देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, शेषाणां षट्सप्ततेस्तु तन्नास्ति, अभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमय एव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् ।

तथा सास्वादनमार्गणायां मिथ्यात्ववर्जद्विचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः असातं शोकारती अस्थिराशुभेऽयशःकीर्त्तिः स्त्रीवेदः कीलिकासंहनननाम वामनसंस्थाननाम दुर्भगत्रिकं नीचैर्गोत्रं तिर्यग्द्विकं कुखगतिश्चेत्यष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तदुत्कृष्टरसस्याऽभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमय एव बध्यमानत्वात् । तथा शेषाणामिह बन्धार्हाणां चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, कदाचित् कस्यचिन्मार्गणाऽऽद्यन्तयोरेव यथासंभवं तदुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् । एतच्च सास्वादनिनो मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टसंक्लेशाऽभ्युपगन्तृमतेनोक्तम् । सास्वादनिनो मार्गणाद्विचरमादिसमयेऽप्युत्कृष्टसंक्लेशाभ्युपगन्तृमते त्विह बन्धार्हाणां द्व्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां तद्देशोनोत्कृष्टकायस्थितिरिति ॥४२९-४३०॥ इति मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं निरूप्य तत्रैवानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं निरूपयिषुराह—

सव्वासु मग्गणासु अवक्खमाणाण आउवज्जाणं ।
समयो भवे जहण्णं अंतरमणुरुअणुभागस्स ॥४३१॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' त्ति अनन्तरवक्ष्यमाणगाथातः साक्षादवक्ष्यमाणासु पारिशेष्याद् गम्यमानासु चेति सर्वासु मार्गणासु, किमित्याह–'**आउवज्जाणं**' इत्यादि, आयुर्वर्जानामवक्ष्यमाणानां प्रकृतीनां, वक्ष्यमाणानां पुनरन्तर्मुहूर्त्तादिरूपनानात्वसंभवाद् अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं

'**समयो**' त्ति एकः समयो भवति । अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले जघन्यत एकसामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् एकसामयिकाऽबन्धसम्भवात् सामयिकप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवाद् वा । अत्रेदमपि ज्ञातव्यं वर्त्तते,– सर्वासु मार्गणासु तत्र तत्र बन्धप्रायोग्याणामशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् प्राप्यते, कासुचित् कासाञ्चित् एकसामयिकस्याऽबन्धप्रवर्त्तनादपि । तथा मार्गणाप्रायोग्याऽध्रुवबन्धिनीनां तु अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकोत्कृष्टरसबन्धसंभवात् सामयिकाऽबन्धसम्भवात् सामयिकप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनादपि अनुत्कृष्टरसबन्धस्य सामयिकमन्तरं प्राप्यते ॥४३१॥

अथ त्रिमनुष्यमार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं दर्शयन्नाह—

अंतरमाहारजुगलपसत्थधुवबंधितित्थणामाणं ।
एगादसण्ह णेयं भिन्नमुहुत्तं तिमणुवेसु ॥४३२॥

(प्रे०) '**अंतर०**' इत्यादि, मनुष्यौघ-मनुष्ययोनिमती-पर्याप्तमनुष्यरूपासु तिसृषु मनुष्यगतिमार्गणास्वाहारकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं तीर्थकरनाम चेति एकादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमुपशमश्रेणौ तदबन्धं कृत्वाऽद्धाक्षयेण श्रेणेः प्रतिपततोऽन्तर्मुहूर्त्तात् परतः स्वबन्धस्थाने पुनस्तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । आहारकद्विकस्य तु सप्तमगुणस्थानकात् षष्ठगुणस्थानकमागत्य जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्त्तं तत्र स्थित्वा पुनः सप्तमगुणस्थानके गत्वा तत्राऽऽहारकद्विकबन्धमारभते तमाश्रित्य यथोक्तमन्तरमायाति । न चोपशमश्रेणौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां समयमबन्धं कृत्वा तत्काळमेव पञ्चत्वमासाद्य दिवि तद्बन्धमारभते तदाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः प्राप्यत इति वाच्यम्, तत्र प्रकृतमार्गणाऽपगमात् । तथोक्तशेषाणां 'अवक्कमाणाण ·· ··· समयो इति वचनात् नवोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्र ज्ञानावरणादीनां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकविरुद्धरसबन्धप्रवर्तनात् एकसामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनादिति भावः । यशःकीर्त्तिनाम सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसचतुष्कं पराघाननामोच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः स्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेयरूपं स्थिरादिपञ्चकं समचतुरस्रसंस्थाननाम देवद्विकं वैक्रियद्विकं चेति आसामेकविंशतेः प्रकृतीनां प्रकृतमार्गणासूत्कृष्टरसः क्षपकश्रेणौ बध्यते तासामनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकस्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनात् एकसामयिकं जघन्यमन्तरं प्राप्यते, न त्वनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनादपि, उत्कृष्टरसबन्धानन्तरमेव तद्बन्धापगमात् । पञ्चचत्वारिंशतः शेषाऽध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् सामयिकाऽबन्धप्रवर्त्तनाच्चेति प्रकारद्वयेनाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसामयिकं जघन्यमन्तरं प्राप्यते ॥४३२॥ अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह —

आहारदुगस्संतोमुहुत्तमत्थि दुपणिंदियतसेसु ।
पुरिसणयणेयरेसु भविये सण्णिम्मि आहारे ॥४३३॥

(प्रे०) 'आहारदुगे' त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पुरुषवेद-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संज्ञया-ऽऽहारिरूपासु दशसु मार्गणासु प्रत्येकमाहारकद्विकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमनन्तरोक्तमनुष्यगतिमार्गणावदन्तर्मुहूर्तमस्ति । उक्तशेषाणामष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्र शुभध्रुवबन्धिन्यष्टकजिननामरूपाणां नवानामुपशमश्रेणौ समयमबन्धं कृत्वा तत्कालमेव पञ्चत्वमासाद्य देवत्वं प्राप्तस्य दिवि पुनस्तदनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । नवोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसामयिकं जघन्यमन्तरमनन्तरोक्तगाथाविवृत्तितो भावनीयम् । नवरं कासुचिन्मार्गणासूद्योतनाममत्कविशेषः स्वयमवमातव्यः ॥४३३॥

अथ मनोयोगादिमार्गणासु प्रस्तुतमाह—

पणमणवयउरलेसु णो आहारदुगसुहधुवजिणाणं ।
कायचउकसायेसु आहारदुगस्स णेव भवे ॥४३४॥

(प्रे०) 'पणमणे'त्यादि, पञ्चसु मनोयोगमार्गणासु पञ्चसु वचनयोगमार्गणासु औदारिककाययोगमार्गणायाश्चाऽऽहारकद्विकादीनामेकादशप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कुत इति चेत् , उपशमश्रेणावबन्धं कृत्वोपशान्तमोहगुणस्थानकादवरोहता ऽऽहारकद्विकादीनां पुनर्बन्धमारभते तदा मार्गणाया एवापगमात् , तदपि कुतः श्रेणावबन्धकालापेक्षया मार्गणावस्थानकालस्याल्पत्वात् । यदि श्रेणौ समयमबन्धं कृत्वा पञ्चत्वमासाद्य दिवि आहारकद्विकवर्जानां पुनर्बन्धमारभते तर्ह्यप्यन्तरं नैवाऽऽयाति, तत्र कार्मणादियोगप्रवर्त्तनेन मार्गणाया अपगमात् । शेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तच्च त्रिमनुष्यमार्गणावद् यथासंभवं भावनीयम् ।

काययोगौघ कषायचतुष्करूपासु पञ्चसु मार्गणास्वाहारकद्विकस्यैवाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, प्रकृतमार्गणास्वाहारकद्विकस्य द्विर्बन्धासंभवात् । कुतः ? अप्रमत्तगुणस्थानकजघन्यविरहकालापेक्षया मार्गणावस्थानोत्कृष्टकालस्याऽल्पत्वात् । ततः किम् ? उच्यते–अप्रमत्तगुणस्थानके आहारकद्विकं बद्ध्वा षष्ठगुणस्थानकमागत्य पुनः सप्तमगुणस्थानकं गत्वा यावता च तद्बन्धमारभते तावता मार्गणाया एवाऽपगम इति कृत्वा । श्रेणौ कालं कृत्वा दिवं प्राप्तस्य मार्गणाऽवस्थानेऽपि तद्बन्धप्रायोग्यगुणस्थानकाभावाच्च न तदन्तरावकाशः । शुभध्रुवबन्धिन्यष्टकजिननामरूपाणां नवानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः प्राप्यत एव, दिवंगतस्यापि प्रस्तुतमार्गणायास्तद्बन्धप्रायोग्यगुणस्थानकस्य चावस्थानात् । शेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, पञ्चेन्द्रियमार्गणावद् भावनीयम् ॥४३४॥ अथ औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामाह—

ओरालमीसजोगे ण वाऽत्थि धुवबंधितित्थणामाणं ।
सुरवेउव्वदुगाणं तह ओरालियसरीरस्स ॥४३५॥

(प्रे०) 'ओराले' त्यादि औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नः सुरद्विकवैक्रियद्विकयोरौदारिकशरीरनाम्नश्चानुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं 'ण' नास्ति, 'वा' त्ति वाकारस्य मतान्तरद्योतकत्वात् मतान्तरेणाऽस्तीतिभावः, किमुक्तं भवति ? यस्मिन्मते मार्गणा-चरमसमय एव ध्रुवबन्धिन्यादीनामुत्कृष्टरसबन्धः स्वीक्रियते तन्मते नास्ति, तद्बन्धकानां मार्गणा-द्विचरमसमयं यावदवश्यं नैरन्तर्येणाऽनुत्कृष्टरसबन्धोपलम्भात् । येन मतेन स्वस्थाने उत्कृष्टरसबन्धः, तन्मते तदस्ति, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकोत्कृष्टरसबन्धलक्षणस्यैकसामयिकान्तरस्य संभवादित्यर्थः । शेषाणामेकोनषष्टेरध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तर-मेकसमयः, तासामध्रुवबन्धित्वात् । ननु जिननामादीनामपि अध्रुवबन्धित्वात् कथमिह पृथगुपादानम् इति चेत् , उच्यते–प्रस्तुतमार्गणायां तद्बन्धस्वामिनां ध्रुवतया तद्बन्धोपलम्भात् ॥४३५॥

अथ वैक्रियमिश्रादिमार्गणयोराह–

वेउव्वमीसजोगे ण वाऽत्थि धुवबंधिसगुरलाईणं ।
आंहारमीसजोगे बारहसायाइवज्जाणं ॥४३६॥

(प्रे०) 'वेउव्वे' त्यादि वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनां 'उरलंपर-घूमासा बायरतिगजिणं' ति सप्तानामौदारिकशरीरनामादीनाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, मता-न्तरेणाऽस्ति तच्चैकसमयात्मकम् , भावनौदारिकमिश्रमार्गणावत् । शेषाणामष्टचत्वारिंशतः प्रकृ-तीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तासामध्रुवबन्धित्वादनुत्कृष्टरसबन्धद्वया-न्तराले एकसामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनाद्वा । औदारिकशरीरनामादीनामध्रुवबन्धित्वेऽपि तत्पृथगु-पादानन्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धासम्भवात् तासामिह मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । जिननाम्नोऽपि तद्बन्धकानां ध्रुवतया बन्धोपलम्भात् । आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां '....[1]माय। [1]हस्स [1]रइ [1]थिर [1]सुह [1]जसा [1] असाय [2]अरइ-[2]अथिरदुग [2]ऽजसं' इति गाथोक्तानां सातवेदनीयादीनां द्वादशा-नामध्रुवबन्धित्वेनैतासामनुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य सम्भवात् तद्वर्जानां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्ये-कमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं गाथापूर्वार्धस्थयोनवाशब्दयोरत्रानुकर्षणात् नास्ति, मतान्त-रेण चाऽस्ति तच्चैकसमयात्मकम् , तत्र ज्ञानावरणादीनां पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धित्वात् ,शेषाणामेकोन-विंशतेः मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । भावनात्रौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणावत् । सातवेदनीयादीनां द्वादशानां तदेकसमयः ॥४३६॥ अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोराह–

कम्माणाहारेसुं धुवउरलाण तह जाण अधुवाण ।
कालो अत्थि दुसमया भिमंतरं चेव णो हवए ॥४३७॥

(प्रे०) '**कम्माणे**' त्यादि कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारिमार्गणायाञ्च '**धुववरलाण**' त्ति एकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नः तथा '**जाण अधुवाण**' त्ति यासामध्रुवबन्धिनीनां देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टतः कालो द्वौ समयौ तासाञ्चेति सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, उत्कृष्टरसबन्धप्रयुक्तस्यैव तदन्तरस्य संभवात् संज्ञिनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषाञ्च प्रस्तुतमार्गणयोरुत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वात् । ततः किम् ? बन्धद्वयान्तरालस्यैवान्तरपदार्थत्वेनान्तरस्यानवकाशात् । तथा'... ... 'अवक्खमाणाण ......समयो' इति ग्रन्थकारवचनात् उक्तशेषाणामेकोनषष्टेरध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, एकेन्द्रियाणामपि तद्बन्धकत्वात् । एकेन्द्रियाणां प्रस्तुतमार्गणयोरुत्कृष्टकायस्थितेस्त्रिसामयिकत्वेन अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धस्य स्वाऽबन्धस्य वा प्रवर्त्तनात् ।

न च प्रस्तुतमार्गणायामेकेन्द्रियाणां त्रसप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धो न भवति, तत्कुतस्तानाश्रित्य शेषैकोनषष्टिप्रकृत्यन्तर्गतानां त्रसप्रायोग्याणां द्वीन्द्रियजातिनामादीनां प्रस्तुतान्तरस्य संभव इति वाच्यम्, सप्ततिकायामेकेन्द्रियाणामेकविंशतिप्रकृतीनामुदयस्थाने प्रवर्त्तमाने एकोनत्रिंशत्प्रकृत्यात्मकस्य त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकस्य चापि बन्धस्थानस्य प्रतिपादनात् । तथा च तद्ग्रन्थः–'एगिंदियस्स तेवीसं बंधमाणस्स पंचवि उदयट्ठाणाणि-२१-२४-२५-२६-२७ ।......एवं पणुवीस-छव्वीस-एगुणतीस-तीसबंधगाणं पि" इति उक्तशेषाणामेकोनषष्टेरध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतं यथोक्तं समयप्रमाणमन्तरं परावर्त्तमानबन्धप्रयुक्तमबन्धप्रयुक्तं वा प्राप्यते एव । ये केचनाऽतोऽन्यथा मन्वते तेषामभिप्रायेण प्रस्तुतप्ररूपणा स्वयं कर्त्तव्या, यतस्तेषां मते स्थावरप्रायोग्याणां स्थावरनाम्ना सह नियतबन्धवतीनामेकेन्द्रियजात्यादीनां बन्धकालस्य त्रिसामयिकत्वेऽपि नान्तरस्य संभवः, तद्यथा–स्थावरप्रायोग्यबन्धमाश्रित्य तासां ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन तदबन्धस्यासंभवात् नाऽबन्धप्रयुक्तमन्तरं, न वा विपरीतबन्धप्रयुक्तं, तासामप्युत्कृष्टरसबन्धकाः संज्ञिन एवेति कृत्वा इत्यलम् ॥४३७॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायां संभाव्यमानबन्धानामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं दर्शयति—

इत्थीए णेव भवे पसत्थधुवबंधितित्थणामाणं ।
अंतरमंतमुहुत्तं आहारदुगस्स विण्णेयं ॥४३८॥

(प्रे०) '**इत्थीए**' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायामष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चानुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कुतः ? उच्यते–श्रेण्यां तदबन्धं कृत्वा कालकरणेन देवत्वे पुरुषवेदित्वेनैवोत्पादेन, क्रमशः श्रेण्यारोहावरोहणयोरन्तराले वेदापगमेन च मार्गणाया विनाशात्, क्षपकश्रेणावेव तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भवेनोत्कृष्टरसबन्धानन्तरं बन्धस्यैवाभावाच्च । आहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च यदा तद्बन्धकोऽप्रमत्तादिगुणस्थानकतः प्रमत्तगुणस्था-

नकमागत्य तत्र जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमबन्धकतया स्थित्वा पुनः सप्तमगुणस्थानकं गत्वा तद्बन्धमारभते तदैव प्राप्यते, न तु श्रेणिमप्याश्रित्य, तत्रोपशमश्रेणावबन्धानन्तरं पुनर्बन्धात् प्राग् मार्गणाया एवापगमात् । क्षपकस्य तु पुनर्बन्धाभावात् । तथोक्तशेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं तदेकसमयः, तत्राऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां त्रिचत्वारिंशतोऽनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् षट्षष्टेरध्रुवबन्धिनीनां त्वध्रुवबन्धित्वादेव ॥४३८॥

अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह—

णपुमम्मि णेव हवए अट्ठण्ह सुहधुवबंधिपयडीणं
आहारदुगजिणाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४३९॥

(प्रे०) 'णपुमम्मी' त्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायामष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तच्च स्त्रीवेदमार्गणावद् भावनीयम् । आहारकद्विकजिननाम्नोस्त्वन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्र आहारकद्विकस्य भावनाऽनन्तरोक्तस्त्रीवेदमार्गणावत् । जिननाम्नस्तु यदा कश्चिद् बद्धनरकायुर्जिननामबन्धको मनुष्यो नरकाभिमुखावस्थायां मिथ्यादृष्टीभूय तदबन्धको भूत्वा नरकेऽपि अपर्याप्तावस्थायां मिथ्यात्वे तदबन्धकतया स्थित्वा पर्याप्तावस्थायां शीघ्रं सम्यक्त्वं समासाद्य पुनस्तद्बन्धं करोति तदा बद्धजिननाम्नो जघन्यतोऽपि मिथ्यात्वेऽवस्थानरूपमन्तर्मुहूर्त्तात्मकमन्तरं भवति । शेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां तदेकसमयः स्त्रीवेदमार्गणावद् भावनीयम् ॥४३९॥

अथ गतवेदादिमार्गणास्वाह—

गयवेए सव्वाणं पयडीणं होअए मुहुत्तंतो ।
अण्णाणतिगे मिच्छे सुहधुवबंधीण णेव भवे ॥४४०॥

(प्रे०) 'गयवेए' इत्यादि, गतवेदमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणामेकविंशतिलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , य उपशमश्रेणेः क्रमादारोहकोऽवरोहकश्च तमेवाश्रित्य तदन्तरस्य प्राप्यमाणत्वात् , तं चाश्रित्याबन्धकालस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् ।

अत्रापगतवेदमार्गणायां यद्यपि सर्वासामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमुक्तं तथापि अत्रार्थेऽल्पबहुत्वमेवं चिन्त्यते—ज्ञानावरणादीनां चतुर्दशानां सातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमल्पम् , उपशमश्रेणेरवरोहतः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकप्रथमसमय एव तदनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । ततः संज्वलनलोभस्य विशेषाधिकं, श्रेणेरवरोहतो नवमगुणस्थानकप्रथमसमये तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । ततः संज्वलनमायाया विशेषाधिकं, संज्वलनलोभबन्धप्रवर्त्तनानन्तरं तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । ततः संज्वलनमानस्य विशेषाधिकं, संज्वलनमायाबन्धप्रवर्त्तनानन्तरं तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । ततः संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिकं, मानबन्धानन्तरं तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । तथोक्तपञ्चा-

ल्पबहुत्वपदेषु पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरपदवर्तिप्रकृतीनां बन्धस्य पूर्वं पूर्वं व्यवच्छिद्यमानत्वात् तदपेक्षयाप्यन्तरस्याधिक्यं भावनीयम् ।

तथा मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानरूपासु तिसृषु मार्गणासु मिथ्यात्वमार्गणायाञ्च प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामष्टानामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं न भवति, ध्रुवबन्धित्वे सति अभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये एव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । उक्तशेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्र त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धबन्धप्रवर्त्तनात् , षट्षष्टेरध्रुवबन्धिनीनां त्वध्रुवबन्धित्वादेव ॥४४०॥अथ ज्ञानत्रिकादिषु मार्गणास्वाह–

भिन्नमुहुत्तं णेयं णाणतिगे ओहिसम्मुवसमेसुं ।
मज्झऽट्ठकसायाणं सुरविउवाहारजुगलाणं ॥४४१॥

(प्रे०) 'भिन्नमुहुत्त' मित्यादि, मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघ उपशमसम्यक्त्वमिति षट्सु मार्गणास्वप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां मध्याऽष्टकषायाणां देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकानाञ्चेति सर्वसंख्यया चतुर्दशप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं ज्ञेयम्, तद्यथा–कश्चिदविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरतः सर्वविरतो वा भूत्वा झगिति परिणामपातादविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरतो वा भवति तमाश्रित्य क्रमात् अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य च यथोक्तं जघन्यमन्तरं प्राप्यते, देशसर्वविरतत्वाऽवस्थानस्य जघन्यतोऽपि आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् ।अत्रेदमपि बोध्यम्–केषाञ्चिदाचार्याणां मते जघन्यतः सर्वविरतत्वमेकसामयिकमस्ति तेषां मतेन कषायाष्टकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेक एव समय इति । सुरद्विकादीनां षण्णां तूपशमश्रेणौ तदबन्धं कृत्वा ततोऽवरोहन् पुनस्तद्बन्धस्थानं प्राप्य सुरद्विकादीनां बन्धमारभते तमाश्रित्य यथोक्तमन्तरमायाति, श्रेणौ तदबन्धकालस्याऽऽन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । आहारकद्विकस्य तु गुणस्थानकान्तरगमनेनाऽपि यथोक्तमन्तरमायाति, षष्ठगुणस्थानकालस्य जघन्यत आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । शेषाणां सप्तषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्र मनुष्यपञ्चकस्यानुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले सामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । सातवेदनीयादीनां द्वादशानां परावर्त्तमानत्वात् । तथा पञ्चाशतः सामयिकाऽबन्धप्रवर्त्तनात् ॥४४१॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणयोराह–

मणणाणसंजमेसुं बारहसायाइवज्जपयडीणं ।
भिन्नमुहुत्तं तेसिं णव भवे देसमीसेसुं ॥४४२॥

(प्रे०) 'मणणाणे' त्यादि, मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणयोः प्रत्येकं सातवेदनीयादिद्वादशप्रकृतिवर्जानां, सातवेदनीयादीनां तु परावर्त्तमानत्वेनाऽनुत्कृष्टरसबन्धजघन्यान्तरस्यैकसा-

सामयिकत्वात् । शेषाणामिह बन्धार्हाणां षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, तच्चोपशमश्रेणेः क्रमेणाऽऽरोहन्तमवरोहन्तमाश्रित्य ज्ञेयं, श्रेणौ तद्बन्धकालस्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । ननु श्रेणौ समयं तद्बन्धं कृत्वा तत्क्षणं कालं कृत्वा दिवि तद्बन्धारम्भणात् एकसामयिकं तदनुत्कृष्टरसबन्धाऽन्तरं प्राप्यत इति चेन्न, तत्र प्रकृतमार्गणाऽपगमात् ।

देशविरतिमार्गणायां मिश्रमार्गणायां च 'तेसिं' ति सातवेदनीयादिवर्जानां तासां, तत्र देशविरतौ अष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां मिश्रमार्गणायाश्च षट्षष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कुत इति चेत्, देशविरतौ एकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धित्वात् देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसंस्थाननामप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रपुरुषवेदरूपाणामष्टादशानाञ्च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् जिननाम्नस्तु तद्बन्धकेन ध्रुवतया बध्यमानत्वेन ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् तदुत्कृष्टरसबन्धस्य च मार्गणाचरमसमय एव संभवात् । तथैव मिश्रमार्गणायां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वात् पञ्चेन्द्रियजातिप्रथमसंस्थाननामप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकोच्चैर्गोत्रपुरुषवेदरूपाणां चतुर्दशानां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् मनुष्यद्विकप्रथमसंहननदेवद्विकौदारिकद्विकवैक्रियद्विकानां तत्तद्बन्धकैर्ध्रुवतया बध्यमानत्वेन ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् तदुत्कृष्टरसबन्धस्याभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमय एव बध्यमानत्वाच्च । सातवेदनीयादीनां द्वादशानान्तूभयोर्मार्गणयोरेकसमयः, तासां परावर्त्तमानत्वात् ॥४४२॥

अथ सामायिकचारित्रादिमार्गणयोराह—

सामाइअछेएसुं आहारदुगस्स खलु मुहुत्तंतो ।
णव भवे सेसाणं बारहसायाइवज्जाणं ॥४४३॥

(प्रे०) '**सामाइअ०**' इत्यादि, सामयिकाख्यचारित्रमार्गणायां छेदोपस्थापनीयमार्गणायाञ्चाहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, तच्च सप्तमगुणस्थानकवर्त्ती कश्चिदाहारकद्विकबन्धकः षष्ठगुणस्थानकं गत्वाऽन्तर्मुहूर्त्तं यावत् तत्राऽबन्धकतया स्थित्वा पुनः सप्तमगुणस्थानकं समासाद्य तद्बन्धमारभते तदा प्राप्यते, न तूपशमश्रेणिमाश्रित्याऽपि, कुतः ? श्रेणौ कालकरणेन क्रमश उपशमगुणस्थानकगमनेन वा मार्गणाया अपगमात् । तथा शेषाणां सातवेदनीयादिवर्जानां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तासु ज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धित्वात् । पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । जिननाम्नो ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् । ततः किम् ? तत्राऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां मार्गणाचरमसमय उत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां क्षपकश्रेणावुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात्, अबन्धानन्तरं पुनर्बन्धात् प्रागेव मार्गणाया अपगमाच्च नोत्कृष्टरसबन्धप्रयुक्त न वाऽबन्धप्रयुक्तमन्तरं प्राप्यत इति । सातवेदनीयादीनां द्वादशानां तु एक समयः, तासां परावर्त्तमानत्वात् ॥४४३॥ अथ परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोराह—

परिहारे णो होइ असुहधुवबंधिसगवीसपुरिसाणं ।
आहारदुगस्सोघव्व णत्थि सुहुमम्मि सव्वेसिं ॥४४४॥

(प्रे०) **'परिहारे'** इत्यादि, परिहारविशुद्धिचारित्रमार्गणायामाद्यद्वादशकषायस्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्ववर्जानाम् सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य चेत्यष्टाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरस-बन्धस्यान्तरं नास्ति, तासामुत्कृष्टरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमय एव संभवात् । आहारकद्विकस्याऽनु-त्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमोघवदन्तर्मुहूर्त्तं, तच्च अनन्तरोक्तसामायिकमार्गणावद् भावनीयम् । अत्रापि श्रेणिमाश्रित्य तन्नायाति, परिहारिणः श्रेण्यारोहणायोगात् । उक्तशेषाणामष्टात्रिंशतः प्रकृ-तीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्राऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां देव-द्विकपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकप्रथमसंस्थाननामप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभग-त्रिकोच्चैर्गोत्ररूपाणां सप्तदशानां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां, तद्बन्धकेन ध्रुवतया बध्यमानस्य ध्रुवबन्धिकल्पस्य जिननाम्नश्चानुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्तनात् । साता-साते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती हास्यरती शोकारती चेति द्वादशानां सातवेदनी-यादीनान्तु परावर्त्तमानत्वात् ।

तथा सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां बध्यमानानां सर्वासां सप्तदशलक्षणानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरस-बन्धस्यान्तरं नास्ति, इहासां सर्वासां ध्रुवतया बध्यमानत्वे सति मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टरस-बन्धप्रवर्त्तनात् ॥४४४॥ अथ अयतादिमार्गणास्वाह—

अयते भिन्नमुहुत्तं जिणस्स ण सुहधुवबंधिणीण भवे ।
सुरविउव्वाहारदुगाणंतमुहुत्तं तु सुक्कखइएसुं ॥४४५॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'अयते' इत्यादि, असंयममार्गणायां जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तर-मन्तर्मुहूर्त्तं, जिननामसत्कर्मणो जघन्यतोऽपि मिथ्यात्वगुणस्थानकेऽन्तर्मुहूर्त्तं यावदवस्थानात् । तथा अष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां तु न भवति, ध्रुवबन्धित्वे सति मार्गणाचरमसमय एव तदुत्कृष्टरसबन्ध-प्रवर्तनात् । तथोक्तशेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्र त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त-नात् । पट्षष्टेस्तु अध्रुवबन्धित्वात् । तथा 'सुक्कखइएसु' ति शुक्ललेश्यामार्गणायां क्षायिकसम्य-क्त्वमार्गणायाञ्च देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकरूपाणां षण्णामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तर-मन्तर्मुहूर्त्तम् ,भावना त्रिज्ञानमार्गणावत् । नवरमत्र शुक्ललेश्यामार्गणायामाहारकद्विकस्य षष्ठगुणस्थान-कगमनेन यथोक्तमन्तरं नैव वाच्यम् , सप्तमगुणस्थानकात् षष्ठगुणस्थानकमागत्य जन्तोः पुनः सप्तम-गुणस्थानके गमनात् प्राग् मार्गणाया विनष्टत्वात् । तथा शुक्ललेश्यामार्गणायामुक्तशेषाणां शतप्रकृ-

तीनां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां पञ्चसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः,'............अवक्खमाणाण समयो' इति ग्रन्थकारवचनात् ॥४४५॥

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

मज्झऽट्ठकसायाणं विण्णेयं वेअगे मुहुत्तंतो ।
पुरिससगवीससेसअसुहधुवबंधीण णेव भवे ॥४४६॥

(प्रे०) 'मज्झ०' इत्यादि क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामष्टानां मध्यकषायाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, सामयिकसर्वविरत्यभिगन्तृमतेन तदेकसमयोऽपि भवति। अत्र भावना त्रिज्ञानमार्गणावत्। तथा पुरुषवेदस्य सप्तविंशतेः च शेषाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, प्रस्तुतमार्गणायां नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भे सति मार्गणाचरमसमय एव तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात्। उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः ॥४४६॥ अथ सास्वादनमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

सासाणे जम्मि मये बायालीसाअ अप्पसत्थाणं ।
धुवबंधीण अहिमुहो सामी सिं अंतरं णत्थि ॥४४७॥

(प्रे०) 'सासाणे' इत्यादि, सास्वादनसम्यक्त्वमार्गणायां मतद्वयस्य सद्भावाद् यस्मिन् मते द्विचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां स्वामी, उत्कृष्टरसबन्धस्येति प्रकरणगम्यम् 'अहिमुहो' त्ति सास्वादनस्य नियमात् संक्लिश्यमानत्वेन मिथ्यात्वाभिमुखः, तस्मिन् मते तासामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, यतोऽप्रशस्तध्रुवाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं विरुद्धरसबन्धप्रयुक्तमेव प्राप्यते, इह तु मार्गणाद्विचरमसमयं यावन्नैरन्तर्येण तदनुत्कृष्टरसबन्धस्यैव सद्भावः। मार्गणाचरमसमय उत्कृष्टरसबन्धाख्यस्य विरुद्धरसबन्धस्य संभवेऽपि सकृदुत्कृष्टरसबन्धानन्तरं मार्गणाया एवाऽपगमात् नैव प्राप्यते प्रस्तुतमन्तरमिति। तथा 'अवक्खमाणाण समयो' इति ग्रन्थकारवचनादुक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां षष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः। मतान्तरेण तु सर्वासामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, अप्रशस्तध्रुवाणामप्युत्कृष्टरसबन्धस्य मार्गणाया द्विचरमादिसमयेऽपि स्वीकारेणाऽस्मिन् मते विरुद्धरसबन्धप्रयुक्तस्यान्तरस्य संभवात्।

'अनरमाहारजुगले' त्यादि गाथाभिः षष्टिमार्गणासु प्रत्येकं संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं भावितम्। अथ पारिशेष्याद् गम्यमानासूक्तातिरिक्तासु मार्गणासु तद् भाव्यते, तद्यथा—उक्तातिरिक्तासु दशोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, कुतः ? तत्र कासाञ्चित् प्रकृतीनां परावर्त्तमानत्वात् कासाञ्चिद् ध्रुवबन्धिन्यादीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना बध्यमानत्वेनाऽनुत्कृष्टरसबन्ध-

द्वयान्तराले जघन्यत एकसामयिकोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । अथोक्तातिरिक्ता मार्गणाः—अष्टौ नरकभेदाः, पञ्चाऽपि तिर्यग्मार्गणाः, अपर्याप्तमनुष्यः, सर्वे देवभेदास्ते च त्रिंशत्, पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रिययोरुक्तत्वात् तद्वर्जेन्द्रियमार्गणास्ताश्च सप्तदश, द्वित्रसवर्जचत्वारिंशत्कायमार्गणाः, वैक्रियकाययोगः, आहारककाययोगः, शुक्लायामुक्तत्वात् तद्वर्जलेश्यापञ्चकम्, अभव्यः, असंज्ञीति दशोत्तरशतं मार्गणानाम् ॥४४७॥ मार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं निरूप्य तास्वेव संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं निरुरूपयिषुरादौ नरकादिमार्गणास्वाह—

उक्कोसं सव्वणिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
हीणा गुरुकायठिई मिच्छाइगअट्ठवीसाए ॥४४८॥

(प्रे०) 'उक्कोस' मित्यादि, सर्वेषु नरकभेदेषु तृतीयाद्यष्टमान्तदेवभेदेषु चेति सर्वसंख्यया चतुर्दशसु मार्गणासु प्रत्येकम् '..... मिच्छ थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा। संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं । तिरियदुगुज्जोअ .....' इत्यन्तरद्वारमत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मिथ्यात्वादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'हीणा' त्ति देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, मार्गणाऽऽद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तसत्कमिथ्यात्वकालं विहाय शेषसम्यक्त्वावस्थायां तद्बन्धाभावात् ॥४४८॥

अथ तत्रैव शेषध्रुवबन्धिन्यादीनां तदाह—

सेसधुवबंधिणीणं दसुरलुवंगाइगाण दो समया ।
णो चेव होइ बंधो जिणस्स तुरियाइणिरयेसुं ॥४४९॥

(प्रे०) 'सेस०' इत्यादि, अष्टानामनन्तरगाथायामुक्तत्वात् शेषाणां त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां मिथ्यात्वाद्यष्टवर्जानाम् प्रकृतीनां तथा ......'उरलुवंगाणि । उरलं परघूसासा बायरतिगजिणणिमिणतसे' ति औदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनां दशानां च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले उत्कृष्टाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात्, उत्कृष्टरसबन्धस्य च नैरन्तर्येणोत्कृष्टतोऽपि द्विसामयिकत्वात् । अथात्रैव विशेषं दर्शयति 'णो चेवे' त्यादिना, चतुर्थादिसप्तमान्तनरकेषु जिननाम्नो बन्धाभावात्तासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनां नवानामेवाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य द्वौ समयौ अन्तरं ज्ञेयमिति भावः ॥४४९॥

अथ तत्रैवोक्तशेषाणां तदाह—

सेसाण मुहुत्तंतो णवरि भवे णिरयचरमणिरयेसुं ।
देसूणा उक्कोसा कायठिई णरदुगुच्चाणं ॥४५०॥

(प्रे०) 'सेसाणे' त्यादि, सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदो मनुष्यद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः स्थिरषट्कमस्थिराऽशुभेऽयशःकीर्त्तिनामोच्चै-

गोत्रञ्चेत्युक्तशेषाणां द्वाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, तासामधस्तनगुणस्थाने परावर्त्तमानत्वे सति स्वोत्कृष्टगुणस्थाने बध्यमानत्वात् । ततः किम् ? उच्यते—याः प्रकृतयोऽधस्तनगुणस्थानकेषु स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्या बध्यन्ते मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानकेऽपि च बध्यन्ते तासामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, न तु ततोऽप्यधिकमिति नियमात् ।

नरकौघे चरमनरकमार्गणायाश्च मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, मिथ्यादृष्टेः सप्तमनरकनारकस्य तद्बन्धाभावात् । अत्र चतुर्ष्वन्यतमेन हेतुना विवक्षितप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं प्राप्यते, तद्यथा—(१) विवक्षितप्रकृतीनां भवप्रत्ययाऽबन्धात्-(२) तासां गुणप्रत्ययाऽबन्धात् (३) तावत्कालं तासामुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् (४) विवक्षितप्रकृतीनां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वाद् वा । प्रकृते संहननपञ्चकादीनां यथोक्तमन्तरं गुणप्रत्ययाऽबन्धात् । ज्ञानावरणादीनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनाञ्च तदुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । सातवेदनीयादीनां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । भवप्रत्ययाऽबन्धात्तु अनन्तरवक्ष्यमाणतिर्यग्गत्योघमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तत्प्राप्यते, तेजोवायुषु भवप्रत्ययादेव स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् ॥४५०॥

अथ तिर्यगोघमार्गणायामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह—

तिरिये मिच्छाईणं णवण्ह पल्लाऽत्थि तिण्णि देसूणा ।
ओघव्व जाणियव्वं णवण्ह णिरयाइगाणं तु ॥४५१॥

(प्रे०) '**तिरिये**' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां '······ मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथी' इति नवानां मिथ्यात्वादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि, तच्च गुणप्रत्ययाऽबन्धात्, तद्यथा—युगलिकतिर्यक् स्वोत्पत्त्यनन्तरं पर्याप्तावस्थायां यथासमयं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं प्राप्य स्वायुषो द्विचरमान्तर्मुहूर्त्तं यावत् सम्यक्त्वगुणबलात् तद्बन्धं न करोति तदा यथोक्तमन्तरं प्राप्यते । तथा '[२]णिरय[२]सुर[२]विउव्वदुगं[१]उच्च[९]णरदुगे' ति नरकद्विकादीनां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, तद्यथा—नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकानामसङ्ख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, तावत्कालं भवप्रत्ययबन्धाभावात्, स चैवम्—पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वे तद्बन्धं विधाय जातिचतुष्कं गतस्य साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् तद्बन्धासम्भव इति । तथा मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोका असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयावसर्पिण्युत्सर्पिण्य इत्यर्थः, तेजोवायूनां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावद् भवप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात् ॥४५१॥ अथ तत्रैव नपुंसकवेदादीनां तदाह—

देसूणा पुव्वाणं कोडी णपुमाइअट्ठवीसाए ।
दुइअकसायाण तहा तिण्हं वइराइगाण भवे ॥४५२॥
सेसधुवबंधिणीणं गुणचत्ताए दुवे समया ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥४५३॥ (उपगीतिः)

(प्रे०) **देसूणे**'त्यादि·······[1]णपुमा । [4]संघयणा[4]गिइपणगं[3]दुहगतिगं[1]कुखगई[1]णीअ ।[2]तिरियदु[1]गुज्जो[1]आयव[1]थावर[1]एगिंदि[3]सुहुम[3]विगलतिग । मिति नपुंसकवेदादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां चतुर्णामप्रत्याख्यानावरणकषायाणां प्रथमसंहननौदारिकद्विकयोश्चाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वाणां कोटिः देशोना, गुणप्रत्ययबन्धाभावात् , **तद्यथा**–पूर्वकोट्यायुष्कः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्याप्तावस्थायां यथासमयं सम्यक्त्वं प्रतिपद्य तद्वशाद् भवद्विचरमान्तर्मुहूर्तं यावद् नपुंसकवेदादीनामबन्धं करोति । नवरमत्राप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्यान्तरं देशविरतमाश्रित्य वाच्यम् ,अविरतसम्यग्दृष्टेस्तु तद्बन्धसद्भावात् । तथा मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां द्वादशानामन्तरस्यात्रैव पृथगुक्तत्वादेकोनचत्वारिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तासां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टे पञ्चमगुणस्थानकेऽपि ध्रुवतया बन्धसद्भावेन तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धस्य संभवात् । तथोक्तशेषाणामिह बन्धप्रायोग्याणां सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसदशकमस्थिराशुभेऽयशःकीर्तिनाम चेति पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , अधस्तनगुणस्थानकेषु परावर्तमानत्वे सति मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानकेऽपि बध्यमानत्वात् ॥४५२-४५३॥ अथ त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्वाह—

तिपणिंदियतिरियेसुं देसूणा य पलिओवमा तिण्णि ।
मिच्छाईण णवण्हं उक्कोसं अंतरं णेयं ॥४५४॥
देसूणा पुव्वाणं कोडी णपुमाइअट्ठवीसाए ।
दुइअकसायाणं तह णिरयणरुरलदुगवइराणं ॥४५५॥

(प्रे०) '**तिपणिंदिये**' त्यादि, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियः तिर्यग्योनिमतीति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीवेदरूपाणां नवानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि, तावत्कालं युगलिनो गुणप्रत्ययबन्धाभावात्, अत्र भावना तिर्यगोघमार्गणावत् । तथा '······णपुमा । संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं । तिरियदुगुज्जोआयवथावरएगिंदिसुहुमविगलतिग' मिति नपुंसकवेदादीनामष्टाविंशतेः प्रकृ-

तीनां चतुर्णामप्रत्याख्यानावरणकषायाणां नरकद्विकमनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नां चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वाणां कोटिः, कर्मभूमिजपञ्चेन्द्रियतिरश्चां तावत्कालं सम्यक्त्वादिगुणबलेन तद्बन्धाभावात् । अत्रापि भावना तथैव ॥४५४-४५५॥

अथ तत्रैव शेषध्रुवबन्धिन्यादीनां तदाह—

सेसधुवबंधिणीणं गुणचत्ताए भवे दुवे समया ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं सप्पाउग्गाण सेसाण ॥४५६॥

(प्रे०) 'सेस०' इत्यादि, मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्काणां प्राक्पृथगुक्तत्वात् तद्वर्जशेषध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणादीनामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले उत्कृष्टतमतावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथाहारकद्विकजिननाम्नोरिहाऽप्रायोग्यत्वादुक्तशेषाणां स्वप्रायोग्याणां त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं तदन्तर्मुहूर्त्तम्, नाम्नां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानकेऽपि बध्यमानत्वादध्रुवबन्धित्वाच्च । याश्च मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टेऽपि गुणस्थानके बध्यन्ते अध्रुवबन्धिन्यश्च सन्ति तासामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तादधिकं नैवाऽऽयातीतिभावः । न च स्त्रीवेदस्याऽध्रुवबन्धित्वेऽपि कुतस्तदनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि इति वाच्यम्, तस्य मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टे पञ्चमे गुणस्थानके बन्धाभावात् । तथैव ज्ञानावरणादीनां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टे गुणस्थानके बन्धसद्भावेऽपि तासामध्रुवबन्धित्वाभावादेव न तदनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं किन्तु द्वौ एव समयाविति । इमाश्च तास्त्रिंशत्प्रकृतयः,—देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं समचतुरस्रसंस्थाननाम शुभविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसदशकं हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः उच्चैर्गोत्रं सातासाते अस्थिराशुभायशःकीर्त्तिनामानि चेति ।४५६॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु तदाह—

होइ अपज्जत्तेसुं पणिंदितिरिणरपणिंदियतसेसुं ।
एगिंदियविगलिंदियकायपणगसव्वभेएसुं ॥४५७॥
धुवबंधिउरालाणं सव्वेसुं तेउवाउभेएसुं ।
तिण्हं तिरियाईण वि जाणेयव्वं दुवे समया ॥४५८॥

(प्रे०) 'होई' इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्योऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्तत्रसकायस्तथा सर्वभेदशब्दस्य सर्वत्राभिसम्बन्धात् सर्वैकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, सर्वविकलेन्द्रियभेदास्ते च नव, पृथ्वीकायादिवनस्पतिकायावसानकायपञ्चकसर्वभेदास्ते चैकोनचत्वारिंशत् इति सर्वसंख्ययैकोनषष्टौ मार्गणासु प्रत्येकमेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं

द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धबन्धप्रवर्त्तनात् । अथ तेजोवायुभेदेषु विशेषमाह, '**सव्वेसु**' मित्यादि, सर्वेषु चतुर्दशरूपेषु तेजोवायुभेदेषु तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामप्यनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं द्वौ समयौ, तासां तत्र मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् ॥४५७-४५८॥ अथ तत्रैवोक्तशेषाणां तदाह—

सेसाण मुहुत्तंतो बोद्धव्वं णवरि णरदुगुच्चाणं ।
एगिंदिये तहा से सुहुमम्मि असंखिया लोगा ॥४५९॥
तेसिं कम्मठिई वा बायरएगिंदियम्मि णायव्वं ।
से पज्जत्ते तेसिं सहस्सवासाऽत्थि संखेज्जा ॥४६०॥

(प्रे०) '**सेसाणे**' त्यादि, अनन्तरोक्तास्वेकोनपष्टौ मार्गणासूक्तशेषणामेकोनषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, प्रकृतिबन्धान्तरस्य तावन्मात्रत्वात्, **तद्यथा**-सप्तपञ्चाशतः परावर्त्तमानत्वात् पराघातोच्छ्वासनाम्नोस्तु प्रतिपक्षप्रकृत्यभावेऽपि परावर्त्तमानसहचारित्वात् । अत्र हि विशेषचिन्तायां चतुर्दशलक्षणेषु सर्वतेजोवायुभेदेषु त्रिपञ्चाशत एव प्रकृतीनामिति वाच्यम्, तत्र तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः पृथगुक्तत्वान्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोश्च बन्धानर्हत्वात् । अथात्रैवैकेन्द्रियौघादौ विशेषं दर्शयति मूलकारः '**णवरि**' इत्यादिना, एकेन्द्रियौघमार्गणायां '**से सुहुमम्मि**' त्ति सूक्ष्मैकेन्द्रियौघमार्गणायाञ्च मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं न वाच्यम् किन्त्वसंख्येया लोका असंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः, कुतः ? तेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिं यावत् तदबन्धोपलम्भात् । तथा बादरैकेन्द्रियमार्गणायां '**तेसिं**' ति मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं '**कम्मठिई** वा' कर्मस्थितिः सप्ततिः कोटिकोटयः सागरोपमाणामित्यर्थः, बादरतेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । वाकारस्य मतान्तरद्योतकत्वात् **मतान्तरेण** अङ्गुलाऽसंख्येयभागगताऽऽकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयराशिनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, एतन्मते बादरतेजोवाय्वोः संयुक्तोत्कृष्टकायस्थितेस्तावत्प्रमाणत्वात् । तथा '**से पज्जत्ते**' त्ति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियमार्गणायां तासां मनुष्यद्विकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं संख्येयानि वर्षसहस्राणि, पर्याप्तबादरतेजोवाय्वोरत्रान्तर्भावात् तदुत्कृष्टकायस्थितेश्च तावन्मितत्वात् । ततः किम् ? तावत्कालं भवस्वभावेन तद्बन्धस्यैवाऽभावात् ॥४५९ ४६०॥ अथ त्रिमनुष्यमार्गणासु तदाह—

तिण्णय माणुस्से से पज्जत्तम्मि जोणिणीए य ।
मिच्छाईण णवण्हं ऊणा पलिओवमा तिण्णि ॥४६१॥

देसूणा पुव्वाणं कोडी णपुमाइअट्ठवीसाए ।
अडमज्झकसायाणं णिरयणरुरलदुगवइराणं ॥४६२॥
णेयं कोडिपुहुत्तं पुव्वाणाऽऽहारतणुउवंगाणं ।
सेसाणं पयडीणं छासट्ठीए मुहुत्तंतो ॥४६३॥

(प्रे०) '**विण्णेय**' मित्यादि, मनुष्यौघमार्गणायां '**से पज्जत्तम्मि**' त्ति तस्य पर्याप्तभेदे पर्याप्त-मनुष्यमार्गणायामित्यर्थः तथा सेशब्दस्याऽत्रापि योजनात् तस्य योनिमत्यां मानुषीमार्गणायामित्यर्थः इत्येवं तिसृषु मार्गणासु ' मिच्छ थीणद्धितिगमणचउगथी··· ' इति मिथ्यात्वादीनां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं '**ऊणा**' त्ति देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि, प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात्, **तद्यथा**–कश्चिन्मिथ्यादृष्टिः त्रिपल्योपमात्म-कोत्कृष्टस्थितिको युगलिकोऽपर्याप्तावस्थायां तद्बन्धं करोति, पर्याप्तावस्थायां थासमयं क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वं समासाद्य तदबन्धको भवति, सम्यग्दृशां सम्यक्त्वगुणप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात् । ततः स्व-भवचरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं गतः सन् पुनस्तद्बन्धमारभत इति । तथा '**णपुमाइअट्ठवीसाए**' त्ति '··· ···णपुमा । सघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं ॥ तिरियदुगुज्जोआयवथावरएगिंदिसुहुमविगल-तिगं' मिति नपुंसकवेदादयोऽष्टाविंशतिः तथा अष्टौ मध्यमकषाया नरकद्विकमनुष्यद्विकौदारिकद्विक वज्रर्षभनाराचानि चेति सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वकोटिः, तत्र नपुंसकवेदादीनामष्टाविंशतेर्नरकद्विकादीनां च सप्तानां तत् संख्येयवर्षायुष्कमनुज-तिरश्चां सम्यक्त्वान्तरस्योत्कृष्टतोऽप्येतावन्मात्रत्वात् । न च युगलिकानां सम्यक्त्वान्तरमाश्रित्याऽतो-ऽप्यधिकतरमन्तरं संभवतीति वाच्यम्, **बन्धद्वयान्तरालस्यैवान्तरपदार्थत्वात्** । तेषां तु पर्याप्ता-स्थायां तद्बन्धस्यैवाभावात् । अष्टानां मध्यकषायाणां सर्वविरतिप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् सर्वविरति-कालस्य तूत्कृष्टतो यथोक्तप्रमाणत्वात् । यद्यप्यप्रत्याख्यानचतुष्कस्यान्तरं देशविरतिप्रयुक्तमपि संभ-वति तथापि तत्कालस्यापि तावन्मित्वात् न ततोऽधिकमन्तरम् । तथा '**आहारतणुउवंगाणं**' त्ति आहारकद्विकस्य पूर्वकोटिपृथक्त्वं प्रस्तुतमार्गणासु सर्वविरत्यन्तरस्योत्कृष्टतो यथोक्तमानत्वात् । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां षट्षष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, तत्र कामाञ्चित् स्वबन्धद्वयान्तराले तावत्कालं स्वाबन्धप्रवर्त्तनात् कामाञ्चिच्च परावर्त्तमानत्वेन स्व-बन्धद्वयान्तरालेऽन्तर्मुहूर्त्तं यावत् स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनात् । इमाश्च ताः षट्षष्टिप्रकृतयः,-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं वेदनीयद्विकं संज्वलनचतुष्कं हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पुरुषवेदः देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियद्विकं प्रथमसंस्थाननामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्त-ध्रुवबन्धिन्यष्टकमुपघातनाम पराघातोच्छ्वासौ जिननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसदशकमस्थिराशुभे अयशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकमिति ॥४६१-४६३॥

अथ देवौघमार्गणायामाह—

देवे मिच्छाईओ पणवीसाए य तिण्ह तिण्ह कमा ।
उवरिमगेविज्जऽट्ठमदुइअसुरूणगुरुकायठिई ॥४६४॥
सेसधुवबंधिणीणं सत्तण्हुरलाइगाण य हवेज्जा ।
दो समया सेसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४६५॥

(प्रे०) 'देवे' इत्यादि, देवौघमार्गणायां '**मिच्छाईओ**' त्ति '**पणवीसाए**' त्ति 'मिच्छ थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा । संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं' इति मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् '**उवरिमगेविज्ज**' त्ति नवमग्रैवेयकसुरस्योत्कृष्टा कायस्थितिर्देशोना, अनुत्तरसुराणां तद्बन्धाभावात् ग्रैवेयकसुरस्य च सम्यक्त्वान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् । तथा '**तिण्ह**' त्ति तिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां तिसृणाम् '**अट्ठम**' त्ति सहस्रारसुरस्योत्कृष्टा कायस्थितिर्देशोना, आनतादिदेवानां तद्बन्धाभावात् सहस्रारसुरसम्यक्त्वान्तरस्य च यथोक्तमानत्वात् । तथा '**तिण्ह**' त्ति आतपस्थावरैकेन्द्रियजातिनामरूपाणां तिसृणां '**दुइअसुर**' त्ति ईशानसुरस्य देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, ईशानान्तानामेव सुराणां तद्बन्धकत्वात् ईशानसुरस्य च सम्यक्त्वान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् । तथा त्रिचत्वारिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनां 'उरलं परघूसासा बायरतिगजिण ...' इति सप्तानामौदारिकशरीरनामादीनाञ्च तद् द्वौ समयौ, तासामत्र निरंतरं बध्यमानत्वेनोत्कृष्टरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां पञ्चविंशतेः प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तासामध्रुवबन्धित्वेन कासाञ्चिद् बन्धद्वयान्तरालेऽन्तर्मुहूर्त्तं यावत्स्वाऽबन्धप्रवर्त्तनात् । परावर्त्तमानबन्धानान्तु बन्धद्वयान्तराले तावत्कालं स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनात् । इमाश्च ताः पञ्चविंशतिः प्रकृतयः,—सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम प्रथमसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रं पुरुषवेदश्चेति ॥४६४-४६५॥

अथेशानान्तसुरभेदेषु प्रकृतमाह—

ईसाणंतसुरेसुं णेयं मिच्छाइएगतीसाए ।
पयडीणं देसूणा सगसगकायट्ठिई जेट्ठा ॥४६६॥
सेसधुवबंधिणीणं सत्तण्हुरलाइगाण य दुसमया ।
भवणतिगे तित्थस्स ण बंधोऽण्णेसिं मुहुत्तंतो ॥४६७॥

(प्रे०) '**ईसाण**'त्ति, त्यादि, भवनपत्यादिष्वीशानान्तेषु पञ्चसु सुरभेदेषु प्रत्येकमनन्तरगाथाविवरणोक्तानां पञ्चविंशतेर्मिथ्यात्वमोहादीनां तिर्यग्द्विकोद्योताऽऽतपनामस्थावरनामैकेन्द्रियजातिरूपाणां षण्णाञ्चेति सर्वसंख्ययैकत्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं '**सगसग**' त्ति

तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना, सम्यग्दशां तद्बन्धाभावात् तत्तन्मार्गणासु मिथ्यात्वान्तरस्य चोत्कृष्टतो यथोक्तमानत्वात् । तथा त्रिचत्वारिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनामपराघातो-च्छ्वासबादरत्रिकजिननामरूपाणां सप्तानाञ्च द्वौ समयौ, हेतुर्देवौघवत् । किन्तु भवनपतिव्यन्तरो ज्योतिष्क इति तिसृषु मार्गणासु जिननाम्नो बन्धाभावादेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां द्वौ समयौ । 'अण्णेसिं' ति उक्तातिरिक्तानां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्त्तम् , अत्र हेतुः पञ्चविंशतिप्रकृतीनां नामानि चानन्तरगाथाविवरणतोऽवसातव्यानि ॥४६६-४६७॥

अथाऽऽनतादिदेवमार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह—

आणतपहुडिसुरेसुं गेविज्जंतेसु होइ कायठिई ।
उक्कोसा देसूणा मिच्छाईण पणवीसाए ॥४६८॥

(प्रे०) 'आणते' त्यादि, आनत-प्राणता-ऽऽरणा ऽच्युतरूपेषु चतुर्षु नवसु च ग्रैवेयकेषु देवेषु इति त्रयोदशसु मार्गणासु मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यो-त्कृष्टमन्तरं देशोना स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिः, सम्यक्त्वगुणबलात् तावत्कालं तद्बन्धाभावात् । देशोनत्वञ्चात्र मार्गणाऽऽद्यान्तर्मुहूर्त्ते मार्गणाचरमान्तर्मुहूर्त्ते च मिथ्यात्वदशायां तद्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् ॥४६८॥ अथ तत्रैव शेषध्रुवबन्धिन्यादीनां तदाह—

सेसधुवबंधिणीणं तह अडपरघाइणरुरलदुगाणं ।
दो समया सेसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४६९॥

(प्रे०) 'सेसे' त्यादि, त्रिचत्वारिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनां 'परघूसासा बायरतिगजिणपणिंदितसे' ति अष्टानां पराघातनामादीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकरूपाणां चतसृणाञ्चेति सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले उत्कृष्टतस्तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । 'सेसाणं' ति सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः वज्रर्षभनाराचनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम त्रसनाम स्थिरषट्कमस्थिराशुभेऽयशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रमिति उक्तशेषाणां विंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टेऽपि गुणस्थानके बध्यमानत्वादध्रुवबन्धित्वाच्च ॥४६९॥

अथ अनुत्तरसुरादिमार्गणास्वाह—

पंचसु अणुत्तरेसुं तह आहारे भवे मुहुत्तंतो ।
बारहसायाईणं सेसाण भवे दुवे समया ॥४७०॥

(प्रे०) 'पंचसु' इत्यादि, पञ्चसु अनुत्तरदेवमार्गणासु आहारककाययोगमार्गणायाञ्च '.....१साय । १हस्स१रइ१थिर१सुह१जसा१असाय१अरइ१अथिरदुग१ऽजसं' इति द्वादशानां सातवे-

दनीयादीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । तथोक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तत्र पञ्चसु अनुत्तरमार्गणासूक्तशेषाणां त्रिचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः पुरुषवेदः मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातनामोच्छ्वासनाम जिननामोच्चैर्गोत्रमिति त्रिषष्टेः प्रकृतीनाम् , आहारककाययोगमार्गणायान्तु पञ्चत्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः पुरुषवेदः देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातनामोच्छ्वासनाम जिननामोच्चैर्गोत्रमिति चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले तावत्कालमुत्कृष्टाख्यविरुद्धरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् ॥४७०॥ अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

पणसीइसागरसयं दुपणिंदितसेसु चक्खुसण्णीसु ।
णिरयदुगस्स अहियुदहितेत्तीसा सगसुराईणं ॥४७१॥
आहारदुगस्स भवे देसूणा उ ससजेट्ठकायठिई ।
ओघव्व जाणियव्वं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥४७२॥

(प्रे०) 'पणसीई' त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-चक्षुर्दर्शन संज्ञिरूपासु षट्सु मार्गणासु नरकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पञ्चाशीत्यधिकं शतं सागरोपमाणां, भवप्रत्ययगुणप्रत्ययबन्धाभावात् । देवद्विकवैक्रियद्विकोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकरूपाणां सप्तानां देवद्विकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, तानि चोत्कृष्टस्थितिकसप्तमनारकमाश्रित्य भावनीयानि । तथाऽऽहारकद्विकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिः, तद्यथा—पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायां साधिकं सागरोपमाणां सहस्रम् । पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणायां सागरोपमाणां शतपृथक्त्वम् । त्रसकायौघमार्गणायां संख्येयवर्षैरभ्यधिके सागरोपमाणां द्वे सहस्रे । पर्याप्तत्रसकायमार्गणायां मतद्वयापेक्षया कायस्थितिर्ज्ञेया । चक्षुर्दर्शनमार्गणायां साधिकं सागरोपमाणां सहस्रम् , मतान्तरेण द्वे सहस्रे सागरोपमाणाम् । संज्ञिमार्गणायां सागरोपमाणां शतपृथक्त्वम् । तथा 'सप्पाउग्गाण' मित्यादि, सुगमम् । तत्र 'मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा । संघयणागिइपणग दुहगतिगं कुखगई णोअ' इति मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वात्रिंशदधिकं सागरशतं, मिश्रसहितसम्यक्त्वकालस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् तावत्कालं च तद्बन्धाभावात् । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यमकषायाणां तद्देशोना पूर्वाणां कोटिः, सर्वविरतस्य तद्बन्धाभावात् सर्वविरत्युत्कृष्टाऽवस्थानस्य च यथोक्तप्रमाणत्वात् । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य तु देशविरतापेक्षयापि भावनीयम् । तिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां

तिसृणां त्रिषष्टयधिकं शतं सागरोपमाणाम् , तत्तत्प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । वज्रर्षभनाराचनामौदारिकद्विकरूपाणां तिसृणां साधिकं पल्योपमानां त्रिकं, त्रिपल्योपमात्मकोत्कृष्टस्थितिकस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्युगलिकस्य पूर्वभवसत्कदेशोनपूर्वकोटिचरमत्रिभागादाराभ्याऽऽभवं तद्बन्धाभावात् । आतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिः सूक्ष्मत्रिकं विकलेन्द्रियत्रिकमिति नवानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पञ्चाशीत्यधिकं शतं सागरोपमाणां, तत्तत्प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वात् । तथा पञ्चत्रिंशत् शेषध्रुवबन्धिन्यः सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसदशकम् अस्थिराशुभे अयशःकीर्तिनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम जिननाम चेति एकषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टतोऽपि तावत्प्रमाणत्वात् । अत्र भावनादिविस्तरः प्रकृतिबन्धग्रन्थादवसेयः ॥४७१-४७२॥ अथ पञ्चमनोयोगादिमार्गणास्वाह–

पणमणवयउरलेसुं तिचत्तअसुहधुवबंधिणीण भवे ।
दो समया सेसाणं छासट्ठीए मुहुत्तंतो ॥४७३॥

(प्रे०) 'पणमणे' त्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगौदारिककाययोगरूपास्वेकादशसु मार्गणासु त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, विरुद्धरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य सम्भवात् ,उत्कृष्टरसबन्धस्य चोत्कृष्टतोऽपि समयद्वयं यावदेव प्रवर्त्तनात् । न चोपशान्तमोहादौ तदबन्धमाश्रित्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमायातीति वाच्यम् , उपशान्तमोहादिजघन्याद्धासत्कान्तर्मुहूर्त्तापेक्षया मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिसत्कान्तर्मुहूर्त्तस्य लघुतरत्वात् । यद्यप्यौदारिककाययोगस्योत्कृष्टकायस्थितिः सुदीर्घा,तथापि संज्ञिनि तु साऽन्तर्मुहूर्त्तात्मिकैव । तथा 'सेसाणं' ति प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकमाहारकद्विकं जिननामेत्येकादशानामनुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य तज्जघन्यनिरूपणावसर एव निषिद्धत्वादुक्तशेषाणां षट्षष्टेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्त्तम् । तत्र सातवेदनीयादीनां परावर्त्तमानत्वात् ,पराघातनामादीनां पर्याप्तनाम्ना सहैव बध्यमानत्वेन परावर्त्तमानसहचारित्वात् ॥४७३॥

अथ काययोगमार्गणायामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह—

कायम्मि सोलसण्हं तइअकसायाइगाण दो समया ।
ओघव्व णरदुगुच्चाण मुहुत्तंतोऽत्थि सेसाणं ॥४७४॥

(प्रे०) 'कायम्मी' त्यादि , काययोगौघमार्गणायां '''' '''' तइअकसाया ॥ दुइअकसाया मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगे' ति गाथावयवोक्तानां प्रत्याख्यानावरणचतुष्कादीनां षोडशप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तावत्कालमन्तरा उत्कृष्टाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथा

मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां तदोघवद् भवति, तच्चाऽसंख्येयलोकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः, तेजोवायूत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । तथाऽऽहारकद्विकानुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य प्रागेव निषिद्धत्वात् उक्तशेषाणां नवनवतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तत्र पञ्चत्रिंशत उक्तशेषध्रुवबन्धिनीनामुपशमश्रेणावन्तर्मुहूर्तं यावदबन्धोपलम्भात् , चतुःषष्टेरध्रुवबन्धिनीनान्तु बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् ॥४७४॥ अथौदारिकादिमिश्रकाययोगमार्गणास्वाह--

उरलाइतिमिस्सेसु ण वाऽत्थि जाण पयडीण ताण भवे ।
दो समया सेसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४७५॥

(प्रे०) '**उरलाई**' त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोगमार्गणायाञ्च यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं '**ण वाऽत्थि**'त्ति विकल्पान्तरेणाऽस्ति, किमुक्तं भवति ? अनन्तरसमयभविष्यदौदारिककाययोगिन एवोत्कृष्टरसबन्धकत्वमिति स्वीकर्तृमतेन नास्ति,मार्गणाद्विचरमसमयं यावन्नैरन्तर्येणाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्यैव भावात् । स्वस्थानेऽप्युत्कृष्टरसबन्धाभिगन्तृमतेन चास्ति, अनुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तरोत्कृष्टरसबन्धसम्भवादिति भावः, तासां प्रकृतीनां तदुत्कृष्टतो द्वौ समयौ । अथ यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं प्रस्तुतमार्गणासु विकल्पान्तरेण द्वौ समयौ अस्ति ताः, तदन्याश्च दर्शयामः, तद्यथा--औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां देवद्विकवैक्रियद्विकयोरौदारिकशरीरनामजिननाम्नोश्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ,एतन्मतेऽनुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तरा तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्भवात् । ननु देवद्विकवैक्रियद्विकयोः परावर्त्तमानतया तदनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तमायातीति चेन्न, तयोरिह परावर्त्तमानत्वाभावात् , तदपि कुत इति चेत् , तद्बन्धकस्य सम्यग्दृष्टेर्नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भात् , मिथ्यादृष्टेस्तु तद्बन्धाभावाच्च । तथा नरकद्विकाहारकद्विकयोरत्र बन्धाऽनर्हत्वादुक्तशेषाणामेकोनषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । न च पराघातोच्छ्वासयोः प्रतिपक्षप्रकृत्यभावेन तद्बन्धस्य कुतः परावर्त्तमानत्वमिति वाच्यम् , तयोः पर्याप्तनामबादरनामसहचारित्वात् पर्याप्तनामबादरनाम्नोश्च परावर्त्तमानत्वात् । वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम बादरत्रिकं पराघातनामोच्छ्वासनाम जिननाम चेत्यौदारिकशरीरनामादीनां सप्तानाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, हेतुः पूर्ववत् । तथा औदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनामुक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां '...सायं । हस्सरइथिरसुहजसा असाय-अरइअथिरदुगऽजस ॥' इति प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां सातवेदनीयादीनां द्वादशानां प्रकृ-

तीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । शेषाणां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तत्र ज्ञानावरणादीनां पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धित्वात् । शेषाणां देवद्विकादीनां तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वादिति ॥४७५॥

अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह—

वेउव्वे विण्णेयं धुवबंधीण तह सगुरलाईणं ।
दो समया सेसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥४७६॥

(प्रे०) 'वेउव्वे' इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनां 'उरलं परघूसासा बायरतिगजिणं' ति औदारिकशरीरनामादीनां सप्तानाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तरोत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । न चौदारिकशरीरनामादीनां परावर्त्तमानत्वात् तासामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमायातीति वाच्यम् , तासामत्र मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । तथोक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तासामध्रुवबन्धित्वात् । इमाश्च ता अष्टचत्वारिंशत्—सातासातवेदनीये हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिः पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषटकं विहायोगतिद्विकं त्रसनाम स्थिरषट्कं स्थावरनामाऽस्थिरषटकमातपनामोद्योतनाम गोत्रद्विकञ्चेति ॥४७६॥ अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारमार्गणयोराह—

कम्माणाहारेसुं जेसिं पयडीण अंतरं हवए ।
ताण पयडीण अंतरमुक्कोसं वि समयो णेयं ॥४७७॥

(प्रे०) '**कम्मं**' त्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारिमार्गणायाञ्च '**जेसिं**' मित्यादि, सुगमम् । अथ यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं संभवति तदेव दर्शयामः,—एकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नो देवद्विकवैक्रियद्विकजिननाम्नाञ्चेति सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, उत्कृष्टरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् संज्ञिनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषान्तूत्कृष्टतोऽपि प्रस्तुतमार्गणयोर्द्विसमयस्थायित्वात् , बन्धद्वयान्तरालस्यैवान्तरपदार्थत्वेनान्तरस्यानवकाशादिति भावः । शेषाणामेकोनषष्टेरनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमस्ति, एकेन्द्रियाणामपि तद्बन्धकत्वात् , तच्चोत्कृष्टतोऽप्येक एव समयः, मार्गणाकायस्थितेरुत्कृष्टतोऽपि त्रिसामयिकत्वात् । इमाश्च ता एकोनषष्टिः,-सातासाते हास्यरती शोकारती त्रयो वेदा मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिपञ्चकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकं पराघातोच्छ्वासौ आतपोद्योतनाम्नी गोत्रद्विकञ्चेति ॥४७७॥ अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह—

थीअ पणवण्णपलिआ णेयं मिच्छाइएगतीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण बारहसुहमाइगाण भवे ॥४७८॥
देसूणपुव्वकोडी मज्झकसायऽट्ठगस्स दो समया ।
असुहधुवबंधिणीणं सेसाणं सत्तवीसाए॥४७९॥
देसूणं पल्लतिगं पंचणराईण जेट्ठकायठिई ।
आहारदुगस्सूणा सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥४८०॥

(प्रे०) 'थीअ' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां '"" मिच्छं थीणद्धितिगमणचउआथीणपुमा । संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअ ॥ तिरियदुगुज्जोआयवथावरएगिंदि' इति मिथ्यात्वमोहादीनामेकत्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'देसूणे' ति अन्तर्मुहूर्तादिनोनानि पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानि, उत्कृष्टस्थितिकेशानाऽपरिगृहीतदेव्याः सम्यक्त्वगुणप्रत्ययिकबन्धाभावात् । तथा सुहुमविगलतिगं । णिरयसुरविउवदुग' मिति सूक्ष्मत्रिकादीनां द्वादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् 'अब्भहिया' त्ति साधिकानि पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानि, उत्कृष्टस्थितिकेशानाऽपरिगृहीतदेव्या देवभवप्रत्ययिकबन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र ईशानदेव्याः प्राग्भवचरमान्तर्मुहूर्ते स्त्रीतयोत्पित्सोस्तस्या आगामिभवमत्काऽऽद्यान्तर्मुहूर्ते च तद्बन्धाभावात् । न चेशानदेव्याः पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् कुतस्तयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरे साधिकत्वमिति वाच्यम्, तस्या आगामिभवाऽऽद्यान्तर्मुहूर्ते तद्बन्धाभावात् । तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वाणां कोटिः, उत्कृष्टायुष्ककर्मभूमिजमानुष्याः सर्वविरतावस्थायां तद्बन्धाभावात्, सर्वविरत्युत्कृष्टावस्थानस्य च तावत्प्रमाणत्वात् । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तावन्काऽमुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । न च श्रेणौ तदबन्धं कृत्वोपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतन् पुनस्ता बध्नाति तमाश्रित्याऽन्तर्मुहूर्तं तदन्तरमायातीति वाच्यम्, तत्राऽबन्धानन्तरं यथासंभवं पुनर्बन्धात् प्रागेव मार्गणाऽपगमात् । तथा मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानां मनुष्यद्विकादीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनं पल्योपमत्रिकं, युगलिकस्त्रियो भवप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात्, देशोनत्वञ्चात्राऽपर्याप्तावस्थायां युगलिन्या अपि तद्बन्धस्य संभवात् । तथाऽऽहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, देशोनत्वश्चात्र यथासंभवं परिभावनीयम्, मार्गणाऽऽद्यन्तयोस्तद्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति प्रशस्तध्रुवाष्टकजिननामप्रकृतीनामन्तरस्य निषिद्धत्वादुक्तशेषाणां षड्विंशतिप्रकृती-

नामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तासामध्रुवबन्धित्वात् तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्याप्युत्कृष्टत आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । इमाश्च ताः षड्विंशतिः, सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः अस्थिराशुभेऽयशःकीर्त्तिनाम त्रसदशकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी उच्चैर्गोत्रं चेति ॥४७८-४८०॥ अथ पुरुषवेदमार्गणायामाह–

पुरिसम्मि दुवे समया संजलणावरणणवगविग्घाणं ।
तइअकसायाईणं तेत्तीसाएऽत्थि ओघव्व ॥४८१॥
तेवट्ठिसागरसयं चउदसतिरियाइगाण बोद्धव्वं ।
पंचण्ह णराईणं अब्भहियं होइ पल्लतिगं ॥४८२॥
साहियतेत्तीसुदही सुरविउवदुगाण जेट्ठकायठिई ।
आहारदुगस्सूणा सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥४८३॥

(प्रे०) **'पुरिसम्मि'** इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां संज्वलनचतुष्कज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्काऽन्तरायपञ्चकरूपाणामष्टादशानां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले तावत्कालं विरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । श्रेणौ तु मार्गणाचरमसमयं यावत्तद्बन्धसद्भावाद् नैवाऽऽयाति श्रेणिमाश्रित्याऽन्तर्मुहूर्तं तदनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमिति । तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्काख्यद्वितीयकषायादीनां त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, **तद्यथा**–अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणां देशोना पूर्वाणां कोटिः, सर्वविरतस्य तावत्कालं तद्बन्धाभावात् । '... मिच्छं थीणद्धितिगमणचउत्थीणपुमा । संघयणागिइपणगं दुहगतिग कुखगई णीअं' इति मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां द्वात्रिंशं सागरोपमशतं, मिश्रान्तरितसम्यक्त्वकाऽस्योत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात्, तत्र च तद्बन्धाभावात् । तथा 'तिरियदुगुज्जोआयवथावरविगिंदिसुहुमविगलतिगं । रिवण .. दुगं' इति तिर्यग्द्विकादीनां चतुर्दशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं त्रिषष्ट्युत्तरशतं सागरोपमाणां, तावत्कालं भवप्रत्ययेन गुणप्रत्ययेन च तद्बन्धाभावात् । तद्यथा–एकत्रिंशत्सागरोपमाणि यावद् नवमग्रैवेयके, सागरोपमाणां द्वात्रिंशं शतं यावच्च मिश्रान्तरितसम्यक्त्वोत्कृष्टकाले तद्बन्धस्याऽसम्भवात् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपाणां पञ्चानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकानि त्रीणि पल्योपमानि, उत्कृष्टस्थितिकक्षायिकसम्यग्दृष्टेर्युगलिकस्याऽऽभवं तद्बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र देशोनपूर्वकोटित्रिभागेन विज्ञेयम्, तस्यानन्तरप्राग्मनुष्यभवे क्षायिकसम्यक्त्वप्राप्तेरनन्तरं तद्बन्धाभावात्, क्षायिकसम्यक्त्वासादनात् प्राग् देशोनत्रिभागावशेषे स्वायुषि युगलिकभवायुर्बन्धसद्भावात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्यो-

त्कृष्टमन्तरं साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सर्वार्थसिद्धसुरस्याऽऽभवं तद्बन्धाभावात्। साधिकत्वञ्चात्रोपशमश्रेणौ निवृत्तिबादरगुणस्थानके तदबन्धानन्तरमन्तर्मुहूर्तं यावत्तदबन्धकतया स्थित्वा सवेदित्वप्राक्क्षणे देवत्वाऽऽसादनात् । आहारकद्विकस्य प्रस्तुतमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, सागरोपमशतपृथक्त्वमित्यर्थः। देशोनत्वञ्चात्र वर्षपृथक्त्वेन ज्ञेयं, मार्गणाऽऽद्यन्तयोर्यथासंभवं तद्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् । उक्तशेषाणां चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्र निद्राद्विकं भयजुगुप्से अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः, अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामेति सप्तदशानां ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्च निवृत्तिबादरगुणस्थानकेऽबन्धानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तात् परतः पुरुषवेदोदयचरमसमये कालं कृत्वा दिवि पुनस्तद्बन्धारम्भणात् । सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसदशकमस्थिराशुभेऽयशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रमिति षड्विंशतेः परावर्त्तमानत्वाद् अध्रुवबन्धित्वाद् वा ॥४८१-४८३॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह—

णपुमे तेत्तीसुदही णेयं मिच्छाइअट्ठवीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण होइ णवण्हायवाईणं ॥४८४॥
देसूणपुव्वकोडी अडमज्झकसायतिवइराईणं ।
असुहधुवबंधिणीणं सगवीसाए दुवे समया ॥४८५॥
ओघव्व जाणियव्वं आहारदुगणिरयाइणवगाणं ।
सेसाणं पयडीणं छव्वीसाए मुहुत्तंतो ॥४८६॥

(प्र०) 'णपुमे' इत्यादि. नपुंसकवेदमार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीनपुंसकवेदौ आद्यवर्जसंहननपञ्चकम् आद्यवर्जसंस्थानपञ्चकं दुर्भगत्रिकं कुखगतिः नीचैर्गोत्रं तिर्यग्द्विकमुद्योतनाम चेति मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, उत्कृष्टस्थितिकसप्तमपृथ्वीनारकस्य सम्यक्त्वावस्थायां तद्बन्धाभावात् , देशोनत्वञ्चात्र तस्य भवप्रथमान्तिमान्तर्मुहूर्त्तयोर्मिथ्यात्वस्य सद्भावात् तत्र च तद्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् । 'आयवथावरणिगिदिसुहुमविगलतिग' मिति आतपनामादीनां नवानाम् '**अब्भहिया**'त्ति साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, उत्कृष्टस्थितिकसप्तमपृथ्वीनारकस्य तद्बन्धाभावात् ,साधिकत्वञ्चात्र तस्य पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्त्ते उत्तरभवप्रथमान्तर्मुहूर्त्ते च तद्बन्धाभावात् । तथाऽष्टानां मध्यमकषायाणां वज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वाणां कोटिः, पूर्वकोट्यायुष्कस्य मनुष्यस्य सर्वविरतत्वे तद्बन्धाभावात् । देशोनत्वञ्चात्र यथासंभवं तस्य भवाद्यन्तयोरविरतत्वे तद्बन्धस्य संभ-

वात् । तथा मिथ्यात्वमोहादीनां षोडशानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामत्रैव पृथगुक्तत्वात् सप्तविंशतेः शेषाशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तरोत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथाऽऽहारकद्विकस्य नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकमुच्चैर्गोत्रं मनुष्यद्विकमिति नवानां च नरकद्विकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, तद्यथा–आहारकद्विकस्य देशोनार्धपुद्गलपरावर्त्तः । तथा नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकमिति षण्णां प्रकृतीनामसंख्येयपुद्गलपरावर्त्ताः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, एकेन्द्रियेषु तद्बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्रैकेन्द्रियत उद्वृत्तस्य विकलेन्द्रियादिष्वपि तद्बन्धासम्भवात् । उच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकरूपाणां तिसृणामसंख्येया लोकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः, तेजोवायुषु तदुत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । 'सेसाणं' ति प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकानुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्याभावादुक्तशेषाणां षड्विंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्र सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसदशकमस्थिराशुभेऽयशःकीर्त्तिनाम चेति त्रयोविंशतेः परावर्त्तमानत्वात् । पराघातनामोच्छ्वासनाम्नोश्च परावर्त्तमानपर्याप्तनामादिसहचारित्वात् । जिननाम्नस्तु तद् , जिननामसत्कर्मणो मिथ्यादृग्नारकस्याऽपर्याप्तावस्थायां जिननामबन्धाभावात् ॥४८४ ४८६॥

अथ अपगतवेदादिमार्गणासु प्रकृतमाह—

ताणऽत्थि मुहुत्तंतो अवेअमणणाणसंजमेसु तहा ।
सामाइयछेएसुं देसे मीसे य जाण भवे ॥४८७॥

(प्रे०) 'ताणं' त्यादि, अवेदो मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकचारित्रं छेदोपस्थापनीयचारित्रं देशविरतिचारित्रं मिश्रसम्यक्त्वमिति सप्तसु मार्गणासु यासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं सम्भवति तासां तदुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, तद्यथा-अपगतवेदमार्गणायां बन्धार्हाणां सर्वासां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं संज्वलनचतुष्कं सातवेदनीयं यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रञ्चेति एकविंशतिप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , उपशमश्रेणौ तद्बन्धानन्तरं पुनर्बन्धान्तरालकालस्याऽऽन्तर्मौहूर्तिकत्वात् । मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामष्टषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तत्र सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां '....उवघाय पणिदितसचउगपरघूसासखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइ'''सुरविउव्वाहारजुगलाणि ॥' इति उच्चैर्गोत्रादीनामेकोनत्रिंशतो मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य जिननाम्नश्चेति सर्वसंख्ययाऽष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रकृतान्तरस्याऽबन्धप्रयुक्तस्य प्राप्यमाणत्वादुपशमश्रेणौ अबन्धकालस्य

चाऽऽन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । सातासाते हास्यरती शोकारती अस्थिराशुभे अयशःकीर्तिनाम यशःकीर्तिनाम चेति दशानां प्रकृतीनां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् । संयमौघमार्गणायां सर्वमविशेषेण मनःपर्यवज्ञानमार्गणावद् वाच्यम् । सामायिकछेदोपस्थापनीययोर्द्वयोर्मार्गणयोः प्रत्येकमष्टषष्टिः प्रकृतयो बन्धार्हाः, तत्र ज्ञानावरणादीनां सप्तविंशतेरप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामुच्चैर्गोत्रं पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसचतुष्कं पराघातनामोच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं प्रथमसंस्थाननाम देवद्विकं वैक्रियद्विकं जिननाम पुरुषवेदश्चेति सप्तविंशतेश्चोच्चैर्गोत्रादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तासामत्र नैरन्तर्येण बन्धोपलम्भात् तदुत्कृष्टरसबन्धस्य त्वभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये एवोपलम्भेन विरुद्धरसबन्धानन्तरसमये मार्गणापगमाच्च । सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इति द्वादशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तासां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् । आहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरमन्तर्मुहूर्तम् ; प्रस्तुतमार्गणयोस्तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । देशविरतिमार्गणायां सप्ततिः प्रकृतयो बन्धमर्हन्ति, तत्र ज्ञानावरणादीनामेकत्रिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामनन्तरोक्तानां सप्तविंशतेश्चोच्चैर्गोत्रादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, पूर्वोक्तादेव हेतोः । सातवेदनीयादीनां द्वादशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायामष्टसप्ततिः प्रकृतयो बन्धार्हाः, तत्र स्त्यानर्द्धयष्टकस्य बन्धाभावात् पञ्चत्रिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां, जिननाम्नोऽत्र बन्धाभावात् तद्वर्जानां पूर्वोक्तानां षड्विंशतेरुच्चैर्गोत्रादीनामौदारिकद्विकस्य मनुष्यद्विकस्य वज्रर्षभनाराचनाम्नश्चेति सर्वसंख्यया षट्षष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तद्बन्धकानामत्र सातत्येन तद्बन्धोपलम्भात् तदुत्कृष्टरसबन्धस्य त्वभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमय एव सद्भावात् । सातवेदनीयादीनां द्वादशानामन्तर्मुहूर्त्तं, तद्बन्धस्य परावर्तमानत्वात् ॥४८७॥ अथ क्रोधमार्गणायां संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह—

कोहे धुवबंधीणं दुणिद्दभयकुच्छणामवज्जाणं।
चउतीसाअ दुसमया चुलसीईए मुहुत्तंतो ॥४८८॥

(प्रे०) 'कोहे' इत्यादि, क्रोधमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणीयचतुष्कं स्त्यानर्द्धित्रिकं मिथ्यात्वमोहनीयं कषायषोडशकमन्तरायपञ्चकमिति चतुस्त्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, मिथ्यादृष्टेः कदाचिदनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले उत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धसम्भवात् । तथाऽऽहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्याऽसंभवादुक्तशेषाणां चतुरशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्र निद्रा-

द्विकं भयजुगुप्से तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमगुरुलघुनाम निर्माणनामोपघातनामेति सप्तदशानां ध्रुवबन्धिनीनामुपशमश्रेणौ तद्बन्धानन्तरमन्तर्मुहूर्तात् परतः कालं कृत्वा क्रोधोदयवत एव देवत्वे प्रकृतमार्गणामजहतस्तद्बन्धारम्भणात् । सप्तषष्टेस्तु अध्रुवबन्धित्वात् ॥४८८॥ अथ बहुसमानवक्तव्यात् मानादिषु तिसृषु कषायमार्गणासु क्रोधमार्गणावदतिदिशन्नाह—

एमेव कसायेसुं तीसुं माणाइगेसु बोद्धव्वं ।
णवरि कमा एगदुचउसंजलणाणं मुहुत्तंतो ॥४८९॥

(प्रे०) 'एमेवे' त्यादि, मानादिकेषु त्रिषु कषायेषु मानमायालोभमार्गणास्वित्यर्थः 'एमेव' क्रोधमार्गणावदेवानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं बोद्धव्यम् । अथात्र यो विशेषोऽस्ति तमेव दर्शयति 'णवरी' त्यादिना, तद्यथा–मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य, मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानयोः, लोभमार्गणायां संज्वलनक्रोधमानमायालोभानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमस्ति । किमुक्तं भवति ? संज्वलनक्रोधमार्गणायां संज्वलनचतुष्कस्य तद् द्वौ समयौ भवति, इह तु यथासंभवं संज्वलनक्रोधादेरन्तर्मुहूर्त्तम् , कुत इति चेत् , मानोदयेनोपशमश्रेणिमारूढोऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानके संज्वलनक्रोधबन्धविच्छेदात् परतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावत् तद्बन्धकतया स्थित्वा मायोदयभवनात् प्राग् मानोदयवानेव कालं कृत्वा देवत्वे तद्बन्धमारभते तमाश्रित्य मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमायाति । तथैव मायोदयेनोपशमश्रेणिमारूढोऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानके संज्वलनक्रोधमानयोर्बन्धविच्छेदात् परतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावत्तद्बन्धकतया स्थित्वा लोभोदयभवनात् प्राग् मायोदयवानेव कालं कृत्वा देवत्वे तद्बन्धमारभते, तदा मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानयोस्तदन्तर्मुहूर्तमायाति । तथा लोभोदयेनोपशमश्रेणिमारूढो नवमगुणस्थानकचरमसमये लोभबन्धविच्छेदात् परतोऽन्तर्मुहूर्त्तं दशमगुणस्थानके तद्बन्धकतया स्थित्वा सूक्ष्मलोभोदयवान् एव कालं कृत्वा देवत्वे तद्बन्धमारभते तदा लोभमार्गणायां संज्वलनचतुष्कस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमायाति, तावत्कालं तद्बन्धाभावात् ॥४८९॥

अथ मतिज्ञानादिमार्गणास्वाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते अंतरं मुणेयव्वं ।
अडमज्झकसायाणं कोडी पुव्वाण देसूणा ॥४९०॥
दोहि समयेहि अहिया कोडी पुव्वाण पणणराईणं ।
देवविउव्विदुगाणं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥४९१॥

साहियतेत्तीसुदही आहारदुगस्स अहव देसूणा ।
सगसगगुरुकायठिई सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥४९२॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, मतिज्ञानमार्गणायां श्रुतज्ञानमार्गणायामवधिज्ञानमार्गणायामवधिदर्शनमार्गणायां सम्यक्त्वौघमार्गणायामप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वाणां कोटिः, पूर्वकोटयायुष्कस्य मुनेस्तद्बन्धाभावात् । देशोनत्वं चात्र वर्षपृथक्त्वेन ज्ञेयम्, तस्य वर्षपृथक्त्वात् परत एव सर्वविरतिलाभात् । मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनामेति मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वाभ्यां समयाभ्यामभ्यधिका पूर्वाणां कोटिः, पूर्वकोटयायुष्कसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्याऽऽभवं तद्बन्धाभावात् । अभ्यधिकत्वञ्चात्रानन्तरप्राक्तनदेवभवचरमसमयद्विके तदुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्भवेन तदनुत्कृष्टरसबन्धस्याभावात् ।

देवद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सर्वार्थसिद्धसुरस्य त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमात्मकस्योत्कृष्टभवस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । अभ्यधिकत्वश्चात्रानन्तरप्राक्तनमनुष्यभवचरमान्तर्मुहूर्त्ते उपशमश्रेणौ तदबन्धात् । तद्यथा–कश्चिदुपशामको मुनिर्निवृत्तिबादरषष्ठभागे देवद्विकादेरबन्धं कृत्वा क्रमश उपशान्तमोहगुणस्थानकं प्राप्य तत्रान्तर्मुहूर्तं यावत् तदबन्धकतया स्थित्वोपशान्ताद्धाक्षयेण ततः प्रतिपतन् निवृत्तिबादरगुणस्थानके तद्बन्धप्राक्तनसमये कालं कृत्वा सर्वार्थसिद्धं स्वर्गमासादयति तत्र चाभवं तदबन्धकतया तिष्ठति इत्येवं प्रस्तुतासु मतिज्ञानादिमार्गणासु देवद्विकादेरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि भवति, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तावन्मितत्वात् । आहारकद्विकस्य तत् साधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, सर्वार्थसिद्धदेवस्य तद्बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र पूर्वभवसत्कान्तर्मुहूर्तेन तथोत्तरभवसत्कदेशोनपूर्वकोटिकालेन ज्ञेयम् । 'अहव'त्ति वाकारस्य मतान्तरद्योतकत्वात् **मतान्तरेण** प्रस्तुतमार्गणासु आहारकद्विकस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, भावना तु स्वयं कार्या ।

उक्तशेषाणां द्विषष्टेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । तत्र पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासजिननामत्रसचतुष्कसुभगत्रिकपुरुषवेदोच्चैर्गोत्राणां चोपशमश्रेणौ अबन्धानन्तरं प्रतिपतत उपशामकस्य पुनस्तद्बन्धान्तरस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् । सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्ति द्वादशानां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् ॥४९०-४९२॥

अथ अज्ञानद्विकादिमार्गणासु प्रकृतमाह—

दो समया विण्णेयं अण्णाणदुगम्मि मिच्छत्ते ।
असुहधुवबंधिणीणं तेयालीसाअ पयडीणं ॥४९३॥ (उपगीतिः)
देसूणं पल्लतिगं सोलसणपुमाइतिवइराईणं ।
तिण्हं तिरियाईणं अब्भहिया एगतीसुदही ॥४९४॥
साहियतेत्तीसुदही णवायवाईण होइ ओघव्व ।
णिरयाईण णवण्हं छव्वीमाए मुहुत्तंतो ॥४९५॥

(प्रे०) 'दो समया'इत्यादि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-मिथ्यात्वरूपासु तिसृषु मार्गणासु त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले उत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् उत्कृष्टरसबन्धस्य च नैरन्तर्येणोत्कृष्टतो द्विसामयिकत्वात् ।

नपुंसकवेदः संहननपञ्चकं संस्थानपञ्चकं दुर्भगत्रिकमप्रशस्तविहायोगतिर्नीचैर्गोत्रमिति नपुंसकवेदादीनां षोडशानां प्रकृतीनां वज्रर्षभनाराचनाम्न औदारिकद्विकस्य च देशोनं पल्योपमत्रिकं, युगलिकस्य पर्याप्तावस्थायां भवस्वभावेनैव तद्बन्धाभावात् । देशोनत्वश्चात्र तस्यापर्याप्तावस्थायां तद्बन्धस्य सम्भवात् । तथा तिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामभ्यधिकान्येकत्रिंशत् सागरोपमाणि, नवमग्रैवेयकसुरस्य भवप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात् । अभ्यधिकत्वश्चात्र तस्याऽनन्तरपूर्वमनुष्यभवचरमान्तर्मुहूर्ते देवद्विकबन्धसम्भवेनाऽऽगामिमनुष्यभवाद्यान्तर्मुहूर्ते च मनुष्यद्विकबन्धसम्भवेन तिर्यग्द्विकादिबन्धाभावात् ।

आतपनाम स्थावरनाम एकेन्द्रियजातिः सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकमिति आतपनामादीनां नवानां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सप्तमपृथ्वीनारकस्य भवप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र तस्य प्रागमनुष्यादिभवचरमान्तर्मुहूर्ते नरकप्रायोग्यबन्धसम्भवेन आगामितिर्यग्भवाऽऽद्यान्तर्मुहूर्ते च पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यबन्धसम्भवेनाऽऽतपनामादीनां बन्धाभावात् । नरकद्विकादीनां नवानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, तद्यथा नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकानां षण्णामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, एकेन्द्रियेषु तदुत्कृष्टकायस्थितिं यावत् तद्बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र तत उद्वृत्तस्य विकलेन्द्रियादिष्वपि तद्बन्धाभावात् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामसंख्येया लोकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयराशिविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः, तेजोवायून्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । तथा प्रस्तुतासु तिसृषु मार्गणास्वष्टानां प्रशस्तध्रुव-

बन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धस्याभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमये एव सम्भवः, तासां ध्रुवबन्धित्वात् नैरन्तर्येण बन्धोपलम्भेन च तदनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तराभावात् उक्तशेषाणां सातासाते हास्यरती शोकारती वेदद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम सुखगतिनाम त्रसदशकमस्थिराशुभे अयशःकीर्त्तिनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम चेति षड्विंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तं, तासामध्रुवबन्धित्वे सति प्रस्तुतमार्गणागतानां सर्वासां जीवानां परावृत्या तद्बन्धोपलम्भात् ॥४९३-४९५॥ अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टमन्तरं प्रचिकटयिषुराह —

असुहधुवबंधिणीण तेयालीसाअ होइ विब्भंगे ।
दो समया सेसाणं छासट्ठीए मुहुत्तंतो ॥४९६॥

(प्रे०) 'असुहे' त्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले तावत्कालं विरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथाऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्य मत्यज्ञानादिमार्गणावदन्तराभावादाहारकद्विकजिननाम्नोश्चेह बन्धाभावाद् उक्तशेषाणां षट्षष्टेरध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , अध्रुवबन्धित्वात् । न च षट्षष्टयन्तर्गतानां सुरद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां द्वादशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देवस्य नारकस्य वोत्कृष्टकायस्थितिमितं भविष्यति, प्रस्तुतमार्गणागतानां तेषां तद्बन्धाभावादिति वाच्यम् , विभङ्गज्ञानविरहितानामेव तेषां भवान्तरगमनाऽभ्युपगमात् । इदमुक्तं भवति,—यदि विभङ्गज्ञानसहितानां देवानां भवान्तरगमनं भवेत्तर्हि अनन्तरप्राक्तनमनुष्यादिभवे बद्धसुरद्विकादीनां तेषामनन्तरागामिनि मनुष्यादिभवे पुनस्तद्बन्धसम्भवेन देवादिभवे च भवप्रत्ययेन तदबन्धसम्भवेन, संभवेत् सुरद्विकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं ग्रैवेयकदेवानामुत्कृष्टकायस्थितिः, किन्तु **पञ्चसङ्ग्रहा**भिप्रायेण देवा नारका वा विभङ्गज्ञानविरहिता एव भवान्तरं गच्छन्ति, अतस्तावत्प्रमाणं न संभवति, किन्तु विभङ्गज्ञानवतां मनुष्याणां तिरश्चां वा परावृत्या तद्बन्धोपलम्भादन्तर्मुहूर्तमेवेति । परावर्त्तमानबन्धानां प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तात् परतः पुनर्बन्धसद्भावात् ॥४९६॥

अथ परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामाह—

आहारजुगलबारहसायाइणं भवे मुहुत्तंतो ।
परिहारे समयेगो दो व छवीसाअ सेसाणं ॥४९७॥

(प्रे०) 'आहारे' त्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामाहारकद्विकस्य सातवेदनीयादीनां द्वादशानाञ्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्र सातवेदनीयादीनां परावर्त्तमानत्वात् ।

आहारकद्विकस्य त्वियं भावना–कश्चिदाहारकद्विकबन्धकोऽप्रमत्तमुनिः प्रमत्तगुणस्थानं गत्वा तत्राऽन्तर्मुहूर्त्तं तदबन्धकतया स्थित्वा पुनरप्रमत्तगुणस्थानकं सम्प्राप्य तद्बन्धमारभते तदा यथोक्तमन्तरमायाति, आहारकद्विकस्येति । तथा ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणपट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामान्तरायपञ्चकमिति सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां, मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धस्य च पुरुषवेदस्योत्कृष्टरसबन्धस्य छेदोपस्थापनीयाभिमुखावस्थायामेव संभवेन उत्कृष्टरसबन्धानन्तरं च मार्गणाया अपगमेनानुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्यासंभवादुक्तशेषाणां षड्विंशतेरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमेकः समयो भवति, अनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणस्य एकमेव समयमुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् ततः परं पुनरनुत्कृष्टरसबन्धप्रवृत्तेनाच्च ।

'दो व' त्ति वाकारस्य मतान्तरद्योतनपरत्वात् **मतान्तरेण** तद् द्वौ समयौ भवति, अस्मिन् मते स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धस्य तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेश्चोत्कृष्टतो द्विसामयिकत्वात् ॥४९७॥ अथ अयतादिमार्गणास्वाह—

अयते तेत्तीसुदही णेयं मिच्छाइअट्ठवीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण होइ णवण्हायवाईणं ॥४९८॥
दो समया सेसअसुहधुवबंधीणऽण्णअट्ठतीसाए ।
ओघव्व जाणियव्वं सव्वाण अचक्खुभवियेसु ॥४९९॥

(प्रे०) **'अयते'**इत्यादि अयतमार्गणायाम् 'मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा । संघयणागिइपणगं दुहगातिगं कुखगई णीअ ॥ तिरियदुगुज्जोअ' इति मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सप्तमपृथ्वीनारकस्य सम्यक्त्वावस्थायां तद्बन्धाभावात् । **सप्ततिका**मूलग्रन्थवृत्त्याद्यभिप्रायेण प्रस्तुतमन्तरं साधिकानि षट्षष्टिसागरोपमाणीत्यपि बोध्यम् । तथा 'आयवथावरणिगिदिसुहुमविगलतिग' मिति आतपनामादीनां नवानामभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सप्तमपृथ्वीनारकस्य तद्बन्धाभावात् । अभ्यधिकत्वञ्चात्र तस्यानन्तरप्राक्तनमनुष्यादिभवचरमान्तर्मुहूर्ते नरकप्रायोग्यपञ्चेन्द्रियजात्यादिबन्धसद्भावेन अनन्तराऽऽगामितिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवाद्यान्तर्मुहूर्तेऽपि पञ्चेन्द्रियजात्यादिबन्धसद्भावेन चातपनामादीनां बन्धाभावात् । तथा मिथ्यात्वादीनामष्टानां ध्रुवबन्धिनीनामनन्तरगाथायामत्रैव पृथगुक्तत्वात् **'सेसअसुहधुवबंधीण'** त्ति उक्तशेषाणां पञ्चत्रिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां द्वौ समयौ,विरुद्धरसबन्धप्रवर्तनात् । **'ऽण्ण अट्ठतीसाए'** त्ति प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकस्य प्रस्तुतान्तराभावात् उक्तशेषाणामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, तद्यथा-नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां षण्णामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणामसंख्येया लोकाः, तेजो-

वायुकायेषु तदुत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । वज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकरूपाणां तिसृणां साधिकं पल्योपमत्रिकं, क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्युगलिकस्य त्रिपल्योपमात्मकस्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् तथा पूर्वभवसत्कदेशोनपूर्वकोटित्रिभागं यावद् बन्धाभावात् । तथा पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्र-संस्थानप्रशस्तविहायोगतित्रसदशकाऽस्थिरद्विकाऽयशःकीर्त्तिनामपराघातोच्छ्वाससाताऽसातवेदनीय-हास्यरतिशोकारतिपुरुषवेदरूपाणां पञ्चविंशतेर्जिननाम्नश्चाऽन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्र पञ्चविंशतेर्बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । न च पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतित्रसचतुष्कादिप्रकृतीनां बन्धस्य चतुर्थगुणस्थानके परावर्तमानत्वाभावात् तदनुत्कृष्टरसबन्धस्य अन्तरमेव न भविष्यतीति वाच्यम् , प्रथमद्वितीयगुणस्थानकयोस्तद्बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात्तदाश्रित्यैवान्तरस्य संभवाच्च । जिननाम्नो भावना त्वेवम्—बद्धनरकायुः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः जिननामबन्धको मनुष्यो मानुषी वा स्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते नरकाभिमुखः सन् मिथ्यात्वं समासाद्य जिननामबन्धाद् विरमति नारकत्वेऽप्यपर्याप्तावस्थायां तदबन्धक एव भवति पर्याप्तावस्थायां सम्यक्त्वं समासाद्य पुनर्जिननामबन्धमारभते एवं प्रागभवचरमान्तर्मुहूर्ते नरकभवाऽपर्याप्तावस्थाभाव्याद्यान्तर्मुहूर्ते च जिननामबन्धाभावात् । अन्तर्मुहूर्तानामसंख्येयभेदत्वेनान्तर्मुहूर्तद्वयस्याप्यन्तर्मुहूर्तत्वात् जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् ।

'अचक्खुभवियेसु' ति अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायाञ्च विंशत्युत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, तद्यथा-मिथ्यात्वमोहादिपञ्चविंशतेः द्वात्रिंशं सागरशतं, मिश्रयुक्तसम्यक्त्वकालस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् तावत्कालं तद्बन्धाभावाच्च । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां देशोना पूर्वाणां कोटिः, सर्वविरतस्य तद्बन्धाभावात् सर्वविरत्युत्कृष्टकालस्य च यथोक्तमानत्वात् । नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकानामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, एकेन्द्रियेषु विकलेन्द्रियेषु च तद्बन्धाभावात् । तिर्यग्द्विकोद्योतयोः त्रिषष्ट्युत्तरशतं सागरोपमाणां, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, तेजोवायुषु तद्बन्धाभावात् तेजोवायूत्कृष्टकायस्थितेश्च तावन्मितत्वात् । वज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकयोः साधिकं पल्योपमत्रिकं, क्षायिकसम्यग्दृष्टियुगलिकस्य तत्पूर्वभवसत्कदेशोनपूर्वकोटित्रिभागे च तद्बन्धाऽसम्भवात् । आतपनामस्थावरनामैकेन्द्रियजातिसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां नवानां पञ्चाशीत्यधिकं सागरशतं, नारकाणां ग्रैवेयकादिदेवानाञ्च तद्बन्धाभावेन तत्प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वात् । आहारकद्विकस्याऽर्धपुद्गलपरावर्त्तः, सप्तमगुणस्थानकान्तरस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् । शेषाणामेकपञ्चाशतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् ॥४९८-४९९॥

अथ लेश्यामार्गणासु प्रतिपिपादयिषुः कृष्णलेश्यामार्गणायामाह—

किण्हाए मिच्छाइगअडवीसाअ तह णरदुगुच्चाणं ।
ऊणा गुरुकायठिई विउवदुगस्स जलहिदुवीसा ॥५००॥
सेसधुवजिणाण दुवे समया सुरदुगतिआयवाईणं ।
पल्लासंखियभागो अंतमुहुत्तं परे तहाऽण्णेसिं ॥५०१॥ (गीतिः)

(प्रे०) **'किण्हाए'** इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोश्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं **'ऊणा गुरुकायठिई'** त्ति देशोना स्वोत्कृष्टकायस्थितिः सा च मिथ्यात्वमोहादीनामन्तर्मुहूर्त्तद्वयेन न्यूनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तु तानि अन्तर्मुहूर्त्तचतुष्केण हीनानीत्यर्थः, **तद्यथा**—सप्तमपृथ्वीनारकस्य भवाद्याऽन्त्यान्तर्मुहूर्त्तयोर्मिथ्यात्वसद्भावेन मिथ्यात्वसत्काऽन्तर्मुहूर्त्तद्वयं विहायोत्कृष्टस्थितिकसम्यग्दृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकस्य मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां बन्धाभावात् तासामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमपि यथोक्तमायाति । मनुष्यद्विकादेर्भावना त्वेवम्-कश्चित् सप्तमपृथ्वीनारकोऽपर्याप्तावस्थानन्तरं पर्याप्तावस्थायां संप्राप्तायां झगिति सम्यक्त्वं समासाद्य मनुष्यद्विकादेर्बन्धं करोति, तत्र सम्यक्त्वावस्थायामन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनर्मिथ्यादृष्टीभूय मनुष्यद्विकादेरबन्धको भवति, ततः पुनः स्वभवद्विचरमान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वं प्राप्य मनुष्यद्विकादेर्बन्धको भवति, इत्येवं भवाद्यान्तर्मुहूर्त्तद्वयं भवचरमान्तर्मुहूर्त्तद्वयं चेति अन्तर्मुहूर्त्तचतुष्केण विरहितानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि मनुष्यद्विकादेरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं भवति । तथा वैक्रियद्विकस्य **'जलहिदुवीसा'** त्ति द्वाविंशतिः सागरोपमाणि षष्ठपृथ्वीनारकस्य तद्बन्धाभावात् ।

ननु सप्तमपृथ्वीनारकस्याऽपि तद्बन्धाभावात् त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि कुतो नोच्यन्ते इति चेत् न, बन्धद्वयान्तरालकालस्यैवान्तरपदार्थत्वेन षष्ठपृथ्वीनारकापेक्षयैव तत्सम्भवात्, **तद्यथा**—षष्ठनरकाभिमुखो मनुष्यस्तिर्यग् वा नरकद्विकेन सह वैक्रियद्विकं बध्नाति ततः नरकं गत्वा भवप्रत्ययेन तदबन्धको भवति तत्र च यथासमयं सम्यक्त्वं संप्राप्य आयुःक्षयेण सम्यक्त्वसहित एव उद्वृत्य मनुष्यगतौ देवद्विकेन सह वैक्रियद्विकं बध्नाति तदा बन्धद्वयान्तराले द्वाविंशतिसागरोपमात्मकस्तदबन्धकालोऽन्तर्रामति यावत् प्राप्यते । सप्तमनरकाभिमुखस्य नरकद्विकेन सह वैक्रियद्विकबन्धस्तु प्राप्यते तथा सप्तमनरके भवप्रत्ययात् तदबन्धोऽपि प्राप्यते किन्तु सप्तमपृथ्व्या उद्वृत्तस्य नियमेन मिथ्यादृष्टित्वेन तिर्यग्गतौ आद्यान्तर्मुहूर्ते तिर्यग्द्विकेन सह औदारिकद्विकबन्धसद्भावेन वैक्रियद्विकबन्धाभावात् वैक्रियद्विकबन्धयोग्यताप्राप्तेः प्रागेव प्रस्तुतलेश्याऽपगमाच्च नैव संभवति सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि कृष्णलेश्यामार्गणायां वैक्रियद्विकस्योत्कृष्टमन्तरमिति । तथा त्रिचत्वारिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ

समयौ । तत्र त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धित्वेनानुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयद्वयं यावदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । प्रस्तुतमार्गणायां जिननाम्नोऽपि उत्कृष्टरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वेनानुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयद्वयमुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथा '**सुरदुगतिआयवाईणं**' ति देवद्विकमातपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम चेति पञ्चानां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पल्योपमाऽसंख्येयभागः, अप्रशस्तलेश्याकदेवस्योत्कृष्टतो यथोक्तस्थितिकत्वात्, **तद्यथा**–कृष्णलेश्याकदेवत्वेनोत्पित्सुः स्वभवचरमान्तर्मुहूर्त्ते कृष्णलेश्यापरिणतो देवद्विकं बध्नाति, ततो देवत्वे तथास्वाभाव्यादाभवं तद् न बध्नाति, देवभवात् सम्यक्त्वमहितश्च्युतः सन् मनुष्यभवाऽऽद्यान्तर्मुहूर्ते पुनस्तद्बन्धमारभते, ततः परं लेश्यापरावृत्तिरिति । आतपनामादीनां भावना त्वेवम्-पल्योपमाऽसंख्येयभागस्थितिको देवः स्वभवप्रारम्भे तेषां बन्धं करोति, सम्प्राप्तायां पर्याप्तावस्थायां यथासंभवं सम्यक्त्वं समासाद्य भवचरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं गतः सन् पुनस्तद्बन्धं विदधाति इति । तथा '**अंतमुहुत्तं परे**' त्ति अन्ये आचार्या **महाबन्धकारादयः**, ते हि अनन्तरोक्तानां सुरद्विकादीनां पञ्चानां प्रत्येकं प्रस्तुतमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमेव निगदन्ति, कुतः ? उच्यते तेषां मते देवानां पर्याप्तावस्थायामप्रशस्तलेश्याया अनभ्युपगमः, तेन मनुजान् तिरश्चो वाऽऽश्रित्य तदन्तरस्य संभवः, मनुजतिरश्चाञ्च विवक्षितलेश्याया उत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् ।

तथा '**अण्णेसिं**' ति आहारकद्विकस्येह बन्धाभावादुक्तातिरिक्तानां षट्त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । इमाश्च ताः षट्त्रिंशत् प्रकृतयः,–सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः नरकद्विकम् औदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः विकलत्रिकं प्रथमसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनाम उच्छ्वासनाम त्रसदशकं सूक्ष्मनामादिपञ्चकमयशःकीर्त्तिश्चेति ॥५००-५०१॥

अथ नीललेश्याकापोतलेश्यामार्गणयोराह–

मिच्छाइअट्ठवीसा विउवदुगाणऽत्थि णीलकाऊसुं ।
ऊणा गुरुकायठिई सेसधुवजिणाण दो समया ॥५०२॥
पल्लासंखियभागो तिआयवाईण होइ णीलाए ।
देवदुगस्स वि णेयं काऊए तस्स तावइअं ॥५०३॥
जावइआअ णिरयगुरुठिईअ खइअस्स होइ उप्पाओ ।
पंचण्ह वि दोसु परे भिन्नमुहुत्तं तहाऽण्णेसिं ॥५०४॥

(प्रे०) '**मिच्छाइ**' इत्यादि, नीललेश्याकापोतलेश्यामार्गणयोः प्रत्येकं मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां वैक्रियद्विकस्य चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः,

सा च मिथ्यात्वमोहादीनाममष्टाविंशतेरन्तर्मुहूर्तचतुष्केणोना। वैक्रियद्विकस्य तु सा अन्तर्मुहूर्तद्वयेनोनेति तद्यथा–नरकाभिमुखः नीललेश्याको मिथ्यात्वमोहादीनां बन्धको मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यस्तिर्यग् वाऽन्तर्मुहूर्तात् परतो मृत्वा नीललेश्याकनारकतया उत्पद्यते तत्र नरकेऽपर्याप्तावस्थायां मिथ्यादृष्टिः सन् मिथ्यात्वादिकं बध्नाति ततः स एव सम्प्राप्तायां पर्याप्तावस्थायां यथाकालं सम्यग्दृष्टीभूय मिथ्यात्वादेरबन्धको भवति ततः स्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं समासाद्य मिथ्यात्वादीनां बन्धमारभते, ततो भवान्तरं गतस्यापि तस्य अन्तर्मुहूर्तं यावद् मिथ्यात्वादीनां बन्धो भवति ततः परं लेश्यापरावर्त्तनात् मार्गणा एव विनश्यतीति, तथापि अन्तर्मुहूर्तानामनेकभेदभिन्नत्वात्-अन्तर्मुहूर्त्तात्मकेन देशेन न्यूना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरतया बोध्या ।

वैक्रियद्विकस्य तु मार्गणाऽऽद्याऽन्तर्मुहूर्ते नरकाभिमुखस्य नरकद्विकेन सह, नरकात् सम्यक्त्वेन सह उद्वृत्तस्य तस्य मनुष्यभवाद्यान्तर्मुहूर्ते मार्गणाचरमान्तर्मुहूर्ते इति यावत् देवद्विकेन सह च वैक्रियद्विकबन्धसम्भवात् वैक्रियद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तद्विकेनोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तावन्मितत्वात् । तथा त्रिचत्वारिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्च द्वौ समयौ। भावना कृष्णलेश्यामार्गणावत् । '**तिआयवाईण**' त्ति आतपनामस्थावरनामैकेन्द्रियजातिनामरूपाणां तिसृणामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पल्योपमाऽसंख्येयभागः, हेतुरत्रानन्तरोक्तकृष्णलेश्यामार्गणोक्तो वाच्यः। तथा '**णोलाए**' त्ति '**देवदुगस्स वि**' त्ति नीललेश्यामार्गणायां देवद्विकस्यापि पल्योपमासंख्येयभाग एव प्रस्तुतमन्तरं ज्ञेयम् । हेतुस्तथैव ।

तथा '**काऊए तस्स**' त्ति कापोतलेश्यामार्गणायां तस्य देवद्विकस्येत्यर्थः, अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं यावत्यां नरकोत्कृष्टस्थितौ '**खइअस्स**' त्ति क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुत्पादः तावत्प्रमाणं ज्ञेयम् , इदमुक्तं भवति–एकेन मतेन क्षायिकसम्यग्दृष्टेस्तृतीये नरके साधिकत्रिसागरोपमस्थितिकनारकतयोत्पत्तिः, तन्मते साधिकत्रिसागरोपममितं तदन्तरं प्राप्यते, नारकत्वे आभवं तद्बन्धाभावात् नरकाभिमुखस्य तस्य सम्यक्त्वबलाद् मनुष्यभवचरमसमये नरकादुद्वृत्तस्य च तस्य मनुष्यभवप्रथमसमये तद्बन्धप्रवर्त्तनाच्च । द्वितीयमते तु क्षायिकसम्यग्दृष्टेः प्रथमनरकात् परतो नोत्पादः, तन्मते देशोनसागरोपममेव प्रस्तुतमन्तरं देवद्विकस्य । देशोनत्वञ्चात्र क्षायिकसम्यग्दृशां स्वोत्पत्तिप्रायोग्ये नरके उत्कृष्टस्थितिकनारकतयोत्पादप्रतिषेधात् ।

तथा '**पंचण्ह वि दोसु परे**' त्ति **महाबन्धकारादयो** नीलकापोतलेश्यामार्गणयोः प्रत्येकं आतपनामस्थावरनामैकेन्द्रियजातिनामदेवद्विकरूपाणां पञ्चानामपि अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमेव वदन्ति; अत्र हेतुः कृष्णलेश्यामार्गणोक्तो ज्ञेयः। क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्नारकतयोत्पादमाश्रित्य कापोतलेश्यामार्गणायां देवद्विकस्य तु प्रस्तुतमन्तरं तेषामपि मते देशोनसागरोपमं

संभवति, अन्तर्मुहूर्त्तोक्तौ तु तदभिप्रायं त एव जानन्ति । शेषाणामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरपि अत्र परावृत्त्या बन्धकस्यैवान्तरोपलम्भात् । शेषाणां षट्त्रिंशतस्तु कृष्णलेश्यावद् वाच्यम् ॥५०२-५०४॥ अथ तेजोलेश्यायामाह—

तेऊए देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
सुरविउवदुगाण तहा मिच्छाइगएगतीसाए ॥ ५०५ ॥
एक्को दो वा समया पसत्थधुवबंधिणीण अट्ठण्हं ।
आहारदुगजिणाणं परघायाईण पंचण्हं ॥५०६॥
सेसधुवबंधिणीणं पणतीसाअ उरलस्स य दुसमया ।
विण्णेयं सेसाणं पणवीसाए मुहुत्तंतो ॥५०७॥

(प्रे०) 'तेऊए' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीवेदः नपुंसकवेदः आद्यवर्जसंहननपञ्चकम् आद्यवर्जसंस्थानपञ्चकं दुर्भगत्रिकमप्रशस्तविहायोगतिः नीचैर्गोत्रं तिर्यग्द्विकमुद्योतनामाऽऽतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनामेति मिथ्यात्वमोहादीनामेकत्रिंशतः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः । देशोनत्वं चात्रान्तर्मुहूर्तेन ज्ञेयम् ।

तथाऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामाहारकद्विकस्य पराघातोच्छ्वासबादरत्रिकरूपाणां पराघातनामादीनां पञ्चानाञ्चैकः समयः । वाकारस्य मतान्तरपरत्वात् मतान्तरेण द्वौ समयौ, तद्यथा—अनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धस्वीकर्तृमतेनैकः समयः, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयमात्रमुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेरुत्कृष्टरसबन्धस्वीकर्तृमतेन तु द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेरुत्कृष्टतो द्विसामयिकत्वात् ।

तथा ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कमाद्यवर्जाः कषाया द्वादश भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामाऽन्तरायपञ्चकमिति पञ्चत्रिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्च द्वौ समयौ, तत्र पञ्चत्रिंशतः ध्रुवबन्धित्वेन तदुत्कृष्टरसस्य च स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वेन, औदारिकनाम्नश्च प्रस्तुतमार्गणायां देवानाश्रित्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वेन अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धसंभवात् । तथा सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वज्रर्षभनाराचसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम स्थिरषट्कमस्थिरद्विकमयशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रमिति उक्तशेषाणां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । न च तेजोलेश्याकमनुष्यतिरश्चां पञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थान-

नामोच्चैर्गोत्रादीनां बन्धस्य निरन्तरमुपलम्भेन तस्य परावर्त्तमानत्वाभावात् तदनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं समयद्विकादिरेव भविष्यतीति चेन्न, तेजोलेश्याकमिथ्यादृष्टिदेवानां तद्बन्धस्य परावर्त्तमानत्वेन तानाश्रित्यान्तर्मुहूर्तस्य संभवात् ॥५०५-५०७॥ अथ पद्मलेश्यामार्गणायामाह–

पउमाए मिच्छाइगअडवीसाअ तह चउसुराईणं ।
देसूणा उक्कोसा कायठिई होइ णायव्वं ॥५०८॥
एगो दो वा समया पसत्थधुवबंधिणीण अट्ठण्हं ।
आहारदुगस्स तहा अडपरघाईण णायव्वं ॥५०९॥
सेसधुवबंधिणीणं तह ओरालियदुगस्स दो समया ।
विण्णयं सेसाणं बावीसाए मुहुत्तंतो ॥५१०॥

(प्रे०) 'पउमाए' इत्यादि, पद्मलेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेर्देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, तत्र मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः अन्तर्मुहूर्तचतुष्केणोना स्वोत्कृष्टकायस्थितिः । देवद्विकादीनां चतसृणान्तु सा अन्तर्मुहूर्तद्वयेनोनेत्यर्थः, तद्यथा–पद्मलेश्याकोत्कृष्टस्थितिकदेवस्य सम्यक्त्वावस्थायां मिथ्यात्वमोहादीनां बन्धाभावात् । देशोनत्वञ्चात्र तस्यैव स्वभवाद्यान्त्यान्तर्मुहूर्त्तयोः स्वप्राग्भवचरमान्तर्मुहूर्त्ते स्वभवानन्तरागामिभवाद्यान्तर्मुहूर्त्ते चेति अन्तर्मुहूर्तचतुष्के मिथ्यात्वदशायां तद्बन्धोपलम्भात् । देवद्विकादीनान्तूत्कृष्टकायस्थितिकपद्मलेश्याकदेवस्य स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावत् तद्बन्धाभावात् । देशोनत्वञ्चात्र पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते स्वभवानन्तरागामिभवाद्यान्तर्मुहूर्ते चेति अन्तर्मुहूर्तद्वये तद्बन्धस्यावश्यकत्वात् । तथाष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामाहारकद्विकस्य पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकं जिननाम पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनामेति अष्टानां च पराघातनामादीनामेकः समयः, तासां ध्रुवबन्धित्वे सति तदुत्कृष्टरसस्यानन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणस्य समयमात्रमुपलम्भात् । वाकारस्य मतान्तरद्योतकत्वात् मतान्तरेण द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धस्योत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमात् स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेश्चोत्कृष्टतो द्विसामयिकत्वात् । न च बादरत्रिकादीनां ध्रुवबन्धित्वाभावात् कुतस्तदनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमुत्कृष्टतोऽपि द्वावेव समयौ इति वाच्यम् , बादरत्रिकादीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् जिननाम्नस्तु तद्बन्धकस्य नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भेन ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् ।

तथा पञ्चत्रिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनामौदारिकद्विकस्य चानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्तनात् । तथा सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः मनुष्यद्विकं प्रथमसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः स्थिरषट्-

कमस्थिरद्विकमयशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रमिति द्वाविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तं, तासामध्रुवबन्धित्वात् ॥५०८-५१०॥ अथ शुक्ललेश्यामार्गणायामाह–

सुक्काए मिच्छाइगपणवीसा ऊण एगतीसुदही ।
दो समया मज्झिमअडकसायणरुरलदुगाण भवे ॥५११॥
देसूणा उक्कोसा कायठिई होइ चउसुराईणं ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं सेसाणं पंचसट्ठीए ॥५१२॥

(प्रे०) 'सुक्काए' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'ऊण' त्ति देशोना अन्तर्मुहूर्तद्वयेनोना एकत्रिंशत् उदधयः सागरोपमाणीत्यर्थः, नवमग्रैवेयकसुरस्य सम्यक्त्वावस्थायां तद्बन्धाभावात् । ऊनत्वं चात्र तस्य भवाद्यान्त्यान्तर्मुहूर्त्तसत्कायां मिथ्यात्वदशायां तद्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् ।

तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमिति अष्टानां मध्यकषायाणां मनुष्यद्विकस्यौदारिकद्विकस्य च द्वौ समयौ, तावत्कालमनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले उत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । अथ मनुष्याणां तद्बन्धमाश्रित्य तदनुत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्त्तादिकमायातीति चेन्न, तद्बन्धानन्तरं पुनर्बन्धात् प्राग् विवक्षितलेश्यायाः परावृत्तिसंभवात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः एकेनान्तर्मुहूर्त्तेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणीत्यर्थः, उपशमश्रेणौ तद्बन्धानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तात्मकोपशान्ताऽद्धाक्षयेण श्रेणेः प्रतिपततो निवृत्तिबादरगुणस्थानके देवद्विकबन्धप्राक्समय एव कालं कृत्वा देवत्वं प्राप्तस्यानुत्तरसुरत्वे आभवं तद्बन्धाभावात् ततश्च्युतस्य तु मनुष्यभवप्रथमसमयादेव तद्बन्धसम्भवाच्च । तथा तिर्यग्द्विकमुद्योतनाम जातिचतुष्कं स्थावरचतुष्कं नरकद्विकमातपनामेति चतुर्दशानामत्र बन्धाभावाद् उक्तशेषाणां पञ्चषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्र पञ्चत्रिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसचतुष्कं पराघातनामोच्छ्वासनाम चेति सप्तानां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनाम् आहारद्विकस्य जिननाम्नश्च श्रेणौ अबन्धानन्तरं पुनर्बन्धान्तरस्योत्कृष्टत आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः प्रथमसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः स्थिरास्थिरे शुभाशुभे सुभगत्रिकं यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्ती उच्चैर्गोत्रमिति एकोनविंशतेरध्रुवबन्धित्वात् ॥५११-५१२॥ अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

खइअम्मि पुव्वकोडी देसूणा मज्झअडकसायाणं ।
पंचण्ह णराईणं दो समया होइ विण्णेयं ॥५१३॥

हीणा गुरुकायठिइं सुरविउवाहारजुगलपयडीणं ।
सेसाणं पयडीणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥५१४॥

(प्रे०) 'खइअम्मि' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणां 'देशोना' वर्षाष्टकेनोना पूर्वाणां कोटिः, पूर्वकोट्यायुष्कस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्य सर्वविरतिप्राप्त्यनन्तरमाभवं तद्बन्धाभावात् ।

तथा मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचनामौदारिकद्विकरूपाणां मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानां द्वौ समयौ, सम्यग्दृष्टेर्देवस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धयानुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयद्वयं यावत्तदुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकरूपाणां षण्णां हीना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, मार्गणाद्यान्त्यभवयोस्तद्बन्धस्याऽऽवश्यकत्वात् । तथोक्तशेषाणां द्विषष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् । तत्र पञ्चत्रिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातोच्छ्वासौ उच्चैर्गोत्रमिति चतुर्दशानां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चोपशमश्रेण्यां अबन्धानन्तरमुपशान्तमोहाद्धाक्षयेण श्रेणेः प्रतिपततस्तत्तद्बन्धस्थाने पुनस्तद्बन्धप्रवर्त्तनात् ।

सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती इति द्वादशानां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् ॥५१३-५१४॥ अथोपशमसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

दोण्णि समया उवसमे पंचण्ह णराइगाण विण्णेयं ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं छसयरिपयडीण सेसाणं ॥५१५॥

(प्रे०) 'दोण्णी' त्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, प्रस्तुतमार्गणावर्त्तिदेवस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथोक्तशेषाणां षट्सप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् । तत्र त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां चतुर्दशानां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकानां जिननाम्नश्चोपशमश्रेणावबन्धानन्तरं पुनर्बन्धप्रवर्त्तनात् । ततः किम् ? श्रेणावबन्धकाल आन्तर्मौहूर्त्तिक इति । तथा द्वादशानां सातवेदनीयादीनां तु परावर्त्तमानत्वात् ॥५१५॥

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

बारहसायाईणं विण्णेयं वेअगे मुहुत्तंतो ।
देसूणपुव्वकोडी मज्झकसायऽट्ठगस्स भवे ॥५१६॥

दोहि समयेहि अहिया कोडी पुव्वाण पणणराईणं ।
साहियतेत्तीसुदही सुरविउव्वाहारजुगलाणं ॥५१७॥
अहव भवे देसूणा आहारदुगस्स जेट्ठकायठिई ।
एगं दो वा समया सेसाण दुवीसपयडीणं ॥५१८॥

(प्रे०) 'बारहे' त्यादि, 'वेअगे' त्ति, वेदके-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामित्यर्थः सातवेदनीयादीनां द्वादशानामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, तासां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । तथाऽष्टानां मध्यकषायाणां देशोना–वर्षाष्टकेनोना पूर्वाणां कोटिः, पूर्वकोटयायुष्कस्य क्षायोपशमसम्यग्दृष्टेः सर्वविरतिप्राप्त्यनन्तरमाभवं तद्बन्धाभावात् इतः कालं कृत्वा भवान्तरं गतस्य देवत्वे तद्बन्धप्रवर्त्तनाच्च ।

तथा मनुष्यद्विकवज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकरूपाणां पञ्चानां मनुष्यद्विकादीनां द्वाभ्यां समयाभ्यामभ्यधिका पूर्वाणां कोटिः, पूर्वकोट्यायुष्कस्य क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्याभवं तद्बन्धाभावात् । अभ्यधिकत्वञ्चात्र तस्यानन्तरप्राग्देवभवप्रान्ते समयद्वयं मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानामुत्कृष्टरसबन्धसम्भवात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकरूपाणां षण्णां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि । तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोः, सर्वार्थसिद्धसुरस्याऽऽभवं बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र तस्याऽनन्तरप्राग्मनुष्यभवचरमसमयद्वये तदुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात् । आहारकद्विकस्य तु देशोनपूर्वकोट्याऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, तद्यथा-कश्चित् सर्वविरत आहारकद्विकं बद्ध्वा परिसमाप्तस्वाऽऽयुषि प्रेत्य सर्वार्थसिद्धसुरत्वे त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि यावत् तदबन्धकतया तिष्ठति ततोऽपि च्युतो मनुष्यत्वे देशोनपूर्वकोटिं यावत् तदबन्धकतया तिष्ठति स्वभवचरमान्तर्मुहूर्त्ते च संयमं समासाद्य तद् बध्नातीति देशोनपूर्वकोटयभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि आहारकद्विकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् ।

'अहव' त्ति वाकारेण मतान्तरद्योतनपरो ग्रन्थकारो मतान्तरेणाहारकद्विकस्याऽन्तरं दर्शयति 'देसूणा' इत्यादिना, मतान्तरेणाऽऽहारकद्विकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः षट्षष्टिः सागरोपमाणीत्यर्थः । देशोनत्वञ्चात्र मार्गणाऽऽद्यान्तयोस्तद्बन्धोपलम्भात् । तथा ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामान्तरायपञ्चकं भयजुगुप्से पुरुषवेदश्चेति अष्टाविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टरसबन्धाऽन्तरस्य जघन्यनिरूपणावसर एव निषिद्धत्वात् 'सेसाणं' त्ति इह बन्धार्हाणामुक्तशेषाणां द्वाविंशतेः प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमेकः समयः, अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धसंभवात् । वाकारस्य मतान्तरख्यापकत्वात् मतान्तरेण द्वौ समयौ, अस्मिन् मते स्वस्थानविशुद्धे-

रपि तदुत्कृष्टरसबन्धसंभवात् स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धेश्चोत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वात् । अथ द्वाविंशतिः प्रकृतयः-प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रं सुखगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातोच्छ्वासौ उच्चैर्गोत्रं जिननाम चेति ।।५१६-५१८।। अथ सास्वादनमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

सुहधुवबंधिपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं ।
सासाणे दो समया सेसाण भवे मुहुत्तंतो ।।५१९।।

(प्रे०) 'सुहधुवे' त्यादि, सास्वादनमार्गणायामष्टौ ध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजातिः पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसचतुष्कञ्चेति पञ्चदशानां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, विपरीतबन्धप्रयुक्तस्यान्तरस्य संभवात् , उत्कृष्टाख्यविपरीतरसबन्धस्य चोत्कृष्टतो द्विसामयिकत्वात् । तथेह बन्धार्हाणां द्विचत्वारिंशतोऽप्रशस्तधुवबन्धिनीनामनुत्कृष्टानुभागबन्धान्तरस्य तज्जघन्यनिरूपणप्रस्तावे मतमेकमाश्रित्य निषिद्धत्वात् 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य यथोक्तमानत्वात् । मतान्तरं पुनरधिकृत्य गाथोक्तशेषाणां सप्ताशीतेः प्रकृतीनां स्वयमूह्यम् ।।५१९।।

अथ असंज्ञिमार्गणायामाह—

अमणे धुवबंधीणं समया दोण्णि णिरयाइणवगस्स ।
ओघव्व जाणियव्वं सेसाण भवे मुहुत्तंतो ।। ५२० ।।

(प्रे०)'अमणे' इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले तावत्कालमुत्कृष्टरसबन्धाख्यविरुद्धरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथा नरकद्विकादीनां नवानामोघवद् ज्ञातव्यम् , तद्यथा- नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां षण्णामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, एकेन्द्रियत्वे विकलेन्द्रियत्वे च तदुत्कृष्टकायस्थितिं यावद् बन्धाभावात् । तथा मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणामसंख्येयाः लोकाः, तेजोवायुषु तद्बन्धाभावात् । तथाऽऽहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावादुक्तशेषाणां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तासामध्रुवबन्धित्वात् ।।५२०।।

अथ आहारिमार्गणायामाह—

आहारे विण्णेयं आहारदुगणिरयाइणवगाणं
हीणा गुरुकायठिई ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ।।५२१।।

(प्रे०) 'आहारे' इत्यादि, आहारिमार्गणायामाहारकद्विकस्य नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकरूपाणां नवानां च नरकद्विकादीनामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'हीणा' त्ति देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, मार्गणाप्रारम्भे सकृद् बद्ध्वा तद्बन्धाऽनर्हासु भवततिषु देशोनो-

त्कृष्टकायस्थितिं यावत् तदबन्धकतया स्थित्वा मार्गणाचरमान्तर्मुहूर्ते पुनस्तद्बन्धप्रवर्त्तनाच्च । तथोक्तशेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां तदोघवद् भवति, तद्यथा-'मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा। संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई नीअ' मिति मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां द्वात्रिंशं शतं सागरोपमाणाम् । मध्याऽष्टकषायाणां देशोना पूर्वाणां कोटिः । तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोः त्रिषष्ट्युत्तरशतं सागरोपमाणाम् । औदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनाम्नोः साधिकं पल्योपमत्रिकम् । 'आयवथावरणिरिदिसुहुमविगलतिगं' मिति नवानामातपनामादीनां पञ्चाशीत्युत्तरशतं सागरोपमाणाम् । तथा शेषाणां पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां सातासाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी जिननाम अस्थिराशुभे अयशःकीर्तिनाम त्रसदशकमिति षड्विंशतेश्चान्तर्मुहूर्त्तम् । अत्र हेत्वादय ओघप्ररूपणाविवृतेरवसेयाः ॥५२१॥

मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तरं निरूप्य तत्रैवायुषां रसबन्धस्यान्तरं निरूपयिषुरादौ तावदुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं निरूपयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं तिव्वऽणुभागस्स होइ जहण्णं ।
अंतरमेगो समयो सप्पाउग्गाण आऊणं ॥५२२॥
णवरि सुराउस्स भवे अंतरमाहारमीसजोगे णो ।
अहव जहण्णं समयो णेयं परमं मुहुत्तंतो ॥५२३॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु आयुर्बन्धार्हासु त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु '**सप्पाउग्गाण**' त्ति यस्यां मार्गणायां यावतामायुषां बन्धोऽस्ति तावतामित्यर्थः '**तिव्वऽणुभागस्स**' त्ति उत्कृष्टरसबन्धस्य '**जहण्णं**' ति जघन्यमन्तरमेकः समयः, उत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयमनुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्भवात् । अथ '**णवर**' मित्यादिनात्र विशेषं दर्शयति—आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां देवायुष उत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं '**णो**' त्ति न भवति, कुतः ? तदुत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेर्मार्गणाचरमसमय एवाभ्युपगमेन सकृदुत्कृष्टरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाया अपगमात् । '**अहव**' त्ति वाकारो मतान्तरख्यापकः ततो **मतान्तरेणै**कसमयो भवति, कुतः ? अस्मिन् मते तादृग्विशुद्धेर्मार्गणाद्विचरमादिसमयेष्वपि संभवेनोत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले समयमनुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्भवात् । न चौदारिकमिश्रमार्गणायामपि मनुष्यतिर्यगायुषोरुत्कृष्टरसबन्धस्यैकसमयोऽन्तरमेकेनैव मतेन भवतु मतान्तरेण तु नेति वाच्यम्, औदारिकमिश्रमार्गणायां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेः करणापर्याप्तानामेव संभवात् तेषाञ्च तत्रायुर्बन्धाभावात् लब्ध्यपर्याप्तानामेवाऽऽयुर्बन्धसंभवात् तेषाञ्च मार्गणाया अचरमान्तर्मुहूर्त्तेऽपि आयुरुत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धेः सम्भवात् । अथ प्रकृतम्—आहारकमिश्रमार्गणायां देवायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् ,कदा-

चिदन्तर्मुहूर्तात्मिकाया आयुर्बन्धाद्धायाः प्रथमचरमसमययोरेवोत्कृष्टरसबन्धकरणात् । अत्र जघन्यस्य प्रस्ताव उत्कृष्टस्य निरूपणं लाघवार्थं ज्ञेयम् ॥५२२-५२३॥ अथोत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं प्रतिपिपादयिषुर्नरकादिमार्गणास्वाह—

सव्वणिरयदेवेसुं सप्पाउग्गाण तिरिणराऊणं ।
देसूणा छम्मासा उक्कोसं अंतरं णेयं ॥५२४॥

(प्रे०) '**सव्वणिरय०**'इत्यादि, सर्वासु अष्टास्वित्यर्थः नरकमार्गणासु सर्वासु च त्रिंशल्लक्षणासु देवमार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाः षण्मासाः, तच्च प्रकृतिबन्धान्तरापेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तेनाऽभ्यधिकं ज्ञेयम् , कुतः ? अनुत्कृष्टरसबन्धकालस्येह प्रक्षेपात् । '**सप्पाउग्गाण**' त्ति सप्तमनरकमार्गणायां तिर्यगायुष एव, अष्टादशसु आनतादिसुरमार्गणासु केवलं मनुष्यायुषो यथोक्तमन्तरं वाच्यम् , कुतः ? इतरस्य बन्धाभावादिति ॥५२४॥ अथ तिर्यगोघादिमार्गणयोश्चतुर्णामपि आयुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दर्शयन्नाह—

तिरियासण्णीसु भवे तिरियाउस्सूणसगुरुकायठिई ।
तिण्हाऊण तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥५२५॥

(प्रे०) '**तिरिया०**' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायाञ्च तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, तद्यथा–मार्गणामुखे यथासम्भवमल्पायुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादितयोत्पन्नः सन् स्वायुषश्चरमत्रिभागप्रथमसमये तिर्यगायुष उत्कृष्टरसं बध्नाति ततो बद्धमायुरपवर्त्य मध्यमरसान्वितायुष्कतयोत्पद्यते, ततो नानातिर्यग्भवेष्वसंख्यपुद्गलपरावर्त्तान् यावत् तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसं बध्नाति, मार्गणायामन्तर्मुहूर्त्तादिना सावशेषायां पुनस्तस्योत्कृष्टरसं बद्ध्वा बद्धमायुरपवर्त्य क्रमेण च तत् समाप्य मार्गणान्तरं व्रजतीति । शेषाणां त्रयाणामायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वकोटया देशोनैकत्रिभागः,अनन्तरभवे मार्गणापरावर्तनात् स्ववर्त्तमानभवायुष्कैकत्रिकभागावशेषे प्रथमाकर्षप्रथमसमये उत्कृष्टरसबन्धान्तरमन्तर्मुहूर्तावशेषे स्वायुषि चरमाकर्षचरमसमये पुनस्तदुत्कृष्टरसबन्धनिर्वर्तनाच्च ॥५२५॥

अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

पुव्वाकोडिपुहुत्तं साउस्स पणिंदितिरिणरतिगेसुं ।
सेसाऊण तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥५२६॥

(प्रे०) '**पुव्वा**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिमती, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् , मनुष्यौघः, मानुषी, पर्याप्तमनुष्य इति षट्सु मार्गणासु '**साउस्स**' त्ति स्वायुषः, तिसृषु तिर्यग्मार्गणासु तिर्यगायुषो मनुष्यमार्गणासु तु मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्ट-

मन्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वं युगलिकभववर्जा मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, युगलिकस्तु विजातीयमेवायुर्बध्नाति ततस्तद्भवस्य वर्जनं शेषं सर्वं तिर्यगोघवत् । 'सेसाऊण' त्ति तिर्यग्मार्गणासु स्ववर्जमनुष्यदेवनरकायुषां मनुष्यमार्गणासु तिर्यग्देवनारकायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वकोट्या देशोनत्रिभागः, एकभवसत्काऽऽकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात्, भावना तिर्यगोघवत् ॥५२६॥

अथाऽपर्याप्ततिर्यगादिमार्गणास्वाह —

होइ अपज्जत्तेसुं पणिंदियतिरिक्खमणुसेसुं ।
सव्वेसुं एगिंदियविगलिंदियपंचकायेसुं ॥५२७॥ (उपगीतिः)
साउस्स होइ जेट्ठा सगसगकायट्ठिई उ देसूणा ।
इयराउस्स तिभागो सगुरुभवठिईअ देसूणो ॥५२८॥

(प्रे०) '**होइ**' इत्यादि. अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायामपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तस्वेकेन्द्रियमार्गणासु नवसु विकलेन्द्रियमार्गणासु त्रसकायवर्जैकोनचत्वारिंशत्पृथ्व्यादिपञ्चकायमार्गणासु चेति सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशन्मार्गणासु '**साउस्स**' त्ति स्वायुषोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मनुष्यायुषः शेषषट्पञ्चाशन्मार्गणासु तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्देशोना, प्रथमभवप्रथमाकर्षप्रथमसमये ततः परं मार्गणाद्विचरमान्तर्मुहूर्तचरमसमये च तदुत्कृष्टरसबन्धकरणात् । शेषभावना तिर्यगत्योघवद् विज्ञेया । '**इयराउस्स**' त्ति मनुष्यमार्गणायां तिर्यगायुषः शेषमार्गणासु तु मनुष्यायुषः स्वोत्कृष्टभवस्थितेर्देशोनैकत्रिभागः, एकभवसत्काऽऽकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् । **अस्मिन्नेव बन्धविधानग्रन्थे मूलप्रकृतिबन्धविधानेऽन्तरद्वारे** आसां मार्गणानां भवस्थितिप्रतिपादिका गाथास्त्विमाः—

तिरियस्स पणिंदितिरियणरतप्पज्जत्तजोणिणीणं च । तिण्णि पलिओवमाइ उक्कोसा भवठिई णेया ॥१२५॥
एगिंदियपुढवीण सहस्सवासाणि होइ बावीसा । सा चेव होइ तेसिं बायरबायरसमत्ताणं ॥१२६॥
बेइंदियाइगाणं कमसो बारहसमा अउणवण्णा । दिवसा तह छम्मासा एव तेसिं समत्ताण ॥१२७॥
दगवाऊणं कमसो सहस्सवासाणि सत्त तिण्णि भवे । तिदिणाऽग्गिस्सेवं सि बायर-बायरसमत्ताण ॥१२८॥
वासाऽस्थि दस सहस्सा वणपत्तेअवणनरसमत्ताणं । भिन्नमुहुत्तं णेया सेसाणं पंचतीसाए ॥१२९॥

इति । सुगमम् । नवरं 'पंचतीसाए' त्ति अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, त्रयः सूक्ष्मैकेन्द्रियाः, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः, त्रयोऽपर्याप्तविकलाक्षाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य सूक्ष्मसत्कद्वादशभेदाः, साधारणवनस्पत्योघः, त्रयः सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिभेदाः, त्रयो बादरसाधारणवनस्पतिभेदाः, बादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कस्याऽपर्याप्तसत्काश्चत्वारो भेदाः, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, अपर्याप्तत्रसकायश्चेति पञ्चत्रिंशदिति ॥५२७-५२८॥

अथ मनोयोगादिमार्गणास्वाह—

सव्वाण मुहुत्तंतो पणमणवयकायुरालियदुगेसु ।
वेउव्वाहारेसु कसायचउगम्मि सासाणे ॥५२९॥

(प्रे०) 'सव्वाण'इत्यादि, पञ्चसु मनोयोगमार्गणासु, पञ्चसु वचोयोगमार्गणासु, काययोगौघे औदारिककाययोगे, तन्मिश्रे, वैक्रियकाययोगमार्गणायाम् , आहारककाययोगे, कषायचतुष्के, सास्वादनमार्गणायाञ्चेति सर्वसंख्यया विंशतौ मार्गणासु 'सव्वाण' त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , मार्गणाया आन्तर्मौहूर्तिकत्वात् एकस्यैवाऽन्तर्मुहूर्त्तात्मकस्याऽऽयुर्बन्धाकर्षस्य प्रथमचरमसमययोरपि तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । अथात्रैव कञ्चन विशेषं दर्शयामः– यद्यपि काययोगौदारिककाययोगमार्गणयोरुत्कृष्टकायस्थितिरसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मिका अस्ति तद्यपि तत्रोत्कृष्टरसबन्धकानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वात् तेषाञ्चाऽन्तर्मुहूर्त्तात् परतो योगान्तरप्रवर्त्तनेन मार्गणापरावृत्तिः । तथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां लब्ध्यपर्याप्तो जघन्यायुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रियभवचरमत्रिभागप्रथमसमये उत्कृष्टरसं बद्ध्वा नानाभवेषु चानुत्कृष्टरसं बध्नन् आस्ते, ततो मार्गणासत्कचरमभवस्य द्विचरमान्तर्मुहूर्तचरमसमय उत्कृष्टरसं बध्नाति । इह नानाभवसत्कनानान्तर्मुहूर्त्तानां मीलनेऽपि एकमेवाऽन्तर्मुहूर्त्तं, तेषामनेकभेदभिन्नत्वात् । वैक्रियकायाऽऽहारककाययोगिनामपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वात् अन्तर्मुहूर्त्तात् परतो योगान्तरप्रवर्त्तनेन मार्गणापरावृत्तिः । एवमेव कषायचतुष्के सास्वादनमार्गणायाञ्चेति ॥५२९॥

अथ स्त्रीपुरुषवेदमार्गणयोराह—

थीपुरिसेसु तिभागो देसूणो होइ पुव्वकोडीए ।
णिरयाउस्सियराणं देसूणा सगुरुकायठिई ॥५३०॥

(प्रे०) 'थीपुरिसेसु' इत्यादि, स्त्रीवेदपुरुषवेदमार्गणयोर्नरकायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनः पूर्वकोटित्रिभागः, अनन्तरभवे मार्गणान्तरगमनात् वर्त्तमानभवसत्काऽऽकर्षद्वयान्तरालस्य चैतावन्मात्रत्वात् । तथा 'इयराणं' ति देवमनुष्यतिर्यगायुषां देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, यथासम्भवं मार्गणाऽऽद्यन्तयोरेव तदुत्कृष्टरसबन्धस्य निर्वर्त्तनात् । तत्र देवायुषो भावना–मार्गणाप्रारम्भे वर्षपृथक्त्वाऽऽयुष्को मनुष्यो मानुषी वा यथासंभवं शीघ्रं देवायुषः समयमुत्कृष्टरसं बध्नाति, ततस्तदपवर्त्य मध्यमस्थितिकदेवत्वेनोत्पद्यते ततोऽपि मार्गणाद्विचरमान्तर्मुहूर्त्तचरमसमये देवायुष उत्कृष्टरसं बद्ध्वा परिणामह्रासेन तदपवर्त्य वेद्यमानञ्चायुः समाप्य मार्गणान्तरं व्रजति । एवं तिर्यग्मनुष्यायुषोरपि यथासंभवं भावनीयम् ॥५३०॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह––

देवाउगस्स णपुंसे ऊणतिभागोऽत्थि पुव्वकोडीए ।
सेसाण तिआऊणं देसूणा सगुरुकायठिई ॥५३१॥

(प्रे०) 'देवाउगस्स' त्ति नपुंसकवेदमार्गणायां देवायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनः पूर्वकोट्या एकत्रिभागः, अनन्तरद्वितीयभवे मार्गणाया अनवस्थानात्, वर्तमानभवायुर्बन्धाकर्षद्वयान्तरालस्य च यथोक्तमानत्वात्। तथा 'सेसाण' त्ति नरकमनुष्यतिर्यगायुषां देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः,यथासंभवं मार्गणाद्यान्तयोरेव तदुत्कृष्टरसबन्धनिर्वर्तनात् ,तद्यथा-संज्ञित्वे उत्कृष्टरसं बद्ध्वा तदपवर्त्य संख्येयवर्षायुष्कतयोत्पद्य तदायुः समाप्य क्रमेणासंज्ञिषूत्पद्य तत्कायस्थितिं यावदुत्कृष्टरसं न बध्नाति, ततः संज्ञित्वे पुनर्यथासंभवं तदुत्कृष्टरसं बध्नातीति ॥५३१॥

अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्वाह--

मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥५३२॥

(प्रे०) 'मणणाण' इत्यादि मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकचारित्रं छेदोपस्थापनीयचारित्रं परिहारविशुद्धिचारित्रं देशविरतिरिति षट्सु मार्गणासु देवायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनः पूर्वकोट्या एकत्रिभागः, अनन्तरभवे मार्गणाया अनवस्थानात् वर्तमानभवे आकर्षद्वयान्तरालस्य चैतावन्मात्रत्वात्। शेषायुषामत्र बन्धाभाव इति ॥५३२॥ अथ मत्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

अण्णाणदुगे अयते अभवियमिच्छत्तगेसु विण्णेयं ।
आऊण चउण्हं अपि असंखिया पोग्गलपरट्टा ॥५३३॥

(प्रे०) 'अण्णाणदुगे' इत्यादि, अज्ञानद्विकेऽयतमार्गणायामभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायाञ्चेति पञ्चसु मार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां न तु एकस्य द्वयोरेव वेति अपेरर्थः, उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, असंज्ञ्युत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात्, भावनात्र नपुंसकवेदमार्गणायां यथा त्रयाणामायुषां कृता तथैव ॥५३३॥ अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामाह—

विब्भंगे देसूणो कोडितिभागो हवेज्ज पुव्वाणं ।
आऊण चउण्ह परे भणन्ति णेयं मुहुत्तंतो ॥५३४॥

(प्रे०) 'विब्भंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां चतुर्णामप्यायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनः पूर्वकोटित्रिभागः, यतो देवायुषः उत्कृष्टरसबन्धका-नवमग्रैवेयकप्रायोग्यसुरायुर्बन्धकमनुष्या एव,शेषत्रयाणामुत्कृष्टरसबन्धकास्तु कर्मभूमिजा मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा,तेषामाकर्षद्वयान्तरालस्योत्कृष्टतोऽपि यथोक्तमानत्वात्। न च तेषां भवद्वयमपेक्ष्याऽतोऽप्यधिकमन्तरं भवतीति वाच्यम् ,मनुष्यतिरश्चामपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽनभ्युपगमेन एकभवसत्काऽऽकर्षद्वयान्तरालस्यैवेहोपयुक्तत्वात्। अथ मतान्तरं दर्शयति, 'परे' त्ति अन्ये महाबन्धकारा इत्यर्थ, प्रस्तुतमार्गणायां

चतुर्णामप्यायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तमेव निगदन्ति, तेषां मते मनुष्यतिरश्चां विभङ्गज्ञानस्योत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं यावदेव स्थायित्वात् ॥५३४॥

अथ अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोराह—

होइ असंखपरट्टा तिण्हाऊणं अचक्खुभवियेसुं ।
देवाउगस्स णेयं देसूणो अद्धपरियट्टो ॥५३५॥

(प्रे०) '**होइ**' इत्यादि, अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायाश्च त्रयाणामायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, संज्ञिन एव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् असंज्ञ्युत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् , भावनात्र नपुंसकवेदमार्गणावद् । देवायुषो देशोनोऽर्द्धपुद्गलपरावर्त्तः, सम्यग्दृष्टिमनुष्यस्यैव तद्बन्धकत्वात् सम्यक्त्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् । एतन्मार्गणाद्वये चतुर्णामप्यायुषामन्तरमोघवदेव भवतीति भावः ॥५३५॥

अथ लेश्यामार्गणासु प्रकृतमाह—

लेसासु मुहुत्तंतो असुहासु चउण्ह तह सुहासु भवे ।
देवाउस्स छमासा देसूणाऊण सेसाणं ॥५३६॥

(प्रे०) '**लेसासु**' इत्यादि, '**असुहासु**' त्ति तिसृषु अप्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकं चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , मनुष्यतिरश्चां विवक्षितलेश्याया उत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं यावदेव स्थायित्वात् तेषामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वाच्च । तथा '**सुहासु**' त्ति तिसृषु प्रशस्तलेश्यासु प्रत्येकं देवायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं, मनुष्याणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् , तेषां च विवक्षितलेश्याया उत्कृष्टतोऽपि आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । तथा '**सेसाणं**' ति उक्तशेषयोर्मनुष्यतिर्यगायुषोर्बन्धप्रायोग्यस्यान्यतरस्यायुष इत्यर्थः, कियदित्याह '**देसूणा**' इत्यादि, प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाः षण्मासाः, प्रशस्तलेश्याकदेवानामेव तद्बन्धकत्वात् , तेषामाकर्षद्वयान्तरालस्योत्कृष्टतो यथोक्तमानत्वात् ॥५३६॥ अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

देसूणा छम्मासा खइए मणुयाउगस्स विण्णेयं ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥५३७॥

(प्रे०) '**देसूणा**' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाः षण्मासाः, देवस्याऽऽकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् । देवायुषस्तु देशोनः पूर्वकोट्या एकत्रिभागः, संख्येयवर्षायुष्कस्य बद्धजिननाम्नो मनुष्यस्यायुर्बन्धाकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् । अत्रेयं भावना- क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुत्कृष्टतस्त्रयश्चत्वारो वा भवा बाहुल्येन संभवन्ति । तत्र देवायुर्बन्धस्य संभवः प्रथमे द्वितीये वा भवे । तत्रापि द्वितीयभवे युगलिकतयैवोत्पत्तिः, अतो न

तत्रोत्कृष्टरसबन्धसंभवः, ततः प्रथमे भवे अर्थाद् यस्मिन् भवे क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्तं तस्मिन् भव इत्यर्थः, प्रकृष्टमन्तरं लभ्यते। तत्र च यदि अबद्धायुष्कः क्षायिकसम्यक्त्वमासादयति तदा स क्षपकश्रेणिमारुह्य **सिद्धिसौधमलङ्करोति**, अतो न तस्यायुर्बन्धसम्भवः। अथ यः प्रथममेकाकर्षेण देवायुर्बद्ध्वा क्षायिकसम्यक्त्वं लभते तस्य यद्यपि द्वितीयेन तृतीयेन वाऽऽकर्षेण आयुर्बध्नतोऽन्तरं संभवति, तथापि तत् पूर्वकोटेर्देशोननवभागादिमात्रं, तथा च सति न तत्प्रकृष्टान्तरम्। अतो यः प्राग् जिननाम निकाचितं बद्ध्वा पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्नोति, सोऽबद्धायुष्कोऽपि न श्रेणिं प्रतिपद्यते, ततस्तादृशं बद्धजिननामानं संख्येयवर्षायुष्कमाश्रित्योत्कृष्टमन्तरं संभवतीति तथैव भावितम् ॥५३७॥

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह—

सेसासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण आउगाणं तु।
देसूणा उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णेयं ॥५३८॥

(प्रे०) '**सेसासु**' इत्यादि, अष्टचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासूक्तत्वात् उक्तशेषासु पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः अपर्याप्तत्रसकायः ज्ञानत्रिकं चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं संज्ञी आहारीति पञ्चदशसु मार्गणासु '**सप्पाउग्गाण**' त्ति यस्यां मार्गणायां यावन्ति आयूंषि बध्यन्ते तस्यां तावतामायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः ॥५३८॥ इति मार्गणास्वायुषामुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं निरूप्य तत्रैव तेषामनुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य प्रतिपिपादयिषयादौ तावज्जघन्यमन्तरं प्रतिपादयन्नाह—

सव्वासु मग्गणासुं जहण्णगमणुक्कसाणुभागस्स।
अंतरमेगो समयो सप्पाउग्गाण आऊणं ॥५३९॥
णवरि सुराउस्स भवे अंतरमाहारमीसजोगे णो।
अहव जहण्णं समयो णेयं परमं दुवे समया ॥५४०॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु आयुर्बन्धार्हासु त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु '**सप्पाउग्गाण**' त्ति यस्यां मार्गणायां यावतामायुषां बन्धसंभवस्तस्यां तावतामित्यर्थः, अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, अनुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले समयमुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात्। अत्रैव विशेषं दर्शयति '**णवरी**' त्यादिना, नवरं देवायुष आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां तन्न भवति, कुतः? उत्कृष्टरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमय एवाभ्युपगमेनोत्कृष्टरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाऽपगमात्। '**अहव**' ति वाकारो मतान्तरद्योतनपरः, ततो मतान्तरेण जघन्यमन्तरमेकः समयः, मार्गणाद्विचरमादिसमयेऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धाभ्युपगमेनानुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयमुत्कृष्टरस-

बन्धसम्भवात् । तथा 'परमं' ति उत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, उत्कृष्टविशुद्धेरुत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वेनानुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले समयद्वयमुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । इह जघन्यस्य प्रस्तावे यदुत्कृष्टस्य निरूपणं तल्लाघवार्थं ज्ञेयम् ।।५३९-५४०।। अथानुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह—

सव्वणिरयदेवेसुं सप्पाउग्गाण तिरिणराऊणं ।
देसूणा छम्मासा उक्कोसं अंतरं णेयं ।।५४१।।

(प्रे०) 'सव्वणिरये'त्यादि अष्टासु नरकमार्गणासु त्रिंशति देवमार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाः षण्मासाः, अनन्तरभवे मार्गणान्तरगमनाद् वर्त्तमानभवे आकर्षद्वयान्तरस्य चैतावन्मात्रत्वात् । तच्च प्रकृतिबन्धान्तरापेक्षया समयचतुष्केणाभ्यधिकं ज्ञेयम् । कुतः ? प्रथमाकर्षप्रान्ते समयद्वयं चरमाकर्षस्य चादौ समयद्वयमुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । 'सप्पाउग्गाण' त्ति सप्तमनरकमार्गणायां तिर्यगायुषः, आनतादिसुरमार्गणासु पुनर्मनुष्यायुष एव यथोक्तमन्तरं वाच्यम् , इतरस्य तत्र बन्धाऽनर्हत्वात् ।।५४१।। अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वाह—

तिरितिपणिंदितिरिणरासण्णीसुं पुव्वकोडितंसंतो ।
तिण्हाऊणऽब्भहिया कोडी पुव्वाण साउस्स ।।५४२।।

(प्रे०) 'तिरितिपणिंदि०' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमती मनुष्यौघः पर्याप्तमनुष्यः मानुषी असंज्ञीति अष्टासु मार्गणासु 'तिण्हाऊण' त्ति त्रयाणामायुषां, तत्र तिर्यग्गत्योघादयश्चत्वारोऽसंज्ञी चेति पञ्चसु मार्गणासु देवनरकमनुष्यायुषां तिसृषु मनुष्यमार्गणासु तु देवनरकतिर्यगायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वकोटया देशोन एकत्रिभागः, अनन्तरद्वितीयभवे मार्गणाविरहात् एकभवसत्काकर्षद्वयान्तरालस्य चैतावन्मात्रत्वात् । तथा 'साउस्स' त्ति स्वायुषः, किमुक्तं भवति ? तिर्यग्गत्योघादिषु तिर्यगायुषो मनुष्यमार्गणासु तु मनुष्यायुषो अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'अब्भहिया' त्ति पूर्वकोटयेकत्रिभागेनाभ्यधिका पूर्वाणां कोटिः, अनन्तरभवेऽपि मार्गणाया अवस्थानात् भवद्वयसत्कायुर्बन्धद्वयान्तरालस्य चैतावन्मात्रत्वात् , तद्यथा—पूर्वकोटयायुष्को मनुष्यादिः स्वभवचरमैकत्रिभागशेषे मनुष्याद्यायुर्बध्नाति ततो भवान्तरे पूर्वकोटयायुष्कमनुष्यादितयोत्पद्य भवद्विचरमान्तर्मुहूर्ते पुनर्मनुष्याद्यायुर्बध्नातीति । ।।५४२।। अथापर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह—

अपमत्तपणिंदितिरियमणुमपणिंदितसउरलमीसेसुं ।
तिरियमणुसाउगाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ।।५४३।।

(प्रे०) 'अपमत्त०' इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यो अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तत्रसकायः औदारिकमिश्रकाययोग इति पञ्चसु मार्गणासु तिर्यग्मनुष्यायुषोः प्रत्येकमन्तर्मु-

त्वम्, मार्गणाया एवान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । तत्रापि अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां तिर्यगायुषो भवद्वयसत्काऽऽयुर्बन्धद्वयापेक्षया, द्वितीयभवे मार्गणावस्थानात्; मनुष्यायुषस्तु एकभवसत्काकर्षद्वयापेक्षया, अनन्तरभवे मार्गणाविरहात् । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मनुष्यायुषो भवद्वयसत्काऽऽयुर्बन्धद्वयापेक्षया, अनन्तरभवे मार्गणावस्थानात् । तिर्यगायुषस्तु एकभवसत्काकर्षद्वयापेक्षया, अनन्तरभवे मार्गणाविरहात् । शेषासु तिसृषु मार्गणासु तु द्वयोरप्यायुषोर्भवद्वयसत्कायुर्बन्धद्वयापेक्षया, तासां मार्गणानां तिर्यग्मनुष्यसाधारणत्वात् ॥५४३॥ अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

सव्वेसुं एगिंदियविगलिंदियपंचकायभेएसुं ।
अहिया सगुरुभवठिई साउस्सियरस्स ताअ तंसंतो ॥५४४॥

(प्रे०) '**सव्वेसु**' इत्यादि, सप्तसु एकेन्द्रियमार्गणासु नवसु विकलेन्द्रियमार्गणास्वेकोनचत्वारिंशत्पृथ्वीकायौघादिकायमार्गणासु च स्वायुषस्तिर्यगायुष इत्यर्थः, अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमेकत्रिभागेनाऽभ्यधिका तत्तन्मार्गणोत्कृष्टभवस्थितिः, द्वितीयभवेऽपि मार्गणाया अवस्थानाद् भवद्वयसत्काऽऽयुर्बन्धद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् । **तद्यथा**-कश्चिदुत्कृष्टस्थितिकः पृथ्वीकायादिर्जन्तुः त्रिभागावशेषे स्वायुषि पृथ्वीकायादिसत्कमुत्कृष्टस्थितिकमायुर्बध्नाति तत उत्कृष्टस्थितिकानन्तरद्वितीयभवद्विचरमान्तर्मुहूर्ते पुनस्तिर्यगायुरनुत्कृष्टरसं बध्नाति तदा तावदन्तरं भवतीति । तथा '**इयरस्स**' त्ति देवनरकायुषोस्तथास्वाभाव्येनेह बन्धाभावाद् मनुष्यायुषः '**ताअ तंसंतो**' त्ति देशोनः स्वोत्कृष्टभवस्थितेरेकत्रिभागः, अनन्तरद्वितीयभवे मार्गणाविरहाद् वर्तमानैकभवसत्काऽऽकर्षद्वयान्तरस्यैतावन्मात्रत्वात् । तेजस्कायवायुकायसत्कचतुर्दशकायभेदेषु मनुष्यायुषोऽन्तरं न वाच्य, तत्र तद्बन्धाभावात् ॥५४४॥ अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

हीणा गुरुकायठिई दुपणिंदितसेसु चक्खुमणणीसुं
मणुसाउस्स पुहुत्तं जलहिसयाण इयराऊणं ॥५४५॥

(प्रे०) '**हीणा**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः चक्षुर्दर्शनं संज्ञीति षट्सु मार्गणासु मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, मार्गणाऽऽरम्भावसानयोर्यथासंभव तद्बन्धकरणात्, **तद्यथा**-कश्चिदेकेन्द्रियादिर्जन्तुः पञ्चेन्द्रियादिमार्गणायां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया प्रविश्य मनुष्यायुर्बध्नाति ततो मनुष्यतयोत्पद्य तिर्यगायुर्बध्नाति, ततः प्रस्तुतमार्गणामजहन् मनुष्यायुर्वर्जानि त्रीण्यायूंषि भूयो भूयो बध्नाति यथासंभवं मार्गणाप्रान्ते मनुष्यायुर्बध्नाति, तमाश्रित्योत्कृष्टमन्तरमायाति । तथा '**इयराऊणं**' ति इतरेषामायुषां प्रकृतमार्गणासु चतुर्णामप्यायुषां बन्धार्हत्वान्मनुष्यायुषश्चोक्तत्वाद् नरकदेवतिर्यगायुषामित्यर्थः अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं सागरोपमशतपृथक्त्वं, सकृन्नरकाद्यायुर्बन्धकस्य यथोक्तकालात् परतोऽवश्यं नरकाद्यायुर्बन्धोपलम्भात् ॥५४५॥ अथ वैक्रियकाययोगादिमार्गणास्वाह—

सप्पाउग्गाऊणं समया दोण्णि पणमणवयेसु तहा ।
वेउव्वाहारेसुं कसायचउगम्मि सासाणे ॥५४६॥

(प्रे०) 'सप्पाउग्गाऊण' मित्यादि, पञ्चमनोयोगमार्गणाः पञ्चवचोयोगमार्गणा वैक्रियकाययोग आहारककाययोगः कषायचतुष्कं सास्वादनमिति सप्तदशसु मार्गणासु 'सप्पाउग्गाऊणं' ति स्वप्रायोग्याणामायुषाम्, तद्यथा–वैक्रियकाययोगमार्गणायां मनुष्यतिर्यगायुषोराहारककाययोगे एकस्य देवायुषः सास्वादने नरकायुर्वर्जत्र्यायुषां शेषचतुर्दशमार्गणासु चतुर्णामप्यायुषामित्यर्थः, अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकमाकर्षान्तरस्यासंभवात् एकस्मिन्नाकर्षे चानुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले उत्कृष्टतोऽपि समयद्वयमुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्भवात् ॥५४६॥

अथ काययोगमार्गणायामाह—

मणुसाउगस्स काये णेयं देसूणजेट्ठकायठिई ।
अहियगुरुभूभवठिई तिरियाउस्स इयराण दो समया ॥५४७॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'मणुसाउ०' इत्यादि, काययोगौघमार्गणायां मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, कायस्थित्याद्यन्तयोरेव यथासंभवं तद्बन्धोपलम्भात्, तद्यथा-कश्चिदेकेन्द्रियोऽपर्याप्तमनुष्यसत्कमायुर्बध्नाति ततो मनुष्यतयोत्पद्य तत्रैकेन्द्रियसत्कायुर्बद्ध्वा एकेन्द्रियेषु गतः सन् एकेन्द्रियसत्कान् नानाभवान् कुर्वन् तत्रैकेन्द्रियत्वे असंख्येयान् पुद्गलपरावर्त्तनतिवाहयति, ततः काययोगकायस्थितेरन्तर्मुहूर्त्ते सावशेषे मनुष्यायुर्बध्नाति । इहाऽतोऽन्यथापि भावना मनीषिभिरागमाविरोधेन कार्येति । तथा तिर्यगायुषः पृथ्वीकायोत्कृष्टभवस्थितिः, प्रकृतमार्गणायां तिर्यगायुर्बन्धान्तरस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् । तद्यथा–कश्चिदुत्कृष्टस्थितिकपृथ्वीकायः स्वभवस्थितेरेकत्रिभागावशेषे पारभविकं द्वाविंशतिसहस्राब्दमितं पृथ्वीकायोत्कृष्टायुर्बद्ध्वा पृथ्वीतयोत्पद्य भवचरमान्तर्मुहूर्त्ते पुनस्तिर्यगायुर्बध्नाति । तथा 'इयराण' त्ति देवनारकायुषोर्द्वौ समयौ, संज्ञिमनुष्यतिरश्चां योगस्य परावर्त्तमानत्वात् । ततः किम् ? एकस्मिन्नाकर्षेऽनुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले उत्कृष्टतोऽपि समयद्वयमुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् ॥५४७॥ अथौदारिककाययोगमार्गणायामाह–

ओरालिये तिभागो देसूणो जेट्ठभूभवठिईए ।
तिरियणराऊण भवे णिरयसुराऊण दो समया ॥५४८॥

(प्रे०) 'ओरालिये' इत्यादि, औदारिककाययोगमार्गणायां तिर्यग्मनुष्यायुषोरनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पृथ्वीकायोत्कृष्टभवस्थितेर्देशोन एकत्रिभागः, पृथ्वीकायस्याऽऽयुर्बन्धाकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथा नारकदेवायुषोर्द्वौ समयौ, संज्ञिमनुष्यतिरश्चां योगस्य परावर्त्तमानत्वात् एकस्मिन्नाकर्षेऽनुत्कृष्टरसबन्धयोरन्तराले समयद्वयमुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् ॥५४८॥

अथ स्त्रीपुरुषवेदमार्गणयोराह—

देसूणपुव्वकोडितिभागो णिरयाउगस्स थीअ पुमे ।
पल्लुदहिसयपुहुत्तं कमसो आऊण दोण्ह भवे ॥५४९॥
देवाउगस्स थीए कोडिपुहुत्तेण होइ पुव्वाणं ।
अहियाऽडवण्णपलिया तेत्तीसुदही पुमेऽब्भहिया ॥५५०॥

(प्रे०) 'देसूणपुव्वकोडि०' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां पुरुषवेदमार्गणायाञ्च नरकायुषो-ऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनः पूर्वकोटया एकत्रिभागः, अनन्तरभवे मार्गणाया अनवस्थानात्, ततः किम् ? संख्येयवर्षायुष्कमनुजतिरश्चामेकस्मिन् भवे आयुर्बन्धाकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथा 'दोण्ह' त्ति नरकायुष उक्तत्वात् देवायुषश्चाऽनन्तरगाथायां वक्ष्यमाणत्वाद् द्वयोर्मनुष्यतिर्यगायुषोरित्यर्थः प्रत्येकं यथाक्रमं पल्योपमसागरोपमशतपृथक्त्वम्, स्त्रीवेदमार्गणायां पल्योपमशतपृथक्त्वम्, पुरुषवेदमार्गणायां सागरोपमशतपृथक्त्वम् इति भाव, तद्यथा—कश्चित् स्त्रीवेदिजीवो मानुष्या आयुर्बद्ध्वा मानुषी भवति, सा मानुषी देव्या आयुर्बद्ध्वा देवी भवति. ततः सा देवी तिरश्च्या आयुर्बद्ध्वा तिरश्ची भवति, तिरश्ची देवी तिरश्ची वा भवति इत्येवं गतिद्वये स्त्रीवेदितया पल्योपमशतपृथक्त्वमतिवाह्य कायस्थितिप्रान्ते मनुष्यायुर्बद्ध्वा मार्गणान्तरं व्रजति, तदा स्त्रीवेदमार्गणायां मनुष्यायुषो यथोक्तमन्तरं प्राप्यते । एवमेव यदाऽऽदौ तिरश्च्या आयुर्बध्नाति ततः पल्योपमशतपृथक्त्वं यावद् यथासंभवं देव्या मानुष्याश्चायुर्बध्नाति मार्गणाप्रान्ते पुनस्तिर्यगायुर्बध्नाति तदा स्त्रीवेदमार्गणायां मनुष्यायुषो यथोक्तमन्तरं प्राप्यते । पुरुषवेदेऽपि एवमेव भावना कार्या, नवरं तत्र देवस्य तिरश्चः, देवस्य मनुष्यस्य वाऽऽयुर्बध्नन् सागरोपमशतपृथक्त्वमतिवाहयतीति वाच्यम् । 'देवाउगस्स' त्ति स्त्रीवेदमार्गणायां देवायुषः पूर्वकोटिपृथक्त्वेनाभ्यधिकानि अष्टपञ्चाशत् पल्योपमानि, तद्यथा—पूर्वकोट्यायुष्का स्त्रीशानदेवीसत्कमुत्कृष्टमायुर्बध्नाति ततः सा देवी पूर्वकोटयायुष्कतिरश्चीतया मानुषीतया वा यथासंभवं सप्तभवानतिवाह्य अष्टमभवे त्रिपल्योपमायुष्का युगलिनी भूत्वा प्रान्ते देवायुर्बध्नाति । 'पुमे' त्ति पुरुषवेदमार्गणायामभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, तद्यथा—पूर्वकोटयायुष्कमनुष्यः स्वायुष एकत्रिभागेऽवशेषे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितं विजयादिसुरायुर्बध्नाति ततो देवो भवति. देवलोकाच्च्युतः पूर्वकोटयायुष्को मनुष्यो भूत्वा भवचरमान्तर्मुहूर्ते पुनर्देवायुषोऽनुत्कृष्टरसं बध्नाति, एवं पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकपूर्वकोटयाऽभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणीति । ॥५४९-५५०॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह—

णपुमे गुरुकायठिई ऊणा दोण्ह जलहिसयपुहुत्तं ।
तिरियाउस्स सुराउस्स पुव्वकोडीअ तंसंतो ॥५५१॥

(प्रे०) 'णपुमे' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां 'दोण्ह' त्ति द्वयोः तिर्यक्सुरायुषोरिहैव वक्ष्यमाणत्वाद् नरकमनुष्यायुषोरित्यर्थः अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः; साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात्, तद्यथा–नपुंसकवेदी मनुष्यस्तिर्यग् वा नरकायुर्बद्ध्वा नरके तत् समाप्य संज्ञी भवति, तत एकेन्द्रियादिषूत्पद्यासंख्येयान् पुद्गलपरावर्त्तान् तत्रातिवाहयति, ततो मार्गणावसाने यथासंभवं पञ्चेन्द्रियो भूत्वा नारकजघन्यस्थितिं बध्नाति तांश्च समाप्य मार्गणान्तरं व्रजति । मनुष्यायुषोऽप्यसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ता एवमेव भावनीयाः । तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं सागरोपमशतपृथक्त्वम्, तिर्यग्गतेरप्युत्कृष्टान्तरस्यैतावन्मात्रत्वात् । तद्यथा–कश्चिदेकेन्द्रियादिः संज्ञिनपुंसकवेदि तिर्यगायुर्बद्ध्वा तिर्यग् भवति, ततो नारकस्ततो नपुंसकमनुष्यस्ततो नारको नपुंसकमनुष्यो वा, एवं नरकनपुंसकमनुष्ययोः गतिद्वय एव गमनकालं समाप्य प्रान्ते तिर्यगायुर्बध्नाति, सर्वेषां मिलने सागरोपमशतपृथक्त्वमिति । तथा 'सुराउस्स' त्ति देवायुषो देशोन एकत्रिभागः पूर्वकोट्याः, अनन्तरद्वितीयभवे मार्गणाया अनवस्थानादेकभवसत्काकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् ॥५५१॥ अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह–

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे मुणेयव्वं ।
अब्भहिया तेत्तीसा जलहीणं णरसुराऊणं ॥५५२॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, ज्ञानत्रिके अवधिदर्शने सम्यक्त्वौघे क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायाञ्चेति मार्गणाषट्के मनुष्यदेवायुषोः प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, तद्यथा–षण्मासावशेषे स्वायुषि कश्चित् सम्यग्दृष्टिर्देवो मनुष्यभवसत्कं पूर्वकोट्यायुष्कं बद्ध्नाति, ततो मनुष्यो भूत्वा प्रान्ते प्रकृष्टस्थितिकं देवायुर्बध्नाति ततो देवो भूत्वाऽसंक्षेप्याद्धायां पुनर्मनुष्यायुर्बध्नाति, एवमन्तर्मुहूर्तन्यूनषण्मासाभ्यधिकपूर्वकोट्या अभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि मनुष्यायुरनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टान्तरं प्राप्यते । अथ देवायुषो भावना–कश्चित् पूर्वकोट्यायुष्कः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः स्वभवचरमत्रिभागेऽवशेषे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममितं देवायुर्बद्ध्वा देवो भूत्वा देवायुःक्षयेण पूर्वकोट्यायुष्को मनुष्यो भवति तत्र स्वभवचरमान्तर्मुहूर्त्ते पुनर्देवायुर्बध्नाति, एवम् अन्तर्मुहूर्त्तन्यूनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकपूर्वकोट्या अभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणीति ॥५५२॥ अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्वाह–

मणणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारदेसेसुं ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ॥५५३॥

(प्रे०) "मणणाणे" त्यादि, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकचारित्रं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिचारित्रं देशसंयम इति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं देवायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वकोट्या एकत्रिभागो देशोनः, एकभवसत्काऽऽकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात् ॥५५३॥

अथ अज्ञानद्विकादिमार्गणास्वाह—

अण्णाणदुगे अजए अचक्खुभवियेयरेसु मिच्छत्ते।
ओघव्व जाणियव्वं होइ चउण्हं पि आऊणं ॥५५४॥

(प्रे०) 'अण्णाणदुगे' इत्यादि, अज्ञानद्विकम् अयतः अचक्षुर्दर्शनं भव्यः 'इयर' त्ति अभव्यो मिथ्यात्वमिति सप्तसु मार्गणासु चतुर्णामपि आयुषामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, कुतः ? मार्गणाया असंख्येयपुद्गलपरावर्त्तेभ्योऽपि अधिकतरकालस्थायित्वात् चतुर्गतिकानामपि जीवानां मार्गणान्तःपातित्वाच्च। अथौघवदेव दर्शयामः–तिर्यगायुषः सागरोपमशतपृथक्त्वं सकृत्तिर्यगायुर्बन्धकस्य अतः परं नियमात्तिर्यगायुर्बन्धप्रवर्त्तनात्। शेषाणां त्रयाणामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाकरणात् ॥५५४॥

अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामाह—

विब्भंगे देसूणो कोडितिभागो हवेज्ज पुव्वाणं।
आऊण चउण्ह परे भणन्ति किण्हव्व विण्णेयं ॥५५५॥

(प्रे०) 'विब्भंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां चतुर्णामप्यायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वकोट्या एकत्रिभागो देशोनः, मनुष्यतिरश्चोरायुर्बन्धाकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात्, अथात्रैव मतान्तरं दर्शयति 'परे' इत्यादिना, 'परे' त्ति अन्ये आचार्या भणन्ति चतुर्णामप्यायुषामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'किण्हव्व' त्ति अनन्तरगाथायां वक्ष्यमाणकृष्णलेश्यामार्गणावद् विज्ञेयम्, तद्यथा–मनुष्यतिर्यगायुषोर्देशोनाः षण्मासाः, देवनारकाणामाकर्षद्वयान्तरालस्यैतावन्मात्रत्वात्, मनुष्यतिरश्चां तद्बन्धकत्वेऽपि एतेषामाचार्याणां मते मनुष्यतिरश्चामुत्कृष्टतोऽपि विभङ्गज्ञानस्यान्तर्मुहूर्त्तस्थायित्वात्। तथा देवनारकायुषोर्द्वौ समयौ, मनुष्यतिरश्चामेव तद्बन्धकत्वात्तेषां चास्मिन्मते विभङ्गज्ञानस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वेनैकस्मिन्नेवाकर्षे उत्कृष्टरसबन्धप्रयुक्तस्यैवानुत्कृष्टरसबन्धान्तरस्य संभवात् ॥५५५॥

अथ षट्सु लेश्यामार्गणास्वाह—

सव्वासु लेसासु सप्पाउग्गाण तिरिणराऊणं।
देसूणा छम्मासा सेसाऊणं दुवे समया ॥५५६॥

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, सर्वासु षट्संख्याकासु लेश्यामार्गणासु प्रत्येकं स्वप्रायोग्ययोः तिर्यग्मनुष्यायुषोः, तत्र कृष्णादिषु पञ्चसु द्वयोः, शुक्लायां च तिर्यगायुषो बन्धाभावात् केवलं मनुष्यायुष इत्यर्थः, अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाः षण्मासाः, प्रस्तुतमार्गणासु देवान् नारकान् वाऽऽश्रित्योत्कृष्टान्तरस्य संभवात् तेषामायुर्बन्धाऽऽकर्षद्वयान्तरालस्योत्कृष्टतो यथोक्तमानत्वात्। तथा

'सेसाऊणं' ति शेषयोर्द्वयोर्नारकदेवायुषोः प्रत्येकं द्वौ समयौ, मनुजतिरश्चामेव तद्बन्धकत्वात् तेषां लेश्यायाः परावर्त्तमानत्वेनैकस्मिन्नाकर्षे अनुत्कृष्टरसबन्धद्वयान्तराले समयद्वयं यावदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् । इहानयोः लेश्यायाः परावर्त्तमानत्वात् , आकर्षद्वयान्तरालप्रयुक्तमन्तर्मुहूर्त्ताद्यात्मकं तु न संभवति प्रस्तुतमन्तरं, द्वितीयाऽऽकर्षात्प्रागेव विवक्षितमार्गणाया अपगमात् । तथा 'सप्पाउग्गाण' इति गाथापूर्वार्धोक्तमत्राऽप्यनुवर्त्तते, तेन तिसृषु प्रशस्तलेश्यामार्गणासु देवायुष एव प्रस्तुतमन्तरं वाच्यम् , इतरस्य बन्धाभावात् । तिसृषु अप्रशस्तासु तु द्वयोरपीति ।।५५६।।

अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह——

देसूणा छम्मासा खइए मणुसाउगस्स विण्णेयं ।
देवाउस्स तिभागो देसूणो पुव्वकोडीए ।।५५७।।

(प्रे०) 'देसूणा' इत्यादि क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाः षण्मासाः, देवनारकयोरायुर्बन्धाऽऽकर्षद्वयान्तरालस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् । तथा देवायुषो देशोन एकत्रिभागः पूर्वकोटयाः, संख्येयवर्षायुष्कमनुष्यस्यायुर्बन्धाकर्षद्वयान्तराऽस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् ।।५५७।। अथ आहारिमार्गणायामाह—

आहारे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
णिरयणरसुराऊणं ओघव्वऽत्थि तिरियाउस्स ।।५५८।।

(प्रे०) 'आहारे' इत्यादि, आहारिमार्गणायां त्रयाणामायुषामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, यथासंभवं मार्गणाप्रारम्भान्तयोरेव तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । तथा तिर्यगायुष ओघवत् सागरोपमशतपृथक्त्वमित्यर्थः, सकृद्बद्धतिर्यगायुषो मिथ्यादृष्टेरेतावत्कालात् परमवश्यं तिर्यगायुर्बन्धोपलम्भात् ।।५५८।।

तदेवमोघत आदेशतश्चाष्टकर्मणामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तरं निरूप्य जघन्याऽजघन्यरसबन्धयोर्जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तरं निरूपयिषुरादौ तावदोघतो जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं निरूपयन्नाह—

खवगो मामी जेसिं मंदणुभागस्स ताण तीसाए ।
तह तित्थस्स ण हवए मंदणुभागस्स अंतरं चेव ।।५५९।। (गीतिः)
सेमाण जाणऽहिमुहो मामी ताण खलु एगवीसाए ।
भिन्नमुहुत्तं हस्सं अण्णेसिं होअए समयो ।।५६०।।

(प्रे०) "खवगो" इत्यादि, ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं हास्यरती

भयजुगुप्से पुरुषवेदः अशुभवर्णादिचतुष्कमुपघातनामान्तरायपञ्चकमिति यासां त्रिंशतोऽप्रशस्तानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी क्षपको वर्तते तासां, जिननाम्नश्च जघन्यरसबन्धस्यान्तर 'ण हवए' नैव भवति, तत्र त्रिंशतो ज्ञानावरणादीनां तन्नास्ति, क्षपकश्रेणिद्वयाभावात् । जिननाम्नोऽपि नास्ति, तज्जघन्यरसबन्धस्य नरकाभिमुखस्वामिकत्वात् जिननामबन्धकस्य च द्विर्नरकाभिमुखत्वाभावात् । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमाद्या द्वादशकषायाः तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमाहारकद्विकमिति यासामेकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः गुणाद्यभिमुखः तासां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , अभिमुखावस्थाद्वयान्तरालस्य जघन्यतोऽपि आन्तर्मुहूर्त्तिकत्वात् । तथा अष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां हास्यादीनां नवानामध्रुवबन्धिनीनामत्रैव पृथगुक्तत्वात्तद्वर्जानाञ्चतुःपष्टेश्चाध्रुवबन्धिनीनामिति उक्तशेषाणां द्विसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् , अध्रुवबन्धिनीनान्तु एकसमयोऽन्तरं सामयिकाऽबन्धादपि ॥५५९-५६०॥अथौघत एव जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह–

मज्झिमपरिणामो जाण णिरयसुरतिगणराउवज्जाणं ।
सामी सिं चत्ताए उक्कोसमसंखिया लोगा ॥५६१॥
जाण अहिमुहो तेसिं इगवीसाअ तह अरइसोगाणं ।
देसूणाऽद्धपरट्टो सेसाण असंखपरियट्टा ॥५६२॥

(प्रे०) 'मज्झिम०' इत्यादि, मातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती तिर्यगायुः सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनामेति यासां चत्वारिंशतः प्रकृतीनामोघतो जघन्यरसबन्धस्वामित्वनिरूपणे जघन्यरसबन्धस्वामी मध्यमपरिणामः परावर्त्तमानमध्यमपरिणाम उक्तस्तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, तद्रसबन्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितत्वात् , ततः किमिति चेत् , उच्यते, सकृज्जघन्यरसबन्धाध्यवसायं गतः प्राणी यदि समये समये भिन्नं भिन्नमजघन्यरसबन्धाध्यवसायं स्पृशति तदापि असंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितसमयेभ्यः परतः पुनर्जघन्यरसबन्धाध्यवसायं स्पृशत्येव । परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानजघन्यरसाः प्रकृतयस्तु सप्तचत्वारिंशत् , अत एव आह–'णिरयसुरतिगणराउवज्जाणं' ति तासां सप्तानां नरकत्रिकादीनां जघन्यरसबन्धोत्कृष्टान्तरस्यासंख्येयपुद्गलपरावर्त्ततया अत्रैव वक्ष्यमाणत्वात् । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमाद्या द्वादशकषायाः तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमाहारकद्विकञ्चेति यासामेकविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको गुणाद्यभिमुखः तासामरतिशोकयोश्च जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तः, सम्यक्त्वादिगुणाभिमुखत्वान्तरस्यो-

त्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् । अरतिशोकयोर्जघन्यरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः प्रमत्तयतिः, यतित्वान्तरस्य चोत्कृष्टतोऽर्धपुद्गलपरावर्त्तात्मकत्वात् । कुतः ? सकृत्प्राप्तयतिभावस्य जन्तोः संसारावस्थानकालस्याप्युत्कृष्टतस्तावन्मात्रत्वात्, तथा 'खवगो सामी' इत्यादिगाथया ज्ञानावरणपञ्चकादीनां त्रिंशतोऽप्रशस्तप्रकृतीनां जिननाम्नश्च जघन्यरसबन्धान्तरस्याऽचिरादत्रैव जघन्यान्तरनिरूपणक्षणे निषिद्धत्वात् **'सेसाणं'** ति उक्तशेषाणां स्त्रीनपुंसकवेदौ नरकदेवमनुष्याऽऽयूंषि नरकद्विकं देवद्विकं त्रसचतुष्कं पञ्चेन्द्रियजातिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः औदारिकद्विकमुद्योतनाम वैक्रियद्विकमातपनाम चेति त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, तद्यथा–नरकत्रिकादीनामेकेन्द्रियेषु बन्धस्यैवाभावात् । त्रसचतुष्कादीनां सत्यपि बन्धे तेषु तदोघजघन्यरसस्य बन्धाऽसम्भवात् । मनुष्यायुषस्तु तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य तावन्मितत्वात् ॥५६२॥ इत्योघतो जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चान्तरं निरूप्योघत एवाजघन्यरसबन्धस्यान्तरं निरूरूपयिषुस्तस्य जघन्यमुत्कृष्टञ्चान्तरं निरूपयन्नाह—

अंतरमंतमुहुत्तं तइअकसायाइसोलसण्ह तहा ।
आहारदुगस्स भवे लहुमजहण्णाणुभागस्स ॥५६३॥
सेसाणं पयडीणं समयो लहुमंतरं मुणेयव्वं ।
सव्वेसिं पयडीणं गुरुं अतिव्वाणुभागव्व ॥५६४॥

(प्रे०) **'अंतर'** मित्यादि, '···तइअकसाया ॥४०४॥ दुइअकसाया मिच्छं थीणद्धितिगमणचउग ··' इतिगाथात्रयोक्तानां प्रत्याख्यानावरणाख्यतृतीयकषायादीनां षोडशानामाहारकद्विकस्य चाऽजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, तत्प्रकृतिबन्धाऽन्तरस्य जघन्यत आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । तथोक्तशेषाणां षडुत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः । तत्र ज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धिनीनां श्रेणौ समयं यावदबन्धं कृत्वा तत्क्षणं पञ्चत्वमासाद्य दिवि पुनस्तद्बन्धं करोति तमाश्रित्य । अध्रुवबन्धिनीनां तु अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाद्वा । अथाऽजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमतिदिशति **'सव्वेसिं'** मित्यादिना, सर्वासां चतुर्विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् **'अतिव्वाणुभागव्व'** त्ति अनुत्कृष्टरसबन्धवद् भवति, यावत्प्रमाणमन्तरं प्रागनुत्कृष्टरसबन्धमाश्रित्य प्ररूपितं तावत्प्रमाणं तदत्रापि ज्ञेयमिति भावः, कुतः ? बन्धप्रक्रियायाः साम्यात्, तथाहि-यथाऽनुत्कृष्टरसबन्धो नैकवारं दीर्घतरकालं च भवितुमर्हति तथैवाजघन्यरसबन्धोऽपि । अनुत्कृष्टरसबन्धप्रतिपक्षभूतोत्कृष्टरसबन्धो यथा कादाचित्कः तथैवाजघन्यरसबन्धप्रतिपक्षभूतजघन्यरसबन्धोऽपि, यथाऽनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टान्तरं प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरेण प्रायस्तुल्यं तथैवाजघन्यरसबन्धोत्कृष्टान्तरमपीति । अथाऽजघन्यरस-

बन्धस्योत्कृष्टमन्तरमनुत्कृष्टरसबन्धवद् यथा भवति तथा दर्श्यते–मिथ्यात्वं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीनपुंसकवेदौ आद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकं दुर्भगत्रिकं कुखगतिर्नीचैर्गोत्रञ्चेति मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकं द्वात्रिंशं सागरशतं,सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे च तद्बन्धाभावात् सम्यक्त्वमिथ्यात्वान्तरितस्य सम्यक्त्वकालस्योत्कृष्टतो यथोक्तप्रमाणत्वात् । ततः किम् ?, तत्तत्प्रकृतिबन्धान्तरस्य यथोक्तप्रमाणत्वात् । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वकोटिः । नरकायुर्मनुष्यायुः सुरायुर्नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकमिति नवानां तदसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्त्ताः । तिर्यगायुषः सागरोपमशतपृथक्त्वम् । तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नांस्त्रिषष्ट्यधिकं सागरोपमाणां शतं साधिकम् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः । वज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकयोः साधिकं पल्योपमत्रिकम् । आतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकमिति नवानां साधिकं पञ्चाशीत्यधिकं शतं सागरोपमाणाम् । आहारकद्विकस्य देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त्तः । शेषाणामेकषष्टेरन्तर्मुहूर्तमजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमिति सर्वत्र ज्ञेयम् । अत्र हेत्वादयोऽनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टान्तरनिरूपणे दर्शिता एव विज्ञेयाः । इमाश्च ताः शेषा एकषष्टिः प्रकृतयः-ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कमन्तरायपञ्चकं सातासाते संज्वलनचतुष्कं पुरुषवेदः हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम तैजसकार्मणशरीरनाम्नी अगुरुलघुनाम निर्माणनामोपघातनाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनाम जिननाम त्रसदशकमस्थिरमशुभमयशःकीर्त्तिरिति ॥५६३-५६४॥ ओघतो जघन्याजघन्यरसबन्धयोर्जघन्यमुत्कृष्टञ्चान्तरं निरूप्य, मार्गणासु तयोस्तन्निरुरूपयिषुर्यासु नरकौघादिषु मार्गणासु जिननामवर्जानामभिमुखावस्थायां बध्यमानजघन्यरसानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , शेषाणाञ्च तदेकः समयः, तासु 'सेसासु' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् तद्व्यतिरिक्तासु मार्गणासु प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं दर्शयन् पञ्चमनोयोगादिमार्गणासु तद्दर्शयति—

पणमणवयजोगेसुं कायउरलविउवकाययोगेसुं ।
चउसुं कोहाईसुं अणाणतिगसुक्कमिच्छेसुं ॥५६५॥
मंदणुभागस्स भवे सामी जाण खवगो उआहिमुहो ।
सिं णत्थि लहुं समयो सेसाणं आउवज्जाणं ॥५६६॥

(प्रे०) 'पणमण०' इत्यादि, पञ्चमनोयोगमार्गणाः पञ्चवचनयोगमार्गणाः काययोगौघः औदारिककाययोगो वैक्रियकाययोगः क्रोधमानमायालोभा अज्ञानत्रिकं शुक्ललेश्या मिथ्यात्वमिति

द्वाविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं यासां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी क्षपको गुणाभिमुखो वा भवति तासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, क्षपकश्रेणिद्वयाभावात् अभिमुखावस्थाद्वयान्तरालापेक्षया मनोयोगादिमार्गणानामवस्थानकालस्याऽल्पत्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं पुनस्तद्बन्धात् प्राग् मार्गणाया एवाऽपगमात् । अज्ञानमिथ्यात्वमार्गणासु तु गुणाद्यभिमुखावस्थायां बध्यमानजघन्यरसानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमय एव प्रवर्त्तनात् । **'सेसाणं आउवज्जाणं'** ति आयुषामग्रे पृथग् वक्ष्यमाणत्वेन सप्तकर्मणामेव प्रस्तुतत्वाद् । यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी क्षपको गुणाद्यभिमुखो वा न भवति, किन्तु स्वस्थानसंक्लिष्टस्तादृशविशुद्धः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामो वा यासां जघन्यरसबन्धकः, तासां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, स्वस्थानसंक्लेशविशुद्ध्योरनेकधा सम्भवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् । अथेहोक्तासु कासु कासु मार्गणासु कियतीनां कासाञ्च प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति कासाञ्च जघन्यतस्तदेकसमयस्तदेव दर्शयामः–पञ्चमनोयोगमार्गणाः पञ्चवचनयोगमार्गणाः काययोगौघः क्रोधमानमायालोभमार्गणा इति पञ्चदशसु मार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं हास्यरती भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम निद्राद्विकमिति त्रिंशतः मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कं तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमाहारकद्विकं जिननामेति द्वाविंशतेश्चेति सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तत्र ज्ञानावरणपञ्चकादीनां त्रिंशतो जघन्यरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात् । मिथ्यात्वमोहादीनां द्वाविंशतेस्तु जघन्यरसस्य संयमाद्यभिमुखावस्थायां बध्यमानत्वात् । तथाऽष्टपष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, स्वस्थानसंक्लेशेन स्वस्थानविशुद्ध्या परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन वा तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेन जघन्यरसबन्धयोरन्तराले सामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् । तथौदारिककाययोगमार्गणायां मनोयोगमार्गणोक्तानां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रवर्जानामेकोनपञ्चाशत एव प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्त्र जघन्यरसबन्धान्तरस्य सद्भावात् । उक्तशेषाणामेकसप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरमेकः समयः, जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य सम्भवात् । तथा वैक्रियकाययोगमार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमित्येकादशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, सम्यक्त्वाभिमुखेन निर्वर्त्तनीयत्वात् । तथा देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनामिह बन्धाभावात् तद्वर्जानामुक्तशेषाणां पञ्चनवतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तादृग्विशुद्ध्या मध्यमपरिणामेन वा तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशादीनाञ्चेह नैकधा संभवेन

जघन्यरसबन्धयोरन्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य संभवात्। तथा अज्ञानत्रिकं मिथ्यात्वमिति मार्गणाचतुष्के:......[1]पुम[4]चउसंजलण[1]भय[1]कुच्छ[1]हस्स[1]रई। [2]णिद्दादुग [1]मुवघायो [4]कुवण्णचउगं च [4]विग्घाणि॥१४१॥ [6]णव आवरणाणि [4]तइअ [4]दुइअकसाया य[1] मिच्छमोहो य [3]थीणद्धितिग[4]मणचउग' इति जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, संयमाद्यभिमुखावस्थायामासां जघन्यरसबन्धस्य संभवात्। आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावात् उक्तशेषाणामष्टषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, जघन्यरसबन्धयोरन्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात्। तथा शुक्ललेश्यामार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं हास्यरती भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम निद्राद्विकमिति त्रिंशतः प्रकृतीनाम् आद्या द्वादशकषायाः मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमाहारकद्विकमिति अष्टादशानां प्रकृतीनाञ्च जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तत्र ज्ञानावरणपञ्चकादीनां त्रिंशतो जघन्यरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात्। कषायद्वादशकादीनामष्टादशानां जघन्यरसस्य अप्रमत्तादिगुणाभिमुखेन बध्यमानत्वात्तद्बन्धकस्य च मनुष्यत्वात्तस्य च प्रस्तुतमार्गणायाः स्वल्पकालीनत्वात्। तथा सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकतिर्यग्द्विकोद्योतैकेन्द्रियस्थावराऽऽतपनामरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनामत्र बन्धाभावात् उक्तशेषाणामष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् ॥५६५-५६६॥

अथ औदारिकादित्रिमिश्रयोगेष्वाह—

मिस्सतिजोगेसु लहुं समयो सव्वाण उअ विसुद्धयमो।
संकिट्ठो वा सामी जेसिं सिं अंतरं णत्थि ॥५६७॥

(प्रे०) '**मिस्से**' त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगो वैक्रियमिश्रकाययोग आहारकमिश्रकाययोग इति तिसृषु मिश्रयोगमार्गणासु प्रत्येकं बध्यमानानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, एकेन मतेन स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशादिना तज्जघन्यरसबन्धसम्भवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात्। 'उअ' त्ति उतशब्दस्य मतान्तरद्योतनपरत्वात् **अन्येन मतेन** '**जेसिं**' ति यासां प्रकृतीनां विशुद्धतमः '**वा**' त्ति वाकारस्यात्र चार्थत्वेन संग्राहकत्वात् '**संकिट्ठो**' त्ति यासां च संक्लिष्टतमो जघन्यरसबन्धस्य स्वामी भवति तासां जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, अस्मिन् मते प्रस्तुतमार्गणास्वनन्तरसमये भविष्यदौदारिकादिकाययोगिन एव तीव्रविशुद्धिसंक्लेशयोरभ्युपगमेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरसमय एव मार्गणाऽपगमात्। अथेहोक्तासु कस्यां मार्गणायां कियतीनां कासाञ्च प्रकृतीनां मतान्तरेण जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति कासाञ्चाऽस्मिन् मतेऽप्येकः समयः तदेव दर्शयामः,—औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां

'पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि। णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया' इति जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति सर्वसंख्ययैकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तत्तद्बन्धकेषु विशुद्धतमैरेव बन्धकैर्निर्वर्तनीयत्वात्। विशुद्धतमत्वस्य तु मार्गणाचरमसमय एव संभवात्। तथैव देवद्विकं वैक्रियद्विकमष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनाम जिननामेति चतुर्दशानां प्रकृतीनामपि जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, सर्वसंक्लिष्टैर्बध्यमानत्वात्। तथाहारकद्विकनरकद्विकयोरत्र बन्धाभावात् शेषाणां त्रिपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमस्मिन् मतेऽपि एकः समयोऽस्ति; तासां जघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धेन तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा बध्यमानत्वात्, तादृग्विशुद्धिसंक्लेशयोः परावर्तमानमध्यमपरिणामस्य च प्रस्तुतमार्गणायां नैकधा संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात्। वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमित्येकादशानाञ्च जघन्यरसस्य विशुद्धतमेन, तथा त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनामाऽष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः औदारिकद्विकमुद्योतनामाऽऽतपनाम जिननामेति विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य संक्लिष्टतमेन बन्धकेन बध्यमानत्वेनाऽऽसां सर्वसंख्यया नवषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, मार्गणाचरमसमय एव तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेन प्रस्तुतमार्गणायां तासां सकृज्जघन्यरसबन्धादनन्तरसमये मार्गणाया एवापगमादिति। तथा सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकदेवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकरूपाणां चतुर्दशानामत्र बन्धाभावात् शेषाणां सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां स्त्रीनपुंसकवेदयोः अरतिशोकयोः '...... णरदुगुच्चाणि संघयणागिइछक्क खगइदुगं सुहगदुहगतिग'मिति मनुष्यद्विकादीनां त्रयोविंशतेः एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोश्चेति सर्वसंख्यया सप्तत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, स्वस्थानसंक्लेशेन तादृश्या विशुद्ध्या परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात्। तथाहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तत्र '..... पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि॥ णव आवरणाणि' त्ति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतो जघन्यरसस्य सर्वविशुद्धेन, जिननामोच्चैर्गोत्रं प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम शुभध्रुवबन्धिन्योऽष्टाविति षड्विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य सर्वसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वादस्मिन् मते च सर्वसंक्लेशविशुद्ध्योर्मार्गणाचरमसमय एवाऽभ्युपगमेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणाया एवाऽपग-

मात् । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती शोकारतीति दशानामेकः समयः, स्वस्थानविशुद्धयादेस्तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । इति दर्शितं प्रस्तुतमार्गणासु मतान्तरेण जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरम् ॥५६७॥ अथ कार्मणकाययोगादिमार्गणास्वाह—

कम्माणाहारेसुं मज्झिमगो जाण सिं दुहा समयो ।
सेसाण अंतरं णो अवेअसुहमेसु सव्वेसिं ॥५६८॥

(प्रे०) 'कम्मा०' इत्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारमार्गणायाश्च मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमिति मनुष्यद्विकादीनां त्रयोविंशतेः, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकयोः सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति अष्टानां सातवेदनीयादीनाञ्चेति सर्वसंख्यया यासामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी '**मज्झिमगो**' त्ति परावर्तमानमध्यमपरिणामी भवति '**सिं**' ति तासां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य'**दुहा**' त्ति जघन्यमुत्कृष्टश्चाऽन्तरमेकसमयः, मार्गणाकालस्योत्कृष्टतस्त्रिसामयिकत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल उत्कृष्टतोऽप्येकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धसंभवात् । '**सेसाण**' त्ति उक्तशेषाणां सप्तसप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तासु कासाञ्चित् पुरुषवेदादीनां जघन्यरसस्य सर्वविशुद्धयादेः कासाञ्चिदरतिशोकादीनां जघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धयादेर्बध्यमानत्वात् , तादृग्विशुद्धयादेस्तु संज्ञितः संज्ञिष्वेवोत्पद्यमानानां संभवेन तेषां हि प्रस्तुतमार्गणयोरुत्कृष्टतोऽपि द्विसामयिकत्वेन च बन्धद्वयान्तरालस्यैवाऽनवकाशात् । '**व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः**'अत्राऽयं विशेषो बोध्यः-आचार्यान्तराणां मते त्रसप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽपि बन्धकालः द्वावेव समयौ, स्थावरप्रायोग्याणामेव सः त्रिसमयात्मकः, तेषां मतेन इह बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं स्वयमूह्यम् , अनन्तरोक्तादन्यथा सम्भाव्यमानत्वात् विशेषोद्देशाभावात्सप्ततिकादिग्रन्थोक्तेरन्यथाभावाच्च ।

तथाऽवेदमार्गणायां सूक्ष्मसंपरायमार्गणायाश्च बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं '**णो**' त्ति न भवति, कुतः ? इति चेत्, ज्ञानावरणादीनामप्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यरसस्य क्षपकश्रेणौ मार्गणाचरमसमये, सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रयशःकीर्तिरूपाणां प्रशस्तानामपि जघन्यरसस्य उपशमश्रेणेः प्रतिपततो मार्गणाचरमसमय एव संभवेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरमेव मार्गणाया अपगमात् ॥५६८॥ अथ ज्ञानत्रिकादिषु मार्गणास्वाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मे तह उवसमे मुहुत्तंतो ।
मज्झऽट्ठकसायाणं आहारदुगस्स य जहण्णं ॥५६९॥

समयोऽत्थि सायथिरसुहजसतप्पडिवक्खअरइसोगाणं ।
सेसाणिगसट्ठीअ ण परं जिणस्सुवसमे समयो ॥५७०॥

(प्रे०) **'णाणतिगे'** इत्यादि, मत्यादिज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शने सम्यक्त्वौघमार्गणायामुपशमसम्यक्त्वे चेति षट्सु मार्गणास्वप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणामाहारकद्विकस्य च जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, अप्रमत्ताद्यभिमुखावस्थायामेव तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् अभिमुखावस्थाद्वयान्तरालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तथा सातवेदनीयस्थिरनामशुभनामयशःकीर्तिनाम्नां **'तप्पडिवक्ख'** त्ति तत्प्रतिपक्षाणाम् असातवेदनीयादीनां तत्प्रतिपक्षत्वात् असातवेदनीयाऽस्थिरनामाऽशुभनामाऽयशःकीर्तिनाम्नाञ्चेत्यर्थः तथा अरतिशोकयोर्जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं **'समयो'** त्ति एकः समयः । तत्र सातवेदनीयादीनामसातवेदनीयादीनाञ्च जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जन्यत्वेन, अरतिशोकयोस्तु जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्या जन्यत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । तथा **'सेसाण'** त्ति प्रस्तुतासु मार्गणासु शेषाणामेकषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नैव भवति, कुतः ? इति चेत्, तासु कासाञ्चित् ज्ञानावरणादीनां जघन्यरसस्य क्षपकश्रेणावेव संभवात् क्षपकश्रेणिद्वयस्य चाभावात्, कासाञ्चिच्च प्रशस्तध्रुवबन्धिजिननामादीनां जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाद्यभिमुखावस्थायां संभवेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणाया एवाऽपगमात् । **'परं जिणस्स'** इत्यादि, उक्तमार्गणान्तर्गतोपशमसम्यक्त्वमार्गणायां जिननाम्नः जघन्यरसबन्धस्यान्तरं जघन्यतः समयप्रमाणमवसेयम्, स्वस्थानसंक्लेशेन तज्जघन्यरसबन्धस्य निर्वर्तनात् ॥५६९-५७०॥ अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्वाह—

मणणाणसंजमेसुं समइअछेएसु खलु मुहुत्तंतो ।
आहारदुगस्स लहुं इमासु तह देसमीसेसुं ॥५७१॥
मायथिरजुगलजसतप्पडिवक्खाण तह अरइसोगाणं ।
समयो हस्सं ण भवे सेसाणं आउवज्जाणं ॥५७२॥

(प्रे०) **'मणणाणे'** त्यादि, मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकसंयमः छेदोपस्थापनीयसंयम इति चतसृषु मार्गणासु आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं; प्रमत्ताभिमुखस्यैव तज्जघन्यरसबन्धसंभवादभिमुखावस्थाद्वयान्तरालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । **'इमासु'** त्ति प्रस्तुतासु चतसृषु **'तह'** त्ति तथाशब्दस्य संग्राहकत्वात् देशविरतिमिश्रदृष्टिमार्गणयोश्च सातवेदनीयस्थिरनामशुभनामयशःकीर्तिनाम्नां **'तप्पडिवक्खाण'** त्ति तत्प्रतिपक्षभूतानाम-

सातवेदनीयाऽस्थिरनामाऽशुभनामाऽयशःकीर्तिरूपाणां चतसृणाश्च 'तह' त्ति तथाशब्दस्य चकारार्थत्वाद् अरतिशोकयोश्चेति सर्वसंख्यया दशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः। तत्र सातवेदनीयाद्यष्टप्रकृतीनां तथा अरतिशोकयोर्जघन्यरसबन्धस्य क्रमेण परावर्तमानपरिणामेन स्वस्थानविशुद्धया संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धस्य संभवात्। 'सेसाणं' उक्तशेषाणां 'आउवज्जाणं' ति सप्तकर्मणामेव प्रस्तुतत्वात् तत्तन्मार्गणाप्रायोग्याणां शेषप्रकृतीनां प्रस्तावात् जघन्यरसबन्धस्यान्तरं न भवति, कुतः ? इति चेत्, उच्यते, तासु कासाञ्चिद् जघन्यरसस्य क्षपकश्रेणौ बध्यमानत्वात् क्षपकश्रेणिद्वयस्य चाभावात्, कासाञ्चिच्चायताद्यभिमुखावस्थायां बध्यमानत्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणाया एवाऽपगमात्। अथात्र प्रस्तुतमेव किञ्चिद् विस्तरतो भावयामः,तद्यथा-मनःपर्यवज्ञानमार्गणासंयमौघमार्गणासामायिकसंयमच्छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणासु आयुर्वर्जा अष्टषष्टिः प्रकृतयो बन्धार्हाः, तत उक्तशेषाणां पट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं न विद्यते। तत्र ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं पुरुषवेदः संज्वलनकषायचतुष्कं हास्यरती भयजुगुप्सेऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम निद्राद्विकमिति त्रिंशतोऽप्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यरसस्य क्षपकश्रेणावेव बध्यमानत्वात् क्षपकश्रेणिद्वयस्य चाभावात्। जिननामोच्चैर्गोत्रं प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टाविति षड्विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसस्यायताद्यभिमुखावस्थायां बध्यमानत्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाया एव विनाशात्। तथा देशविरतिमार्गणायां सप्ततिः प्रकृतयो बन्धयोग्याः, तत उक्तशेषाणां षष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति। तत्राऽनन्तरगाथाविवरणोक्तानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां त्रिंशतः प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य च जघन्यरसस्याप्रमत्ताभिमुखेन, जिननाम्नो जघन्यरसस्याऽयताभिमुखेनोच्चैर्गोत्रादीनां पञ्चविंशतेर्जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाया एवापगमात्। तथा मिश्रदृष्टिमार्गणायामष्टसप्ततिः प्रकृतयो बन्धार्हाः, तत उक्तशेषाणामष्टषष्टेःप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति। तत्राऽनन्तरगाथाविवरणोक्तानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां त्रिंशतोऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कयोश्च जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेनोच्चैर्गोत्रादीनां पञ्चविंशतेः प्रथमसंहनननाम मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकमिति पञ्चानाञ्च जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाया एवापगमात् ॥५७१-५७२॥ अथ परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं दर्शयन्नाह—

आहारदुगस्स लहु परिहारे अंतरं मुहुत्तंतो।
सेसाण जाणऽभिमुहो सामी सिं अंतरं णत्थि ॥५७३॥

इयराण लहु समयो अहवा सामी हवेज्ज कयकरणो ।
जाण पयडीण तेसिं तीसाए अंतरं णत्थि ॥५७४॥

(प्रे०) **'आहारदुगस्से'** त्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामाहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रमत्ताभिमुखस्वामिकत्वाद् अभिमुखत्वद्वयान्तरालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । तथा **'सेसाण'** त्ति उक्तशेषाणां नास्तीत्यनेन योगः । किमुक्तशेषाणां सर्वासां नास्ति ? नेत्याह–**'जाण'** त्ति जिननामोच्चैर्गोत्रं प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ इति यासां जिननामादीनां षड्विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी **'अभिमुहो'** त्ति प्रकरणात् छेदोपस्थापनीयाऽभिमुखः **'सिं'** ति तासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाऽपगमात् । तथा **'इयराण'** त्ति उक्तातिरिक्तानां चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्र '...पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि' इति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतो जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्धेन, अरतिशोकयोर्जघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धेन बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाजघन्यरसबन्धरूपस्यैकसामयिकान्तरस्य संभवात् । तथा सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् , अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकस्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनादपीति एकेन मतेन । अथ मतान्तरेण निरूपयिषुराह–**'अहवे'** त्यादि, तत्राथवाशब्दस्य मतान्तरद्योतनपरत्वात् यस्मिन् मते **'जाण'** त्ति **'तीसाए'** त्ति यासामनन्तरोक्तानां पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी **'कयकरणो'** त्ति अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणोऽस्ति तस्मिन् मते तासां पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, विवक्षितजन्तोर्निखिले भवचक्रे सकृदेव कृतकरणत्वस्य संभवेन द्विर्जघन्यरसबन्धस्याभावात् तदभावे च तदन्तरालभाविनोऽन्तरस्याऽनवकाशात् । अत्रेदमुक्तं भवति–एकेन मतेन जिननामादीनां षड्विंशतेरेव प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, मतान्तरेण तु तासां षड्विंशतेः पुरुषवेदादीनां त्रिंशतश्चेति षट्पञ्चाशतः प्रकृतीनां तन्नास्तीति ॥५७३-५७४॥ अथ अयतमार्गणायामाह—

अयते भिन्नमुहुत्तं तिरिदुगणीआण होअइ जहण्णं ।
सेसाण जाणऽहिमुहो सिं णत्थि लहु खणोऽण्णेसिं ॥५७५॥

(प्रे०) **'अयते'** इत्यादि, अयतमार्गणायां तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् ,सम्यक्त्वाभिमुखसप्तमपृथ्वीनारकस्य तज्जघन्यरसबन्ध-

संभवात् सम्यक्त्वाभिमुखत्वजघन्यान्तरस्य चान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां 'जाण' त्ति यासां जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानामष्टात्रिंशतः पुरुषवेदादीनां, मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां, जिननाम्नश्च जघन्यरसबन्धस्य स्वामी संयमाद्यभिमुखोऽस्ति तासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं न भवति, सकृज्जघन्यरस-बन्धानन्तरसमये मार्गणाया एवापगमात् ।

तथा 'अण्णेसिं' ति आहारकद्विकस्य बन्धानर्हत्वात् उक्तातिरिक्तानामष्टषष्टिप्रकृतीनां जघन्य-रसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, स्वस्थानविशुद्ध्यादिना तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेन स्वस्थान-विशुद्ध्यादेश्चेह नैकधा संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् । ॥५७५॥ अथ तेजःपद्मलेश्ययोराह—

तेउपउमासु सामी जाण अहिमुहोत्थि ताण णत्थि लहुं ।
समयो सेसाण अहव कयकरणो जाण सिं णत्थि ॥५७६॥

(प्रे०) 'तेउ०'इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायाश्च आद्यद्वादशकषायाः स्त्या-नर्द्धित्रिकं मिथ्यात्वमोहनीयमिति यासां षोडशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः संयमाभिमुखोऽस्ति तासां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, मनुष्याणामेव संयमाभिमुखत्वसंभवात्तेषाञ्च लेश्यायाः परावर्तमान-त्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं पुनस्तद्बन्धात् प्रागेव मार्गणाया अपगमात् । 'सेसाणे' त्यादि, तत्र तेजोलेश्यामार्गणायां नरकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणामष्टानां बन्धाभावाद् उक्तशेषाणां षण्णवतेः प्रकृतीनां, पद्मलेश्यामार्गणायान्तु एकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपनाम्नामपि बन्धाभावा-दुक्तशेषाणां त्रिनवतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, स्वस्थानविशुद्ध्यादेस्त-ज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । 'अहव' त्ति अथवाशब्दस्य मतान्तरद्योतकत्वात् , येषामाचार्याणां मते 'जाण' त्ति यासां '... पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघाओ कुवण्णचउगं च विग्घा-णि । णव आवरणाणि ...' इति पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धोऽनन्तरसमये भवि-ष्यत्कृतकरणस्यैवाऽस्ति तेषां मते तासामपि त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कृतक-रणभावस्य सकृदेव संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयाभावात् । प्रथममतेन षोडशप्रकृतीनामस्मिन् मते तु षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्तीति हृदयम् । शेषाणां तेजो-लेश्यामार्गणायां षट्षष्टेः प्रकृतीनां पद्मलेश्यामार्गणायान्तु त्रिषष्टेः प्रकृतीनामेकः समयः, अस्मिन् मतेऽपि स्वस्थानविशुद्ध्यादेस्तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् ॥५७६॥

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

तेउव्व वेअगे सिं सामी तीसाअ जाण कयकरणो ।
ओहिव्व जाणियव्वो सेसाणं एगवण्णाए ॥५७७॥

(प्रे०) 'तेउव्व' इत्यादि, वेदके-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं तेजोलेश्यामार्गणावज्ज्ञेयम् । कासां त्रिंशत इत्याह- 'जाण' ति यासां पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकोऽनन्तरसमये भविष्यत्कृतकरणोऽस्ति, मतान्तरेणेति शेषः तासामित्यर्थः, पुरुषवेदादीनां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, द्विःकृतकरणत्वाभावात् । स्वस्थानमते तु तासां तदेकः समयः, स्वस्थानविशुद्धेरपि तज्जघन्यरससम्भवादिति भावः । तथैकाशीतिरेव प्रकृतयोऽत्र बन्धार्हाः, तत उक्तशेषाणामेकपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं 'ओहिव्व' त्ति अवधिज्ञानमार्गणावज्ज्ञातव्यम् , तद्यथा-अष्टानां मध्यकषायाणामाहारकद्विकस्य चाऽन्तर्मुहूर्तमप्रमत्ताद्यभिमुखस्यैवैतज्जघन्यरसबन्धस्य संभवादऽभिमुखत्वद्वयान्तरालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीत्यष्टानां सातवेदनीयादीनामरतिशोकयोश्च तदेकसमयः, तत्र सातवेदनीयादीनां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाजघन्यरसबन्धसंभवाच्च । अरतिशोकयोस्तु जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्धया बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनाज्जघन्यमन्तरमेकसमयः । शेषप्रशस्तध्रुवबन्धिदेवद्विकमनुष्यद्विकजिननामादीनामेकत्रिंशतः प्रकृतीनां तु जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाया एवापगमादन्तरं नास्ति ॥५७७॥

अथ सास्वादनमार्गणायामाह—

जाणऽत्थि सासणे यन्मये अहिमुहो सिमंतरं णत्थि ।
सेसाण लहू णेयो समयो सव्वाण अण्णमये ॥५७८॥

(प्रे०) 'जाणे' त्यादि, सास्वादनमार्गणायां मतद्वयस्य सद्भावात् , यस्मिन् मते 'जाण' त्ति त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमुच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकञ्चेति यासां त्रसनामादीनां पञ्चदशानां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी 'अहिमुहो' त्ति सास्वादनिनो नियमात् संक्लिश्यमानत्वात् मिथ्यात्वाभिमुखः यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तस्मिन् मते 'सिं' ति तासां त्रसनामादीनां पञ्चदशानां जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरं नास्ति, मार्गणाचरमसमये सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणाया अपगमात् । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां सप्ताशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावत्तद्विपरीतस्याजघन्यरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् , अथ मतान्तरेण प्रस्तुतं दर्शयति-'सव्वाण' इत्यादि, अन्यमते यस्मिन् मते त्रसनामादीनामपि जघन्यरसबन्धः स्वस्थानसंक्लिष्टस्याप्यभ्युपगम्यते तस्मिन् मते सर्वासामिह बन्धार्हाणां द्व्युत्तरशततलक्षणानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः ॥५७८॥

अथोक्तशेषासु मार्गणासु संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं ज्ञापयितुमुपायं दर्शयन्नाह—

सेसासु मग्गणासुं सामी खवगोऽत्थि जाण पयडीणं ।
तह तित्थस्स अहिमुहो तेसिं णो अंतरं हवए ॥५७९॥
सेसाण जाणऽहिमुहो सामी ताण पयडीण विण्णेयं ।
भिन्नमुहुत्तं हस्सं अण्णेसिं होअए समयो ॥५८०॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, इह रसबन्धार्हमार्गणानां सप्तन्युत्तरशतत्वात् मनोयोगपञ्चकादिषु सप्तचत्वारिंशन्मार्गणास्विहैव गाथाचतुर्दशकेन पृथगुक्तत्वाच्चोक्तशेषासु त्रयोविंशत्यधिकशतमार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी क्षपकः, जिननाम्नश्च मिथ्यात्वाऽभिमुखस्तासां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं न भवति, क्षपकश्रेणिद्वयाभावात् । जिननाम्नो अभिमुखावस्थाभाविजघन्यरसबन्धद्वयस्याभावात् । तथा 'सेसाण' त्ति जिननामव्यतिरिक्तानां 'जाण' त्ति यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी गुणाद्यभिमुखोऽस्ति तासां जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , विवक्षितमार्गणायां गुणाद्यभिमुखत्वद्वयान्तरालस्य जघन्यत आन्तर्मौहूर्तिकत्वात् । 'अण्णेसिं' ति यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको न क्षपकः न वा गुणाद्यभिमुखस्तासामित्यर्थः, जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयो भवति, स्वस्थानविशुद्ध्यादेः तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् स्वस्थानविशुद्ध्यादेश्च विवक्षितमार्गणायां नैकधा संभवेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराल एकसामयिकाऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । अथ कस्यां कस्यां मार्गणायां कासां कासां च प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति कासां च तदेकः समयोऽन्तर्मुहूर्त्तं वा तदेव स्पष्टावबोधार्थं भावयामः—नरकौघमार्गणायां त्र्युत्तरशतं प्रकृतीनां बन्धार्हम् ,तत्र मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कतिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणामेकादशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् , तासां जघन्यरसबन्धकस्य सम्यक्त्वाभिमुखत्वात् अभिमुखत्वद्वयान्तरालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् , शेषाणां द्विनवतेः प्रकृतीनां तदेकः समयः, तासां जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा बध्यमानत्वात् । एवमेव वैक्रियकाययोगमार्गणायामपि,नवरमनन्तरोक्तशेषद्विनवतेस्तथैकेन्द्रियस्थावरातपानां तदेकसमय इति ।

तथा षट्सु आद्यनरकमार्गणासु सनत्कुमारादिसहस्रारान्तासु षट्सु च देवगतिमार्गणासु त्र्युत्तरशतप्रकृतयो बन्धयोग्यास्तत्र मिथ्यात्वमोहादीनामष्टानां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । शेषाणां पञ्चनवतेः तदेकः समयः, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरपि जघन्यरसस्येह परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । नवरं चतुर्थादिषष्ठनरकरूपासु तिसृषु मार्गणासु शेषाणां

चतुर्नवतेरिति वाच्यम् , जिननाम्नस्तत्र बन्धाभावात् । तथा सप्तमनरकमार्गणायामपि जिननाम्नो बन्धाभावात् द्व्युत्तरशतमेव प्रकृतीनां बन्धार्हम् । तत्र नरकौघमार्गणावदेकादशानां मिथ्यात्वमोहादीनां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । शेषाणामेकनवतेस्तदेकः समयः ।

तथा तिर्यग्गत्योघमार्गणायां जिननामाऽऽहारकद्विकयोर्बन्धानर्हत्वात् सप्तदशोत्तरशतं प्रकृतीनां बन्धार्हम् , तत्र मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्काऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणां द्वादशानां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तासां जघन्यरसस्य देशविरत्यभिमुखेन बध्यमानत्वात् । शेषाणां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनां तदेकः समयः , तासां प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानसंक्लेशादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा बध्यमानत्वात् । तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमती पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगिति मार्गणात्रिकेऽपि सर्वमविशेषेण तिर्यग्गत्योघवदेव । तथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तत्रसकायः अपर्याप्तमनुष्यः सकलविकलेन्द्रियाः समस्तपृथ्वीकायिकाः समस्ताऽप्कायिकाः सकलवनस्पतिकायिका एकेन्द्रियसर्वभेदा इति पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननामरूपाणां नवानां प्रकृतीनां बन्धाभावाद् एकादशोत्तरशतं प्रकृतीनां बन्धार्हम् , तत्र कस्याश्चिदपि प्रकृतेर्जघन्यरसबन्धकस्य गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् एकादशोत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेक एव समयः, स्वस्थानविशुद्ध्यादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा तासां जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात् ।

तथा मनुष्यौघो मनुष्ययोनिमती पर्याप्तमनुष्यः स्त्रीवेदः पुरुषवेद इति मार्गणापञ्चके विंशत्युत्तरशतलक्षणाः सर्वा अपि उत्तरप्रकृतयो बन्धार्हाः । तत्र ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से हास्यरती निद्राद्विकमुपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमिति त्रिंशतो जिननाम्नश्च जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तत्र ज्ञानावरणपञ्चकादीनां त्रिंशतो जघन्यरसस्य क्षपकेण,जिननाम्नश्च जघन्यरसस्य नरकाभिमुखेन क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिना बध्यमानत्वात् । तथा संज्वलनवर्जकषायास्ते च द्वादश मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमाहारकद्विकमिति अष्टादशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तासां जघन्यरसबन्धस्य संयमादिगुणाद्यभिमुखेन बध्यमानत्वात् संयमाद्यभिमुखत्वद्वयान्तरालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तथोक्तशेषाणामेकसप्ततेः प्रकृतीनां तदेकः समयः, तासां जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा बध्यमानत्वात् ।

देवौघभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवरूपे मार्गणाषट्के देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां बन्धानर्हत्वात् षडुत्तरशतं प्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यम् , तत्र मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानामन्तर्मुहूर्तम् ,

तासां जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । शेषाणामष्टनवतेः प्रकृतीनां, भवनपतित्रिके तु जिननामवर्जसप्तनवतेः तदेकः समयः, स्वस्थानविशुद्ध्यादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा तासां जघन्यरसबन्धस्य प्राप्यमाणत्वात् ।

आनतादिनवमग्रैवेयकरूपासु त्रयोदशसु देवगतिमार्गणासु एकेन्द्रियस्थावराऽऽतपतिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां षण्णामपि बन्धाभावात् प्रकृतिशतमेव बन्धार्हम्, तत्र मिथ्यात्वमोहादीनामष्टानां जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् तासां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । शेषाणां द्विनवतेः प्रकृतीनां तदेकः समयः, तासां जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा बध्यमानत्वात् । तथाऽनुत्तरसुराणां नियमात् सम्यग्दृष्टित्वात् पञ्चस्वनुत्तरसुरमार्गणासु मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीनपुंसकवेदौ आद्यवर्जसंहननपञ्चकम् आद्यवर्जसंस्थानपञ्चकं कुखगतिदुर्भगत्रिकं नीचैर्गोत्रमिति पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां बन्धाभावात् पञ्चसप्ततिरेव प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, तासां सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, अनुत्तरदेवानां गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् ।

पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं भव्यः संज्ञी आहारी नपुंसकवेद इति मार्गणादशके सर्वमोघवद् वाच्यम् ।

सप्तसु तेजःकायभेदेषु सप्तसु वायुकायभेदेषु चेति चतुर्दशसु मार्गणासु प्रत्येकं देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननाममनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां द्वादशानां प्रकृतीनां बन्धाभावादष्टोत्तरशतं प्रकृतीनां बन्धयोग्यम्, प्रस्तुतमार्गणावर्तिनां जीवानां नियमादाद्यगुणस्थानकवर्तित्वेन गुणाद्यभिमुखत्वाभावाद् इह बन्धप्रायोग्याणामष्टोत्तरशतलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, स्वस्थानविशुद्ध्यादेरेव तासां जघन्यरसबन्धस्य संभवात् ।

आहारककाययोगमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां षट्षष्टिलक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तासां प्रत्येकं जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना बध्यमानत्वात् । न च आहारककाययोगिनः प्रमत्तत्वात् प्रमत्तमुनेश्च मिथ्यात्वादिगमनसंभवाद् उच्चैर्गोत्रादीनां प्रशस्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धो मिथ्यात्वाद्यभिमुखस्यैव भविष्यति तेन उच्चैर्गोत्रादीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नैव भविष्यति सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणाया एव अपगमादिति वाच्यम्, आहारककाययोगिनः प्रमत्तत्वेऽपि तस्य मिथ्यात्वाद्यधस्तनगुणस्थानकगमनविरहात् ।

कृष्णलेश्यायामाहारकद्विकस्य बन्धाभावादष्टादशोत्तरशतं प्रकृतीनां बन्धार्हम्, तत्र मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति एकादशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, कुतः ? मिथ्यात्वमोहादीनामेकादशानां जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । जिननाम्नो जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वाद-

न्तराभावः, 'तइ तित्थस्स अहिमुहो तेसिं णो अंतरं हवए' इत्यादिना निषिद्धत्वात् । तत उक्तशेषाणां षडुत्तरशतप्रकृतीनां तदेकः समयः, स्वस्थानविशुद्ध्यादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा तासां जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । नीलकापोतलेश्ययोस्तु मिथ्यात्वमोहादीनामष्टानामेव तदन्तर्मुहूर्तम् । उक्तशेषाणां दशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्र-जिननाम्नामपि जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना बध्यमानत्वात् । शेषं तु कृष्णलेश्यावद् विज्ञेयम् ।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामेकाशीतिः प्रकृतयो बन्धप्रायोग्याः, तत्र ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कमन्तरायपञ्चकं पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से हास्यरती उपघातनामाऽप्रशस्त-वर्णादिचतुष्कमिति त्रिंशतो जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तासां जघन्यरसस्य क्षपकेण बध्यमानत्वात्, मध्यकषायाष्टकमाहारकद्विकमिति दशानां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तासां जघन्यरसबन्धकस्य संयमाद्यभिमुखत्वात् । शेषाणामेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां तदेकः समयः, तासां जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा बध्यमानत्वात् ।

असंज्ञिमार्गणायामभव्यमार्गणायाञ्च बन्धप्रायोग्याणां सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरस-बन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्र केवलं प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्यावस्थितत्वेन गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् । इति भावितमुक्तशेषासु त्रयोविंशत्युत्तरशतमार्गणासु संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरम् ॥५७९-५८०॥ अथ मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरस्य प्रतिपिपादयिषयाऽऽदौ तावदेकेन्द्रियौघमार्गणायां तत्प्रतिपादयन्नाह–

एगिंदियम्मि जेट्ठं तिरिदुगणीआण जेट्ठकायठिई ।
देसूणा सेसाणं असंखलोगा मुणेयव्वं ॥५८१॥

(प्रे०) '**एगिंदियम्मि**' इत्यादि, एकेन्द्रियौघमार्गणायां तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमिति प्रकृतित्रिकस्य '**जेट्ठ**'ति उत्कृष्टं प्रस्तावाज्जघन्यरसबन्धस्यान्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यग्द्विकादेर्जघन्यरसबन्धस्य तेजोवायुस्वामिकत्वेन वनस्पत्यादौ स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् तज्जघन्यरसबन्धस्यासंभवात् वनस्पतिकायस्थितेश्चोत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात् । तथा '**सेसाणं**' ति एकादशोत्तरशतस्येह प्रकृतीनां बन्धयोग्यत्वात् उक्तशेषाणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरस-बन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः । इह कामाश्चित् ज्ञानावरणीयादीनां प्रकृतीनां प्रस्तुतमन्तरं सूक्ष्मोत्कृष्टकाय-स्थितितोऽधिकतरं ज्ञेयम्, बादरैकेन्द्रियाणामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वेन सूक्ष्मैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तज्जघन्यरसस्याबध्यमानत्वात् । परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानजघन्यरसानां सातवेदनीयादीनां प्रकृतीनां जघन्यरसस्य त्विह सूक्ष्माणामपि बन्धकत्वात् तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरस्याऽसंख्येयलोकत्वेऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयगुणहीनं बोद्धव्यम्, न तु सूक्ष्मैकेन्द्रियोत्कृ-

ष्टकायस्थितिप्रमितम् , सूक्ष्माणां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत् जघन्यतोऽपि असंख्येयवारान् परावर्तमानबन्धानां सातवेदनीयादिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योपलम्भात् ॥५८१॥

अथ सूक्ष्मपृथ्वीकायादिभेदेष्वाह—

छसुहमओहेसु तहा णिगोयकायपणगेसु विण्णेयं ।
अंतरमसंखलोगा सप्पाउग्गाण सव्वाणं ॥५८२॥

(प्रे०) **'छसुहम०'** इत्यादि, सूक्ष्मपृथ्वीकायादीनामपि पर्याप्तकादिभेदभिन्नत्वादाह **'छसुहमओहेसु'** सूक्ष्मैकेन्द्रियः सूक्ष्मपृथ्वीकायः सूक्ष्माप्कायः सूक्ष्मतेजःकायः सूक्ष्मवायुकायः सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकाय इति षट्सु सूक्ष्मौघभेदेषु, साधारणवनस्पतिकायौघः पृथ्व्यादिकायपञ्चकमिति षट्सु मार्गणासु च, तत्र तेजोवायुषु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धाभावादाह **'सप्पाउग्गाण'** त्ति सूक्ष्मपृथ्वीकायादिष्वष्टासु एकादशोत्तरशतप्रकृतीनां तेजोवायुसत्कासु चतसृषु मार्गणासु अष्टोत्तरशतप्रकृतीनामित्यर्थः, जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः लोकाः, ते च स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयतमभागगता ज्ञेयाः, सूक्ष्माणां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावज्जघन्यतोऽप्यसंख्येयवारान् जघन्यरसबन्धस्योपलम्भात् । नवरं सूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणं ज्ञेयं, निरुक्तप्रकृतीनां जघन्यरसस्य तेजोवायुकायिकानामेव बन्धकत्वेन सूक्ष्मवनस्पतिकायिकादीनां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावज्जघन्यरसबन्धानुपलम्भात् ॥५८२॥

अथ काययोगमार्गणायामाह—

काये असंखलोगा तेसिं ओहे वि अंतरं जेसिं ।
तावइअं सेसाणं गुणतीसाए मुहुत्तंतो ॥५८३॥

(प्रे०) **'काये'** इत्यादि, काययोगौघमार्गणायां परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानजघन्यरसानां सातवेदनीयादीनां यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघप्ररूपणायामसंख्येया लोकाः तासामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं **'तावइअं'** ति असंख्येया लोका भवति, रसबन्धाध्यवसायानामुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयलोकप्रमाणत्वात् । न च काययोगमार्गणाया असंख्येयपुद्गलपरावर्तात्मकत्वात् एकस्यापि पुद्गलपरावर्तस्यानन्तकालात्मकत्वाच्च भविष्यति कश्चिज्जीवमाश्रित्य सातवेदनीयादीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमनन्तकाल इति वाच्यम्; परावर्तमानमध्यमपरिणामेन सकृत्प्राप्तजघन्यरसबन्धाध्यवसायस्य जन्तोरसंख्येयकालात् परतः पुनर्जघन्यरसबन्धाध्यवसायस्यावश्यं प्राप्तेः, प्रतिबन्धकगतिजात्यादीनामसंभवेन सर्वत्र तद्बन्धार्हत्वात् । यदि च रसबन्धाध्यवसायानामानन्त्यमभविष्यत् तर्हि एव आसां सातवेदनीयादीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमपि अनन्तकालः समभविष्यदिति भावः । नन्वोघतो जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तर-

निरूपणे तु चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोका उक्तमत्र किमर्थं तदेकोनचत्वारिंशत एव भण्यते ? अत्रोत्तरम्-ओघप्ररूपणायामायुषामपि अन्तर्भावेन तत्र तिर्यगायुषोऽप्यन्तर्भावात् इह तु सप्तकर्मणामेव प्रस्तुतत्वेन तस्यानन्तर्भावादिति ।

तथा ज्ञानावरणादीनां द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धाऽन्तरस्य तज्जघन्यनिरूपणक्षण एव निषिद्धत्वात् शेषाणां शोकारती स्त्रीवेदः नपुंसकवेदः त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकं पराघातनामोच्छ्वासनाम शुभध्रुवबन्धिन्यष्टकमौदारिकद्विकमुद्योतनाम देवद्विकं नरकद्विकं वैक्रियद्विकमातपनामेत्येकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तं, प्रस्तुतमार्गणायां तज्जघन्यरसबन्धकानां संज्ञित्वेनाऽन्तर्मुहूर्तात् परतः काययोगस्यैवाऽनवस्थानात् स्वस्थानसंक्लेशेन तादृग्विशुद्धया वा तज्जघन्यरसबन्धस्य भावाच्च ॥५८३॥

अथ नपुंसकवेदादिमार्गणास्वाह——

ओघव्व जाणियव्वं णपुंसगाचक्खुभवियअजएसुं ।
जाणऽत्थि अंतरं सिं सप्पाउग्गाण सव्वाणं ॥५८४॥

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, नपुंसकवेदोऽचक्षुर्दर्शनं भव्योऽयत इति चतसृषु मार्गणासु यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं विद्यते तासां तदोघवद् भवति; 'सव्वाणं' ति इह बन्धप्रायोग्याणां यासां जघन्यरसबन्धान्तरं विद्यते तासां सर्वासामेव न तु कासाञ्चिदेवेति भावः । अथ ग्रन्थकृताऽतिदिष्टमेव स्पष्टावगमाय भावयामः—नपुंसकवेदाचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणासु विंशत्युत्तरशतलक्षणाः सर्वाः प्रकृतयो बन्धार्हाः, तत्र सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहनननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनामेत्येकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, आसां जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । ततः किमिति चेत् , जघन्यरसबन्धप्रायोग्यपरावर्तमानमध्यमपरिणामस्योत्कृष्टतो असंख्येयेभ्यो लोकेभ्यः परतः पुनरपि संभवात् इति । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं मध्यमकषायाष्टकं तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रमाहारकद्विकञ्चेति एकविंशतेः प्रकृतीनामरतिशोकयोश्च जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनोऽर्धपुद्गलपरावर्तः, तासामेकविंशतेर्जघन्यरसस्य गुणाद्यभिमुखेन बध्यमानत्वात् सम्यक्त्वादिगुणाभिमुखत्वोत्कृष्टान्तरस्य च तावत्प्रमाणत्वात् । अरतिशोकयोर्जघन्यरसबन्धस्य यतिस्वामिकत्वात् यतित्वान्तरस्य चोत्कृष्टतोऽपि तावन्मितत्वात् । तथौघतो जघन्यरसबन्धजघन्यान्तरनिरूपणावसरे 'खवगो सामी' त्यादिगाथयैकत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धान्तरस्य निषिद्धत्वात् स्त्रीनपुंसकवेदौ नरकद्विकं देवद्विकं त्रसचतुष्कं पञ्चेन्द्रियजातिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकद्विकमुद्योतनाम वैक्रियद्विकमाऽऽतापनामेति

शेषाणां सप्तविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः साधिकै-केन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, तद्यथा—नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकानामेकेन्द्रियादौ बन्धाभावात्, सत्यपि बन्धे त्रसचतुष्कादीनां तत्रैकेन्द्रियादौ तज्जघन्यरसबन्धस्याभावात्। तथाऽऽहारकद्विकबन्धस्य यतिस्वामिकत्वेनाऽयतमार्गणायां तदभावादष्टादशोत्तरशतमेव प्रकृतीनां बन्धार्हम्, तत्र जिननाम्नो जघन्यरसबन्धस्य नरकाभिमुखस्यैव मिथ्यात्वाभिमुखस्य संभवेन जिननामबन्धकस्य तु द्विर्नरकाभिमुखत्वाभावेन च जिननाम्नो जघन्यरसबन्धस्यान्तराभावात् '... पुमचउ-संजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउग च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअदुइअ-कसाया य मिच्छमोहो य। थीणद्धितिगमणचउगे' ति जघन्यरसबन्धस्वामित्वप्ररूपकप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य संयमाभिमुखेन बध्यमानत्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणाया एव ध्वस्तत्वेन च जघन्यरसबन्धस्यान्तराभावात् सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकमिति एकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, तासां जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् जघन्यरसबन्धप्रायोग्यपरावर्तमानमध्यमपरिणामस्य चोत्कृष्टतो असंख्येयलोकेभ्यः परतः पुनः संभवात्। तथा अरतिशोकतिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्राणां तदर्धपुद्गलपरावर्तः, तत्राऽरतिशोकयोर्जघन्यरसस्य सम्यग्दृष्टिना तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्च जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यमानत्वात् सम्यक्त्वान्तरस्य तदभिमुखत्वान्तरस्य चोत्कृष्टतः देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमितत्वात्। तथा स्त्रीनपुंसकवेदौ नरकद्विकं देवद्विकं त्रसचतुष्कं पञ्चेन्द्रियजातिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकद्विकमुद्योतनाम वैक्रियद्विकमाऽऽतापनामेति सप्तविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः। हेतुरोघवत् ॥५८४॥

अथ मत्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

> तेसिं असंखलोगा दुअणाणाभवियमिच्छअमणेसु ।
> तावइयं चेव भवे ओहम्मि वि अंतरं जेसिं ॥५८५॥
> सेसाण जाण हवए तेसिं णेयं असंखपरिअट्टा ।
> सेसासु जाण हवए सिं हीणसजेट्ठकायठिई ॥५८६॥
> णवरि तिअयराऽब्भहिया जिणस्स णेरइयतइअणिरयेसु ।
> णिरये बावीसुदही देसूणा णरदुगुच्चाणं ॥५८७॥
> तिरिये देसूणोऽद्धो परिअट्टो होइ अट्ठचत्ताए ।
> असुहधुवबंधिणीणं तह पुमहस्साइजुगलाणं ॥५८८॥

णिरयसुरदुगूणाणं जेसिं परियत्तमाणपरिणामो ।
सामी गुणचत्ताए तेसिं लोगा असंखेज्जा ॥५८९॥
तिपणिंदितिरिणरेसु कोडिपुहुत्तं हवेज्ज पुव्वाणं ।
जाणित्थिसायथिरसुहजसतप्पडिवक्खवज्जाणं ॥५९०॥
देवे इगतीसुदही ऊणा मिच्छाइपंचवीसाए ।
तह सुहसंघयणागिइसुखगइसुहगतिगउच्चाणं ॥५९१॥
सुहधुवतिरियमणुयदुगसगुरलुवंगाइतसपणिंदीणं ।
उज्जोअस्सऽट्ठारस अयरऽहिया दो तिआयवाईणं ॥५९२॥ (गीतिः)
तिरिदुगणीआणुरले ऊणा तिसहस्सहायणाऽण्णेसिं ।
जाण परियत्तमाणो णो गुणतीसाअ सिं मुहुत्तंतो ॥५९३॥ (गीतिः)
बारससुहमाईणं विभंगणाणम्मि होइ देसूणा ।
पुव्वाण एगकोडी भिन्नमुहुत्तं परे बिंति ॥५९४॥
मणुयदुगस्स दुवीसा अयरा णेयं तिआयवाईणं ।
अब्भहिया दो जलही इगतीसा होइ उच्चस्स ॥५९५॥
पणतीसासुहधुवपुमहस्सरईणं तिआयवाईणं ।
पल्लासंखियभागो भवे तिअपसत्थलेसासु ॥५९६॥
अण्णे कमसो ऊणा जेट्ठा कायट्ठिई मुहुत्तंतो ।
बारससुहमाईणं अंतमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥५९७॥
किण्हाअ दुवीसुदही णरदुगउच्चाण होइ णीलाए ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं तिरिदुगजिणणामणीआणं ॥५९८॥
काऊअ मुहुत्तंतो णेयं तिरियदुगणीअगोआणं ।
तित्थयरस्स हवेज्जा अब्भहिया सागरा तिण्णि ॥५९९॥
भिन्नमुहुत्तं णेयं पसत्थलेसासु अरइसोगाणं ।
सुरविउवदुगाण वि उअ ण भवे जइ लेससंकमणं ॥६००॥

सुक्काए अट्ठारस अयराणि सुहधुवबंधिणीण तहा ।
णरदुगपंचिंदियतसमसत्तउरलुवंगआईणं ॥६०१॥
सत्तरथीआईणं आइमसंघयणआगिईण तहा ।
सुहगतिगपसत्थखगइउच्चाणं एगतीसुदही ॥६०२॥
मीसे भिन्नमुहुत्तं विण्णेयं सायणवथिराईणं ।
सासाणे जाण भवे सिं सव्वेसिं मुहुत्तंतो ॥६०३॥

(प्रे०) 'तेसि' मित्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपे अज्ञानद्विकेऽभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वे 'अमणे' त्ति असंज्ञिमार्गणायामिति पञ्चसु मार्गणासु प्रत्येकं 'तेसिं' ति तासां प्रकृतीनामसंख्येया लोकाः, प्रस्तावात्-जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं भवति, अथ कासामित्याह-'जेसिं' ति यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् 'ओहम्मि' त्ति ओघे जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरप्ररूपणायां 'तावइयं' ति असंख्येया लोका इति प्रागुक्तं तासाम्, परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानजघन्यरसानामनन्तरप्राग्गाथाविवरणोक्तानां सातवेदनीयादीनामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामित्यर्थः । 'सेसाण' त्ति सातवेदनीयाद्येकोनचत्वारिंशत्प्रकृतिव्यतिरिक्तानामत्र बन्धप्रायोग्याणाम् 'जाण' त्ति यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं भवति तासां तदसंख्येयपुद्गलपरावर्ता भवति ।

अथ प्रस्तुतासु मत्यज्ञानादिमार्गणासु कासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता भवति कासाञ्च प्रकृतीनां तन्नैव भवति ? तदेव दर्शयामः—तत्र अज्ञानद्विकं मिथ्यात्वमिति मार्गणात्रिके'···पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई। णिद्दादुगमुवघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य। थीणद्धितिगमणचउगे' ति पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशतः तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति सर्वसंख्ययैकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, मार्गणाचरमसमय एव तासां जघन्यरसबन्धस्य संभवेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाया एवाऽपगमात् । तथा स्त्रीनपुंसकवेदौ शोकारती नरकद्विकं देवद्विकं त्रसचतुष्कं पञ्चेन्द्रियजातिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकद्विकमुद्योतनाम वैक्रियद्विकमाऽऽतपनामेत्येकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकार्यस्थितिरित्यर्थः,तत्र नरकद्विकादीनामेकेन्द्रियादिषु बन्धस्यैवाभावात् ,स्त्रीवेदादीनां जघन्यरसबन्धस्य संज्ञिस्वामिकत्वेनैकेन्द्रियादिषु जघन्यरसबन्धस्याभावात् ।

तथा अभव्याऽसंज्ञिमार्गणयोः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानजघन्यरसाभ्यः सातवेदनीयाद्येकोनचत्वारिंशत्प्रकृतिभ्यो व्यतिरिक्तानां शेषाणामष्टसप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, अस्मिन् मार्गणाद्विके पञ्चेन्द्रियस्यैवाऽऽसां जघन्यरसबन्धस्य संभवेन एकेन्द्रियादिषु तज्जघन्यरसबन्धस्याभावात् ।

'नो अवेअसुहुमेसु सव्वेसिं' इत्यादिना जघन्यान्तरनिरूपणप्रस्तावे निषिद्धत्वात् अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराययोः स्वबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, प्रस्तुतमार्गणाद्वये कासाञ्चिज्जघन्यरसबन्धस्य क्षपकश्रेणौ कासाञ्चिच्च तस्य मार्गणाचरमसमये सद्भावेन सकृदेव तद्भावात् ।

कार्मणाऽनाहारमार्गणयोस्तु स्वप्रायोग्याणां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं तज्जघन्यान्तरनि-रूपणक्षणे लाघवार्थं दर्शितम् । अथोक्तशेषासु मार्गणासु प्रत्येकं बहुसमानवक्तव्यतया संक्षेपेण प्रस्तुत-माह **'सेसासु'** इत्यादि, उक्तशेषासु त्रिचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु बन्धप्रायोग्याणां यासां प्रकृ-तीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं संभवति तासां तदुत्कृष्टतो देशोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति । तत्र बहूनां मार्गणानां मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयलोकेभ्योऽल्पतरत्वात् । यस्या मार्गणाया उत्कृष्टकाय-स्थितिरसंख्येयलोकेभ्योऽल्पतरा भवति तस्यां जघन्यरसबन्धादेरुत्कृष्टमन्तरं देशोनस्वोत्कृष्टकाय-स्थितेरधिकतरं नैव भवतीति नियमात् । किमुक्तशेषासु त्रिचत्वारिंशदुत्तरशतलक्षणासु सर्वासु मार्ग-णासु बध्यमानानां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकाय-स्थितिरेव भवति ? नेति सप्तदशभिर्गाथाभिर्नरकौघादिमार्गणास्वपवादं दर्शयति । तत्राऽऽदौ ताव-न्नरकौघतृतीयनरकमार्गणयोरपवादमाह ।

'णेरइय' त्ति नरकौघमार्गणायां तृतीयनरकमार्गणायाञ्च जिननाम्नो जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्ट-मन्तरं साधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि, नारकतयोत्पित्सोर्जिननामबन्धकस्योत्कृष्टतस्तृतीयनरके एतावत्स्थितिकेष्वेव नारकेषूत्पादात् । तथा नरकौघमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यरस-बन्धस्योत्कृष्टमन्तरं **'देसूणा'** त्ति किञ्चिदूनानि द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, नरकौघमार्गणायाम-नयोर्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेनैव संभवात् परावृत्त्या तद्बन्धस्य च षष्ठं नरकं यावदेव सद्भावात् । सप्तमनरके तु सम्यग्दृशामेव मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्बन्धसद्भावेन न तत्र तज्जघन्यरसबन्धः । तथा नरकौघमार्गणायामुक्तशेषाणां नवनवतेः प्रकृतीनां तृतीयनरकमार्गणायाञ्च द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः 'सिं हीणसजेट्ठ-कायठिई ।' इति वचनात् । इति सामान्योक्तिः, विशेषचिन्तायां तु सातवेदनीयादीनां यासां प्रकृतीनां जघन्यरसः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते तासां समयद्वयोनोत्कृष्टकायस्थितिः, भवप्रथमचरमसमययोस्तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । शेषाणामन्तर्मुहूर्तोना स्वोत्कृष्टकायस्थितिः अपर्याप्तावस्थासत्कान्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते तदूर्ध्वं च कियत्यपि काले व्यतीते एव तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात् ।

अथ **'तिरिये'** इत्यादिना तिर्यगोघमार्गणायामपवादं दर्शयति-तिर्यगत्योघमार्गणायाम् **'असुहधुवबंधिणीणं'** ति ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणनवकं मिथ्यात्वमोहनीयं षोडश कषाया

भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामाऽन्तरायपञ्चकमिति त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां पुरुषवेदः हास्यरती शोकारतीति पञ्चानां प्रकृतीनाञ्चेति सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनां देशोनोऽर्धपुद्गलपरावर्तः, प्रस्तुतमार्गणायां देशविरतानामेव देशविरत्यभिमुखानामेव वा तज्जघन्यरसबन्धकत्वाद् देशविरत्यादेश्चोत्कृष्टान्तरस्य तावन्मितत्वात् ।

तथा '**मज्झिमपरिणामो**' त्ति यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः तासां सातवेदनीयादीनामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामसंख्येया लोकाः, जघन्यरसबन्धप्रायोग्यपरावर्तमानमध्यमपरिणामान्तरस्योत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात् । अथ प्रस्तुतमार्गणायां परावर्तमानमध्यमपरिणामेन तु त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसो बध्यते, अत एवाऽऽह '**णिरयसुरदुगणाणं**' इत्यादि, नरकद्विकं देवद्विकमिति चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकानां पञ्चेन्द्रियत्वेन पञ्चेन्द्रियत्वोत्कृष्टान्तरस्य देशोनोत्कृष्टकायस्थितिमितत्वेन च तद्वर्जानामेकोनचत्वारिंशत एव प्रकृतीनां तदसंख्येया लोकाः । तथा आहारकद्विकजिननाम्नोरिह बन्धाभावादुक्तशेषाणां त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तज्जघन्यरसबन्धाभावात् तेषां समुदितकायस्थितेश्च तावन्मितत्वात् ।

तथा '**तिपणिंदि**' इत्यादिना त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु तथा त्रिमनुष्येष्वपवादं दर्शयति, पञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्ची पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् मनुष्यौघः पर्याप्तमनुष्यो मानुषीति षट्सु मार्गणासु सातवेदनीयादीनां जघन्यरसबन्धस्य मार्गणाप्रथमचरमसमययोरपि संभवेन तेषां जघन्यरसबन्धोत्कृष्टान्तरस्य समयद्वयोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमितत्वात् स्त्रीवेदजघन्यरसबन्धान्तरस्यान्तर्मुहूर्त्तोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिमितत्वाच्च स्त्रीवेदः सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति प्रकृतिनवकवर्जानां 'जाण' त्ति यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं विद्यते तासां तदुत्कृष्टतः पूर्वकोटिपृथक्त्वं भवति, पर्याप्तयुगलधर्मिणां तज्जघन्यरसबन्धकत्वाभावात् संख्येयवर्षायुष्कपञ्चेन्द्रियतिरश्चादीनामुत्कृष्टकायस्थितेश्च तावन्मितत्वात् ।

अथ यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वं भवति ता एव दर्शयामः, तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमती पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् इति मार्गणात्रिके आहारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धाभावात् तद्व्यतिरिक्तानामुक्तशेषाणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वाणां कोटिपृथक्त्वं भवति, अत्रापि विशेषचिन्तायां '...... पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघाओ कुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया य मिच्छमोहो य । थीणद्धितिगमणचउग' इति यासां पुरुषवेदादीनां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामरतिशोकयोश्च जघन्यरसो देशविरतेन देशविरत्यभिमुखेन वा बध्यते तासां देशविरतिप्राप्तिप्रायोग्यकालेनोनं पूर्वकोटिपृथक्त्वं

बोध्यम् । तथा शेषाणां षष्टेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तेन न्यूनं तद् वाच्यम्, अपर्याप्तावस्थायां तज्जघन्यरसबन्धाभावात् सम्प्राप्तायां पर्याप्तावस्थायामन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं तन्दूलमत्स्यस्येवोत्कृष्टसंक्लेशसंभवेन प्रशस्तध्रुवाणामपि जघन्यरसबन्धस्य सम्भवात् ।

तथा मनुष्यौघः मानुषी पर्याप्तमनुष्य इति तिसृषु मार्गणासु मतिज्ञानावरणादीनां जघन्यरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वेन ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कमन्तरायपञ्चकं हास्यरती भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कमिति त्रिंशतः प्रकृतीनां जिननाम्नश्च जघन्यरसबन्धस्यान्तराभावादुक्तशेषाणामशीतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पूर्वाणां कोटिपृथक्त्वम् । अत्र विशेषचिन्तायां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमाद्या द्वादशकषायाः शोकारती आहारकद्विकमिति यासां विंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसः संयमाभिमुखेन संयमिना वा बध्यते तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं वर्षाष्टकेनोनं पूर्वकोटिपृथक्त्वं ज्ञेयम्, वर्षाष्टकादल्पतरवयसि संयमप्राप्तेरसम्भवात् । तथा वैक्रियद्विकं त्रसचतुष्कं पञ्चेन्द्रियजातिरुच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकमौदारिकद्विकमुद्योतनामाऽऽतपनाम नपुंसकवेद इति यासां द्वाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसः स्वस्थानविशुद्धयादिना बध्यते तासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशस्वस्थानविशुद्धिप्राप्तिप्रायोग्यकालेन न्यूनं पूर्वाणां कोटिपृथक्त्वम् । देवद्विकनरकद्विकयोरन्तर्मुहूर्तेन न्यूनं पूर्वकोटिपृथक्त्वं ज्ञेयम्, अपर्याप्तावस्थायां मिथ्यादृशां तद्बन्धाभावात् । तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं मनुष्यद्विकमुच्चैर्गोत्रं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकमिति चतुस्त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं कोटिपृथक्त्वम् पूर्वाणाम्, पर्याप्तयुगलधर्मिमनुष्याणां तज्जघन्यरसबन्धाभावात् । तथा स्त्रीवेदः सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति नवानामास्वपि मार्गणासु प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनतत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः ।

अथ 'देवे' इत्यादिना देवौघमार्गणायामपोद्यते–देवौघमार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीनपुंसकवेदौ आद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकं दुर्भगत्रिकमप्रशस्तविहायोगतिर्नीचैर्गोत्रमिति प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेर्वज्रर्षभनाराचसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रमिति सप्तानाञ्चेति सर्वसंख्यया द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां 'ऊणा' त्ति देशोनानि एकत्रिंशत् सागरोपमाणि, नवमग्रैवेयकं यावदेव तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात्, तद्यथा–अनुत्तरदेवानां सम्यग्दृष्टित्वेन मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेर्बन्धस्यैवाभावात् । प्रथमसंहनननामादिप्रकृतीनां बन्धस्य सद्भावेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां तासां जघन्यरसस्य स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या तद्बन्धकानामेव संभवात्, अनुत्तरदेवानां तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धस्याभावाच्च । तथाऽष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्तिर्यग्द्विकं मनुष्य-

द्विकम् 'सगुरलुचंगाइ' त्ति औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम औदारिकशरीरनाम पराघातोच्छ्वासबादरत्रिकाणीति प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः सप्त त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिरुद्योतनाम चेति सर्वसंख्यया द्वाविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् अष्टादश सागरोपमाणि, आसहस्रारमेवेह तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । तद्यथा–उद्योततिर्यग्द्विकयोरानतादिदेवानां बन्धस्यैवानर्हत्वात्, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां बन्धार्हत्वेऽपि तेषां विशुद्धशुक्ललेश्याकत्वेन तथाविधसंक्लेशाभावात्, प्रस्तुतमार्गणायां मनुष्यद्विकस्य जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन संभवेन आनतादिदेवानां च विशुद्धशुक्ललेश्याकतया तत्प्रतिपक्षतिर्यग्द्विकबन्धाभावेन परावृत्त्या तद्बन्धाभावात् । इह सामान्यतोऽष्टादशसागरोपमाणीति उक्तावपि 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः' तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकयोः समयद्वयोनानि तानि भवन्ति, सहस्रारदेवस्य भवप्रथमान्तिमसमययोस्तज्जघन्यरसबन्धस्यापि प्रवर्तनात् । शेषाणामन्तर्मुहूर्तेन न्यूनानि तानि बोध्यानि, अपर्याप्तावस्थासत्कान्तर्मुहूर्ते तथाविधसंक्लेशाभावेन तत्र तज्जघन्यरसबन्धस्याप्रवर्तनात् । तथा 'तिआयवाईणं' ति आतपनामस्थावरनामैकेन्द्रियजातिरूपाणां तिसृणां साधिके द्वे सागरोपमे, ईशानात् परतस्तद्बन्धस्यैवाभावात् । ते च आतपनाम्नोऽन्तर्मुहूर्तेन न्यूने बोध्ये, अपर्याप्तावस्थायां तज्जघन्यरसबन्धस्यासंभवात् । स्थावरैकेन्द्रिययोः समयद्वयेनोने, तयोर्जघन्यरसबन्धस्य स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभ्यां सह परावर्तमानमध्यमपरिणामेन निर्वर्तनीयत्वेन ईशानदेवस्य भवप्रथमान्तिमसमययोरपि तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । तथात्रोक्तशेषाणां नवचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, सर्वार्थसिद्धदेवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्, तत्र सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीत्यष्टानां सातवेदनीयादीनां समयद्वयोनोत्कृष्टा कायस्थितिः, मार्गणाऽऽद्यान्त्यसमययोस्तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । तथा "...पुमचउसंजलणभयकुच्छहस्सरई । णिद्दादुगमुवघायो सुवण्णचउगं च विग्घाणि ॥ णव आवरणाणि तइअदुइअकसाया' इति जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानामष्टात्रिंशतोऽरतिशोकयोर्जिननाम्नश्चान्तर्मुहूर्तेन न्यूना सा बोध्या, अपर्याप्तावस्थायां तथाविधसंक्लेशविशुद्ध्योरभावेन तत्र जघन्यरसबन्धस्याभावात् ।

अथ 'तिरिदुगे' त्यादिना औदारिककाययोगमार्गणायां विशेषं दर्शयति–औदारिककाययोगमार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणं न भवति, किन्तु देशोनवर्षसहस्रत्रयमात्रं, कुतः ? वायुकायिकमाश्रित्य प्रस्तुतान्तरस्य संभवात् । वायुकायिकस्य चौदारिककाययोगावस्थितेरुत्कृष्टतो यथोक्तमानत्वात् । अथ 'अण्णेसि' मित्यादिना द्वितीयं विशेषं दर्शयति–अस्यामेव मार्गणायां यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं संभवति तज्जघन्यरसबन्धस्वामी च परावर्तमानमध्यमपरिणामो न भवति तासामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तमात्रं न तु ततोऽधिकम्, किं कारण-

मिति चेदुच्यते-आसां जघन्यरसबन्धस्वामी संज्ञी। संज्ञिन औदारिककाययोगोऽन्तर्मुहूर्तात्परतो नाऽवतिष्ठते, तद्योगानां परावर्त्तमानत्वात्। ततोऽन्तर्मुहूर्तादधिकमन्तरं नायातीति।

अथ **'बारससुहुमाईणं विभंगणाणम्मि'** इत्यादिना विभङ्गज्ञानमार्गणायामपवदति-विभङ्गज्ञानमार्गणायां सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकम् इति द्वादशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वाणामेका कोटिः, कर्मभूमिजमनुजतिर्यक्षु विभङ्गज्ञानोत्कृष्टकायस्थितेः तावत्प्रमाणत्वात्। **'परे'** त्ति **महाबन्धकारादयः**, तन्मते अन्तर्मुहूर्तम् एव तद् भवति, तेषां मते हि मनुजतिरश्चामुत्कृष्टतोऽपि विभङ्गज्ञानस्यान्तर्मुहूर्तमात्रमेवावस्थानात्। तथा **'मणुयदुगरस'** त्ति मनुष्यद्विकस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, षष्ठपृथ्वीनारकभवस्थितेरुत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात्। तत्र स्वमते देशोनपूर्वकोट्याऽभ्यधिकानि तानि वाच्यानि, विभङ्गज्ञानवतः पूर्वकोट्यायुष्कस्य मनुजस्य तिरश्चो वा विभङ्गज्ञानान्वितस्यैव षष्ठनरके उत्पादात्। परमते तु अन्तर्मुहूर्तेनोनानि तानि बोध्यानि, तन्मते अपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽस्वीकारात्। तथा **'तिआयवाईणं'** ति आतपनाम स्थावरनाम एकेन्द्रियजातिनामेति तिसृणां साधिके द्वे सागरोपमे, ईशानात् परतः सनत्कुमारादीनां तद्बन्धस्यैवाभावात्। तथा **'उच्चस्स'** त्ति उच्चैर्गोत्रस्यैकत्रिंशत् सागरोपमाणि, नवमग्रैवेयकदेवानामुत्कृष्टतस्तावत्स्थितिकत्वात्। न च सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि भवतीति वाच्यम्, प्रस्तुतमार्गणायां सप्तमनारकस्य तद्बन्धाभावात्। तथाऽऽहारकद्विकजिननाम्नोरिह बन्धाभावात् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तथैवाशुभत्रिचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदहास्यरतीनां च जघन्यरसबन्धस्याऽभिमुखस्वामिकत्वेन तदन्तराभावाच्च उक्तशेषाणां पञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, सप्तमपृथ्वीनारकस्यापि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्। देशोनत्वञ्चात्र सातवेदनीयादीनां परावर्तमानप्रकृतीनां समयद्वयेन, स्त्रीवेदादीनाञ्चान्तर्मुहूर्तेन यथागमं स्वयमेवोह्यम्। इमाश्च ताः पञ्चाशत्-सातासाते वेदद्वयं शोकारती पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं त्रसदशकमस्थिरषट्कं पराघातनामोच्छ्वासनामोद्योतनामेति।

'पणतीसासुहधुवे' त्यादि, कृष्णनीलकापोतरूपासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणासु मिथ्यात्वमोहनीयस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिवर्जा अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पञ्चत्रिंशत् पुरुषवेदः हास्यरती **'तिआयव'** त्ति आतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम चेति सर्वसंख्ययैकचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं **'पल्लासंखियभागो'** त्ति एकस्य पल्योपमस्याऽसंख्येयतमभागः, देवानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् अप्रशस्तलेश्याकदेवानां कायस्थितेरुत्कृष्टतस्तावन्मितत्वात्।

'अण्णे' त्ति **महाबन्धकारादयः** **'कमसो'** त्ति अनन्तरोक्तानां रतिपर्यवसानानामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः सा च तत्तल्लेश्याकनारकानाश्रित्य ज्ञेया,

आतपनामादीनां तिसृणाञ्चान्तर्मुहूर्तम्, तच्च मनुष्यतिरश्च आश्रित्य ज्ञेयम्. कुतः ? उच्यते, तेषामभिप्रायेण देवानां पर्याप्तावस्थायामप्रशस्तलेश्यानभ्युपगमात् । 'बारहसुहमाईणं' ति '.... सुहुमविगलतिगं। णिरयसुरविउव्वदुग' मिति प्रकृतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां सूक्ष्मत्रिकादीनां द्वादशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, मनुजतिरश्चामेव तद्बन्धकत्वात् । तेषाञ्च विवक्षितलेश्याऽवस्थानस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात् । 'किण्हाअ' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, प्रस्तुतमार्गणायां परावर्त्तमानमध्यमपरिणामस्यैव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्, मनुष्यद्विकादेः स्वप्रतिपक्षतिर्यग्द्विकादिना सह परावृत्या बन्धस्य तु कृष्णलेश्यामार्गणायां षष्ठपृथ्वीनारकं यावदेवोपलम्भात् । अत्र मूलकृता द्वाविंशतिः सागरोपमाणि कथितानि तथापि व्याख्यानात् तानि अन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि वेदितव्यानि, षष्ठनरकादुद्वृत्तस्यापर्याप्तावस्थायामन्तर्मुहूर्त्तं यावत् कृष्णलेश्योपलम्भात्, तत्र मनुष्यद्विकादेर्जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनस्य संभवाच्च । 'होइ णीलाए' इत्यादि, नीललेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकजिननामनीचैर्गोत्ररूपाणां चतसृणामन्तर्मुहूर्त्तम्, प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्य तेजोवायूनामेव बन्धकत्वात् । जिननाम्नश्च मनुष्याणामेव बन्धकत्वात्, तेजोवायुमनुष्याणान्तु लेश्यायाः परावर्त्तमानत्वेन विवक्षितलेश्याया उत्कृष्टत आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वादिति । 'काऊअ' इत्यादि, कापोतलेश्यामार्गणायां तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् 'मुहुत्तंतो' त्ति अन्तर्मुहूर्तम्, पूर्वोक्तादेव हेतोः । 'तित्थस्स' त्ति जिननाम्नोऽभ्यधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि, नारकानाश्रित्य तदुपलम्भात्, जिननामबन्धकानां प्रस्तुतमार्गणायामुत्कृष्टतोऽपि साधिकत्रिसागरोपमस्थितिकनारकतयैवोत्पादाच्च । उक्तशेषाणां सर्वासां 'जाण इगए सिं हीणसजेट्ठकायठिई' इति वचनात् देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः । तद्यथा–अप्रशस्तलेश्यामार्गणासु आहारकद्विकस्य बन्धाभावादष्टादशोत्तरशतप्रकृतयो बन्धार्हाः । तत्र कृष्णलेश्यामार्गणायां जिननाम्नो जघन्यरसबन्धान्तराभावाद् देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरुक्तशेषाणामेकषष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम्, षट्पञ्चाशत इहैव पल्योपमाऽसंख्येयभागादितया पृथगुक्तत्वात् । इमाश्च ता एकषष्टिः प्रकृतयः–मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टौ अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः अष्टौ च प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः साताऽसाते शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदौ तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरनाम तदङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासोद्योतनामानि त्रसदशकमस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रञ्चेति । नीलकापोतलेश्यामार्गणयोर्जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरुक्तशेषाणामेकषष्टेः प्रकृतीनां भवति, सप्तपञ्चाशत इहैव पृथगुक्तत्वात् । इमाश्च ता एकषष्टिः प्रकृतयः–अनन्तरोक्तास्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रवर्जा अष्टपञ्चाशन्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे चेति ।

'भिन्नमुहुत्तं' ति तिसृष्वपि तेजःपद्मशुक्ललेश्यारूपासु प्रशस्तलेश्यासु अरतिशोकयोर्जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम्, तयोर्जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानविशुद्धप्रमत्तयतिस्वामिकत्वात् छद्मस्थमनुष्याणां विवक्षितलेश्यावस्थानकालस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मौहूर्तिकत्वात् । अपेः संग्राहकत्वात् देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपि जघन्यरसबन्धस्यान्तरमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तम् भवति, मनुष्यतिरश्चामेव तद्बन्धकत्वात् तेषाञ्चान्तर्मुहूर्तात् परतो लेश्यान्तरगमनोपलम्भात् तज्जघन्यरसबन्धस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् न देवभवप्रयुक्तस्य बृहदन्तरालस्य संभवः । अत्रैव मतान्तरं सम्भाव्य तदेव ज्ञापयति 'उअ' इत्यादिना, यदि लेश्यासंक्रमणं स्वीक्रियते तर्हि सुरद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यरसबन्धस्यान्तरं न भवति, विवक्षितलेश्यायां तच्चरमसमये सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं जन्तोर्लेश्यान्तरगमनेन मार्गणाया एवाऽपगमात् । इदमुक्तं भवति–देवद्विकवैक्रियद्विके प्रशस्ताः प्रकृतयः, आसां जघन्यरसः संक्लेशेनैव बध्यते ततो यदि लेश्यान्तरगमनाभिमुखस्य विवक्षितलेश्यावतस्तीव्रसंक्लिष्टस्य विवक्षितलेश्याचरमसमयवर्तिनो जघन्यरसबन्धः सम्भाव्यते तर्हि देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यरसबन्धस्यान्तरं न संभवति तज्जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाया एव विनाशात् । तथा शुक्ललेश्यामार्गणायामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनां मनुष्यद्विकस्य पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोः 'उरलुवंगाणि ॥४०६॥ उरल परघूसासा बायरतिगे' ति सप्तानां औदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनां चेति सर्वसंख्ययैकोनविंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमष्टादश सागरोपमाणि, प्रस्तुतमार्गणायां जघन्यस्थितिकानामेव आनतदेवानां तथाविधसंक्लेशस्य संभवेन तेषामेव तज्जघन्यरसबन्धस्य तदन्तरस्य च संभवात् । अत्र देशोनानि च तानि स्वयमूह्यानि, जघन्यस्थितिकानतदेवस्य भवारम्भावसानयोर्यथासंभवं तज्जघन्यरसबन्धस्यावश्यकत्वात् । आनतदेववत् प्राणतादिदेवानामपि तज्जघन्यरसबन्धाभिगन्तृमतेन तु प्रस्तुतमन्तरं मनीषिभिः स्वयं परिभावनीयम् । तथा '···थीणपुमा। संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअ' इति स्त्रीवेदादीनां सप्तदशानां प्रथमसंस्थानप्रथमसंहननयोः सुभगत्रिकप्रशस्तविहायोगत्युच्चैर्गोत्राणाञ्चैकत्रिंशत् सागरोपमाणि, शुक्ललेश्यायां स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोर्जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानविशुद्धनवमग्रैवेयकमिथ्यादृष्टिदेवस्यापि स्वामित्वेन शेषाणामुच्चैर्गोत्रपर्यवसानानां द्वात्रिंशतेर्जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामिमिथ्यादृष्टिदेवस्वामिकत्वेन नवमग्रैवेयकं यावद् बध्यमानत्वात् ।

तथा तेजोलेश्यापद्मलेश्यामार्गणयोः संज्वलनवर्जद्वादशकषायाः स्त्यानर्द्धित्रिकं मिथ्यात्वमाहारकद्विकमित्यष्टादशानां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं जघन्यान्तरनिरूपणप्रस्तावे निषिद्धं तथा ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कमन्तरायपञ्चकं हास्यरती भयजुगुप्सेऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कमिति त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य कृतकरणस्वामिकत्वमतेनान्तराभावस्तत उक्तशेषाणामष्टपञ्चाशत्प्रकृतीनां तेजोलेश्यामार्गणायां, तथा पद्मलेश्यायां तु स्थावरैकेन्द्रियातपानां बन्धाभावात् पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतान्तरं देशोना कायस्थितिः । ज्ञाना-

वरणादित्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानस्वामीति मतेन प्रस्तुतमार्गणाद्वये तासां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं संभवति, तच्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमेवावसातव्यं, न तु देशोनकायस्थितिमितमिति ।

तथा शुक्ललेश्यामार्गणायामरतिशोकादीनामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तादिकमिति ग्रन्थकृतोक्तत्वात् हास्यरती भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् उपघातनाम निद्राद्विकं पुरुषवेदः संज्वलनचतुष्कं ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कम् अन्तरायपञ्चकम् इति त्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वेन, संज्वलनवर्जकषायद्वादशकं स्त्यानर्द्धित्रिकं मिथ्यात्वमोहनीयम् आहारकद्विकम् इति अष्टादशानां जघन्यरसबन्धस्याप्रमत्ताद्यभिमुखस्वामिकत्वेनाऽन्तराभावादुक्तशेषाणां सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इति अष्टानां प्रकृतीनां जिननाम्नश्च जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, कदाचिन्मार्गणाऽऽद्यान्त्यान्तर्मुहूर्तादावेव तज्जघन्यरसबन्धस्योपलम्भात् ।

तथा '**मीसे**' इत्यादिना मिश्रदृष्टिमार्गणायां विशेषं दर्शयति, तत्र सातवेदनीयं 'थिरसुहजसा असायअरइअथिरदुगऽजसं' इति स्थिरनामादयश्च नवेति दशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तच्च मार्गणाकायस्थितेर्लघुतरं ज्ञेयं, कुतः ? इति चेद्, मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वेन पृथग्निर्देशस्य वैयर्थ्यापत्तेः । तथोक्तशेषाणामत्र संभाव्यमानबन्धानामष्टषष्टेः, प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तज्जघन्यान्तरनिरूपणप्रस्तावे निषिद्धत्वात्, तदपि कुतः ? तासां जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन मिथ्यात्वाभिमुखेन वा बध्यमानत्वेन सकृज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणाया अपगमात् । तथा '**सासाणे**' ति सास्वादनमार्गणायां त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकं पराघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकञ्चेति पञ्चदशानां जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धान्तरस्य जघन्यान्तरनिरूपणप्रस्ताव एव प्रतिषिद्धत्वात् '**जाण**' त्ति यासां सप्ताशीतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं भवेत् तासां सर्वासां सप्ताशीतिलक्षणानां तदुत्कृष्टतः '**मुहुत्तंतो**' त्ति अन्तर्मुहूर्तं, मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेस्तावन्मितत्वात् । अत्र हि द्विचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रस्तुतमन्तरं विपरीतबन्धप्रयुक्तम् पञ्चचत्वारिंशतोऽध्रुवाणां पुनर्विपरीतबन्धप्रयुक्तं बन्धपरावृत्तिप्रयुक्तं वा यथासंभवं बोध्यम् । एके आचार्याः सास्वादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वं न स्वीकुर्वते, तेषां मते प्रस्तुतमार्गणायां सर्वासां द्व्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तप्रमाणं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं वाच्यम् ।

'एगिंदियथी' त्यादिगाथाषट्केनैकेन्द्रियजात्यादिषु त्रयोविंशतौ मार्गणासु 'णवरी' त्यादिगाथासप्तदशकेन नरकौघादिविंशतिमार्गणासु बध्यमानानां स्वप्रायोग्यानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमभिहितमिति । तथा कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोस्तज्जघन्याऽन्तरनिरूपणप्रस्ताव एव निरूपितत्वात् अपगतवेदसूक्ष्मसंपराययोर्जघन्यरसबन्धान्तरस्य प्रागेव निषिद्धत्वाच्च पारि-

शेष्यादुक्तशेषासु त्रयोविंशत्युत्तरशतमार्गणासु बध्यमानानां यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्यान्तरं संभवति तासां तदुत्कृष्टतो देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः भवति, मार्गणाकायस्थितेरसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । अथोक्तशेषा मार्गणाः-नरकौघतृतीयनरकमार्गणयोः 'णवर' मित्यादिनैव पृथगुक्तत्वात् तद्वर्जनरकमार्गणास्ताश्च षड् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्यः देवौघवर्जा एकोनत्रिंशद्देवभेदाः, देवौघस्य वर्जनम् तथैव, एकेन्द्रियौघसूक्ष्मैकेन्द्रियौघवर्जाः सप्तदशेन्द्रियभेदाः एकत्रिंशत्कायभेदाः, ओघपृथ्व्यादिचतुष्क-सूक्ष्मपृथ्व्यादिचतुष्क वनस्पतिकायौघ साधारणवनस्पतिकायौघ-सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायरूपास्वेकादशसु मार्गणासु यथास्थानमुक्तत्वात् , पञ्चदश मनोयोगादियोगभेदाः, काययोगौघे औदारिककाययोगे च पृथगुक्तत्वात् कार्मणकाययोगे जघन्यनिरूपणक्षण एवोत्कृष्टस्याप्यभिहितत्वाच्च, स्त्रीपुरुषवेदौ चत्वारः कषायाः चत्वारि ज्ञानानि, तथा अयत उक्तत्वात् सूक्ष्मसम्पराये च जघन्यान्तरप्ररूपणक्षण एव जघन्यरसबन्धान्तरस्य निषिद्धत्वात् पञ्च संयमभेदाः चक्षुर्दर्शनम् अवधिदर्शनम् सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं क्षायिकम् औपशमिकं संज्ञी आहारी चेति त्रयोविंशत्युत्तरशतं मार्गणानाम् । अथ कस्यां मार्गणायां कियतीनां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याऽन्तरं सम्भवति कियतीनाञ्च तद् नेति तु जघन्यरसबन्धस्य जघन्यान्तरनिरूपणक्षण एव भावितम् अतस्तत एवाऽवधारणीयं,ग्रन्थगौरवभयान्नात्र तद् भूयो भाव्यत इति ॥५८५-६०३॥

उक्तमादेशतः संभाव्यमानबन्धानामायुर्वर्जप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमथ तास्वेव तासामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं प्रचिकटयिषुराह—

सव्वणिरयभेएसुं सुरगेविज्जंतणीलकाऊसुं ।
अडमिच्छाईणं खलु लहुमजहण्णाणुभागस्स ॥६०४॥
तिरिणरगोअदुगाण वि सत्तमणिरये भवे मुहुत्तंतो ।
समयो सेसाण भवे सप्पाउग्गाउवज्जाणं ॥६०५॥

(प्रे०) 'सव्वणिरये' त्यादि सर्वेषु नरकौघादिसप्तमनरकान्तेषु नरकभेदेषु अष्टासु नरकमार्गणास्वित्यर्थः देवौघादिनवमग्रैवेयकान्तासु पञ्चविंशतौ देवमार्गणासु नीलकापोतलेश्यामार्गणयोश्चेति सर्वसङ्ख्यया पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु 'अडमिच्छाईणं' ति मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तासां जघन्यरसबन्धस्याभिमुखावस्थायाः चरमसमय एव संभवात् । अत्रायं भावः—इमा हि ध्रुवबन्धिन्यः, तथासां स्वबन्धद्विचरमसमयं यावदजघन्यरसो नैरन्तर्येण बध्यते जघन्यरसः तु बन्धचरमसमये, ततश्चैतद्बन्धो भवति, सम्यक्त्वाद्यवस्थायां जघन्यतोऽपि अन्तर्मुहूर्तं यावत्तदबन्धकतया स्थित्वा एव परिणामपातात् प्रथमादिगुणस्थानकमासाद्य तत्र मिथ्यात्वादीनामजघन्यरसबन्धमारभते तदा श्रोक्तमन्तर्मुहूर्तात्मकं जघन्यमन्तरं प्राप्यते । अत्रायं नियमः-याः प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यो मार्गणा-

प्रायोग्यध्रुवबन्धिन्यो वा तासां जघन्यरसो यदि अभिमुखावस्थायामेव बध्यते तदजघन्यरसबन्धस्यान्तरं च यदि भवति, तर्हि तासां तदन्तर्मुहूतादल्पतरं नैव भवतीति ।

तथा 'सत्तमणिरये' त्ति सप्तमनरकमार्गणायां तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं गोत्रद्विकमिति षण्णां प्रकृतीनामप्यजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तम् भवति, मिथ्यादृष्ट्यादेः परावृत्त्या तद्बन्धासंभवात् मिथ्यात्वसम्यक्त्वयोश्च प्रत्येकमवस्थानस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् । ततः किम् ? मिथ्यात्वादिजघन्याऽवस्थानरूपं मनुष्यद्विकादेरजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं प्राप्यत इति । तथा 'सेसाण' उक्तशेषाणां तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणां प्रकृतीनां तदेकसमयो भवति, तासु याः परावर्त्तमानादिकाः तासां कासाञ्चित् तत् सामयिकप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्तनेन कासाञ्चिदजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनेन च प्राप्यते । तथाऽत्रोक्तमिथ्यात्वमोहादिव्यतिरिक्तानां ध्रुवबन्धिन्यादीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्ध्या तादृक्संक्लेशेन वा संभवेनाऽजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनादेव एकसमयरूपमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं भवति । 'आउगवज्जाणं' ति तेषां पृथग्वक्ष्यमाणत्वात् , इह अग्रे च यथास्थानं सप्तकर्मोत्तरप्रकृतिविषयं निरूपणं ज्ञेयम् ।।६०४-६०५।।

अथ तिर्यग्गत्योघादिषु मार्गणास्वाह—

दुइअकसायाईणं बारसण्ह तिरितिपणिदितिरियेसु ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं समयो सेसाण पयडीणं ।।६०६।।

(प्रे०) 'दुइअ' इत्यादि, तियग्गत्योघः पञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमती पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगिति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिति द्वादशानामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् भवति, ध्रुवबन्धित्वे सति तासां जघन्यरसबन्धस्याभिमुखावस्थायामेव संभवात् । तथोक्तशेषाणां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन स्वस्थानविशुद्ध्यादिना चोपलम्भात् ।।६०६।।

अथ तिसृषु मनुष्यगत्योघादिमार्गणास्वाह—

तिणरेसु मुहुत्तंतो णेयो असुहधुवबंधिणीण तह ।
तित्थाहारदुगाणं समयो सेसाण पयडीणं ।।६०७।।

(प्रे०) 'तिणरेसु' इत्यादि, मनुष्यगत्योघः मानुषी पर्याप्तमनुष्य इति मार्गणात्रिके त्रिचत्वारिंशनोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्न आहारकद्विकस्य चेति सर्वसंख्यया षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तत्र मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् आद्या द्वादशकषाया इति षोडशानां ध्रुवबन्धित्वे सति तज्जघन्यरसबन्धस्याऽभिमुखावस्थायामेव संभवात् । तथा

ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कम् अन्तरायपञ्चकं भयजुगुप्से संज्वलनचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् उपघातनाम जिननाम आहारकद्विकमिति ज्ञानावरणादीनां त्रिंशत उपशमश्रेणावबन्धानन्तरमुपशान्ताद्धाक्षयेण श्रेणेरवरोहतो जन्तोस्तत्तद्बन्धस्थाने पुनर्बन्धप्रवर्तनात् । आहारकद्विकस्य तु सप्तमगुणस्थानकात् कश्चित् तद्बन्धकः षष्ठं गुणस्थानकं गत्वा पुनः सप्तममागत्य तद्बन्धमारभते तदापि यथोक्तमन्तरं प्राप्यते, अपति बाधके गुणस्थानकावस्थानकालस्य जघन्यतोऽपि आन्तर्मुहूर्तिकत्वात्, अत्र बाधको नाम मृत्युः । यदि कश्चित् षष्ठादिगुणस्थानकस्पर्शनप्रथमसमय एव पञ्चत्वमुपैति तमाश्रित्य तु गुणस्थानकस्यैकसामयिकाऽवस्थानोपलम्भ इति । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः; तत्राष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धयोरन्तराले समयं जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् षट्षष्टेः प्रकृतीनां त्वध्रुवबन्धित्वादिति ॥६०७॥

अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह--

दुपणिंदितसेसु तहा चक्खुअचक्खूसु भवियसण्णीसुं ।
तह आहारे णेयं ओघव्व उ मव्वपयडीणं ॥६०८॥

(प्रे०) 'दुपणिंदी' त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं भव्यः संज्ञी आहारीति नवसु मार्गणासु सर्वासां विंशत्युत्तरशतरूपाणां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य अघन्यमन्तरमोघवद् भवति, यथा मार्गणाऽविवक्षया सामान्येन प्ररूपणाऽवसरे प्ररूपितम् तद्वज्ज्ञेयम्, आसु मार्गणासु श्रेणेः संभवे सति श्रेणौ कालकरणानन्तरमपि मार्गणाया अनपगमात् । अथ प्रागोघप्ररूपणायां कासां कियदन्तरमुक्तं तदेव दर्शयामः—मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकं द्वादशकषाया आद्या आहारकद्विकञ्चेति अष्टादशानां प्रत्यकेमन्तर्मुहूर्तम् । निद्राद्विकस्यान्तर्मुहूर्तम्, मतान्तरेण समयः । शेषस्य प्रकृतिशतस्याप्येकसमयः । अत्र हेत्वादिकमोघप्ररूपणागाथाविवरणतो ज्ञेयम् ॥६०८॥

अथ पञ्चमनोयोगादिष्वेकादशसु मार्गणास्वाह—

पणमणवयउरलेसुं ण भवे असुहधुवबंधिणीण तहा ।
तित्थाहारदुगाणं समयो सेसाण विण्णेयं ॥६०९॥

(प्रे०) 'पणमण' त्यादि सामान्यमनोयोगः सत्यमनोयोगः असत्यमनोयोगः सत्यासत्यमनोयोगः असत्यामृषामनोयोग इति पञ्चसु मनोयोगमार्गणासु एवंविधासु पञ्चसु वचनयोगमार्गणासु औदारिकमार्गणायाञ्च त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्न आहारकद्विकस्य चाऽजघन्यरसबन्धस्यान्तरं 'ण' त्ति नैव भवति, अशुभध्रुवबन्धिन्यादीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरमासामबन्धमाश्रित्य प्राप्यते, इह तु सम्यक्त्वादिगुणावाप्तौ उपशमश्रेणौ वा तदबन्धानन्तरं पुन-

बन्धाऽऽरम्भणात् प्रागेव मार्गणाया अपगमात्, कुतः ? इति चेत्, संज्ञिनां विवक्षितयोगावस्थानकालस्योत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात्। शेषाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्राऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धयोरन्तराले समयं जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात्। षट्षष्टेः प्रकृतीनां तु बन्धस्य परावर्तमानत्वादिति ॥६०९॥

अथ काययोगौघमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

काये आहारजुगलतइअकसायाइसोलसण्हं णो।
ओघव्व भवे णिद्दादुगस्स समयोऽत्थि सेसाणं ॥६१०॥

(प्रे०) **'काये'** इत्यादि, काययोगौघमार्गणायामाहारकद्विकं मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमाद्या द्वादशकषायाश्चेति अष्टादशानामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, आगामजघन्यरसबन्धस्यान्तरमबन्धानन्तरं पुनर्बन्धमाश्रित्यैव प्राप्यते इह तु पुनर्बन्धात् प्रागेव मार्गणाया अपगमात्। अथ निद्राद्विकस्य मतद्वयसंग्रहार्थम् ओघवदिति पृथगुक्तम् तेन निद्राद्विकस्याजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयः, **मतान्तरेण** अन्तर्मुहूर्तमपि वाच्यम्। तथा **'सेसाणं'** ति उक्तशेषाणां शतप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः। इह ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कमन्तरायपञ्चकं भयजुगुप्से संज्वलनचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं जिननाम उपघातनामेति षड्विंशतेरेकः समयः, उपशमश्रेणौ अष्टमगुणस्थानकादिरूपं तत्तद्बन्धस्थानं प्राप्य तत्रैव कालं कृत्वा दिवं गतस्याऽनन्तरसमये दिवि तद्बन्धप्रवर्तनात् प्राप्यते। तथाऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां जघन्यमन्तरमेकसामयिकमजघन्यरसबन्धयोरन्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धाख्यविरुद्धबन्धप्रवर्त्तनात्। शेषषट्षष्टेः प्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेकसमयो जघन्यमन्तरं प्राप्यत इति ॥६१०॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामाह—

ओरालमीसजोगे समयो सव्वाण अहव णव भवे।
जिणुरलधुवबंधीणं तह सुरवेउव्वजुगलाणं ॥६११॥

(प्रे०) **'ओराले'** त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां बन्धार्हाणां षोडशोत्तरशतरूपाणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, मार्गणाद्विचरमादिसमयेऽपि मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धयोरभ्युपगमेन ध्रुवबन्धिन्यादीनामजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धात्मकस्याऽन्तरस्य संभवात्। शेषाणान्तु अध्रुवबन्धित्वादेव। **'अहव'** त्ति आचार्यान्तराणां मतेन जिननाम्न औदारिकशरीरनाम्न एकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनां देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चाजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नैव भवति, अस्मिन् मते मार्गणाचरमसमय एव उत्कृष्टसंक्लेशविशुद्धयोरभ्युपगमेन तद्बन्धकानां मार्गणाद्विचरमसमयं यावत् नियमान्नैरन्तर्येण च तदजघन्यरसब-

न्धस्य प्रवर्तनात् जघन्यरसबन्धानन्तरसमये मार्गणाऽपगमाच्च । शेषाणां तु समयस्तासामध्रुव-बन्धित्वादेव ॥६११॥

अथ वैक्रियकाययोगमार्गणायामाह—

वेउव्वे अट्ठण्हं मिच्छाईणं ण अंतरं हवए ।
समयो जाणेयव्वं सेसाणं अट्ठणवतीए ॥६१२॥

(प्रे०) 'वेउव्वे' त्ति वैक्रियकाययोगमार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कुतः ? इति चेत्, आसामजघन्यरसबन्धस्यान्तरमबन्धानन्तरं पुनर्बन्धमाश्रित्यैव प्राप्यते इह तु पुनर्बन्धात् प्रागेव मार्गणाया अपगमात् । तथा 'अट्ठणवतीए' त्ति उक्तशेषाणामष्टनवतेः प्रकृतीनां तदेकः समयः । तत्र सातवेदनीयादीनामध्रुवबन्धित्वात्, ध्रुवबन्धिनीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्च अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् ॥६१२॥

अथ वैक्रियमिश्रमार्गणायामाह—

वेउव्वमीसजोगे समयो सव्वाण अहव णेव भवे ।
सव्वधुवबंधिणीणं तह सत्तण्ह उरलाईणं ॥६१३॥

(प्रे०) 'वेउव्वे' त्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां 'सव्वाण' त्ति इह सम्भाव्यमानबन्धानां षडुत्तरशतरूपाणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः । 'अहव' त्ति मतान्तरेणेत्यर्थः 'सव्व' त्ति एकपञ्चाशद्रूपाणां सर्वासां ध्रुवबन्धिनीनाम् औदारिकशरीरनाम पराघातोच्छ्वासौ बादरत्रिकं जिननाम चेति औदारिकशरीरनामादीनां सप्तानाञ्चाजघन्यरसबन्धस्यान्तरं न भवति, अत्रार्थे हेत्वादिकमौदारिकमिश्रमार्गणावद् वाच्यम् ॥६१३॥

अथाऽऽहारकमिश्रमार्गणायामाह—

आहारमीसजोगे समयो होएइ सव्वपयडीणं
अहवाऽत्थि अंतरं णो बारहसायाइवज्जाणं ॥६१४॥

(प्रे०) 'आहारमीसे' त्यादि, आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां 'सव्व' त्ति अत्र बन्धप्रायोग्याणां षट्षष्टिरूपाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः । 'अहव' त्ति आचार्यान्तराणां मतेनेत्यर्थः 'बारहे' ति 'सायं । हस्सरइथिरसुहजसा असायअरइअथिरदुगऽजसं' इति अन्तरद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्ताः सातवेदनीयादीः द्वादशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणां चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं न भवति, तासु ज्ञानावरणादीनां ध्रुवबन्धित्वात्, देवद्विकादीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्, जिननाम्नस्तु ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्, शेषं

हेत्वादिकमौदारिकमिश्रमार्गणावद् ज्ञेयम् । अत्र ध्रुवबन्धिकल्पं नाम तन्मार्गणावर्त्तिभिः सर्वैः तत्र बध्यते किन्तु यैर्बध्यते तैःतन्नैरन्तर्येण बध्यते एवेति ॥६१४॥

अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारिमार्गणयोराह--

कम्माणाहारेसुं धुवउरलाण तह जाण अधुवाणं ।
कालो अत्थि दुसमया ताण ण समयोऽत्थि सेसाणं ॥६१५॥

(प्रे०) **'कम्माणाहारेसु'** मित्यादि, कार्मणकाययोगाऽनाहारमार्गणयोर्बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरमेकेन्द्रियापेक्षयैव प्राप्यते, शेषजीवानाश्रित्य प्रस्तुतमार्गणायाः कायस्थितेः समयत्रयप्रमाणत्वाभावात् । एकेन्द्रियाणां चैकपञ्चाशद्ध्रुवबन्धिनीनां तथौदारिकशरीरनाम्नो निरंतरबन्धप्रवर्त्तनाज्जघन्यरसबन्धाभावाच्चान्तरं न प्राप्यते । देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपि जिननामवत् केवलं सम्यग्दृष्टय एव बन्धकाः, अतो न अस्य प्रकृतिपञ्चकस्याजघन्यरसबन्धस्यान्तरम् ; तद्बन्धकानाश्रित्य प्रस्तुतमार्गणयोरुत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वात् । नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोस्त्वत्र बन्ध एव नास्तीति ।

'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां नवपञ्चाशत्प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं समयप्रमाणं प्राप्यते । उत्कृष्टमपि तत्तावत्प्रमाणमेव, बन्धद्वयान्तरालस्यैवान्तरपदार्थत्वात् उत्कृष्टपदेऽपि मार्गणाकायस्थितेस्त्रिसामयिकत्वात् । केचित्तु प्रस्तुतमार्गणावर्त्तिनां विग्रहगत्योत्पद्यमानानां स्थावराणां स्थावरप्रायोग्यप्रकृतीनामेव बन्धमङ्गीकुर्वन्ति, तदपेक्षया त्वेताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तासां स्थावरप्रायोग्याणामेव प्रकृतीनां यथोक्तमन्तरं स्वयं परिभावनीयमिति ॥६१५॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह—

थीए जिणसगवीसअसुहधुवबंधीण अंतरं णत्थि ।
ओघव्व जाणियव्वं दुणवतिपयडीण सेसाणं ॥६१६॥

(प्रे०) **'थीए'** इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां जिननाम्नो ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कम् अन्तरायपञ्चकं भयजुगुप्से सञ्ज्वलनचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् उपघातनामेति सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनाञ्चाजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कुतः ? आसामजघन्यरसबन्धस्यान्तरमबन्धानन्तरं पुनर्बन्धकरणात् प्राप्यते, इह तूपशमश्रेणौ कासाञ्चिज्ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामबन्धाद्र्वाग्मार्गणाऽपगमात् , कासाञ्चिन्निद्राद्विकादीनां तदबन्धानन्तरमग्रेतनगुणस्थानकेऽवेदिभवनेन, यदि च तदबन्धकभवनान्तरं मार्गणाविच्छेदात् प्राक् कालं करोति तर्हि देवत्वे पुरुषतयोत्पादेनेति उभयथाऽपि पुनर्बन्धात् प्रागेव मार्गणाया अपगमात् । तथोक्तशेषाणां द्विनवतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमोघवद् ज्ञातव्यम् , यावदोघप्ररूपणायामुक्तं तावज्ज्ञेयमित्यर्थः । तद्यथा–आहारकद्विकं मिथ्यात्व-

मोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् आद्यद्वादशकषाया इति अष्टादशानां तदन्तर्मुहूर्तं भवति। अत्रशेषाणां चतुः-सप्ततेस्तु तदेकसमयो भवति ॥६१६॥ अथ पुरुषवेदमार्गणायामाह—

पुरिसे आवरणणवगचउसंजलणपणअंतरायाणं।
णो अत्थि अंतरं खलु ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥६१७॥

(प्रे०) 'पुरिसे' इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां 'आवरणणवग' त्ति ज्ञानावरण-पञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं संज्वलनचतुष्कम् अन्तरायपञ्चकम् इति अष्टादशानां प्रकृतीनामजघन्यरस-बन्धस्यान्तरं नास्ति, ध्रुवबन्धित्वे सति तासां जघन्यरसबन्धस्य मार्गणाचरमसमय एव संभवात्। तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां तदोघवद् भवति, तद्यथा—अनन्तरगाथाविवरणोक्तानामाहारकद्वि-कादीनामष्टादशानां तदन्तर्मुहूर्तम्। निद्राद्विकस्यान्तर्मुहूर्तं समयो वा। द्व्यशीतेः प्रकृतीनां त्वेकः समयः। अत्र हेत्वादिभावना ओघप्ररूपणतो ज्ञेया ॥६१७॥

अथ नपुंसकवेदावेदमार्गणयोराह—

होइ णपुंसगवेए तइअकसायाइसोलसण्ह तहा।
तित्थाहारदुगाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६१८॥
सेसासुहधुवबंधीण णत्थि समयो हवेज्ज सेसाणं।
गयवेए सव्वेसिं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६१९॥

(प्रे०) 'होइ' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां '"......तइअकसाया ॥४०४॥ दुइअकसाया मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगे' त्ति षोडशानां जिननामाऽऽहारकद्विकयोश्चाजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्त-र्मुहूर्तं भवति, तत्र जिननाम्नो भावनैवम्-कश्चित् क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्बद्धजिननामा मनुष्यो नरकं जिगमिषुर्भवचरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वमासाद्य जिननामाबन्धं करोति ततो नरके पर्याप्तावस्थायां सम्य-ग्दृष्टीभूय पुनस्तद्बन्धमारभते इत्येवमबन्धप्रयुक्तमन्तर्मुहूर्तात्मकमन्तरमायाति। शेषाणां तृतीयकषाया-दीनां भावना स्त्रीवेदमार्गणावत्। तथा 'सेसासुह' त्ति तृतीयकषायादीनामिहैव प्रागुक्तत्वात् शेषाणां स्त्रीवेदमार्गणाविवरणोक्तानां सप्तविंशतेर्ज्ञानावरणपञ्चकादीनामशुभध्रुवबन्धिनीनामजघन्य-रसबन्धस्यान्तरं नास्ति, हेतुस्तु स्त्रीवेदमार्गणावत्। तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां चतुःसप्ततेः तदेकसमयो भवति, स्वस्थानविशुद्ध्यादिना तज्जघन्यरसबन्धस्योपलम्भात्। कासाञ्चिच्च प्रकृतीनां परावर्तमानभावेन बन्धोपलम्भात्। गतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कम् अन्तराय-पञ्चकं संज्वलनचतुष्कं सातवेदनीयं यशःकीर्तिनामोच्चैर्गोत्रं चेति एकविंशतिलक्षणानां सर्वासां प्रकृ-तीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं, तच्चाऽबन्धमाश्रित्यैव ज्ञेयम्, अद्धाक्षयेण उपशम-श्रेणेरवरोहतस्तत्तद्बन्धस्थाने पुनस्तद्बन्धप्रवर्तनात्। न च ज्ञानावरणादीनामबन्धं कृत्वा तत्कालं

मृत्वा दिवि तद्बन्धारम्भणेनैकसामयिकमन्तरं भविष्यतीति वाच्यम्, देवस्य प्रस्तुतमार्गणाबाह्यत्वात् ॥६१८-६१९॥ अथ क्रोधादिकषायमार्गणास्वाह—

आहारदुगस्स तह दुणिद्दाभयकुच्छणामवज्जाणं ।
असुहधुवबंधिणीणं कोहे णो अंतरं अत्थि ॥६२०॥
सेसाणोघव्व भवे एवं माणाइगेसु तीसु परं ।
कमसो समयोऽत्थि लहुं संजलणेगदुगचउगाणं ॥६२१॥

(प्रे०) '**आहारदुगस्से**' त्यादि, क्रोधकषायमार्गणायाम् आहारकद्विकस्य निद्राद्विकभयजुगुप्साऽशुभवर्णादिचतुष्कोपघातनामवर्जानामशुभध्रुवबन्धिनीनाम् चतुस्त्रिंशतश्चाप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामित्यर्थः, इति सर्वसंख्यया षट्त्रिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कुतः ? ओघे अशुभध्रुवाणां श्रेणी अबन्धमाश्रित्य, आहारकद्विकस्य च गुणस्थानकपरावृत्त्याऽपि अन्तरमायाति । इह तु श्रेणेरवरोहतः पुनर्बन्धकर्तु र्मार्गणाऽपगमात्, ज्ञानावरणादिचतुर्दशानां संज्वलनचतुष्कस्य चाबन्धाभावाद् मिथ्यात्वादीनां स्वबन्धकालापेक्षया मार्गणावस्थानकालस्य अल्पत्वादन्तराभावः । अव्याघातभाविषष्ठगुणस्थानकजघन्यकालापेक्षया मार्गणाऽवस्थानकालस्याऽल्पत्वेन षष्ठगुणस्थानकादागत्य पुनर्बन्धमारभमाणस्य मार्गणाया एव अनवस्थानाद् गुणस्थानकपरावृत्त्यापि न प्राप्यते आहारकद्विकाजघन्यरसबन्धस्यान्तरमिति । तथा '**सेसाण**' त्ति उक्तशेषाणां चतुरशीतेः प्रकृतीनामोघवत् समयो भवति, तद्यथा— जिननामनिद्राद्विकभयजुगुप्साऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातानामेकसमयः, श्रेणौ समयं तदबन्धकतया स्थित्वा पञ्चत्वमासाद्य दिवि पुनस्तद्बन्धकरणेनैव प्राप्यते; निद्राद्विकस्य मतान्तरेणान्तर्मुहूर्तमपि । शेषाणां तु जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानविशुद्ध्यादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा प्रवर्त्तनात्, तत्र पराघातनामादीनान्तु श्रेणौ सामयिकाऽबन्धादपि ।

अथ मानादिकषायमार्गणासु बहुसमानवक्तव्यत्वात् अतिदिशति '**एवं माणाइगेसु**' इत्यादि, मानमायालोभकषायरूपासु तिसृष्वपि मार्गणासु क्रोधमार्गणावदेव सर्वं वाच्यम्, नवरं मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्य मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानयोः, लोभमार्गणायां संज्वलनक्रोधमानमायालोभानामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयो भवति, कश्चिदुपशमश्रेणौ समयं तदबन्धकतया स्थित्वा मृतः सन् विवक्षितकषायोदयवानेव दिवि तद्बन्धं प्रारभते इति । अत्रेदमायातम्—इहाऽऽहारकद्विकस्य त्रयस्त्रिंशतश्चैवाऽशुभध्रुवबन्धिनीनामन्तरं नास्ति, सञ्ज्वलनक्रोधस्यैकसामयिकान्तरस्य सद्भावात् । तथा मायामार्गणायां द्वात्रिंशत एवाशुभध्रुवबन्धिनीनामन्तरं नास्ति, संज्वलनमानस्य अप्येकसामयिकान्तरस्य संभवात् । तथा लोभमार्गणायां त्रिंशत एवाशुभध्रुवाणां तन्नास्ति, संज्वलनचतुष्कस्यापि अजघन्यरसबन्धान्तरस्योपलम्भात् । ननु यथा लोभकषायमार्गणायां संज्वलनचतुष्कस्याऽजघन्यरसबन्धास्यान्तरं श्रेणौ मृत्युमाश्रित्य प्राप्यते तथा क्रोधमार्गणायां संज्वलनचतुष्कस्य मानमार्गणाया-

मुक्तशेषस्य सञ्ज्वलनत्रिकस्य मायामार्गणायामुक्तशेषयोः संज्वलनमायालोभयोरपि तत्कथं न प्राप्यते ? इति चेदुच्यते—ज्ञानावरणपञ्चकादिवन्मार्गणाचरमसमयं यावत्तद्बन्धोपलम्भात् । अथ प्रकृतम्—मानमार्गणायां पञ्चाशीतेः, मायामार्गणायां षडशीतेः, लोभमार्गणायामष्टाशीतेः प्रकृतीनामेकसमयरूपमजघन्यरसबन्धस्यान्तरं ज्ञेयम्, संज्वलनक्रोधादेरप्यन्तरस्य सद्भावात् ॥६२०-६२१॥

अथ अज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह—

अण्णाणतिगे मिच्छे णो चेव भवे तिचत्तपयडीणं ।
असुहधुवबंधिणीणं समयो सेसाण पयडीणं ॥६२२॥

(प्रे०) 'अण्णाणतिगे' इत्यादि, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपेऽज्ञानत्रिके मिथ्यात्वमार्गणायाञ्च त्रिचत्वारिंशतः सर्वासामित्यर्थः, अशुभध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नैव भवति, ध्रुवबन्धित्वे सति तासां जघन्यरसस्य मार्गणाचरमसमय एव बध्यमानत्वात् । आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावादुक्तशेषाणां चतुःसप्ततेः प्रकृतीनां तदेकः समयो भवति, तत्र सातवेदनीयादीनां परावर्तमानबन्धानां स्वबन्धद्वयान्तराले प्रतिपक्षप्रकृतीनामेकसामयिकबन्धप्रवर्तनात् अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धप्रवर्तनाद् वा । प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनान्तु अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धप्रवर्तनादेव ॥६२२॥

अथ ज्ञानत्रिकादिष्वाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मे णिद्दादुगस्स ओघव्व ।
पंचण्ह णराईणं विण्णेयं हायणपुहुत्तं ॥६२३॥
मज्झऽट्ठकसायाणं सुरविउव्वाहारजुगलपयडीणं ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं समयो सेसाण पयडीणं ॥६२४॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, मतिज्ञानमार्गणायां श्रुतज्ञानमार्गणायाम् अवधिज्ञानमार्गणायाम् अवधिदर्शनमार्गणायां सम्यक्त्वौघमार्गणायां च निद्राद्विकस्याजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमोघवद् भवति, समयोऽन्तर्मुहूर्तं वेत्यर्थः, प्रकृतमार्गणासूपशमश्रेणेः संभवात् । तथा मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहननम् इति प्रकृतिपञ्चकस्य हायनपृथक्त्वं वर्षपृथक्त्वमित्यर्थः, सम्यग्दृष्टेर्देवस्य नारकस्य वा मनुष्येषु जघन्यतोऽपि वर्षपृथक्त्वाऽयुष्कतयोत्पादात् । किमुक्तं भवति ? कश्चित् सम्यग्दृष्टिर्देवो नारको वा सम्यग्दृष्टिप्रायोग्यजघन्यं वर्षपृथक्त्वमितं मनुष्यायुर्बद्ध्वा ततो मृतः सन् मनुष्यभवे सम्यक्त्वबलाद् मनुष्यद्विकादिबन्धं न करोति स्वायुःक्षये च देवो भूत्वा दिवि पुनस्तद्बन्धमारभते तदा यथोक्तमन्तरं प्राप्यते । तथा अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणां देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकानाञ्च तदन्तर्मुहूर्तं

भवति । तद्यथा—कश्चित् संयमं प्राप्य कषायाष्टकस्याबन्धं करोति ततश्चतुर्थादिगुणस्थानं प्राप्य पुनस्त- द्बन्धं विदधाति तदा आयाति, संयमस्य जघन्यत आन्तर्मुहूर्तिकत्वात् । देवद्विकादिषट्प्रकृतीनामष्टम- गुणस्थानेऽबन्धं कृत्वा नवमं दशमं एकादशं दशमं नवमम् इति पञ्चगुणस्थानानां कालं यावदबन्ध- कतया स्थित्वाऽष्टमगुणस्थानके पुनर्बन्धं करोति तदान्तर्मुहूर्तात्मकं जघन्यमन्तरं प्राप्यते । आहार- कद्विकस्य तु प्रमत्तगुणस्थानकेऽबन्धं कृत्वा अप्रमत्तगुणस्थानके पुनर्बन्धं करोति तदपेक्षयाऽपि अन्तर- मायाति । तथोक्तशेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं सातासाते संज्वलनचतुष्कं नोकषाय- सप्तकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्- वासौ जिननाम अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम त्रसदशकम् अस्थिराशुभाऽयशःकीर्तय उच्चैर्गो- त्रम् अन्तरायपञ्चकम् इति षष्टेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्र ध्रुव- बन्धिनीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनां च श्रेणौ समयं तदबन्धं कृत्वा देवत्वं प्राप्तस्य दिवि पुनः तद्बन्धकरणात् , अध्रुवाणां तु अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकजघन्यरसबन्धप्रवर्तनादेः । ॥६२३ ६२४॥ अथ मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणयोराह—

मणणाणसंजमेसुं समयो सायाइबारसण्ह भवे ।
सेसाणं पयडीणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६२५॥

(प्रे०) '**मणणाणसंजमेसु**' मित्यादि, मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणयोः सातासाते हास्यरती अरतिशोकौ स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इति द्वादशानामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्त- रमेकः समयो भवति, तासां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां ज्ञानावरण- पञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कम् भयजुगुप्सापुरुषवेदा देवद्विकम् वैक्रियद्विकम् आहार- कद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघा- तोच्छ्वासौ जिननाम उपघातनाम अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रम् अन्तरायपञ्चकमिति षट्पञ्चाशतोऽन्तर्मुहूर्तम् , श्रेणौ कालकरणेन मार्गणाया अपगमात् श्रेणेरनारो- हकानाश्रित्यैतासां ध्रुवबन्धित्वात् श्रेणावबन्धानन्तरमवरोहन्तमाश्रित्यैतदन्तरस्य प्राप्यमाणत्वाच्च । ततः किम् ? श्रेणौ कालकरणात् परतोऽपि या मार्गणा अवतिष्ठन्ते तासु श्रेणौ बध्यमानानां ध्रुवबन्धि- नीनामबन्धमाश्रित्यैकः समयोन्तरं भवति, अन्यासु पुनरन्तर्मुहूर्तम् इति व्याप्तेः । आहारकद्विकस्य तु सप्तमगुणस्थानकात् षष्ठं गत्वा अन्तर्मुहूर्तात् परतः सप्तममागत्य पुनस्तद्बन्धं करोतीति गुणस्थानकपरावृत्त्या अपि प्राप्यते ॥६२५॥

अथ सामायिकचारित्रच्छेदोपस्थापनीयचारित्रमार्गणयोराह—

सामाइयछेएसुं समयो सायाइबारसण्ह भवे ।
आहारदुगस्स भवे भिन्नमुहुत्तं न सेसाणं ॥६२६॥

(प्रे०) '**सामाइय०**' इत्यादि, सामायिकचारित्रमार्गणायाम् छेदोपस्थापनीयमार्गणायाश्च सातासाते हास्यरती अरतिशोकौ स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती ति द्वादशानामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तासां परावर्तमानत्वात् । आहारकद्विकस्यान्तर्मुहूर्तम् , सप्तमगुणस्थानकात् षष्ठं गत्वा झगिति सप्तममाजिगमिषोरपि षष्ठगुणस्थानके अवस्थानकालस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् । इह तु गुणस्थानपरावृत्तिरूपयाऽनया एकयैव रीत्याऽऽहारकद्विकस्यान्तरं प्राप्यते न तूपशमश्रेणिमप्याश्रित्य,कुतः ? श्रेणावबन्धानन्तरं पुनर्बन्धात् प्राग् मार्गणाया एवानवस्थानात् । तथा '**सेसाणं**' ति अनन्तरगाथाविवरणोक्तानामाहारकद्विकवर्जानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, तासां सर्वासामिह ध्रुवबन्धित्वे सति बन्धव्यवच्छेदानन्तरं पुनर्बन्धात् प्राग् मार्गणापगमात् । मार्गणाचरमसमय एव जघन्यरसबन्धस्योपलम्भाच्च ॥६२६॥ अथ परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामाह—

परिहारे णेव भवे पसत्थणामपणवीसउच्चाणं ।
आहारदुगस्संतोमुहुत्तमण्णाण समयोऽत्थि ॥६२७॥

(प्रे०) '**परिहारे**' इत्यादि, परिहारविशुद्धिचारित्रमार्गणायां नैव भवति, प्रस्तावादजघन्यरसबन्धस्यान्तरम् , कासां तन्न भवतीत्याह '**पसत्थणामपणवीसउच्चाणं**' ति देवद्विकं वैक्रियद्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिः अगुरुलघुनाम निर्माणनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम जिननाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमिति पञ्चविंशतेः प्रशस्तनामकर्मप्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य चेति षड्विंशतेरिति । कुतः ? तासामत्र निरन्तरबन्धित्वे सति मार्गणाचरमसमय एव जघन्यरसबन्धोपलम्भात् । यद्यपीह स्थिरनामादिप्रशस्तनामप्रकृतीनां बन्धोऽस्ति तथाप्यध्रुवबन्धित्वादत्र तासामग्रहणम् । अपि च तासामजघन्यरसबन्धान्तरस्य 'अण्णाण समयोऽत्थि' इति अनेन अत्रैव वक्ष्यमाणत्वात् 'पणवीस' इत्यादिना अनन्तरोक्तदेवद्विकादीनामेव ग्रहणम् । तथाऽऽहारकद्विकस्य तदन्तर्मुहूर्तं भवति । भावना सामायिकमार्गणावत् । तथाऽन्यासामुक्तशेषाणां चत्वारिंशत इत्यर्थः, अजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्र ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषटकं संज्वलनचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् उपघातनाम भयजुगुप्से अन्तरायपञ्चकमिति सप्तविंशतेरप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य च जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानविशुद्धया प्रवर्द्धनेन अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धोपलम्भात् । हास्यरती शोकारती सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति द्वादशानां तु बन्धस्य परावर्तमानत्वात् ॥६२७॥ अथ देशविरत्यादिमार्गणास्वाह—

देसविरइमीसेसुं समयो सायाइबारसण्ह भवे ।
णेव भवे सेसाणं सुहुमे सव्वाण णेव भवे ॥६२८॥

(प्रे०) **'देसविरइ०'** इत्यादि, देशविरतिमार्गणायां मिश्रदृष्टिमार्गणायाञ्च सातासाते हास्य-रती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति द्वादशानामजघन्यरसबन्धस्य जघन्य-मन्तरमेकः समयः, तासां परावर्तमानत्वात् । तथा **'सेसाणं'** ति उक्तशेषाणामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नैव भवति । तत्र देशविरतौ उक्तशेषाणामष्टपञ्चाशतः । मिश्रदृष्टिमार्गणायां षट्षष्टेरिति । तच्चैवं–देश-विरतौ 'पुमवण्णसंजलणभयकुच्छ...... । णिद्दादुगगुरुघायो कुवण्णचउगं च विग्घाणि । णव आवरणाणि तइय...कसाये' ति पुरुषवेदादीनां द्वात्रिंशतो बन्धस्य ध्रुवत्वे सति जघन्यरसबन्धस्याप्रमत्ताभिमुखेन मार्गणाचरमसमय एव निर्वर्तनीयत्वात् । देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी जिननाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकम् उच्चैर्गोत्रमिति षड्विंशतेर्जघन्यरसस्य तु दोषाभिमुखेन मार्गणाचरमसमय एव बध्यमानत्वात् । तथा मिश्रदृष्टिमार्गणायामचिरादुक्तानां पुरुषवेदादीनां द्वात्रिंशतोऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य चेति षट्त्रिंशतः जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन मार्गणाचरमसमये बध्यमानत्वात् जिननामवर्जानामन-न्तरोक्तानां देवद्विकादीनां पञ्चविंशतेर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनाम्नाञ्चेति त्रिंशतो बन्धस्य तत्तद्बन्धकानाश्रित्य ध्रुवत्वे सति जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन मार्गणाचरमसमय एव बध्यमानत्वात् । **'सुहुमे'** त्ति सूक्ष्मसंपरायमार्गणायां बन्धार्हाणां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतु-ष्कम् अन्तरायपञ्चकं सातवेदनीयम् उच्चैर्गोत्रं यशःकीर्त्तिरिति सप्तदशलक्षणानां सर्वासामजघन्यरस-बन्धस्यान्तरं न भवति, तासामिह निरन्तरं बध्यमानत्वे सति तज्जघन्यरसबन्धस्य मार्गणाचरम-समय एवोपलम्भात् ॥६२८॥ अथ असंयममार्गणायामाह—

अजए भिन्नमुहुत्तं जिणअडमिच्छाइगाण णेव भवे ।
सेसासुहधुवबंधीणं समयो होइ सेसाणं ॥६२९॥

(प्रे०) 'अजए' इत्यादि. असंयममार्गणायां जिननाम्नो मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानाञ्चाजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं भवति । तत्र जिननाम्न-स्तु तद् नरकाभिमुखं मनुष्यमाश्रित्य, तद्यथा–कश्चिज्जिननामबन्धकोऽयतः क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि-र्मनुष्यो नरकं जिगमिषुस्तदभिमुखः सन् मिथ्यादृष्टीभूय भवचरमान्तर्मुहूर्ते जिननाम्नोऽबन्धं करोति, ततो नरकं गत्वा पर्याप्तावस्थायां सम्यक्त्वं प्राप्य पुनस्तद्बन्धं करोति तदा यथोक्तमन्तरं प्राप्यते । तथा कश्चिन्मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दर्शनं प्राप्य मिथ्यात्वादीनामबन्धं करोति ततः स एव झगिति मिथ्यात्वं समासाद्य पुनर्मिथ्यात्वादेर्बन्धमारभते तदा मिथ्यात्वादीनामजघन्यरसबन्धस्य यथोक्तमन्तरमायाति, सम्यक्त्वावस्थानकालस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् । तथा शेषाणामशुभध्रुवबन्धिनीनां पञ्चत्रिंश-द्रूपाणामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, अभिमुखावस्थायां मार्गणाचरमसमय एव तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । तथा **'सेसाणं'** ति जिननाम्नोऽत्र पृथगभिहितत्वात् आहारकद्विकस्य तु बन्धाभावात्

तद्वर्जानामुक्तशेषाणां षट्षष्टेर्ध्रुवबन्धिनीनामष्टानां च प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्र ध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात्, अध्रुवबन्धिनीनां तु बन्धद्वयान्तराले एकसामयिकस्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्तनादपि । तत्रापि तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तु बन्धद्वयान्तराले एकसामयिकस्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्तनादेव । किमुक्तं भवति ? तिर्यग्द्विकादेरजघन्यरसबन्धस्यैकसमयरूपं जघन्यमन्तरं जघन्यरसबन्धप्रयुक्तं नैव भवति, कुतः ? इह तज्जघन्यरसस्य सम्यक्त्वाभिमुखेन सप्तमपृथ्वीनारकेण मिथ्यात्वचरमसमये बध्यमानत्वात् पुनर्मिथ्यात्वामादनान्तरालस्य च जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् ॥६२९॥

अथ कृष्णलेश्यामार्गणायामाह—

किण्हाए णेव भवे जिणस्स मिच्छाइगाण अट्ठण्हं ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं समयो सेसाण पयडीणं ॥६३०॥

(प्रे०) 'किण्हाए' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां जिननाम्नोऽजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नैव भवति, नरकाभिमुखस्य मनुष्यस्य तद्बन्धचरमसमय एव तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेन तत्पुनर्बन्धात् प्राग् मार्गणाया एवाऽपगमात्, यतः जिननामसत्कर्मा नरके कापोतलेश्यायामेवोत्पद्यते । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् इति अष्टानां तदन्तर्मुहूर्तम्, सम्यक्त्वावस्थानकालस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् । तथाऽऽहारकद्विकस्यात्र बन्धाभावादुक्तशेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तत्र त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धस्य संभवात् षट्षष्टेरध्रुवबन्धिनीनामेकसामयिकप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसंभवात् ॥६३०॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोराह—

अंतमुहुत्तं णेयं अडमिच्छाईण तेउपम्हासु
मज्झऽट्ठकसायाणं आहारदुगस्स णेव भवे ॥६३१॥
सुरवेउव्वदुगाणं समयो जइ लेसमसंकमो कमसो ।
तो दससहस्सवासा अहियदुअयरा खणोऽत्थि सेसाणं ॥६३२॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'अंतमुहुत्तं' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायाश्च मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्कमित्यष्टानामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तं, सम्यक्त्वावस्थानकालस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वेन मिथ्यात्वादीनां बन्धान्तरस्यापि तावन्मितत्वात् । तच्च देवानाश्रित्य ज्ञेयम् । तथा मध्यानामष्टानां कषायाणामाहारकद्विकस्य च तन्नास्ति, कुतः ? मनुष्यतिरश्चामबन्धमाश्रित्य तदन्तरस्यासंभवात् मनुष्यतिरश्चां तदबन्धानन्तरं पुनर्बन्धात् प्रागेव लेश्या-

परावर्तनेन मार्गणाया अपगमादिति भावः। तथा सुरद्विकवैक्रियद्विकयोस्तदेकः समयः, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेनाऽजघन्यरसबन्धयोरन्तराले एकसामयिकजघन्यरसबन्धस्योपलम्भात्। अथात्रैव मतान्तरं संभाव्य तद् दर्शयति 'जइ' इत्यादि, यदि लेश्यासंक्रमोऽभ्युपगम्यते तर्हि सुरद्विकादिप्रकृतिचतुष्कस्याजघन्यरसबन्धस्यान्तरं जघन्यतोऽपि 'कमसो' त्ति तेजोलेश्यामार्गणायाम् दशवर्षसहस्राणि, पद्मलेश्यामार्गणायाम् 'अत्थि दुअयरा' त्ति साधिके द्वे सागरोपमे भवति। कुतः? अविशुद्धलेश्यान्तराभिमुखानां मार्गणाचरमसमये तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यान्तरस्याभावात् अबन्धप्रयुक्तमेवान्तरं प्राप्यते, तच्च यथोक्तप्रमाणमेव, तद्यथा—प्रस्तुतमार्गणावर्ती कश्चिन्मनुष्यः तिर्यग् वा सुरलोकं जिगमिषुर्भवचरमसमये देवद्विकादेरजघन्यरसबन्धं विधाय दिवि तदबन्धं करोति, तत्र समासादितसम्यक्त्वः ससम्यक्त्व एव आयुःक्षयेण ततश्च्युतः सन् मनुष्यभवेऽपर्याप्तावस्थायां तदजघन्यरसबन्धं करोतीत्येवं देवभवप्रयुक्तं यथोक्तम् अन्तरमायाति, तेजोलेश्याकदेवजघन्यायुषो भवनपतिं व्यन्तरं वाश्रित्य दशवर्षसहस्रमितत्वात्। तथा पद्मलेश्याकदेवानां जघन्यस्थितेः साधिकद्विसागरोपममितत्वात्। ननु किं नाम लेश्यासंक्रमः? येन तमाश्रित्य जघन्यरसबन्धप्रयुक्तमजघन्यरसबन्धान्तरं प्रतिषिध्यते। लेश्यासंक्रमो नाम यथा मिथ्यात्वाद्यभिमुखः सम्यग्दृष्ट्यादिः प्रतिसमयमनन्तगुणसंक्लेशवृद्ध्या सम्यक्त्वादिमार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टसंक्लिष्टो भवति, एवं तेजोलेश्यादिलेश्यावर्ती कापोतादिलेश्यां प्रतिपित्सुः तदभिमुखः सन् प्रतिसमयमनन्तगुणसंक्लेशवृद्ध्या मार्गणाचरमसमय एवोत्कृष्टसंक्लिष्टो भवति, ततश्च कापोतादिलेश्यान्तरं संक्रमते। तेनात्रेदमायातम्—देवद्विकादयः प्रशस्ताः प्रकृतयः। देवानां तद्बन्धाभावात् मनुष्यतिरश्चां च प्रशस्तलेश्यामार्गणासु तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादिह तासां जघन्यरसस्तीव्रसंक्लेशेनैव बध्यते, तीव्रसंक्लेशस्तु लेश्यान्तरगमनाभिमुखस्य जन्तोर्मार्गणाचरमसमय एव भवति, ततः प्रतिषिद्धं जघन्यरसबन्धप्रयुक्तमजघन्यरसबन्धस्यान्तरं, जघन्यरसबन्धाऽनन्तरसमये मार्गणाया एवापगमात्। तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां, तत्र तेजोलेश्यामार्गणायां नवतेः प्रकृतीनां, सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकरूपाणामष्टानां बन्धाभावात्। पद्मलेश्यामार्गणायान्तु सप्ताशीतेरेकेन्द्रियस्थावरातपनाम्नामपि बन्धाभावात् तदेकसमयो भवति, तासां जघन्यरसस्य स्वस्थानसंक्लेशादिना परावर्तमानमध्यमपरिणामेन वा बध्यमानत्वात् ॥६३१-६३२॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायामाह—

सुक्काअडमिच्छाइगणिद्दाहारजुगलाण ओघव्व।
णो चेव अंतरं खलु मज्झकसायाण अट्ठण्हं ॥६३३॥
समयो सेसाण भवे णवरं जइ होइ लेससंकमणं।
तो सुरविउवदुगाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६३४॥

(प्रे०) 'सुक्काअ' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् इत्यष्टानां निद्राद्विकस्याऽऽहारकद्विकस्य चाजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तर-मोघवद् भवति, तद्यथा–मिथ्यात्वादीनामष्टानां तदन्तर्मुहूर्त्तम्, यतो ग्रैवेयकादिमिथ्यादृष्टिदेवः सम्यक्त्वं समासाद्य अन्तर्मुहूर्त्तात् परतो मिथ्यादृष्टीभूय पुनस्तद्बन्धं करोति । निद्राद्विकस्याऽन्त-र्मुहूर्त्तं समयो वा । भावनौघवत् । आहारकद्विकस्यान्तर्मुहूर्तम्, उपशमश्रेणौ अबन्धानन्तरमन्तर्मुहू-र्तात्मकोपशान्ताद्धाक्षयेण क्रमादवरोहतः पुनस्तद्बन्धप्रवर्तनात् । तथा अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्या-ख्यानावरणचतुष्करूपाणामष्टानां मध्यकषायाणामन्तरं प्रस्तावादजघन्यरसबन्धस्य नास्ति, तेषां ध्रुव-बन्धित्वे सति अबन्धप्रयुक्तस्यैव तदन्तरस्य संभवात् अबन्धात् पुनर्बध्नतस्तु लेश्यान्तरगमनेन मार्गणाया एवाऽपगमात्, कुतः ? उच्यते, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य मनुष्यतिरश्चां, प्रत्याख्यानावरणचतु-ष्कस्य मनुष्याणामेवाबन्धकत्वात् तेषाञ्च लेश्यायाः परावर्त्तमानत्वात् । तथा 'सेसाणं' उक्तशेषाणां षडशीतेः प्रकृतीनां तदेकसमयो भवति, तत्र ज्ञानावरणादीनां, कश्चित् श्रेणौ समयं तदबन्धको भूत्वाऽऽयुःक्षयेण दिवं गच्छति तत्र पुनस्तद्बन्धं करोतीति । सातवेदनीयादीनां तु बन्धस्य परावर्तमानत्वात् । मनुष्यद्विकादीनां पुनर्जघन्यरसस्य स्वस्थानसंक्लेशादिना बध्यमानत्वात् । अथ मतान्तरं दर्शयति 'जइ' इत्यादि, यदि अनन्तरमार्गणाविवरणोक्तस्वरूपं लेश्यासंक्रमणमभ्युपगम्यते तर्हि देवद्विकवैक्रियद्विकयोस्तदन्तर्मुहूर्तं भवति, उपशमश्रेणौ तदबन्धानन्तरमन्तर्मुहूर्तात्मकोपशान्ता-द्धाक्षयेण क्रमादवरोहत एव तत्पुनर्बन्धसद्भावात् । किमुक्तं भवति ? अस्मिन् मते जघन्यरसबन्ध-प्रयुक्तमेकसामयिकमन्तरं न भवति, कुतः ? मार्गणाचरमसमय एव तज्जघन्यरसबन्धोपलम्भात् ॥६३३-६३४॥ अथ क्षायिकसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्वमार्गणयोराह—

खइए ओघव्व भवे सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं ।
णत्थि उवसमे पंचणराईणोहिव्व सेसाणं ॥६३५॥

(प्रे) 'खइए' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां 'सप्पाउग्गाण' त्ति प्रस्तुतमार्गणायां बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमोघवज्ज्ञेयम्, श्रेणेः क्रमादवरोहतः, श्रेणौ कालकरणादपि च मार्गणाया अवस्थानात् । अथ यत्प्रमाणं स्वप्रायोग्याणामोघवदन्तरं भवति तदेव दर्शयामः–मध्यकषायाष्टकस्याहारकद्विकस्य च तदन्तर्मुहूर्तं भवति । निद्राद्विकस्यान्तर्मुहूर्तं समयो वा । तथा ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं सातासाते संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः देवद्विकं मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियद्विकम् औदारिकद्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रथमसंहननं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ अगुरुलघुनाम निर्माणनाम जिननामोपघातनाम त्रसदशक-मस्थिरद्विकमयशःकीर्तिः उच्चैर्गोत्रम् अन्तरायपञ्चकमिति एकोनसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघ-

न्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयो भवति । तत्र सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति द्वादशानां परावर्तमानत्वात्, समपञ्चाशतस्तु अजघन्यरसबन्धयोरन्तराले समयं जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् मनुष्यपञ्चकदेवद्विकवैक्रियद्विकवर्जानामबन्धप्रवर्त्तनाद्वा ।

तथा **'उवसमे'** त्ति उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं प्रथमसंहननमिति पञ्चानामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कुतः ? इह तद्बन्धकानां नैरन्तर्येण तद्बन्धोपलम्भे सति मार्गणाचरमसमय एव तज्जघन्यरसबन्धोपलम्भात्, तेन किमिति चेत् ? नाबन्धप्रयुक्तं नापि जघन्यरसबन्धप्रयुक्तमन्तरमायातुमर्हतीति । तथा **'सेसाणं'** ति उक्तशेषाणां षट्सप्ततेः प्रकृतीनां तदवधिज्ञानमार्गणावद् वाच्यम्, **तद्यथा**–निद्राद्विकस्यान्तर्मुहूर्तं समयो वा, मध्यानामष्टानां कषायाणां देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकानाञ्चान्तर्मुहूर्तम्, नरादिपञ्चकदेवद्विकवैक्रिद्विकवर्जानां क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणोक्तानां ज्ञानावरणादीनां षष्टेः प्रकृतीनां तदेकसमयः । भावनौघवत् ॥६३५॥

अथ क्षायोपशमिकमार्गणायामाह—

अडमज्झकसायाणं आहारदुगस्स वेअगे णेयं ।
भिन्नमुहुत्तं साहियपल्लं देवविउवदुगाणं ॥६३६॥
सुहणामएगवीसाउच्चाणं णत्थि पणणराईणं ।
वासपुहुत्तं णेयं समयो सेसाण पयडीणं ॥६३७॥

(प्रे०) **'अडमज्झे'** त्यादि, **'वेअगे'** त्ति क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामष्टानां मध्यकषायाणामाहारकद्विकस्य चाजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । अत्र हेत्वादिकं यथासंभवमोघवद् ज्ञेयम् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकयोः साधिकं पल्योपमम्, सम्यग्दृशां मनुष्यतिरश्चां जघन्यतोऽपि वैमानिकसुरेषु साधिकपल्योपमायुष्कतयोत्पादात्, मार्गणाचरमसमये जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनेन तत्प्रयुक्तस्यान्तरस्याभावाच्च । ततः किम् ? इह मनुष्यादिभवचरमसमये देवद्विकादीनामजघन्यरसं बद्ध्वा सुरभवे तदबन्धं करोति ततश्च्युतः सन् मनुष्यभवप्रथमसमयतः पुनः तद्बन्धमारभते इति देवभवप्रयुक्तमन्तरं प्राप्यते । **मतान्तरेण** तु पल्योपममिति । तथा **'सुहणाम'** त्ति पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थानं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिः अगुरुलघुनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी निर्माणनाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं जिननामेति एकविंशतेः प्रशस्तानां नामकर्मप्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य चाजघन्यरसबन्धस्यान्तरं नास्ति, कुतः ? तासामिह निरन्तरबन्धित्वे सति मार्गणाचरमसमय एव जघन्यरसबन्धोपलम्भात् । स्थिरनामादीनां प्रशस्तत्वेऽपि परावर्तमानत्वात् 'समयो सेसाण' इति अनेन संग्रहीष्यमाणत्वाच्च 'एगवीसे' त्यनेनेहोक्तानां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामेव ग्रहणम् । तथा मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं

प्रथमसंहनननामेति पञ्चानां वर्षपृथक्त्वम् , मार्गणाचरमसमये निरुक्तप्रकृतिपञ्चकस्य जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनेन तत्प्रयुक्तान्तरस्यालाभादबन्धप्रयुक्तान्तरस्यैव लाभात् सम्यग्दृष्टेर्देवस्य नारकस्य वा जघन्यतो वर्षपृथक्त्वायुष्कमनुष्यतयोत्पादाच्च। तथा ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं सातासाते संज्वलनचतुष्कं हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः भयजुगुप्से स्थिरद्विकं यशःकीर्तिः अस्थिरद्विकम् अयशःकीर्तिः अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् उपघातनाम अन्तरायपञ्चकमिति उक्तशेषाणां चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, तत्र ज्ञानावरणादीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्धया बध्यमानत्वात् सातवेदनीयस्थिरनामादीनां परावर्तमानत्वात् ॥६३६-६३७॥

अथ सास्वादनमार्गणायामुक्तशेषासु मार्गणासु चाह—

सासाणे सिं ण भवे जाण अहिमुहो लहु खणोऽण्णेसिं ।
सेसासु सव्वाणं सप्पाउग्गाण समयोऽत्थि ॥६३८॥

(प्रे०) '**सासाणे**' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां 'तसपंचिंदियबायरतिगाणि ऊसासपरघाया ॥ सुहधुवबंधि⋯' इति जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां यासां त्रसनामादीनां पञ्चदशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी '**अहिमुहो**' त्ति सास्वादनस्य संक्लिश्यमानत्वात् मिथ्यात्वाभिमुखः, तासां प्रस्तुतमन्तरं नैव भवति, प्रस्तुतमार्गणायां त्रसनामादीनां पञ्चदशानामपि ध्रुवबन्धित्वेन यद्यजघन्यरसबन्धस्यान्तरं स्यात्तर्हि तद् विरुद्धरसबन्धप्रयुक्तमेव, इह तु तन्न संभवति, मार्गणाचरमसमये एकसामयिकतज्जघन्यरसबन्धानन्तरं मार्गणाया एवाऽनवस्थानात् । न च मूलकृता स्वामित्वद्वारे मिथ्यात्वाभिमुखः प्रस्तुतमार्गणायां कस्या अपि प्रकृतेः रसबन्धस्य स्वामितया नोक्तः, ततः 'जाण अहिमुहो' इत्यादिप्रस्तुतग्रन्थेन कथं न विरोध इति वाच्यम् , रसबन्धकवैशिष्ट्ये मतद्वयं संभाव्य स्वामित्वद्वारे 'उक्कोससंकिलिट्ठो पंचदसण्हं' इत्यादिना द्वयोरपि मतयोः संगृहीतत्वात् । मतमेकमाश्रित्य तासां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी मिथ्यात्वाभिमुखः मतान्तरञ्चाश्रित्य स्वस्थानसंक्लिष्ट इति मतद्वयस्य वृत्तौ च दर्शितत्वादिति । अथ प्रकृतम् '**ऽण्णेसिं**' ति अन्यासामुक्तशेषाणां सप्ताशीतेः प्रकृतीनामित्यर्थः प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः, तासां जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्धयादिना बध्यमानत्वेनाऽजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयं यावत्तद्विपरीतस्य जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनात् अध्रुवबन्धिनीनान्तु बन्धपरावर्तनादपीति । तथा '**व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः**' यस्मिन् मते त्रसनामादीनां जघन्यरसबन्धकः स्वस्थानसंक्लिष्टः, न तु मिथ्यात्वाभिमुखः, सर्वेषां सास्वादनानां मिथ्यात्वंगमित्वेन विशेषाभावात् तन्मते सर्वासामिह बन्धार्हाणां द्व्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकः समयः । '**सेसासु**' ति त्र्युत्तरशतमार्गणासु उक्तत्वात् , उक्तशेषासु पञ्चानुत्तरसुरमार्गणा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् अपर्याप्तमनुष्यः पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोरुक्तत्वात् तद्वर्जाः सप्तदशेन्द्रियमार्गणाः

तथैव त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकायमार्गणयोरुक्तत्वात् तद्वर्जाश्चत्वारिंशत्पृथ्वीकायौघादिकायमार्गणा आहारककाययोगमार्गणा अभव्यमार्गणाऽसंज्ञिमार्गणा इति सर्वसंख्यया सप्तषष्टौ मार्गणासु 'सप्पाउग्गाण' त्ति विवक्षितमार्गणायां बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरमेकसमयः, प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकमेकस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावेन तद्वर्तिनामसुमतां गुणाद्यभिमुखत्वाभावात् । स्वस्थानसंक्लेशेन स्वस्थानविशुद्धया परावर्तमानबन्धेन वा जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्त्तनेन जघन्यरसबन्धद्वयान्तराले सामयिकान्तरस्य प्राप्तेरिति ॥६३८॥

इति मार्गणासु अजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं निरूप्याऽथ तास्वेव तदुत्कृष्टं निरूरूपयिषुरादौ तावन्नरकौघादिमार्गणासु निरूपयन्नाह—

उक्कोसं सयलनिरयतइआइगअट्ठमंतदेवेसुं ।
हीणा गुरुकायठिई मिच्छाइगअट्ठवीसाए ॥६३९॥
सेसधुवबंधिणीणं दसुरलुवंगाइगाण दो समया ।
णो चेव होइ बंधो जिणस्स तुरिआइणिरयेसुं ॥६४०॥
सेसाण मुहुत्तंतो णवरि भवे णिरयचरमणिरयेसुं ।
देसूणा उक्कोसा कायठिई णरदुगुच्चाणं ॥६४१॥

(प्रे०)' उक्कोस' मित्यादि, सकलासु अष्टास्वित्यर्थः नरकमार्गणासु तथा सनत्कुमाराख्यतृतीयाद्यष्टमान्तेषु देवेषु षट्सु च देवमार्गणास्वित्यर्थः ......'मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथांणपुमा, सघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं। तिरियदुगुज्जोअ' त्ति अन्तरद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'हीणा' त्ति देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः अबन्धप्रयुक्तस्यैवाजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवादिह च मिथ्यात्वादीनामबन्धकालस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात् । तद्यथा—कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्नरकादिषूत्पन्नः सन् पर्याप्तावस्थायां सम्यक्त्वं समासाद्य मिथ्यात्वादीनामबन्धको भवति ततो भवचरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं गत्वा पुनर्मिथ्यात्वादीनां बन्धमारभते इत्येवं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरायाति, देवनारकाणां भवस्थितेरेव कायस्थितित्वात् । तथा 'सेसधुव' त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कम् अप्रत्याख्यानावरणादयो द्वादश कषायाः भयजुगुप्से तैजसकार्मणशरीरनाम्नी अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् अगुरुलघुनाम निर्माणनाम उपघातनामाऽन्तरायपञ्चकम् इति उक्तशेषाणां त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां'......उरलुवंगाणि ॥ उरलं परघूसासा बायरतिगजिणपणिंदितसे'...... ति औदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनां दशानाञ्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं

द्वौ समयौ, मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानकेऽपि निरंतरं बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवाऽजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवात् । ध्रुवबन्धिन्यादीनां बन्धस्य प्रस्तुतमार्गणासु सातत्येनोपलम्भेन जिननाम्नोऽपि बन्धस्य तथैव प्राप्यमाणत्वेनैतज्जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानविशुद्धयादिना संभवेन चाऽजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले समयद्वयं जघन्यरसबन्धस्य संभवादिति भावः । ननु जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टतः समयचतुष्कं यावत् प्रवर्तनेन तावत्प्रमाणमेवान्तरं भविष्यति अजघन्यरसबन्धस्येति चेन्न, अभिप्रायापरिज्ञानात्, चतुःसमयान् यावत् नैरन्तर्येण जघन्यरसस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानजघन्यरसानामेव बध्यते, जघन्यरसयोग्यमध्यमपरिणामस्योत्कृष्टतः चतुःसमयस्थायित्वात्, इहासां ध्रुवबन्धिन्यादीनां तु जघन्यरसः स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धयादिनैव बध्यते स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धयादेस्तूत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वेन सुष्ठूक्तं 'दो समया' इति । अथात्रैव विशेषं दर्शयति 'णो चेव' इत्यादिना, यद्यपीहाविशेषेण औदारिकाङ्गोपाङ्गनामादिदशानामजघन्यरसबन्धस्यान्तरं द्वौ समयौ उक्तम् तथापि चतुर्थादिसप्तमान्तासु चतसृषु नरकमार्गणासु तथास्वाभाव्येन जिननाम्नो बन्धाभावात् तद्वर्जानां प्रकृतीनां तासां नवानामेव तद् बोध्यम् इति। तथा 'सेसाण' त्ति सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः मनुष्यद्विकम् उच्चैर्गोत्रम् आद्यसंहननसंस्थाने प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकम् इति उक्तशेषाणां द्वाविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, स्वबन्धद्वयान्तरालेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्तनादित्यबन्धप्रयुक्तमिदमन्तरम् । अथ मार्गणाद्विके विशेषं दर्शयति 'णवरि' त्यादिना नरकौघसप्तमनरकमार्गणयोर्मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तं न भवति किन्तु देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, कुतः ? सम्यग्दृष्टेरेव तद्बन्धकत्वात्तत्र सम्यक्त्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात् । तद्यथा–कश्चिद् जीवः सप्तमनरके उत्पन्नः सन् पर्याप्तको भूत्वा झगिति सम्यक्त्वं प्राप्नोति मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे च बध्नाति, अन्तर्मुहूर्तं यावत् सम्यग्दृष्टितया स्थित्वा पुनर्मिथ्यात्वं गच्छति मनुष्यद्विकादेरबन्धकश्च भवति ततो भवद्विचरमान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वं प्राप्य पुनर्मनुष्यद्विकादेर्बन्धं करोति,सप्तमपृथ्वीनारकस्य भवचरमान्तर्मुहूर्ते तु मिथ्यादृष्टित्वमेवातोऽत्र भवद्विचरमान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमित्येव वाच्यम्, इत्येवम् अन्तर्मुहूर्त्तोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरबन्धप्रयुक्तम् अजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् प्राप्यते । यद्यपि एकम् अपर्याप्तावस्थासत्कमन्तर्मुहूर्तमेकञ्च पर्याप्तावस्थायां मिथ्यात्वसत्कम्, सर्वपर्याप्तिनिष्पत्तेरनन्तरमन्तर्मुहूर्तात्परत एव सम्यक्त्वप्राप्तेः, एकञ्च सम्यक्त्वसत्कं द्वे च चरमेऽन्तर्मुहूर्ते इति अन्तर्मुहूर्तपञ्चकोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति तथापि अन्तर्मुहूर्तस्यानेकभेदभिन्नत्वेन पञ्चानां मिलनेऽपि एकमेव तदत एवैकेनाऽन्तर्मुहूर्तेनोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिरस्माभिरुक्ता इत्यलम् ॥६३९-६४१॥

अथ तिर्यग्गत्योघमार्गणायामाह—

तिरिये मिच्छाईणं णवण्ह पल्लाऽत्थि तिण्णि देसूणा ।
ओघव्व जाणियव्वं णवण्ह णिरयाइगाणं तु ॥६४२॥
देसूणा पुव्वाणं कोडी णपुमाइअट्ठवीसाए ।
दुइअकसायाणं तह तिण्हं वइराइगाण भवे ॥६४३॥
सेसधुवबंधिणीणं गुणचत्ताए भवे दुवे समया ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं सेसाणं पंचवीसाए ॥६४४॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणायां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीवेद इति नवानामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि । तद्यथा–कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टाऽऽयुष्कयुगलिकतयोत्पद्य पर्याप्तावस्थायां यथासंभवं सम्यक्त्वं समासाद्य मिथ्यात्वादीनामबन्धं कुरुते भवचरमान्तर्मुहूर्ते च मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वादीनां पुनर्बन्धं कुरुते इत्येवं युगलिकभवारम्भावसानसत्कमिथ्यात्वकालेनोनानि युगलिकोत्कृष्टकायस्थितिरूपाणि त्रीणि पल्योपमानीति । तथा नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकम् उच्चैर्गोत्रम् मनुष्यद्विकमिति नवानामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति, तद्यथा-नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकानामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, एकेन्द्रियत्वे तद्बन्धाभावात् एकेन्द्रियकायस्थितेश्चोत्कृष्टतस्तावत्प्रमाणत्वात् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तु असंख्येया लोकाः, तेजोवायुषु तद्बन्धाभावात् तत्कायस्थितेश्चोत्कृष्टतो यथोक्तप्रमाणत्वात् । तथा '......णपुमा। संघयणागिइखगइं दुहगतिगं कुखगई णीअं ॥ तिरियदुगुज्जोआयवथावरएगिंदिसुहुमविगलतिगं' इति नपुंसकवेदादीनामष्टाविंशतेरप्रत्याख्यानावरणाख्यद्वितीयकषायचतुष्कस्य वज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकयोश्चाजघन्यरसबन्धस्यान्तरमुत्कृष्टतो देशोना पूर्वाणां कोटिः, कुतः ? नपुंसकवेदादीनां सम्यग्दृष्टेर्बन्धाभावात् युगलिकभिन्नतिरश्चः सम्यक्त्वकालस्य चोत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात् । युगलिकतिरश्चां तु सर्वेषां नियमाद्विहंगमित्वेन जगत्स्वाभाव्यादेव तेषां पर्याप्तकानां नपुंसकवेदादिबन्धाभावाद् युगलभिन्नस्यैव तिरश्चोऽत्र ग्रहणम् । अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य तु पञ्चमगुणस्थानके बन्धाभावात् पञ्चमगुणस्थानकालस्य चोत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटिमितत्वात् । तथा 'सेसधुव' त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं प्रत्याख्यानावरणचतुष्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् अगुरुलघुनाम उपघातनाम अन्तरायपञ्चकमिति एकोनचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टं पञ्चमगुणस्थानकं यावन्नैरन्तर्येण बध्यमानत्वेन स्वजघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवाजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवात् । ततः किमिति चेत्, उच्यते, आसां ध्रुवबन्धित्वे सति आसां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्यादेरेव संभवात्,

स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्यादेस्तूत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वात् । तथा 'सेसाणं' ति सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती हास्यरती शोकारती त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ पञ्चेन्द्रियजातिः पुरुषवेद इति पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तत्र सातवेदनीयाद्यरत्यन्तानां द्वादशानां परावर्तमानत्वात् । त्रसचतुष्कादीनां त्रयोदशानान्तु स्वोत्कृष्टगुणस्थानकेऽपि बध्यमानत्वे सति अध्रुवबन्धित्वात् । अत्र स्वं नाम मार्गणेति । अत्रेदं हृदयम्–परावर्तमानप्रकृतेरबन्धानन्तरमुत्कृष्टतोऽपि अन्तर्मुहूर्तात् परतः पुनस्तद्बन्धो जायते एव । त्रसचतुष्कादीनां प्रथमादिगुणस्थानकमाश्रित्यैवान्तरं प्राप्यते, चतुर्थादिगुणस्थानके तासां ध्रुवतया बन्धोपलम्भात् प्रथमादिगुणस्थानके तु त्रसनामादेरबन्धानन्तरमुत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं यावत् स्वप्रतिपक्षस्थावरनामादेर्बन्धः प्रवर्तते ततः पुनस्त्रसनामादेरिति । पराघातोच्छ्वासनाम्नोर्बन्धस्य तु पर्याप्तनामबन्धसहचारित्वेन तयोरपि बन्धोऽन्तर्मुहूर्तात् परतः पुनः प्रवर्तते एव इत्येवम् अन्तर्मुहूर्तादधिकः काल आसामबन्धस्य न प्राप्यते इति ॥६४२-६४४॥ अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह–

तिपणिंदितिरिक्खेसुं देसूणा उ पलिओवमा तिण्णि
मिच्छाईण णवण्ह उक्कोसं अंतरं णेयं ॥६४५॥
देसूणा पुव्वाणं कोडी णपुमाइ-अट्ठवीसाए ।
दुइअकसायाणं तह णिरयणरुरलदुगवइराणं ॥६४६॥
सेसधुवबंधिणीणं गुणचत्ताए भवे दुवे समया ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं तीसाए सेसपयडीणं ॥६४७॥

(प्रे०) '**तिपणिंदि०**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमतीति तिसृषु मार्गणासु मिथ्यात्वमोहादीनामनन्तरगाथाविवरणोक्तानां नवानामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि, प्रस्तुतमार्गणायां क्षायोपशमिकसम्यक्त्वावस्थानकालस्योत्कृष्टतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात् , भावनात्र तिर्यग्गत्योघमार्गणाविवरणवत् । तथा नपुंसकवेदादीनामनन्तरगाथाविवरणोक्तानामष्टाविंशतेर्द्वितीयकषायाणामप्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्येत्यर्थः नरकद्विकं मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहननमिति सप्तानाञ्च देशोना पूर्वकोटिः, संख्येयवर्षायुष्कतिरश्चः सम्यक्त्वकालस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वादित्यादि सर्वं तिर्यग्गत्योघवत् , नवरं तिर्यग्गत्योघमार्गणायामेकेन्द्रियाणामप्यन्तर्भावात् तेषां कायस्थितिमाश्रित्य नरकद्विकस्यासंख्येयपुद्गलपरावर्ताः मनुष्यद्विकस्याऽसंख्येया लोका इत्युक्तम् , इह तु संख्येयवर्षायुष्कतिरश्चः सम्यक्त्वकालमाश्रित्य देशोना पूर्वकोटिः, पञ्चेन्द्रियतिरश्चामेव मार्गणान्तःपातित्वात् । तथा ज्ञानावरणपञ्चकादीनां तिर्यग्गत्योघ-

मार्गणाविवरणे नामग्राहं दर्शितानामेकोनचत्वारिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनां द्वौ समयौ, जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् । तथा 'भिन्नमुहुत्तं' ति तिर्यग्गत्योघविवरणोक्तानां पञ्चत्रिंशतेः सातवेदनीयादीनां देवद्विकवैक्रियद्विकोच्चैर्गोत्राणाञ्चेति त्रिंशतोऽन्तर्मुहूर्तं भवति । तत्र पञ्चविंशतेर्भावना तिर्यग्गत्योघवत् । तथा देवद्विकादेरप्यत्र बन्धद्वयान्तराले प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्तनेनोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तात्मकमेवान्तरं भवति, चतुर्थादिगुणस्थानके तासां निरन्तरं बध्यमानत्वेऽपि प्रथमादिगुणस्थानके परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् ॥६४५-६४७॥ अथ अपर्याप्ततिर्यगादिमार्गणास्वाह—

होइ अपज्जत्तेसुं पणिंदितिरिणरपणिंदियतसेसुं ।
एगिंदियविगलिंदियकायपणगसव्वभेएसुं ॥६४८॥
धुवबंधिउरालाणं सव्वेसुं तेउवाउभेएसुं ।
तिण्हं तिरियाईण वि जाणेयव्वं दुवे समया ॥६४९॥
सेसाण मुहुत्तंतो बोद्धव्वं णवरि णरदुगुच्चाणं ।
एगिंदिये तहा से सुहमम्मि असंखिया लोगा ॥६५०॥
तेसिं कम्मठिई वा बायरएगिंदियम्मि णायव्वं ।
से पज्जत्ते णेयं देसूणा जेट्ठकायठिई ॥६५१॥

(प्रे०) 'होइ' इत्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् अपर्याप्तमनुष्यः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तत्रसकाय इति चतसृषु मार्गणासु सप्तसु एकेन्द्रियमार्गणाभेदेषु नवसु द्वीन्द्रियौघादिषु विकलेन्द्रियमार्गणासु एकोनचत्वारिंशति पृथिवीकायौघादिकायपञ्चकमार्गणासु च प्रत्येकमेकपञ्चाशल्लक्षणानां सर्वासां ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम्नश्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, एकस्य प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् । कुतः ? ध्रुवबन्धिनीनां नैरन्तर्येण बन्धोपलम्भात् । औदारिकशरीरनाम्नो मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वेन तस्यापि तथैव बन्धोपलम्भात् । अथात्र तेजोवायुमार्गणासु विशेषं दर्शयति 'सव्वेसुं' इत्यादिना, सप्तसु तेजःकायमार्गणासु सप्तसु च वायुकायमार्गणासु तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरपि द्वौ समयौ, यथा औदारिकशरीरनाम्नस्तथैव तिर्यग्द्विकादेरप्यत्र मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । तेन पृथ्वीकायादिमार्गणासु पूर्वोक्तानां ध्रुवबन्धिन्यादीनां द्विपञ्चाशतस्तेजोवायुकायमार्गणासु तु तिर्यग्द्विकादियुक्तानां पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ वाच्यमिति । तथा 'सेसाणं' ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामुक्तशेषाणां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तासामध्रुवबन्धित्वेनान्तर्मुहूर्तं यावत् स्वबन्धद्वयान्तराले प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्तनादिनाऽन्तर्मुहूर्तात्मकस्या-

ऽबन्धप्रयुक्तस्याऽन्तरस्य संभवात् । इति सामान्यतः प्रतिपाद्य 'णवरी' त्यादिना कासुचिन्मार्गणासु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रविषयं विशेषं दर्शयति-'णरदुगुच्चाणं' ति एकेन्द्रियौघमार्गणायां सूक्ष्मै - केन्द्रियमार्गणायां च मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम- संख्येया लोकाः, तेजोवायूनामिहान्तःपातित्वात् तेषां च स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावन्मनुष्यद्विकादे- र्बन्धाभावात् । तथा बादरैकेन्द्रियमार्गणायां 'तेसिं' ति तासां मनुष्यद्विकादीनामेवाजघन्यरस- बन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'कम्मठिई' त्ति सप्ततिः कोटिकोटिसागरोपमाणि, इहापि तेजोवायूनामन्तः- पातित्वात् बादरतेजोवायूत्कृष्टकायस्थितेश्चैतावत्प्रमाणत्वात् । वाकारोऽत्र मतान्तरख्यापकः, ततो **मतान्तरेण** अङ्गुलासंख्येयभागः अङ्गुलासंख्येयभागगतनभःप्रदेशप्रमितसमयविनिर्मिताऽसंख्ये- योत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । इदमत्र मतान्तरबीजम्-एके आचार्याः तेजोवाय्वोः समुदितयोरुत्कृष्टकाय- स्थितिमङ्गुलाऽसंख्येयभागगतनभःप्रदेशमितसमयमितां मन्यते, एके तु समुदितयोरपि तयोस्तां सप्ततिकोटीकोटीसागरोपममितामेवेति ॥६४८-६५१॥ अथ मनुष्यौघादिमार्गणास्वाह—

विण्णेयं माणुस्से से पज्जत्तम्मि जोणिणीए य ।
मिच्छाईण णवण्हं ऊणा पलिओवमा तिण्णि ॥६५२॥
देसूणा पुव्वाणं कोडी णपुमाइअट्ठवीसाए ।
अडमज्झकसायाणं णिरयणरुरलदुगवइराणं ॥६५३॥
णेयं कोडिपुहुत्तं पुव्वाणाहारतणुउवंगाणं ।
सेसाणं पयडीणं छासट्ठीए मुहुत्तंतो ॥६५४॥

(प्रे०) **'विण्णेय'** मित्यादि, मनुष्यौघमार्गणायां **'से पज्जत्तम्मि'** त्ति पर्याप्तमनुष्यमार्गणायां मानुषीमार्गणायाञ्चेति तिसृषु मार्गणासु मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं स्त्रीवेद इति नवानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् 'ऊणा' त्ति देशोनानि त्रीणि पल्यो- पमानि, युगलिकमनुष्यस्य मिथ्यात्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात् । ततः किम् ? मिथ्या- दृष्ट्यादेरेव तद्बन्धकत्वेन सम्यक्त्वावस्थायां सम्यग्दृष्ट्यादेस्तद्बन्धाभावात् । भावना तिर्यग्गत्यो- घवत् । तथा नपुंसकवेदः आद्यवर्जं संहननपञ्चकं तादृक् संस्थानपञ्चकं दुर्भगत्रिकं कुखगतिः नीचै- र्गोत्रं तिर्यग्द्विकमुद्योतनाम आतपनाम स्थावरनाम एकेन्द्रियजातिनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकमिति नपुंसकवेदादीनामष्टाविंशतेरष्टानां मध्यकषायाणां नरकद्विकं मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभ- नाराचसंहनननामेति सप्तानाञ्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वकोटिः, युगलिकभिन्न- मनुष्यस्य मिथ्यात्वान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वात् । ततः किम् ? नपुंसकवेदादीनां नरकद्विकादीनाञ्च सम्यग्दृष्ट्यादेर्बन्धाभावात् । अष्टानां मध्यकषायाणान्तु सर्वविरतस्य बन्धाभावात् इत्यबन्धप्रयुक्त-

मन्तरमिदम् । तथा 'आहारतणुउवंगाणं' ति आहारकशरीरनाम्न आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नश्च आहारकद्विकस्येत्यर्थः तत्पूर्वकोटिपृथक्त्वम्, युगलिकभिन्नमनुष्यत्वे संयमान्तरस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात् । भावना त्वेवम्-कश्चिदष्टवार्षिको मनुष्यः संयमं प्राप्याहारकद्विकं बध्नाति ततः परिणामपातादिना प्रमत्तादिगुणस्थानकं समासाद्य तद्बन्धको भवति ततः क्रमेण पूर्वकोटयात्मकस्वोत्कृष्टायुषः क्षयेण मृत्वा पुनः पूर्वकोटयात्मकोत्कृष्टायुष्कमनुष्यतयोत्पद्यते ततोऽपि मृत्वा पुनस्तथैवोत्पद्यते एवं पौनःपुन्येन संख्येयवर्षोत्कृष्टायुष्कमनुष्यतयैव उत्पद्यते विपद्यते च । तत्र च संयमाभावेनाहारकद्विकस्याबन्धकतया तिष्ठति चरमभवद्विचरमान्तर्मुहूर्ते संयमं प्राप्याऽऽहारकद्विकं बध्नाति । एवं देशोनपूर्वकोटिपृथक्त्वं यावत् संयमाभावात् यथोक्तमन्तरमायाति । तथा 'छासट्ठीए' त्ति उक्तशेषाणां षट्षष्टेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तद्यथा–मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकम् आद्या द्वादश कषाया इति षोडशानामिहैव देशोनत्रिपल्योपमादितयोक्तत्वात् मिथ्यात्वादिवर्जज्ञानावरणपञ्चकादीनां पञ्चत्रिंशच्छेषध्रुवबन्धिनीनामन्तरमुपशमश्रेणावबन्धमाश्रित्यैव प्राप्यते । सातासातवेदनीये स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी जिननाम हास्यरती शोकारती पुरुषवेद उच्चैर्गोत्रमिति सप्तविंशतेः प्रस्तुतमुत्कृष्टमन्तरं स्वप्रतिपक्षप्रकृत्युत्कृष्टबन्धाद्धाप्रयुक्तमिति । देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्भावना एवं–कश्चित् संज्ञी पर्याप्तो मनुष्योऽपर्याप्तमनुष्यतयोत्पित्सुः स्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते देवद्विकादेरबन्धं करोति, तत्र मनुष्यद्विकादेरेव बन्धप्रवर्त्तनात् ततः अपर्याप्तकमनुष्यतया निरन्तरं पञ्चषान् भवान् करोति ततः पर्याप्तमनुष्यत्वेनोत्पन्नः सन् सप्तमभवेऽपि अपर्याप्तावस्थायां देवद्विकादिकं न बध्नाति, सम्यग्दृष्टेरेव तत्र तद्बन्धात् पर्याप्तावस्थायां यथासंभवं तद्बन्धः प्रवर्तते इति प्रथमभवचरमान्तर्मुहूर्तरूपमेकमन्तर्मुहूर्तं पञ्चषानि च तानि अपर्याप्तमनुष्यभवसत्कानि एकं च सप्तमभवाद्यान्तर्मुहूर्तम् इति सप्तानामष्टानां वा तेषां मिलने बृहत्तरं तद् भवति, अन्तर्मुहूर्तानामसंख्येयभेदभिन्नत्वात् । अत्रेदं हृदयम्–देवद्विकादेरपि अजघन्यरसबन्धस्यान्तरमबन्धप्रयुक्तमुपशमश्रेणिमप्याश्रित्य प्राप्यते तथापि उपशान्ताद्धापेक्षया मनुष्यभवसत्कनानाऽन्तर्मुहूर्तात्मकस्याऽन्तर्मुहूर्तस्य बृहत्तरत्वात् तस्यैव ग्रहणम्, उत्कृष्टान्तरस्य प्रस्तुतत्वात् ॥६५२-६५४॥ अथ देवगत्योघमार्गणायामाह—

देवे मिच्छाईसुं पणवीसाए य तिण्ह तिण्ह कमा ।
हीणा उवरिमगेविज्ज-ऽट्ठम-दुइअ-सुरजेट्ठकायठिई ॥६५५॥ (गीतिः)
सेसधुवबंधिणीणं सत्तण्हुरलाइगाण य हवेज्जा ।
दो समया सेसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६५६॥

(प्रे०) '**देवे**' इत्यादि, देवगत्योघमार्गणायां '......मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा। संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं ॥' इति मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां '**तिण्ह तिण्ह कमा**' ति प्रस्तुतद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथासु मिथ्यात्वादीनां पञ्चविंशतेः, ततः क्रमायातानां तिसृणां तिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां, तिसृणामातपस्थावरैकेन्द्रियजातिरूपाणामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं 'कमा' इति शब्दस्यात्राऽपि योजनात् क्रमाद् '**उवरिम**' त्ति देशोना नवमग्रैवेयकोत्कृष्टकायस्थितिः सहस्रारसुरोत्कृष्टकायस्थितिः द्वितीयसुरोत्कृष्टकायस्थितिः, इदमुक्तं भवति– मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेरजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना एकत्रिंशत्सागरोपमरूपा नवमग्रैवेयकोत्कृष्टकायस्थितिः, कुतः ? सुराणां नवमग्रैवेयकान्तानामेव तद्बन्धकत्वात् नवमग्रैवेयके च मिथ्यात्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात्। ततः किम् ? सम्यग्दृष्ट्यादेस्तद्बन्धाभावात्। तिर्यग्द्विकोद्योतयोर्देशोनाऽष्टादशसागरोपमरूपाऽष्टमसुरोत्कृष्टकायस्थितिः, सहस्रारान्तानामेव तद्बन्धसद्भावात् सहस्रारे च मिथ्यात्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात्। आतपस्थावरैकेन्द्रियजातीनां देशोना साधिकद्विसागरोपमरूपा ईशानसुरोत्कृष्टकायस्थितिः, ईशानान्तसुराणामेव तद्बन्धप्रवर्त्तनात् ईशाने मिथ्यात्वोत्कृष्टान्तरस्य चैतावत्प्रमाणत्वात्। तथा '**सेसधुव**' त्ति उक्तशेषाणां त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम बादरत्रिकं जिननामेति औदारिकशरीरनामादीनां सप्तानाञ्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तासां ध्रुवबन्धित्वेन अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले उत्कृष्टतो द्वौ समयौ जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात्। न चौदारिकशरीरनामादिप्रकृतीनां कुतो ध्रुवबन्धित्वमिति वाच्यम्, प्रस्तुतमार्गणावर्तिनां सर्वेषां सातत्येन तद्बन्धोपलम्भेन तासां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्। तथा '**सेसाणं**' ति सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती त्रसनाम सुभगत्रिकं मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम प्रथमसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिरुच्चैर्गोत्रं पुरुषवेद इति उक्तशेषाणां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, तासां परावर्त्तमानत्वात्। यद्यपि त्रसनामादीनां चतुर्थादिगुणस्थानके प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् न परावृत्त्या बन्धः तथापि प्रथमादिगुणस्थानके स्थावरनामादीनां तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धसद्भावेन त्रसनामादीनां बन्धस्य परावर्तमानतया एवान्तर्मुहूर्तात्मकं तदजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं भवति ॥६५५-६५६॥ अथेशानान्तसुरमार्गणास्वाह—

ईसाणंतसुरेसुं णेयं मिच्छाइएगतीसाए।
पयडीणं देसूणा सगसगकायट्ठिई जेट्ठा ॥६५७॥
सेसधुवबंधिणीणं सत्तण्हुरलाइगाण य दुसमया।
भवणतिगे तित्थस्स ण बंधोऽण्णेसिं मुहुत्तंतो ॥६५८॥

(प्रे०) '**ईसाणंत०**' इत्यादि, ईशानान्तसुरेषु-भवनपतिर्व्यन्तरः ज्योतिष्कः सौधर्म ईशान इति पञ्चसु देवमार्गणासु अनन्तरमार्गणाविवरणोक्तानां मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोरातपनामस्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम्नाञ्चेति सर्वसंख्यया मिथ्यात्वमोहादीनां एकत्रिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं '**देसूणा सगसगकायट्ठिई**' त्ति देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, मिथ्यात्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात् । अथेदमेव स्फुटं दर्शयामः-भवनपतिसुरमार्गणायां देशोनं साधिकसागरोपमम् , व्यन्तरसुरमार्गणायां देशोनं पल्योपमम् ज्योतिष्कसुरमार्गणायां देशोनं वर्षलक्षाभ्यधिकपल्योपमम् , सौधर्मसुरमार्गणायां देशोने द्वे सागरोपमे ईशानसुरमार्गणायां देशोने साधिकसागरोपमे, कुतः ? भवनपत्यादिसुराणां कायस्थितेरुत्कृष्टतः साधिकसागरोपमादिमितत्वात् । तथा मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कम् इति अष्टानां ध्रुवबन्धिनीनामिहैव पृथगुक्तत्वात् '**सेसधुव**' त्ति शेषाणां त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामनन्तरमार्गणाविवरणोक्तानां सप्तानामौदारिकशरीरनामादीनाञ्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तासां सर्वासामिह ध्रुवबन्धित्वे सति जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् । अथातिप्रसक्तिं परिहरति '**भवणतिगे**' इत्यादि, किमुक्तं भवति ? भवनपतिः व्यन्तरः ज्योतिष्क इति मार्गणात्रिके '**तित्थस्स**' ति जिननाम्नो बन्धो नास्ति, ततः किम् ? आसु तिसृषु मार्गणासु शेषाणां त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनामौदारिकशरीरनामादीनां तु षण्णामेव द्वौ समयौ तद् भवति । तथोक्तशेषाणां देवौघमार्गणाविवरणोक्तानां सातवेदनीयादीनां पञ्चविंशतेरजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । अत्र हेत्वादि देवौघमार्गणावद् वाच्यम् ॥६५७-६५८॥ अथ आनतादिसुरमार्गणासु प्रकृतमाह—

> आणतपहुडिसुरेसुं गेविज्जंतेसुं होइ कायठिई ।
> उक्कोसा देसूणा मिच्छाइगपंचवीसाए ॥६५९॥
> सेसधुवबंधिणीणं तह अडपरघाइणुरलदुगाणं ।
> दो समया सेसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६६०॥

(प्रे०) '**आणत०**' इत्यादि, आनतादिग्रैवेयकान्तसुरेषु त्रयोदशसु सुरमार्गणास्वित्यर्थः देवौघमार्गणाविवरणोक्तानां मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं '**कायठिई**' त्ति देशोना तत्तन्मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, सम्यग्दृष्ट्यादेस्तद्बन्धाभावाद् मिथ्यात्वान्तरस्य चोत्कृष्टत एतावन्मितत्वात् , तद्यथा–आनतसुरमार्गणायां देशोनैकोनविंशतिसागरोपमाणि, तत्कायस्थितेरुत्कृष्टत एकोनविंशतिसागरोपममितत्वात् इत्यादि सुगमम् । तथा '**सेसधुव**' त्ति मिथ्यात्वादीनामष्टानां प्रागुक्तत्वात् शेषाणां त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां '**अडपरघाइ**' त्ति

पराघातनाम उच्छ्वासनाम बादरत्रिकं जिननाम पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनामेति पराघातनामादीनामष्टानां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकयोश्चेति सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशतः प्रकृतीनां द्वौ समयौ; तत्र त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धित्वेन, पराघातनाममनुष्यद्विकादीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वेन, जिननाम्नो ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवाजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवात् । ततः किमिति चेत्, उत्कृष्टसंक्लेशादेरेव जघन्यरसबन्धस्य संभवात् उत्कृष्टसंक्लेशादेश्चोत्कृष्टतोऽपि द्विसमयस्थायित्वात् । तथा 'सेसाणं' ति सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती पुरुषवेदः वज्रर्षभनाराचसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रम् इति विंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तासां परावर्तमानत्वेन स्वबन्धद्वयान्तरालेऽन्तर्मुहूर्तं यावत् स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्तनात् ॥६५९-६६०॥

अथ अनुत्तरसुरादिमार्गणास्वाह–

पंचसु अणुत्तरेसुं आहारम्मि य भवे मुहुत्तंतो ।
बारससायाईणं सेसाण भवे दुवे समया ॥६६१॥

(प्रे०) 'पंचसु' इत्यादि, पञ्चसु अनुत्तरसुरमार्गणासु आहारककाययोगमार्गणायाञ्च सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति द्वादशानां सातवेदनीयादीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तासां परावर्तमानत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां, तत्र पञ्चसु अनुत्तरसुरमार्गणासु ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणषट्कम् आद्यवर्जा द्वादश कषाया भयजुगुप्से पुरुषवेदः मनुष्यद्विकम् पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रथमसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनामाऽगुरुलघुनाम निर्माणनाम जिननाम उपघातनाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकम् इति त्रिषष्टेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, एतासां सर्वासामिह ध्रुवतया बध्यमानत्वे सति जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् । तथा आहारककाययोगमार्गणायामष्टौ मध्यकषायाः मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहनननाम इति त्रयोदशप्रकृतिवर्जानामनन्तरोक्तानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां पञ्चाशतः प्रकृतीनां देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चेति सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां द्वौ समयौ, आसां सर्वासामिह ध्रुवबन्धित्वात् ॥६६१॥ अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

पणसीइसागरसयं दुपणिंदितसेसु चक्खुसण्णीसुं ।
णिरयदुगस्स अहियुदहितेत्तीसा सगसुराईणं ॥६६२॥

आहारदुगस्स भवे देसूणा ससगजेट्ठकायठिई ।
ओघव्व जाणियव्वं सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥६६३॥

(प्रे०) **'पणसीइ०'** इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः चक्षुर्दर्शनं संज्ञीति षट्सु मार्गणासु नरकद्विकस्याजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पञ्चाशीत्यधिकं सागरोपमशतं, प्रस्तुतमार्गणासु एतत्प्रकृतिबन्धान्तरस्यैतावत्प्रमाणत्वात् । तथा देवद्विकं वैक्रियद्विकम् उच्चैर्गोत्रम् मनुष्यद्विकम् इति सप्तानां देवद्विकादीनां साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सप्तमपृथ्वीनारकस्य प्रस्तुतमार्गणान्तःपातित्वात् तस्य च स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र तस्य यथासंभवं पूर्वोत्तरभवचरमाद्यान्तर्मुहूर्तयोरपि तद्बन्धाभावात् । कुतस्तत् ? उच्यते, पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते तस्य नरकाभिमुखत्वात् उत्तरभवाद्यान्तर्मुहूर्ते तु तस्य सम्यक्त्वाभावात् । ततः किमिति चेत् ? नरकाभिमुखेन देवद्विकादयो न बध्यन्ते तथैव अपर्याप्तावस्थायां सम्यग्दृष्टिभिरेव मनुष्यतिर्यग्भिस्ते बध्यन्त इति । नवरं वैक्रियद्विकं तु नरकाभिमुखैर्मनुष्यादिभिर्नरकद्विकेन सह बध्यत एव, अतः वैक्रियद्विकस्योत्तरभवाद्यान्तर्मुहूर्ते एवाबन्धो वाच्यः । यद्वोपशमश्रेणौ देवद्विकवैक्रियद्विकयोरबन्धं कृत्वा श्रेणेरवतरन् पुनर्बन्धप्राक्समये कालं कृत्वोत्कृष्टदेवभवं यावद् भवस्वभावेनाबन्धं विधाय मनुष्यभवप्रथमसमये पुनर्बन्धं करोति तस्याऽपि साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणमुत्कृष्टमन्तरमायाति । तथा आहारकद्विकस्य देशोना **'ससग'** त्ति स्वस्वमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, प्रस्तुतमार्गणासूत्कृष्टतस्तावत्कालं तद्बन्धस्यैवानुपलम्भात् तद्यथा–कश्चिदेकेन्द्रियादिर्जन्तुः स्वायुःक्षयेण पञ्चेन्द्रियौघादौ उत्पन्नः सन् वर्षाष्टकायुषि सर्वविरतिं समासाद्य झगिति अप्रमत्तगुणस्थानकमुपलभ्य आहारकद्विकं बध्नाति ततो झगिति प्रमत्तादिकमधिगम्य तदबन्धं कुरुते ततो नानाभवेषु प्रकृतमार्गणा अजहन् आहारकद्विकञ्चाबध्नन् उत्पद्यते विपद्यते च । मार्गणाचरमान्तर्मुहूर्ते सर्वविरतिं समासाद्याहारकद्विकं बद्ध्वा अन्तकृत् केवली भूत्वा शिवशय्यायां शेते इति । तथा **'सेसाणं'** ति उक्तशेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति । अथौघवदेव दर्शयामः—
'मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा । सघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई नीअं ॥' इति मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेर्द्वात्रिंशं सागरशतम् । मध्यानामष्टानां कषायाणां देशोना पूर्वकोटिः, तिर्यग्द्विकोद्योतयोस्त्रिषष्ट्यधिकं सागरशतम् । वज्रर्षभनाराचनामौदारिकद्विकयोः साधिकं पल्योपमत्रिकम् । आतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकमिति नवानां पञ्चाशीत्यधिकं सागरशतम् । ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती हास्यरती शोकारती संज्वलनचतुष्कं पुरुषवेदः भयजुगुप्से पञ्चेन्द्रियजातिः तैजसकार्मणशरीरनाम्नी समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नं वर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिः पराघात-

नामोच्छ्वासनामागुरुलघुनाम निर्माणनाम जिननाम उपघातनाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् अन्तराय-पञ्चकम् इत्येकषष्टेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम् । अत्र हेत्वादि ओघवदेव ॥६६२-६६३॥

अथ मनोयोगौघादिमार्गणास्वाह—

पणमणवयउरलेसुं पसत्थधुवबंधिणीण अट्ठण्हं ।
दो समया सेसाणं छासट्ठीए मुहुत्तंतो ॥६६४॥

(प्रे०) 'पणमण०' इत्यादि, पञ्चसु मनोयोगमार्गणासु पञ्चसु वचोयोगमार्गणासु औदारिककाययोमार्गणायाञ्च प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी अगुरुलघुनाम निर्माणनामेत्यष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवाजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवात् जघन्यरसबन्धस्य च निरन्तरमुत्कृष्टतोऽपि समयद्वयं प्रवर्त्तनात् । तथा 'सेसाणं' ति 'ण भवे असुहधुव' इत्यादिना त्रिचत्वारिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्न आहारकद्विकस्य चेति सर्वसंख्यया षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धान्तरस्य तज्जघन्यान्तरप्ररूपणावसरे निषिद्धत्वात् उक्तशेषाणां षट्षष्टेरध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तासां परावर्तमानत्वात् । न च षट्षष्ट्यन्तर्गतानां पराघातनामादीनामविद्यमानप्रतिपक्षप्रकृतीनां कुतः परावर्त्तमानत्वमिति वाच्यम्, तासां विद्यमानप्रतिपक्षप्रकृतिपर्याप्तनामादीनां सहचारित्वेन परावर्तमानता एव ॥६६४॥ अथ काययोगौघमार्गणायामाह—

काये असंखलोगा विण्णेयं णरदुगुच्चगोआणं ।
सेसाणं पयडीणं णवणवतीए मुहुत्तंतो ॥६६५॥

(प्रे०) 'काये' इत्यादि, काययोगौघमार्गणायां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, एकेन्द्रियाणां मार्गणान्तःपातित्वात् तेजोवायुकायस्थितेरुत्कृष्टत एतावन्मितत्वात् । ततः किम् ? तथास्वाभाव्येन तेजोवायूनां तद्बन्धाभावात् । अबन्धप्रयुक्तमन्तरमिदम् । तथा 'आहारजुगलतइअकसायाइसोलसण्हं णो' इत्यनेन आहारकद्विकमाद्या द्वादश कषाया मिथ्यात्वं स्त्यानर्द्धित्रिकम् इत्यष्टादशानामजघन्यरसबन्धान्तरस्य निषिद्धत्वात्, उक्तशेषाणां नवनवतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् । तत्र ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् अगुरुलघुनाम निर्माणनामोपघातनामाऽन्तरायपञ्चकम् इति पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्चोपशमश्रेणौ आन्तर्मुहूर्तिकाबन्धानन्तरं पञ्चत्वमासादनेन दिवि पुनस्तद्बन्धप्रवर्तनात् । देवद्विकवैक्रियद्विकनरकद्विकादीनां बन्धस्य मिथ्यादृष्टिमनुष्यतिरश्च आश्रित्य परावर्तमानत्वात्; शेषाणां सप्तपञ्चाशतो बन्धस्य एकेन्द्रियानाश्रित्य परावर्तमानत्वात् ।

संज्ञिनां सम्यक्त्वादिप्रयुक्तदीर्घान्तरस्य सम्भवेऽपि तेषां काययोगावस्थानस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमितत्वाच्च ॥६६५॥ अथौदारिकादिमिश्रयोगमार्गणास्वाह—

उरलाइतिमिस्सेसुं ण वाऽत्थि जाण पयडीण ताण भवे ।
दो समया सेसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६६६॥

(प्रे०) 'उरलाइ०' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगः वैक्रियमिश्रकाययोगः आहारकमिश्रकाययोग इति तिसृषु मार्गणासु 'ण वाऽत्थि' त्ति यासां ध्रुवबन्धिन्यादीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरमाचार्यान्तराणां मतेन जघन्यान्तरनिरूपणावसरे निषिद्धं मार्गणाचरमसमय एव तज्जघन्यरसबन्धाभ्युपगमात्, तासामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं मतान्तरेण द्वौ समयौ भवति, मार्गणाद्विचरमादिसमयेऽपि तज्जघन्यरसबन्धस्वीकारात् । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां तु भिन्नमुहूर्तं, तासां परावर्तमानत्वात् । अथैतदेव स्फुटतरं दर्शयामः—औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामेकपञ्चाशत् ध्रुवबन्धिन्यः जिननाम औदारिकशरीरनाम सुरद्विकं वैक्रियद्विकम् इति सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तासां ध्रुवबन्धित्वे सति स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धयादिनाऽजघन्यरसबन्धयोरन्तराले समयद्वयं यावत् जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । न च जिननामादीनां कुतो ध्रुवबन्धित्वमिति वाच्यम्, इह जिननामसुरद्विकवैक्रियद्विकानां तत्तद्बन्धकैः नैरन्तर्येण बध्यमानत्वेन ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् । सर्वैः प्रकृतमार्गणावर्तिभिर्मिथ्यादृष्टिसास्वादनैर्जीवैरविच्छिन्नतया बध्यमानत्वेन औदारिकशरीरनाम्नस्तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । तथा आहारकद्विकस्याप्रमत्तादिमुनिनैव बध्यमानत्वेन नरकद्विकस्य तु पर्याप्तकानामेव मनुष्यादीनां बन्धार्हत्वेनेह बन्धाभावात् शेषाणामेकोनषष्टेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, तासां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् ।

तथा वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां सर्वासामेकपञ्चाशद्ध्रुवलक्षणानां ध्रुवबन्धिनीनाम् औदारिकशरीरनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम बादरत्रिकं जिननामेति सप्तानाञ्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, अजघन्यरसबन्धद्वयान्तराले तावत्कालं जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । इहाप्यौदारिकशरीरनामादीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् जिननाम्नस्तु ध्रुवबन्धिकल्पत्वादिति । तथा नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकाहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां चतुर्दशानामिह बन्धाभावात् शेषाणां सातासाते हास्यरती शोकारती त्रयो वेदाः मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकम् एकेन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं त्रसनाम स्थिरषट्कं स्थावरनाम अस्थिरषट्कं गोत्रद्विकम् आतपनामोद्योतनामेत्यष्टचत्वारिंशतः प्रत्येकम् अन्तर्मुहूर्तम्, तासां परावर्तमानत्वात् ।

तथाऽऽहारकमिश्रमार्गणायां ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से प्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं तैजसशरीरनाम कार्मणशरीरनाम अगुरुलघुनाम निर्माणनाम उपघातनामाऽन्तरायपञ्चकम् इति पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी जिननाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रं पुरुषवेद इत्येकोनविंशतेश्च द्वौ समयौ, इहोक्तानां चतुःपञ्चाशल्लक्षणानां सर्वासामपि ध्रुवतया बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् । शेषाणां सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति द्वादशानामन्तर्मुहूर्तम्, तासां परावर्तमानत्वात् ॥६६६॥ वैक्रियकाययोगमार्गणायामाह–

विउवे धुवबंधीणं तेयालाअ तह सगुरलाईणं ।
दो समया सेसाणं अडचत्ताए मुहुत्तंतो ॥६६७॥

(प्रे०) 'विउवे' इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनामजघन्यरसबन्धान्तरस्य तज्जघन्यनिरूपणक्षण एव निषिद्धत्वात् मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कम् इति अष्टौ वर्जयित्वा शेषाणां त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां वैक्रियमिश्रे उक्तानां च सप्तानामौदारिकशरीरनामादीनां प्रत्येकम् द्वौ समयौ, तासामत्र अनवरतं बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवाजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवात् । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, मार्गणाकायस्थितेरुत्कृष्टतोऽपि आन्तर्मुहूर्तिकत्वात् ॥६६७॥

अथ कार्मणाऽनाहारिमार्गणयोराह—

कम्माणाहारेसुं जेसिं पयडीण अंतरं हवए ।
समयो गुरुं पि तेसिं पयडीणं अंतरं णेयं ॥६६८॥

(प्रे०) 'कम्मा०' इत्यादि, कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारिमार्गणायाञ्च यासां प्रकृतीनां रसबन्धस्यान्तरं भवति तासामजघन्यरसबन्धस्य तदुत्कृष्टतोऽपि न केवलं जघन्यत इति अपेरर्थः एकसमयः, मार्गणाया एव त्रिसामयिकत्वात् । अत्र विशेषभावना मतद्वयं च अनुत्कृष्टरसबन्धान्तरवद् विभावनीयम् ॥६६८॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह —

थीअ पणवण्णपलिआ णेयं मिच्छाइएगतीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण बारहसुहमाइगाण भवे ॥६६९॥
अडमज्झकसायाणं ओघव्व णराइगाण पंचण्हं ।
देसूणं पल्लतिगं सुहधुवबंधीण दो समया ॥६७०॥

आहारदुगस्सूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
सेसाणं पयडीणं छव्वीसाए मुहुत्तंतो ॥६७१॥

(प्रे०) 'थीअ' इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां '......मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा । संघयणागिइपणगं दुहुगतिगं कुखगई णीअं । तिरियदुगुज्जोआयवथावरएगिंदि' इति मिथ्यात्वमोहादीनामेकत्रिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानि, प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यात्वान्तरस्योत्कृष्टतोऽपि एतावन्मात्रत्वात् । तथा सूक्ष्मत्रिकं विकलत्रिकं नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकम् इति द्वादशानां साधिकानि पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानि, ईशानापरिगृहीतदेव्या भवस्थितेरुत्कृष्टतः पञ्चपञ्चाशत्पल्योपममितत्वात्, ततः किम् ? आभवं तस्यास्तद्बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र तस्याः पूर्वोत्तरभवचरमादिमान्तर्मुहूर्त्तयोः, सूक्ष्मत्रिकादीनामष्टानां, देवद्विकवैक्रियद्विकयोस्तूत्तरभवादिमान्तर्मुहूर्ते बन्धाभावात् । तथाऽष्टानां मध्यकषायाणां तदोघवद् देशोना पूर्वकोटिर्भवतीत्यर्थः, इह देशविरतिसर्वविरत्यवस्थानस्योत्कृष्टत एतावन्मितत्वात् । तथा मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनामेति पञ्चानां देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि, पर्याप्तयुगलिन्यास्तद्बन्धाभावात् । देशोनत्वञ्चात्र तस्या अपर्याप्तावस्थायां मनुष्यद्विकादेर्बन्धस्याऽप्रतिषेधात् । तथा प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी अगुरुलघुनाम निर्माणनामेति अष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां तद् द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेनैव तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् स्वस्थानसंक्लेशस्योत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वेनाऽजघन्यरसबन्धयोरन्तराले द्विसामयिकजघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । न च श्रेणौ अबन्धमाश्रित्य प्रशस्तवर्णादीनामन्तर्मुहूर्तमप्यन्तरं प्राप्यते इति वाच्यम्, श्रेणौ तदबन्धानन्तरं कालकरणेन दिवि पुरुषतयोत्पादेन, क्रमादारोहणे च वेदोदयापगमेन चेति उभयथाऽपि पुनर्बन्धकाले मार्गणाया अपगमात् । तथाऽऽहारकद्विकस्य देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, तद्बन्धद्वयान्तराले तावत्कालं तद्बन्धस्याप्रवर्तनात्, तद्यथा—मार्गणामुखे काचित् कर्मभूमिजा स्त्री वर्षाष्टके आयुषि सर्वविरतिं समासाद्याऽऽहारकद्विकं बध्नाति ततः प्रमत्तसंयतत्वादिकं गता सती तदबन्धं करोति ततो देशोनां मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तदबध्नन्ती एव तिष्ठति तत्पश्चात् चरमभवचरमान्तर्मुहूर्ते मार्गणाचरमान्तर्मुहूर्ते इत्यर्थः आहारकद्विकं बद्ध्वा मार्गणान्तरं व्रजतीति । तथा 'छव्वीसाए' त्ति 'थीए जिणसगवीसमसुहधुवबंधीण अंतरं णत्थि' इत्यनेन जिननामादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धान्तरस्य निषिद्धत्वात् उत्तरशेषाणां सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रम् इति षड्विंशतेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, प्रथमादिगुणस्थानके तासां बन्धस्य परावर्तमानत्वेन स्वबन्धद्वयान्तराले आन्तर्मुहूर्तिकप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनात् ॥६६९-६७१॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायां सम्भाव्यमानाजघन्यरसबन्धान्तराणां प्रकृतीनां तद्दर्शयन्नाह—

पुरिसे तेत्तीसाए तइअकसायाइगाण ओघव्व ।
तेवट्ठिसागरसयं चउदसतिरियाइगाण भवे ॥६७२॥
णरुरलदुगवइराणं णेयं तिण्णि पलिओवमाऽब्भहिया ।
साहियतेत्तीसुदही हवए देवविउवदुगाणं ॥६७३॥
आहारदुगस्सूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।
भिन्नमुहुत्तं हवए चउयालीसाअ सेसाणं ॥६७४॥

(प्रे०) 'पुरिसे' इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां प्रत्याख्यानावरणचतुष्कादीनां त्रयस्त्रिंशतोऽजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमोघवद् भवति। तद्यथा-मध्यानामष्टकषायाणां देशोना पूर्वकोटिः, इह देशविरतिसर्वविरत्योरवस्थानस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् । तथा 'मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा। संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअ' मिति पञ्चविंशतेर्द्वात्रिंशं सागरशतम्, प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यात्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् । तथा 'तिरियदुगुज्जोआयवथावरएगिंदिसुहुमविगलतिगं णिरय-दुग' इति चतुर्दशानां त्रिषष्ट्यधिकं सागरशतम्, प्रस्तुतमार्गणायमेतत्प्रकृतिबन्धान्तरस्योत्कृष्टत एतावत्प्रमाणत्वात् । तथा मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानां साधिकानि त्रीणि पल्योपमानि, साधिकयुगलिकोत्कृष्टभवस्थितिं यावत्तद्बन्धविरहात् । तद्यथा-मिथ्यादृष्टेर्मनुष्यद्विकादिबन्धसद्भावात् कश्चित् पूर्वकोट्यायुष्कः कर्मभूमिजः मिथ्यादृष्टिपुरुषः स्वायुषः पूर्वकोट्येकत्रिभागावशेषे युगलिकपुरुषोत्कृष्टायुर्बद्ध्वा अन्तर्मुहूर्तात् सम्यक्त्वं समासाद्य क्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्नोति मनुष्यद्विकादेरबन्धञ्च करोति, तस्य देवद्विकादेरेव बन्धात्, ततो मृतः सन् युगलिकत्वेऽपि, मनुष्यद्विकादीनि न बध्नाति, तत्र देवद्विकादेरेव बन्धाभ्युपगमात् ततो देवत्वे तद् बध्नात्येव, एवं देशोनपूर्वकोटित्रिभागेनाऽभ्यधिकानि त्रीणि पल्योपमानि अबन्धप्रयुक्तमन्तरमायाति । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकयोः साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, तद्यथा-उपशमश्रेणौ तदबन्धानन्तरमवेदित्वार्वाक्समये कालं कृत्वा दिवि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि यावत्तद् न बध्नाति, अनुत्तरसुराणां मनुष्यद्विकस्यैव बन्धसद्भावात् ततश्च्युतो मनुष्यभवे पुनस्तद् बध्नाति, सम्यग्दृष्टेः मनुष्यस्य देवद्विकादेरेव बन्धभावात् इत्येवमन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि ज्ञेयानि । तथा आहारकद्विकस्य देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिर्मार्गणाद्यन्तयोरेव तद्बन्धकरणात्, भावना अत्र स्त्रीवेदमार्गणावत् । तथा 'सेसाणं' ति 'पुरिसे आवरणणवगचउसंजलणपणअंतरायाणं णोऽत्थि अंतरं खलु...' इत्यनेनाष्टादशानां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धान्तरस्य निषिद्धत्वादुक्तशेषाणां चतुश्चत्वारिंशतोऽन्तर्मुहूर्तम्, तत्र निद्राद्विकं भयजुगुप्से प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकम् अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामेति सप्तदशानां ध्रुवबन्धिनीनाम् जिननाम्नश्च उपशमश्रेणौ अन्तर्मुहूर्तम् अबन्धक-

तथा स्थित्वा पुरुषवेदोदयविच्छेदादर्वाक्समये कालं कृत्वा दिवं गतस्य दिवि पुनस्तद्बन्धप्रवर्तनात् । तथा सातवेदनीयादयो द्वादश पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनाम उच्छ्वासनाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रम् इति षड्विंशतेर्बन्धस्य परावृत्तेः । यद्वा सातवेदनीययशःकीर्त्तिपुरुषवेदोच्चैर्गोत्रवर्जशेषोक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टान्तरं श्रेणावबन्धमाश्रित्य विभावनीयमिति ॥६७२-६७४॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह—

णपुमे तेत्तीसुदही णेयं मिच्छाइअट्ठवीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण होइ णवण्हायवाईणं ॥६७५॥
देसूणपुव्वकोडी अडमज्झकसायतिवङ्गाईणं ।
दो समया अट्ठण्हं धुवबंधीणं पसत्थाणं ॥६७६॥
ओघव्व जाणियव्वं आहारदुगणिरयाइणवगाणं ।
सेसाणं पयडीणं छव्वीसाए मुहुत्तंतो ॥६७७॥

(प्रे०) 'णपुमे' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनां प्रकृतद्वारमन्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानामष्टाविंशतेर्देशोनानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यात्वान्तरस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् तच्च सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य ज्ञेयम् । देशोनत्वञ्चात्र सप्तमपृथ्वीनारकस्य भवाद्यन्तयोर्यथासंभवं मिथ्यात्वस्यावश्यं भावात् । तथा नवानां जातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपनाम्नरूपाणामभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सप्तमपृथ्वीनारकस्याभवं तद्बन्धाभावात् । अभ्यधिकत्वञ्चात्र तस्य सप्तमपृथ्वीनारकस्य पूर्वोत्तरभवचरमाद्यान्तर्मुहूर्तयोरपि तद्बन्धाभावात् । कुतः ? पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते तस्य नरकाभिमुखत्वेन नरकवेद्यप्रकृतीनामेव बन्धसद्भावात् उत्तरभवापर्याप्तावस्थासत्काद्यान्तर्मुहूर्ते पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वेद्यानामेव प्रकृतीनां बन्धप्रवर्त्तनात् । तथा अष्टानां मध्यकषायाणां वज्रर्षभनाराचसंहननौदारिकद्विकयोश्च देशोना पूर्वकोटिः, कुतः ? तत्र मध्यकषायाणां, देशविरतिसर्वविरत्योः कालस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् । वज्रर्षभनाराचादीनान्तु, इह मनुष्यतिरश्चां मिथ्यात्वान्तरस्यैतावन्मात्रत्वात् । तथाऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां द्वौ समयौ, जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवाजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवात् । तथा 'ओघव्व' इत्यादि, तत्र आहारकद्विकस्य देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणम् । नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकानान्तु असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः; एकेन्द्रियाणामपि प्रस्तुतमार्गणान्तःपातित्वात्तेषाञ्चाऽसंख्यपुद्गलपरावर्तात्मकस्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तु असंख्येया लोकाः, तेजोवायूनां तद्बन्धाभावात् तेषामुत्कृष्टकायस्थितेश्चैतावन्मात्रत्वात् । तथा 'णपुमे सगवीसअसुह धुवबंधीणं ण अंतरं' इत्यनेन सप्तविंशतेरन्तरस्य निषिद्धत्वात् उक्तशेषाणां षड्विंशतेरन्तर्मुहूर्तम्, तत्र सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती

हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम सुखगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् इति पञ्चविंशतेः परावर्तमानत्वात् । जिननाम्नस्तु, नरकाभिमुखस्य मनुष्यस्य स्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते नरकभवसत्कायान्तर्मुहूर्ते च बन्धाभावात् ॥६७५-६७७॥

अथापगतवेदादिमार्गणास्वाह—

भिन्नमुहुत्तमवेए मणपज्जवणाणसंजमेसुं च ।
सव्वाणं पयडीणं सप्पाउग्गाए णायव्वं ॥६७८॥

(प्रे०) 'भिन्नमुहुत्तं' इत्यादि, अवेदे गतवेदमार्गणायामित्यर्थः मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमौघमार्गणायाञ्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकम् 'सव्वाणं' ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , तत्र गतवेदमार्गणायां ज्ञानावरणादयश्चतुर्दश संज्वलनचतुष्कं यशःकीर्त्तिसातोच्चैर्गोत्राणीति एकविंशतिरूपाणां सर्वासामुपशमश्रेणौ अबन्धानन्तर-मन्तर्मुहूर्तात्मकोपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपततस्तत्तद्बन्धस्थाने पुनस्तद्बन्धप्रवर्तनात् । अत्र सातवेद-नीयस्य प्रकृतिबन्धविच्छेदाभावेऽपि रसबन्धविच्छेदादन्तरं ज्ञेयम् । मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणयोः प्रत्येकं सातवेदनीयादीनां द्वादशानां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् । ध्रुवबन्धिनीनां पञ्चत्रिंशतः पुरुष-वेदः देवद्विकं वैक्रियद्विकम् आहारकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनाम उच्छ्वासनाम जिननाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रमिति एकत्रिंशतेर्मार्गणा-प्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनाञ्च श्रेणावबन्धानन्तरमवरोहतः पुनस्तद्बन्धप्रवर्तनात् ॥६७८॥

अथ कषायादिमार्गणास्वाह—

जाणत्थि अंतरं सिं भिन्नमुहुत्तं तु चउकसायेसुं ।
सामाइयछेएसुं देसे मीसे तह उवसमे ॥६७९॥

(प्रे०) 'जाण' इत्यादि, चतसृषु कषायमार्गणासु सामायिकसंयमे छेदोपस्थापनीयसंयम-मार्गणायां देशविरतौ मिश्रसम्यक्त्वमार्गणायामुपशमसम्यक्त्वमार्गणायाञ्च यासां प्रकृतीनामजघन्य-रसबन्धस्यान्तरमस्ति विद्यते तासां तदन्तर्मुहूर्तम् , तद्यथा-'कोहे णो अंतरं' इत्यादिना आहारक-द्विकं निद्राद्विकभयजुगुप्साऽशुभवर्णादिचतुष्कोपघातवर्जचतुस्त्रिंशदशुभध्रुवबन्धिन्य इति षट्त्रिंशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धान्तरस्य निषिद्धत्वात् क्रोधमार्गणायां बन्धार्हाणां शेषचतुरशीतेः प्रकृतीनां, मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधस्याऽजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवात् तत्र पञ्चाशीतेः प्रकृतीनाम् । मायामार्गणायां षडशीतेः प्रकृतीनां, संज्वलनमानस्याप्यन्तरस्य संभवात् । लोभमार्गणायान्तु चतुर्णामपि संज्वलनकषायाणामजघन्यरसबन्धान्तरस्य संभवात् तत्र अष्टाशीतेः प्रकृतीनाम-जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम् , मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरेतावन्मात्रत्वात् । सामायिक-

छेदोपस्थापनीयमार्गणयोश्चतुर्दशानामन्तर्मुहूर्तम्, तत्र सातवेदनीयादीनां द्वादशानां परावर्तमानत्वात् । आहारकद्विकस्य तु, षष्ठगुणस्थानकस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् । शेषाणां चतुःपञ्चाशतोऽन्तरमेव नास्ति, जघन्यान्तरप्ररूपणावसरे एव निषिद्धत्वात्, कुतः ? यावन्मार्गणा तावन्नैरन्तर्येण बध्यमानत्वे सति मार्गणाचरमसमय एव तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात्, कासाञ्चित् निद्राद्विकादीनां बन्धस्य श्रेणौ मार्गणाविच्छेदात्प्राग् विच्छेदेऽपि पुनर्बन्धात्प्रागेव मार्गणाविच्छेदात् । तथा देशविरतिमिश्रमार्गणयोः प्रत्येकं सातवेदनीयादीनां द्वादशानामन्तर्मुहूर्तम्, तासां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् । तथोक्तशेषाणां देशविरतौ अष्टपञ्चाशतः प्रकृतीनां मिश्रमार्गणायान्तु षट्षष्टेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्यान्तरमेव नास्ति, तज्जघन्यान्तरनिरूपणावसरे निषिद्धत्वात् । उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां पञ्चानामजघन्यरसबन्धान्तरस्य निषिद्धत्वात्, शेषाणां प्रकृतमार्गणाबन्धार्हाणां षट्सप्ततेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमन्तर्मुहूर्तम्, मार्गणाया उत्कृष्टतोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् ॥६७९॥ अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतमाह--

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते अंतरं मुणेयव्वं ।
अडमज्झकसायाणं कोडी पुव्वाण देसूणा ॥६८०॥
णरुरलदुगवइराणं कोडी पुव्वाण होइ विण्णेयं ।
देवविउव्वदुगाणं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥६८१॥
साहियतेत्तीसुदही आहारदुगस्स अहव कायठिई ।
देसूणा उक्कोसा सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥६८२॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, मतिश्रुतावधिज्ञानरूपासु तिसृषु ज्ञानमार्गणासु अवधिदर्शनमार्गणायां सम्यक्त्वौघमार्गणायाञ्च मध्यानामष्टानां कषायाणामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वकोटिः, देशविरतिसर्वविरत्योरवस्थानस्योत्कृष्टतोऽप्येतावन्मात्रत्वात् । तथा मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानां पूर्वकोटिः । देवद्विकवैक्रियद्विकयोः साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सर्वार्थसिद्धसुरस्याऽऽभवं तद्बन्धाभावात् । साधिकत्वञ्चात्र तस्य पूर्वमनुष्यभवचरमान्तर्मुहूर्ते उपशमश्रेणौ तदबन्धसद्भावात् । आहारकद्विकस्यापि साधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, चतुर्थगुणस्थानावस्थानस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वादित्येकेन मतेन । 'अहव' ति अथवाशब्दस्य मतान्तरद्योतनपरत्वात्, मतान्तरेण पुनः देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, अस्मिन् मते चतुर्थगुणस्थानावस्थानस्य यथोक्तमानत्वात् । देशोनत्वं च यथासंभवं मार्गणाप्रारम्भे मार्गणाचरमान्तर्मुहूर्ते च तद्बन्धप्रवर्तनात् । तथोक्तशेषाणां द्विषष्टेरन्तर्मुहूर्तम्, तत्र सातवेदनीयादीनां द्वादशानां परावर्तमानत्वात्, ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भय-

जुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् उपघातनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकम् अन्तरायपञ्चकम् इति पञ्च-त्रिंशतो ध्रुवबन्धित्वेन, पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम सुखगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रम् इति चतुर्दशानां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वेन, जिननाम्नो ध्रुव-बन्धिकल्पत्वेनोपशमश्रेणौ कश्चित्तदबन्धं कृत्वाऽवरोहन् तत्तद्बन्धस्थाने पुनस्तद्बन्धं करोतीति ॥६८०-६८२॥ अथ मत्यज्ञानादिमार्गणास्वाह—

देसूणं पल्लतिगं अण्णाणदुगे अभवियमिच्छेसुं ।
सोलसणपुमाईणं तहा तिवइराइगाण भवे ॥६८३॥
तिण्हं तिरियाईणं इगतीसा सागरोवमाऽब्भहिआ ।
साहियतेत्तीसुदही होइ णवण्हायवाईणं ॥६८४॥
णिरयाईण णवण्हं ओघव्व धुवाण जाए हवए सिं ।
दो समया सेसाणं छव्वीसाए मुहुत्तंतो ॥६८५॥

(प्रे०) 'देसूण' मित्यादि, अज्ञानद्विके अभव्यमार्गणायां मिथ्यात्वमार्गणायाञ्च नपुंसक-वेदः आद्यवर्जं संहननपञ्चकम् आद्यवर्जं संस्थानपञ्चकं दुर्भगत्रिकं कुखगतिः नीचैर्गोत्रम् इति षोडशानां वज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकयोश्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रीणि पल्योप-मानि, पर्याप्तयुगलिकस्य स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । देशोनत्वञ्च तस्यापर्याप्तावस्थायां तद्बन्धोपलम्भात् । तिर्यग्द्विकोद्योतरूपाणां तिसृणाम् एकत्रिंशत् सागरोपमाणि अभ्यधिकानि, नवमग्रैवेयकसुरस्याऽभवं तद्बन्धाभावात् । अभ्यधिकत्वञ्चात्र तस्यानन्तरपूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते देवद्विकादेर्बन्धसद्भावेन तथा उत्तरभवसत्कप्रथमान्तर्मुहूर्ते मनुष्यद्विकादेर्बन्धसद्भावेन तिर्य-ग्द्विकादेर्बन्धाभावात् । तथा 'आयवथावरएगिंदिसुहुमविगलतिग' मिति नवानां त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि साधिकानि, सप्तमपृथ्वीनारकस्योत्कृष्टभवस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । साधि-कत्वञ्चात्रान्तर्मुहूर्तद्वयेन ज्ञेयम्, तच्च तस्य पूर्वोत्तरभवसत्कयोः चरमप्रथमान्तर्मुहूर्तयोस्तद्-बन्धाभावात् । तथा नरकद्विकादीनां नवानामोघवत्; तद्यथा—नरकद्विकं देवद्विकं वैक्रियद्विकम् इति षण्णामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, एकेन्द्रियाणामिहान्तःपातित्वात् तेषाञ्चोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, तेजोवायूनां स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । तथा यत्र यासां ध्रुवबन्धिनीनामन्तरं भवति तासां तत्र प्रस्तुतमन्तरं द्वौ समयौ, स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्ध्या वा तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेन जघन्यरसबन्धप्रयु-क्तस्यैवान्तरस्य संभवात् । तत्राज्ञानद्विके मिथ्यात्वमार्गणायामष्टानां शुभध्रुवबन्धिनीनामेवान्तरं प्राप्यते, न त्वशुभानामपि, सम्यक्त्वाभिमुखानामेव तज्जघन्यरसबन्धस्य भावात् । अभव्यमार्ग-

णायां तु सर्वासामेकद्वयबन्धाशन्लक्षणानां ध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयद्वयं जघन्यरसबन्धप्रयुक्तं प्राप्यते, तेषां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थान एव भावात् । सातवेदनीया-दयो द्वादश स्त्रीवेदः पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थानं सुखगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् इति षड्विंशतेरन्तर्मुहूर्तम् , तासामिह परावृत्त्या बध्यमानत्वेन स्वबन्धयो-रन्तराले अन्तर्मुहूर्तं यावत् स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धोपलम्भात् । अत्राहारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धाभावस्तु प्रतीत इति ॥६८३-६८५॥ अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामाह—

विब्भंगे अट्ठण्हं पसत्थधुवबंधिणीण दो समया ।
णायव्वं सेसाणं छासट्ठीए मुहुत्तंतो ॥६८६॥

(प्रे०) 'विब्भंगे' इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायामष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरस-बन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, तासां ध्रुवबन्धित्वे सति स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेन तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवात् । ततः किम् ? अजघन्यरसबन्धयोरन्तराले द्विसामयिकजघन्यरसबन्धात्मकस्यैवान्तरस्य संभव इति । तथा त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसस्य मार्गणाचरमसमये एव बध्यमानत्वेनान्तराभावात् आहारकद्विकजिननाम्नोस्तु बन्धानर्हत्वादुक्तशेषाणां षट्षष्टेरध्रुव-बन्धिनीनामन्तर्मुहूर्तम् , प्रस्तुतमार्गणायां तत्तद्बन्धकानां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह परावृत्त्या तद्-बन्धोपलम्भात् । देवनारकेभ्यश्च्युत्वा मनुष्यतिर्यक्षूत्पद्यमानानां जीवानामपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञान-स्यासम्भव इति भगवतीसूत्राष्टमशतके, तत एकेन्द्रियजात्यादीनां नाधिकान्तरस्य संभव इति ॥६८६॥ अथ परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामाह—

परिहारे समयेगो दो वा असुहधुवबंधिपुरिसाणं ।
सेसाण चउदसण्हं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥६८७॥

(प्रे०) 'परिहारे' इत्यादि, परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायामिह बन्धार्हाणां सप्तविंशतेरशुभ-ध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य च द्वौ समयौ, स्वस्थानविशुद्धया तज्जघन्यरसबन्धोपलम्भात् , वाका-रस्य मतान्तरपरत्वात् मतान्तरेण एकसमयः, अनन्तरसमये भविष्यत्करणस्य समयमात्रमेव जघन्यरसबन्धाभ्युपगमात् । तथा 'परिहारे णेव भवे पसत्थणामपणवीसइआण' मिति अनेन षड्-विंशतेरन्तरस्य निषिद्धत्वात् उक्तशेषाणां चतुर्दशानामन्तर्मुहूर्तम् , तत्र सातवेदनीयादीनां द्वादशानां परावर्तमानत्वात् , आहारकद्विकस्य तु गुणस्थानकपरावृत्तेः, किमुक्तं भवति ? षष्ठगुणस्थानकस्योत्कृष्ट-तोऽप्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात् ॥६८७॥ अयतादिमार्गणास्वाह—

अयते तेत्तीसुदही णेयं मिच्छाइअट्ठवीसाए ।
देसूणाऽब्भहिया उण होइ णवण्हायवाईणं ॥६८८॥

अडसुहधुवबंधीणं दो समया होइ अट्ठतीसाए।
सेसाणोघव्व भवे सव्वाण अचक्खुभवियेसु ॥६८९॥

(प्रे०) 'अयते' इत्यादि, अयतमार्गणायां '.........मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा। संघयणागिइपणगं दुहगतिग कुखगई णीअं ॥ तिरियदुगुज्जोअ' इति मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेर-जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सप्तमपृथ्व्यां मिथ्यात्वान्तर-स्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात्। तथा नवानामातपनामादीनामभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, सप्तमपृथ्वीनारकस्य तद्बन्धाभावात्। अभ्यधिकत्वञ्चात्र तस्य पूर्वोत्तरभवचरमप्रथमान्तर्मुहूर्तयोरपि तद्बन्धाभावात्, कुतः? पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्ते तस्य नरकाभिमुखत्वेन नरकवेद्यप्रकृतीनामेवोत्तरभव-प्रथमान्तर्मुहूर्ते तु तस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वेद्यानामेव तासां बन्धसद्भावात्। तथाऽष्टानां प्रशस्त-ध्रुवबन्धिनीनां द्वौ समयौ, अजघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात्। तथा मिथ्यात्वमोहादीना-मष्टानामशुभध्रुवबन्धिनीनामन्तरस्येहैव उक्तत्वात् शेषाणां पञ्चत्रिंशतोऽशुभध्रुवबन्धिनीनामबन्ध-प्रयुक्तस्यान्तरस्याभावेन तज्जघन्यरसबन्धस्य तु मार्गणाचरमसमय एव प्रवर्तनेनाऽन्तराभावादुक्त-शेषाणामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनामोघवद् भवति। तद्यथा—नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकानामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरसंख्येया लोकाः, वज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकयोः साधिकं पल्योपमत्रिकम्, सातादयो द्वादश पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्त-विहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ जिननाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् इति षड्विंशतेरन्तर्मुहूर्तम्, अत्र हेतुरोघवदेव। अचक्षुर्मार्गणायाम् भव्यमार्गणायाञ्च सर्वासां विंशत्युत्तरशतलक्षणानां प्रकृतीनाम-जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं डमरूकमणिन्यायेनौघवत्शब्दस्यात्राभिसम्बन्धाद् ओघवद् भवति, कुतः? प्रस्तुतमार्गणयोः प्रत्येकं श्रेणिसद्भावे सति एकेन्द्रियजीवानामप्यन्तःपातित्वात् ॥६८८-६८९॥ अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणास्वजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमनु-त्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरवत् सविशेषमतिदिशन्नाह—

सव्वेसिं पयडीणं अगुरुरसव्व असुहासु लेसासु।
णवरं तित्थस्स भवे किण्हाए अंतरं णेव ॥६९०॥

(प्रे०) 'सव्वेसि' मित्यादि, कृष्णनीलकापोतरूपासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकं बध्यमानानां सर्वासां प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरवत् तत्तु-ल्यं भवतीत्यर्थः, कुतः? यथाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं सामान्यतः प्रकृतिबन्धोत्कृष्टान्तरेण तुल्यं तथैवाजघन्यरसबन्धस्यापि तदिति कृत्वा। अथात्रैव विद्यमानं किञ्चिद्विशेषं दर्शयति 'णवर' मित्यादिना, कृष्णलेश्यामार्गणायां जिननाम्नोऽन्तरं नैव भवति, किमुक्तं भवति? जिननाम्नोऽनु-

त्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ इति प्रागुक्तम्, इह तु तन्न भवति, कुतः ? जघन्यान्तरनिरूपणप्रस्तावे निषिद्धत्वात्, तदपि कुतः ? अनुत्कृष्टरसबन्धस्य समयद्वयमन्तरं विरुद्धरसबन्धप्रयुक्तम् प्राप्यते, इह तु जघन्याख्यविरुद्धरसबन्धानन्तरं पुनरजघन्यबन्धादर्वाग् मार्गणाया विच्छेदात्। अथेह प्रस्तुतमन्तरं यावत्प्रमाणं भवति तदेव दर्श्यते, तद्यथा—कृष्णलेश्यामार्गणायां 'मिच्छं थीणद्धितिगमणचउगथीणपुमा। संघयणागिइपणगं दुहगतिगं कुखगई णीअं। तिरियदुगुज्जोअ' इति मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोश्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः। वैक्रियद्विकस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाणि। त्रिचत्वारिंशतः शेषध्रुवबन्धिनीनां द्वौ समयौ, जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात्, उत्कृष्टविशुद्धेर्द्विसामयिकत्वेन तज्जन्यजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टतो द्विसामयिकत्वात्। सुरद्विकमातपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम चेति पञ्चानां पल्योपमाऽसंख्येयभागः, आचार्यान्तराणां मतेन त्वन्तर्मुहूर्तम्। जिननाम्नोऽन्तराभावः। साताऽसाते हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः नरकद्विकम् औदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः विकलत्रिकं प्रथमसंहननं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसदशकं सूक्ष्मनामादिपञ्चकम् अयशःकीर्त्तिश्चेति शेषाणां षट्त्रिंशतः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्। नीललेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेः वैक्रियद्विकस्य च देशोनमार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः। शेषत्रिचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां जिननाम्नश्च द्वौ समयौ, पूर्वोक्तादेव हेतोः। आतपनाम स्थावरनामैकेन्द्रियजातिनाम देवद्विकञ्चेति पञ्चानां पल्योपमासंख्येयभागः, मतान्तरेणान्तर्मुहूर्तम्। मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरपि अत्र परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् शेषाणामेकोनचत्वारिंशतोऽन्तर्मुहूर्तम्। कापोतलेश्यामार्गणायां सर्वमनन्तरोक्तनीललेश्यामार्गणावद् वाच्यम्, नवरं देवद्विकस्य पल्योपमाऽसंख्येयभाग इति न वाच्यम् किन्तूत्कृष्टतो यावत्यां स्थितौ कापोतलेश्याकनारकतया क्षायिकसम्यग्दृष्टिमनुष्यस्योत्पादः, तावत्प्रमाणं तच्च साधिकानि त्रीणि सागरोपमाणि, मतान्तरेण देशोनसागरोपममिति। अत्र हेत्वादिकमनुत्कृष्टरसबन्धोत्कृष्टान्तरनिरूपणे यद्दर्शितं तदेव ज्ञेयमिति ॥६९०॥

अथ तेजोलेश्यामार्गणायामाह—

तेऊए देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं।
सुरविउवदुगाण तहा मिच्छाइगएगतीसाए ॥६९१॥
समयो सगवीसाअ अपसत्थधुवबंधिणीण सेसाणं।
जइ कयकरणो सामी इहरा दोण्णि हवए समया ॥६९२॥
अडसुहधुवबंधीणं तह सत्तुरलाइगाण दो समया।
णेयं भिन्नमुहुत्तं सेसाणं पंचवीसाए ॥६९३॥

(प्रे०) 'तेऊए' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्मिथ्यात्वमोहादीना-मेकत्रिंशतश्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, कुतः ? देवद्विकादीनां चतसृणाम्, ईशानसुरस्य स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावद् बन्धाभावात्। ततः किम् ? बन्धद्वयान्तराले एतावन्तं कालं तदबन्धोपलम्भात्, तथ्यथा-तेजोलेश्याको मनुष्यो भवचरमान्तर्मुहूर्ते ता बद्ध्वा सुरत्वे आभवं तदबन्धकतया तिष्ठति ततः ससम्यक्त्वश्च्युतः सन् मनुष्यत्वेऽन्तर्मुहूर्ते बध्नाति ततश्च मार्गणान्तरं व्रजतीति । मिथ्यात्वमोहादीनां तु, प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यात्वगुणस्थानकान्तरस्य यथोक्तप्रमाणत्वात्। भावना त्वेवम्-कश्चित् तेजोलेश्याको मिथ्यादृष्टिर्मनुष्यस्तिर्यग् वोत्कृष्टस्थितिकेशानसुरतयोत्पन्नः सन् दिव्यपर्याप्तावस्थायां मिथ्यात्वमोहाद्या बध्नाति ततः पर्याप्तको भूत्वा झगिति सम्यक्त्वरत्नं समासाद्य तदबन्धं करोति ततो भवद्विचरमान्तर्मुहूर्तं यावत् तदबन्धकतया तिष्ठति ततश्चरमान्तर्मुहूर्ते मिथ्यात्वं गतः सन् पुनर्मिथ्यात्वमोहादीर्बध्नातीति । न चेशानसुरः सम्यक्त्वासादनात् आरभ्याभवं सम्यग्दृष्टितयैव तिष्ठतु उत्तरभवप्रथमान्तर्मुहूर्ते एव मिथ्यात्वं गच्छतु तेन अत्रोक्तात् प्रमाणादेकेनान्तर्मुहूर्तेनाधिकमप्यन्तरमेतीति वाच्यम्, उत्तरभवे अपर्याप्तावस्थायां सम्यक्त्वापगमाभावेन, पर्याप्तकस्य तु तस्य मार्गणान्तरगमनेन यथोक्तकालस्यैवोचितत्वात्। तथा मध्यानामष्टानां कषायाणामजघन्यरसबन्धान्तरस्य जघन्यान्तरनिरूपणावसरे निषिद्धत्वात् ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् उपघातनाम अन्तरायपञ्चकम् इति शेषाणां सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनाम् 'जइ कयकरणो' त्ति जघन्यरसबन्धकोऽनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणो यदि मन्यते तर्हि आमामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमेक एव समयः, कुतः ? जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवादेकमेव समयं तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात्। 'इहरा' त्ति इतरथा द्वौ समयौ, किमुक्तं भवति ? यदि अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणस्यैव जघन्यरसबन्धो न मन्यते किन्तु स्वस्थानविशुद्धस्यापि, तर्हि द्वौ समयौ, स्वस्थानविशुद्ध्यादेरुत्कृष्टतो द्विसामयिकत्वात्। तथाऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनाम् औदारिकशरीरनाम पराघातोच्छ्वासौ बादरत्रिकं जिननामेति सप्तानाञ्च द्वौ समयौ, आसां सर्वासामिह ध्रुवतया बध्यमानत्वेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशस्योत्कृष्टतो द्विसामयिकत्वात्। आहारकद्विकान्तरस्य निषिद्धत्वात् तथा सूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकनरकद्विकरूपाणामष्टानां बन्धाभावात् उक्तशेषाणां सातासाते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती हास्यरती शोकारती पुरुषवेदः मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम प्रथमसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रम् इति पञ्चविंशतेरन्तर्मुहूर्तम्, तासामजघन्यरसबन्धान्तरस्य बन्धपरावृत्त्यैवोपलम्भात् ॥६९१-६९३॥ अथ पद्मलेश्यामार्गणायामाह—

पउमाए देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।

सुरविउवदुगाण तहा मिच्छाइगअट्ठवीसाए ॥६९४॥
समयो सगवीसाअ अपसत्थधुवबंधिणीण सेसाणं ।
जइ कयकरणो सामी इहरा दोण्णि समया हवए ॥६९५॥
सुहधुवबंधीण तहा दसुरलुवंगाइगाण दो समया ।
णायव्वं सेसाणं बावीसाए मुहुत्तंतो ॥६९६॥

(प्रे०) 'पउमाए' इत्यादि, पद्मलेश्यामार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्मिथ्यात्वमोहादीनामष्टाविंशतेश्चाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, भावनात्र तेजोलेश्यामार्गणावदेव, नवरमत्रैवं वाच्यम्-देवद्विकवैक्रियद्विकयोः पद्मलेश्याकोत्कृष्टस्थितिकसुरस्याऽऽभवं तद्बन्धाभावात् । मिथ्यात्वमोहादीनान्तु, पद्मलेश्याकसुरस्य प्रथमगुणस्थानकान्तरस्योत्कृष्टतो यथोक्तप्रमाणत्वादिति । तथा तेजोलेश्यामार्गणाविवरणोक्तानां ज्ञानावरणपञ्चकादीनां सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनामेको द्वौ वा समयौ, अत्र हेतुः तेजोलेश्यावत् । तथाऽष्टानां प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां सप्तानामौदारिकशरीरनामादीनां तेजोलेश्यामार्गणोक्तानाम् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिरिति तिसृणाञ्च, औदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनामपीह मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् इति सर्वसंख्ययाऽष्टादशप्रकृतीनां द्वौ समयौ, जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवादासामिह जघरसबन्धस्य नैरन्तर्येणोत्कृष्टतोऽपि समयद्वयं प्रवर्तनात् । तथा 'सेसाणं' ति औदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनां तिसृणामिह प्रस्तुतमन्तरं समयद्वयमित्यचिरादेवोक्तत्वात् , तद्वर्जानां तेजोलेश्यामार्गणोक्तानां सातवेदनीयादीनां द्वाविंशतेरन्तर्मुहूर्तम् , तासां बन्धस्य परावर्तमानत्वात् । अथोक्तशेषाणामेकविंशतेः का गतिः ? उच्यते, अत्रोक्तातिरिक्तानामाहारकद्विकमध्यकषायाष्टकानामन्तराभावः । जातिचतुष्कस्थावरचतुष्कातपनरकद्विकानां बन्धाभाव इति ॥६९४-६९६॥ अथ शुक्ललेश्यामार्गणायामाह-

सुक्काए लेसाए णेयं मिच्छाइपंचवीसाए ।
देसूणिगतीसुदही दो समया णरुरलदुगाणं ॥६९७॥
देसूणा कायठिई उक्कोसा होइ चउसुराईणं ।
णेयं भिन्नमुहुत्तं सेसाणं पंचसट्ठीए ॥६९८॥

(प्रे०) 'सुक्काए' इत्यादि, शुक्ललेश्यामार्गणायां मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनानि एकत्रिंशत् सागरोपमाणि; अबन्धप्रयुक्तस्य तदन्तरस्य संभवात् नवमग्रैवेयकसुरस्य च मिथ्यात्वगुणस्थानकान्तरस्यैतावन्मात्रत्वात् । मनुष्यद्विकौदारिकद्विकयोस्तु द्वौ समयौ, प्रस्तुतमार्गणायां मनुष्यतिरश्चां तद्बन्धाभावात् सुराणान्तु

तयोर्मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैव तदन्तरस्य संभवात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां देशोनोत्कृष्टकायस्थितिः, उपशमश्रेणेरवरोहतस्तद्बन्धार्वाकसमये कालं कृत्वा दिवं गतस्य साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावत्तद्बन्धाभावात् । तथा मध्यकषायाष्टकान्तरस्य निषिद्धत्वादुक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां पञ्चषष्टेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, तत्र पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदः औदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम सुखगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातोच्छ्वासौ जिननाम उच्चैर्गोत्रम् इति सप्तदशानाञ्च उपशमश्रेणावबन्धानन्तरमन्तर्मुहूर्तात्मकोपशान्ताद्धाक्षयेण क्रमादवरोहतस्तत्तद्बन्धस्थाने पुनस्तद्बन्धप्रवर्तनात्, सातवेदनीयादीनां द्वादशानां परावर्तमानत्वात्, प्रथमसंहननस्यापि स्वप्रतिपक्षप्रकृत्या सह परावृत्या बन्धोपलम्भात् ॥६९७ ६९८॥ अथ क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह--

खइअम्मि जाणियव्वं मज्झकसायऽट्ठगस्स देसूणा ।
कोडी पुव्वाण भवे दो समया पणणराईणं ॥६९९॥
हीणा गुरुकायठिई सुरविउवाहारजुगलपयडीणं ।
भिन्नमुहुत्तं णेयं सेसाणं अट्ठवण्णाए ॥७००॥

(प्रे०) '**खइअम्मि**' इत्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां मध्यानामष्टानां कषायाणामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना पूर्वकोटिः, इह चतुर्थगुणस्थानकविरहस्योत्कृष्टकालस्य एतावन्मात्रत्वात् । मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचमिति पञ्चप्रकृतीनां द्वौ समयौ, प्रकृतमार्गणावर्तिदेवनारकानाश्रित्य तासां ध्रुवबन्धित्वेन जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात् । तथा देवद्विकं वैक्रियद्विकम् आहारकद्विकम् इति षण्णां मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः मनुष्यभवचरमान्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणीत्यर्थः, उपशमश्रेणेरवरोहतां तद्बन्धप्राक्समये कालं कृत्वा दिवं गतानां सर्वार्थसिद्धादीनां स्वोत्कृष्टभवस्थितिं यावद् बन्धाभावात्, आहारकद्विकस्य तु देशोनपूर्वकोट्याऽन्तरमधिकं वक्तव्यम् । तथा '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां द्विषष्टेः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, तत्र ध्रुवबन्धिनीनां पञ्चत्रिंशतः पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थानं सुखगतिः पराघातनाम उच्छ्वासनाम जिननाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रम् इति पञ्चदशानां च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धिनीनामुपशमश्रेणावबन्धमाश्रित्य, तथा सातवेदनीयानां द्वादशानां परावर्तमानत्वाद् ॥६९९-७००॥ अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—

बारहसायाईणं तिण्णेयं वेअगे मुहुत्तंतो ।
देसूणपुव्वकोडी मज्झकसायऽट्ठगस्स भवे ॥७०१॥

असुहधुवबंधिणीणं सगवीसाए तहा पुमस्स भवे ।
समयो जइ कयकरणो सामी इहराऽत्थि दो समया ॥७०२॥
पंचण्ह णराईणं कोडी पुव्वाण जलहितेत्तीसा ।
सुरविउवदुगस्स भवे आहारदुगस्स ऊणजेट्ठठिई ॥७०३॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'बारह०' इत्यादि, वेदके क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामित्यर्थः, सातासाते हास्यरती शोकारती स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती इति द्वादशानामन्तर्मुहूर्तम्, तासां परावर्तमानत्वात् । मध्यानामष्टानां कषायाणां देशोना पूर्वकोटी, चतुर्थगुणस्थानविरहस्योत्कृष्टत एतावन्मात्रत्वात् । तथा सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य च एको द्वौ वा समयौ, जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात्, कुतः ? पुरुषवेदस्यापीह मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । अत्रेदमुक्तं भवति ? यदि अनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणस्यैव तज्जघन्यरसबन्धोऽभ्युपगम्यते तर्हि एकः समयः, 'इहरा' त्ति इतरथा स्वस्थानविशुद्धयापि यदि तज्जघन्यरसबन्ध इति स्वीक्रियते इति भावः, तर्हि द्वौ समयौ, स्वस्थानविशुद्धेरुत्कृष्टतो द्विसमयस्थायित्वात् । तथा मनुष्यद्विकम् औदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचमिति पञ्चानां पूर्वकोटी, देवभवात् ससम्यक्त्वच्युतस्य मनुष्यभवे आभवं तद्बन्धाभावात् । तथा देवद्विकवैक्रियद्विकयोः त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि, मनुष्यभवद्वयान्तराले उत्कृष्टस्थितिकदेवभवे तद्बन्धाभावात् । तथाऽऽहारकद्विकस्य देशोना कायस्थितिः, यथासंभवं मार्गणाद्यन्तयोरेव तद्बन्धकरणात् । तथोक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां द्वाविंशतेः प्रस्तुतान्तरं नास्ति, अजघन्यरसबन्धस्य जघन्यान्तरप्ररूपणप्रस्ताव एव निषिद्धत्वात् । इमाश्च ता द्वाविंशतिः—अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थानं सुखगतिः पराघात उच्छ्वासः जिननाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकम् उच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥७०१-७०३॥

अथ सास्वादनमार्गणायामाह—

सासायणम्मि णेयो बायालीसाअ अप्पसत्थाणं ।
धुवबंधीण दुसमया सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥७०४॥

(प्रे०) 'सासायणम्मि' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां मिथ्यात्वस्य बन्धाभावाद् द्विचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, स्वस्थानविशुद्धया तज्जघन्यरसबन्धस्य संभवेनाजघन्यरसबन्धद्वयान्तराल उत्कृष्टतः समयद्वयं यावज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । तथा 'जाण अहिसुहो' इत्यादिना जघन्यान्तरनिरूपणप्रस्तावे त्रसनामादीनां पञ्चदशानामन्तरस्य निषिद्धत्वात् 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तम्, अध्रुवबन्धित्वात् इत्येकेन मतेन । मतान्तरेण तु निषिद्धान्तराणां पञ्चदशत्रसनामादीनां प्रत्येकं समयद्वयप्रमाणम्,

अस्मिन् मते त्रसनामादीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वेनोक्तप्रमाणस्य प्रस्तुतान्तरस्य संभवात् ॥७०४॥ अथ असंज्ञिमार्गणायामाह—

अमणे धुवबंधीणं समया दोण्णि णिरयाइणवगस्स ।
ओघव्व जाणियव्वं सेसाण भवे मुहुत्तंतो ॥७०५॥

(प्रे०) 'अमणे' इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ, जघन्यरसबन्धप्रयुक्तस्यैवान्तरस्य संभवात्, कुतः ? प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावात् । तथा नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकोच्चैर्गोत्रमनुष्यद्विकरूपाणां नवानामोघवत्, तद्यथा–नरकद्विकादीनामसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, एकेन्द्रियाणां प्रस्तुतमार्गणान्तःपातित्वात् । उच्चैर्गोत्रादीनां तिसृणामसंख्येयाः लोकाः, तेजोवायूनामिहान्तःपातित्वात् तेषां च स्वोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात् । तथा 'सेसाण' त्ति आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावात् उक्तशेषाणां सप्तपञ्चाशतः प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्तम्, परावृत्त्या बन्धोपलम्भात् ॥७०५॥

अथ आहारिमार्गणायामाह—

आहारे विण्णेयं आहारदुगणिरयाइणवगाणं ।
हीणा गुरुकायठिई ओघव्व हवेज्ज सेसाण ॥७०६॥

(प्रे०) 'आहारे' इत्यादि, आहारिमार्गणायामाहारकद्विकस्य नरकद्विकादीनां नवानाञ्च अजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, मार्गणोत्कृष्टकायस्थितेरङ्गुलाऽसंख्येयभागमितत्वात् । ततः किम् ? यासां प्रकृतीनामोघप्ररूपणायां मार्गणाकायस्थितेरधिकोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तादिरूपो बन्धकालोऽस्ति तासामिह देशोनोत्कृष्टकायस्थितिर्भवति, मार्गणाप्रारम्भावसानयोर्यथासंभवं तद्बन्धोपलम्भात् । तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां नवोत्तरशतप्रकृतीनां तदोघवद् भवति । तद्यथा–मिथ्यात्वमोहादीनां पञ्चविंशतेर्द्वात्रिंशं सागरशतम् । अष्टानां मध्यकषायाणां पूर्वकोटिर्देशोना । तिर्यग्द्विकोद्योतयोः त्रिषष्ट्यधिकं सागरशतं साधिकम् । औदारिकद्विकप्रथमसंहननयोः साधिकं पल्योपमत्रिकम् । आतपनामादीनां नवानां साधिकं पञ्चाशीत्यधिकसागरशतम्, शेषाणामेकषष्टेरन्तर्मुहूर्तम् । अत्र हेतुरोघवत् । इमाश्च ता एकषष्टिः–ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कमन्तरायपञ्चकं सातासाते संज्वलनचतुष्कं पुरुषवेदः हास्यरती शोकारती भयजुगुप्से पञ्चेन्द्रियजातिः प्रथमसंस्थाननाम तैजसकार्मणशरीरनाम्नी अगुरुलघुनिर्माणनाम्नी उपघातनाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातनामोच्छ्वासनाम जिननाम त्रसदशकमस्थिरमशुभमयशःकीर्तिश्चेति ॥७०६॥

अथ मार्गणासु आयुषां जघन्याऽजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तरं प्रतिपादयन्नाह—

सव्वासु जहण्णियरं होइ जहण्णेयराणुभागाणं ।
अंतरमाऊण कमा उक्कोसियराणुभागव्व ॥७०७॥
णवरं देवाउस्स ण अंतरमत्थि त्ति णेव वत्तव्वं ।
आहारमीसजोगे जहण्णइयराणुभागाणं ॥७०८॥
जेट्ठं असंखलोगा मंदरसस्स तिरियाउगस्स भवे ।
तिरिये तह एगिंदियचउपुढवाइगणिगोएसुं ॥७०९॥
सिं सुहमेसु तह वणे कायणपुंसदुअणाणअजएसुं ।
अणयणभवियियरेसुं मिच्छत्तासण्णिगेसुं च ॥७१०॥
मणुसाउगस्स काये णेयं देसूणजेट्ठकायठिई ।
देवाउस्स असंखा परिअट्टाऽचक्खुभवियेसुं ॥७११॥
ओरालकायजोगे उक्कोसाअ पुढवीभवठिईए ।
देसूणतिभागो खलु भवे तिरिक्खमणुआऊणं ॥७१२॥
जहि जाण दुवे समयाऽणुक्कोसरसस्स अंतरं जेट्ठं ।
तहि तेसिं चउसमया गुरुमजहण्णाणुभागस्स ॥७१३॥

(प्रे०) '**सव्वासु**' इत्यादि, सर्वासु-त्रिषष्ट्युत्तरशतलक्षणासु निरवशेषासु आयुर्बन्धार्हासु मार्गणासु प्रत्येकं '**आऊण**' त्ति सम्भाव्यमानबन्धानामायुषां '**जहण्णेयराणुभागाणं**' ति जघन्यरसबन्धस्य अजघन्यरसबन्धस्य च जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तरं क्रमाद् उत्कृष्टरसबन्धवत् अनुत्कृष्टरसबन्धवच्च भवति । किमुक्तं भवति ? जघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरं उत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यान्तरवत् जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरवद् भवति कुतः ? बन्धप्रक्रियासाम्यात् । तद्यथा-उत्कृष्टरसस्य बन्धः कादाचित्कः तथैव जघन्यरसबन्धोऽपि । तथा अजघन्यरसबन्धस्य जघन्यमन्तरम् अनुत्कृष्टरसबन्धस्य जघन्यान्तरवत्, अजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टाऽन्तरवद् भवति, बन्धप्रक्रियासाम्यात् । यथा नरकमार्गणासु तिर्यगाद्यायुष उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना षण्मासाः तथैव तत्र जघन्यरसबन्धस्याप्युत्कृष्टमन्तरं तावत्प्रमाणमेव । अनया रीत्या शेषास्वपि मार्गणासु स्वयमेव भावनीयम्, ग्रन्थविस्तरभयादत्र न दर्श्यते ।

नवरमत्र यो विशेषोऽस्ति स तु ग्रन्थकृतैव दर्श्यते '**णवर**' मित्यादिना, तद्यथा-आहारकमिश्रकाययोगमार्गणायाम् देवायुषो जघन्यरसबन्धस्य अजघन्यरसबन्धस्य चान्तरं मतान्तरेण नास्तीति

न वक्तव्यम्, कुतः ? तत्प्रतिपक्षरसबन्धस्य मार्गणाद्विचरमादिसमयेऽपि प्रवर्तनात्। इदमत्र हृदयम्–उत्कृष्टरसबन्धस्तु मतान्तरेण मार्गणाचरमसमय एव भवति, तत्रैवोत्कृष्टविशुद्धेरभ्युपगमात्। तेनोत्कृष्टरसबन्धस्यान्तरं न भवति सकृत्तद्बन्धानन्तरं मार्गणाया एवाऽपगमात्। तथैव अनुत्कृष्टरसबन्धस्यापि अन्तरं भवितुं नार्हति, सति बन्धे मार्गणाद्विचरमसमयं यावन्नैरन्तर्येण तदुपलम्भात्। इह जघन्याजघन्यरसबन्धान्तरप्रस्तावे तु परावर्त्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धस्य संभवेन परावर्त्तमानपरिणामस्य प्रकृतमार्गणायां नैकधा संभवेन च जघन्यरसबन्धयोरन्तरालेऽजघन्यरसबन्धप्रवर्तनेन समयादन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यरसबन्धस्यान्तरं भवति। अजघन्यरसबन्धयोरन्तराले जघन्यरसबन्धप्रवर्तनेनाजघन्यरसबन्धस्याऽप्यन्तरं समयाच्चत्वारः समया भवतीति। न च उत्कृष्टरसस्तीव्रविशुद्धया बध्यते अतो जघन्यरसस्तीव्रसंक्लेशेनैव बध्यतां येन मतान्तरेणात्रापि अन्तरं न भविष्यति, एतस्मिन् मते तीव्रसंक्लेशस्य मार्गणाचरमसमय एवाभ्युपगमात् इति वाच्यम्। देवायुषः प्रस्तुतत्वेन मन्दविशुद्धयैव तज्जघन्यरसबन्धस्योपलम्भात्।

तथा तिर्यग्गत्योघ एकेन्द्रियौघः **'चउपुढवाइग'** त्ति पृथ्वीकायौघः अप्कायौघः तेजःकायौघः वायुकायौघः **'णिगोए'** त्ति साधारणवनस्पतिकायौघः **'सिं सुहमेसु'** ति सूक्ष्मैकेन्द्रियः सूक्ष्मपृथ्वीकायः सूक्ष्माप्कायः सूक्ष्मतेजःकायः सूक्ष्मवायुकायः वनस्पतिकायौघः काययोगौघः नपुंसकवेदः मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानम् अयतमार्गणाऽचक्षुर्दर्शनं भव्यः अभव्यः मिथ्यात्वम् असंज्ञीति त्रयोविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यगायुषः **'जेट्ठं असंखलोगा मंदरसस्स'** त्ति जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरमसंख्येया लोकाः, कुतः ? प्रस्तुतासु मार्गणासु सूक्ष्माऽपर्याप्तकवेद्यतिर्यगायुर्बन्धकस्य जघन्यरसबन्धकत्वेनाऽसंख्येयलोकेभ्योऽधिकतरस्यान्तरस्यासंभवात्, किमुक्तं भवति–प्रस्तुतमार्गणावर्ती जन्तुः असंख्येयलोकेभ्यः परतो भूयः सूक्ष्मापर्याप्तवेद्यं जघन्यरसान्वितं तिर्यगायुर्बध्नात्येव। न च पृथ्वीकायौघादिमार्गणासु तत्कायस्थितिरेव भवतु, तस्या असंख्येयलोकमितत्वादिति वाच्यम्। तत्कायस्थितेः प्रस्तुताऽन्तरापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वात्। उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरन्तु देशोनोत्कृष्टकायस्थितिरस्ति, अतोऽत्र 'णवर' मित्यादिना जघन्यरसबन्धस्य पृथगुक्तम्।

तथा काययोगौघमार्गणायां मनुष्यायुषो जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोना मार्गणोत्कृष्टकायस्थितिः, यथासंभवं मार्गणाद्यन्तयोरेव तद्बन्धोपलम्भात्, भावना अनुत्कृष्टरसवत्, कुतः ? यथा मनुष्यायुषो अनुत्कृष्टरसबन्धका एकेन्द्रियादयस्तथैव जघन्यरसबन्धका अपि। उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं तु अन्तर्मुहूर्त्तमुक्तं प्राक्, संज्ञिनामेव तद्बन्धकत्वेन अन्तर्मुहूर्तात् परतस्तेषां योगपरावृत्तेः। इति पृथगुक्तेर्हेतुः।

अचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणयोर्देवायुषो जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरम् असंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, साधिकैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्तद्बन्धाभावात्। भावनाऽत्र अनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टा-

न्तरवत् । उत्कृष्टरसस्य बन्धकाः सम्यग्दृष्टयो जघन्यरसस्य तु मिथ्यादृष्टय इति पृथगुक्तौ हेतुः ।

तथौदारिककाययोगमार्गणायां मनुष्यतिर्यगायुषोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं पृथ्वीकायोत्कृष्टभवस्थितेर्देशोन एकत्रिभागः, पृथ्वीकायस्य जन्तोः स्वभवचरमत्रिभागे शेषे सकृत्तज्जघन्यरसबन्धानन्तरं भवचरमान्तर्मुहूर्ते तद्बन्धकरणात् । उत्कृष्टरसबन्धस्य संज्ञिस्वामिकत्वाद्, इह तु एकेन्द्रियस्यापि तज्जघन्यरसबन्धकत्वाच्च पूर्वकृतातिदेशाद् भिद्यते ।

इति प्रथमं जघन्यादिरसबन्धस्य जघन्याद्यन्तरमतिदिश्य पश्चाच्च 'णवर' मित्यादिना कासुचिन्मार्गणासु जघन्यरसबन्धोत्कृष्टान्तरविषयं विद्यमानं विशेषं प्रतिपाद्य अथाजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टान्तरविषयं विशेषं दर्शयति 'जहि' त्यादिना, यस्यां मार्गणायां यावतामायुषामनुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं द्वौ समयौ अस्ति तत्र तावतामजघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टमन्तरं चत्वारः समयाः भवति, कुतः ? विरुद्धरसबन्धप्रयुक्तस्यैव तस्य संभवात् जघन्यरसबन्धस्य चोत्कृष्टतश्चतुःसामयिकत्वात् । किमुक्तं भवति ? उभयत्र विरुद्धरसबन्धप्रयुक्तस्यान्तरस्य संभवेऽपि उत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टतोऽपि द्विसामयिकत्वात् जघन्यरसबन्धस्य तु चतुःसामयिकत्वादिति ॥७०७-७१३॥ गता मार्गणास्वायुषां जघन्याजघन्यरसबन्धस्यान्तरप्ररूपणा । गता एं तस्यां समाप्तमिदमेकजीवाश्रितान्तरद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धे एकजीवाश्रितमन्तरद्वारम् ॥

॥ अथ नवमं सन्निकर्षद्वारम् ॥

गतमेकजीवाश्रयमन्तरद्वारम्, अथ क्रमप्राप्तस्य सन्निकर्षद्वारस्य व्याख्यावसरः, तत्र सन्निकर्षः द्विविधः स्वस्थानपरस्थानभेदात् तत्रापि स्वल्पवक्तव्यत्वात् आदौ तावत् स्वस्थानसन्निकर्षं प्रतिपिपादयिषुरुत्कृष्टरसबन्धविषयं तमोघतो दर्शयन्नाह—

बंधंतो गुरुरसमिगणाणावरणस्स सेसगाण गुरुं । अगुरुं व छठाणगयं एमेव उ बीअविघाणं ॥
(मूलगाथा-७१४)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, इह हि सन्निकर्षः सम्बन्धः, स चोत्तरप्रकृतिसत्कोत्कृष्टादिरसबन्धानां समकाले जायमानानां परस्परं गृह्यते, तेषामेव प्रस्तुतत्वात्, अयं भावः-यदा हि मतिज्ञानावरणादिविवक्षितप्रकृतेर्य उत्कृष्टादिरसबन्धः प्रवर्तते तेन सह भावी अर्थात् तदानीमेव जायमानो यः सजातीयतदन्यश्रुतज्ञानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टादिरसस्य बन्धः सोऽत्र स्वस्थानसन्निकर्षे प्ररूपणीयः, सन्निकृष्टानां समकालादौ वर्तमानत्वाज्जायमानत्वाद् वा परस्परं सम्बन्धितानामर्थानां तेन रूपेण प्ररूपणायाः सन्निकर्षप्ररूपणाशब्दनिर्वचनात्। 'इगणाणावरणस्स' त्ति एकस्य मत्यादिज्ञानावरणस्योत्कृष्टं रसं बध्नन् जीवः 'सेसगाण' त्ति स्वभिन्नानां शेषाणां श्रुतादिज्ञानावरणानाम् 'गुरुं' ति उत्कृष्टं रसं बध्नाति । किमुत्कृष्टमेव बध्नाति ? नेत्याह 'अगुरुं वा' वाकारो विकल्पप्रतिपादनपरस्तेन कदाचित् कश्चित्तेषामनुत्कृष्टरसं बध्नाति तं च 'छठाणगयं' ति षट्स्थानपतितम्, उत्कृष्टरसादनन्तभागहीनमसंख्येयभागहीनं संख्येयभागहीनं संख्येयगुणहीनमसंख्येयगुणहीनमनन्तगुणहीनं वा बध्नातीति भावः । कुत एवम् ? जीवपरिणामवैचित्र्यात्, तद्यथा—नवमगुणस्थानकादधस्तादष्टमादिप्रथमान्तगुणस्थानके संक्लेशेन विशुद्ध्या वा यदा विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टरसो बध्यते तदा तत्सार्धं यस्या यासां वा प्रकृतीनामुत्कृष्टरसो बन्धमर्हति तासामनुत्कृष्टरसोऽपि बध्यते, स चानन्तरोक्तस्वरूपः षट्स्थानपतित इति भावः । प्रकृते ज्ञानावरणानामुत्कृष्टरसः प्रथमगुणस्थानके बध्यते ततोऽन्यतमस्य मत्यादिज्ञानावरणस्योत्कृष्टरसबन्धकाले बध्यमानानां शेषाणां चतुर्णां ज्ञानावरणानां प्रत्येकं न केवलमुत्कृष्टरसो बध्यते किन्तु कदाचित् षट्स्थानपतितोऽनुत्कृष्टरसोऽपि ।

'एमेव' इत्यादि, अनयैव रीत्या द्वितीयस्य दर्शनावरणकर्मणो नवानां निद्रादिप्रकृतीनाम् विघ्नानां पञ्चानां दानाद्यन्तरायाणाञ्चोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो बोध्यः; तथाहि-निद्राया उत्कृष्टरसं बध्नन् शेषाणां निद्रानिद्रादीनां दर्शनावरणानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टरसं वा बध्नाति । एवमेव निद्रानिद्रादीनामष्टानामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः स्वभिन्नशेषाष्टदर्शनावरणैः सह बोध्यः । तथा दानान्तरायस्योत्कृष्टरसं बध्नन् शेषाणां चतुर्णामन्तरायाणां प्रत्येकमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं बध्नाति । एवमेव लाभाद्यन्तरायाणामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः स्वभिन्नैः शेषैः चतुर्भिरन्तरायैः सह बोध्यः ॥७१४॥ अथ वेदनीयादिकर्मणामाह—

तइअस्स बंधमाणो एगं बंधइ ण चेव पडिवक्खं । एवं गोआऊणं छण्हं एमेव सव्वासु ॥
णवरि अवेए सुहुमे णाणावरणस्स एगगुरुबंधी । णियमाऽण्णेसिं जेट्ठं रसमेवं दुइअचरमाणं ॥
(मूलगाथा-७१५-७१६)

(प्रे०) **'तइअस्स'** इत्यादि, तृतीयस्य वेदनीयाख्यस्य कर्मण एकां सातवेदनीयरूपामसातवेदनीयरूपां वा प्रकृतिं बध्नन् प्रतिपक्षां प्रकृतिं नैव बध्नाति । किमुक्तं भवति ? वेदनीयकर्मणः स्वस्थानसन्निकर्षो न भवति इति भावः, विवक्षितसमये द्वयोरन्यतरस्या एवोत्तरप्रकृतेर्बन्धप्रवर्तनात् । अथ गोत्रायुर्विषयमतिदेशमाह-'एव' मित्यादि, गोत्रकर्मण आयुःकर्मणश्चापि स्वस्थानसन्निकर्षो नास्ति, कुतः ? विवक्षितसमये एकस्या एव प्रकृतेर्बन्धप्रवर्तनात्, तद्यथा-नीचैर्गोत्रं बध्नन् उच्चैर्गोत्रं न बध्नाति, नापि उच्चैर्गोत्रं बध्नन् नीचैर्गोत्रमिति । तथैव विवक्षितमनुष्याद्यायुर्बध्नन् शेषाणि त्रीण्यायूंषि नैव बध्नातीति । अर्थौघे प्रस्तुते लाघवार्थं मार्गणासु प्रस्तुतमतिदिशन्नाह 'छण्ह' मित्यादि, ज्ञानावरण-दर्शनावरणा ऽन्तराय-वेदनीय-गोत्रा-ऽऽयुर्लक्षणानामनन्तरप्रतिपादितानां षण्णां कर्मणां स्वस्थानसन्निकर्षप्ररूपणा सर्वासु सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु यथासंभवं 'एमेव' ओघवदेव कर्तव्या । तत्रापि--पञ्चानुत्तरसुरमार्गणा आहारकतन्मिश्रकाययोगौ ज्ञानमार्गणाचतुष्कं संयमौघः सामायिकचारित्रं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकम् देशविरतिमार्गणा अवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकम् उपशमसम्यक्त्वं क्षायिकसम्यक्त्वं मिश्रसम्यक्त्वमिति द्वाविंशतिमार्गणासु निद्राया उत्कृष्टरसं बध्नन् शेषाणां पञ्चानामुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं बध्नातीति वाच्यम् , न तु शेषाणामष्टानां, कुतः ? स्त्यानर्द्धित्रिकस्य तत्र बन्धाभावात् । एवमेव शेषाणां प्रचलादीनां पञ्चानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धसत्कसन्निकर्षः स्वभिन्नपञ्चभिः सह बोद्धव्यः ।

अथ 'एमेव सव्वासु' इत्यनेनातिदिष्टेऽर्थे आपतितामतिप्रसक्तिं परिहरति **'णवरि'** इत्यादिना, अवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोरेकस्या निर्दिष्टसञ्ज्ञाया मतिज्ञानावरणादेरुत्कृष्टरसबन्धकः **'ऽण्णेसिं'** ति स्वेतरासां चतसृणां श्रुतादिज्ञानावरणानां रसमुत्कृष्टं नियमाच्च बध्नाति । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति वचनाद् उत्कृष्टमेव बध्नाति न तु ओघवत् षट्स्थानपतितमपि । कुतः ? नवमदशमगुणस्थानकवर्ती विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टरसं बध्नन् तत्साधं यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसो बन्धमर्हति तासामुत्कृष्टमेव रसं बध्नाति, न त्वनुत्कृष्टमपीति नियमसद्भावात् । तदपि कुतः ? नवमादिगुणस्थानकसत्कविवक्षितविशुद्धिस्थाने वर्तमानस्य रसबन्धाध्यवसायनानात्वाभावात् एकस्यैव रसबन्धाध्यवसायस्य भावादिति भावः । **'दुइअ'** इत्यादि, अनन्तरोक्तवद् दर्शनावरणाऽन्तरायाणामपि ज्ञेयम् । अनन्तरोक्तादेव हेतोः । इह निद्रापञ्चकस्य बन्धानर्हत्वात् दर्शनावरणानां चतुर्णाम् , अन्तरायाणान्तु पञ्चानामपि प्रस्तुतसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद् भवति । तद्यथा-एकस्योत्कृष्टरसबन्धकः शेषाणामुत्कृष्टमेव रसं बध्नातीति ज्ञेयम् ॥७१५-७१६॥

अथ मोहनीयप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानसन्निकर्षं दिदर्शयिषुर्मिथ्यात्वमोहादीनां तं दर्शयन्नाह—

मिच्छणपुंसगसोलसकसायभयकुच्छसोगअरईओ । एगस्स बंधमाणो तिव्वरसं बंधए णियमा ॥
गुरुमुअ छठाणपतितं अगुरुं रसमण्णएगवीसाए । हस्सरईओ गुरुरसबंधी एगस्स इयरस्स ॥
गुरुमुअ छठाणपतितं णियमा धुवबंधिऊणवीसाए । णियमाऽणंतगुणूण बंधेइ सिआ तिवेआणं ॥
(मूलगाथा-७१७-७१९)

(प्रे०) 'मिच्छे'त्यादि, मिथ्यात्वमोहनीयं नपुंसकवेदः षोडशकषाया भयं जुगुप्सा शोकः अरतीति द्वाविंशतेर्मध्यात् 'एगस्स' त्ति एकस्या मिथ्यात्वमोहादेरन्यतमस्या इति भावः, उत्कृष्टं रसं बध्नन् स्वभिन्नैकविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति, प्रथमगुणस्थानके तदुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्तनात्, य एवैकस्योत्कृष्टरसबन्धकः स एव शेषाणामेकविंशतेरिति कृत्वा च ।

अथ नियमादित्यनेन किमुक्तं भवति ? उच्यते,-एकस्या मिथ्यात्वादेरुत्कृष्टरसबन्धकः स्वभिन्नानामिहोक्तानामेकविंशतेरवश्यं बन्धं करोति, तत्र कषायादीनां ध्रुवबन्धित्वात् । नपुंसकवेदशोकारतीनामध्रुवबन्धित्वेऽपि दीर्घतरस्थितिकत्वेन नियमाद् बध्यमानत्वात् ।

अथ हास्यरतिविषयमाह-'हस्सरईओ' इत्यादि, हास्यरतिमध्यादेकस्य हास्यस्य रतेर्वोत्कृष्टरसं बध्नन् इतरस्य स्वभिन्नस्योत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति, प्रागुक्तादेव हेतोः । 'धुवबंधिऊणवीसाए । णियमाऽणंतगुणूणं' ति षोडशकषाया भयजुगुप्से मिथ्यात्वमिति एकोनविंशतेर्ध्रुवबन्धिनीनां नियमादनन्तगुणहीनं च रसं बध्नाति, यतो यो हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धकः स आसामेकोनविंशतेरुत्कृष्टरसबन्धको न भवतीति । कुत एवमिति चेत् ? यो मिथ्यात्वादीनां ध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकः स तु वर्गोत्कृष्टे शोकारती बध्नाति वर्गार्धस्थितिमद्धास्यरत्योस्तु अबन्धको भवतीति कृत्वा । 'सिआ तिवेआणं' हास्यस्य रतेर्वोत्कृष्टरसं बध्नन् त्रयाणां वेदानां स्याद्बन्धकः, विवक्षितसमये अन्यतरस्यैव वेदस्य बन्धप्रवर्तनात् । तस्यापि स्वोत्कृष्टरसादनन्तगुणहीनं रसं बध्नाति, वेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य हास्यरतिबन्धायोगात् । तदपि कुतः ? उच्यते,-नपुंसकवेदस्त्रीवेदयोरशुभत्वे सति उत्कृष्टपदे हास्यरत्यपेक्षया दीर्घतरस्थितिकत्वात्, पुरुषवेदस्य तत्तुल्यस्थितिकत्वेऽपि अशुभतरत्वेन स्वोत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्यसंक्लेशादसंख्येयषट्स्थानेभ्यः प्रागेव शोकारतिबन्धप्रवर्तनेन हास्यरतिबन्धाऽपगमात् ॥७१७-७१९॥

अथ स्त्रीवेदविषयमाह—

थीअ गुरुं बधंतो धुवबंधीण तह सोगअरईणं । णियमाऽणंतगुणूण बंधइ एमेव पुरिसस्स ॥
(मूलगाथा-७२०)

(प्रे०) 'थीअ' इत्यादि, स्त्रीवेदस्योत्कृष्टं रसं बध्नन् 'धुवबंधीण' त्ति स्वस्थानसन्निकर्षस्य प्रस्तुतत्वात् एकोनविंशतेर्मोहनीयध्रुवबन्धिनीनां शोकारत्योश्च स्वोत्कृष्टरसादनन्तगुणहीनं

रसं बध्नाति, ध्रुवबन्धिन्याद्युत्कृष्टरसबन्धकस्य नपुंसकवेदबन्धसद्भावेन स्त्रीवेदबन्धायोगात् । अत्रेदं बोद्धव्यम्–कस्याश्चिदप्रशस्तप्रकृतेरुत्कृष्टरसो यावति संक्लेशे बध्यते तावति संक्लेशे तस्याः सार्धं बध्यमानानामन्यासामप्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टः षट्स्थानपतितोऽनुत्कृष्टो वा, तदधिकसंक्लेशे बध्यमानानां प्रकृतीनां पुनरनन्तगुणहीन एव रसो बध्यते । प्रशस्तप्रकृतिविषयेऽप्ययमेव नियमः । नवरमुत्कृष्टरसबन्धो विशुद्धया वक्तव्यः । अत्र च यः स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकः स ध्रुवबन्धिन्यादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्वामी नास्ति, अतः स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसं बध्नन् ध्रुवबन्धिन्यादीनामनन्तगुणहीनं रसं बध्नातीति तात्पर्यम् । अथ विशेषाभावात् पुरुषवेदे अतिदिशति 'एमेवे'त्यादिना, स्त्रीवेदवत् पुरुषवेदस्योत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो वाच्यः, तद्यथा–पुरुषवेदस्योत्कृष्टं रसं बध्नन् शोकारत्योर्ध्रुवबन्धिनीनामेकोनविंशतेश्चानन्तगुणहीनं रसं बध्नाति । तत्र शोकारत्योर्नियमेन बन्धः, कुतः ? हास्यरत्योर्बन्धविच्छेदानन्तरं पुरुषवेदस्य बन्धविच्छेदात् । इति ओघतो मोहनीयकर्मण उत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षः ॥७२०॥

अथ नामकर्मण ओघतः स्वस्थानसन्निकर्षप्ररूपणां विहाय स्वल्पवक्तव्यत्वात् मोहनीयकर्मण एव आदेशतो मार्गणासु स्वस्थानसन्निकर्षं प्ररूरूपयिषुस्तावत् अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदितसउरलमीसेसु । असण्णे सव्वेगिंदिय-विगलिंदिय-पंचकायेसु ॥
थीअ गुरुं बंधंतो धुवबधीणं इगूणवीसाए । णियमाऽणतगुणूणं जुगलाण सिआ पुमस्सेवं ॥
हस्सरइतिव्वबंधी अण्णयरस्स गुरुमुअ छठाणगयं । णियमाऽणंतगुणूणं धुवणपुमाण इयराण ओघव्व ॥(गीतिः)

(मूलगाथा–७२१-७२३)

(प्रे०) 'असमत्ते' त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् अपर्याप्तमनुष्यः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तत्रसकायः औदारिकमिश्रकाययोगः असंज्ञी 'सव्वेगिंदिय' त्ति सर्वैकेन्द्रियमार्गणाः सर्वशब्दस्येहापि सम्बन्धात् सर्वाः नव विकलेन्द्रियमार्गणाः 'पंचकायेसु' ति सर्वशब्दस्याभिसम्बन्धात् एकोनचत्वारिंशल्लक्षणाः पृथ्व्यादिपञ्चकायसत्काः सर्वमार्गणाश्चेति सर्वसंख्यया एकषष्टिमार्गणासु प्रत्येकं 'थीअ' त्ति स्त्रीवेदस्योत्कृष्टं रसं बध्नन् ध्रुवबन्धिनीनामेकोनविंशतेः नियमादनन्तगुणहीनश्च रसं बध्नाति, सूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकानामेव तदुत्कृष्टरसबन्धसद्भावात्, स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य तु पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेनाऽनन्तगुणहीनसंक्लिष्टत्वात्, ततः किम् ? आसां स्वोत्कृष्टरसादनन्तगुणहीन एव रसो बन्धमर्हति न तूत्कृष्टो न वा षट्स्थानपतित इत्यर्थः । अथ नियमादिति कोऽर्थः ?, स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसः प्रथमगुणस्थानके बध्यते तत्र च तथात्वेन सर्वासामेकोनविंशतिलक्षणानां ध्रुवबन्धिनीनामनवरतमुक्तस्वरूपो बन्धः प्रवर्तते । अत्र हि षष्टिमार्गणासु प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावः इति कृत्वा, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां यद्यपि प्रथमं द्वितीयं चतुर्थमिति त्रीणि गुणस्थानकानि तथापि स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य तु प्रथममेव तत् । न चौदा-

रिकमिश्रमार्गणायां त्रयोदशमपि गुणस्थानकं संभवति, तद् भवद्भिः कुतो न स्मर्यत इति वाच्यम्, रसबन्धस्य प्रस्तुतत्वेन प्रयोजनाभावात्। दशमगुणस्थानकात् परतो रसबन्धस्याभावात्, तदपि कुतः ? 'ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ' इति वचनात्। तत्र च कषायोदयस्याभावात्।

'जुगलाण' त्ति हास्यरती शोकारतीतिरूपयोर्युगलयोः स्यादनन्तगुणहीनश्च बध्नाति। तत्र स्त्रीवेदस्य पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकेतराऽबन्धप्रायोग्यत्वे सति हास्यादियुगलस्य शोकादियुगलवदेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्याऽपि बन्धप्रायोग्यतयाऽधिकाऽधिकतरादिक्रमव्यवस्थितेषु संक्लेशस्थानेषु शोकादियुगलवत् हास्यादियुगलतोऽपि अर्वागेव स्त्रीवेदबन्धस्य विच्छेदस्थानमवाप्यते, तथा च स्त्रीवेदबन्धविच्छेदस्थानादुत्तरवर्तिस्थाने युगलद्वयस्य बन्धविच्छेदविषयतया स्त्रीवेदोत्कृष्टरसं बध्नतस्तयोः स्याद्बन्ध उपलभ्यते। अनन्तगुणहीनत्वं तु सुगमम्, एकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्तदुत्कृष्टरसबन्धसम्भवेन पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः सुतरामनन्तगुणहीनत्वभावादिति।

'पुमस्सेवं' ति पुरुषवेदस्योत्कृष्टं रसं बध्नन् ध्रुवबन्धिनीनामेकोनविंशते रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नातीत्यादि सर्वमनन्तरोक्तवद् वाच्यम्, स्त्रीवेदबन्धकवत् पुरुषवेदबन्धकस्यापि पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वात्। अत्रेदं बोध्यम्—यद्यपि अत्र सर्वोऽपि अविशेषेण स्त्रीवेदवदतिदेशस्तथापि स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धको ध्रुवबन्धिन्यादीनां यावत्प्रमाणं रसं बध्नाति, ततो अनन्तगुणहीनो रसः पुरुषवेदोत्कृष्टरसबन्धकेन बध्यते, स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकापेक्षया पुरुषवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्यानन्तगुणहीनसंक्लिष्टत्वात्।

'हस्सरइ' इत्यादि, हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धकः अन्यतरस्य-स्वेतरस्योत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं बध्नाति। हास्यस्योत्कृष्टरसं बध्नन् रतेः, तस्याश्चोत्कृष्टरसं बध्नन् हास्यस्योक्तस्वरूपं रसं बध्नातीति भावः, उत्कृष्टरसबन्धस्वामिनोरविशेषात्। 'णियमा' इत्यादि, एकोनविंशतेर्ध्रुवबन्धिनीनां नपुंसकवेदस्य च नियमादनन्तगुणहीनं च रसं बध्नाति, शोकारत्युत्कृष्टरसबन्धकस्यैवाऽऽसां विंशतेरुत्कृष्टरसबन्धसद्भावात् हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धकस्य तु तदपेक्षयाऽनन्तगुणहीनसंक्लिष्टत्वाच्चोक्तमनन्तगुणोनमिति। एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्यैव हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धसद्भावेन नपुंसकवेदस्य, हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धकस्य प्रथमगुणस्थानवर्तित्वेन च सर्वासामेकोनविंशतिलक्षणानां ध्रुवबन्धिनीनां बन्धो नियमादित्युक्तम्।

'इयराण' इत्यादि, स्त्रीवेदः पुरुषवेदो हास्यरतीति चतसृणां प्रकृतीनामिहैवोक्तत्वात् उक्तेतरासां नपुंसकवेदः शोकारती एकोनविंशतिध्रुवबन्धिन्य इति द्वाविंशतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्ष ओघवद् भवति, यथौघे तथेहापि तासामुत्कृष्टरस उत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यत इति कृत्वा। नन्वासु मार्गणासु कुत ओघोत्कृष्टसंक्लेशस्य संभव इति चेद्, मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशस्य विवक्षणात् न कश्चिद्दोष इति। ओघवच्चैवम्—नपुंसकवेदस्योत्कृष्टरसं

बध्नन् शोकारत्योरेकोनविंशतेर्ध्रुवबन्धिनीनां च प्रत्येकमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति । हेतुरोघवत् । एवमेव शोकादीनां स्वभिन्नैकविंशतिप्रकृतिभिः सहोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो बोध्यः ॥७२१-७२३॥ अथाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगादिमार्गणासु प्रकृतमाह —

एगरस तिव्वबंधी आहारदुगे अणुत्तरेसु तहा । चउणाणसंजमेसुं समइअछेअपरिहारेसुं ॥
देसावहिसम्मेसुं वेअगखइएसु उवसमे मीसे । हस्सरईओ णियमा इयरस्स गुरुं छठाणपतितं वा ॥(गीतिः)
पडिवक्खा णियरेसिं णियमाऽणंतगुणहीणमण्णाउ । एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुअ छठाणगयं ॥
-(गीतिः) (मूलगाथा-७२४-७२६)

(प्रे०) 'एगरसे' त्यादि, 'आहारदुगे' त्ति आहारककायमार्गणा आहारकमिश्रकाययोगः पश्चाऽनुत्तरसुरमार्गणाश्चत्वारि ज्ञानानि संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकं देशविरतिरवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं क्षायिकमौपशमिकं मिश्रञ्चेति द्वाविंशतौ मार्गणासु हास्यरतिमध्यादेकस्य हास्यस्य रतेर्वा तीव्ररसबन्धी 'इयरस्स' त्ति स्वेतरस्य रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, तुल्यस्थानगतेन तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन तयोरुत्कृष्टरसस्य जायमानत्वेन स्वामिनोरविशेषादुत्कृष्टादि । प्रकृतिबन्धसन्निकर्षस्य तथात्वादुक्तं नियमादिति । 'पडिवक्खा' त्ति प्रतिपक्षे शोकारतीत्यर्थः 'ण' त्ति सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात् नैव बध्येते, युगलयोर्युगपद्बन्धस्य प्रतिषेधात् । 'इयरेसिं' ति शोकारत्योर्बन्धस्य प्रतिषिद्धत्वात् तद्वर्जानां तत्तन्मार्गणाप्रायोग्याणामितरासां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, हास्यरत्योरुत्कृष्टरसबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् इतरासाञ्च तस्य मार्गणाप्रायोग्यसर्वसंक्लिष्टत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । प्रकृतिबन्धसन्निकर्षस्य तथात्वादुक्तं नियमादिति । इमाश्च ता मार्गणाप्रायोग्या इतराः प्रकृतयः-तत्र आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणे मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकमिति सप्तसु मार्गणासु संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से पुरुषवेदश्चेति सप्त । देशविरतिमार्गणायामनन्तरोक्ताः सप्त प्रत्याख्यानावरणचतुष्कञ्चेत्येकादश । पञ्चानुत्तरसुरमार्गणा ज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकं क्षायिकमौपशमिकं मिश्रञ्चेति चतुर्दशसु मार्गणास्वप्रत्याख्यानावरणस्यापि बन्धसद्भावात् तत्सहिताः पञ्चदशेति । 'अण्णाउ' इत्यादि, हास्यरत्योरुक्तत्वात् तद्व्यतिरिक्ताभ्यस्तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याभ्यः सर्वाभ्य इति शेषः, एकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः 'अण्णाण' स्वेतरासां प्रत्येकं रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धकस्य मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टत्वादुक्तमुत्कृष्टादिकम् । तथा प्रकृतिबन्धसन्निकर्षस्य तथात्वादुक्तं नियमादिति । इमाश्च ता अन्याः प्रकृतयः-आहारककाययोगादिषु मार्गणासु नव, तद्यथा-अनन्तरोक्ताः सप्त शोकारती चेति । देशविरतौ अनन्तरोक्ता एकादश शोकारती चेति त्रयोदश । अनुत्तरसुरादिषु चतुर्दशमार्गणासु अनन्तरोक्ताः पञ्चदश शोकारती चेति सप्तदश । इयमत्र भावना-इहोक्तासु अनुत्तरसुरादिषु चतुर्दशसु मार्गणासु शोकस्योत्कृष्टरसबन्धकोऽरतिमोहनीयं द्वादश कषाया भयजुगुप्से

पुरुषवेदश्चेति षोडशानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, एवमेवासां षोडशानां स्वभिन्नैः षोडशभिः सह सन्निकर्षो भवति। आहारकयोगादिमार्गणास्वपि कषायाष्टकं विहाय तथा देशविरतौ अप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं विहाय एवमेव । हास्यरत्योस्तु बन्धोऽत्र न वाच्यः, शोकारतिहास्यरतिरूपयोर्युगलयोर्युगपद्बन्धस्य प्रतिषेधात् मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशे हास्यरत्योर्बन्धाभावाच्चेति ।।७२४-७२६।।अथ अवेदमार्गणायामाह—

संजलणस्स अवेए अण्णयरस्स खलु तिव्वरसबंधी । तिण्हं संजलणाणं णियमा बंधेइ तिव्वरसं ॥
(मूलगाथा-७२७)

(प्रे०) 'संजलणस्से'त्यादि, अवेदमार्गणायामन्यतरस्य संज्वलनस्योत्कृष्टरसबन्धकः स्वभिन्नानां शेषत्रिसंज्वलनानामुत्कृष्टरसं नियमाच्च बध्नाति, तद्यथा-संज्वलनक्रोधस्योत्कृष्टरसं बध्नन् संज्वलनमानमायालोभानां प्रत्येकमुत्कृष्टरसं बध्नाति, न तु अनुत्कृष्टमपि, कुतः ? प्रस्तुतमार्गणायां विवक्षितसमयवर्तिनो जन्तो रसबन्धाऽध्यवसायनानात्वासंभवात् । अथ कुतो नियमादिति चेद् ? उत्कृष्टरसबन्धकस्य संज्वलनचतुष्कबन्धमद्भावात् । एवमेव संज्वलनमानादीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः स्वभिन्नैः संज्वलनक्रोधादिभिः सह बोध्यः, उत्कृष्टसंक्लेशेन संज्वलनचतुष्कस्य युगपद् बध्यमानत्वात् ।।७२७।। अथ सास्वादनमार्गणायामाह—

सासाणे थीसोलसकसायभयकुच्छसोगअरईओ । एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुभ छठाणगयं ।।(गीतिः)
तिव्वरसं बंधतो पुमस्स णियमा अणंतगुणहीणं । बंधइ सोगारइभयकुच्छासोलसकसायाणं ॥
हस्सरईओ गुरुरसबंधी एगस्स बधए णियमा। इयरस्स रसं तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगय ॥
सोलसकसायकुच्छाभयाण णियमा अणंतगुणहीणं । बंधइ पुमथीण सिआ सव्वाणोघव्व सेसासु ॥
(मूलगाथा-७२८-७३१)

(प्रे०) 'सासाणे' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायां स्त्रीवेदः षोडशकषाया भयजुगुप्से शोकारतीति एकविंशतेर्मध्यात् 'एगस्स' त्ति एकस्या उत्कृष्टरसं बध्नन् 'ऽण्णाण' त्ति अन्यासां स्वभिन्नेतरासामित्यर्थः उत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति, तद्यथा-स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसं बध्नन् कषायादीनां विंशतेरुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति । एवमेव कषायादीनां विंशतेः स्वभिन्नविंशत्या सह सन्निकर्षो वाच्यः । इह नपुंसकवेदस्य बन्धाभावात् सर्वसंक्लिष्टेन स्त्रीवेद एव बध्यत इति हेतोरेकविंशतौ स्त्रीवेदस्यान्तर्भावः । शेषं हेत्वादिकमोघवद् विभावनीयम् ।

'पुमस्से' त्यादि, पुरुषवेदस्योत्कृष्टरसं बध्नन् शोकारती भयजुगुप्से षोडशकषाया इति विंशतेः प्रकृतीनां रसं स्वोत्कृष्टरसादनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, पुरुषवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य स्वल्पसंक्लिष्टत्वात् शोकादीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्य तु तीव्रसंक्लिष्टत्वादिति। अथ नियमादिति पदं भाव्यते-तत्र भयादीनां ध्रुवबन्धित्वात् । शोकारत्योरध्रुवबन्धित्वेऽपि पुरुषवेदोत्कृष्टरस-

बन्धकस्य हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्यसंक्लेशादधिकसंक्लेशवत्त्वेन शोकारतिप्रतिपक्षभूतहास्यरत्यो-र्बन्धाभावात् नियमाद् बध्नातीत्युक्तम् ।

'**हस्सरईओ**' इत्यादि, हास्यरत्योरेकस्या उत्कृष्टरसबन्धक इतरस्या रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, एकस्या बन्धोऽपरबन्धाविनाभावीति कृत्वा नियमादित्युक्तम् , य एकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः स एव इतरस्या भवितुमर्हति अत उक्तमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा । षोडशकषायाणां भयजुगुप्सयोश्चानन्तगुणहीनं रसं नियमाच्च बध्नाति, कषायाद्युत्कृष्टरसबन्धकापेक्षया हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धकस्यानन्तगुणहीनसंक्लिष्टत्वात् । तथा कषायादीनां ध्रुवबन्धित्वात् नियमादित्युक्तम् । 'पुमथीणे' इत्यादि, पुरुषस्त्रीवेदयोः प्रत्येकं रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धकेनाऽन्यतरोऽपि वेदो बध्यते, कदाचित् पुरुषवेदः कदाचिच्च स्त्रीवेदः अत उक्तं स्यादिति । वेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य शोकारतिबन्धसद्भावेन हास्यरतिबन्धायोगादुक्तमनन्तगुणहीनं, स्वोत्कृष्टरसादिति गम्यते । वेदोत्कृष्टरसबन्धकापेक्षया हास्यरत्युत्कृष्टरसबन्धकस्याऽनन्तगुणहीनसंक्लिष्टत्वादिति भावः ।

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रकृतं निरूपयिषुः ओघकृतप्ररूपणातो विसदृशत्वाभावात्तत्र तद्वदतिशति–'सव्वाणे' इत्यादिना, पञ्चाशीतिमार्गणाद्धक्तत्वात् सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां मोहनीयबन्धायोगाच्चोक्तशेषासु सर्वासु चतुरशीतिलक्षणासु मार्गणासु मोहनीयोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघवद् ज्ञेयः, यस्याः प्रकृतेरोघप्ररूपणायामुत्कृष्टरसस्तीव्रसंक्लेशेन बध्यते, तस्या इहाऽपि तथा । यस्याश्च तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन उत्कृष्टरसबन्धः इहाऽपि तस्यास्तथा इति कृत्वा । इमाश्च ता उक्तशेषा मार्गणाः–अष्टौ नरकमार्गणाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वर्जाश्चतस्रस्तिर्यग्गतिमार्गणाः, तिस्रो मनुष्यमार्गणाः, पञ्चानुत्तरसुरवर्जपञ्चविंशतिदेवमार्गणाः, द्वौ पञ्चेन्द्रियौ, द्वौ त्रसकायौ, औदारिकमिश्राऽऽहारकतन्मिश्रमार्गणाद्धक्तत्वात् योगमार्गणाः पञ्चदश, त्रयो वेदाः, चत्वारः कषायाः, अज्ञानत्रिकम् , अयतः, चक्षुरचक्षुर्दर्शने, लेश्यामार्गणाः षट् ,भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वं, संज्ञी, आहारी, अनाहारी चेति चतुरशीतिरिति । गतः स्वस्थानतो नामवर्जसप्तकर्मोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः ॥७२८–७३१॥ अथ नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षं दिदर्शयिषुरादौ ओघतस्तमाह–

णिरयदुगा बधंतो गुरुरसमेगस्स बंधए णियमा । तिव्वमुअ छठाणगयं रसं अतिव्वमियरस्स तहा ॥
हुंडअथिरछगअसुहखगइधुवबंधीण बधए णियमा । सेसाणिरयजोग्गाणं सत्तरसण्हं अणंतगुणहीणं ॥(गीतिः)

(मूलगाथा–७३२-७३३)

(प्रे०) '**णिरयदुगा**' इत्यादि, नरकद्विकमध्यादेकस्योत्कृष्टरसं बध्नन् इतरस्य-स्वेतरस्य नरकगतिनाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् नरकानुपूर्वीनाम्नः, तस्य चोत्कृष्टं बध्नन् निरयगतिनामकर्मण इत्यर्थः, तथा हुंडकसंस्थाननामाऽस्थिरषट्कमप्रशस्तविहायोगतिनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपमप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकञ्चेति त्रयोदशानाञ्च रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमा-

ञ्च बध्नाति, यो नरकगतिनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः स आसामपि उत्कृष्टरसबन्धको भवितुमर्हतीति कृत्वा। 'सेसे' त्यादि शेषाणां नरकगतिप्रायोग्याणां नरकगतिनाम्ना सह बध्यमानानामित्यर्थः सप्तदशानां रसं नियमादनन्तगुणहीनं च बध्नाति, तासां प्रशस्तत्वात्। ततः किम्? अप्रशस्तप्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धे प्रवर्तमाने तत्साधं बध्यमानानां प्रशस्तानां प्रकृतीनामनन्तगुणहीन एव रसो बध्यते इति नियमस्य सद्भावात्। तदपि कुतः? विशुद्धिकाल एव शुभानामुत्कृष्टरसबन्धस्य भावात्। इमाश्च ताः सप्तदश प्रकृतयः-पञ्चेन्द्रियजातिनाम वैक्रियशरीरतदङ्गोपाङ्गनाम्नी तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं पराघातोच्छ्वासनाम्नी अगुरुलघुनाम निर्माणनाम त्रसचतुष्कञ्चेति ॥७३२-७३३॥ अथ तिर्यग्द्विकस्योत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षं दर्शयति-

तिरियदुगा बंधंतो गुरुरसमेगस्स बंधए णियमा। इयरस्स तहा हुंडगवणअथिराइअसुहधुवाणं ॥
तिव्वमुअ छठाणगयं रसं अतिव्वं सिआ उ बंधेइ। एगिंदियछेवट्ठगथावरदुस्सरकुखगईणं ॥
सुहधुवुरलपरघूसासबायरतिगाणऽणंतगुणहीणं। णियमा सिआयवजुगलपणिंदितसउरलुवंगाणं ॥
(मूलगाथा-७३४-७३६)

(प्रे०) 'तिरियदुगा' इत्यादि, तिर्यग्द्विकमध्यादेकस्य तिर्यग्गतिनाम्नस्तिर्यगानुपूर्वीनाम्नो वोत्कृष्टं रसं बध्नन् 'इयरस्स' स्वेतरस्य तथा हुंडकं दुःस्वरस्यान्यथावक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जास्थिरादिपञ्चकमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातनामलक्षणाः पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्य इति एकादशानां च रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, सर्वासामुत्कृष्टरसस्य सर्वसंक्लेशाज्जायमानत्वादासां तुल्यस्थितिकत्वे सति सर्वेषां तिर्यग्द्विकोत्कृष्टरसबन्धकानां तद्बन्धकत्वादुक्तं नियमादिति। 'एगिंदिये' त्यादि, एकेन्द्रियजातिनाम सेवार्तसंहनननाम स्थावरनाम दुःस्वरनाम कुखगतिनाम चेति पञ्चानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, यदीशानान्तदेवस्तद्बन्धकस्तदा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नी बध्नाति, यदि नारकाः सनत्कुमारादयो देवा वा तर्हि ते न बध्नन्ति, भवप्रत्ययात्, तिस्रस्तु नारकाः सनत्कुमारादयो देवाश्च बध्नन्ति, ईशानान्ता न बध्नन्ति तत उक्तं स्यादिति। 'सुहधुवे' त्यादि, तैजसकार्मणशरीरनामप्रशस्तवर्णादिचतुष्कागुरुलघुनिर्माणरूपा अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम बादरत्रिकञ्चेति चतुर्दशानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति। तद्यथा-प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनम्। अथ नियमादिति पदस्य भावना-तत्राऽष्टानां ध्रुवबन्धित्वात् शेषाणां षण्णामपि देवनारकानाश्रित्य ध्रुवबन्धित्वात् तेषामेव तिर्यग्द्विकोत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वाच्च। 'सिआ' इत्यादि आतपनामोद्योतनाम पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामेति पञ्चानामनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति। प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनम्। किमुक्तं भवति? अप्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धे प्रवर्तमाने तत्साधं बध्यमानानां प्रशस्तप्रकृतीनामनन्तगुणहीन एव रसो बध्यते इति नियमसद्भावात्। आतपनाम कतिपया ईशानान्तदेवा एव बध्नन्ति न नारका न वा सर्वे ईशानान्तदेवाः। उद्योतना-

मापि केचनैव बध्नन्ति न तु सर्वे तिर्यग्द्विकोत्कृष्टरसबन्धकाः, शेषप्रकृतित्रयस्य बन्धका नारकाः सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवाश्च, न पुनरीशानान्तदेवाः, अत उक्तं स्यादिति । तिर्यग्द्विकोत्कृष्ट-रसबन्धकेषु केचन बध्नन्ति केचन नेति भावः ॥७३४-७३६॥

अथ मनुष्यद्विकादीनां प्रस्तुतमाह—

एगस्स तिव्वबंधी णरउरलदुगवइराउ बंधेइ । णियमाऽण्णाण चउण्हं गुरुमगुरुं वा छठाणगयं ॥
परघूसासतसदसगसुखगइआगिइपणिंदियधुवाण । णियमाऽणंतगुणूणं बंधेइ सिआ खलु जिणस्स ॥
(मूलगाथा–७३७–७३८)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचरूपप्रकृतिपञ्चकमध्या-देकस्या उत्कृष्टं रसं बध्नन् 'ऽण्णाण' त्ति अन्यासां स्वेतरासां चतसृणामुत्कृष्टं षट्स्थानपति-तमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति,तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामविशेषात् ,सम्यग्दृष्टिदेवानां मतान्त-रेण तादृशां नारकाणां च तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वेन एकस्या उत्कृष्टरसबन्धे प्रवर्तमाने शेषाणां बन्धस्यावश्यं प्रवर्तनादुक्तं नियमादिति । 'परघू' इत्यादि, पराघातनाम उच्छ्वासनाम त्रसदशकं प्रशस्तविहायो-गतिः समचतुरस्रसंस्थानं पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यश्चेति सर्वसंख्यया अष्टाविंशतेर्नियमाद-नन्तगुणहीनं च रसं बध्नाति, मनुष्यद्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धकैरनवरतं बध्यमानत्वादुक्तं नियमादिति। अष्टमगुणस्थानकवर्तिनां तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वादशुभध्रुवप्रकृतीनां पुनः प्रथमगुणस्थानके उत्कृष्ट-रसबन्धप्रवर्त्तनादनन्तगुणहीनमिति । 'सिआ' इत्यादि, जिननाम्नोऽनन्तगुणहीनं स्यादेव च बध्नाति, तत्राऽनन्तगुणहीनत्वे हेतुरनन्तरोक्तः केषाञ्चिदेव तद्बन्धकत्वादुक्तं स्यादिति, न सर्वे मनुष्यद्विकोत्कृष्टरसबन्धका जिननाम बध्नन्तीति भावः ॥७३७-७३८॥अथ देवद्विकादिविषयमाह—

सुरविउवदुगपणिदियतसनवगसुखगइआगिइधुवाओ । परघाऊसासाओ बंधंतो तिव्वमेगस्स ॥
णियमा पणवीसाए सेसाणं बंधए रसं तिव्वं । छट्ठाणगयमतिव्वं तित्थाहारजुगलाण सिआ ॥
बंधइ जसपंचअसुहधुवबंधीणं अणंतगुणहीणं । णियमाहिन्तो एवं तित्थाहारजुगलाण भवे ॥
(मूलगाथा–७३९-७४१)

(प्रे०) 'सुरविउवे' त्यादि, देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्यशःकीर्त्तेर्वक्ष्यमाणत्वा-त्तद्वर्जत्रसनवकं सुखगतिः प्रथमसंस्थानं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पराघातोच्छ्वासौ चेति षड्विं-शतिप्रकृतीनां मध्यादेकस्या उत्कृष्टं रसं बध्नन् शेषाणां स्वभिन्नानां पञ्चविंशते रसमुत्कृष्टं षट्स्थान-पतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, स्वामिनोऽविशेषादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि । देवप्रायोग्य-बन्धकानामपूर्वकरणक्षपकाणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् देवप्रायोग्योत्कृष्टरसबन्धकानाञ्चानवरतं तद्बन्धप्रवर्तनाद् नियमादिति । 'तित्थे' त्यादि, जिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणां बन्धं स्यात् करोति, कश्चित् करोति कश्चिच्च नेति भावः, केषाञ्चिदेव तद्बन्धकत्वात् । रसं चोक्तस्वरूप-मुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा बध्नाति; स्वामिनोऽविशेषात् , सर्वासामेकोनत्रिंशल्ल-क्षणानामुत्कृष्टरसबन्धकस्य निवृत्तिबादरक्षपकत्वात् । 'जसे' त्यादि, यशःकीर्तिनाम्नोऽप्र-

शस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपाणां पञ्चानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनाञ्च रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । मध्यथा–यशःकीर्तेरुत्कृष्टरसः सूक्ष्मसंपरायचरमसमये बध्यते, प्रस्तुतबन्धकस्तु अष्टम-गुणस्थानवर्ती, अयं च तदपेक्षयाऽनन्तगुणहीनविशुद्धस्ततः सुष्ठूक्तमनन्तगुणहीनमिति । तथाऽप्र-शस्तानामुत्कृष्टरसः संक्लेशसाध्यः प्रस्तुतबन्धकस्तु विशुद्धः अतोऽयं स्तोकमनन्तगुणहीनमेवासां पञ्चानां रसं बध्नाति । अथ तुल्यवक्तव्यत्वात् जिननामादीनां प्रस्तुतसन्निकर्षमतिदिशति 'एव' मित्यादिना, एवमनन्तरोक्तवत् जिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरस-बन्धसन्निकर्षो वाच्यः । मध्यथा–जिनानाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन्निहोक्तानां देवद्विकाद्युच्छ्वास-पर्यवसानानां षड्विंशतेः प्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति । आहा-रकतदङ्गोपाङ्गनाम्नोस्तूक्तस्वरूपं रसं स्याच्च बध्नाति । आहारकशरीरनाम्न उत्कृष्टरसबन्धको देवद्विकादीनां षड्विंशतेः प्रकृतीनामाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नश्च रसमुत्कृष्टं षड्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, जिननाम्नस्तूक्तस्वरूपं रसं स्याच्च बध्नाति । आहारकाङ्गोपाङ्गनाम्न उत्कृष्टरसबन्धको देवद्विकादीनां षड्विंशतेराहारकशरीरनाम्नश्चोत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति । जिननाम्न उत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं स्याच्च बध्नाति । यशःकीर्तिपञ्चाप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति ॥७३९-७४१॥

अथैकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः प्रस्तुतमाह—

एगस्स तिव्वबंधी एगिंदियथावराउ णियमाओ । इयरस्स तहा तिरिदुगहुंडअसुहधुवपणाथिराईणं ॥ (गीतिः)
तिव्वसुभ छठाणगयं परघाऊसासबायरतिगाणं । सुहधुवुरलाण णियमाऽणंतगुणूणं सिआयवदुगस्स ॥(गीतिः)
(मूलगाथा-७४२-७४३)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाममध्यादेकस्योत्कृष्टरसबन्धी 'इयरस्स' तदितरस्य तथा तिर्यग्द्विकं हुंडकं पञ्चाप्रशस्तध्रुवबन्धिन्य एकेन्द्रियजातिबन्धकस्य स्वरबन्धायोगात् दुःस्वरवर्जमस्थिरादिपञ्चकञ्चेति चतुर्दशानाञ्च रसमुत्कृष्टं पटस्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, स्वामिनोऽविशेषात्, यथा एकेन्द्रियजातिनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टस्तथा शेषाणां चतुर्दशानामपि अत उक्तमुत्कृष्टमित्यादि । एकेन्द्रियजातिनामोत्कृष्टरसबन्धकस्य शेषचतु-र्दशानामनवरतं बन्धप्रवर्तनाद् नियमादित्युक्तम् । तथा 'परघा' इत्यादि, पराघातनामोच्छ्वा-सनाम बादरत्रिकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ औदारिकशरीरनाम चेति चतुर्दशानां रसं प्रशस्तत्वा-दनन्तगुणहीनम्, एकेन्द्रियजातिनामोत्कृष्टरसबन्धकेनाविच्छिन्नतया तासां बध्यमानत्वेन निय-माच्च बध्नाति । आतपनामोद्योतनाम्नोरनन्तगुणहीनं, प्रशस्तत्वात्, केषाञ्चिदेव तद्बन्धप्रवर्तनाच्च स्याद् बध्नाति ॥७४२-७४३॥ अथ द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमाह—

विगलाण तिव्वबंधी सेसाण अपज्जविगलजोग्गाणं । अडवीसाए णियमा बंधेइ अणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा-७४४)

(प्रे०) 'विगलाणे' त्यादि, द्वीन्द्रियजाति त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजातिनाम्नां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धी शेषाणामपर्याप्तविकलेन्द्रियप्रायोग्याणामष्टाविंशते रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, द्वीन्द्रियादिजातिनाम्न उत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशादिना बध्यमानत्वात् । किमुक्तं भवति ? अष्टाविंशतेरनन्तगुणहीन एव रसो बध्यते न तूत्कृष्टो न वा षट्स्थानपतितोऽनुत्कृष्टः,कुत एवं? शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य यथासंभवं ततोऽधिकसंक्लेशेन विशुद्धया वा बध्यमानत्वात् । तथा द्वीन्द्रियादिजातेर्बन्धे प्रवर्तमानेऽष्टाविंशतेरपि बन्धः प्रवर्त्तते अत उक्तं नियमादिति । इमाश्च ता अष्टाविंशतिप्रकृतयः–तिर्यग्द्विकम् औदारिकद्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी हुंडकं सेवार्तं शुभवर्णादिचतुष्कमशुभवर्णादिचतुष्कमगुरुलघुनाम निर्माणोपघातनाम्नी त्रसबादरापर्याप्तप्रत्येकनामानि दुःस्वरस्य पर्याप्तप्रायोग्यत्वात् तद्वर्जमस्थिरादिपञ्चकञ्चेति अष्टाविंशतिरिति ।।७४४।।

अथ द्वितीयसंहनननाम्नः प्रकृतमाह—

तिव्वरसं बंधंतो संघयणस्स दुइअस्स तिव्वमुअ । छट्ठाणगयमतिव्वं बंधइ दुइआगिईअ सिआ ॥
धुवउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । अथिरछगकुखगईणं णियमाउ अणंतगुणहीणं ॥
तिरिणरदुगचउआगिइउज्जोआणं अणतगुणहीणं । बंधइ सिआऽणुभागं एवं दुइआगिईअ भवे ॥

(मूलगाथा-७४५-७४७)

(प्रे०) 'तिव्वरस' मित्यादि, ऋषभनाराचाख्यस्य द्वितीयस्य संहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् न्यग्रोधाख्यस्य द्वितीयस्य संस्थाननाम्न उत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं स्याच्च बध्नाति, अप्रशस्तत्वे सति द्वादशकोटिकोटिसागरोपमात्मकतत्तुल्यस्थितिकत्वात् ।.तथा द्वितीयसंहननोत्कृष्टरसबन्धकस्य द्वितीयादिषष्ठान्तानां पञ्चानां संस्थानानां मध्यादन्यतमस्यापि संस्थानस्य बन्धसंभवादुक्तं स्यादिति । 'धुवे' त्यादि, प्रशस्तवर्णादिचतुष्काऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातनामतैजसकार्मणशरीरनामाऽगुरुलघुनामनिर्माणनामरूपास्त्रयोदशध्रुवबन्धिन्य औदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसचतुष्कमस्थिरषट्कं कुखगतिश्चेत्येकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, प्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्तीव्रविशुद्धेनाऽप्रशस्तानाञ्च तीव्रसंक्लिष्टेन बध्यते अयं च बन्धको न तथा, किन्तु मध्यमसंक्लिष्टो अत उक्तमनन्तगुणहीनमिति । तथा तत्प्रकृतिबन्धसन्निकर्षस्य तथात्वादस्थिरषट्ककुखगतिप्रतिपक्षभूतस्थिरादिप्रकृतीनामेतावत्संक्लेशे बन्धाभावाच्चोक्तं नियमादिति । 'तिरिणरदुग' इत्यादि, तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं 'चउआगिइ' तृतीयादिषष्ठान्तानि चत्वारि संस्थानानि उद्योतनाम चेति नवानां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति,अनन्तगुणहीनत्वेऽनन्तरोक्त एव हेतुः । उद्योतनाम्नो बन्धस्य कादाचित्कत्वात् तिर्यग्द्विकादीनां च प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसंभवादुक्तं स्यादिति । अथ बहुसमानवक्तव्यत्वाद् द्वितीयसंस्थाननाम्नः प्रकृतमतिदिशति 'एवं दुइआगिईअ' इत्यादिना, एवमनन्तरोक्तवत् द्वितीयसंस्थाननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो भवति, तद्यथा–द्वितीयसंस्थाननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् द्वितीयसंहनननाम्नो रसमुत्कृष्टं

षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, इहोक्तानां ध्रुवबन्धिन्यादीनामेकोनत्रिंशतो रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं तृतीयादिषष्ठान्तानि चत्वारि संहननानि उद्योतनाम चेति नवानां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । अत्र हेत्वादिकं प्रागुक्तं बोध्यम् । ॥७४५-७४७॥ अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् तृतीयादिसंस्थानसंहनननाम्नां प्रस्तुतसन्निकर्षं सविशेषमतिदिशति—

एवं संघयणागिइतइआईतिगस्स होइ णवरि कमा । दुइआई णो बंधइ तइआईण गुरुसुभ छठाणगयं ॥
संघयणआगिईणं गुरुं तुरिअपंचमाण बंधंतो । णो चेव खलु णरदुगं बंधइ णियमा तिरिदुगस्स ॥
(मूलगाथा–७४८ ७४९)

(प्रे०) 'एव' मित्यादि, अनन्तरोक्तद्वितीयसंहननसंस्थानोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षवत्, तृतीयादिसंहननसंस्थानत्रिकयोरुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो भवति । किमविशेषेणाऽनन्तरोक्तवद् भवति ? नेत्याह 'णवरि' इत्यादि । इदमुक्तं भवति–तृतीयसंहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् द्वितीयसंस्थानं न बध्नाति, तद्बन्धस्याल्पसंक्लेशसाध्यत्वात् । तदपि कुतः ? उत्कृष्टतोऽपि तस्य द्वादशकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकत्वात्, प्रस्तुतबन्धकेन तु चतुर्दशकोटिकोटिसागरमिता स्थितिर्बध्यते अतोऽयं द्वितीयसंस्थानं बन्द्धुं नार्हतीति भावः । तृतीयसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । चतुर्थसंहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् तृतीयसंस्थाननाम न बध्नाति, उत्कृष्टतोऽपि तस्य चतुर्दशकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकत्वात् प्रस्तुतबन्धकेन तु षोडशकोटिकोटिसागरोपममिता स्थितिर्बध्यते । चतुर्थसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । पञ्चमसंहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् चतुर्थसंस्थाननाम न बध्नाति, उत्कृष्टतोऽपि तस्य षोडशकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्त्वष्टादशकोटिकोटिसागरोपममितां स्थितिं बध्नाति । पञ्चमसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, तुल्यस्थितिकत्वादुत्कृष्टमित्यादि, चरमस्य संस्थाननाम्नो बन्धस्य संभवाच्च स्यादिति । तृतीयादिसंस्थानत्रिकेऽपि अनन्तरोक्तवद् भावनीयम् । नवरं संस्थानस्थाने संहननं तथा संहननस्थाने संस्थानमिति शब्दव्यत्ययः कर्तव्य इति ।

तथा चतुर्थपञ्चमयोः संहननसंस्थाननाम्नोः प्रत्येकमुत्कृष्टं रसं बध्नन् मनुष्यद्विकं नैव बध्नाति, कुतः ? मनुष्यद्विकस्योत्कृष्टतोऽपि पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपममितस्थितिकत्वात्, चतुर्थादिसंहननप्रमुखोत्कृष्टरसबन्धकेन तु बध्यमानानां कर्मणां षोडशादिकोटिकोटिसागरोपममिता स्थितिर्बध्यते इति । तथा तिर्यग्द्विकं नियमाद् बध्नाति न तु स्यात्, तत्प्रतिपक्षभूतस्य मनुष्यद्विकस्य बन्धाभावात् ।

भावार्थस्त्वयम्–तृतीयसंहनननाम्न उत्कृष्टं रसं बध्नन् तृतीयसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नं वर्णाद्यष्टकमुपघातनाम तैजसकार्मणशरीरनाम्नी अगुरुलघुनाम निर्माणनाम चेति त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्य औदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कमस्थिरषट्कं कुखगतिरिति सर्वसंख्य-

यैकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं चतुर्थादिषष्ठान्तानि त्रीणि संस्थानानि उद्योतनाम चेति अष्टानां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । चतुर्थसंहनननाम्न उत्कृष्टं रसं बध्नन् चतुर्थसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति। अनन्तरोक्तानामेकोनत्रिंशतस्तिर्यग्द्विकस्य च रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति। पञ्चमषष्ठसंस्थाननाम्नी उद्योतनाम चेति त्रयाणामनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । पञ्चमसंहनननाम्न उत्कृष्टं रसं बध्नन् पञ्चमसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति। अनन्तरोक्तानामेकत्रिंशतोऽनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । षष्ठसंस्थाननामोद्योतनाम चेति प्रकृतिद्वयस्य रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति। तृतीयादिपञ्चमान्तानां त्रयाणां संस्थाननाम्नामप्येवमेव। नवरं संहननसंस्थाननाम्नोर्व्यत्ययः कार्यः, संस्थानस्थाने संहननम् संहननस्थाने च संस्थानमिति वक्तव्यमिति भावः ॥७४८-७४९॥

अथ सेवार्ताख्यस्य षष्ठस्य संहनननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमाह—

छेवट्ठतिव्वबंधी णियमा गुरुमुअ छठाणगयमगुरुं । तिरिदुगहुंडअसुहधुवबधिअथिरछगकुखगईणं ॥
सुहधुवुग्लदुगपरघाऊसासपणिंदितसचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणूणं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
(मूलगाथा-७५०-७५१)

(प्रे०) 'छेवट्ठे'त्यादि, सेवार्त्ताख्यस्य षष्ठस्य संहनननाम्न उत्कृष्टरसबन्धी तिर्यग्द्विकं हुंडकसंस्थानमप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपम् अस्थिरषट्कं कुखगतिश्चेति पञ्चदशानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, उत्कृष्टरसबन्धस्वामिनोऽविशेषात्। सेवार्त्तोत्कृष्टरसबन्धकवत् तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धकस्याऽपि सर्वोत्कृष्टसंक्लिष्टत्वादुक्तमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वेति। तथाऽध्रुवबन्धिनीनामपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादुक्तं नियमादिति। 'सुहधुवे'त्यादि, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकमौदारिकद्विकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसचतुष्कञ्चेति सप्तदशानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तासां प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु तीव्रसंक्लिष्टत्वेन स्वबन्धप्रायोग्याणां शुभप्रकृतीनां रसस्य स्वल्पस्यैव बन्धनादुक्तमनन्तगुणहीनमिति। सेवार्त्तोत्कृष्टरसबन्धकानां देवनारकाणामित्यर्थः आसामनवरतं बन्धोपलम्भाद् नियमादिति। तथा 'उज्जोअस्स' इत्यादि, उद्योतनाम्नोऽनन्तगुणहीनं, प्रशस्तत्वात्, सर्वेषां तद्बन्धाभावाच्च स्यात् बध्नाति, सेवार्त्तोत्कृष्टरसबन्धकेन कदाचित् केनचिदेव उद्योतनाम बध्यते, न तु सर्वेण, न वा सर्वदेति ॥७५०-७५१॥ अथ हुंडकसंस्थाननामादीनां प्रस्तुतमाह—

एगस्स तिव्वबंधी हुंडअसुहधुवपणाऽथिराईओ । बंधइ णियमा तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
णिरयतिरिदुगेगिंदियथावरछेवट्ठकुखगइसराणं । बंधेइ सिआ तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
सुहधुवबाग्रतिगपरघाऊसासाणऽणंतगुणहीणं । णियमा सिआ पणिंदियतसुरलविउवायवदुगाणं ॥
(मूलगाथा-७५२-७५४)

(प्रे०) 'एगरस्से'त्यादि, हुंडकमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपमशुभध्रुवबन्धिनीपञ्चकं दुःस्वर-स्यान्यथा वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जा अस्थिरादयोऽयशःकीर्त्तिनामान्ताः पञ्च चेति सर्वसंख्ययैका-दशप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धी स्वभिन्नानां दशानां प्रत्येकमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति । स्वामिनोऽविशेषात् उत्कृष्टमित्यादिकम् । हुंडकाद्युत्कृष्टरसबन्धकस्य विंशतिसागरोपमकोटिकोटिस्थितिबन्धसद्भावेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावान्नियमादिति ।

तथा 'णिरये'त्यादि, नरकद्विकं तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सेवार्तसंहननं कुखगतिः कुशब्दस्येहापि सम्बन्धात् कुस्वरनाम दुःस्वरनामेत्यर्थ इति नवानां प्रत्येकं रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतित-मनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, हुंडकादिवदासामपि तीव्रसंक्लेशेनैवोत्कृष्टरसबन्धः अत उक्तमुत्कृष्ट-मित्यादिकम् । तुल्यसंक्लिष्टत्वेऽपि स्वामिनां नानात्वादुक्तं स्यादिति, तद्यथा-तीव्रसंक्लिष्टा देवनारकास्तिर्यग्द्विकं सेवार्त्तनाम बध्नन्ति, न तथाविधास्तिर्यङ्मनुष्या अपि । तीव्रसंक्लिष्टा ईशाना-न्तदेवा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नी बध्नन्ति, न तथाविधाः शेषदेवास्तिर्यङ्मनुष्या नारका वा । तीव्रसंक्लिष्टास्तिर्यङ्मनुष्या नरकद्विकं बध्नन्ति, न देवनारका अपि । कुखगतिदुःस्वरनाम्नी तीव्र-संक्लिष्टाः तिर्यग्मनुष्याः तथाविधा नारकाः सनत्कुमारादयः सहस्रारान्ता देवाश्च बध्नन्ति, न तथा-विधाः शेषदेवा अपि । सेवार्तनाम तीव्रसंक्लिष्टा नारकास्तथाविधाः सनत्कुमारादयः सहस्रारान्ता देवा वा बध्नन्ति, न तिर्यङ्मनुष्याः न वा शेषदेवाः । कतिपयान् तदुत्कृष्टरसबन्धकानाश्रित्य तद्बन्ध उपलभ्यते कतिपयान् चाश्रित्य नेति भावः ।

तथा 'सुहधुवे' त्यादि प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं बादरत्रिकं पराघातोच्छ्वासनाम्नीति त्रयो-दशानामनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तासां प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु संक्लिष्टत्वादुक्त-मनन्तगुणहीनम् । नियमादिति तु सर्वेषां हुंडकाद्युत्कृष्टरसबन्धकानां तद्बन्धप्रवर्तनात् । तद्यथा-देवनारकाणां बादरत्रिकपराघातोच्छ्वासा भवप्रत्ययेन ध्रुवबन्धाः । तथा तीव्रसंक्लिष्टानां तिर्यङ्-मनुष्याणां नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन तेषां तद्बन्धस्यावश्यकमिति ।

तथा 'पणिंदिये' त्यादि पञ्चेन्द्रियजातिनाम त्रसनामौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमातपोद्योत-रूपमातपद्विकञ्चेति अष्टानामनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, तासां प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनमिति । स्यादिति तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् , तद्यथा-प्रस्तुता हुंडकाद्युत्कृष्टरसबन्धका ईशानान्ता देवा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नी बध्नन्ति, तथाविधाः शेषदेवा नारकास्तिर्यङ्मनुष्याश्च पञ्चेन्द्रिय-जातित्रसनाम्नी । देवनारका एवौदारिकद्विकं बध्नन्ति, तिर्यङ्मनुष्यास्तु वैक्रियद्विकम् । आतपोद्यो-तनाम्नोस्तु बन्धस्यैव कादाचित्कत्वात् , एवं कस्यचित् कदाचित् वा तद्बन्धप्रवर्तनेन तद्बन्धका-नामनवरतं तद्बन्धाभावादुक्तं स्यादिति । कदाचित् केनचिद् बध्यते कदाचित् केनचिच्च नेति भावः ॥७५२-७५४॥ अथाऽप्रशस्तविहायोगतिनामोत्कृष्टरसबन्धकमाश्रित्याह—

कुखगइगुरुरसबंधी तिव्वमतिव्वं छठाणपडिअं वा । बंधइ सिआऽणुभागं णारगतिरिदुगछिवट्ठाणं ॥
बंधइ विउवुरलदुगुज्जोआण सिआ अणंतगुणहीणं । णियमा पणिंदिसुहधुवपराघाऊसासतसचउक्काणं ॥
(गीतिः)
णियमा बंधेइ रसं हुंडगअसुहधुवअथिरछक्काणं । तिव्वमुअ छठाणगयमतिव्वं खलु दुस्सरस्सेवं ॥
(मूलगाथा–७५५-७५७)

(प्रे०) '**कुखगई**'त्यादि, अप्रशस्तविहायोगतिनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः नारकद्विकं तत्तद्वतोरभेदोपचाराद् नरकद्विकमित्यर्थस्तिर्यग्द्विकं सेवार्तसंहनननाम चेति पञ्चानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, अप्रशस्तत्वे सति तुल्यस्थितिकत्वात् उत्कृष्टरसबन्धस्वामिनोऽविशेषाच्चोक्तमुत्कृष्टादिकम् । केषाञ्चिदेव तद्बन्धसम्भवादुक्तं स्यादिति, **तद्यथा**–कुखगत्युत्कृष्टरसबन्धकाः तिर्यङ्मनुष्या नरकद्विकं बध्नन्ति, न तिर्यग्द्विकं न वा सेवार्तनाम, तेषां नरकप्रायोग्यबन्धकत्वात् । देवनारकास्तिर्यग्द्विकं सेवार्तनाम च बध्नन्ति न नरकद्विकं, तेषां भवप्रत्ययेनैव तद्बन्धायोगात् । तथा '**विउवे**' त्यादि, वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकमुद्योतनाम चेति पञ्चानामनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, तेषां प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । कुत एवम् ? उच्यते, संक्लिष्टः स्वबन्धप्रायोग्याणां प्रशस्तानां प्रकृतीनां स्वल्पमेव रसं बध्नातीति कृत्वा । स्यादिति तु केषाञ्चिदेव तद्बन्धकत्वात्, **तद्यथा**–वैक्रियद्विकं तिर्यङ्मनुष्या एव बध्नन्ति न देवनारका अपि । औदारिकद्विकमुद्योतनाम च देवनारका एव बध्नन्ति, न तिर्यङ्मनुष्या अपि, तेषां नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेनौदारिकद्विकादिबन्धायोगात् । तथा '**पणिंदि**' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियजातिनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कमिति पञ्चदशानां प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनं बध्नाति, नियमाच्चनवरतं सर्वैश्च तदुत्कृष्टरसबन्धकैर्बध्यमानत्वात्, **तद्यथा**–कुखगत्युत्कृष्टरसबन्धकाः तिर्यङ्मनुष्या नरकप्रायोग्यं, तथाविधा देवनारकास्तु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं कर्म बध्नन्ति, ततस्तेषां सर्वेषां सततं चासां पञ्चदशानां प्रकृतीनां बन्धः प्रवर्तते, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथा '**हुंडगे**'त्यादि, हुंडकसंस्थाननामाप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकमस्थिरषट्कञ्चेति द्वादशानामुत्कृष्टरसं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, तत्राऽप्रशस्तत्वे सति उत्कृष्टपदे कुखगतितुल्यस्थितिकत्वेनोत्कृष्टरसबन्धस्वामिनोऽविशेषादुक्तमुत्कृष्टादिकम् । नरकप्रायोग्यबन्धकानां तीव्रसंक्लिष्टानाञ्च पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकानां तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावान्नियमादिति ।

अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति '**दुस्सरस्सेवं**' ति दुःस्वरनाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः अप्रशस्तविहायोगत्युत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षवद् भवति, अप्रशस्तत्वे सति उत्कृष्टपदे तत्तुल्यस्थितिकत्वात् बन्धसाहचर्याच्च । नवरं शब्दव्यत्ययोऽत्रापि कर्तव्यः, **तद्यथा**–दुःस्वरनाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् हुंडकसंस्थाननामाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीपञ्चकं दुःस्वरसन्निकर्षस्य प्रस्तुतत्वात् तद्वर्जा अस्थिरा-

दयोऽयशःकीर्तिपर्यन्ताः पञ्च कुखगतिनाम चेति द्वादशानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नातीति । शेषं सर्वमविशेषेणाऽनन्तरोक्तकुखगतिनामोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षवद् वाच्यम् ॥७५५-७५७॥ अथाऽऽतपनाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमाह–

तिथिराइगजुगलाणं बंधेइ सिआ अणंतगुणहीणं । आयवगुरुरसबंधी णियमाऽण्णेसिं छवीसाए ॥
(मूलगाथा-७५८)

(प्रे०) 'तिथिराई'त्यादि, आतपनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-यशःकीर्ति-नामाऽयशःकीर्तिनामरूपाणां स्थिरादिनामत्रियुगलानां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, प्रस्तुत-बन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । किमुक्तं भवति ? स्थिर-शुभ-यशःकीर्ति-नाम्नामुत्कृष्टरसः क्षपकेण, अस्थिरादीनान्तु तीव्रसंक्लिष्टेन बध्यते अयमातपोत्कृष्टरसबन्धकस्तु प्रथमगुणस्थानकवर्ती मध्यमविशुद्धश्च, कुतः ? सर्वविशुद्धस्य देवगत्यादिप्रायोग्यबन्धकत्वेनाऽऽतप-बन्धायोगात् । एवं स्थिरादीनां रसमनन्तगुणहीनं बध्नाति, अस्याऽऽतपोत्कृष्टरसबन्धकस्य क्षपकम-पेक्ष्याऽनन्तगुणहीनविशुद्धत्वात् । अस्थिरादीनान्तु अनन्तगुणहीनम्, तदुत्कृष्टरसस्य संक्लेश-जन्यत्वात् । तथा प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावादुक्तं स्यादिति । तद्यथा–स्थिरादीनां बन्धकोऽ-स्थिरादीनां बन्धं न करोति । अस्थिरादीनां बन्धको हि न स्थिरादीनामिति । 'ऽण्णेसिं' इत्यादि, तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनामौदारिकशरीरनाम त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यो हुंडकसंस्थानं स्था-वरनाम बादरत्रिकं दुर्भगनामाऽनादेयनाम पराघातोच्छ्वासौ चेति षड्विंशते रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, आतपोत्कृष्टरसबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वात् आसां प्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्य ततोऽनन्तगुणाधिकविशुद्ध्या अप्रशस्तानां च संक्लेशेन बध्यमानत्वात् प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च। तद्यथा–तिर्यग्द्विकादीनामप्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्तीव्रसंक्लेशेनौदारिकशरीरनामादीनां तूत्कृष्टरसः विशुद्धेन सम्यग्दृष्ट्यादिना बध्यते, अयमातपोत्कृष्टरसबन्धी तु न संक्लिष्टो न वा तथाविध-विशुद्धः, अतः सुष्टूक्तमनन्तगुणहीनं रसं बध्नातीति । यद्यपि तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजातिहुंडक-स्थावरदुर्भगाऽनादेयानां प्रतिपक्षप्रकृतयो विद्यन्ते तथापि आतपबन्धकैस्ताः प्रकृतयो नैव बध्यन्ते अतो नियमादिति उक्तम् ॥७५८॥ अथोद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमाह–

उज्जोअतिव्वबंधी बंधइ णियमा अणंतगुणहीण । तिरियदुगधुवाण तहा सुहाण अट्ठारसेसाणं ॥
(मूलगाथा-७५९)

(प्रे०) 'उज्जोअ०' इत्यादि, उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकस्तिर्यग्द्विकं त्रयोदशध्रुवबन्धिन्य-स्तथा पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचनामसमचतुरस्रप्रशस्तविहायोगतित्रसदशकपरा-घातोच्छ्वासरूपा अष्टादश शुभप्रकृतय इति त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं निय-माच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लिष्टेन मिथ्यादृष्टिना क्षपकादिना वा बध्यमानत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य तु सम्यक्त्वाभिमुखविशुद्धत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादुक्तं

नियमादिति । उद्योतोत्कृष्टरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखः सुविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारकः, स चोद्योतनाम्ना सह बध्यमानानां त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां सर्वासां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नातीति निष्कर्षः । नन्वुद्योतोत्कृष्टरसबन्धकस्य त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं नामकर्मबन्धस्थानं ग्रन्थान्तरे श्रूयते इह तु तच्चतुस्त्रिंशत्प्रकृत्यात्मकं भवति, तत्कुतः ? इति चेत्, वर्णादीनां प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन विवक्षणात्, तत्र वर्णादिचतुष्कं गृहीतमिह तु प्रशस्ताप्रशस्तभेदविवक्षया वर्णाद्यष्टकमिति भावः ।।७५९।। अथ सूक्ष्मत्रिकविषयमाह–

बंधंतो तिव्वरसं सुहुमतिगेगस्स बंधए णियमा। सेसाण दोण्ह तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ।।
तिरिदुगधुवुरलिगिंदियहुंडगथावरपणाथिराईणं । णियमाऽणंतगुणूणं जसगुरुबंधी ण च्चिअ सेसा ।।
(मूलगाथा–७६०-७६१)।

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, सूक्ष्मनामाऽपर्याप्तनामसाधारणनामरूपसूक्ष्मत्रिकमध्यादेकस्योत्कृष्टरसं बध्नन् शेषयोः स्वभिन्नयोर्द्वयो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, उत्कृष्टरसबन्धस्वामिनोऽविशेषात्, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च । तथा तिर्यग्द्विकं त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनामैकेन्द्रियजातिनाम हुंडकं स्थावरनाम दुःस्वरवर्जा अस्थिराद्योऽयशःकीर्तिनामान्ताः पञ्च चेति चतुर्विंशतेः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, एतदुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टसंक्लेशेन विशुद्ध्या वा बध्यमानत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु एतत्प्रायोग्यसंक्लेशवत्त्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावान्नियमादिति ।

अथ यशःकीर्तिविषयमाह–'जसगुरु०' इत्यादिना, यशःकीर्तिनाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः 'न च्चिअ सेसा'त्ति शेषनामप्रकृतीर्नैव बध्नाति, यशःकीर्तिनामकर्मणः स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो नास्तीति भावः, कुतः ? प्रकृत्यन्तरबन्धाभावात्, तद्यथा–यद्यपि यशःकीर्तिनामोत्कृष्टरसबन्धकेन दशमगुणस्थानकचरमसमयवर्तिन्यो ज्ञानावरणादयः प्रकृतयो बध्यन्ते तथापि नामकर्मणस्त्वेकैव प्रकृतिर्यशःकीर्तिरूपा बध्यते, ततस्तत्सन्निकर्षो न भवति, स्वस्थानसन्निकर्षस्य प्रस्तुतत्वात् ।।७६०-७६१।।
इति ओघतो नामकर्मण उत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः ।

अथ आदेशतो मार्गणासु नामकर्मण उत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षं दिदर्शयिषुः नरकादिमार्गणास्वाह—

ओघव्व सव्वणारगतइआइगअट्ठमंतदेवेसु । मज्झिमसंघयणागिइउज्जोआणं मुणेयव्वो ।।
परमुज्जोअगबंधी सिआ णिरयचरमणिरयवज्जेसु । खगइछसंघयणागिइथिराइजुगलाणऽणंतगुणहीणं ।।
संघयणअगिईणं गुरुं तमतमाअ दुइअतइआण । बंधंतो न णरदुगं बंधइ णियमा तिरिदुगस्स ।।
(मूलगाथा–७६२-७६४)

(प्रे०) 'ओघव्वे'त्यादि, अष्टलक्षणाः सर्वा नरकमार्गणाः तृतीयाद्यष्टमान्ताः षड्देवमार्गणाश्चेति चतुर्दशसु चत्वारि मध्यमसंहननानि तावन्ति च मध्यमसंस्थानानि उद्योतनाम चेति

नवानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघवत् भवति, यथौघप्ररूपणायामुक्तस्तथैवेहापि वाच्यः, कुतः ? मध्यमसंहननाद्युत्कृष्टरसबन्धकेन याः प्रकृतय ओघप्ररूपणायां न बध्यन्ते, इहापि तेन तास्तथा, यथौघप्ररूपणायामासामुत्कृष्टरसस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशादिजन्यस्तथैवेहापि । किमविशेषेणौघवत् भवति ? नेत्याह 'पर' मित्यादिना, नरकौघचरमनरकमार्गणावर्जासु प्रथमादिषड्नरकतृतीयादिषड्-देवरूपासु द्वादशसु मार्गणास्वित्यर्थः, उद्योतोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघोक्तापेक्षयाऽन्यथा भवति, तद्यथा–उद्योतोत्कृष्टरसबन्धी विहायोगतिद्विकं षट् संहननानि षट् च संस्थानानि स्थिरास्थिरषट्के चेति षड्विंशतेः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, उद्योतोत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यस्वस्था-नोत्कृष्टविशुद्धया बध्यमानत्वात् , आसान्तु प्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्य अतोऽधिकविशुद्धया अप्रशस्ताना-न्तु संक्लेशेन बध्यमानत्वात् अनन्तगुणहीनमिति । प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसंभवात् स्यादिति । अयमत्र भावः-ओघप्ररूपणायामुद्योतोत्कृष्टरसबन्धकः सप्तमपृथ्वीनारकः, स च सम्यक्त्वाभिमुखः, अत एव स प्रथमसंहननं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिनाम स्थिरादिषट्कं चैव बध्नाति, न तु तत्प्रतिपक्ष-भूतानि द्वितीयप्रमुखसंहननादीन्यपि, एवं च सति ओघे यावतीभिः प्रकृतिभिः सहोद्योतोत्कृष्ट-रसबन्धस्य सन्निकर्ष उक्तः, तदपेक्षयेह सप्तदशभिरधिकाभिः प्रकृतिभिः सह वाच्य', उक्तस्वरू-पश्च । तत्र हि संहननादेः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् प्रथमसंस्थानप्रथमसंहननप्रशस्तविहायोगति-स्थिरषट्करूपाणां नवानां बन्धो नियमादिति उक्तम् , इह तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् तासामपि स्यादिति । ततश्च आसु द्वादशमार्गणासूद्योतोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः एवं प्ररूपणीयः-उद्यो-तोत्कृष्टरसबन्धकः तिर्यग्द्विकं त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं त्रसचतुष्कं पराघातनामोच्छ्वासनाम्नी चेति चतुर्विंशतेः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । अचिरोक्तानां विहायोगतिद्विकादीनां षड्विंशतेस्त्वनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । हेतुः प्रागेव उक्तः । अथ विशेषान्तरमाह-'तमतमाअ' इत्यादि, सप्तमपृथ्वीनरकमार्गणायां द्वितीयतृती-यसंहननसंस्थानानामुत्कृष्टरसं बध्नन् मनुष्यद्विकं न बध्नाति, तिर्यग्द्विकस्य तु नियमाद् बन्धं करोति । कुतः ? ओघे मिथ्यादृशामपि मनुष्यद्विकबन्धस्य सद्भावात् । इह तु यावत् स्वल्पो-ऽपि मिथ्यात्वोदयः तावत् तिर्यग्द्विकस्यैव बन्धप्रवर्तनादिति ॥७६२-७६४॥

अथ तत्रैव तिर्यग्द्विकादिविषयमाह—

तिरिदुग-हुंड-असुहधुव-छेवट्ठ-कुखगइ-अथिरछक्काओ । एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽणाण गुरुमुअ छठाणगयं
सुहधुवपणिंदिपरघाऊसासुरलदुगतसचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणूणं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
(मूलगाथा–७६५-७६६)

(प्रे०) 'तिरिदुगे' त्यादि, सर्वनरकादिचतुर्दशमार्गणास्वित्यनुवर्तते, तिर्यग्द्विकं हुंडकं पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः सेवार्त्तं कुखगतिरस्थिरषट्कमिति षोडशप्रकृतीनां मध्यात् 'एगस्स' अन्यतमाया उत्कृष्टरसबन्धकः 'ऽणाण' स्वभिन्नानामन्यासां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्ट

वा नियमाच्च बध्नाति, आसां सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धस्योत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यमानत्वादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि। प्रस्तुतमार्गणागतानां तीव्रसंक्लिष्टानां जन्तूनां तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावान्नियमादिति । 'सुहधुवे' त्यादि, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पञ्चेन्द्रियजातिः पराघातनाम उच्छ्वासनामौदारिकद्विकं त्रसचतुष्कञ्चेति सप्तदशानां रसं स्वोत्कृष्टरसापेक्षयाऽनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, प्रशस्तत्वे सत्याऽऽसामुत्कृष्टरसस्य विशुद्धयैव बध्यमानत्वात् । ततः किम् ? प्रस्तुततिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धकः सर्वसंक्लिष्टः, संक्लिष्टः त्वासां स्वल्पमेव रसं बन्द्धुमर्हति अत उक्तमनन्तगुणहीनमिति । नियमात्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तदपि कुतः ? पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामपि मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । 'उज्जोअस्से' त्यादि, उद्योतनाम्नोऽनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । प्रशस्तत्वेन तदुत्कृष्टरसस्य विशुद्धया जन्यत्वादुक्तमनन्तगुणहीनम् । स्यात्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् । ॥७६५-७६६॥ अथ तत्रैव पञ्चेन्द्रियजात्यादिविषयमाह—

एगस्स तिव्वबंधी पणिदिणरउरलदुगसुहधुवाओ । सुखगइसंघयणागिइपरघूसासतसदसगाओ ॥
णियमाऽण्णाण गुरुं उअ छट्ठाणगयमगुरुं जिणस्स सिआ । णियमाऽणंतगुणूणं असुहधुवाण जिणस्सेवं॥
(मूलगाथा-७६७-७६८)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, पञ्चेन्द्रियजातिनाम मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ प्रशस्तविहायोगतिः प्रथमसंहनननाम समचतुरस्रसंस्थाननाम पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसदशकञ्चेति अष्टाविंशतिप्रकृतीनां मध्यादन्यतमाया उत्कृष्टरसबन्धकः 'ऽण्णाण' त्ति स्वभिन्नानामन्यासां सप्तविंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति, स्वामिनोऽविशेषात् । किमुक्तं भवति ? सर्वासामुत्कृष्टरसस्तीव्रविशुद्धिलक्षणेनैकस्वरूपेण हेतुना बध्यते इति कृत्वेति भावः । नियमात्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'जिणस्से' त्यादि, जिननाम्न उत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं स्याच्च बध्नाति । तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात् स्यादिति । 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तेः' चतुर्थादिषु सप्तमान्तेषु चतुर्नरकेषु जिननाम न वक्तव्यम्, तत्र तद्बन्धाभावात् । 'असुहे' त्यादि, अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातलक्षणानां पञ्चानामशुभध्रुवबन्धिनीनामनन्तगुणोनं नियमाच्च बध्नाति । अनन्तगुणोनन्तु आसामप्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु विशुद्धत्वात् । ततः किम् ? विशुद्धोऽप्रशस्तानां स्वल्पमेव रसं बन्द्धुमर्हति । तथासां ध्रुवबन्धित्वान्नियमादिति । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-'जिणस्सेवं' ति जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद् भवति नवरं 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते' रिहान्यासां सप्तविंशतेरित्यनुक्त्वाऽष्टाविंशतेरिति वक्तव्यम् । तथा 'जिणस्स सिआ' इति नैव वक्तव्यम्, तदुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षस्य प्रस्तुतत्वात् । तथैव चतुर्थादिनरकरूपाश्चतस्रो मार्गणा वर्जयित्वा शेषास्विहोक्तासु दशसु मार्गणासु जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्षो वाच्यः, तत्र तद्बन्धस्य सम्भवात् ॥७६७-७६८॥ अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणासु नामकर्मण उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षं दिदर्शयिषुस्तावन्नरकद्विकादिविषयं तमाह—

तिरियतिपणिंदितिरियअमणेसु एगस्स तिव्वरसबंधी । णिरयदुगहुंडकुखगइअसुहधुवाथिरछगाहिन्तो ॥
सेसाणं चउदसण्हं पयडीणं बंधए उ अणुभागं । णियमा उक्कोसं अ छट्ठाणगयं अणुक्कोसं ॥
वेउव्वदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । धुवबंधीण सुहाणं णियमाउ अणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा—७६९-७७१)

(प्रे०) 'तिरिये' त्यादि, तिर्यग्गत्योघः अपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदा असंज्ञी चेति पञ्चसु मार्गणासु नरकद्विकं हुंडकं कुखगतिः अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपाः पञ्चाशुभध्रुवबन्धिन्यः अस्थिरषट्कञ्चेति पञ्चदशप्रकृतीनां मध्यादेकस्या अन्यतमाया उत्कृष्टरसबन्धकः स्वभिन्नानां शेषाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति। तुल्यसंक्लेशेन सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धसंभवेन उत्कृष्टमित्यादि। प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादुक्तं नियमादिति । 'वेउव्वे' त्यादि, वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम पराघातनामोच्छ्वासनाम त्रसचतुष्कमष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यश्चेति सप्तदशानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वात् आसां च प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनमिति । संक्लिष्टः प्रशस्तप्रकृतीनां स्वल्पमेव रसं बध्नातीति कृत्वा। नरकप्रायोग्यबन्धकस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् नियमादिति ॥७६९-७७१॥

अथ तत्रैव तिर्यग्द्विकादिविषयं प्रस्तुतमाह—

एगस्स तिव्वबंधी तिरिदुगएगिंदियाथावरचउक्का । णियमाऽण्णेसिं छण्हं गुरुमगुरुं वा छठाणगयं ॥
ओरालहुंडतेरहधुवबंधीणं पणाथिराईणं । णियमाहिन्तो बंधइ अणुभागमणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा—७७२-७७३)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्त्रित्यनुवर्तते तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिः स्थावरचतुष्कञ्चेति सप्तप्रकृतिमध्यादेकस्या अन्यतमाया उत्कृष्टरसबन्धकः 'ऽण्णेसिं' ति स्वभिन्नानामन्यासां षण्णां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, स्वामिनोऽविशेषात् । तद्यथा—आसां प्रत्येकमुत्कृष्टरसोऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिप्रायोग्याऽष्टादशकोटीकोटीसागरमितस्थितिबन्धकैरसंज्ञिमार्गणायां तु तत्प्रायोग्यस्थितिबन्धकैस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टैर्बध्यते अत उक्तमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा, यतो यासामुत्कृष्टरसस्तुल्यसंक्लेशादिना बध्यते तासु एकस्या उत्कृष्टरसबन्धकोऽन्यासामुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं बन्द्धुमर्हति, अध्यवसायवैचित्र्यात् । अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायप्रायोग्यबन्धकस्य संक्लिष्टस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादुक्तं नियमादिति ।

'ओराले' त्यादि, औदारिकशरीरनाम हुंडकं त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यस्तथा दुःस्वरस्य त्रसप्रायोग्यत्वात् अस्थिरादयोऽयशःकीर्तिनामान्ताः पञ्चेति विंशते रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तत्रौदारिकशरीरनाम्नः प्रशस्तध्रुवबन्धिनीनाञ्च प्रशस्तत्वात् , शेषाणामुत्कृष्टरसबन्धकस्य नरकप्रायोग्यबन्धसद्भावात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावान्नियमादिति ॥७७२-७७३॥ अथ तत्रैव मनुष्यद्विकादिविषयमाह—

एगस्स तिव्वबंधी णरउरलदुगवइराउ बंधेइ । णियमाऽणाण चउण्हं गुरुमगुरुं वा छठाणगयं ॥
तिथिराइजुगलाणं बंधेइ सिआ अणंतगुणहीणं । णियमा असुहधुवाणं तह सुहणरजोग्गवीसाए ॥
(मूलगाथा–७७४-७७५)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तिर्यग्गत्योघादिषु पञ्चसु मार्गणासु मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचसंहनननाममध्यादेकस्योत्कृष्टरसबन्धकः स्वभिन्नानामन्येषां चतुर्णां रसमुत्कृष्टं षट्-स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा बध्नाति । पञ्चानामपि उत्कृष्टरसस्य तुल्यविशुद्धया जन्यत्वादुक्तमुत्कृष्ट-मित्यादि । मनुष्यप्रायोग्यबन्धकेषु विशुद्धस्य तदुत्कृष्टरमबन्धकत्वात् तस्य च तत्प्रतिपक्षप्रकृतिब-न्धाभावादुक्तं नियमादिति । 'तिथिराई' त्यादि, स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-यशःकीर्त्ययशःकीर्तिरूपाणां त्रयाणां युगलानां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । तत्र स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीनामुत्कृष्टरसो देव-प्रायोग्यबन्धकेन सुविशुद्धेन, अस्थिरादीनाञ्च त्रयाणामुत्कृष्टरसो नरकप्रायोग्यबन्धकेन बध्यते अत उक्तमनन्तगुणहीनमिति । परावृत्त्या तद्बन्धप्रवर्तनादुक्तं स्यादिति । तथा 'असुहधुवाण' मित्यादि, पञ्चाऽशुभध्रुवबन्धिन्यस्तथा पञ्चेन्द्रियजातिप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकप्रथमसंस्थानप्रशस्तवि-हायोगतित्रसचतुष्कसुभगत्रिकपराघातनामोच्छ्वासनामरूपा मनुष्यप्रायोग्याः शेषशुभा विंशतिश्चेति पञ्चविंशतेः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । अप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरस-स्तीव्रसंक्लिष्टेन नरकप्रायोग्यबन्धकेन, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनान्तु स तीव्रविशुद्धेन देवप्रायोग्यबन्ध-केन बध्यते, अस्य तु बन्धकस्य मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वेन तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वादुक्तमनन्तगुणहीन-मिति । प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाद् नियमादिति ॥७७४-७७५॥

अथ तिर्यग्गत्योघादिष्वेव मार्गणासु देवद्विकादीनां प्रस्तुतमाह—

एगस्स तिव्वबंधी सुहसुरपाउग्गसत्तवीसाओ । णियमाऽण्णेसिं तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणूणं असुहधुवाणं बिइंदियछिवट्ठा । एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णस्स गुरुमुम छठाणगयं ॥
(गीतिः)
णियमाऽणंतगुणूणं सेसविइंदियअपज्जजोग्गाणं । उज्जोअस्साऽत्थि पढमणिरयव्वोघव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा–७७६-७७८)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतासु तिर्यग्गत्योघादिषु पञ्चसु मार्गणासु देवद्विकपञ्चेन्द्रिय-जातिप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकवैक्रियद्विकसमचतुरस्रसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशक-रूपदेवप्रायोग्यप्रशस्तसप्तविंशतिप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः 'ऽण्णेसिं' ति स्वभिन्ना-मन्यासां षड्विंशतेः प्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, सर्वासा-मुत्कृष्टरसस्य तुल्यविशुद्धया जायमानत्वादुत्कृष्टमित्यादि । नियमाद्बन्धस्तु, अष्टानां ध्रुवबन्धि-त्वात् । शेषाणां प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तदपि कुतः ? प्रस्तुतबन्धकस्य मार्गणाप्रायोग्यसर्व-विशुद्धत्वात् । "असुहधुवाण' मिति अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपाणां पञ्चानामप्रशस्तध्रुव-बन्धिनीनां रसमनन्तगुणहीनं बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धत्वे सति आसामशुभत्वात् । नियमात्त बध्नाति, ध्रुवबन्धित्वात् ।

अथ द्वीन्द्रियजातिनामादिविषयमाह 'बिइंदिये'त्यादिना, द्वीन्द्रियजातिनामसेवार्तसंहनननाममध्यादेकस्योत्कृष्टरसबन्धकोऽन्यस्य रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्याऽपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यबन्धकेन तुल्यसंक्लेशेन जन्यत्वादुत्कृष्टमित्यादि । अपर्याप्तद्वीन्द्रियादिप्रायोग्याणां शेषाणां तिर्यग्द्विकौदारिकद्विकप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकहुंडकाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीपञ्चकत्रसबादराऽपर्याप्तप्रत्येकाऽस्थिराऽशुभदुर्भगाऽनादेयाऽयशःकीर्तिरूपाणां सप्तविंशतेः रसमनन्तगुणोनं नियमाच्च बध्नाति । तत्रौदारिकद्विकप्रशस्तध्रुवबन्धित्रसबादरप्रत्येकनाम्नां प्रशस्तत्वेन तदुत्कृष्टरसस्य विशुद्धिजन्यत्वात् । शेषाणां चतुर्दशानामुत्कृष्टरसस्य अधिकतरसंक्लेशजन्यत्वात् उक्तमनन्तगुणहीनमिति, अयं हि बन्धको न तथाविधविशुद्धः न वा सर्वसंक्लिष्ट इति कृत्वा । प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीपञ्चकरूपाणां त्रयोदशानां ध्रुवबन्धित्वात् , शेषचतुर्दशानामध्रुवबन्धित्वेऽपि अपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावान्नियमादिति ।

अथोद्योतनामविषयं प्रस्तुतमतिदिशन्नाह—'उज्जोअस्से'त्यादि, उद्योतनाम्नः प्रथमनरकमार्गणावत् भवति, उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष इति प्रकरणाद् गम्यते । कुतः प्रथमनरकमार्गणावदिति चेदुच्यते—उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनः स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धत्वात् । अतिदिष्टार्थश्चैवम्-उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् तिर्यग्द्विकं त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं त्रसचतुष्कं पराघातनामोच्छ्वासनाम चेति चतुर्विंशते रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । षट्संहननानि षट् संस्थानानि स्थिरषट्कमस्थिरषट्कं विहायोगतिद्विकञ्चेति षड्विंशतेरसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नातीति । 'ओघव्वे' त्यादि, उक्तशेषाणां त्रीन्द्रियजातिनामचतुरिन्द्रियजातिनाममध्यमसंस्थानचतुष्कमध्यमसंहननचतुष्काऽऽतपनामरूपाणामेकादशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघवद् भवति, स्वामिनो विसदृशत्वाभावात् , ओघे यावता संक्लेशादिना तदुत्कृष्टरसो बध्यते तावतैव तेनासंज्ञिवर्जास्विहापीति भावः । ओघवच्चैवम्—त्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिनाम्नोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकः शेषाऽपर्याप्तप्रायोग्याणामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्य त्रीन्द्रियाद्युत्कृष्टरसबन्धकसंक्लेशापेक्षयाऽनन्तगुणसंक्लेशादिना जन्यत्वात् । द्वितीयसंहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् द्वितीयसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्य औदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कमस्थिरषट्कं कुखगतिश्चेत्येकोनत्रिंशतोऽनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं तृतीयादिषष्ठान्तानि चत्वारि संस्थाननामानि उद्योतनाम चेति नवानां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । तृतीयसंहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् तृतीयसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । शेषं सर्वमनन्तरोक्तवद् वाच्यं, नवरं नवानामितिस्थानेऽष्टानामिति वाच्यम् , तृतीयसंस्थाननाम्नः पृथगुक्तत्वात् । चतुर्थसंहनननाम्न

उत्कृष्टरसं बध्नन् चतुर्थसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, प्रागुक्तानां ध्रुवबन्धिन्यादीनामेकोनत्रिंशतस्तिर्यग्द्विकस्य च रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति पञ्चमषष्ठसंस्थाननामोद्योतनामरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति। पञ्चमसंहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् पञ्चमसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । प्रागुक्तानां ध्रुवबन्धिन्यादीनामेकोनत्रिंशतस्तथा तिर्यग्द्विकस्याऽनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति। षष्ठसंस्थाननामोद्योतनाम्नोरनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति। चतुर्णां मध्यमसंस्थाननाम्नामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः अनन्तरोक्तचतुःसंहनननामवद् ज्ञेयः, नवरं संस्थानस्थाने संहननम् संहननस्थाने च संस्थानं वक्तव्यमिति शब्दव्यत्ययः कर्तव्य इति भावः।

आतपनाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-यशःकीर्तिनामाऽयशःकीर्तिनामरूपाणां त्रयाणां युगलानां षण्णां प्रकृतीनामित्यर्थः रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति। तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनामौदारिकशरीरनाम त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यो हुंडकसंस्थानं स्थावरनाम बादरत्रिकं दुर्भगनामाऽनादेयनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी चेति षड्विंशतेरनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति। अत्र हेत्वादिकमोघप्ररूपणातोऽवसेयम् ॥७७६-७७८॥

अथासंज्ञिमार्गणायां 'ओघव्व सेसाण' इत्यनेनातिदिष्टे याः काश्चिदतिप्रसक्तयस्ता उद्धर्तुकामो विशेषं दर्शयन्नाह—

परमणे बंधइ चउआगिइसंघयणजेट्ठरसबंधी। तिथिराइगजुगलाणं सिआ रसमणंतगुणहीणं ॥
बधेइ तुरिअपचमआगिइसंघयणजेट्ठरसबंधी। तिरियमणुस्सदुगाण वि सिआ रसमणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा–७७९-७८०)

(प्रे०) 'परम०' इत्यादि, 'चउआगइ' इत्यादि, मध्यमसंस्थानसंहननप्रकृतिष्वेकतमाया उत्कृष्टरसबन्धकः, स्थिरादियुगलत्रयस्य स्याद्बन्धकः, रसं चानन्तगुणहीनं बध्नाति। ओघे तथा तिर्यगोघादिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकेन दशकोटिकोटिसागरोपमस्थितितोऽधिका स्थितिर्बध्यते, अतः स्थिरशुभयशःकीर्तिलक्षणप्रकृतित्रयं नैव बध्यते, इहासंज्ञिमार्गणायां पुनः मध्यमसंस्थानादिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः संक्लिष्टोऽपि पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां बन्धकः, स्थिरशुभयशःकीर्तिप्रकृतित्रयं तु पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यसंक्लेशं यावत् बध्यते अतस्तासां प्रकृतीनां स्याद्बन्धो भवति। चतुर्थपञ्चमसंस्थानसंहननप्रकृतिबन्धकः मनुष्यद्विकस्यापि स्याद्बन्धकः, रसं च अनन्तगुणहीनं बध्नाति, अत्र अपर्याप्तप्रायोग्यसंक्लेशं यावद् मनुष्यद्विकस्य बन्धसंभवात् ॥७७९-७८०॥

अथापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणास्वाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसुं। भूदगवणविगलेसुं बंधंतो तिव्वमेगस्स ॥
तिरिदुगिगिंदियहुंडगपणअसुहधुवणवथावराईओ। णियमाऽण्णसिं तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
अडसुहधुवउरलाणं णियमा बंधइ अणंतगुणहीणं। एगस्स तिव्वबंधी सुहुणरजोग्गअडवीसाओ ॥

तिव्वसुअ छठाणगयं अतिव्वमण्णाण सत्तवीसाए । णियमा असुहधुवाणं बंधेइ अणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा-७८१-७८४)

(प्रे०) 'असमत्ते'त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तत्रसरूपाश्चतस्रः, सप्तपृथ्वीकायभेदाः, सप्ताऽप्कायभेदाः एकादश वनस्पतिभेदा नवभेदाः विकलाक्षसत्का इति सर्वसंख्ययाऽष्टात्रिंशन्मार्गणासु तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिहुंडकमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातनामरूपा अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पञ्च, दुःस्वरनाम्नः पर्याप्तप्रायोग्यत्वात् तद्वर्जाः स्थावरनामाद्यो नवेत्यष्टादशप्रकृतीनां मध्यादेकस्या उत्कृष्टरसं बध्नन् 'ऽण्णेसिं' ति तद्भिन्नानामन्यासां सप्तदशप्रकृतीनां प्रत्येकं रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, अपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायप्रायोग्यबन्धकानां तीव्रसंक्लिष्टानां तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्तनात्, स्वामिनोऽविशेषादिति भावः । प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादुक्तं नियमादिति । 'अडसुहे'त्यादि, अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनामेति नवानामनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । आसां प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वादनन्तगुणहीनमिति । नियमात्तु ध्रुवबन्धित्वात् । न चौदारिकशरीरनाम्नः कुतो ध्रुवबन्धित्वमिति वाच्यम्, तस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् ।

'सुहणरे'त्यादि, मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम औदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं वज्रर्षभनाराचनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसदशकञ्चेति मनुष्यप्रायोग्याणां प्रशस्तानामष्टाविंशतिप्रकृतीनां मध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धको 'अण्णाण' त्ति तद्भिन्नानामन्यासां सप्तविंशतेः रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, स्वामिनोऽविशेषात्, आसां सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धकस्य मार्गणाप्रायोग्यतीव्रविशुद्धत्वादिति । सुविशुद्धस्यैतत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादुक्तं नियमादिति । अप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां पञ्चानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वादासाञ्चाप्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनमिति । ध्रुवबन्धित्वान्नियमादिति ॥७८१-७८४॥ अथ तत्रैव द्वितीयसंहनननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमाह—

तिव्वरसं बंधतो संघयणस्स दुइअस्स तिव्वमुभ । छट्ठाणगयमतिव्वं बंधइ दुइआगिईअ सिआ ॥
पंचिंदियधुवुरलदुगपरघाऊसासतसचउक्काणं । कुखगइदुहगतिगाणं णियमा उ अणंतगुणहीणं ॥
तिरिणरदुगचउआगिइउज्जोअथिराइतिजुगलाण सिआ । कुणइ अणतगुणूणं एवं दुइआगिईअ भवे ॥
(मूलगाथा-७८५-७८७)

(प्रे०) 'तिव्वरस' मित्यादि, ऋषभनाराचाख्यस्य द्वितीयसंहनननाम्न उत्कृष्टं रसं बध्नन् द्वितीयसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, अनयोरप्रशस्तत्वे सति उत्कृष्टपदे तुल्यस्थितिकत्वेनोत्कृष्टरसस्य तुल्यसंक्लेशजन्यत्वात् । ततः किम् ? उच्यते,-यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्तुल्यसंक्लेशेन जन्यते तासु एकस्या उत्कृष्टरसं बध्नन् अन्यासामुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं बध्नातीति नियमसद्भावात् । शेषसंस्थाननाम्नामपि बन्धस्य संभवादुक्तं स्यादिति, कदाचित् कश्चिद् बन्धको बध्नाति कश्चित्तु नेति भावः । पञ्चेन्द्रियजातिनाम

प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नास्त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्य औदारिकद्विकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कं कुखगतिनाम दुर्भगत्रिकञ्चेति षड्विंशतेः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । तत्र पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टरसस्य सर्वविशुद्धया, अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनान्तु उत्कृष्टादिसंक्लेशेन जन्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च मध्यमसंक्लिष्टत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । इह पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-प्रायोग्यबन्धकस्यैतावत्संक्लेशे सत्येतत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावान्नियमादिति । 'तिरिणरे'त्यादि, तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं तृतीयादीनि चत्वारि संस्थानानि उद्योतनाम स्थिरनामास्थिरनाम शुभा-ऽशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिरूपाणि त्रीणि युगलानि चेति पञ्चदशानां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, तत्राऽनन्तगुणहीनत्वे प्रागुक्तो हेतुः । स्यात्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसंभवात् । अथ तुल्य-वक्तव्यत्वादतिदिशति--'एव' मित्यादिना, एवमनन्तरोक्तवत् द्वितीयसंस्थाननाम्न उत्कृष्टरसबन्ध-सन्निकर्षो भवति । अत्र हि अविशेषेणातिदिष्टेऽपि किञ्चिद्विशेषो व्याख्यानात् ज्ञेयः,तद्यथा-द्वितीय-संहनननाम्न इत्यादिस्थले द्वितीयसंस्थाननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् द्वितीयसंहनननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति इति वक्तव्यम् । तथा मूले 'चउआगिई'ति स्थले 'चउसंहनने' ति बोध्यम् ॥७८५-७८७॥

अथ तत्रैव तृतीयप्रमुखसंहनननामादीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमाह–

एवं संघयणागिइतइआइतिगस्स होइ णवरि कमा । दुइआई णो बंधइ तइआईण गुरुमुभ छठाणगयं ॥
तिव्वरसं बंधतो एगस्स कुखगइदुस्सराहितो । णियमा अण्णस्स गुरुं अगुरुं व रसं छठाणगयं ॥
उज्जोअस्स थिराइतिजुअलाण सिआ अणंतगुणहीणं । णियमाऽण्णपज्जपंचिंदियजोग्गाण तिरिव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा--७८८-७९०)

(प्रे०) 'एव' मित्यादि, अनन्तरोक्तद्वितीयसंहननसंस्थाननामोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षवत् तृतीयादिसंहननसंस्थानत्रिकयोरुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो भवति । किमविशेषेण ? नेत्याह–'णवरि' इत्यादिना, नवरमत्रायं विशेषो बोद्धव्यः, तद्यथा–तृतीयसंहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् द्वितीय-संस्थाननामापि न बध्नाति, तस्याऽप्रशस्तत्वेऽपि अल्पस्थितिकत्वेन स्वल्पसंक्लेशनिर्वर्तनीयत्वात् । तथा तृतीयसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । उत्कृष्टपदे तुल्यस्थितिकत्वात् उत्कृष्टमित्यादि । स्याद् बन्धस्तु चतुर्थादिसंस्थाननाम्नामपि बन्धस्य संभ-वात् । तथाऽनन्तरप्रागुक्तगाथायां यत्र 'चउआगिई'त्युक्तं तत्रेह 'तिआगिई'ति वेदितव्यम् । कुतः ? तृतीयसंस्थाननाम्न इह पृथगन्यथोक्तत्वात् । चतुर्थसंहनननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन् तृतीयमपि संस्थाननाम न बध्नाति, हेतुरत्र पूर्वोक्तोऽनुसरणीयः । चतुर्थसंस्थाननाम्नो रस-मुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, उत्कृष्टपदे तुल्यस्थितिकत्वेनोत्कृष्टरस-बन्धस्वामिनोऽविशेषादत्र उत्कृष्टमित्यादि । पञ्चमषष्ठसंस्थाननाम्नोरपि बन्धस्य संभवात् स्या-दिति । तथाऽनन्तरप्रागुक्तगाथायां यत्र 'चउआगिइ' इत्युक्तं तत्रेह 'दुआगिई'ति बोद्धव्यम् ,

तृतीयसंस्थाननाम्नोऽपि बन्धाभावात् चतुर्थस्य तु इहैव पृथगन्यथोक्तत्वात् । पञ्चमसंहनननाम्न उत्कृष्टं रसं बध्नन् पञ्चमसंस्थाननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याद्ब बध्नाति, अप्रशस्तत्वे सति उत्कृष्टपदे समानस्थितिकत्वात् उत्कृष्टमित्यादि । स्यात्तु षष्ठसंहनन-नाम्नोऽपि बन्धस्य संभवात् । तथाऽनन्तरप्रागुक्तगाथायां यत्र 'चउआगिइ' इति उक्तं तत्रेह 'चर-मागिइ' इति वेदितव्यम्, चतुर्थसंस्थाननाम्नोऽपि बन्धाभावात् पञ्चमस्येहैव प्राक् पृथगुक्तत्वात् । शेषं सर्वमनन्तरोक्तद्वितीयसंहनननामोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षवद् बोध्यम् । तृतीयादिसंस्था-नत्रिकेऽपि अयमेव विशेषः शब्दव्यत्यासपूर्वको भवति । शब्दव्यत्यासो नाम संहननस्थले संस्थानं संस्थानस्थले च संहननमिति । शेषं तु सर्वमनन्तरोक्तद्वितीयसंहनननामोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष-वद्भवति ।

ननु प्रागोघतश्चतुर्थादिसंहननप्रधानप्रस्तुतसन्निकर्षप्ररूपणायां तिर्यग्द्विकस्य नियमाद्बन्धो भणितः, इह पुनः कथं तस्य स्याद्बन्धो भण्यते ? इति चेद्, अपर्याप्तादिमार्गणासूत्कृष्टसंक्लेशा-भिमुखचारिषु तीव्रतीव्रतरादिक्रमव्यवस्थितेष्वध्यवसायेषु तिर्यग्द्विकस्येव मनुष्यद्विकस्यापि द्वितीय-तृतीयादिसंहननपञ्चकबन्धविच्छेदभावादनु बन्धविच्छेदभावेन द्वितीयादिसंहननप्रधानसंनिकर्षवत् चतुर्थादिसंहननोत्कृष्टरसं बध्नतामपि तिर्यग्द्विक-मनुष्यद्विकयोर्बन्धप्रायोग्यत्वेन तिर्यग्द्विकस्याऽपि स्याद्बन्ध एव लभ्यते । नियमो हि तथाविधो यद्-नानाप्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धप्रायोग्यत्वे सर्वासां तासां स्याद्बन्धः, यथा मनुष्यप्रायोग्यं मनुष्यद्विकं बध्नतां तिर्यक्प्रायोग्यं तिर्यग्द्विकं वा बध्नतां मिथ्यादृशां वेदत्रयस्य बन्धप्रायोग्यत्वे तिसृणामपि वेदप्रकृतीनां स्याद्बन्ध-प्रयुक्तं भङ्गनानात्वम्, संहननषट्कादेर्बन्धयोग्यत्वेन तत्प्रयुक्तं वा भङ्गनानात्वम् । आतपो-द्योतनाम्नी विहाय प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाप्रायोग्यत्वे तु तस्या वेदादिप्रकृतेर्नियमतो बन्धो जायते, यथा सनत्कुमारादिप्रायोग्यं बध्नतां पुंवेदस्य नियमतो बन्धः, देवप्रायोग्यं देवद्विकं बध्नतां प्रथम-संस्थानस्यैव वेत्यादि, इति सुष्ठूक्तोऽपर्याप्तमार्गणासु एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियभेदप्रभेदेषु वा चतुर्था-दिसंहननोत्कृष्टरसं बध्नतां तथाविधसंस्थानाद्युत्कृष्टरसं बध्नतां वा तिर्यग्गत्यादेरपि स्याद्बन्ध इति ।

अपर्याप्तादिमार्गणासु तीव्रतीव्रतरादिक्रमव्यवस्थितेष्वध्यवसायेषु मन्द-मन्दतराद्यध्यवसाय-स्थानात्तीव्रतमाध्यवसायाभिमुखगमने लभ्यमानः प्रकृतिविच्छेदक्रमस्त्वेवम्–(१)प्रथमतो मनुष्यायुः, तदनु (२) तिर्यगायुः,तदनु (३) उच्चैर्गोत्रम्, ततः परं(४) पुंवेद प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-सुख-गति-सुभग सुस्वरा-ऽऽदेयनामानि युगपत्, तदनु (५) द्वितीयसंहनन-संस्थाने युगपत्, तदनु (६) तृतीयसंहननसंस्थाने युगपत्, तत्पश्चात् (७) स्त्रीवेदः, तदूर्ध्वं (८) चतुर्थसंहननसंस्थाने युगपत्, ततः (९) पञ्चमसंहनन-संस्थाने युगपत्, तदुत्तरं (१०) कुखगति-दुःस्वरनाम्नी युगपत्, तत्पश्चात् (११) यशःकीर्तिनामा ऽऽतपो-द्योतनामानि युगपत्, तदुत्तरम् (१२) स्थिर-शुभनाम्नी पराघातो-

च्छ्वासपर्याप्तनामानि च, तदनु (१३) मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीनाम्नी युगपद्, ततः (१४) पञ्चेन्द्रियजातिनाम, तत्पश्चात् (१५) चतुरिन्द्रियजातिनाम, ततः (१६) त्रीन्द्रियजातिनाम, ततः (१७) द्वीन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्ग-सेवार्तसंहनन-त्रसनामानि, तदनु (१८) बादरनाम, ततः (१९) प्रत्येकनाम, ततः (२०) सातवेदनीय-हास्य-रतिमोहनीयलक्षणास्तिस्रो युगपद्विच्छेदं यान्ति, शेषाः सप्तचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्य-ऽसातवेदनीय-शोका-ऽरति-नपुंसकवेदमोहनीय-तिर्यग्द्विकैकेन्द्रियजात्यौदारिकशरीर-हुंडसंस्थान-दुःस्वरवर्जस्थावरनवक-नीचैर्गोत्रलक्षणाः षट्षष्टिरनुत्कृष्टरसबन्धे ऽपि बन्धप्रायोग्या इत्यविच्छेदेन तिष्ठन्तीति । अयं हि प्रकृतिविच्छेदक्रमः स्थितिबन्धाऽध्यवसायस्थानान्यधिकृत्य भणितः, स चोत्तरस्थितिबन्धविधानसंनिकर्षद्वारप्रेमप्रभायां तद्वृत्तिकृता संसाधितोऽपि, रसबन्धाध्यवसायस्थानान्यप्यधिकृत्य बाहुल्येन तथैव, केवलं युगपद्विच्छिद्यमानप्रकृतिमध्ये कश्चिद्विशेषोऽपि, यथा अनन्तरोक्ते चतुर्थे स्थाने प्रथमसंहननादिविच्छेदानन्तरं पुरुषवेदबन्धविच्छेदः । विंशतितमे स्थाने सातवेदनीयविच्छेदानन्तरं हास्यरत्योर्बन्धविच्छेद इति । एवमन्यविशेषोऽप्यभ्यूह्यः, उपपत्तिस्तु उत्तरस्थितिबन्धविधानसंनिकर्षद्वारवृत्तौ स्थितिबन्धाध्यवसायानधिकृत्य दर्शितोपपत्त्यनुसारेण कार्येति ।

'एगस्से' त्यादि, कुखगतिनामदुःस्वरनाममध्यादेकस्योत्कृष्टरसं बध्नन् 'अण्णस्स' अन्यस्य तदितरस्येत्यर्थः रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, विवक्षितसंक्लेशेन उभयोरुत्कृष्टरसबन्धस्य संभवात् स्वामिनोऽविशेषादिति भावः । पर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्य तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादुक्तं नियमादिति । 'उज्जोअस्से' त्यादि, उद्योतनाम्नः स्थिरास्थिर-शुभाशुभ-यशःकीर्त्ययशःकीर्तिरूपाणां स्थिरादित्रियुगलानां च रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, तत्राऽनन्तगुणहीनत्वम्, उद्योतस्थिरादिनाम्नां प्रशस्तत्वेन तदुत्कृष्टरसस्य विशुद्धिजन्यत्वात् । अस्थिरादीनामप्रशस्तत्वेऽपि तदुत्कृष्टरसस्य स्थावरप्रायोग्यबन्धकेन जन्यत्वात्, अयं बन्धकस्तु न तथा, अस्य त्रसप्रायोग्यबन्धकत्वात् । प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धस्य सत्त्वादुक्तं स्यादिति । 'पज्जबिंदिये' त्यादि, तिर्यग्द्विकं द्वीन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः सेवार्तसंहननं हुंडकं पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कं दुर्भगाऽनादेयनाम्नी चेति अन्यासामुक्तशेषाणामित्यर्थः पर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्याणामष्टाविंशतेः प्रकृतीनां रसमनन्तगुणोनं नियमाच्च बध्नाति, तिर्यग्द्विकादीनामप्रशस्तानामुत्कृष्टरसो मार्गणाप्रायोग्यसर्वसंक्लिष्टेनाऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पत्यादिप्रायोग्यबन्धकेन, सेवार्तनाम्नोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यबन्धकेन, प्रशस्तानामौदारिकद्विकादीनाञ्चोत्कृष्टमः सर्वविशुद्धेन पर्याप्तमनुष्यादिप्रायोग्यबन्धकेन बध्यते, अयं तु बन्धको मध्यमसंक्लिष्टः, अत उक्तमनन्तगुणोनमिति । नियमात् प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥७८८-७९०॥

अथ त्रिमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

तिमणुयउरालियेसुं सुरजोग्गाणं सुहाण तीसाए । ओघव्व जाणियव्वो सेसाण तिरिव्व विण्णेयो ॥
(मूलगाथा-७९१)

(प्रे०) 'तिमणुये'त्यादि, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपासु तिसृषु मनुष्यमार्गणास्वौदारिककाययोगमार्गणायाश्च 'सुरजोग्गाणं' ति देवप्रायोग्याणां त्रिंशतः शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसंनिकर्षः 'ओघव्व' त्ति यथौघप्ररूपणायामुक्तस्तथा ज्ञेयः, कुतः ? ओघ आसामुत्कृष्टरसबन्धकाः क्षपका उक्ताः, इहाऽपि त एव सन्तीति कृत्वा । ओघवच्चैवम्-देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्यशःकीर्त्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जत्रसनवकं प्रशस्तविहायोगतिः समचतुरस्रसंस्थानं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं पराघातो-च्छ्वासौ चेति षड्विंशतिप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसं बध्नन् शेषाणां तद्भिन्नानां पञ्चविंशते रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति । जिननामाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । यशःकीर्ति नाम्नोऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपाशुभध्रुवबन्धिपञ्चकस्य च रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । अत्र हेतुरोघप्ररूपणावत् । जिननाम्न उत्कृष्टरसं बध्नन्निहोक्तानां देवद्विकादीनां षड्विंशतिप्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति । आहारकद्विकस्योत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । तथा यशःकीर्त्तेरप्रशस्तध्रुवबन्धिनीपञ्चकस्य चाऽनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । आहारकद्विकमध्यादेकस्योत्कृष्टरसबन्धकः तद्भिन्नस्येतरस्येहोक्तानां देवद्विकादीनां षड्विंशतेश्च रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति । जिननाम्न उत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । यशःकीर्तिनाम्नोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकस्य चाऽनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । तथा यशःकीर्तिनाम्न उत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षो नास्ति, तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य नामकर्मप्रकृत्यन्तरबन्धाभावात् । 'सेसाण'इत्यादि, उक्तशेपाणामिह बन्धार्हाणामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षस्तिर्यग्गत्योघमार्गणावद्भवति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामविशेषात् , किमुक्तं भवति ? यथा तत्र तथेहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धका मिथ्यादृष्टय इति । इमाश्च ता एकचत्वारिंशत्प्रकृतयः–नरकद्विकं हुंडकं कुखगतिरप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकमस्थिरषट्कं तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनाम स्थावरचतुष्कं मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम द्वीन्द्रियजातिः सेवार्तनाम उद्योतनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम मध्यमसंस्थानचतुष्कं मध्यमसंहननचतुष्कमातपनाम चेति ॥७९१॥

अथ देवौघमार्गणायां प्रस्तुतमाह–

एगस्स सुरे तिरिदुगहुंडमसुहधुवपणाथिराईओ । गुरुबंधी सेसाणं णियमा गुरुमुअ छठाणगयं ॥
छेवट्ठेगिंदियकुखगइथावरदुरसराण अणुभागं । बंधेइ सिआ तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
आयवदुगुवंगपणिंदितसाण सिआ अणंतगुणहीणं । णियमोरालियसुहधुवपरघाऊसासबायरतिगाणं ॥
ओघव्व सण्णियासो एगिंदियथावरायवाण भवे । पढमणिरयव्व णेयो सेसाण एगचत्ताए ॥
(मूलगाथा-७९२-७९५)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, देवौघमार्गणायां तिर्यग्द्विकं हुंडकमप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकमस्थिरादिपञ्चकञ्चेति त्रयोदशप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः शेषाणां तद्भिन्नानां द्वादशानां प्रत्येकं रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य तुल्यसंक्लेशजन्यत्वात् , तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामविशेषादिति भावः, प्रस्तुतबन्धकस्योत्कृष्टसंक्लिष्टत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च । तथा 'छेवट्ठे'त्यादि, सेवार्तनामैकेन्द्रियजातिः कुखगतिः स्थावरनाम दुःस्वरनाम चेति पञ्चानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, तिर्यग्द्विकादिवदासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि । स्यादिति तु तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धकानां केषाञ्चिदेव तद्बन्धप्रवर्तनात् । तद्यथा–तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धका ईशानान्ता देवा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नी बध्नन्ति, न सेवार्तनामादीन्यपि, तेषामेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वात् । तादृशाः सनत्कुमारादयस्तु सेवार्तनामकुखगतिदुःस्वरनामानि बध्नन्ति, न त्वेकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नीति । तथा 'आयवे'त्यादि, आतपनामोद्योतनामौदारिकाङ्गोपाङ्गनामपञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नां प्रत्येकं रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, प्रशस्तत्वेनाऽऽसामुत्कृष्टरसस्य विशुद्धिजन्यत्वात्प्रस्तुतस्य तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धकस्य संक्लिष्टत्वाच्चोक्तमनन्तगुणहीनमिति । आतपनामोद्योतनाम्नोः प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् , तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धकानामीशानान्तानामौदारिकाङ्गोपाङ्गादिबन्धाभावाच्चोक्तं स्यादिति । तथा 'णियमोरालिये'त्यादि, औदारिकशरीरनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं पराघातोच्छ्वासौ बादरत्रिकञ्चेति चतुर्दशानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तिर्यग्द्विकादीनां त्रयोदशानामुत्कृष्टरसबन्धक इत्यनुवर्तते । आसां प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यवद् बादरैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकानामपि सततं तद्बन्धप्रवर्तनादुक्तं नियमादिति । 'ओघव्वे'त्यादि, एकेन्द्रियजातिस्थावराऽऽतपनाम्नां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धसंनिकर्ष ओघवद्भवति, प्रस्तुतमार्गणायामीशानान्तानामपि देवानां प्रवेशः, ओघेऽपि त एव तदुत्कृष्टरसबन्धका इति कृत्वा । 'पढमणिरयव्वे'त्यादि, उक्तशेषाणामेकचत्वारिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसंनिकर्षः प्रथमनरकमार्गणावज्ज्ञेयः, कुतः ? तदुत्कृष्टरसबन्धस्योभयत्र तुल्यसंक्लेशादिना जायमानत्वात् । इमाश्च ता एकचत्वारिंशत्प्रकृतयः–मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं हुंडकवर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगतिद्विकं त्रसदशकं दुःस्वरनाम पराघातोच्छ्वासा उद्योतनाम जिननाम चेति ॥७९२-७९५॥ अथ भवनपत्यादिदेवमार्गणास्वाह—

एगस्स जेट्ठबंधी णिंदियजोग्गअसुहपणरसगा। भवणतिगदुकप्पेसुं णियमाऽण्णाण गुरुमुअ छठाणगयं ॥
अइसुहधुवउरलाणं परघाऊसासबायरतिगाणं । णियमाऽणंतगुणूणं बंधइ आयवदुगस्स सिआ ॥
एगस्स तिव्वबंधी छेवट्ठकुखगइदुस्सराहिन्तो । सेसाण दोण्ह णियमा गुरुमगुरुं वा छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणूणं तिरियउरलदुगणिंदियधुवाणं । परघाऊसासाणं तसचउगपणाथिराईणं ॥

उज्जोअस्सऽणुभागं बंधेइ सिआ अणंतगुणहीणं। सेसाण सुरव्व णवरि भवणतिगे बंधए ण जिणं ॥

(मूलगाथा–७९६-८००)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क सौधर्मेशानरूपासु पञ्चसु देवमार्गणासु तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनाम हुंडकसंस्थाननाम दुःस्वरवर्जाऽस्थिरादिपञ्चकमुपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्करूपमप्रशस्तध्रुवबन्धिनीपञ्चकं स्थावरनाम चेत्येकेन्द्रियप्रायोग्याप्रशस्तप्रकृतिपञ्चदशकस्य मध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः 'अण्णाण' त्ति अन्यासां तद्भिन्नानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति। आसामुत्कृष्टरसस्तीव्रसंक्लेशेन बध्यते, प्रस्तुतमार्गणासु तीव्रसंक्लिष्टस्य पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्बन्धाभावात्, एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोर्बन्धो नियमाद्भवतीति देवौघमार्गणातोऽत्र विशेषः। 'अट्ठसुहे'त्यादि, अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः औदारिकशरीरनाम पराघातोच्छ्वासौ बादरत्रिकञ्चेति चतुर्दशानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति। आतपनामोद्योतनाम्नोरनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति। हेतुरत्राऽनन्तरोक्तदेवौघमार्गणावद्।

'एगस्से' त्यादि, सेवार्तनामकुखगतिनामदुःस्वरनाममध्यादेकस्योत्कृष्टरसबन्धकः 'दोण्ह' त्ति, तद्भिन्नयोर्द्वयो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, इहाऽऽसामुत्कृष्टरसस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेनाऽष्टादशकोटिकोटिसागरोपममिततत्स्थितिबन्धकेन बध्यते। ततः किम्? देवौघमार्गणोक्तनीत्या नरकवदित्यनतिदिश्य पृथगुक्तम्. देवौघमार्गणायान्तु तिर्यग्द्विकादिवदासामप्युत्कृष्टरसस्तीव्रसंक्लेशेन जन्यते, अतो नरकवदित्यतिदेशः। अत्र त्रयाणां स्वामिनोऽविशेषादुत्कृष्टमित्यादि। नियमाद्बन्धस्तु तथाविधसंक्लिष्टस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। 'तिरियउरले' त्यादि, तिर्यग्द्विकमौदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कं दुःस्वरवर्जपञ्चाऽस्थिराद्यश्चेत्येकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तत्राऽनन्तगुणहीनत्वं तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात्, औदारिकद्विकादीनाञ्च प्रशस्तत्वात्। नियमाद्बन्धस्तु तथाविधसंक्लिष्टस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। 'उज्जोअस्से' त्यादि, उद्योतनाम्नो रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, उद्योतस्य प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वादनन्तगुणहीनमिति। तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात् स्यादिति। 'सुरव्वे' त्यादि, उक्तशेषाणामेकोनचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसंनिकर्षोऽनन्तरोक्तदेवौघमार्गणावद्भवति। इमाश्च ता एकोनचत्वारिंशत्प्रकृतयः-मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं सेवार्त्तवर्जसंहननपञ्चकं हुंडकवर्जसंस्थानपञ्चकं प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसदशकं पराघातो-च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योतजिननामानि चेति। 'णवरि' इत्यादि, भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्करूपे भवनत्रिक उक्तशेषा अष्टात्रिंशत्प्रकृतयो वाच्याः, तत्र जिननाम्नो बन्धाभावात्, तथा याभिः प्रकृतिभिः सह जिननाम्नः स्याद्बन्ध उक्तः सोऽपि न वक्तव्यः, तद्बन्धाभावादिति ॥७९६-८००॥

अथाऽऽनतादिदेवमार्गणासु प्रकृतमाह—

णिरयव्व सण्णियासो गेविज्जंतेसु आणताईसुं । णेयो इगवण्णाए सप्पाउग्गाण सव्वेसिं ॥
णवरमसुहगुरुबंधी ण बंधए तिरिदुगुज्जोअं। मणुयजुगलस्स णियमा बंधेइ अणंतगुणहीणं ॥ (उपगीतिः)
(मूलगाथा–८०१-८०२)

(प्रे०)"णिरयव्वे"त्यादि, आनतादिग्रैवेयकान्तासु त्रयोदशसु देवमार्गणासु 'सप्पाउग्गाण' त्ति मार्गणाप्रायोग्याणामेकपञ्चाशल्लक्षणानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षः प्रागुक्तनरकमार्गणावज्ज्ञेयः, कुतः ? तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां सादृश्यात्, तद्यथा– मनुष्यद्विकादीनां प्रशस्तानामुत्कृष्टरसबन्धस्य नरकमार्गणायां यथा स्वस्थानसुविशुद्धसम्यग्दृष्टयः स्वामिनस्तथेहापि । अप्रशस्तानां यासामुत्कृष्टरसबन्धस्य यथा तत्र तीव्रसंक्लिष्टस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो वा स्वामी तथाऽत्राऽपीति । किञ्चिद्विशेषस्तु 'णवर' मित्यादिना वक्ष्यते। इमाश्च ता एकपञ्चाशत्प्रकृतयः मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं षट्संहननानि षट्संस्थानानि अप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकं विहायोगतिद्विकं त्रसदशकमस्थिरषट्कं पराघातो-च्छ्वासौ जिननाम चेति । अथ विशेषमेवाऽऽह–'णवरं' ति अप्रशस्तानामुत्कृष्टं रसं बध्नंस्तिर्यग्द्विकमुद्योतं च न बध्नाति, मनुष्यद्विकस्य रसं त्वनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । अयं भावः–प्रस्तुतमार्गणासु तथास्वाभाव्येन तिर्यग्द्विकमुद्योतनाम च न बध्येते, अतोऽप्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकेनाऽपीह मनुष्यद्विकमेव बध्यते, नरकमार्गणायां तु इदृक्षेन बन्धकेन तिर्यग्द्विकं नियमादुद्योतनाम च स्याद् बध्यत इति । प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वादिह मनुष्यद्विकस्य रसोऽनन्तगुणहीनः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् नियमाच्च बध्यते॥८०१-८०२॥ अथाऽनुत्तरसुरमार्गणासु प्रकृतमाह—

तिव्वरसं बंधंतो एगस्स अणुत्तरेसु असुहस्स । असुहाणं सत्तण्हं णियमा गुरुमुअ छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ रसं अणंतगुणहीणमण्णेसिं । पणवीसाए णियमा णिरयव्व हवेज्ज सेसाणं ॥
(मूलगाथा–८०३-८०४)

(प्रे०) 'तिव्वरस' मित्यादि, पञ्चस्वनुत्तरसुरमार्गणासु नामकर्मणोऽष्टावप्रशस्तप्रकृतयो बध्यन्ते, ताभ्य एकस्या अप्रशस्तप्रकृतेरुत्कृष्टरसं बध्नन् तद्भिन्नानां शेषसप्तानामप्रशस्तप्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, स्वामिनस्तुल्यसंक्लिष्टत्वादुत्कृष्टमित्यादि । संक्लिष्टस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावान्नियमादिति । अष्टौ चेमाः-अस्थिरा-ऽशुभे अयशःकीर्तिनाम उपघातनाम अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कञ्चेति । 'तित्थस्स' त्ति जिननाम्नो रसमनन्तगुणोनं स्याच्च बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वाज्जिननाम्नस्तु प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनमिति । एतत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात्स्यादिति । 'अण्णेसिं' ति उक्ताऽतिरिक्तानां पञ्चविंशतेः प्रशस्तत्वात्तद्रसमनन्तगुणहीनं, मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वाच्च नियमाद् बध्नाति । पञ्चविंशतिश्चेमाः–मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं प्रथमसंहननं समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातोच्छ्वासौ चेति । 'णिरयव्व' त्ति अप्रशस्तानामुक्तत्वादिह बन्धार्हाणामेकोनत्रिंशल्लक्षणानां सर्वासां शेषप्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो नरकौघमार्गणावद्भ-

वति, स्वामिनोऽविशेषादुभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्य विशुद्धसम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वादिति भावः । इमाश्च ताः शेषप्रकृतयः अनन्तरोक्ताः पञ्चविंशतिः स्थिरशुभयशःकीर्तिजिननामानि चेति ॥८०३-८०४॥ अथैकेन्द्रियौघादिषु सप्तस्वेकेन्द्रियभेदेष्वाह—

सव्वेसु एगिंदियभेएसु वइरपणिंदिउरलदुगा । सुखगइआगिइधुवपरघाऊसासतसदसगाओ ॥
एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णेसिं गुरुं छठाणगयं । अगुरुं व रस बंधइ णरदुगउज्जोअगाण सिआ ॥
णियमा बंधेइ असुहधुवबंधीणं अणतगुणहीणं । कुणइ तिरिदुगस्स सिआ णियमा उज्जोअगुरुबंधी ॥
सुहतिरिजोग्गाण गुरु छट्ठाणगयं वऽणंतगुणहीणं । तिरिदुगअसुहधुवाणं अपज्जमणुयव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा–८०५-८०८)

(प्रे०) 'सव्वेसु' इत्यादि, सर्वासु सप्तलक्षणास्वेकेन्द्रियमार्गणासु वज्रर्षभनाराचं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकम्, प्रशस्तविहायोगतिः, समचतुरस्रम्, अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः, पराघातोच्छ्वासौ, त्रसदशकञ्चेति षड्विंशतेर्मध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः 'अण्णेसिं' ति तद्भिन्नानामन्यासां पञ्चविंशते रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, षड्विंशतेरप्युत्कृष्टरसस्य सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वादिहोत्कृष्टमित्यादि । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्योत्कृष्टविशुद्धत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । मनुष्यद्विकोद्योतरूपाणां तिसृणां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, सुविशुद्धत्वेऽपि तेजोवायूनां तथास्वाभाव्येन मनुष्यद्विकस्य बन्धाभावात्, उद्योतनाम्नस्तु बन्धस्यैव कादाचित्कत्वादुक्तं स्यादिति । 'णियमा' इत्यादि, उपघाताऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्करूपाणां पञ्चानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । आसामुत्कृष्टरसस्य संक्लिष्टेन बध्यमानत्वात्प्रस्तुतबन्धकस्य च विशुद्धत्वादनन्तगुणहीनमिति । नियमाद्बन्धस्तु आसां ध्रुवबन्धित्वात् । तिर्यग्द्विकस्याऽनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, प्रस्तुतमार्गणान्तर्गतानां सुविशुद्धानां तेजोवायुव्यतिरिक्तानां तद्बन्धाभावादुक्तं स्यादिति । अनन्तगुणहीनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वात् । 'णियमा उज्जोअ०' इत्यादि, उद्योतनाम्नो गुरुरसबन्धकस्तिर्यक्प्रायोग्यशुभप्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमेन बध्नाति । तीव्रविशुद्धया तेजस्कायवायुकायिकानां तद्बन्धप्रवर्त्तनात् । तथा स एव बन्धकस्तिर्यग्द्विकस्याशुभध्रुवप्रकृतीनां च रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, अप्रशस्तत्वे सति विशुद्धया बध्यमानत्वात् । 'सेसाण' ति उक्तशेषाणामिह बन्धप्रायोग्याणां पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः अपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् बोध्यः, कुतः ? उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामविशेषात्, यथा तत्र तथेहापि तदुत्कृष्टरसस्य मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशेन मध्यमसंक्लेशेन तादृग्विशुद्धया वा बध्यमानत्वात् । इमाश्च ताः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः–मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामाऽऽतपनाम स्थावरदशकञ्चेति ॥८०५-८०८॥

अथ द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु प्रकृतमाह—

दुपणिंदियतसपणमणवयकायपुरिसकसायचउगेसुं । चक्खुअचक्खूसु तहा भवियेसण्णिम्मि आहारे ॥
ओघव्व सण्णियासो तिव्वणुभागस्स सव्वपयडीणं । विण्णेयो णवरि पुमे उज्जोअस्सऽज्जणिरयव्व ॥

(मूलगाथा–८०९-८१०)

(प्रे०) 'दुपणिंदिये'त्यादि, ओघपर्याप्तभेदभिन्नौ द्विपञ्चेन्द्रियौ तादृशौ द्वित्रसकायौ पञ्चमनोयोगाः पञ्चवचनयोगाः काययोगौघः पुरुषवेदः कषायचतुष्कं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं भव्यः संज्ञ्याहारी चेति पञ्चविंशतिमार्गणास्वेकमप्रतिरूपाणां सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्ष ओघवद्भवति, उत्कृष्टरसबन्धकानामुभयत्राऽविशेषात्स्वामिमाम्यादिति भावः । अथाऽत्रैव संभाव्यमानं किञ्चिद्विशेषं दर्शयति 'णवरि'इत्यादिना, पुरुषवेदमार्गणायामुद्योतनाम्न आद्यनरकमार्गणावद्भवति न त्वोघवदिति । कुतः ? उच्यते, ओघे तु सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य सर्वविशुद्धस्य तदुत्कृष्टरसबन्धः, प्रस्तुतमार्गणायां नारकाणामप्रवेशः, उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसस्तु यथा प्रथमनरके तथेहाऽपि स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धया बध्यते इति कृत्वा, तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनोरविशेषादिति भावः ॥८०९-८१०॥ अथ सर्वतेजोवायुमार्गणास्वाह–

सव्वग्गिणिवाऊसुं ओरालियदुगपणिंदिवइराओ । सुखगइआगिइधुवपरघाऊसासतसदसगाओ ॥
एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुअ छठाणगयं । वुज्जोअस्स धुवा तिरिदुगअसुहधुवाणऽणंतगुणहीणं ॥
उज्जोअस्सेवमपज्जणरविवराण णवरि ण णरदुगं । णियमाऽण्णदुगं ······ · ································

(मूलगाथा–८११-८१२)

(प्रे०) 'सव्वागणि०'इत्यादि, सप्तस्वग्निकायमार्गणासु सप्तसु च वायुकायमार्गणास्विति चतुर्दशसु मार्गणास्वौदारिकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वज्रर्षभनाराचनाम प्रशस्तविहायोगतिः प्रथमसंस्थाननामाऽष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासौ त्रसदशकं चेति षड्विंशतेर्मध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः 'ऽण्णाण' त्ति तद्भिन्नानामन्यासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, सर्वासां प्रशस्तत्वे सति सर्वविशुद्धयैवोत्कृष्टरसबन्धप्रवर्तनादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि । नियमाद्बन्धस्तु, सर्वविशुद्धस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'वुज्जोअस्स' त्ति उद्योतनाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, सर्वविशुद्धस्येह पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वेनोद्योतनाम्नस्तु तिर्यक्प्रायोग्यप्रशस्तत्वेनोक्तमुत्कृष्टमित्यादि । तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वादुक्तं स्यादिति । तिर्यग्द्विकं पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यश्चेति सप्तानामनन्तगुणहीनं 'धुवा' त्ति नियमाच्च बध्नाति । अनन्तगुणहीनत्वमासामप्रशस्तत्वात्प्रकृतबन्धकस्य च विशुद्धत्वात् । नियमाद्बन्धः पुनस्तिर्यग्द्विकस्याऽपि ध्रुवबन्धित्वाद् मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वादिति भावः ॥८११-८१२॥ 'उज्जोअस्सेवं' ति उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवज्ज्ञेयः, कुतः ? तदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽप्यौदारिकद्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धवत् सर्वविशुद्धया प्रवर्तनात् । उद्योतनाम्नो रसं स्याद्बध्नातीति न वक्तव्यम् , तदुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षस्य प्रस्तुतत्वात् । नवरमिहाऽन्यासामौदा-

रिकद्विकादीनां षड्विंशतेरुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नातीति वक्तव्यं न तु पञ्चविंशतेरिति, षड्विंशतेरपि तद्भिन्नत्वात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-'इयराणे' त्यादि, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद् वाच्यः, स्वामिनोरविशेषात् , उभयत्र तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानसंक्लिष्टादिस्वामिकत्वादिति भावः । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः-तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तविहायोगतिरुपघातनामाऽऽतपनाम स्थावरदशकञ्चेति त्रयस्त्रिंशदिति । अथाऽत्रैव विशेषमाह-'णवरि'इत्यादिना, मनुष्यद्विकं न बध्नाति 'ऽण्णदुगं' ति देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धानर्हत्वात्तिर्यग्द्विकं नियमाद् बध्नाति । किमुक्तं भवति ? अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां द्वितीयतृतीयसंहननयोस्तादृक्संस्थानयोश्चोत्कृष्टरसं बध्नन् मनुष्यद्विकमपि बध्नाति, ततश्च तिर्यग्द्विकं स्याद् बध्यते मनुष्यद्विकबन्धकमाश्रित्य तिर्यग्द्विकं न बध्यते इतरमाश्रित्य तु तद् बध्यत इति भावः । इह तु तथास्वाभाव्यात् मनुष्यद्विकस्य बन्धो नास्ति, तेन सर्वबन्धकेन तिर्यग्द्विकमेव बध्यते, तदपि नियमात् , कुतः ? प्रतिपक्षभूतानां मनुष्यादिद्विकानां बन्धाभावात् ।अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामाह-

। ......णरुरलदुगवइराण तिरियव्वुरलमीसे ॥
एगस्स तिव्वबंधी देवविउव्वदुगपणिंदियाउ तहा । सुखगइआगिइधुवपरघाऊसासतसदसगाओ ॥
णियमाऽण्णेसि तिव्वं अहव अतिव्वं रसं छठाणगयं । तित्थस्स सिआ णियमा असुहधुवाणं अणंतगुणहीणं ॥
तित्थस्सेवमपज्जणरव्विवरेसिं सुरव्व विउव्वदुगे । सप्पाउग्गाण णवरि ओघव्वुज्जोअणामस्स ॥
(मूलगाथा-८१३-८१६)

(प्रे०) 'णरुरल०' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम चेति पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्षस्तिर्यग्गत्योघवद्भवति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनोरविशेषात् , उभयत्र तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वादिति भावः । 'एगस्से' त्यादि, देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम समचतुरस्रसंस्थाननाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्ताश्चाष्टौ पराघातोच्छ्वासौ त्रसदशकञ्चेति सप्तविंशतिप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः तद्भिन्नानामन्यासां षड्विंशतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं रसमुत्कृष्टं षट्स्थातपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, आसां सर्वासामुत्कृष्टरसस्य सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात् प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च । 'तित्थस्स' त्ति जिननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । केषाञ्चिदेव तत्प्रकृतिबन्धस्य भावादिहोक्तं स्यादिति । 'असुहे' त्यादि, पञ्चानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, आसामप्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु विशुद्धत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । नियमाद्बन्धस्त्वासां ध्रुवबन्धित्वात् । 'तित्थस्सेव'मित्यादि, जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवज्ज्ञेयः, देवद्विकादिवत्तदुत्कृ-

ष्टरसबन्धस्याऽपि सर्वविशुद्धया प्रवर्तनात् । नवरमिह जिननाम्नो रसं स्याद् बध्नातीति न वक्तव्यम्, तत्सन्निकर्षस्य प्रस्तुतत्वात् । तथा देवद्विकादीनां सप्तविंशतेरुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा बध्नातीति वक्तव्यम् । न तु षड्विंशतेरिति, सप्तविंशतेरपि तद्भिन्नत्वादिति । अथोक्तशेषाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमतिदिशति । 'अपज्जणरव्वे' त्यादिना, उक्तशेषाणां चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद्भवति, कुतः? उभयत्र स्वामिनोरविशेषात् । तद्यथा–यथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तथेहाप्यामायुक्तशेषाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसो यथासंभवं सूक्ष्मैकेन्द्रियादिप्रायोग्यबन्धकैर्मनुष्यप्रायोग्यबन्धकैर्वा बध्यते । इमाश्च ता उक्तशेषाश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतयः–तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकं पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽप्रशस्तविहायोगतिनामाऽऽतपनामोद्योतनाम स्थावरदशकञ्चेति ।

अथ बहुतत्समानवक्तव्यत्वाद्वैक्रियतन्मिश्रकाययोगरूपे वैक्रियद्विके प्रस्तुतं सन्निकर्षं देवौघमार्गणावदतिदिशति–'सुरव्वे'त्यादिना, वैक्रियकाययोगो वैक्रियमिश्रकाययोग इति मार्गणाद्वये स्वप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो देवौघमार्गणावद्भवति, स्वामिनोरविशेषात् । उभयत्र स्वस्थानोत्कृष्टादिविशुद्धिप्रमुखेन तदुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । नारकाणां वैक्रियादियोगित्वेऽपि नाऽत्र नरकमार्गणातिदेशः, यतो नरकवदित्यतिदिष्ट इहाऽपि पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्नियमाद्बन्ध आपद्येत, नारकाणां तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । प्रस्तुतमार्गणयोस्त्वीशानान्तदेवानामेकेन्द्रियजात्यादिबन्धोऽप्यस्ति, ततः प्रस्तुतमार्गणयोः सुरमार्गणावत्पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्बन्धः स्याद्भवति, अतो नरकवदित्यनतिदिश्य सुरमार्गणावदित्यतिदिष्टम् । अथाऽत्रैव विशिनष्टि 'णवर' मित्यादिना, उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, न तु सुरमार्गणावद्, यतः सुरमार्गणायां तदुत्कृष्टरसबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः, वैक्रियमिश्रमार्गणायां सुविशुद्धमिथ्यादृष्टिः, वैक्रियमार्गणायां त्वोघवत्सम्यक्त्वाभिमुखः सर्वविशुद्धमिथ्यादृष्टिः सप्तमपृथ्वीनारक इति । ॥८१३-८१६॥ अथाऽऽहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोराह—

एगस्साहारदुगे सुरपाउग्गाउ तित्थवज्जाओ । गुरुबंधी सेसाणं णियमा गुरुमुअ छठाणगयं ॥
णियमाऽणतगुणूणं असुहधुवाण कुणए जिणस्स सिआ । जिव्वमुअ छठाणगय अतिव्वमेमेव तित्थस्स ॥
असुहस्स तिव्वबंधी असुहाण गुरुमहवा छठाणगयं । णियमाऽणंतगुणूण जिणवज्जाण जिणस्स सिआ ॥

(मूलगाथा-८१७-८१९)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, आहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोग इति मार्गणाद्विके 'सुरपाउग्गाउ' त्ति जिननाम्नोऽप्रशस्तानां च वक्ष्यमाणत्वाज्जिननामवर्जदेवप्रायोग्यसप्तविंशतिप्रशस्तप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः शेषाणां तद्भिन्नानां षड्विंशतेः प्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, सर्वासामुत्कृष्टरसस्य सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च । उपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्करूपाणां पञ्चानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां

रसं नियमादनन्तगुणहीनं च बध्नाति, आसां ध्रुवबन्धित्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वे सत्या-सामप्रशस्तत्वात्।'जिणस्स' त्ति जिननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्याऽपि सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात्केषाञ्चिदेव तत्प्रकृतिबन्धस्य सत्त्वाच्च। अथ जिननाम्नः प्रस्तुतसन्निकर्षमतिदिशति-'एमेवे' त्यादिना, जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद्व-र्तते, तदुत्कृष्टरसस्याऽपि सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात्। नवरं जिननाम्नो रसं स्याद् बध्नातीति न वाच्यम्, तदुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षस्यैव प्रस्तुतत्वात्। शेषाणां सप्तविंशतेरिति वाच्यम्, न तु षड्-विंशतेरिति, सप्तविंशतेरपि तद्भिन्नत्वात्। अथाप्रशस्तप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षमाह–'असुहस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्य षष्ठगुणस्थानवर्तित्वेन शेषाप्रशस्तप्रकृतीनां बन्धाभावात् पञ्चाप्रशस्तध्रुव-बन्धिन्योऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तयश्चेत्यष्टप्रकृतिमध्यादेकस्या अशुभप्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धकः शेषाणां तद्भिन्नानां सप्तानामशुभानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, तदुत्कृष्ट-रसस्य तुल्यसंक्लेशजन्यत्वात्पञ्चानां ध्रुवबन्धित्वात् अस्थिरादीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च। 'जिणवज्जाण' त्ति अप्रशस्तानामुक्तत्वात्प्रतिपक्षभूतस्य अस्थिरादिप्रकृतित्रिकस्य बन्धसद्भावेन स्थिरनामादीनां तिसृणां प्रशस्तप्रकृतीनां बन्धाभावाच्च जिननामवर्जानां त्रयोविंशतेः प्रशस्तप्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वे सत्यासां प्रशस्तत्वात्। नियमा-द्बन्धस्त्वासां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्। जिननाम्नो रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, जिननाम्नः प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनम्। तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात्स्यादित्युक्तम् ॥८१७-८१९॥

अथ कार्मणानाहारमार्गणयोः प्रकृतमाह—

बंधेमाणो तिरिदुगहुंडअसुहधुवपणाथिराईओ । कम्माणाहारेसुं तिव्वं अणुभागमेगस्स ॥
णियमाऽण्णेसि तिव्वं अहव अतिव्वं रसं छठाणगयं । थावरचउगेगिंदियछिवट्ठकुखगइसराण सिआ ॥
सुहधुवुरलाण णियमाऽणंतगुणूणं सिआयवदुगस्स । उरलोवंगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं ॥
तसदसगपणिंदियपरघूससुखगइआगिइधुवाओ । एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुअ छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणूणं असुहधुवाण गुरुमुअ छठाणगयं । णरसुरउरलविउव्वदुगजिणवइराणं सिआ जिणस्सेवं ॥
एगस्स तिव्वबंधी एगिंदियथावराउ इयरस्स । तह तिरिदुगहुंडअसुहधुवबंधिपणाथिराईणं ॥
णियमा बंधइ तिव्व अहव अतिव्व रसं छठाणगयं। बंधेइ सिआ उ सुहुमअपज्जसाहारणामाण ॥
अडसुहधुवउरलाणं णियमा बंधइ अणंतगुणहीणं । परघाऊसासाऽऽयवदुगाण बायरतिगस्स सिआ ॥
एगस्स तिव्वबंधी सुहुमतिगा बंधए रसं तिव्वं । अगुरुं व छठाणगयं णियमा अण्णाण दोण्ह तहा ॥
तिरिदुगिगिंदियहुंडअसुहधुवथावरपणाथिराईणं । णियमा बंधइ सुहधुवउरलाण अणंतगुणहीणं ॥
णरुरलदुगवइरकुमरखगईण सुरव्व उरलमीसव्व । देवविउव्वदुगाणं हवेज्ज ओघव्व सेसाणं ॥

(मूलगाथा-८२०-८३०)

(प्रे०) 'बंधेमाणो' इत्यादि, कार्मणकाययोगाऽनाहारमार्गणयोस्तिर्यग्द्विकं हुंडकं पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो दुःस्वरस्य वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जपञ्चाऽस्थिरादय इति त्रयोदश-प्रकृतिमध्यादेकस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टं रसं बध्नन् 'ऽण्णेसिं' ति अन्यासां तद्भिन्नानां द्वादशानामि-

त्यर्थ उत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्य तुल्यसंक्लेशजन्यत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य सर्वसंक्लिष्टत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च । स्थावरचतुष्कमेकेन्द्रियजातिनाम सेवार्तं कुखगतिर्दुःस्वरश्चेत्यष्टानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, तिर्यग्द्विकादिवदासामपि रसस्य सर्वसंक्लेशजन्यत्वादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि । स्याद्बन्धस्तु, तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनानात्वात्, तिर्यग्द्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धकैः कैश्चिदेव ता बध्यन्त इति भावः. तद्यथा–स्थावरनामैकेन्द्रियजातिश्च सर्वसंक्लिष्टैरपीशानान्तदेवमनुष्यतिर्यग्भिरेव बध्येते, न शेषदेवैर्न वा नारकैः,तेषामेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धाभावात् । सूक्ष्मत्रिकं मनुष्यतिर्यग्भिरेव बध्यते देवनारकैस्तु न बध्यते, अनन्तरभवे तेषां सूक्ष्मादितयोत्पादाभावात्, सेवार्तनाम कुखगतिर्दुःस्वरनामेति प्रकृतित्रयं सर्वसंक्लिष्टैः सनत्कुमारादिदेवैर्नारकैश्च बध्यते, सर्वसंक्लिष्टानामपि तेषां पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावात्, ईशानान्तदेवैर्मनुष्यतिर्यग्भिश्च न बध्यते, सर्वसंक्लिष्टानां तेषामेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धप्रवर्तनात् । 'सुहधुवे' त्यादि, अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीनाम चेति नवानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वे सत्यासां प्रशस्तत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । औदारिकनाम्नः प्रस्तुतबन्धकमाश्रित्य ध्रुवबन्धिकल्पत्वादुक्तं नियमादिति । 'आयवदुगस्से' त्यादि, आतपोद्योतनाम्नः औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम पञ्चेन्द्रियजातिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कञ्चेति दशानां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, आसामनन्तगुणहीनरसं तु प्रशस्तत्वात् । स्याद्बन्धस्त्वातपोद्योतनाम्नोर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात्पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य च भिन्नस्वामिकत्वात् । तद्यथा–तीव्रसंक्लिष्टैरपि नारकैः सनत्कुमारादिदेवैश्चौदारिकाङ्गोपाङ्गनामपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामानि बध्यन्ते, तथाविधैरीशानान्तदेवैर्मनुष्यतिर्यग्भिश्च तानि न बध्यन्ते, तेषामेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वात् । बादरत्रिकपराघातोच्छ्वासनामानि देवनारकैर्बध्यन्ते, मनुष्यतिर्यग्भिस्तु न, तेषां सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणप्रायोग्यबन्धकत्वात् ।

अथ त्रसदशकादीनां प्रस्तुतं सन्निकर्षमाह–त्रसदशकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी प्रशस्तविहायोगतिः समचतुरस्रसंस्थानम् 'धुवा' त्ति अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यश्चेति त्रयोविंशतिप्रकृतिमध्यादेकस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धकोऽन्यासां तद्भिन्नानां द्वाविंशतेः प्रकृतीनामित्यर्थः, उत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं नियमाच्च बध्नाति,सर्वासामुत्कृष्टरसस्योत्कृष्टरूपया तुल्यविशुद्ध्या जन्यत्वादुत्कृष्टमित्यादि । उत्कृष्टविशुद्धिमतां चतुर्गतिकानामपि सम्यग्दृशां ध्रुवतया तद्बन्धप्रवर्तनादुक्तं नियमादिति । 'असुहधुवाण' त्ति पञ्चानामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां रसं नियमादनन्तगुणहीनं च बध्नाति, तासां ध्रुवबन्धित्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धत्वे सत्यासामशुभत्वात् । 'णरसुरे' त्यादि, मनुष्यद्विकं देवद्विकमौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं जिननाम वज्रर्षभनाराचनाम चेति दशानां प्रत्येकं रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसबन्धकानामपि

सर्वविशुद्धत्वादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि। जिननामप्रकृतिबन्धस्य तथात्वात्, मनुष्यद्विकादीनां चोत्कृष्टरसबन्धस्य नारकमनुष्यादिभिन्नभिन्नस्वामिकत्वादुक्तं स्यादिति।

अथ जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमतिदिशति–'**जिणरसे**' त्यादि, जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद्भवति, त्रसदशकवत्तदुत्कृष्टरसस्याऽपि सर्वविशुद्धया जन्यत्वात्। नवरमत्र जिननाम्नः रसं स्याद् बध्नातीति न वक्तव्यम्, तत्सन्निकर्षस्यैव प्रस्तुतत्वात्। शेषाणां त्रसदशकादीनां त्रयोविंशतेरिति वक्तव्यम्, न तु द्वाविंशतेरिति, त्रयोविंशतेरपि तद्भिन्नत्वात्।

अथैकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नोः प्रस्तुतमाह–एकेन्द्रियजातिस्थावरनाममध्यादेकस्योत्कृष्टरसबन्धकः '**इयरस्स**' तदितरस्य तथा तिर्यग्द्विकं हुंडकं पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो दुःस्वरस्य त्रसप्रायोग्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च स्थावरप्रायोग्यबन्धकत्वात्तद्वर्जा अस्थिरादयः पञ्चेति त्रयोदशानां च रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, आसां सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशलक्षणेन तुल्यसंक्लेशेन बध्यमानत्वादुत्कृष्टमित्यादि। नियमात्तद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। '**सुहमे**' त्यादि, सूक्ष्मनामाऽपर्याप्तनाम साधारणनामेति तिसृणां प्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्याऽपि तीव्रसंक्लेशजन्यत्वादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि। तीव्रसंक्लिष्टानामपि देवानां तद्बन्धासम्भवात् स्यादिति। '**अडसुह**' इत्यादि, अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनाम चेति नवानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, आसां प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वादुक्तमनन्तगुणहीनम्। नियमाद्बन्धस्तु, प्रस्तुतबन्धकेनौदारिकशरीरनामाऽपि ध्रुवतया बध्यत इति कृत्वा। पराघातोच्छ्वासाऽऽतपद्विकबादरत्रिकाणां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, आसां प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति। एकेन्द्रियजात्याद्युत्कृष्टरसबन्धकानां मनुष्यतिरश्चामपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन पराघातनामादिबन्धाभावात् तथाविधानां देवानान्तु पर्याप्तप्रत्येकबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धप्रद्भावेन तद्बन्धसद्भावादुक्तं स्यादिति। '**सुहमतिगा**' इत्यादि, सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणरूपसूक्ष्मत्रिकमध्यादेकस्योत्कृष्टरसबन्धकः तद्भिन्नयोर्द्वयोस्तथा तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनाम हुंडकं पञ्चाप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः स्थावरनाम दुःस्वरवर्जा अस्थिरनामादयः पञ्च चेति पञ्चदशानाञ्च रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, आसां सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात्। नियमाद्बन्धस्त्वासां सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणबन्धकप्रायोग्यत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। अष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनाम चेति नवानामनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, अत्र हेतुः प्राग्वत्।

अथ कतिपयप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षस्य देशौघतुल्यत्वकलाऽ्पतयातिदिशति–'**णरुरले**' त्यादि, मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचनाम '**कुसर**' त्ति दुःस्वरः कुखगतिश्चेति सप्तानां प्रकृतीना-

मुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्षः 'सुरव्व' त्ति देवौघमार्गणावद्भवति, कुतः ? प्रस्तुतमार्गणायां देवानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तिर्यग्मनुष्याणां तदुत्कृष्टरसबन्धाभावाच्च ।

'देवविउवे' त्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां प्रस्तुतः सन्निकर्ष औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणावद्भवति, कुतः ? स्वामिनोरविशेषात् , तथ्था–यथा तत्र तथेहापि मार्गणागतसर्वविशुद्धसम्यग्दृष्टिमनुष्यतिर्यञ्च एव तदुत्कृष्टरसबन्धका इति । 'ओघव्वे'त्यादि, उक्तशेषाणां चतुर्दशप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति । इमाश्च ताश्चतुर्दश–द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनामानि मध्यमसंस्थानचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमातपनामोद्योतनाम चेति ॥८२०-८३०॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह—

णिरयदुगदुस्सरखगइगुरुबंधी थीअ णिरयजोग्गाणं । णियमा गुरुमुअ छविहं असुहाण सुहाणऽणंतगुणहीण ॥
एगस्स गुरुं तिरिदुगएगिंदियथावराउ बंधंतो । णियमाऽण्णतिगस्स तहा हुंडअसुहधुवपणाथिराईणं ॥
तिव्वमुअ छठाणगयं परघाऊसासबायरतिगाणं । सुहधुवुरलाण णियमाऽणंतगुणूणं सिआऽऽयवदुगस्स ॥
छेवट्ठतिव्वबंधी बंधेइ तिरियउरालियदुगाण । धुवहुंडगतसबायरपत्तअपणाथिराईण ॥
णियमाऽणंतगुणूणं सिआ पणिंदियअपज्जगाण तहा । उज्जोअदुस्सरखगइपरघाऊसासपज्जाणं ॥
तिव्वमुअ छठाणगयं रसं अतिव्वं बिइंदियस्स सिआ । उज्जोअस्सऽत्थि पढमणिरयव्वोघव्व सेसाणं ॥
णवरि बिइंदियबंधी छेवट्ठस्स गुरुमुअ छठाणगय । हुंडगअसुहधुवपणाथिराइबंधी छिवट्ठबंगाओ ॥
(८३१-३२-३३-३७ गीतिः) (मूलगाथा–८३१-८३७)

(प्रे०) 'णिरये' त्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां नरकद्विकं दुःस्वरः कुखगतिनाम चेति चतुर्णां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धको नरकप्रायोग्याणामशुभानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, नरकद्विकादिप्रकृतिचतुष्कमध्याद्विवक्षिताया एकस्या उत्कृष्टरसं बध्नन्नरकप्रायोग्याणां चतुर्दशानां शेषाऽप्रशस्तप्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमतो बध्नातीति भावः । सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धकानां तुल्यसंक्लिष्टत्वात् , तथा तेषां नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात् । इमाश्च नरकप्रायोग्याः पञ्चदशाऽशुभाः प्रकृतयः–नरकद्विकं हुंडकं पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽप्रशस्तविहायोगतिरस्थिरषट्कञ्चेति । 'सुहाण' त्ति नरकप्रायोग्याणामित्यनुवर्तते शुभानां सप्तदशप्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं, शुभत्वात् , नियमाच्च बध्नाति प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावेन सर्वासां ध्रुवतया बन्धप्रवर्तनात् । सप्तदश चेमाः–पञ्चेन्द्रियजातिरष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो वैक्रियद्विकं पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कञ्चेति । 'एगस्से' त्यादि, तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनाम स्थावरनाम चेति चतुष्प्रकृतिमध्यादेकस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसं बध्नन् 'ऽण्णतिगस्स' त्ति अन्यासां तद्भिन्नानां तिसृणां प्रकृतीनां तथा हुंडकं पञ्चाप्रशस्तध्रुवबन्धिन्य एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्य स्वरबन्धायोगात् स्वरवर्जाऽस्थिरनामादयः पञ्चत्येकादशानां प्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्येशानान्तदेवानामेव तीव्रसंक्लेशलक्षणेन तुल्यसंक्लेशेन जन्यत्वादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि,तीव्रसंक्लिष्टस्याध्रुवाणामपि प्रतिपक्षप्रक-

तिबन्धाभावादुक्तं नियमादेति । तद्यथा–यद्यप्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकैरस्थिराशुभायशःकीर्तिरूपास्त्रिप्रकृतयः कदाचित्परावृत्त्या बध्यन्ते, स्थिरादिनामभिस्सह तद्बन्धपरावर्तनात् तथापि तीव्रसंक्लिष्टेन तु ता अस्थिरादय एव निरन्तरं बध्यन्ते । 'परघा' इत्यादि, पराघातनामोच्छ्वासबादरत्रिकप्रशस्तध्रुवबन्धिन्य औदारिकशरीरनाम चेति चतुर्दशानां रसं नियमादनन्तगुणहीनं च बध्नाति, देवानां तद्बन्धकत्वात्प्रशस्तत्वाच्च । प्रस्तुतमार्गणायां तीव्रसंक्लिष्टाभिर्देवीभिरेवैकेन्द्रियजात्यादीनामुत्कृष्टरसो बध्यते, तथाविधसंक्लिष्टानां मानुषीणां तिरश्चीनाञ्च नरकप्रायोग्यबन्धप्रवर्तनेन तद्बन्धायोगात् । 'सिआयवड्डुगस्स' त्ति आतपोद्योतनाम्नो रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, तयोः प्रशस्तत्वात् , वैकल्पिको बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात् ।

'छेवट्ठे' त्यादि, सेवार्तस्योत्कृष्टरसबन्धकस्तिर्यग्द्विकमौदारिकद्विकं प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्ना ध्रुवबन्धिन्यस्त्रयोदश हुंडकं त्रसनाम बादरनाम प्रत्येकनाम स्वरवर्जपञ्चाऽस्थिरादयश्चेति सर्वसंख्यया षड्विंशते रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तत्रौदारिकद्विकादीनां प्रशस्तत्वात्प्रस्तुतबन्धकस्य च तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वे सति तिर्यग्द्विकादीनामप्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् , तद्यथा–तीव्रसंक्लिष्टा देव्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धिका तथाविधा मानुषी तिरश्ची च नरकप्रायोग्यबन्धिका, अतस्तासां न सेवार्तनाम्नो बन्धः । तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा देवी पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं बध्नन्ती, तथाविधा मानुषी तिरश्ची चाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्ती सेवार्तस्योत्कृष्टं च रसबन्धं कुर्वन्ती तिर्यग्द्विकादीनामनन्तगुणहीनं रसं बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशादिजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'पणिंदिये' त्यादि, पञ्चेन्द्रियजातिनामाऽपर्याप्तनामोद्योतनाम दुःस्वरनाम दुःशब्दस्याऽत्राऽपि योजनात् दुःखगतिः कुखगतिनामेत्यर्थः पराघातो च्छ्वासनाम्नी पर्याप्तनाम चेत्यष्टानां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, एतावत्संक्लेशे पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नो देवीनामस्ति बन्धः मानुषीतिरश्चीनाञ्च स नास्ति तासामपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वात् । मानुषीतिरश्चीनामपर्याप्तनाम्नो बन्धो विद्यते, अनन्तरोक्तादेव हेतोः । देवीनान्तु स नास्ति, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वात्तासाम् , देवीनां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन कदाचिदुद्योतनाम बध्यते, मानुषीतिरश्चीनान्त्वपर्याप्तद्वीन्द्रियप्रायोग्यबन्धसद्भावेन न तासां तद्बन्ध इत्युद्योतनाम्नः कादाचित्को बन्धः । दुःस्वरनाम्नो बन्धो देवीनामस्ति, तासां पर्याप्तप्रायोग्यबन्धकत्वात् । मानुषीणां तिरश्चीनां स नास्ति, तासामपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकत्वात् । कुखगतिनाम्नोऽनन्तरोक्तवद्धेतुः । पराघातोच्छ्वासपर्याप्तनाम्नां बन्धो देवीराश्रित्यास्ति, तासां पर्याप्तप्रायोग्यबन्धकत्वात् । मानुषीणां तथा तिरश्चीनान्तु स नास्ति, अपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकत्वात् इति सर्वासां कादाचित्को बन्धः । द्वीन्द्रियजातिनाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, मानुषीतिरश्चीनां तुल्यसंक्लेशेन तदुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्तनेनोत्कृष्टमित्यादि । स्या-

द्बन्धस्तु देवीनां तद्बन्धाभावात् । अथोद्योतनाम्नः प्रस्तुतसन्निकर्षमतिदिशति **'पढमणिरयव्व'** त्ति उद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षो यथा प्रथमनारकमार्गणायामुक्तस्तथा ज्ञेयः, स्वामिनोरविशेषात् , उभयत्र तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानविशुद्धया जन्यत्वादिति भावः ।

अथोक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रकृतमतिदिशति-उक्तशेषाणामेकषष्टिप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां तत्सदृशत्वात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः—देवद्विकं मनुष्यद्विकं विकलत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकमाहारकद्विकं प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नास्त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः सेवार्तसंहननस्योक्तत्वात्तद्वर्जं संहननपञ्चकं षट्संस्थानानि प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी आतपनाम जिननाम त्रसदशकं स्थावरदुःस्वरनाम्नोरुक्तत्वात् तद्वर्जसूक्ष्माद्यष्टकञ्चेत्येकषष्टिरिति । अथाऽतिदिष्टार्थे समापतितामतिप्रसक्तिं परिहरति— **'णवरि'** त्यादिना, द्वीन्द्रियोत्कृष्टरसबन्धकः सेवार्तसंहननस्य रसं गुरुमगुरुं वा षट्स्थानपतितं बध्नाति, मध्यमसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् , हुंडकमप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकं स्थावरवर्जास्थिरादिपञ्चकञ्चेत्येकादशानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसं बध्नन् सेवार्त्तौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नी नैव बध्नाति, एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकानां नरकप्रायोग्यबन्धकानां वा तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । अयं भावः-ओघप्ररूपणायां हुंडकाद्युत्कृष्टरसबन्धकानां सेवार्तौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोः कादाचित्को बन्ध उक्तः, नरकसनत्कुमारादिदेवानां तद्बन्धकत्वात् , तीव्रसंक्लिष्टानां मानुषीतिरश्चीनां निरयगतिप्रायोग्यबन्धकत्वेन देवीनान्त्वेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन तद्बन्धाभावाच्च । प्रस्तुतमार्गणायां तु तद्बन्धो नास्ति, नारकादीनां मार्गणाबाह्यत्वादिति भावः ।।८३१-८३७।। अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह—

णपुमे छिवट्ठतिरिदुगगुरुबंधी तिव्वमुअ छठाणगयं । णियमा दुअण्णहुंडगकुखगइअसुहधुवअथिरछक्काणं ।।
सुहधुवपणिंदिपरघाऊसासुरलदुगतसचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणूणं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ।।
बंधतो एगिंदियथावरचउगाउ तिव्वमेगस्स । णियमाऽण्णाण चउण्ह गुरुमगुरु वा छठाणगयं ।।
तिरियदुगोरालाणं धुवहुंडाणं पणाथिराईणं । णियमाहिन्तो बंधइ अणुभागमणंतगुणहीणं ।।
हुंडकुखगइअसुहधुवअथिरछगेगस्स तिव्वरसबंधी । णियमाऽण्णेसिं तिव्व अहव अतिव्वं छठाणगयं ।।
बंधइ विउवुरलदुगुज्जोआण सिआ अणंतगुणहीणं । णियमा पणिंदिसुहधुवपरघाऊसासतसचउक्काणं ।।
तिव्वमुअ छठाणगयं सिआ णिरयतिरियदुगछिवट्ठाणं । सेसाणोघव्व णवरि सुहसुरजोग्गगुरुरसबंधी ।।
ण जिणं बंधइ जिणगुरुबंधी बंधइ अणंतगुणहीणं । सुहसुरपाउग्गाणं अवेअसुहमेसु णो चेव ।।

(प्र०षष्ठ० गीतिः) (मूलगाथा–८३८-८४५)

(प्रे०) **'णपुमे'**इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां सेवार्तनाम तिर्यग्द्विकञ्चेति त्रिप्रकृतिमध्यादन्यतमाया उत्कृष्टरसबन्धकः **'दुअण्ण'** त्ति तद्भिन्नयोरन्ययोर्द्वयोर्हुंडकनामकुखगतिनामाऽप्रशस्तध्रुवपञ्चकाऽस्थिरषट्कानाञ्च रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, आसां सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशलक्षणेन तुल्यसंक्लेशेन जन्यत्वात् । इह नारकाणामेव तद्-

त्कृष्टरसबन्धकत्वेन कुखगतिदुःस्वरनाम्नोरपि नियमाद्बन्धः । 'सुहधुवे'त्यादि, अत्रै प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजातिपराघातोच्छ्वासौदारिकद्विकत्रसचतुष्काणि चेति सप्तदशानामनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तासां प्रशस्तत्वात् , प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वादनन्तगुणहीनमिति । नयमाद्बन्धस्तु नारकानाश्रित्य तासां ध्रुवबन्धित्वात् । उद्योतनाम्नोऽपि प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनं रसं बध्नाति, स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वात् ।

'बंधंतो' इत्यादि, एकेन्द्रियजातिस्थावरचतुष्कमध्यादेकस्योत्कृष्टरसं बध्नन् 'अण्णाण' त्ति, तद्भिन्नानां चतुर्णां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, तत्प्रायोग्योत्कृष्टलक्षणेन तुल्यसंक्लेशेन तदुत्कृष्टरसस्य जन्यत्वात् । अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकानामेव मनुष्यतिरश्चां तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् , तानाश्रित्यासां पञ्चानामपि प्रकृतीनां ध्रुवबन्धिनीकल्पत्वादुक्तं नियमादिति । 'तिरिदुगे'त्यादि, तिर्यग्द्विकमौदारिकशरीरनाम ध्रुवबन्धिन्यस्त्रयोदश हुंडकमस्थिरादयः पञ्च चेति द्वाविंशतेरनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, तत्र तिर्यग्द्विकादीनामप्रशस्तत्वेऽपि तदुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् । औदारिकशरीरनामादीनां तु प्रशस्तत्वादनन्तगुणहीनमिति । नियमाद्बन्धस्तु तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ।

'हुंडे'त्यादि, हुंडकं कुखगतिः पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽस्थिरषट्कञ्चेति त्रयोदशप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः 'ऽण्णेसिं' ति तदितरासां द्वादशानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्य तुल्यसंक्लेशजन्यत्वात् , नियमाद्बन्धस्तु तादृशसंक्लेशे प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । वैक्रियद्विकौदारिकद्विकोद्योतनाम्नामनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, तत्राऽनन्तगुणहीनन्तु तासां प्रशस्तत्वात् । वैकल्पिको बन्धस्तु तीव्रसंक्लिष्टस्य प्रस्तुतबन्धकस्य मनुष्यस्य तिरश्चो वा नरकप्रायोग्यवैक्रियद्विकबन्धप्रवर्तनेनौदारिकद्विकबन्धाभावात् । नारकस्य तु वैक्रियद्विकबन्धासम्भवात् , उद्योतनाम्नस्तु बन्धस्य कादाचित्कत्वादुक्तं स्यादिति । 'णियमा पणिंदिये'त्यादि, गतार्थम् । तत्राऽनन्तगुणहीनं तु प्रशस्तत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य नरकप्रायोग्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याणां वा प्रकृतीनां बन्धकत्वेनाऽऽसां पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां पञ्चदशानां ध्रुवबन्धिकल्पत्वादुक्तं नियमादिति । तिर्यग्द्विकं नरकद्विकं सेवार्तनाम चेति पञ्चानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, हुंडकादिनामवदासामप्युत्कृष्टरसस्य सर्वसंक्लेशजन्यत्वादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि । वैकल्पिको बन्धस्तु तद्बन्धस्य भिन्नस्वामिकत्वात् , तद्यथा-तिर्यग्द्विकं सेवार्तं च नारकैर्बध्येते न तु मनुष्यतिर्यग्भिरपि । नरकद्विकन्तु मनुष्यतिर्यग्भिरेव बध्यत इति ।

अथोक्तशेषाणां प्रकृतीनामतिदिशति 'सेसाणं' त्यादि, गतार्थम् । अत्राऽयं हेतुः,-यथा तत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनस्तत्प्रायोग्याद्युत्कृष्टविशुद्ध्यादयस्तथेहापीति । उक्तशेषाः प्रकृतयस्तु पञ्चाशत्ता-

शेषाः मनुष्यद्विकं देवद्विकं नरकद्विकं विकलत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं चरमवर्जसंहननपञ्चकं चरमवर्जसंस्थानपञ्चकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी आतपोद्योतनाम्नी जिननाम त्रसदशकञ्चेति । अथ 'णवरि' इत्यादिना अपवादं दर्शयति–सुरप्रायोग्यशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकः क्षपकोऽतो जिननामकर्म नैव बध्नाति, नपुंसकवेदिनस्तीर्थंकरत्वायोगात् । तथा जिननामगुरुरसबन्धक उपशामकोऽतः सुरप्रायोग्यशुभप्रकृतीनां नियमेन बन्धकस्तथापि तदुत्कृष्टरसादनन्तगुणहीनं रसं तासां प्रकृतीनां बध्नाति, उत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात् ।

अवेदसूक्ष्मसंपरायमार्गणयोः प्रस्तुतं निषेधति-'अवेअ' इत्यादि, गतार्थम् । कथं न भवतीति चेदुच्यते, तत्र नामकर्मण एकस्य यशःकीर्तिनाम्न एव बन्धसद्भावादिति ।।८३८-८४५।।

अथ त्रिज्ञानादिमार्गणास्वाह—

असुहस्स तिव्वबंधो तिणाणऽवहिसम्मखइउवसमेसु । सत्तण्ह असुहाणं णियमा गुरुमुअ छठाणगयं ।।
णियमाऽणंतगुणूणं पणिंदिसुहखगइआगिइधुवाणं । परघाऊसाससुहगतिगतसचउगाण बंधेइ ।।
णरसुरउरलविउव्वदुगजिणवइराणं अणंतगुणहीणं । बंधइ सिआ सुहाणं णामाणोघव्व विण्णेयो ।।
णवरि उवसमे णरुरलदुगवइराण तह अट्ठअसुहाणं । तिव्वरस बंधंतो ण चेव बंधेइ जिणणामं ।।

(मूलगाथा–८४६-८४९)

(प्रे०) 'असुहस्से' त्यादि, त्रिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षायिकसम्यक्त्वोपशमसम्यक्त्वरूपासु सप्तसु मार्गणास्वेकस्या अशुभप्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धकः शेषाणां तद्व्यतिरिक्तानां सप्तानां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, नियमाद्बन्धस्तु तीव्रसंक्लिष्टस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्चाऽष्टावप्रशस्तप्रकृतयः–अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामानि चेति । 'पणिंदि' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां विंशतेः प्रकृतीनामनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वे सत्यासां प्रशस्तत्वात् । अविच्छिन्नो बन्धस्तु प्रस्तुतमार्गणासु तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथा 'णरे' त्यादि, मनुष्यद्विकादीनां दशानामनन्तगुणहीनं रसं स्याच्च बध्नाति । स्याद्बन्धस्तु नानाजीवानाश्रित्य तदबन्धस्याऽपि लाभात् । जिननाम्नस्तु बन्धस्य विशिष्टसम्यग्दृशामेव प्रवर्तनात् । अथ प्रशस्तप्रकृतीनां प्रस्तुतमतिदिशति–'सुहाण' मित्यादि, प्रशस्तानां नामप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्ष ओघवद्भवति, ओघेऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् । अथ 'णवरि' इत्यादिना अपवादं दर्शयति–उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवर्षभनाराचानामष्टानामप्रशस्तप्रकृतीनाञ्चोत्कृष्टरसं बध्नन् जिननाम न बध्नाति, कुतः ? इति चेदुच्यते, पर्याप्तानां देवानामेव मतान्तरेण तादृशां नारकाणाञ्च मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानामुत्कृष्टरसबन्धो भवितुमर्हति, तेषाञ्च प्रथमस्यैवोपशमसम्यक्त्वस्य संभवेन जिननाम्नो बन्धाभाव इति । तथेहाप्रशस्तानामुत्कृष्टरसो मिथ्यात्वाभिमुखेन

बध्यते, जिननामबन्धकस्य द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टेस्तु मिथ्यात्वाभिमुखत्वायोगात् कथितप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकस्य जिननामबन्धो न भवत्यत उक्तम्— 'न चेव बंधेइ जिणणामं' इति ॥८४६-८४९॥ अथ मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणास्वाह—

ओघव्व सुहाणं मणणाणे विरइम्मि समइए छेए । असुहाणाहारदुगव्व णवरि ण जिणं तिविरइआईसुं ॥
(मूलगाथा–८५०)

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, मनःपर्यवज्ञाने 'विरइम्मि' इति संयमसामान्ये सामायिकछेदोपस्थापनीयसंयमयोस्त्रिशतः प्रशस्तानामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, ओघस्वामिनामिहाऽपि प्रवेशात् । यद्यपि सामायिकछेदोपस्थापनीयसंयमयोर्मार्गणाचरमसमये यशःकीर्तिनाम्न उत्कृष्टरसो बध्यते तथाऽपि स्वस्थानसन्निकर्षस्य प्रस्तुतत्वेन यथा दशमगुणस्थानके तथाऽत्राप्येकस्या एव यशःकीर्तेर्बन्धसम्भवात्सन्निकर्षाभावः । 'असुहाण' इत्यादि, अष्टप्रकृतीनां सन्निकर्ष आहारकद्विकमार्गणावद्वक्तव्यः, आहारकद्विकमार्गणावदत्राऽपि षष्ठगुणस्थानक एव तदुत्कृष्टरसबन्धसंभवात् । तथाऽप्यत्र विरत्यादिषु त्रिषु मार्गणाभेदेष्वासामष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको जिननाम न बध्नाति, मिथ्यात्वाभिमुखस्यैवोत्कृष्टरसबन्धसंभवात् मार्गणावर्तिजिननामसत्कर्मजीवस्यानन्तरं मिथ्यात्वगमनायोगाच्च ॥८५०॥

अथ अज्ञानादिमार्गणास्वाह—

अण्णाणतिगे मिच्छे गुरुं वइररलदुगाउ बंधतो । एगरस दोण्ह णियमा गुरुमगुरुं वा छठाणगयं ॥
णियमाहितो बंधइ सुखगइआगिइपणिंदियधुवाणं । परघाऊसासगतसदसगाण अणंतगुणहीणं ॥
णरदुगउज्जोआणं सिआ गुरुं उअ छठाणगयमगुरुं । तिरियदुगस्स सिआ खलु बंधेइ अणतगुणहीणं ॥
होइ तिरिव्व सुहाणं सुरपाउग्गाण सत्तवीसाए । ओघव्व सण्णिअसो रूप्पाउग्गाण सेसाणं ॥
(मूलगाथा–८५१-८५४)

(प्रे०) 'अण्णाणे' त्यादि, अज्ञानत्रिकं मिथ्यात्वञ्चेति चतसृषु मार्गणासु वज्रर्षभनाराचौदारिकद्विकरूपत्रिप्रकृतिमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसं बध्नन् 'दोण्ह' त्ति तद्भिन्नयोर्द्वयो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति । सम्यक्त्वाभिमुखैस्तुल्यविशुद्धिमद्भिर्देवनारकैस्तदुत्कृष्टरसबन्धस्य निर्वर्तनीयत्वादुक्तमुत्कृष्टमित्यादि । नियमाद्बन्धस्तु सम्यक्त्वाभिमुखानां तेषां प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'सुखगइ' इत्यादि, प्रशस्तविहायोगत्यादीनामष्टाविंशते रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, आसामुत्कृष्टरसस्य संयमाभिमुखेन मनुष्येण बध्यमानत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति संयमाभिमुखापेक्षया सम्यक्त्वाभिमुखोऽनन्तगुणहीनविशुद्ध इति कृत्वा । पञ्चाशुभध्रुवाणां तु बन्धकस्य विशुद्धत्वादेवाऽनन्तगुणहीनमिति । नियमाद्बन्धस्तु प्रागुक्तादेव हेतोः । 'णरदुगे' त्यादि, मनुष्यद्विकोद्योतरूपाणां तिसृणां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, यावत्या विशुद्ध्या वज्रर्षभनाराचादीनामुत्कृष्टरसस्तावत्यैव तयाऽऽसामपि स बध्यत अत उक्तमुत्कृष्टमित्यादि । स्याद्बन्धस्त्वेवम् मनुष्यद्विकं षड्नरकनारकैर्देवैश्च बध्यते, सप्तमपृथ्वीनारकेण च न बध्यते ।

उद्योतनाम षड्नरकनारकैर्देवैश्च न बध्यते, सम्यक्त्वाभिमुखानां तेषां मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् । सप्तमपृथ्वीनारकेण तु तद् बध्यते, सप्तमनारकस्य यावत्स्वल्पमपि मिथ्यात्वमुदयगतं तावत्तिर्यक्प्रायोग्यमेव कर्म बध्यते इति कृत्वा । 'तिरियदुगे' त्यादि, तिर्यग्द्विकस्याऽनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । तिर्यग्द्विकस्याऽप्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु सम्यक्त्वाभिमुखत्वेन विशुद्धत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति । स्याद्बन्धस्तु सप्तमनारकस्यैव तद्बन्धप्रवर्तनात् , शेषदेवनारकाणां च बन्धाभावादिति । अथ समानवक्तव्यत्वादतिदिशति 'तिरिव्व' इत्यादिना, सप्तविंशतेः सुरप्रायोग्याणां शुभानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षस्तिर्यगोघवद्भवति । उभयत्र तुल्यसंख्याकप्रकृतीनां बन्धप्रवर्तनात् । यद्यपि तत्र तिर्यग्मार्गणायां यासामुत्कृष्टरसबन्धः स्वस्थानविशुद्धया जायते, तामामिह संयमाऽभिमुखेन बध्यते तथाऽपि तासां तावतीनाञ्चैव बन्धसद्भावेन सन्निकर्षविशेषाभाव इति । इमाश्च ताः सप्तविंशतिः—देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकञ्चेति ।

'ओघव्व' इत्यादि, उक्तशेषाणामष्टात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, कुतः ? उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां सादृश्योपलम्भात् । इमाश्च ता अष्टात्रिंशत्प्रकृतयः—नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननानि पञ्च तादृशानि संस्थानानि पञ्चाऽप्रशस्तविहायोगतिरप्रशस्तवर्णादयश्चत्वार उपघातनामाऽऽतपोद्योतनाम्नी स्थावरदशकञ्चेति । अत्र 'सप्पाउग्गाण' इत्यनेन मनुष्यद्विकोत्कृष्टरसबन्धकस्य जिननामबन्धो न वाच्यः, प्रस्तुतमार्गणासु तद्बन्धाभावादिति ॥८५१-८५४॥ अथ परिहारविशुद्धिदेशविरतिमार्गणयोर्बहुतरसमानवक्तव्यत्वात्सापवादमाहारकद्विकादिवदतिदिशन्नाह तथाऽसंयत-कृष्णलेश्यामार्गणयोरप्याह —

परिहारे तह देसे आहारदुगव्व सव्वणामाणं । परिहारविसुद्धीए आहारदुगस्स ओघव्व ॥
णवरं जसस्स णियमा तित्थं छट्ठाणगयमतित्थं वा । ण जिणमसुहगुरुबंधी देसे अजए जिणूणाओ ॥
गुरुबंधी एगस्स सुसुरजोग्गाण णियमेयराण गुरुं । छट्ठाणं व जिणस्स सिआ णियमाऽसुहधुवाणऽणंतगुणहीणं
(गीतिः)

एवं जिणस्स णेयो ओघव्व हवेज्ज सेसपयडीणं । णिरयव्वऽडवीसाए सुहणरजोग्गाण किण्हाए ॥
सुरविउव्वदुगाओ गुरुबंधी एगस्स तिण्ह सेसाणं । णियमा गुरुमगुरुं वा छट्ठाणगयं जिणस्स सिआ ॥
णियमाऽणंतगुणूणं तेवीसाऽण्णसुहदेवजोग्गाणं । असुहधुवाण य एवं जिणस्स ओघव्व सेसाणं ॥
णवरं भणन्ति अण्णे णेयो सण्णिकरिसो णपुंसव्व । तिरिदुगहुंडेगिंदिअसुहधुवणवथावरहीणं ॥
(मूलगाथा-८५५-८६१)

(प्रे०) 'परिहारे' त्यादि, सुगमम् । तत्र 'सव्वणामाणं' ति देशविरतिमार्गणायां बन्धार्हाणां षट्त्रिंशतो नामप्रकृतीनाम् । परिहारविशुद्धिमार्गणायामाहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गनाम्नोर्बन्धसद्भावेऽपि 'आहारदुगस्से' त्यादिनाऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वात् तत्राऽपि षट्त्रिंशत एव प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्षः 'आहारदुगव्व' आहारककाययोगतन्मिश्रकाययोगमार्गणावद्भवति ।

आहारकयोगमार्गणावदिहापि प्रशस्तानामुत्कृष्टरसस्य विशुद्धयाऽप्रशस्तानाञ्च संक्लेशेन बध्यमानत्वात् । अत्रेदमपि बोध्यम्-इह देशविरतिमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धको गुणाद्यभिमुखस्तत्र तु न तथा, किन्तु स्वस्थानविशुद्धादिस्तथाऽपि सन्निकर्षे विशेषाऽभावात्तद्वदतिदेशः । 'आहारदुगस्स' त्ति परिहारविशुद्धिमार्गणायामाहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गनाम्नोः प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद् भवति, आहारकतन्मिश्रयोगमार्गणयोराहारकद्विकस्य बन्धाभावात् 'ओघव्व' इति पृथगतिदिष्टम् । यद्यप्योघ आहारकतदङ्गोपाङ्गयोरुत्कृष्टरसोऽपूर्वकरणषष्ठभागचरमसमये सुविशुद्धेन क्षपकेण बध्यते, इह तु मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धेन, ततश्चौघापेक्षयाऽत्राऽनन्तगुणहीन उत्कृष्टरसस्तथाऽपि मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धस्याऽप्यस्थिरादिबन्धाभावेनौघवत् प्रस्तुतसन्निकर्षः प्राप्यते । अथाऽत्र संभाव्यमानं विशेषं दर्शयति-'णवरं' इत्यादि, सुगमम् । अयं भावः-ओघे यशःकीर्तेरुत्कृष्टरसो दशमगुणस्थानचरमसमये बध्यते, अतस्तत्राऽऽहारकद्विकोत्कृष्टरसबन्धको यशःकीर्तेरसमनन्तगुणहीनं बध्नाति । इह परिहारविशुद्धिमार्गणायां यावत्या विशुद्धयाऽऽहारकद्विकस्योत्कृष्टरसो बध्यते तावत्यैव यश-कीर्त्तेरपि, अत एवोक्तं 'तिव्व' मित्यादि । 'ण जिणं' इत्यादि, अशुभध्रुवबन्धिनीनामुत्कृष्टरसबन्धकाले जिननाम न बध्यते, यतो मिथ्यात्वाभिमुखदेशविरतेनाऽऽसामुत्कृष्टरसो बध्यते, तस्य च जिननामबन्धाभाव इति ।

अथाऽयतमार्गणायामाह-'अजए' इत्यादि, सुगमम् । तत्र 'गुरु' मित्यादि तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य संयमाऽभिमुखेन तुल्यविशुद्धया बध्यमानत्वात् । जिननाम्नो वर्जनन्तु तद्बन्धोपलम्भस्य नियमाभावात् स्यादेवोपलम्भादिति भावः । इमाश्च ताः सुरयोग्याः शुभाः सप्तविंशतिः प्रकृतयः-देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसदशकं पराघातोच्छ्वासौ चेति । 'जिणस्से' त्यादि, जिननाम्नो रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति, कुतः ?, केषाञ्चिदेव तद्बन्धकत्वात् । 'असुहधुवाण' मित्यादि, कण्ठ्यम् । अनन्तगुणहीनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धत्वात् ।

अथ जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षमतिदिशति । 'एवं' ति अनन्तरोक्तवदेव । कुतः ? जिननामोत्कृष्टरसबन्धकस्याऽपि सुविशुद्धत्वात् । नवरमिह जिननाम्नः स्याद्बन्ध इति न वक्तव्यम्, तदुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षस्यैव प्रस्तुतत्वात् । 'ओघव्वे' त्यादि, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणामेकचत्वारिंशतः शेषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्ष ओघवद्भवति, स्वामिनामविशेषात् । यथात्र तथौघेऽपि चतुर्थगुणस्थानकात्परतस्तदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽसंभवात् । इमाश्च ता उक्तशेषा एकचत्वारिंशत्प्रकृतयः-नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं जातिचतुष्कमौदारिकद्विकं संहननषट्कमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामाऽऽतपोद्योतनाम्नी स्थावरदशकञ्चेति ।

अथ कृष्णलेश्यामार्गणायामाह-'णिरयव्वे' त्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायां मनुष्यप्रायोग्याणामष्टाविंशतेः शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्षः 'णिरयव्व' ति नरकौघमार्गणावद्भवति ।

कुतः ? स्वस्थानविशुद्धानां सम्यग्दृशां देवानां तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वेऽपि मतान्तरेण तादृशां नारकाणामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । इमाश्च ता अष्टाविंशतिः प्रकृतयः—मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं प्रथमसंहननसंस्थाने प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसदशकश्चेति ।

'**सुरे**'त्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकरूपप्रकृतिचतुष्कमध्यादेकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः शेषाणां तिसृणां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा नियमाच्च बध्नाति, हेतुः सुगमः । जिननाम्नो रसमनन्तरोक्तस्वरूपं स्याच्च बध्नाति, इह केषाञ्चिन्मनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वादुक्तं स्यादिति । '**तेवीसाअऽण्णे**'त्यादि, उक्तातिरिक्तानां त्रयोविंशतेर्देवप्रायोग्याणां प्रशस्तानां रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । कुतोऽनन्तगुणहीनमिति चेदुच्यते-आसां त्रयोविंशतेरुत्कृष्टरसबन्धका अवस्थितलेश्याका देवनारकाः, प्रस्तुतबन्धकस्त्वनवस्थितलेश्याको मनुष्यस्तिर्यग्वा, अवस्थिताऽप्रशस्तलेश्याकदेवनारकापेक्षयाऽनवस्थिताऽप्रशस्तलेश्याकमनुजतिरश्चां विशुद्धिरनन्तगुणहीनेति कृत्वा । '**असुहधुवाण ये**' त्यादि, चकारः समुच्चायकः ततश्च पञ्चानामप्रशस्तानामपि रसमनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वात् । आसाञ्चाऽप्रशस्तत्वादुक्तमनन्तगुणहीनमिति, शेषं सुगमम् । '**एवं जिणस्स**' इत्यनेन जिननाम्नः सन्निकर्षो देवद्विकादिप्रकृतिवज्ज्ञेयः, स्वामिनोरविशेषादिति । '**ओघव्वे**' त्यादि, सुगमम् । कुत ओघवदिति चेदुच्यते, उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामविशेषात् । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः—नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कं प्रथमवर्जसंहननपञ्चकं प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तविहायोगतिरातपोद्योतनाम्नी उपघातनाम स्थावरदशकश्चेति षट्त्रिंशदिति । अथ **मतान्तरमाह**-'**णवर**' मित्यादिना, तद्यथा—अनन्तरोक्ताभ्यस्तिर्यग्द्विकं हुंडकमेकेन्द्रियजातिनामोपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्करूपाः पञ्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो दुःस्वरनाम्नः प्रस्तुतसन्निकर्षस्याऽस्मिन्मतेऽप्योघवत्प्राप्यमाणत्वात् तद्वर्जा नव स्थावरनामादयश्चेत्यष्टादशप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः '**अण्णे**' त्ति **महाबन्धकारादीनां मतेन** '**णपुंसव्व**' नपुंसकवेदमार्गणावद्भवति, कुतः ? प्रस्तुतमते देवानाश्रित्याऽपर्याप्तकानामेव प्रस्तुतमार्गणासद्भावात् । अयं भावः—इह पूर्वन्तु यथासम्भवं चतुर्गतिकानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वं सम्भाव्यौघवदतिदिष्टम् । अस्मिन्मते तु देवान् विहाय यथायोगं त्रिगतिकानाश्रित्य नपुंसकवेदवदिति ॥८५५-८६१॥ अथ नीलकापोतमार्गणयोराह—

णिरयदुगा बंधंतो गुरुरसमेगस्स णीलकाऊसु । णियमाऽण्णस्स गुरुं उभ अगुरुं बंधइ छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणूण तीसाए सेसणिरयजोग्गाणं । सेसाणं किण्हव्व णवरि णिरयदुगं ण तिरिदुगं णियमा ॥
गुरुरसबंधी हुंडगकुखगइअसुहधुवअथिरछक्काणं । काऊअ सण्णियासो णिरयव्व हवेज्ज तित्थस्स ॥
देवविउव्वदुगबंधी तित्थस्स सिआ अणंतगुणहीणं । गुरुमुभ छट्ठाणगयं सुणरजोग्गबंधी उ ॥
(द्वितीo गीतिः) (मूलगाथा-८६२-८६५)

(प्रे०) **'णिरयदुगा'** कण्ठ्यम् । तदुत्कृष्टरसबन्धस्य तुल्यसंक्लेशेन जायमानत्वेन नरकद्विकादेकस्य नरकगतिनाम्नस्तदानुपूर्वीनाम्नो वोत्कृष्टरसं बध्नन् तदितरस्योत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं बध्नाति । **'तीसाए'** इत्यादि, शेषाणां नरकयोग्यानां त्रिंशत्प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं बध्नाति । कुतः? उच्यते, तत्र त्रिंशदन्तर्गतानामप्रशस्तानां हुंडकसंस्थाननामादीनामुत्कृष्टरसस्तीव्रसंक्लेशेन जायते तीव्रसंक्लेशश्च प्रस्तुतमार्गणयोर्देवनारकाणामेव संभवति, मनुष्यतिरश्चां तीव्रसंक्लिष्टत्वे कृष्णलेश्याकत्वसंभव इति कृत्वा, इह नरकद्विकबन्धकास्तु मनुष्यतिर्यञ्चस्तद्योग्यतीव्रसंक्लेशवन्तश्च अत एवाऽप्रशस्तानां हुंडकनामादीनां रसमनन्तगुणहीनं बध्नन्ति । प्रशस्तानां पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां त्रिंशदन्तर्गतानां तु प्रशस्तत्वादेव अनन्तगुणहीनम् , प्रस्तुतबन्धकस्तु संक्लेशवानिति कृत्वेति भावः । इमाश्च ता अप्रशस्तप्रशस्तप्रकृतयः-कुखगतिहुंडकमुपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमस्थिरषट्कमिति त्रयोदशाऽप्रशस्तप्रकृतयः । पञ्चेन्द्रियजातिनाम वैक्रियद्विकं तैजसकार्मणशरीरे अगुरुलघुनाम निर्माणनाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कञ्चेति प्रशस्ताः प्रकृतयः सप्तदशेति ।

'किण्हे'त्यादि, उक्तशेषाणां नामप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तकृष्णलेश्यामार्गणावज्ज्ञेयः, कृष्णलेश्यावदिहापि यथासंभवं तत्तद्गतिकानां जन्तूनां तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । अथेहैवाऽपवादमाह-**'णवरि'** इत्यादि, सुगमम् । अयं भावः-कृष्णलेश्यामार्गणायां मनुजतिर्यग्भिर्हुंडकाद्युत्कृष्टरसबन्धकैर्नरकप्रायोग्यबन्धनिर्वर्त्तकैर्नरकद्विकं बध्यते, प्रकृते तु न, कुतः ? तेषां हुंडकाद्युत्कृष्टरसबन्धकत्वाभावात् । इह हि नारका देवा वा हुंडकाद्युत्कृष्टरसबन्धकास्तेषां तथास्वाभाव्येन नरकद्विकस्य बन्धो न भवतीति । अत एव तिर्यग्द्विकस्य रस उत्कृष्टः षट्स्थानपतितोऽनुत्कृष्टो वा नियमाच्च बध्यत इत्यपि वक्तव्यम् ।

'काऊअ' इत्यादिना, कापोतलेश्यामार्गणायां विशेषं दर्शयति-जिननाम्नः सन्निकर्षो नरकवद्भावनीयः, स्वामिनामविशेषात् । **'देवविउव'**इत्यादि, देवद्विकवैक्रियद्विकप्रकृतिष्वेकतमाया बन्धकः जिननाम्नः स्याद् बन्धकः, रसं त्वनन्तगुणहीनमेव बध्नाति न तु कृष्णलेश्यावत् षट्स्थानपतितमपि, कुतः ? इति चेदुच्यते-अत्र जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धकः सुविशुद्धः सम्यग्दृष्टिनारकः, तत्र तु स स्वस्थानविशुद्धमनुष्य इति कृत्वा ।

'गुरुमुअ' इत्यादि, 'तित्थस्स सिआ' इति पदं पूर्वार्धस्थमत्राऽपि संबध्यते, तत एवं-मनुष्यप्रायोग्यशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकेर्जिननाम स्यात्तथा रसमाश्रित्योत्कृष्टः षट्स्थानपतितोऽनुत्कृष्टो वा तस्य रसो बध्यते, तत्तुल्यविशुद्ध्या नारकैर्बध्यमानत्वात् ॥८६२-८६५॥

अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोः सापवादमतिदिशति—

परिहारव्व सुहाणं सुरजोग्गाणऽत्थि तेउपम्हासु । तीसाए णरुरलदुगवइराणोघव्व तिण्णेयो ॥

सेसाण मुणेयव्वो कमा पउमतइअकप्पदेवव्व । पम्हव्व वेअगे खलु सुहाण असुहाण ओहिव्व॥

(मूलगाथा-८६६-८६७)

(प्रे०)'परिहारव्वे'त्यादि, सुगमम् । उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽप्रमत्तस्वामिकत्वादुक्तं 'परिहारव्वे' ति । इमाश्च तास्त्रिंशत्प्रकृतयः-देवद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिस्तैजसकार्मणशरीरनाम्नी प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिनाम जिननाम पराघातोच्छ्वासागुरुलघुनिर्माणनामानि त्रसदशकञ्चेति । 'णरूरले' त्यादि कण्ठ्यम् । ओघवदिहापि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य देवस्वामिकत्वात् 'ओघव्वे'त्यतिदेशः ।

'सेसाणे'त्यादि, उक्तशेषाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्षस्तेजोलेश्यामार्गणायां सौधर्मदेवमार्गणावत् । पद्मलेश्यामार्गणायान्तु सनत्कुमारसुरमार्गणावज्ज्ञेयः । इहापि सौधर्मादिसुराणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः-तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनामाऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तविहायोगतिरातपनामोद्योतनामोपघातनाम स्थावरनामाऽस्थिरषट्कञ्चेत्यष्टाविंशतिप्रकृतयस्तेजोलेश्यामार्गणायाम् । पद्मलेश्यामार्गणायान्त्वनन्तरोक्ता एकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपनामवर्जाः पञ्चविंशतिरिति ।

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामतिदिशति-'पम्हव्वे'त्यादि, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां बध्यमानानां प्रशस्तानां नामप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्षोऽनन्तरोक्तपद्मलेश्यामार्गणावद्भवति । कुतः ?, यथा तत्र तथेहापि तदुत्कृष्टरसस्य सम्यग्दृशां संयतानां च विशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । 'असुहाण' इत्यादि सुगमम् । यथाऽवधिज्ञानमार्गणायां तथेहापि तदुत्कृष्टरसस्याऽभिमुखावस्थायां बध्यमानत्वात्, स्वामिनामविशेषादिति भावः ॥८६६-८६७॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायामाह—

सुक्काअ सण्णियासो पणतीसाए सुहाण ओघव्व । आणतसुरव्व णेयो असुहदुवीसाअ पयडीणं ॥ ॥

(मूलगाथा-८६८)

(प्रे०) 'सुक्काअ' इत्यादि, सुगमम् । कुतः ओघवत् ? ओघोक्ता एव तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिन इति कृत्वा । इमाश्च ताः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः-मनुष्यद्विकं देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं तैजसकार्मणशरीरनाम्नी वज्रर्षभनाराचं समचतुरस्रं प्रशस्तवर्णादिचतुष्कं प्रशस्तविहायोगतिनाम पराघातोच्छ्वासागुरुलघुनिर्माणजिननामानि त्रसदशकञ्चेति । 'आणतसुरव्व' इत्यादि कण्ठ्यम्, कुत आनतसुरवत् ? इहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य सुरस्वामिकत्वात् । इमाश्चाऽप्रशस्ता द्वाविंशतिप्रकृतयः-आद्यवर्जं संहननपञ्चकं तादृशं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमप्रशस्तविहायोगतिनामोपघातनामास्थिरादिषट्कञ्चेति ॥८६८॥ अथाऽभव्यमार्गणायामाह—

अभवे पणसंघयणागिइणिरयतिरिदुगजाइचउगाणं । कुखगइधुवअथावरदुगथावरदसगाण ओघव्व ॥

तसदसगपणिंदियपरघूससुखगइआगिइधुवाओ । एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽणणाण गुरुसुभ छठाणगयं ॥

असुहधुवाणं णियमाऽणतगुणूणं तु तिरिदुगस्स सिआ । णरसुरउरलविउव्वदुगवइराण तिव्वमुभ छठाणगयं ॥

णरसुरउरलविउव्वदुगवइराण इवेव्व कम्मजोगव्व । अहव सयलपयडीणं अण्णाणतिगव्व विण्णेयो ॥
(द्वि० तृ० गीतिः) (मूलगाथा-८६९-८७२)

(प्रे०) 'अभवे' इत्यादि सुगमम् । इह 'पणसंघयण···थावरदसग' इति पर्यन्तं षट्त्रिंशत्प्रकृतयः। 'आगिइ' त्ति आकृतिनाम पञ्चसंस्थाननामानीत्यर्थः। 'कुखगइधुव' त्ति अशुभखगतिस्तथाऽशुभध्रुवपञ्चकम् । 'आयवदुग' त्ति आतपोद्योतनाम्नी। कुत ओघवत् ? इहाऽप्योघोक्ता एव तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिन इति कृत्वा। 'तसदसगे' त्यादि, त्रयोविंशतिप्रकृतयः। शेषं कण्ठ्यम्। कुत एकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः शेषाणां द्वाविंशतेरुत्कृष्टं षट्स्थानपतितं वाऽनुत्कृष्टं रसं बध्नाति? सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्राग्वत् । 'असुहधुवाणं' इत्यादि, गतार्थम् । तत्राऽनन्तगुणोनन्तु बन्धकस्य विशुद्धत्वात् । नियमाद्बन्धस्त्वासां ध्रुवबन्धित्वात् । 'तिरिदुगस्स' इत्यादि, 'अणंतगुणूणं' मिति पदमिहाऽपि सम्बध्यते । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'णरसुर' इत्यादि, मनुष्यद्विकादयो नव प्रकृतयः । 'सिआ' इति पदमत्राऽपि योज्यम्। स्याद्बन्धत्वे हेतुरनन्तरोक्तवत् । रसं तीव्रं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा बध्नाति, सर्वविशुद्ध्या तदुत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । 'कम्मजोगव्व' त्ति मनुष्यद्विकादीनां नवानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः कार्मणकाययोगमार्गणावज्ज्ञेयः, कुतः ? उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वस्थानविशुद्धस्वामिकत्वात् । अत्र जिननाम्नो बन्धाभावाद् याभिः प्रकृतिभिस्सह जिननामबन्धः कार्मणयोगमार्गणायां स्याद्भवति ताभिः सहात्र जिननामबन्धो न वक्तव्यः, तथा जिननामप्रधानीकृतसन्निकर्षोऽपि न वाच्यः । अथ मतान्तरेणाऽतिदिशति-'अहव' इत्यादिना, अथवा सर्वासामिह बन्धार्हाणां नामप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽज्ञानत्रिकमार्गणावज्ज्ञेयः । कुतः ? उच्यते,-अप्रशस्तानामुभयत्र स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टरसबन्धस्य प्रवर्तनात् । प्रशस्तानामुत्कृष्टरसो यद्यपि तत्राऽज्ञानत्रिक अभिमुखावस्थायामिह तु स्वस्थानविशुद्ध्या जन्यते तथापि निवृत्तिबादरादिगुणस्थानकाऽभावेन विशेषाऽभावात् । इदं तु मतान्तरबीजम्–मतान्तरेण द्रव्यसंयमिन एव देवद्विकादिप्रशस्तानामुत्कृष्टरसबन्धकाः, ततश्च यथाऽज्ञानत्रिके संयमाऽभिमुखा मनुष्यास्तथैव द्रव्यसंयमिनोऽपि त एव, शेषगतित्रिके द्रव्यसंयमस्याऽप्यभावात् । तस्मान्मतान्तरेण अज्ञानत्रिकवदिति प्रतिपादितमिति ॥८६९-८७२॥ अथ मिश्रदृष्टिमार्गणायामाह—

अट्ठण्हं असुहाणं मीसे ओहिव्व कम्मजोगव्व । बत्तीससुहाण णवरि ण चेव बंधो जिणस्स भवे ॥
(मूलगाथा-८७३)

(प्रे०) 'अट्ठण्हं' इत्यादि, तत्र अवधिवत् , उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽभिमुखाऽवस्थायां प्रवर्तनात् स्वामिनामविशेषादिति भावः । अष्टा अशुभाश्चेमाः-अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामाऽस्थिरद्विकमयशःकीर्तिनाम चेति । 'कम्मजोगव्वे' त्यादि । स्वामिनां विसदृशत्वेऽपि विशेषा-

ऽभावादतिदेशः । अयं भावः–यद्यपीह प्रशस्तानामुत्कृष्टरसोऽभिमुखाऽवस्थायां बध्यते कार्मणयोगे तु स्वस्थानविशुद्धया तथाऽप्यनिवृत्तिबादरगुणस्थानविरहेणैकस्या उत्कृष्टरसबन्धकः शेषाणां तद्भिन्नाना-मुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा रसं बध्नातीत्यादिनिरूपणे विशेषाऽभाव इति । अथ विशेषमाह–'णवरी' त्यादिना. जिननाम तु विशिष्टसम्यग्दृष्ट्यादिनैव बध्यत इति कृत्वा न बध्नातीति सर्वप्रकृति-संनिकर्षे ज्ञेयम् ॥८७३॥ अथ सास्वादनमार्गणायामाह–

पंचमसघयणागिइकुखगइअसुहधुवअथिरछक्काओ । तिरियदुगा सासाणे बंधंतो तिव्वमेगस्स ॥
तिव्वसुभ छठाणगय णियमा बंधइ अणतगुणहीणं । सुहधुवुरलदुगपरघाऊसासपणिंदितसचउक्काणं ॥
उज्जोअस्स सिआ खलु बंधेइ रसं अणंतगुणहीणं । अभवव्व मुणेयव्वो सेसाणेगूणचत्ताए ॥
णवरि रसं दुइअतइअचउत्थसघयणआगिईण गुरुं । बंधंतो णेव कमा हुंडछिवट्ठाणि बंधेइ ॥
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा–८७४-८७७)

(प्रे०) "पंचम०' इत्यादि, सास्वादनमार्गणायामिति प्रकृतम् । पञ्चमं संहननं कीलिकाख्यं तादृशं संस्थानञ्च वामनम् । पञ्चमसंहननादितिर्यग्द्विकपर्यवसानाः षोडशप्रकृतयः । तीव्रादिरसबन्धे नियमाद्बन्धे च हेतुः प्राग्वत् । 'सुहधुवे' त्यादि, सप्तदशप्रकृतयः । अनन्तगुणहीनत्वासां प्रश-स्तत्वात्प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रत्राणां ध्रुवबन्धित्वात् । औदारिक-द्विकादीनाञ्च प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धविरहात् । 'उज्जोअस्से'त्यादि, स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् । अनन्तगुणहीनन्तूद्योतस्य प्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वात् । 'अभवव्वे'त्यादि, कुतः ? अभव्यवदित्यतिदेशः । उभयत्र तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानविशुद्धयादिना जन्यत्वात् । अथ संभाव्यमानं विशेषमाह–'णवरि' इत्यादि सुगमम् । हुंडकसेवार्तनाम्नी मिथ्या-दृष्टेरेव बन्धयोग्ये इति कृत्वा ॥८७४-८७७॥

स्वस्थानोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षं प्रदर्श्य जघन्यरसबन्धसन्निकर्षं दिदर्शयिषुरादौ तावत्त स्वस्थानसत्कमोघतो दर्शयति—

तइअस्स बंधमाणो एगं बंधइ ण चेव पडिवक्खं । एवं गोआऊणं तिण्हं एमेव सव्वासुं ॥
(मूलगाथा–८७८)

(प्रे०) 'तइअस्से' त्यादि, तृतीयस्य वेदनीयकर्मण इत्यर्थः 'एगं' एकं सातवेदनीयमसात-वेदनीयं वाऽन्यतरं प्रस्तावादन्यतरस्य जघन्यरसं बध्नन् 'पडिवक्खं' तत्प्रतिपक्षं न बध्नाति, विवक्षितकालेऽन्यतरस्यैव बन्धप्रवर्तनात् । 'एव' अवधारणे । 'एवं' इत्यादि, गोत्रायुषामप्येवमेव वेदनीयवदेव भवति, विवक्षितकाले गोत्रयोरन्यतरस्योच्चैर्गोत्रस्य नीचैर्गोत्रस्य वैकस्यैव तथा चतुर्ष्व आयुःष्वन्यतमस्यैव बन्धोपलम्भात् । अथौघप्ररूपणायां प्रस्तुतायां लाघवार्थी मार्गणासु प्रस्तुतमति-दिशति–'एमेवे' त्यादिना, सुगमम् । तत्र तेजस्कायादिमार्गणासु नीचैर्गोत्रस्य तिर्यगायुषश्चैव, तथा सूक्ष्मसम्परायादिमार्गणासु सातवेदनीयस्यैवाऽनुत्तरादिमार्गणासूच्चैर्गोत्रस्यैव बन्धसद्भावात्तत्र

संनिकर्षो न भवतीत्येवं कथनीयमतः **'सव्वासु'** इत्यनेन वेदनीयगोत्रकर्मणोः सप्तत्युत्तरशत-मार्गणाभ्यो यासु द्वे प्रकृती बध्येते तासु, आयुषस्त्वायुर्बन्धार्हाभ्यस्त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणाभ्यो यासु द्वयादिप्रकृतयो बध्यन्ते तास्वतिदेशो बोद्धव्यः ॥८७८॥ अथ ज्ञानावरणानामाह--

बंधंतो लहुरसमिगणाणावरणस्स बंधए णियमा । सेसाण चउण्ह रसं मंदं एमेव विग्घाणं ॥

(मूलगाथा-८७९)

(प्रे०) **'बंधंतो'** इत्यादि, एकस्यानिर्दिष्टसंज्ञस्य मतिज्ञानावरणाद्यन्यतमस्य ज्ञानावरणस्य **'लहुरस'** मिति जघन्यरसं बध्नन् **'सेसाण'** तद्भिन्नानां चतुर्णां ज्ञानावरणानां रसं **'मंदं'** जघन्यं नियमाच्च बध्नाति । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति वचनाज्जघन्यमेव बध्नाति, न तु षट्स्थान-पतितमपि, कुतः ? सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानके तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात्तत्र च क्षपकस्य चरमसमयेऽध्य-वसायानां नानात्वाभावान्नियमाद्बन्धस्तु पञ्चानामपि ज्ञानावरणानां दशमगुणस्थानकचरमसमयं यावद् ध्रुवतया बन्धप्रवर्तनात् ।

अथ तुल्यवक्तव्यत्वादन्तरायाणामतिदिशति **'एमेवे'** त्यादिना, ज्ञानावरणवदेवाऽविशेषेण पञ्चान्तरायाणां जघन्यरसबन्धसन्निकर्षो द्रष्टव्यः, विशेषाभावात् ॥८७९॥

अथ दर्शनावरणसत्कमाह--

एगस्स मंदबंधी थीणद्धितिगाउ दोण्ह सेसाणं । मंदमुअ छठाणगयं णियमा छण्हं अणंतगुणअहियं ॥ (गीतिः)

एगस्स मंदबंधी णिद्दुगाऽण्णस्स मंदमुअ अलहुं । छट्ठाणगयं णियमा चउण्ह उ अणंतगुणअहिअं ॥

एगस्स जहण्णरसं बीआवरणचउगाउ बंधंतो । सेसाण तिण्ह णियमा बंधेइ जहण्णमणुभागं ॥

(मूलगाथा-८८०-८८२)

(प्रे०) **'एगस्से'**त्यादि, स्त्यानर्द्धित्रिकमध्यादेकस्य निद्रानिद्राद्यनिर्दिष्टसंज्ञस्य दर्शनावरणीय-कर्मणो जघन्यरसबन्धको द्वयोः तद्भिन्नयो रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा नियमाच्च बध्नाति, तज्जघन्यरसबन्धस्य तुल्यविशुद्ध्या जायमानत्वेऽपि प्रथमगुणस्थानके जायमानत्वात् । ततः किम् ? नवमदशमगुणस्थानकादिभिन्नावस्थायां समानविशुद्धावपि नानाजीवानाश्रित्यानेकाध्यवसायानां सद्भावात् । **'छण्हं'** इत्यादि, निद्राद्विकचक्षुर्दर्शनावरणादिदर्शनावरणचतुष्करूपाणां षण्णां रसमन-न्तगुणाऽभ्यधिकं बध्नाति, तज्जघन्यरसबन्धस्य तु क्षपकश्रेण्यां प्रवर्तनात् प्रस्तुतबन्धकस्तु प्रथमगुणस्थान-कवर्तीति कृत्वा । **'णिद्दुगा'** इत्यादि, निद्राद्विकमध्यादेकस्या निद्रायाः प्रचलाया वा जघन्यरस-बन्धकः तदितरस्या रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति, तज्जघन्यरसस्य श्रेणावनिवृ-त्तिकरणात्प्राग्जायमानत्वादष्टमगुणस्थानके प्रथमभागचरमसमये तज्जघन्यरसो बध्यत इति कृत्वेति भावः । चतुर्णां दर्शनावरणानान्त्वनन्तगुणाधिकं नियमाच्च बध्नाति, तज्जघन्यरसस्य त्वनन्तगुण-विशुद्ध्या दशमगुणस्थानकचरमसमये बध्यमानत्वात् । **'बीआवरणे'** त्यादि, द्वितीयावरणं दर्शना-वरणं तत्सत्कचतुष्कमध्यादेकस्य जघन्यरसं बध्नन् शेषत्रयाणां दर्शनावरणानां रसं जघन्यं निय-माच्च बध्नाति, चतुर्णामपि जघन्यरसो दशमगुणस्थानकचरमसमये समकमेव बध्यत इति कृत्वा,

नियमाद्बन्धस्तु प्रकृतप्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वे सति दशमगुणस्थानकप्रान्तं यावन्नैरन्तर्येण बन्धोपलम्भात् । अत्र हि प्रस्तुतस्वस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षपरिज्ञानायेमे त्रयो नियमा ज्ञातव्याः, तद्यथा-(१) यदि विवक्षितद्वयादिप्रकृतीनां जघन्यरसो युगपद् बन्धमर्हति सोऽप्यनिवृत्तिगुणस्थानकादर्वाग् निवृत्तिबादरादिगुणस्थानके तर्हि तन्मध्यादेकस्या जघन्यरसं बध्नन् तद्भिन्नानां प्रकृतीनां रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति, विवक्षितविशुद्धिस्थानस्थितस्याऽपि रसबन्धाऽध्यवसायानां नानात्वेन विसदृशत्वात् । इति प्रथमः । (२) यद्यनिवृत्तिकरणे सूक्ष्मसंपराये वा तासां युगपज्जघन्यरसो बन्धमर्हति तर्हि एकस्या जघन्यं रसं बध्नन् तद्भिन्नानामपि जघन्यमेव रसं बध्नाति तुल्यविशुद्धिस्थाने स्थितानां रसबन्धाध्यवसायविसदृशत्वाभावात् । (३) यदि च तत्र विवक्षितप्रकृतेर्जघन्यरसबन्धात् परतः शेषप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धो जायते, तर्हि तस्या जघन्यं रसं बध्नन् शेषाणां तद्भिन्नानामनन्तगुणाधिकं रसं बध्नातीति तृतीयः । इमे घातिप्रकृतिसत्कास्त्रयो नियमाः । अघातिसत्कास्तु यथास्थानं वक्ष्यन्ते । अथ प्रकृते घटना द्वितीयनियमानुरोधेनैकस्य जघन्यरसबन्धकः शेषत्रिदर्शनावरणानामपि जघन्यमेव रसं बध्नातीति । ॥८८०-८८२॥ अथ मोहनीयप्रकृतीनां जघन्यरसस्य स्वस्थानसन्निकर्षं दर्शयति--

एगस्स मंदबंधी अणमिच्छाउ णियमा रसं मंदं । अलहुं व छट्ठाणगयं सेसाण चउण्ह बंधेइ ॥
णियमाऽणंतगुणहियं बारकसायपुमहस्सचउगाणं ।

(मूलगाथा-८८३)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, सुगमम् । नवरं 'अण' ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् । षट्स्थानगतत्वन्तु, तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रथमगुणस्थानके प्रवर्त्तनात् । ततः किम् ? अनन्तरोक्तप्रथमनियमबलात् षट्स्थानपतितत्वमपि संगतमिति । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धित्वात् । 'णियमे' त्यादि, कण्ठ्यम् । नवरं हास्यचतुष्कं नाम हास्य-रति-भय-जुगुप्साः । अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसबन्धस्य चतुर्थादिगुणस्थानके प्रवर्तनात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु प्रथमगुणस्थानकवर्तीति । तृतीयनियमबलादनन्तगुणाधिकत्वं सिध्यति इति भावः । नियमाद्बन्धस्तु हास्यरतिपुरुषवेदानां प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्, शेषाणां तु ध्रुवबन्धित्वादिति ॥८८३॥

अथाऽप्रत्याख्यानावरणसत्कमाह--

। एगस्स बंधमाणो दुइअकसायस्स मंदरसं ॥
मंदमुअ छठाणगयं दुइअकसायाण तिण्ह बंधेइ । णियमाऽणंतगुणहियं अट्ठकसायपुमहस्सचउगाणं ॥(गीतिः)

(मूलगाथा-८८४-८८५)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, गतार्थम् । नवरं 'दुइअ' त्ति अप्रत्याख्यानावरणीयस्य । षट्स्थानपतितत्वन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्यापि चतुर्थगुणस्थानके प्रवर्तनात् । 'णियमे' त्यादि, पठितसिद्धम्, अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य पञ्चमादिगुणस्थानके प्रवर्तनात् । प्रस्तुतबन्धकस्य तु चतुर्थगुणस्थानकवर्तित्वात् । नियमाद्बन्धस्तु संज्वलनप्रत्याख्यानावरणकषायाणां भयजुगुप्सयोश्च ध्रुवबन्धि-

त्वात् । पुरुषवेदादीनामध्रुवबन्धित्वेऽपि प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वेन तत्प्रतिपक्षभूतस्त्रीवेदादिबन्धाभावात् ॥८८४-८८५॥

अथ प्रत्याख्यानावरणकषायविषयमाह—

तइअकसायस्स लहुं बंधंतो तिण्ह मंदमुअ छविहं । णियमाऽणंतगुणहियं चउसंजलणपुमहस्सचउगाण ॥ (गीतिः)
(मूलगाथा-८८६)

(प्रे०) 'तइअे' त्यादि, सुगमम् । 'छविहं' ति षट्स्थानपतितम् । षट्स्थानपतितत्वन्तु प्रथमनियमानुरोधेन ज्ञेयम् । अनन्तगुणाधिकं तु तृतीयनियमबलात् ॥८८६॥

अथ संज्वलनचतुष्कस्याह—

मंदरसं बंधंतो चरमाणं कोहमाणमायाणं । णियमाऽणंतगुणहियं तिदुइगसंजलणगाण कमा ॥
अंतिमलोहस्स लहुं बंधंतो णेव बंधए सेसा । णियमाऽणंतगुणहिय संजलणाण पुमलहुबंधी ॥
(मूलगाथा-८८७-८८८)

(प्रे०) 'मंदरसं' इत्यादि ।' चरमाणं' ति संज्वलनानाम् ,अयम्भावः-संज्वलनक्रोधजघन्यरसबन्धकः संज्वलनमानमायालोभानामनन्तगुणाधिकं रसं नियमाच्च बध्नाति, संज्वलनक्रोधजघन्यरसबन्धात् परत एव तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । संज्वलनमानजघन्यरसबन्धकः संज्वलनमायालोभानामनन्तगुणाधिकं रसं नियमाच्च बध्नाति, अनन्तरोक्तयैव नीत्या । संज्वलनमायाजघन्यरसबन्धकः संज्वलनलोभस्याऽनन्तगुणाधिकं रसं नियमाच्च बध्नाति, हेतुः स्पष्टः ।'अंतिमलोहस्से' त्यादि, कण्ठ्यम् । कुतो न बध्नातीति चेद् ? तद्भिन्नानां सर्वासां मोहप्रकृतीनां बन्धविच्छेदानन्तरमेव तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्तनात् । अथ पुरुषवेदसत्कमाह-'णियमे' त्यादि, सुगमम् । 'संजलणाण' चतुःसंज्वलनानाम् । नियमाद्बन्धस्तु तेषां ध्रुवबन्धित्वात्। अनन्तगुणाधिकन्तु तृतीयनियमात् । पुरुषवेदजघन्यरसबन्धानन्तरं तेषां जघन्यरसबन्धो भवतीति कृत्वेति भावः ॥८८७-८८८॥

अथ स्त्रीवेदसत्कमाह—

थीअ लहुं बंधंतो सोलकसायभयकुच्छमिच्छाणं । णियमाऽणंतगुणहियं अ दुजुगलाण णपुमस्सेवं ॥
(मूलगाथा-८८९)

(प्रे०) 'थीअ' इत्यादि, कण्ठ्यम् । 'दुजुगलाण' त्ति हास्यरत्योः शोकारत्योश्च । मिथ्यात्वरसस्याऽनन्तगुणाधिकत्वन्तु मिथ्यात्वजघन्यरसबन्धकस्याऽभिमुखविशुद्धत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्ध इति कृत्वा । विकल्पबन्धस्तु विवक्षितसमयेऽन्यतरस्यैव बन्धप्रवर्तनात् । अथ समानवक्तव्यत्वादतिदिशति-'णपुमस्से' त्यादिना । हेत्वादि सर्वमनन्तरोक्तवत् ॥८८९॥

अथ हास्यादिसत्कम्—

एगस्स हस्सचउगा लहुबंधी तिण्ह मंदमुअ छविहं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ संजलणपुरिसाणं ॥
(मूलगाथा-८९०)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, कण्ठ्यम् । 'हस्सचउगा' त्ति हास्यरतिभयजुगुप्सामध्यात् । 'छविहं' नाम षट्स्थानपतितम् । षट्स्थानपतितत्वन्तु प्रथमनियमानुरोधात् । 'संजलण' त्ति संज्व-

लनचतुष्कम् । अनन्तगुणाधिकन्त्वन्त्, तृतीयनियमानुरोधात् ॥८९०॥अथ शोकारत्योः प्रकृतमाह—

लहुबंधी एगस्स अरइसोगाऽण्णस्स मदमुअ छविहं । णियमाऽणंतगुणहियं पुमसंजलणभयकुच्छाण ॥

(मूलगाथा-८९१)

(प्रे०) 'लहुबंधी' त्यादि, अरतिशोकमध्यादेकस्य जघन्यरसबन्धकः 'ऽण्णस्स' त्ति तदितरस्य रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा नियमाच्च बध्नाति । अत्र हेत्वादि सुगमम्, प्रागनेकधा भावितत्वात् । 'पुमे' त्यादि, कण्ठ्यम् । नियमादिति पदमत्राऽपि सम्बध्यते । गतं मोहनीयकर्मजघन्यरसबन्धसत्कं स्वस्थानसन्निकर्षनिरूपणम् । तस्मिँश्च गते समाप्तमोघतो घातिकर्मजघन्यरसबन्धसत्कं स्वस्थानसन्निकर्षवक्तव्यम् ॥८९१॥

अथ शेषाघातिकर्मसत्कजघन्यरसबन्धसन्निकर्षं विभणिषुर्वेदनीयगोत्रायुषामुक्तत्वान्नामकर्मविषयकं दर्शयन्नरकद्विकसत्कं तमाह—

लहुबंधी णिरयदुगा एगस्स लहुमहवा छठाणगयं । णियमा इयरस्स तहा कुखगइहुंडअथिरछगाणं ॥
धुवविउवदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमाहिन्तो बंधइ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥

(मूलगाथा-८९२-८९३)

(प्रे०) 'लहुबंधी' त्यादि,'णिरयदुगा' त्ति नरकद्विकान्नरकगति-नरकानुपूर्वीमध्यादेकस्या जघन्यरसबन्धकः 'इयरस्स' तदितरस्य नरकगतिनाम्नो नरकानुपूर्वीनाम्नो वा रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा नियमाच्च बध्नाति, तयोर्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायमानत्वात् । ततः किम् ? उच्यते,इह हि नामकर्मजघन्यरसबन्धसत्कस्वस्थानसन्निकर्षपरिज्ञानायेमे नियमा ज्ञातव्याः सन्ति,तद्यथा-(१) यस्याः प्रकृतेर्जघन्यरसः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायते, तत्साधं बध्यमानानां परावर्तमानप्रकृतीनां रसो जघन्यः षट्स्थानपतितोऽजघन्यो वा बध्यते, तत्साधं च बध्यमानानां यासां च जघन्यरसो संक्लेशेन विशुद्ध्या वा सम्भवति तासामनन्तगुणाधिक इति प्रथमः । (२) यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः संक्लेशेन युगपच्च भवितुमर्हति, तन्मध्यादेकस्या जघन्यं रसं बध्नन् तदितरासां जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति । यासां च तत्सार्धं बध्यमानप्रकृतीनां जघन्यरसः परावर्तमानपरिणामेन विशुद्ध्या संक्लेशाधिक्येन वा सम्भवति तासामनन्तगुणाधिकं बध्नातीति द्वितीयः । (३) यासां प्रकृतीनां जघन्यरसो विशुद्ध्या युगपच्च भवितुमर्हति, तन्मध्यादेकस्या जघन्यं रसं बध्नंस्तदितरासां रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति । यासां च तत्सार्धं बध्यमानानां प्रकृतीनां जघन्यरसः परावर्तमानपरिणामेन संक्लेशेन विशुद्ध्याधिक्येन वा सम्भवति तासां रसमनन्तगुणाधिकं बध्नातीति तृतीयः । यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्थानं विशुद्ध्यादिनाऽन्योन्यं सदृशं तुल्यमित्यर्थस्तन्मध्यादेकस्या जघन्यरसं बध्नन् तत्सार्धं बध्यमानानां तासां रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति । यासां च जघन्यरसबन्धस्थानं विशुद्ध्यादिना न तुल्यं विसदृशमित्यर्थस्तत्सार्धं बध्यमानानां तासां रसमनन्तगु-

णाधिकं बध्नातीति निष्कर्षः । अथ प्रकृतं-थमनियमानुरोधाज्जघन्यः षट्स्थानपतितोऽजघन्यो वा रसो बन्धमर्हतीति भावः । 'तहा' इत्यादि, कुखगत्यादयोऽष्टप्रकृतयस्तथाशब्दः समुच्चायकार्थस्ततश्चासां रसः प्राग्वज्जघन्यः षट्स्थानपतितोऽजघन्यो वा नियमाच्च बध्यत इति ज्ञेयम् ,अनन्तरोक्तादेव हेतोः । 'धुवे' त्यादि,ध्रुवबन्धिन्यादयो द्वाविंशतिः प्रकृतयः । 'धुवे' त्यनेनाऽष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातरूपमप्रशस्तध्रुवबन्धिनीपञ्चकञ्चेति त्रयोदशप्रकृतीनां ग्रहणम् । रसस्याऽनन्तगुणाधिकत्वन्तु, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां प्रशस्तानां जघन्यरसस्य संक्लेशेन, अप्रशस्तध्रुवाणां च जघन्यरसस्य विशुद्धया जायमानत्वात् , प्रथमनियमप्रवेशादिति भावः । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात् । वैक्रियद्विकादीनामध्रुवबन्धिनीनान्तु नरकगत्या सह प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥८९२-८९३॥ अथ तिर्यग्द्विकविषयकं प्रस्तुतमाह--

एगस्स मंदबंधी तिरियदुगा मंदमुअ छठाणगयं । णियमाऽण्णस्स सिआ उज्जोअस्स अणंतगुणअहिअं ॥
णियमाऽणंतगुणहिअं ओरालियदुगपणिंदिअइराणं । धुवसुखगइआगिइपरघाऊसासतसदसगाणं ॥
(मूलगाथा-८९४-८९५)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, सुगमम् । षट्स्थानगतत्वन्तु तृतीयनियमानुरोधात् , तयोर्जघन्यरसः सम्यक्त्वाभिमुखेन सप्तमपृथ्वीनारकेण युगपच्च बध्यत इति कृत्वेति भावः । 'सिआ' इत्यादि; तत्र स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य संक्लेशेन जायमानत्वात् ; प्रस्तुतबन्धकस्य तु सम्यक्त्वाभिमुखत्वेन विशुद्धत्वात् । 'ओरालिये' त्यादि, 'धुव' इत्यादि, सुगमम् । पिण्डिताः प्रकृतय एकत्रिंशत् । अनन्तगुणाधिकत्वमनन्तरोक्तादेव हेतोः । नियमाद्बन्धस्तु प्राग्वत् ॥८९४-८९५॥ अथ मनुष्यद्विकसत्कमाह--

एगस्स णरदुगाओ णियमाऽण्णस्स लहुमुअ छठाणगयं । दुखगइछथिराइजुगलसंघयणागिइअपज्जगाण सिआ
पज्जत्तगपरघाऊसासाण सिआ अणंतगुणअहियं । णियमा पणिंदिअउरलदुगधुवपत्तेअबायरतसाणं ॥
(गीतिद्वयम्) (मूलगाथा-८९६-८९७)

(प्रे०) 'एगस्स' इत्यादि, सुगमम् । जघन्यरसबन्धक इति प्रकरणगम्यम् । षट्स्थानगतत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् । 'दुखगइ' इत्यादयः सप्तविंशतिप्रकृतयः, षट्शब्दस्य संहननसंस्थानयोरपि योजनात् । पूर्वार्धगतं 'लहुमुअ छठाणगय' मिति पदत्रयमिहापि योज्यम् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'पज्जत्तगे' त्यादयस्तिस्रः प्रकृतयः । स्याद्बन्धः, अपर्याप्तनाम्ना सह बन्धाभावात्। रसस्याऽनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशसाध्यत्वात् , प्रस्तुतबन्धकस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणामीति कृत्वा प्रथमनियमप्रवेशाच्च । 'णियमं' त्यादि, सुगमम् । 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमिहापि सम्बध्यते। 'धुव' त्ति त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः । पञ्चेन्द्रियजात्यादय एकोनविंशतिः प्रकृतयः। नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात् , अध्रुवबन्धिनीनान्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥८९६-८९७॥ अथ देवद्विकसत्कमाह--

बंधंतो देवदुगा लहुमेगस्स णियमेयरस्स तहा । सुहआगिइखगइसुहगतिगाण लहुमुअ छठाणगयं ॥

तिथिराइगजुगलाणं सिआ उ णियमा अणंतगुणअहियं। धुववितअदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं॥
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा–८९८-८९९)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, गतार्थम्। 'सुह' इति शब्दस्य खगतावपि योजनात् 'खगइ' त्ति प्रशस्तविहायोगतिनाम। नियमाद्बन्धः, देवगत्या सह प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात्। 'तिथिराइ' त्ति स्थिरास्थिरे शुभाऽशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्ती इति षट्प्रकृतीनाम्। 'लहुसुभ' इत्यादि प्रथमगाथास्थमत्रापि योज्यम्। स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। 'णियमा अणंतगुणअहिय' मिति पदे उत्तरार्धे योज्ये। 'धुवे' त्यादि, कण्ठ्यम्। ध्रुवबन्धिन्यादयो द्वाविंशतिः प्रकृतयः। अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायमानत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च परावर्तमानपरिणामित्वात् ॥८९८-८९९॥

अथैकेन्द्रियजातिस्थावरनाममन्कमाह—

मंदरसं बंधंतो एगिंदियथावराउ एगस्स। बंधइ इयरस्स तहा दुहगाणादेयहुंडाण ॥
णियमाहिन्तो मंदं अहव अमद रसं छठाणगयं। सुहमतिगस्स थिराइगजुगलाणं तिण्ह कुणइ सिआ॥
तिरिदुगधुवउरलाणं णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं। परघाऊसासायवदुगाण बायरतिगस्स सिआ॥
(मूलगाथा–९००-९०२)

(प्रे०) 'मंदरसं' इत्यादि, सुगमम्। तथाशब्दः समुच्चायकः, ततश्चेतरस्य दुर्भगादीनाञ्चेत्यर्थः। षट्स्थानगतत्वन्तु तेषां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन जायमानत्वात्। 'सुहमतिगस्से' इत्यादि, 'मंदं अहव अमंदरसं छठाणगय' मिति पदान्यपि सम्बध्यन्ते। 'थिराइ' त्ति स्थिरशुभयशःकीर्तिनामास्थिराशुभायशःकीर्तिनामरूपाणां षट्प्रकृतीनाम्। स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। 'तिरिदुगे' त्यादि, तिर्यग्द्विकादयः षोडशप्रकृतयः। नियमाद्बन्धस्त्वेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकानां तिर्यग्द्विकादेर्ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्। अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा प्रवर्तनात्। 'परघा' इत्यादि, सप्तप्रकृतयः। 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमिहापि योज्यम्। स्याद्बन्धस्तु प्रागुक्तादेव हेतोः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावादित्यर्थः ॥९००-९०२॥

अथ द्वीन्द्रियजातिसत्कमाह—

बेइंदियस्स लहुरसबंधी णियमा अणंतगुणअहियं। तिरियउरलदुगधुवतसबायरपत्तेअणामाणं ॥
मंदमुअ छठाणगयं छिवट्ठऽणादेयदुहगहुंडाणं। णियमा अपज्जकुखगइसरतिथिराइजुगलाण सिआ॥
परघाऊसामाण पज्जुज्जोआणऽणंतगुणअहियं। बंधइ सिआ रसं तेइंदियचउरिंदियाणेवं ॥
(मूलगाथा–९०३-९०५)

(प्रे०) 'बेइंदियरसे' त्यादि, 'दुगे' ति शब्दस्योभयत्र योजनात्तिर्यग्द्विकमौदारिकद्विकञ्चेति। तिर्यग्द्विकादयो विंशतिः प्रकृतयः। नियमाद्बन्धः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा जायमानत्वात्। न च तिर्यग्द्विकस्य परावर्तमानत्वेन कुतस्तज्जघन्यरसबन्धस्य विशुद्ध्या जायमानतेति वाच्यम्। ओघप्ररूपणायाः प्रस्तुतत्वेन

तिर्यग्द्विकजघन्यरसबन्धस्य सप्तमपृथ्वीनारकेण विशुद्धया निर्वर्तनीयत्वात् । तथौदारिकद्विकस्य जघन्यरसः सर्वसंक्लिष्टैर्बध्यते, अयं बन्धकस्तु परावर्तमानपरिणामीति । एवं त्रसनामादीनामपि यथामति ज्ञेयम् । 'मंदमुअ' इत्यादि, तत्र षट्स्थानगतत्वं, तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जन्यत्वात् । उत्तरार्धगतम् 'णियमा' इति पदमत्र सम्बध्यते । नियमाद्बन्धस्तु प्राग्वत् । 'अपज्जे' त्यादि, कुशब्दस्य पदद्वये संबन्धात् कुखगतिनाम कुस्वरनाम दुःस्वरनामेति यावत् । अपर्याप्तनामादयो नव प्रकृतयः । स्याद्बन्धः, प्राग्वत् । 'परघा' इत्यादि, पराघाताद्युद्योतनामावसानाश्चतस्रः प्रकृतयः । अनन्तगुणाधिकत्वं, तज्जघन्यरसस्य संक्लेशजन्यत्वात् । स्याद्बन्धे हेतुः प्रतीतः । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति–'तेइंदिये' त्यादि, सुगमम् । सर्वमनन्तरोक्तवदेव, नवरं तेइंदियस्स लहुरसबंधी चउरिंदियस्स लहुरसबंधीति वेदितव्यम् ॥९०३-९०५॥

अथ पञ्चेन्द्रियजातिसत्कमाह—

पंचिंदियस्स लहुरसबंधी बधइ सिआ रसं मदं । उअ छट्ठाणगयमुरलविउव्वदुगुज्जोअणामाणं ॥
छेवट्ठणिरयतिरिदुगणामाण सिआ अणंतगुणअहियं । णियमा हुंडअसुहधुवखगइअथिरछक्कणामाणं ॥
णियमा बंधइ सुहधुवपरघाऊसासतसचउक्काणं । मंदमुअ छठाणगयं अमंदमेवं तसस्स भवे ॥

(मूलगाथा–९०६-९०८)

(प्रे०) 'पंचिंदियस्से' त्यादि, कण्ठ्यम् । षट्स्थानगतत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य तुल्यसंक्लेशजन्यत्वात् । स्याद्बन्धस्त्वेवम्–नरकप्रायोग्यबन्धकः पञ्चेन्द्रियजातेर्जघन्यरसं बध्नन्मनुष्यस्तिर्यग् वा वैक्रियद्विकं बध्नाति, नौदारिकद्विकं न वोद्योतनाम । पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकः सनत्कुमारादिदेवो नारको वा वैक्रियद्विकं न बध्नाति, औदारिकद्विकं बध्नात्युद्योतनाम च बन्द्धुमर्हति । 'छेवट्ठे' त्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन विशुद्धया वा जन्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु संक्लिष्टत्वात् । स्याद्बन्धस्त्वन्यतरस्यैव बन्धप्रवर्तनात्, तद्यथा–नरकप्रायोग्यबन्धको नरकद्विकं बध्नाति, न तु तिर्यग्द्विकसेवार्तनाम्नी । तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकस्तिर्यग्द्विकसेवार्त्तनाम्नी बध्नाति, न नरकद्विकमिति । 'हुंडे' त्यादि, 'असुहे' ति शब्दस्योभयत्र योजनात् 'खगइ' त्ति अप्रशस्तविहायोगतिनाम । हुंडकनामादयस्त्रयोदशप्रकृतयः । 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमत्रापि सम्बध्यते । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु पूर्वोक्तादेव हेतोः । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात्, तद्व्यतिरिक्तानान्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'सुहधुवे' त्यादि, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादयश्चतुर्दशप्रकृतयः । षट्स्थानगतत्वन्तु प्राग्वत् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति–'एव' मित्यादि, अत्र अतिदेशः, स्वामिनो विशेषाभावात्, तद्यथा–ये पञ्चेन्द्रियजातेर्जघन्यरसबन्धकास्त एव त्रसनाम्नोऽपीति ॥९०६-९०८॥ अथौदारिकशरीरनामसत्कमाह—

णियमा बंधइ सुहधुवपरघाऊसासबाअरतिगाणं । उरलस्स मंदबधी लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
तिरिदुगहुंडअसुहधुवपणाऽथिराइणऽणंतगुणअहियं । णियमा छिवट्ठिगिंदियकुखगइसरथावराण सिआ ॥

बंधइ सिआ पणिंदियउरलोवंगतसआयवदुगाणं। मंदमुअ छठाणगयं उज्जोअस्सेवमेव भवे ॥
(मूलगाथा-९०९-९११)

(प्रे०) 'णियमा'इत्यादि, औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसबन्धकः प्रस्तुतः। 'सुहधुव' त्ति प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादयस्त्रयोदशप्रकृतयः। षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तीव्रसंक्लेशलक्षणेन तुल्यसंक्लेशेन साध्यत्वात्। नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्यैतासां ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्। 'तिरिदुगे'त्यादि, तिर्यग्द्विकादयस्त्रयोदश प्रकृतयः, उत्तरार्धगतं 'णियमा' इति पदमत्र योज्यम्। अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तिर्यग्द्विकादीनामप्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वात्। ततः किम् ?, आसां जघन्यरसस्तु विशुद्ध्यादिना जन्यत इति। नियमाद्बन्धस्तु पूर्वोक्ताद्धेतोः। 'छिवट्ठे'त्यादि सेवार्तादयः पञ्चप्रकृतयः। कुशब्दस्याऽग्रेऽपि योजनात् कुखगतिः तथा कुस्वरनाम दुःस्वरनामेति यावत्। पूर्वार्धगतम् 'अणंतगुणअहियं' इतिपदमत्र सम्बध्यते। अनन्तगुणाधिकत्वन्तु प्राग्वत्। स्याद्बन्धस्तु नानाबन्धकानाश्रित्य तद्बन्धाऽबन्धोपलम्भात्। तद्यथा— औदारिकशरीरजघन्यरसबन्धको नारकः सनत्कुमारादिदेवो वा सेवार्तनामकुखगतिदुःस्वरनामानि बध्नाति, तादृश ईशानान्तदेवस्तु तन्न बध्नाति, तस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वात्। एकेन्द्रियस्थावरनाम्नीशानान्तदेवो बध्नाति, न पूर्वोक्तो नारको देवश्च, तस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यबन्धप्रवर्तनात्। 'बंधइ' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियादयः पञ्च प्रकृतयः। आतपद्विकं नामातपनामोद्योतनाम च। स्याद्बन्धस्त्वनन्तरोक्तवत्। भावना यथासंभवं कार्या। उत्तरार्धगतानि 'मंदमुअ छठाणगयं' इति पदानीह योज्यानि। षट्स्थानगतत्वन्तु, आसां प्रशस्तत्वेन तुल्यसंक्लेशेन जघन्यरसस्य बध्यमानत्वात्। अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति'उज्जोअस्से' त्यादि, सुगमम्। अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धकानामविशेषात्। य औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यरसबन्धकास्ते सर्वे उद्योतनाम्नो जघन्यरसबन्धार्हाः ॥९०९-९११॥ अथ वैक्रियद्विकसत्कमाह—

मंदरसं बंधंतो एगस्स विउव्वदुगेयरस्स तहा। पंचिंदियसुहधुवपराघऊसासतसचउगाणं ॥
मंदमुअ छठाणगयं णियमा बधइ अणंतगुणअहियं। णिरयदुगहुंडगअसुहधुवकुखगइअथिरछक्काणं ॥
(मूलगाथा-९१२-९१३)

(प्रे०) 'मंदरसं' इत्यादि, वैक्रियद्विकमध्यादेकस्य जघन्यरसं बध्नन् 'इयरस्स' त्ति स्वेतरस्य तथा पञ्चेन्द्रियजातिनामादीनां पञ्चदशानां प्रकृतीनां रसं जघन्यं षट्स्थानगतमजघन्यं वा नियमाद्‌ बध्नाति। षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तुल्यसंक्लेशार्हत्वात्। नियमाद्बन्धस्तु, ध्रुवाणां तथात्वात्। प्रस्तुतबन्धकमाश्रित्य पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्। कुतः ?, तस्य नरकप्रायोग्यबन्धकत्वात्। 'णिरयदुगे' त्यादि, नरकद्विकादयः पञ्चदश प्रकृतयः। पूर्वार्धगतम्'णियमा बंधइ अणंतगुणअहिय' मिति पदत्रयमत्र योज्यम्। अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासामप्रशस्तत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु संक्लिष्टत्वात्, आसां जघन्यरसस्तु विशुद्ध्या परा-

वर्तमानपरिणामेन वा जन्यत इति भावः ॥९१२-९१३॥ अथाहारकद्विकसत्कमाह—

एगरसाहारदुगा लहुबंधी मंदमुभ छठाणगयं। णियमा इयरस्स सिआ तित्थस्स अणंतगुणअहियं ॥
णियमाऽणतगुणहियं देवविउवदुगपणिंदियधुवाणं । तह सुखगइआगिइपरघाऊसासमतसदसगाणं ॥
(मूलगाथा–९१४-९१५)

(प्रे०)'एगरसे' त्यादि,गतार्थम् । 'तित्थस्से' त्यादि,स्याद्बन्धस्तु केषाञ्चिदेव तद्बन्धस्य सद्भावात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु, तज्जघन्यरसस्य चतुर्थगुणस्थानके प्रवर्तनात्, प्रस्तुतबन्धकस्तु सप्तमगुणस्थानके वर्तत इति । 'देवविउवे' त्यादि, देवद्विकादित्रसदशकावसाना द्वात्रिंशत्प्रकृतयः । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु, तज्जघन्यरसबन्धस्य भिन्नगुणस्थानके उपलम्भात् । नियमाद्बन्धस्त्वप्रमत्तानाश्रित्यासां सर्वासां ध्रुवबन्धित्वात् ॥९१४-९१५॥

अथ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां जघन्यरसबन्धस्य सन्निकर्षमाह—

एगस्स लहुं सुहधुवपरघाऊसासबायरतिगाओ। बंधंतो अण्णेसिं णियमा लहुमुभ छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं हुंडअसुहधुवपणाथिराईणं। थावरछिवट्ठिगिंदियकुखगइसरणिरयतिरिदुगाण सिआ॥
बंधेइ सिआ मंदं अहव अमंदं रसं छठाणगयं । पंचिंदियओरालियवेउव्वायवदुगतसाणं ॥
(द्वि०गीतिः) (मूलगाथा–९१६-९१८)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र शुभध्रुवादयस्त्रयोदश प्रकृतयः । षट्स्थानगतत्वन्तु प्राग्वत् । सर्वासां जघन्यरसस्य तुल्यसंक्लेशसाध्यत्वादिति भावः । नियमाद्बन्धस्तु, प्रस्तुतबन्धकस्य नरकपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तप्रत्येकबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धप्रवर्तनेन पराघातनामादीनामध्रुवबन्धिनीनामपि ध्रुवबन्धोपलम्भात् । 'हुंडे'त्यादि,'पणे' तिशब्दस्य घण्टालालान्यायेनोभयत्र प्रवेशात् पञ्चाशुभध्रुवबन्धिन्यः पञ्च चास्थिरनामादयो हुंडकसंस्थानञ्चेत्येकादश प्रकृतयः । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासामप्रशस्तत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वात् । अप्रशस्तानां जघन्यरसो विशुद्धया परावर्तमानपरिणामेन वा बध्यत इति कृत्वा । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां ध्रुवबन्धित्वात्, हुंडकादीनां परावर्त्तमानास्वशुभतमत्वात्, ततः किम् ? तीव्रसंक्लिष्टेनैता निरन्तरं बध्यन्त इति भावः । 'थावरे' त्यादि, कुशब्दस्योभयत्र योजनात् कुखगतिः कुस्वरश्चेति । 'दुगे'ति शब्दस्योभयत्र योजनान्नरकद्विकं तिर्यग्द्विकञ्चेति । स्थावरनामादयः प्रकृतयो नव । 'ऽणंतगुणहिय' इतिपदं पूर्वोपगतमिहापि योज्यम् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु प्राग्वत् । स्याद्बन्धस्तु नानाबन्धकानाश्रित्य तद्बन्धाबन्धोपलम्भात् । 'पणिंदिये'त्यादि, 'दुगे' ति शब्द 'ओरालियवे' उव्वे' ति शब्दयोरपि सम्बध्यते, ततश्चौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमातपद्विकं च । पञ्चेन्द्रियजात्यादयोऽष्टौ प्रकृतयः । स्याद्बन्धोऽनन्तरोक्तवत् । षट्स्थानगतत्वम्, प्राग्वत् ॥९१६-९१८॥

अथ वज्रर्षभनाराचसंहननसत्कमाह—

वइरस्स मदबधी सिआ लहुमहव रसं छठाणगयं । अलहुं णरखगइदुगछसंठाणथिराइजुगलाणं ॥

धुवउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणहियं तिरिदुगउज्जोअगाण सिआ ॥

(मूलगाथा-९१९-९२०)

(प्रे०) 'वइरस्से' त्यादि, दुगशब्दस्योभयत्र योजनात्, नरद्विकं खगतिद्विकम् । 'छ' इति शब्दोऽग्रेऽपि योज्यते, ततश्च षट्संस्थानानि षट्स्थिरादीनां युगलषट् स्थिरादयः षडस्थिरादयश्चेत्यर्थः । मनुष्यद्विकादयो द्वाविंशतिप्रकृतयः । षट्स्थानगतत्वं, सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन संभवात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'धुवउरले' त्यादि, तत्र 'धुव' त्ति प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नास्त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः । ध्रुवबन्धिन्यादयो द्वाविंशतिः प्रकृतयः । उत्तरार्धगतं 'णियमाऽणंतगुणहियं' इति पदद्वयमिह योज्यम् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकमाश्रित्य तद्बन्धस्याऽवश्यं प्रवर्त्तनात्, तथथा-वज्रर्षभनाराचसंहननस्य जघन्यरसबन्धकः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याणां पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्याणां वा प्रकृतीनां बन्धको भवति, तत्प्रायोग्यबन्धकैरेता अवश्यं बध्यन्त इति । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु, तज्जघन्यरसबन्धस्य तीव्रसंक्लिष्टसाध्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु न तथा, अस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । 'तिरिदुगे' त्यादि, तत्र स्याद्बन्धः प्राग्वत् । अनन्तगुणाधिकत्वमप्रशस्तत्वे सति तज्जघन्यरसबन्धस्य विशुद्धिजन्यत्वादुद्योतसत्कस्य च तस्य संक्लेशेन जन्यत्वात् ॥९१९-९२०॥ अथ प्रथमसंस्थानसत्कमाह—

पढमागिइलहुबंधी लहुमलहुं वा रसं छठाणगयं । णरसुरखगइदुगछसंघयणथिराइजुगलाण सिआ ॥
तिरिउरलविउव्वदुगउज्जोआण सिआ अणंतगुणअहियं । णियमा पचिंदियधुवपरघाऊसासतसचउक्काण ॥(गीतिः)

(मूलगाथा-९२१-९२२)

(प्रे०) 'पढमागिइ०' इत्यादि, उत्तरार्धस्थद्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात्-मनुष्यद्विकं सुरद्विकं खगतिद्विकं चेति । छशब्दः पूर्ववत् । मनुष्यद्विकादयश्चतुर्विंशतिः प्रकृतयः । स्याद्बन्धः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । षट्स्थानगतत्वं, सर्वासां जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामजन्यत्वात् । 'तिरिउरले' त्यादि, दुगशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततश्च तिर्यग्द्विकमौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमिति । तिर्यग्द्विकादयः प्रकृतयः सप्त । स्याद्बन्धः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । तथथा—मनुष्यप्रायोग्यं बध्नंस्तिर्यग्द्विकवैक्रियद्विके न बध्नाति । देवप्रायोग्यं बध्नन्न तिर्यग्द्विकौदारिकद्विके इत्यादि । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वेतज्जघन्यरसस्य विशुद्धया संक्लेशेन वा बध्यमानत्वात् । 'पंचिंदिये' त्यादि, 'धुव'त्ति त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः । पञ्चेन्द्रियजात्यादयो विंशतिः प्रकृतयः । नियमाद्बन्धः, ध्रुवाणां ध्रुवबन्धित्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन शेषाणामपि ध्रुवतया बन्धप्रवर्त्तनात् । 'अणंतगुणअहियं' इति पदमत्र योज्यते । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु, एतासां जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशेन विशुद्धया वा जन्यत्वात् ॥९२१-९२२॥

अथ मध्यमसंहननसंस्थानसत्कमाह—

मज्झिमसंघयणागिइचउगाणं होइ वइररिसहव्व । पढमागिइव्व णेयो पसत्थखगइसुहगतिगाणं ॥

(मूलगाथा-९२३)

(प्रे०) **'मज्झिमे'** त्यादि, अतिदेशस्त्वेतज्जघन्यरसबन्धस्यापि वज्रर्षभवत् परावर्तमानमध्यमपरिणामजन्यत्वात् । अथ प्रशस्तखगत्यादिमन्कमाह–**'पढमागिइव्वे'** त्यादि, अतिदेशे हेतुरनन्तरोक्तः। नवरं वज्रर्षभवदित्यतिदेशे कृते देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धो न प्राप्यते, संहननबन्धकस्य तद्बन्धाभावात् प्रशस्तखगत्यादिबन्धकस्य तु देवद्विकवैक्रियद्विके बन्धमर्हतः । अत एव प्रथमसंस्थानवदित्यतिदेशः कृत इति ॥९२३॥

अथ सेवार्त्तसंहननसत्कमाह —

छेवट्ठमंदबधी णियमा पत्तेअबायरतसाणं । धुवओरालदुगाणं बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥
बंधइ सिआ लहुं उअ छट्ठाणगयं छआगिईण तहा । णरखगइदुगविगलतिगअपज्जछथिराइजुगलाणं ॥
तिरिदुगपणिंदिपरघाऊसासुज्जोअपज्जणामाणं । बंधइ खलु अणुभागं अणंतगुणिआहियं तु सिआ ॥
(मूलगाथा–९२४-९२६)

(प्रे०) **'छेवट्ठे'** त्यादि,प्रत्येकनामादयो ध्रुवबन्धिन्यादयश्च पिण्डिताः प्रकृतयोऽष्टादश । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य द्वीन्द्रियादिप्रायोग्यबन्धकत्वेनैतद्बन्धस्यावश्यं प्रवर्तनात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वेतज्जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायमानत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु परावर्तमानपरिणामित्वात् । **'छआगिईणे'** त्यादि, तथाशब्दः समुच्चायकः, ततश्च षट्संस्थानादि-षट्स्थिरादियुगलावसानाः षड्विंशतिः प्रकृतयः, **'दुगे'** ति शब्दस्य **'णरखगइ'** इति द्वयोरपि योजनात् **'थिराइजुगले'** त्यनेनास्थिरषट्कस्यापि ग्रहणाच्च । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामसाध्यत्वात् । **'तिरिदुगे'** त्यादि, तिर्यग्द्विकादयः सप्त प्रकृतयः । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा साध्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानपरिणामित्वात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । पराघातोच्छ्वासनाम्नोस्तु पर्याप्तनाम्ना सहैव बन्ध इति कृत्वा च ॥९२४-९२६॥ **अथ हुंडसंस्थानसत्कमाह—**

लहुबंधी हुंडस्स अणंतगुणहियं सिआ पणिंदिस्स । तिरिविउवुरलायवदुगपरघाऊसासतसचउक्काण ॥
मंदसुअ छठाणगयं सिआ णिरयमणुयदुगदुखगईण । थावरजाइचउक्कछसंघयणथिराइजुगलाणं ॥
तेरसधुवबधीणं णियमा बंधइ अणतगुणअहियं । दुहगाणादेयाणं एवं सण्णिकरिसो णेयो ॥
(प्र० गीतिः) (मूलगाथा–९२७-९२९)

(प्रे०) **'लहुबंधी'** इत्यादि, पञ्चेन्द्रियजात्यादित्रसचतुष्कावसानाः पञ्चदशप्रकृतयः, कुतः ? दुगशब्दस्य 'तिरि' त्यादिशब्दचतुष्के प्रत्येकं योजनात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्, आतपद्विकपराघातोच्छ्वासानान्तु अपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकस्य बन्धाभावाच्च । अनन्तगुणाऽधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा जायमानत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु परावर्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । स्याद्बन्धे हेतुः प्रतीतः । **'णिरये'**त्यादि, दुगशब्दस्योभयत्र योजनान्नरकद्विकं मनुष्यद्विकञ्च । 'चउक्क' शब्दस्योभयत्र योजनात् स्थावरचतुष्कं जातिचतुष्कञ्च । छशब्दोऽप्युभयत्र

योज्यते ततश्च षट् संहननानि षट्स्थिरादियुगलम् स्थिरषट्कमस्थिरषट्कञ्चेत्यर्थः। ततश्च नरकद्विकादयः स्थिरादियुगलावसाना द्वात्रिंशत्प्रकृतयः। षट्स्थानगतत्वन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानपरिणामित्वात्। आसां सर्वासामपि जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वाच्च। स्याद्बन्धे हेतुः प्रतीतः। 'तेरसे' त्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वे हेतुः प्रागुक्तः। नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धित्वात्। अथ समानवक्तव्यत्वादतिदिशति 'दुहगं' त्यादि, सुगमम्। नवरं नरकद्विकादयः षट्त्रिंशत्प्रकृतयो बोद्धव्याः, संस्थानषट्कस्याऽपि बन्धप्रवर्तनात् आत्मनः स्वप्रतिपक्षस्य च वर्जनाच्च। दुर्भगसन्निकर्षप्ररूपणायां स्वस्वप्रतिपक्षवर्जस्थिरादिपञ्चकयुगलस्य, अनादेयसन्निकर्षप्ररूपणायामपि स्वस्वप्रतिपक्षवर्जपञ्चकयुगलस्यैव ग्रहणादिति भावः ॥९२७-९२९॥

अथ अप्रशस्तविहायोगतिसत्कमाह—

णिरयणरदुगतिविगलछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं। कुखगइलहुरसबंधी सिआ लहुं उअ छठाणगयं ॥
तेरसधुवबंधीणं परघाऊसासतसचउक्काणं। णियमाहितो बंधइ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
तिरियदुगुज्जोआणं उरलविउव्वदुगपणिंदियाणं च। कुणइ अणंतगुणहियं सिआ भवे दुस्सरस्सेवं ॥

(मूलगाथा-९३०-९३२)

(प्रे०) 'णिरय०' इत्यादि,कुखगतिजघन्यरसबन्धक इति प्रक्रान्तः। नरकद्विकादय एकत्रिंशत्प्रकृतयः। स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धस्य संभवात्। षट्स्थानगतत्वन्तु प्रतीतम्। 'तेरसे'त्यादि,त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यादयस्त्रसचतुष्कावसाना एकोनविंशतिप्रकृतयः। नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवाणां तथात्वात्। प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तत्रसप्रायोग्यबन्धकत्वेन पराघातादीनामप्यविच्छिन्नतया बन्धप्रवर्तनात्। अनन्तगुणाधिकत्वे हेतुः प्रतीतः। 'तिरिये' इत्यादि, चः समुच्चये। ततश्च तिर्यग्द्विकादयोऽष्टौ प्रकृतयः। स्याद्बन्धः प्राग्वत्। अनन्तगुणाधिकत्वन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामित्वे सत्यामां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा जन्यत्वात्। अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-'दुस्सरस्स' त्यादि,सुगमम्। नवरं 'दुस्सरलहुरसबंधी' ति वक्तव्यम्। तथा स्वरवर्जपञ्चस्थिरादियुगलं ग्राह्यं स्वरयोः स्थाने च खगतिद्विकं ग्राह्यम्। शेषमशेषमनन्तरोक्तवदिति। ॥९३०-९३२॥ अथाप्रशस्तध्रुवबन्धिसत्कमाह--

एगस्स बंधमाणो लहुमसुहधुवाउ बंधए णियमा। अण्णाण चउण्ह रसं लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
तित्थाहारदुगाणं बंधेइ सिआ अणंतगुणअहियं। णियमा सगवीसाए सुहधुरजोग्गाणसेसाणं ॥

(मूलगाथा-९३३-९३४)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, कण्ठ्यम्। नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धित्वात्। षट्स्थानगतत्वन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य तुल्यविशुद्ध्या संभवात्। 'तित्थे' त्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वादासां जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशेन जन्यत्वाच्च। स्याद्बन्धस्त्वाहारकद्विकबन्धस्य कादाचित्कत्वात् जिननामबन्धस्य केषाञ्चिद् विशिष्टसम्यक्त्ववतामेव प्रवर्त्तनात्। 'सगवीसाए' इत्यादि, गतार्थम्। 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमिहापि योज्यते। अनन्तगुणा-

धिकत्वं प्राग्वत् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य निवृत्तिबादरक्षपकत्वात् तस्य च प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । सप्तविंशतिः प्रतीताः ॥९३३-९३४॥ अथाऽऽतपनामसत्कमाह—

णियमा सुहधुवुरालियपरघाऊसासबायरतिगाणं । आयवलहुरसबंधी लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं अणुभागं बधए तिरिदुगस्स । हुंडेगिंदिय-थावर-असुह-धुवपणाथिराईणं ॥
(मूलगाथा-९३५ ९३६)

(प्रे०) 'णियमा' इत्यादि, आतपजघन्यरसबन्धकः प्रक्रान्तः । शुभध्रुवबन्धिन्यादयश्चतुर्दश-प्रकृतयः । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवाणां ध्रुवत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तप्रत्येकबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन पराघातोच्छ्वासयोरपि सातत्येन बन्धप्रवर्तनात् । बादरत्रिकस्य तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । षट्स्थानगतत्वे हेतुः प्रतीतः । 'तिरिदुगस्से' त्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वम् , अप्रशस्तत्वे सत्येतज्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन विशुद्धया वा साध्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुत-बन्धकस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिबन्धकत्वात् । तिर्यग्द्विकादिपञ्चाऽस्थिरादिपर्यवसानाः प्रकृतयस्तु पञ्चदशेति ।।९३५-९३६।।

अथ जिननामसत्कमाह—

जिणलहुबंधी थिरसुहजसआहारदुगवज्जपयडीणं । णियमाऽणंतगुणहियं सुरजोग्गाणं दुतीसाए ॥
(मूलगाथा-९३७)

(प्रे०) 'जिणे' त्यादि, जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकः स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्याहारकद्विकवर्जानां देवप्रायोग्याणां प्रकृतीनाम् । कतिसंख्याकानां तासामित्याह—'दुतीसाए' त्ति द्वात्रिंशतो रसमनन्तगुणाधिकं नियमाच्च बध्नाति । तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनामेव बन्धस्य प्रवर्तनात् स्थिरादीनां, प्रस्तुतबन्धकस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तित्वादाहारकद्विकस्य, वर्जनं द्रष्टव्यम् ॥९३७।।

अथ सूक्ष्मनामसत्कमाह—

सुहमस्स मंदबंधी णियमा लहुमुभ छठाणगयमलहुं । हुंडेगिंदिय-थावर-दुहगाणादेय-अजसाणं ॥
तिरिदुगउरलधुवाणं णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं । कुणइ सिआ पत्तेअगपरघाऊसासपज्जाण ॥
बधेइ सिआ थिरसुहभपज्जसाहारअथिरअसुहाणं । मंदमुभ छठाणगयं एवं साहारणस्स भवे ॥
(मूलगाथा-९३८ ९४०)

(प्रे०) 'सुहमस्से' त्यादि, सुगमम् । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन साध्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । हुंडकनामादयः प्रकृतयस्तु षट् । 'तिरिदुगे' त्यादि, कण्ठ्यम् , नवरं 'धुव' त्ति त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः । नियमाद्बन्धः प्रतीतः । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तिर्यग्द्विकाप्रशस्तध्रुवाणां जघन्यरसस्य विशुद्धयौदारिकशरीरप्रशस्तध्रुवाणां च संक्लेशेन जन्यत्वात् , प्रस्तुतबन्धकस्य च परावर्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । 'पत्तेअ' इत्यादि, गतार्थम् । प्रत्येकनामादयश्चतस्रः प्रकृतयः । पूर्वार्धगतम् 'अणंतगुणअहिय'मिति पदमत्राऽपि योज्यम् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वेतासां जघन्यरसस्य संक्लेशजन्यत्वात् । स्याद्बन्धस्तु साधारणाऽपर्याप्तप्रायो-

ग्यबन्धकस्य बन्धाभावात् । **'थिरे'**त्यादि, स्थिरनामादयः षट्प्रकृतयः । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । षट्स्थानगतत्वन्तु प्राग्वत् । अथ वक्तव्ये विशेषाभावादतिदिशति–**'साहारणस्से'**त्यादि, गतार्थम्, नवरं 'साहारणस्स लहुबंधी' ति वक्तव्यम्, तस्यैव प्रस्तुतत्वात् । पराघातनामादयस्तिस्रो बादरनाम्ना सहैवंरीत्या चतस्रः प्रकृतयो वाच्याः, साधारणनामबन्धकस्य प्रत्येकनामबन्धाभावाद् बादरनाम्नो बन्धार्हत्वाच्च । साधारणस्थाने सूक्ष्मं स्थापयित्वा स्थिरनामादयः षट्प्रकृतयो बोध्याः ॥९३८-९४०॥ अथापर्याप्तनामसत्कमाह––

धुवउरलाणं णियमाऽणंतगुणहियं अपज्जलहुबंधी । तिरिदुगपणिंदितसुरलउवंगपत्तेअवायराण सिआ ॥
साहारणथावरदुगजाइचउगछिवट्ठगाण सिआ । मंदसुभ छठाणगयं णियमा हुंडगरणाथिराईणं ॥
(गीतिद्वयम्) (मूलगाथा–९४१-९४२)

(प्रे०) **'धुवे'** त्यादि, अपर्याप्तजघन्यरसबन्धकः प्रस्तुतः । नियमाद्बन्धो ध्रुवाणां प्रतीतः । औदारिकशरीरनाम्नस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा जन्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च परावर्त्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । **'तिरि'** इत्यादि, तिर्यग्द्विकादयः सप्त प्रकृतयः । पूर्वार्धगतम् 'ऽणंतगुणहिय' मिति पदमत्राऽपि योज्यते । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु प्राग्वत् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवात् । **'साहारणे'** त्यादि, साधारणनामादयो दश प्रकृतयः । उत्तरार्धगतानि 'मंद' त्यादीनि त्रीणि पदानीहापि योज्यन्ते, षट्स्थानगतत्वन्त्वत्रासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । स्याद्बन्धस्तु, साधारणनामादीनां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्, सेवार्त्तनाम्नस्त्वेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्य बन्धाभावात् । **'हुंडे'** त्यादयः षट्प्रकृतयः । षट्स्थानगतत्वन्त्वेतज्जघन्यरसस्यापि परावर्तमानपरिणामजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥९४१-९४२॥

अथाऽस्थिरनाम्नो जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षमाह—

अथिरस्स मंदबंधी सिआ खगइणिरयणरसुरदुगाण । तह जाइथावरचउगसंघयणागिइसुहाइजुगलाणं ॥
मंदसुभ छठाणगयं सिआ तिरितिउवुरलायवदुगाणं । तह पंचिंदियजिणपराघाऊसासतसचउगाणं ॥
कुणइ अणंतगुणहिय णियमा तेरसधुवाण बंधेइ । एमेव सणिगयासो विण्णयो असुहअजसाणं ॥
(मूलगाथा–९४३-९४५)

(प्रे०) **'अथिरस्से'** त्यादि, तथाशब्दस्य समुच्चायकत्वाद् दुगशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्, चतुष्कशब्दस्य जातावपि योजनात् संहननसंस्थानयोः प्रत्येकं षण्णां ग्रहणात् **'सुहाइ'** इत्यनेन शुभाऽशुभे सुभगदुर्भगे सुस्वरदुःस्वरा आदेयानादेयौ यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति प्रकृतिदशकस्योपलम्भाच्च खगतिद्विकादयः शुभनामादियुगलावसाना अष्टात्रिंशत्प्रकृतयः । अनन्तरार्धगतानि 'मंद' मित्यादीनि पदानीह सम्बध्यन्ते । षट्स्थानगतत्वन्त्वासामपि रसस्य परावर्तमानपरिणामेन जन्यत्वात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । **'तिरि'** इत्यादि, तिर्यग्द्विकादयस्त्रसचतुष्कावसानाः षोडश प्रकृतयः । शेषमनन्तरोक्तवन्नवरं जिननाम्नः केषाञ्चिदेव बन्धसद्भावात् ।

'तेरस' इत्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्धया वा जन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतीतः । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति- 'एमेवे' त्यादिना, नवरमशुभस्य जघन्यरसबन्धकोऽयशःकीर्तिजघन्यरसबन्धक इति क्रमशो बोध्यः । खगतिद्विकाद्यष्टात्रिंशत्प्रकृतिमध्यात् शुभाऽशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती च क्रमशो वर्जनीये, स्थिराऽस्थिरनाम्नी च प्रक्षेपणीये, प्रकृतयस्तु पूर्ववदष्टात्रिंशदेव भवन्ति । वर्जनं तु प्रतिपक्षस्य बन्धाभावात्-आत्मनश्च नियमाद्बन्धप्रवर्त्तनात् । प्रक्षेपणमप्येवमेवोभयोः परावृत्त्या बन्धप्रवर्तनेन कादाचित्कबन्धस्य सद्भावात् । सुबोधमेतदिति ॥९४३-९४५॥ अथ स्थिरनामसत्कमाह—

> थिरलहुबंधी तिरिदुगपणिंदिउरलविउव्वायवदुगाणं । जिणतसदुगपत्तेआण सिया य अणंतगुणअहियं ॥
> णरसुरखगइदुगाणं छागिइसंघयणजाइचउगाणं । तह थावरसाहारणसुहुमरणसुहाइजुगलाणं ॥
> मंदसुभ छठाणगयं बंधेइ सिआ अणंतगुणअहियं । णियमा तेरधुवाणं परघाऊसासपज्जाणं ॥
>
> (मूलगाथा-९४६-९४८)

(प्रे०) **'थिरे'** त्यादि, तिर्यग्द्विकादयः प्रत्येकनामावसानाः प्रकृतयस्त्रयोदश । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्धया संक्लेशेन वा जायमानत्वात् , प्रस्तुतबन्धकस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणामीति कृत्वा च । स्याद्बन्धस्तु नानाबन्धकानाश्रित्य बन्धाबन्धयोः सद्भावात् । **'णरे'** त्यादि, तथाशब्दः समुच्चायकस्ततश्च मनुष्यद्विकादयः शुभनामादियुगलावसानाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः । 'मंद' मित्यादीनि पञ्च पदान्यनन्तरार्धगतानीह योज्यानि । षट्स्थानगतत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जन्यत्वात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । **'तेरे'** त्यादि, पूर्वार्धगतम् 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमत्र योज्यम् । अनन्तगुणाधिकत्वं प्राग्वत् । त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यादिपर्याप्तनामावसानाः षोडशप्रकृतयः । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवाणां ध्रुवबन्धित्वात् । पराघातादीनामपि बन्धस्याऽवश्यं प्रवर्त्तनात् । अत्रेदं बोध्यम्—स्थिरनामबन्धकः पर्याप्तप्रायोग्यमेव बध्नाति ततश्च पराघातादीनां नियमाद् बन्धं करोति । किन्तु पराघातादीनां बन्धकः स्थिरनामैव बध्नातीति नैव ज्ञेयम् , षष्ठगुणस्थानकं यावदस्थिरनाम्नो बन्धस्य सद्भावेन तद्बन्धस्यापि प्रवर्त्तनात् । एवं स्थिरनामबन्धकः पर्याप्तनामैव बध्नाति । किन्तु पर्याप्तनामबन्धकस्त्वस्थिरनामाऽपि बध्नाति न तु स्थिरनामैव ॥९४६-९४८॥

अथ बहुतरसमानवक्तव्यत्वात् सापवादमतिदिशति—

> एवं सुहस्स एवं जसस्स खलु णवरि सुहमसाहारा । णो चिअ बंधइ णियमा बायरपत्तेअणामाणं ॥
>
> (मूलगाथा-९४९)

(प्रे०) **'एव'** मित्यादि, शुभनाम्नो जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद्वाच्यः । सम्भाव्यमानविशेषस्तु स्वमनीषया ज्ञेयः,स चैवम्-मनुष्यद्विकादिपञ्चत्रिंशदन्तर्गतपञ्चशुभादियुगलस्थाने शुभाशुभवर्जपञ्चस्थिरादियुगलं वाच्यम् , शुभनाम्नो जघन्यरसस्यैव बन्धप्रवर्तनात् अशुभस्य च

भावात् स्थिरास्थिरयोः परावृत्त्या बन्धसद्भावाच्च। 'एवं जसस्स' त्ति यशःकीर्त्तिनाम्नोऽपि स्थिरनामवदेव भवति। किमविशेषेण ? नेत्याह–'णवरी'त्यादि, सूक्ष्मसाधारणनाम्नी न बध्नाति। ततः किम् ? 'णियमा' त्ति बादरनामप्रत्येकनाम्नी नियमाद् बध्नाति। शेषविशेषस्तु प्राग्वत् स्वयं बोध्यः, तद्यथा– थिरलहुबंधी' ति स्थले 'जसलहुबंधी' ति वक्तव्यम्। 'पणसुहाइजुगलाण' मिति स्थाने 'पणथिराइजुगलाण' मिति वक्तव्यं भवति, यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनाम्नोर्वर्जनात् स्थिरास्थिरयोः प्रक्षेपाच्च। यशःकीर्तेर्वर्जनं तज्जघन्यरसस्यैव बन्धात्। अयशःकीर्तेर्वर्जनं प्रतीतम्, सप्रतिपक्षप्रकृत्योर्युगपद्बन्धायोगात्। प्रक्षेपस्तु तयोर्बन्धस्य कादाचित्कत्वोपलम्भात्। रसस्य च षट्स्थानगतत्वस्याऽपि संभवात्। इति गत ओघतो नामकर्मोत्तरप्रकृतिसत्कः स्वस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षः। गते च तस्मिन् समाप्तमोघतः स्वस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षप्ररूपणम् ॥९४९॥

अथ मार्गणासु स्वस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षं दिदर्शयिषुस्तावत् त्रिमनुष्यादिमार्गणासु पञ्चज्ञानावरणसत्कं पञ्चान्तरायसत्कं च तत्तुल्यवक्तव्यत्वादोघवदतिदिशन्नाह–

तिणरदुपंचिंदियतसपणमणवयकायुरालियेसु तहा। इत्थीपुरिसणपुंसगगयवेअकसायचउगेसु ॥
चउणाणसंजमेसु सामाइयछेअसुहुमओहीसु। णयणेयरसुक्कभवियसम्मखइगेसुं च ॥
सण्णिम्मि तहाहारे पणणाणावरणअंतरायाण। ओघव्व सण्णियासो मंदऽणुभागस्स विण्णेयो ॥

(मूलगाथा–९५०-९५२)

(प्रे०) 'तिणरे'त्यादि, गतार्थम्। नवरं द्विशब्दस्य त्रसेऽपि योजनात् पञ्चशब्दस्य वचस्यपि सम्बन्धाच्च त्रिमनुष्यादय आहारिपर्यवसानाः पञ्चचत्वारिंशन्मार्गणाः। 'काय' त्ति काययोगौघः। 'ओही' त्ति अवधिदर्शनम्। एतासु सर्वासु पञ्चानां ज्ञानावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां च जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्ष ओघवद्भवति। कुतः ? जघन्यरसबन्धप्रायोग्यस्यैकस्यैव रसबन्धाध्यवसायस्य भावात्। अयम्भावः-यथौघप्ररूपणायामाभ्यां जघन्यरसबन्धप्रायोग्यमेकं रसबन्धाध्यवसायस्थानं विद्यते, दशमगुणस्थानकचरमसमय एकस्यैव रसबन्धाध्यवसायस्य भावात्तथैव प्रस्तुतमार्गणास्वपि, तज्जघन्यरसबन्धकानां दशमे नवमे वा गुणस्थानके वर्तमानत्वात् ॥९५०-९५२॥

अथोक्तशेषासु मार्गणासु पञ्चानां ज्ञानावरणानां जघन्यरसस्य स्वस्थानसंनिकर्षं दर्शयति–

सेसासुं बंधंतो णाणावरणाउ मंदमेगस्स। मंदमुअ छठाणगयं णियमाऽण्णाणेव नव विग्घाणं ॥(गीतिः)

(मूलगाथा–९५३)

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, अनन्तरोक्तशेषासु सपादशतमार्गणासु 'णाणावरणाउ' त्ति पञ्चज्ञानावरणमध्यादेकस्य जघन्यं रसं बध्नन् 'ऽण्णाण' त्ति तद्भिन्नानां चतुर्णां ज्ञानावरणानां रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा नियमाच्च बध्नाति। षट्स्थानपतितत्वन्त्वासु मार्गणासु नवमस्य दशमस्य वा गुणस्थानकस्याऽसंभवात्। किमुक्तं भवति ? नवमादधस्तनगुणस्थानवर्त्तिनां विवक्षितविशुद्ध्यादिस्थानस्थितानामसुमतां रसबन्धाध्यवसायनानात्वस्य संभवात्। ततः किम् ? एकस्य जघन्यं बध्नन् शेषाणां षट्स्थानपतितमपि रसं बन्द्धमर्हतीति। उक्तशेषामार्गणास्त्विमाः–अष्टौ

नरकमार्गणाः, अपर्याप्तमनुष्यः, तिर्यग्मार्गणाः पञ्च, त्रिंशद्देवभेदाः, सर्वैकेन्द्रियभेदाः, विकलाक्षा नव, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, पृथ्व्यादिकायभेदाश्चत्वारिंशत्, द्वित्रसयोः पृथगुक्तत्वात्। औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियतन्मिश्रकाययोगौ, आहारकतन्मिश्रकाययोगौ, कार्मणकाययोगः, अज्ञानत्रिकम्, परिहारविशुद्धिकं, देशविरतिः, असंयमः, शुक्लवर्जलेश्यापञ्चकमभव्यः, क्षायोपशमिकम्, मिश्रदृष्टिः, सास्वादनम्, मिथ्यात्वम्, असंज्ञी, अनाहारी चेति पञ्चविंशत्युत्तरशतं मार्गणानाम्। अथ तुल्यवक्तव्यत्वात् अतिदिशति–'एवमेवे' त्यादि, गतार्थम्, 'विग्घाणं' ति पञ्चान्तरायाणामिति ॥९५३॥

अथ दर्शनावरणसत्कं त्रिमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

तिणरदुपणिंदितसपणमणवयकायुरलथीणपुंसेसुं । पुरिसचउकसायेसुं णयणेयरसुकभवियेसुं ॥
सण्णिम्मि तहाहारे बीआवरणस्स होअइ णवण्हं । चउणाणसंजमेसुं सामाइअछेअओहिसुं ॥
सम्मुवसमखइएसुं छण्हं चउण्हं अवेअसुहमेसु । ओघव्व सण्णिआसो मंदऽणुभागस्स विण्णेयो ॥
(मूलगाथा–९५४-९५६)

(प्रे०) 'तिणरे'त्यादि, त्रिमनुष्यादय आहारिपर्यवसाना द्वात्रिंशन्मार्गणाः। आसु नवानामपि दर्शनावरणानां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्ष ओघवद्भवति। कुतः? तत्र पञ्चनिद्राणां बन्धविच्छेदस्यौघवद्दर्शनात् दर्शनावरणचतुष्कजघन्यरसबन्धस्य सूक्ष्मसम्परायेऽनिवृत्तिकरणे वा प्रवर्तनाच्च। ततः किम्? ओघवत् प्रस्तुतमार्गणास्वपि तज्जघन्यरसबन्धाध्यवसायनानात्वाभावात्। 'चउणाणे'त्यादि, क्षायिकसम्यक्त्वावसाना एकादश मार्गणाः। आसु 'छण्हं' त्ति स्त्यानर्द्धित्रिकवर्जानां षण्णां दर्शनावरणानां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्ष ओघवद्भवति। हेतुः प्राग्वत्। स्त्यानर्द्धित्रिकस्य वर्जनन्त्वत्र तद्बन्धाभावात्। 'अवेअ' इत्यादि, अवेदसूक्ष्मसम्परायर्योर्द्वयोर्मार्गणयोश्चतुर्णां दर्शनावरणानां प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद् विज्ञेयः, निद्रापञ्चकस्यात्र बन्धाभावात्। शेषं प्राग्वत् ॥९५४-९५६॥

अथ सर्वनरकादिमार्गणासु स्त्यानर्द्धित्रिकसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी थीणद्धितिगाउ दोण्ह सेसाणं, सव्वणिरयभेएसुं तिरिये तिपणिदितिरियेसुं ॥
सुरगेविज्जंतेसुं वेउव्वियदुगउरालमीसेसुं । कम्मणअसंजमेसुं पणलेसासुं अणाहारे ॥
णियमा बंधइ मंदं अहव अमंदं रसं छठाणगयं । सेसाण छण्ह णियमा बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा–९५७-९५९)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, सर्वनरकादयो अनाहारिपर्यवसाना अष्टचत्वारिंशन्मार्गणाः। आसु स्त्यानर्द्धित्रिकमध्यादेकस्य जघन्यरसबन्धकः 'सेसाणं' ति तदितरयोर्द्वयो रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा नियमाच्च बध्नाति। समानविशुद्ध्या अनिवृत्तिबादरगुणस्थानादर्वाक् प्रथमगुणस्थानक इत्यर्थः, तज्जघन्यरसस्य बध्यमानत्वात्। 'सेसाणे'त्यादि सुगमम्। अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य मार्गणायां तद्बन्धप्रायोग्यप्रकृष्टगुणस्थाने सर्वविशुद्ध्या बध्यमानत्वात्।

॥९५७-९५९॥ अथानन्तरोक्तास्वेव मार्गणासु दर्शनावरणषट्कसत्कमाह—

एगस्स जहण्णरसं थीणद्धितिगं विहाय बंधंतो । अण्णेसिं पंचण्हं णियमा लहुमुअ छठाणगयं ॥

(मूलगाथा-९६०)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, सुगमम् । 'विहाय' त्ति दर्शनावरणनवकमध्यादिति यावत् । षट्स्थानगतत्वन्तु षण्णामपि जघन्यरसस्य मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानके सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात् ॥९६०॥ उक्तशेषासु दर्शनावरणसत्कमाह—

सप्पाउग्गाहिंतो सेसासुं रसं जहण्णमेगस्स । बंधंतो णियमा लहुमलहुं व रसं छठाणगयं ॥

(मूलगाथा-९६१)

(प्रे०) 'सप्पाउग्गाहिंतो' इत्यादि, सुगमम् । 'सप्पाउग्ग' त्ति दर्शनावरणनवकमध्याद् दर्शनावरणषट्कमध्याद्वेति प्रस्तावाद्गम्यते । 'सेसासु' त्ति उक्तशेषासु सप्तसप्ततिमार्गणासु । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वत्रैकस्यैव बन्धस्थानस्य भावात् । इमाश्च ता उक्तशेषा मार्गणाः-अपर्याप्तमनुष्यः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, पञ्चानुत्तरसुरभेदाः, सप्तैकेन्द्रियाः, नवविकलाक्षाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, द्वित्रसवर्जाः कायभेदाश्चत्वारिंशत्, आहारकद्विकम्, अज्ञानत्रिकम्, परिहारविशुद्धिकम्, देशविरतिः, अभव्यः, क्षायोपशमिकं, मिश्रदृष्टिः, सास्वादनं, मिथ्यात्वम्, असंज्ञीति सप्तसप्ततिरिति । गतो मार्गणासु दर्शनावरणसत्को जघन्यरसबन्धसन्निकर्ष इति ॥९६१॥

अथ तत्र मोहनीयकर्मसत्कं तं त्रिमणिपुस्त्रिमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

तिणरदुपणिंदितसपणमणवयकायुरललोहचक्खूसुं । अणयणसुक्कासु तहा भविये सण्णिम्मि आहारे ॥
मोहस्स छवीसाए तिणाणऽवहिरूम्मखइउवसमेसुं । गुणवीसाअ अवेए सजलणाणं चउण्ह तु ॥
मोहस्स सण्णियासो मंदऽणुभागस्सिगारसण्ह भवे । मणणाणसंजमेसुं समइअछेएसु ओघव्व ॥

(मूलगाथा-९६२-९६४)

(प्रे०) 'तिणरे' त्यादि, ओघवदिति सर्वत्र संबध्यते । त्रिमनुष्यादिष्वाहारिपर्यवसानासु षड्विंशतिमार्गणासु । 'मोहस्स' त्ति मोहनीयकर्मणः षड्विंशतेः प्रकृतीनाम्, त्रिज्ञानादिषु सप्तसु मार्गणासु तस्यैकोनविंशतेः प्रकृतीनाम्, मिथ्यात्वस्त्रीनपुंसकवेदानन्तानुबन्धिचतुष्काणां बन्धाभावात् । अवेदमार्गणायां चतुर्णा संज्वलनानाम्, मनःपर्यवज्ञानादिषु चतसृषु मार्गणासु संज्वलनचतुष्कहास्यरतिशोकारतिभयजुगुप्सापुरुषवेदरूपाणामेकादशानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्ष ओघवद्भवति । कुतः ? सर्वत्र तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनामोघतुल्यत्वात् । यद्यप्युपशमसम्यक्त्वमार्गणायामोघप्ररूपणापेक्षया स्वामिनो वैसादृश्यमस्ति, तथापि तत्राऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकस्य लाभेन प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघप्ररूपणातो विशेषाभाव एवेति ॥९६२-९६४॥

अथ सर्वनारकभेदादिमार्गणासु मोहनीयसत्कमाह—

सव्वणिरयभेएसुं सुरगेविज्जंतउरलमीसेसुं । विउव्वदुगकम्मअजयअसुहलेसासुं अणाहारे ॥
एगस्स मंदबंधी बारकसायपुमहस्सचउगाओ । णियमाऽण्णसोलसण्हं लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
लहुबंधी एगस्स अरइसोगाउ इयरस्स बंधेइ । णियमा रसं जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥

णियमाऽणंतगुणहियं बारकसायपुमभयजुगुच्छाणं । ओघव्व मुणेयव्वो चउअणथीणपुमभिच्छाणं ॥
(मूलगाथा-९६५-९६८)

(प्रे०) 'सव्वणिरये' त्यादि, द्वाचत्वारिंशन्मार्गणा ज्ञेयाः । शेषं सुगमम् । 'बार' त्ति अनन्तानुबन्धिवर्जा द्वादश । 'हस्सचउग' त्ति हास्यरतिभयजुगुप्साः । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवाणां ध्रुवबन्धित्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धत्वेन हास्यरतिपुरुषवेदानां च प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य तुल्यविशुद्धया साध्यत्वादनिवृत्तिबादरादिगुणस्थानकाभावाच्च । अथारतिशोकसत्कमाह–'अरइ' इत्यादि, सुबोधम् । नवरमनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धया जायमानत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । 'ओघव्वे' त्यादि, सुगमम् । 'अण' त्ति अनन्तानुबन्धिनः । कुतः ? ओघवदिति चेत्, ओघवदिहापि मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानके तद्बन्धाभावात् । किमुक्तं भवति–यासु मार्गणासु मोहनीयोत्तरप्रकृतिषु मध्ये यासां प्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानके बन्धो न भवति, तासु मार्गणासु तासां प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवतीति भावः ॥९६५-९६८॥

अथ त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिषु प्रकृतमाह—

अट्ठकसायणपुमथीमिच्छाण तिरितिपणिंदितिरियेसु । ओघव्वेगस्स लहुं बंधंतो सोगअरईओ ॥
णियमाऽण्णाण जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं । णियमाऽणंतगुणहियं अट्ठकसायपुमभयजुगुच्छाणं ॥
(गीतिः)

एगस्स मंदबंधी अट्ठकसायपुमहस्सचउगाओ । णियमाऽण्णबारसण्ह लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
(मूलगाथा-९६९-९७१)

(प्रे०) 'अट्ठे' त्यादि, सुगमम्, नवरं 'तिरिति' त्ति मार्गणाचतुष्के । 'अट्ठकसाया' त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाः । 'अणंतगुणे' त्यादि, सुबोधम् । नवरं 'अट्ठ' त्ति प्रत्याख्यानावरणचतुष्कसंज्वलनचतुष्करूपाः । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्य मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धया साध्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति कृत्वा । अथाऽष्टकषायादिसत्कमाह–'एगस्से' त्यादि, कण्ठ्यम् । 'अट्ठ' त्ति संज्वलनचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्करूपाः । कषायादयस्त्रयोदश प्रकृतयः । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य तुल्यविशुद्धया संभवात् बन्धकस्याऽनिवृत्तिबादरादिगुणस्थानकवर्तित्वाभावाच्च ॥९६९-९७१॥

अथापर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु मोहनीयसत्कसन्निकर्षमाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदियतसेसु सव्वेसुं । एगिंदियविगलिंदियपणकायेसुं अणाणतिगे ॥
अभवियमिच्छत्तेसुं असणे इत्थिणपुमाण ओघव्व । एगस्स जहण्णरसं बंधंतो अरइसोगाओ ॥
णियमाऽण्णस्स जहण्ण उअ अजहण्णं रसं छठाणगय । णियमाऽणंतगुणहियं पुमगुणवीसधुवबंधीणं ॥
एगस्स मंदबंधी पुम-रइ-हस्सधुवबंधिमोहाओ । णियमाऽण्णाण जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
(मूलगाथा-९७२-९७५)

(प्रे०) 'असमत्त' इत्यादि, सुबोधम् । नवरं 'असमत्त' इति शब्दः प्रत्येकं योज्यः ।

तथा 'सर्वे' ति शब्द एकेन्द्रियादिपञ्चकायावसानेषु प्रत्येकं सम्बध्यते। ततश्चापर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यगादयोऽसंज्ञिमार्गणावसानाः पञ्चषष्टिमार्गणाः । ओघवच्चिहाप्योघवत्तयोर्जघन्यरसबन्धस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धया प्रवर्तनात्। 'अरइसोगाओ' इत्यादि, सुबोधम्। नवरं पुरुषवेदादीनाम-नन्तगुणाधिकत्वं, तज्जघन्यरसस्य सर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात्। 'पुमरइ' इत्यादि, गतार्थम्। षट्स्थानगतत्वन्तु प्राग्वत्, सर्वासां जघन्यरसस्य सर्वविशुद्धिलक्षणया तुल्यविशुद्धया बध्यमा-नत्वादिति भावः। 'धुवबंधिमोह' त्ति मिथ्यात्वषोडशकषायभयजुगुप्सारूपा एकोनविंशतिः। ॥९७२-९७५॥ अथ पञ्चानुत्तरसुरादिमार्गणासु प्रस्तुतसन्निकर्षमाह—

पंचसु अणुत्तरेसुं आहारदुगपरिहारदेसेसुं। मीसे एगस्स लहुं बंधंतो अरइसोगाओ॥
णियमाऽण्णाण जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं। पडिवक्खा णो णियमा सेसाण अणंतगुणअहियं॥
बंधंतो सेसाओ सप्पाउग्गाउ मदमेगस्स। णियमाऽण्णाण जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं॥
(मूलगाथा-९७६-९७८)

(प्रे०) 'पंचसु' इत्यादि, पञ्चानुत्तरादिदशमार्गणासु। 'सेसाण' त्ति तत्तन्मार्गणाप्रायो-ग्याणामिति शेषः। अथ शेषप्रकृतिसत्कमाह-'सेसाओ सप्पाउग्गाउ' इत्यादि, षट्स्थानगत-त्वन्त्वेकस्यैव बन्धस्थानस्य भावे सति सर्वासां जघन्यरसस्य नवमादिगुणस्थानकादधस्तनगुणस्थानके तुल्यविशुद्धया बध्यमानत्वात्। इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः—तत्र पञ्चानुत्तरेषु मिश्रदृष्टौ च द्वादश-कषाया हास्यरती भयजुगुप्से पुरुषवेदश्चेति सप्तदश। आहारकद्विकपरिहारमार्गणासु संज्वलन-चतुष्कहास्यरतिभयजुगुप्सापुरुषवेदरूपा नव। देशविरतौ प्रत्याख्यानावरणचतुष्कमनन्तरोक्ता नव चेति ॥९७६-९७८॥ अथ त्रिवेदमार्गणासु पुरुषवेदादिसत्कमाह—

एगस्स तिवेएसुं पुमसंजलणाउ मंदरसबंधी। णियमाऽण्णाण जहण्णं बंधइ ओघव्व सेसाणं॥
(मूलगाथा-९७९)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, 'संजलण' त्ति संज्वलनचतुष्कम्। जघन्यन्तु पञ्चानामपि जघन्यरसस्याऽनिवृत्तिकरणे मार्गणाचरमसमये बन्धसद्भावात्। नियमाद्बन्धस्तु संज्वलनानां ध्रुवबन्धित्वात्, पुरुषवेदस्यापि तत्र प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। 'ओघव्वे' त्यादि, सुगमम्। ओघवत्तु मिथ्यात्वादिगुणस्थानकेषु तासां बन्धभावात् ॥९७९॥ अथ क्रोधमार्गणायामाह—

कोहम्मि बंधमाणो चउसंजलणाउ मंदरसबंधी। णियमाऽणाण जहण्णं बंधइ ओघव्व सेसाणं॥
(मूलगाथा-९८०)

(प्रे०) 'कोहम्मि' इत्यादि, गतार्थम्। 'चउसंजलणाउ' एकस्येति गम्यते। हेतुरनन्त-रोक्तवत्। 'सेसाणं' ति द्वाविंशतिप्रकृतीनाम्, प्रस्तुतसन्निकर्ष इति गम्यते ॥९८०॥

अथ मानमार्गणायामाह—

एगस्स मंदबंधी संजलणाउ मयमायलोहाओ। माणे दोण्ह जहण्णं णियमा ओघव्व सेसाणं॥
(मूलगाथा-९८१)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, पठितसिद्धम् । नवरं 'दोण्ह' त्ति तदितरयोः । 'सेसाणं' ति त्रयोविंशतिप्रकृतीनाम् । इह संज्वलनक्रोधस्यापि प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवदिति क्रोधमार्गणातो विशेषः ।।९८१।। ।। अथ मायामार्गणायाम् —

एगस्स मंदबंधी मायाए चरमलोहमायाओ । णियमाऽण्णस्स जहण्णं बंधइ ओघव्व सेसाणं ॥

(मूलगाथा-६८२)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, मायामार्गणायामिति प्रकृतम् । शेषं सुगमम् । इह मानस्याऽपि प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, मार्गणाप्रायोग्यप्रकृष्टविशुद्धिस्थानादर्वागेव तज्जघन्यरसबन्धस्य सम्भवात् । 'सेसाणं' ति चतुर्विंशतिप्रकृतीनाम् । 'ओघव्व' सन्निकर्ष इति गम्यते ।।९८२।।

अथ तेजोलेश्यापद्मलेश्यामार्गणयोः प्रकृतमाह--

एगस्स संजलणपुमहस्सरइउक्काउ तेउपम्हासु । लहुबंधी अण्णेसि णियमा लहुमुअ छठाणगयं ।।
ओघव्व सोगअरइणपुमथीबारसकसायमिच्छाणं । तेउव्व वेअगे खलु सप्पाउग्गाण विण्णेयो ।।

(मूलगाथा-९८३-९८४)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, कण्ठयम् । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वेषां जघन्यरसबन्धस्य मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टगुणस्थानके विशुद्धया प्रवर्त्तनात् । 'ओघव्वे' त्यादि, प्रस्तुतसन्निकर्ष इति गम्यते । अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य मार्गणाप्रायोग्यप्रकृष्टविशुद्धेरन्यत्र प्रवर्तनात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामतिदिशति 'तेउव्वे' इत्यादि, गतार्थम् । नवरं 'सप्पाउग्गाण' त्ति मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्रीनपुंसकवेदानामिह बन्धाभावात्तद्वर्जानामित्यर्थः । अतिदेशस्तूभयत्रोत्कृष्टतः सप्तमगुणस्थानकात्मकस्य तुल्यगुणस्थानकस्य भावात् ।।९८३।। ९८४।। अथ सास्वादनमार्गणायामाह--

एगस्स सासणे खलु सोलकसायपुमहस्सरइउगाओ । लहुबंधी अण्णेसि णियमा लहुमुअ छठाणगयं ।।
थीअ लहुं बंधंतो जुगलाण सिआ अणंतगुणअहियं । बंधइ णियमा सोलसकसायभयकुच्छमोहाणं ।।
लहुबंधी एगस्स अरइसोगाउ इयरस्स मंदमुअ । छट्टाणगयं णियमाऽणंतगुणहियं धुवपुमाणं ।।

(मूलगाथा-९८५-९८७)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, सास्वादनमार्गणायामिति प्रकृतम् । 'अण्णेसिं' तदितरासां विंशतेरित्यर्थः, नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य मार्गणाप्रायोग्यसुविशुद्धत्वेन स्त्रीवेदारतिशोकरूपाणां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात् , ध्रुवाणान्तु तथात्वात् । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तुल्यविशुद्धिसाध्यत्वात् । 'थीअ' इत्यादि, स्याद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वेन प्रतिपक्षयुगलबन्धस्यापि संभवात् । 'सोलसे' त्याद्युत्तरार्धे । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धित्वात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वादेतासां जघन्यरसबन्धस्य सर्वविशुद्धया जन्यत्वात् । 'लहुबंधी' त्यादि, सुगमम् । षट्स्थानगतत्वन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य तुल्यविशुद्धया

साध्यत्वात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तासां जघन्यरसस्य मार्गणाप्रायोग्यसर्वविशुद्धया बध्यमानत्वात् । 'धुवे' ति षोडशकषायभयजुगुप्साः ॥९८५-९८७॥ गतो मार्गणासु मोहनीयप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षः । अल्पवक्तव्यत्वेनायुषां प्रागेवोक्तत्वात् अधुना नामप्रकृतीनामवसरः । अथ कतिपयासु मार्गणास्वोघवदतिदिशति—

दुपणिंदितसेसु तहा पणमणवयकायचउकसायेसुं । चक्खुअचक्खूसु दुहा भविये सण्णिम्मि आहारे ॥
विण्णेयो सव्वेसिं मंदऽणुभागस्स णामपयडीणं । ओघव्व सण्णिगासो अवेअसुहुमेसु णेव भवे ॥
(मूलगाथा-९८८-९८९)

(प्रे०) 'दुपणिंदि०' इत्यादि, कण्ठयम् । नवरं सर्वा मार्गणाश्चतुर्विंशतिः । 'काय' त्ति काययोगौघः । ओघवत्तु स्वामिनामविसदृशत्वात् । अन्यथा-ओघे यासां जघन्यरसबन्धपरावर्तमानपरिणामेन यासां च विशुद्धया यासां च संक्लेशेन बध्यते तासां तथैवेहापीति । अथावेद-सूक्ष्मसंपरायमार्गणयोः प्रकृतं निषेधति 'अवेअ' इत्यादिना, कुतो न भवतीति चेत् ? यशःकीर्तिलक्षणाया एकस्या एव प्रकृतेर्बन्धप्रवर्तनात् ॥९८८-९८९॥

अथ नरकौघमार्गणायां तिर्यग्द्विकमोघवदतिदिश्य मनुष्यद्विकविषयमाह—

णिरये ओघव्व तिरियदुगस्स एगस्स मंदरसबंधी । मणुयदुगा णियमा लहुमुअ छट्ठाणगयमण्णस्स ॥
धुवउरलदुगपणिंदियपराघाऊसासतसचउक्काणं । णियमाहिन्तो बंधइ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
अणुभागं खगइदुगछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छट्ठाणगयं ॥
(मूलगाथा-९९०-९९२)

(प्रे०) 'णिरये' इत्यादि, तिर्यग्द्विकस्यौघवत्, स्वामिनामविशेषात् । 'एगस्स' इत्यादि । 'धुव' त्ति त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः । नियमाद्बन्धस्तु नारकाणां भवप्रत्ययेन तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वेतज्जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशेन विशुद्धया वा जायमानत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च परावर्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । 'अणुभाग' मित्यादि, 'थिराइ' त्ति स्थिरषट्कमस्थिरषट्कञ्च । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । षट्स्थानगतत्वम्, आसामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामसाध्यत्वात् ॥९९०-९९२॥

अथ तत्रैव ध्रुवबन्धिन्यादिसत्कमाह—

सुधुवुरलदुगपणिंदियपराघाऊसासतसचउक्काओ । एगस्स मंदबंधी णियमाऽण्णाण लहुमुअ छठाणगयं ॥
तिरिदुगछिवट्ठहुंडगकुखगइअसुहधुवअथिरछक्काणं । बंधइ णियमाहिन्तो अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
उज्जोअस्स जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं । बंधेइ सिआ एवं हवेज्ज उज्जोअणामस्स ॥
(प्र०गीतिः) (मूलगाथा-९९३-९९५)

(प्रे०)'सुधुवे'त्यादि, तत्र 'सुधुव' त्ति प्रशस्ता अष्टौ ध्रुवबन्धिन्यः । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तुल्यसंक्लेशेन साध्यत्वात् । 'तिरिदुगे'त्यादि । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्, ध्रुवाणान्तु ध्रुवबन्धित्वात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां

जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन विशुद्धया वा बध्यमानत्वात् । 'उज्जोअस्स' इत्यादि । स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् । षट्स्थानगतत्वन्तु तज्जघन्यरसस्यापि संक्लेशेन जन्यत्वात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-'एव' मित्यादिना । गतार्थम् । नवरमुद्योतनाम्नो रसं जघन्यं षट्स्थानगतं वा स्याच्च बध्नातीति नैव वक्तव्यम् , तद्बन्धकस्य प्रस्तुतत्वेनोद्योतनाम्नो रसबन्धो जघन्यो नियमाच्च जायते । शेषं तु सुगमम् ॥९९३-९९५॥

अथ तत्रैव वज्रर्षभनाराचसत्कमाह —

वइरस्स मंदबंधी सिआ लहुमहव छठाणगयमलहुं । बंधइ णरदुगछागिइदुखगइछथिराइजुगलाणं ॥
धुवउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणऽहियं तिरिदुगउज्जोअगाण सिआ ॥
एवं संघयणपणगदुखगइछागिइथिराइजुगलाणं । णवरि अणंतगुणअहियं सिआ जिणस्स तिथिराइजुगबंधी
(मूलगाथा-९९६-९९८)

(प्रे०) 'वइरस्स' इत्यादि, 'दुखगइ' त्ति खगतिद्विकम् । 'छथिराइ' त्ति स्थिरषट्कमस्थिरषट्कञ्च । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसंभवात् । षट्स्थानगतत्वं, सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामसाध्यत्वात् । 'धुव' त्ति त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्य विशुद्धया संक्लेशेन वा जायमानत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात् , औदारिकद्विकादीनां प्रस्तुतमार्गणायां ध्रुवबन्धिकल्पत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'तिरिदुगे'त्यादि,अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्धया संक्लेशेन वा जायमानत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । स्याद्बन्धस्तु तिर्यग्द्विकस्य प्रतिपक्षद्विकबन्धसद्भावात् , उद्योतस्य तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-'एव' मित्यादि, गतार्थम् । प्रस्तुतसन्निकर्ष इति गम्यते । संभाव्यमानो विशेषस्तु स्वयं योज्यः, तद्यथा-प्रथमसंस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षं प्रतिपादयता प्रथमार्धोत्तरार्धगतस्य 'छागिइ' इति शब्दस्य स्थाने षट्संहननानि ज्ञातव्यानि, एवं यथासंभवं शेषप्रकृतिविषयकोऽपि विज्ञेयो विशेषो मतिमतेति । अथातिदिष्टार्थे कश्चिद्विशेषं स्वयमेव दर्शयति ग्रन्थकारः 'णवरि'त्यादिना । अयम्भावः-स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति षण्णां प्रकृतीनां जघन्यरसं बध्नन् जिननाम्नो रसमनन्तगुणाधिकं स्याच्च बध्नाति । वज्रर्षभनाराचस्य जघन्यरसस्तु परावर्तमानपरिणामेन मिथ्यादृष्ट्यादिनैव बध्यते, ततो न तस्य जिननामसत्को बन्धः । स्थिरनामादीनान्तु सम्यग्दृष्टिनाऽपि परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धो निर्वर्त्यते । अत एव तद्रसबन्धचिन्तावसर इति भावः ॥९९६-९९८॥ अथ तत्रैव जिननामसत्कमाह—

जिणबंधी णियमा थिरसुहजसवज्जसुहमणुअजोग्गाणं । अथिरअसुहअजसअसुहधुवाण य अणंतगुणअहियं
(मूलगाथा-९९९)

(प्रे०) 'जिणबंधी'त्यादि, तत्र 'जिणबंधी' त्ति तज्जघन्यरसबन्धी । तत्र स्थिरशुभयशःकीर्त्तीनां वर्जनम् , प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वेन तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धस्यैव प्रवर्त्तनात् । अनन्तगुणा-

धिकत्वन्तु, तासां जघन्यरसबन्धस्य तीव्रविशुद्धया तीव्रसंक्लेशेन परावर्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् । अनेन महात्मना बध्यमाना मनुष्ययोग्याः शुभप्रकृतयस्त्विमाः–मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ प्रथमसंहननसंस्थाने प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकञ्चेति पञ्चविंशतिरिति ॥९९९॥ अथ तत्रैवाऽशुभध्रुवबन्धिसत्कम्–

एगस्स मंदबंधी असुहधुवाओ चउण्ह अण्णेसि । णियमा बंधइ मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ अणंतगुणिआहियं रसं णियमा । अडवीसाअ सुहाण णरगाउग्गाण सेसाणं ॥
(मूलगाथा–१०००-१)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, 'चउण्ह' त्ति अप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां पञ्चसंख्याकत्वात् । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तुल्यविशुद्धया जन्यत्वात् । 'तित्थस्से'त्यादि, स्याद्बन्धस्तु केषाञ्चिदेव तद्बन्धसद्भावात् । अनन्तगुणाधिकत्वमेतज्जघन्यरसबन्धस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशजन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य तु विशुद्धत्वात् । 'अणंतगुणिआहिय' मित्यादीनि त्रीणि पदान्युत्तरार्धेऽपि योज्यानि । अनन्तगुणाधिकत्वं त्वेतासां जघन्यरसस्य सर्वविशुद्धभिन्नपरिणामेन जन्यत्वात् , प्रस्तुतबन्धकस्य च विशुद्धत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु सुविशुद्धस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तरोक्ताः पञ्चविंशतिः स्थिरशुभयशःकीर्तिनामानि चेत्यष्टाविंशतिरिति । गतो नरकौघमार्गणायां संभाव्यमानबन्धानां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षः ॥१०००-१॥

अथ प्रथमादिषड्नरकेषु तृतीयाद्यष्टमान्तदेवेषु चाह–

पढमाइछणिरयेसुं तइआइगअट्ठमंतदेवेसुं । एगस्स जहण्णरसं बंधंतो तिरिदुगाइन्तो ॥
णियमाऽणस्स जहण्ण उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं । बंधइ सघयणागिइखगइथिराइजुगलाण सिआ ॥
धुवउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ णिरयव्व सेसाणं ॥
णवरं छथिराइजुगलसघयणागिइदुखगइलहुबंधी । तिरियदुगस्स सिआ लहुमहवा अलहुं छठाणगयं ॥
(मूलगाथा-१००२-५)

(प्रे०) 'पढमाइ०' इत्यादि, द्वितीयार्याया उत्तरार्धे 'संघयण' इत्यादिना षट्संहननानि षट्संस्थानानि 'खगइ' त्ति तद्द्विकम् 'थिराइ' त्ति स्थिरषट्कमस्थिरषट्कञ्चेति षड्विंशतेः प्रकृतीनाम् । षट्स्थानगतत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामसाध्यत्वात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसंभवात् । 'धुवे'त्यादि, तत्र 'धुव'त्ति त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य यथासंभवं संक्लेशेन विशुद्धया वा बन्धार्हत्वात् । 'णिरयव्वे'त्यादि, सुगमम् । अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनामविशेषात् । अथ 'णवरं' इत्यादिना अतिप्रसक्तिं परिहरति, तद्यथा–स्थिरनामादीनां षड्विंशतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तिर्यग्द्विकस्य रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा स्याच्च बध्नाति । अयं भावः–

नरकौघमार्गणायां तिर्यग्द्विकस्य जघन्यरसबन्धं सम्यक्त्वाभिमुखः सप्तमपृथ्वीनारकः करोति, ततस्तत्र स्थिरादिजघन्यरसबन्धकैरस्यानन्तगुणाधिको रसो बध्यते, तेषां परावर्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । इह तु तिर्यग्द्विकस्यापि जघन्यरसः परावर्तमानपरिणामेन बध्यत अत एव तस्य जघन्यो वा षट्स्थानपतितोऽजघन्यो वा रसो बध्यते इति नरकौघतोऽत्र विशेषः ॥१००२-५॥

अथ सप्तमनरकमार्गणायां मनुष्यद्विकसत्कमाह—

एगस्स चरमणिरये लहुबंधी णरदुगेयरस्स रसं । णियमा बंधइ मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
थिरसुहजसवज्जाणं तेवीसाअ सुहमणुअजोग्गाण । अथिरअसुहअजसअसुहधुवाण णियमा अणंतगुणअहियं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१००६-७)

(प्रे०) 'एगस्स' इत्यादि, गतार्थम् । स्थिरादीनां वर्जनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वेन परावर्तमानाप्रशस्तानामस्थिरादीनामेव बन्धप्रवर्तनात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य मिथ्यादृष्ट्यादिना बध्यमानत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु मिथ्यात्वाभिमुखसम्यग्दृष्टिरिति ॥१००६-७॥ अथ तत्रैव वज्रर्षभनाराचसत्कमाह—

वइरस्स मंदबंधी लहुमलहुं वा रसं छठाणगयं । बंधइ सिआ सुखगइछसंठाणथिराइजुगलाणं ॥
तिरिउरलदुगपणिंदियधुवपरघूसाससतसचउक्काण । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ
(मूलगाथा–१००८-९)

(प्रे०) 'वइरस्से'त्यादि, षट्स्थानगतत्वन्त्वासामपि जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामजन्यत्वात् । 'तिरि' इत्यादि, 'धुव' त्ति त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात्, तिर्यग्द्विकवर्जानामध्रुवबन्धिनीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्, तिर्यग्द्विकस्याऽपि प्रथमगुणस्थानकद्वये नियमेन बध्यमानत्वादिति । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्धेन संक्लिष्टेन वा बध्यमानत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु परावर्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । 'उज्जोअस्से' त्यादि, स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य संक्लिष्टेन जन्यत्वात् । प्रकृतबन्धकस्तु न तथेति ॥१००८-९॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् शेषसंहनननामादिसत्कं प्रकृतं विभणिषुरनन्तरोक्तवदतिदिशति—

एमेव सण्णियासो संघयणपणगछआगिईण तहा । खगइदुगस्स तह दुहगतिगजुगलाणं मुणेयव्वो ॥
(मूलगाथा–१०१०)

(प्रे०) 'एमेव' त्ति, अनन्तरोक्तवज्रर्षभनाराचजघन्यसन्निकर्षवत् । 'दुहगतिगजुगल' त्ति दुर्भगत्रिकं सुभगत्रिकञ्च । अतिदेशस्तु यथा वज्रर्षभनाराचनाम्नस्तथैवासामपि जघन्यरसः परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यते । स्वामिनोऽविशेषादिति भावः । अन्यतरसंस्थाननाम्नः प्रस्तुतं प्रतिपिपादयिषुणा 'छआगिईण' इतिस्थाने षट्संहनननामानि वाच्यानि । एवं सर्वत्र संभाव्यमानः प्रकृतिव्यत्यासः स्वयं कर्तव्यः, सुगमत्वात् ॥१०१०॥ अथ तत्रैव स्थिरनामसत्कमाह—

थिरलहुबंधी बंधइ सिआ लहुमहव छठाणगयमलहुं । छागिइसंघयणखगइदुगपंचसुहाइजुगलाणं ॥
धुवउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतमचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणहियं सिआ तु उज्जोअतिरिणरदुगाणं ॥
(द्वि०गीतिः) (मूलगाथा-१०११-१२)

(प्रे०) 'थिरे'त्यादि, षट्स्थानगतत्वन्तु यथा स्थिरनाम्नस्तथैवासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जायमानत्वात् । 'धुवे'त्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्धया वा बध्यमानत्वात् । 'उज्जोअे' त्यादि, 'सिआ' इति पदमत्र योज्यम् । स्याद्बन्धस्तूद्योतस्य प्रतीतः । तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकयोस्तु गुणस्थानक्रमेदेन बन्धप्रवर्त्तनात् । यतः परावर्तमानपरिणामेन यथा मिथ्यादृष्टिस्तथैव सम्यग्दृष्टिरपि स्थिरनाम्नो जघन्यरसं बध्नाति, ततश्च मिथ्यादृष्टिबन्धकस्तिर्यग्द्विकं बध्नाति सम्यग्दृष्टिबन्धकस्तु मनुष्यद्विकमिति ॥१०११-१२॥

अथ तुल्यवक्तव्यत्वादनन्तरोक्तादिवदतिदिशति—

एमेव सण्णियासो सुहजसअथिरअसुहाजसाण भवे । णिरयव्व मुणेयव्वो सेसाणं पंचवीसाए ॥
(मूलगाथा-१०१३)

(प्रे०) 'एमेव' इत्यादि, अनन्तरोक्तवदेव । अतिदेशस्तु यथा स्थिरनाम्नस्तथा शुभनाम-यशःकीर्त्तिनामाऽस्थिरनामादित्रयाणामपि जघन्यरसबन्धस्य मार्गणार्हसर्वगुणस्थानकेषु परावर्तमान-मध्यमपरिणामेन प्रवर्तनात् । इह शुभनामादीनां प्रस्तुतसन्निकर्षं प्ररूपयता यथास्थानं सम्भाव्यमानः प्रकृतिव्यत्यासस्तु मतिमता स्वयमेव कार्यः । 'णिरयव्व' इत्याद्युत्तरार्धम् , 'सन्निकर्ष' इति पदं पूर्वार्धगतमन्वीयते । अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनो विशेषाभावात् । इमाश्च ताः पञ्चविंशतिः-तिर्यग्द्विकं पञ्चेन्द्रियजातिनाम औदारिकद्विकं त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासनाम्नी उद्योतनाम त्रसचतुष्कञ्चेति ॥१०१३॥

अथ तिर्यग्गत्योघासंज्ञिमार्गणयोः वैक्रियद्विकादिसत्कमाह—

विउवदुगपणिंदिसुधुवपरघाऊसासतसचउक्काओ । तिरियासण्णीसु लहुबंधी एगरम अण्णेसिं ॥
मंदसुअ छठाणगयं बंधइ णियमा अणंतगुणअहियं । बंधइ पंचदसण्हं असुहाणं णिरयजोग्गाणं ॥
(मूलगाथा-१०१४-१५)

(प्रे०) 'विउवे' त्यादि, षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तीव्रसंक्लेशलक्षणेन तुल्यसंक्लेशेन साध्यत्वात् । द्वितीयाऽऽर्यापूर्वार्धगतम् 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमुत्तरार्धे योज्यम् । 'पंचदसण्हं' इत्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वप्रशस्तत्वेनासां जघन्यरसबन्धस्य विशुद्धया परावर्त्तमानपरिणामेन वा साध्यत्वात् , प्रस्तुतबन्धकस्तु तीव्रसंक्लिष्ट इति कृत्वा च । इमाश्च ता अशुभाः पञ्चदश-नरकद्विकं हुंडकं पञ्चाप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः अप्रशस्तविहायोग-तिनाम अस्थिरषट्कञ्चेति ॥१०१४-१५॥ अथ तत्रैवौदारिकशरीरनामसत्कमाह—

उरलस्स मंदबंधी णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं । तिरियदुगेगिंदियधुवहुंडगणवथावराईणं ॥
(मूलगाथा-१०१६)

(प्रे०) 'उरलस्से'त्यादि, 'णवथावराईणं' ति दुःस्वरवर्जं स्थावरनामादिनवकम् । 'धुव' त्ति त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्य स्वप्रायोग्यविशुद्धया परावर्तमानपरिणामेन तीव्रसंक्लेशेन तीव्रविशुद्धया वा साध्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य च तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु, प्रस्तुतबन्धकस्य सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धासम्भवात् ॥१०१६॥

अथौदारिकाङ्गोपाङ्गनामसत्कं स्वस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षमाह—

उरलोवंगस्स लहुं बंधेमाणो अणंतगुणअहियं । णियमा अपज्ज-बिंदियजोग्गाणं अट्ठवीसाए ॥

(मूलगाथा–१०१७)

(प्रे०) 'उरलोवंगस्से' त्यादि, पठितसिद्धम् । नवरमनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्य-रसबन्धस्य विशुद्धया तीव्रसंक्लेशेन परावर्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात्, तीव्रसंक्लिष्टस्य नरकप्रायोग्यबन्धप्रवर्तनेनौदारिकाङ्गोपाङ्गनामबन्धा-भावात् । इमाश्च ता अष्टाविंशतिः,-तिर्यग्द्विकम्, द्वीन्द्रियजातिनाम, औदारिकशरीरनाम, सेवार्त्तम्, हुंडकम्, त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः, त्रसबादरनाम्नी, प्रत्येकनाम, अपर्याप्तनाम, दुःस्वरवर्जाऽस्थि-रादिपञ्चकञ्चेति ॥१०१७॥ अथ तत्रैवातपनामसत्कमाह—

मंदरसं बंधंतो आयवणामस्स बंधए णियमा । अणुभागं तिरिदुगधुवहुंडगपंचाथिराईणं ॥
एगिंदियुरलथावरपरघाऊसासबायरतिगाणं. अलहुमणंतगुणहियं उज्जोअस्सेवमेव भवे ॥

(मूलगाथा–१०१८-१९)

(प्रे०) 'मंदरस' मित्यादि, तत्र तिर्यग्द्विक-हुंडकयोरेकेन्द्रियाद्यष्टानां दुर्भगानादेययोश्च नियमाद्बन्धः, प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वात्, ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात्, अस्थिराशुभायशःकीर्त्तीनान्तु स प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धा-भावात् । पञ्चाऽस्थिरादयश्च दुःस्वरवर्जाः । 'अलहुमणंतगुणहियं' इति विशेषणद्वयम् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वे सत्यासां जघन्यरसबन्धस्य विशु-द्धयादिना जायमानत्वात् । तिर्यगोघमार्गणायामौदारिकशरीरनाम्न आतपनाम्नश्चोत्कृष्टस्थिति-रष्टादशसागरोपमकोटीकोटीमिता बध्यते, एते तुल्यस्थितिके इत्यर्थस्तथाप्यातपनामजघन्यरसबन्धक औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा न बध्नाति, किन्त्वनन्तगुणाभ्यधिकमेव, यत आतपनामबन्धकः पर्याप्तप्रत्येकबादरैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नाति । औदारिकशरीरनाम्नो जघन्यर-सस्त्वपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नता बध्यत इति कृत्वा । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-'उज्जोअस्से' त्यादिना, अतिदेशस्त्वेतज्जघन्यरसबन्धस्याऽपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन, क्रियमा-णत्वात् ॥१०१८-१९॥ अथोक्तशेषाणां सापवादमतिदिशति—

सेसाणोघव्व णवरि असुहधुवथिराइजुगलतिगबंधी । णो चेव बंधए खलु तित्थाहारदुगणामाणि ॥
(मूलगाथा–१०२०)

(प्रे०) 'सेसाण' इत्यादि, उक्तशेषाणां सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनाम् । 'णवरि' त्यादिनापवादं दर्शयति-तन्मूलन्तु प्रकृतमार्गणयोस्तद्बन्धस्यैवानर्हत्वात् तथापि सोपस्कारं व्याख्येयम् तद्यथा–अशुभध्रुवजघन्यरसबन्धकस्तीर्थकरनामाहारकद्विकप्रकृतीरत्र नैव बध्नाति, स्थिरादिजघन्यरसबन्धको जिननाम न बध्नातीति । अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धकविशेषणविशेषाभावात् । यद्यपि ओघ अप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकस्य जघन्यरसबन्धकः क्षपकः, इह तु तिर्यग्मार्गणायां देशविरतिः, असंज्ञिमार्गणायां मिथ्यादृष्टिः, तथापि प्रस्तुतक्षपकस्य निवृत्तिबादरगुणस्थानवर्त्तित्वेन सन्निकर्षप्ररूपणायां विमर्शत्वाशादनेऽकिञ्चित्करत्वात् । एवं यथासम्भवं शेषप्रकृतिविषयमपि ज्ञेयम् । इमाश्च ताः सप्तचत्वारिंशत्-देवद्विकं मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं नरकद्विकं जातिचतुष्कं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकमप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकं स्थिरादिषट्कं स्थावरदशकञ्चेति ॥१०२०॥ अथ त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणासु प्रतिपादयंस्तिर्यग्द्विकसत्कमाह—

एगस्स तिरिदुगाउ लहुरसबंधी तिपणिंदितिरियेसु । णियमाऽणंतस जहण्णं अ अजहण्णं छठाणगयं ॥
धुवउरलाणं णियमाऽणंतगुणऽहियं सिआ पणिदिस्स । परघाऊसासायवदुगतसचउगुरुलहुवंगाणं ॥
मदसुअ छठाणगयं बंधेइ सिआ चउण्ह जाईणं । संघयणागिइदुखगइथावरदसगथिरछक्काणं ॥
(मूलगाथा–१०२१-२३)

(प्रे०) 'एगस्स'इत्यादि, गतार्थम् । 'धुव' त्ति त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवाणां तथात्वात्, तिर्यग्द्विकबन्धकमाश्रित्यौदारिकशरीरनाम्नः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाच्च । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानत्वात् आसां जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जन्यत्वात् । पञ्चेन्द्रियजात्यादौदारिकाङ्गोपाङ्गपर्यवसानानां दशप्रकृतीनाम् । 'अणंतगुणऽहियं' अत्रापि योज्यम् तत्र स्याद्बन्धः पञ्चेन्द्रियस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । पराघातोच्छ्वासाऽऽतपद्विकानामपर्याप्तादिप्रायोग्यबन्धकस्य बन्धाभावात् । औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्य बन्धाभावात् । 'चउण्ह जाईण' इत्यादि, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । षट्स्थानगतत्वन्त्वासामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामसाध्यत्वात् । जातिचतुष्कादयः स्थिरषट्कपर्यवसानाः प्रकृतयश्चतुस्त्रिंशत् ॥१०२१-२३॥ अथ तत्रैवोक्तशेषाणामतिदिशति—

सेसाण तिरिव्व णवरि तिरियदुगस्स लहुसुभ छठाणगयं । णियमा चउजाइसुहुमथावरसाहारलहुबंधी ॥
संघयणागिइदुखगइअपज्जछअथिराइजुगललहुबंधी । तिरियदुगस्स सिआ खलु लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
(मूलगाथा–१०२४-२५)

(प्रे०)' सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां षट्षष्टेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षोऽनन्तरोक्ततिर्यगोघमार्गणावद्भवति, जघन्यरसबन्धस्वामिनामविशेषात् । संभाव्यमानं विशेषं तु

दर्शयति 'णवरि' इत्यादिना, गाथार्थः सुगमः। भावार्थस्त्वेवम्-इह यथा चतुर्जातिनामादीनां जघन्य-रसः परावर्तमानपरिणामेन बध्यते तथैव तिर्यग्द्विकस्यापि। ततस्तासां जघन्यं बध्नंस्तिर्यग्द्विकस्यापि जघन्यं षट्स्थानपतितं वा रसं बध्नातीत्युक्तम्। तिर्यगोघे तु तिर्यग्द्विकस्य जघन्यरसः तेजोवायुना सर्वविशुद्धया बध्यते, अतस्तत्र परावर्तमानपरिणामेन जातिचतुष्कादिजघन्यरसं बध्नता तस्यानन्तगुणाधिको रसो बध्यत इति तिर्यगोघप्रस्तुतयोर्विशेषः। शेषं तूभयत्राविशेषमेवास्तीति। नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धस्याभावात्। स्याद्बन्धः पुनस्तस्य सद्भावात्। संहनननामा-दयः प्रकृतयः सप्तविंशतिरिति ॥१०२४-२५॥

अथापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु प्रकृतं विभणिषुस्तिर्यग्द्विकसत्कमाह–

असमत्तपणिंदितिरियमणुयपणिंदितससयलविगलेसुं। सयलदगभूवणेसु लहुबंधी तिरिदुगेगस्स ॥
णियमाऽणस्स लहुं उअ छट्ठाणगयमलहुं सिआ कुणइ। संघयणागिइदुखगइजाइपणमदसतसाइजुगलाणं ॥
(गीतिः)
तेरसधुवउरलाणं बंधइ णियमा अणंतगुणअहियं। परघाऊसासायवदुगुरलुवंगाण कुणइ सिआ ॥
(मूलगाथा–१०२६-२८)

(प्रे०) 'असमत्ते' त्यादि, अष्टात्रिंशन्मार्गणासु। 'संघयणे' त्यादि, तत्र 'तसाइजुगल' त्ति त्रसदशकं स्थावरदशकञ्च। ततश्च संहनननामादय एकोनचत्वारिंशत्प्रकृतयः। स्याद्बन्धः, प्रति-पक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। षट्स्थानपतितत्वन्तु तिर्यग्द्विकवदासामपि जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यम-परिणामेन बध्यमानत्वात्। 'तेरसे' त्यादि, तत्र अनन्तगुणाधिकत्वम्, आसां जघन्यरसस्य परा-वर्तमानपरिणामेनाऽबध्यमानत्वात्। नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात्। औदारिकशरीर-नाम्नस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। 'परघा' इत्यादि, 'अणंतगुणाहिय' मितीहापि सम्बध्यते। स्याद्बन्धस्त्वपर्याप्तादिप्रायोग्यबन्धकस्य तद्बन्धाभावात्॥१०२६-२८॥

अथ मनुष्यद्विकसत्कमाह–

एगस्स मंदबंधी मणुयदुगाउ णियमेयरस्स तहा। पचिंदिय-तसबायरपत्तेआण लहुमुअ छठाणगयं ॥ (गीतिः)
परघाऊसासाणं बंधेइ सिआ अणंतगुणअहियं। तेरसधुवबंधीणं ओरालदुगस्स णियमाओ ॥
पज्जअपज्जदुखगइछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं। बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
(मूलगाथा–१०२९-३१)

(प्रे०) 'एगस्स' इत्यादिना मनुष्यद्विकसत्कसन्निकर्षं कथयति। प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी। पञ्चेन्द्रियादिप्रकृतीनां नियमेन जघन्यादिरसो बध्यते, आसां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन बध्यमानत्वादिति। 'परघा' इत्यादि, द्वितीयगाथायां 'अणंतगुणअहियं' इति पदमुत्तरार्धेऽपि योज्यम्। 'पज्ज' इत्यादि तृतीयगाथा। स्याद्बन्धः प्रतीतः, जघन्यादिर-सस्यासामपि प्रकृतीनां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन जन्यत्वादिति ॥१०२९-३१॥

अथ तत्रैवैकेन्द्रियस्थावरनाम्नोराह–

एगस्स जहण्णरसं एगिंदियथावराउ बंधंतो । इयरस्स तहा तिरिदुगदुहगाणादेयहुंडाणं ॥
णियमाहिंतो बंधइ जहण्णमहव अजहण्णमणुभागं । छट्ठाणगयं बंधइ छबायराइजुगलाण सिआ ॥
तेरसधुवउरलाणं बंधइ णियमा अणंतगुणअहियं । बंधेइ सिआऽऽयवदुगपरघाऊसासणामाणं ॥
(मूलगाथा–१०३२-३४)

(प्रे०) 'एगस्स' इत्यादि गतार्थम् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । षट्स्थानपतितत्वन्त्वासामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन साध्यत्वात् । 'छबायराई' त्यादि, स्याद्बन्धः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । बादरत्रिकस्थिरशुभयशःकीर्त्तिनामानि सप्रतिपक्षाणि इति द्वादशप्रकृतीनामित्यर्थः । 'तेरसे' त्यादि, कण्ठ्यम् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तासां जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायमानत्वात् । 'आयवदुगे' त्यादि, 'अणंतगुणहिय' मिति पदमत्रापि योज्यते । अनन्तगुणाधिकत्वे हेतुः पूर्वोक्तः । स्याद्बन्धस्त्वातपोद्योतनाम्नोर्बन्धस्यैव कादाचित्कत्वात् पराघातोच्छ्वासनाम्नोस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकस्य बन्धाभावात् ॥१०३२-३४॥

अथ तत्रैव विकलत्रिकसत्कमाह—

विगलाण मंदबंधी तिरिक्खदुगतसछिवट्ठहुंडाण । बायरपत्तेआणं दुहगाणादेयणामाणं ॥
बंधइ णियमा मदं अहव अमंदं रसं छठाणगयं । पज्जअपज्जगकुखगइसरतिथिराइजुगलाण सिआ ॥
तेरधुवुरलदुगाणं बंधइ णियमा अणंतगुणअहियं । बंधेइ सिआ परघाऊसासउज्जोअणामाणं ॥
(मूलगाथा–१०३५-३७)

(प्रे०) 'विगलाणे' त्यादि, गतार्थम् । नवरं कुशब्दस्याग्रेऽपि योजनात् 'सर' त्ति कुस्वरो दुःस्वरनामेत्यर्थः । 'तिथिराइ' त्ति सप्रतिपक्षाणि स्थिरशुभयशःकीर्तिनामानीति । ॥१०३५-३७॥ अथ तत्रैव पञ्चेन्द्रियजातिसत्कमाह—

पंचिंदियलहुबंधी धुवउरलदुगाणऽणंतगुणअहियं । णियमा खलु तसबायरपत्तेआण लहुमुअ छठाणगयं ॥
तिरिणरखगइदुगाण छसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । तह पज्जापज्जाणं सिआ लहुं उअ छठाणगयं ॥
परघाऊसासुज्जोआण सिआ रसमणंतगुणअहियं ।
(प्र० गीतिः) (मूलगाथा–१०३८-३९)

(प्रे०) 'पंचिंदिये' त्यादि; गतार्थम् । नवरमनन्तगुणाधिकत्वं, तेषां जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायमानत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य च परावर्तमानपरिणामित्वात् । 'तिरि' इत्यादि, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । षट्स्थानगतत्वन्तु तेषामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामजन्यत्वात् । 'परघा' इत्यादि, सुगमम् । स्याद्बन्धे हेतुः प्रतीतः । अनन्तगुणाधिकत्वे हेतुः प्रागुक्तः ॥१०३८-३९॥ अथ तत्रैव प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादिविषयकमाह—

……… ……………………………………… । एगस्स मंदबंधी सुहधुवउरलाउ अण्णेसिं ॥
लहुमहव छठाणगयं अलहुं णियमा अणंतगुणअहियं । अट्ठारसण्ह बंधइ एगिंदियजोग्गअसुहाणं ॥
(मूलगाथा–१०४०-४१)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, 'णियमा' इत्यादि पदद्वयमुत्तरार्धेऽपि योज्यम् । 'अट्ठारसण्ह' इत्यादि, तत्र नियमाद्बन्धस्तीव्रसंक्लिष्टस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रस्तुतबन्धकस्य प्रतिपक्ष-

प्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्योत्कृष्टसंक्लेशेनाजन्यत्वात् । अष्टादश चेमाः-तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिर्हुंडकमप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकं दुःस्वरवर्जं स्थावरनवकञ्चेति । ॥१०४०-४१॥ अथ तत्रैवौदारिकाङ्गोपाङ्गनामसत्कमाह—

मंदरसं बंधंतो उरलोवंगस्सऽणंतगुणमहियं । णियमा अपज्जबिदियजोग्गाणं अट्ठवीसाए ॥

(मूलगाथा-१०४२)

(प्रे०) 'मंदरस' मित्यादि, गतार्थम् । नवरमनन्तगुणाधिकत्वं, आसां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन तीव्रसंक्लेशेन तीव्रविशुद्धया वा जन्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य तु तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टत्वात् । इमाश्च ता अष्टाविंशतिः,-तिर्यग्द्विकं, द्वीन्द्रियजातिः, औदारिकशरीरं, त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः, हुंडकं, सेवार्त्तं, त्रसनाम, बादरनाम, अपर्याप्तनाम, प्रत्येकं, दुःस्वरवर्जास्थिरादिपञ्चकञ्चेति ॥१०४२॥ अथ तत्रैव वज्रर्षभनाराचसत्कमाह—

वइरस्स मंदबंधी सिआ लहुमहव छठाणगयमलहुं । तिरिणरखगइदुगाण छसंठाणथिराइजुगलाण ॥
तेरसधुवबंधीण परघाऊसासुरालियदुगाणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
तसचउगपणिदीणं णियमा लहुमुअ छठाणगयमेवं । संघयणचउक्कागिइपणगसुखगइसुहगतिगाणं ॥

(मूलगाथा-१०४३-४४)

(प्रे०) 'वइरस्से' त्यादि, कण्ठयम् । 'तेरस' इत्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वन्तु, प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानपरिणामित्वात् ; आसां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेनाऽजायमानत्वाच्च । 'उज्जोअ' इत्यादि, स्याद्बन्धस्तु तद्बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । शेषं गतार्थम् । अथ तुल्यवक्तव्यादतिदिशति 'एवं' इत्यादिना, अनन्तरोक्तनीत्यैव संहननचतुष्कादीनां त्रयोदशप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य सन्निकर्षो वाच्यः, आसामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् । अत्र हि 'संघयणचउक्क' त्ति मध्यमसंहननचतुष्कम् । 'आकृतिपञ्चक' मिति हुंडकवर्जसंस्थानपञ्चकमिति ॥१०४३-४५॥ अथ तत्रैव सेवार्त्तसत्कमाह—

छेवट्ठमंदबंधी बंधेइ जहण्णमुअ छठाणगयं । अजहण्णं णियमा तसबायरपत्तेअणामाणं ॥
तिरिणरदुगजाइचउगछागिइपज्जाइसत्तजुगलाणं । तह खगइदुगस्स सिआ लहुमुअ अलहुं छठाणगयं ॥
तेरसधुवबंधिउरलदुगाण णियमा अणंतगुणमहियं । बंधेइ सिआ परघाऊसासुज्जोअणामाणं ॥

(मूलगाथा-१०४६-४८)

(प्रे०) 'छेवट्ठ' इत्यादि, परावर्तमानपरिणामेनास्य जघन्यरसो बध्यते, अतस्त्रसबादरप्रत्येकप्रकृतीनां रसमपि प्रस्तुतबन्धको जघन्यमजघन्यं वा बध्नाति । त्रसादीनां नियमेन बन्धः प्रतीतः । 'तिरि' इत्यादिका द्वितीयगाथा। तत्र 'पज्जाइसत्तजुगलाणं' इति पर्याप्तापर्याप्तस्थिरषट्काऽस्थिरषट्करूपाश्चतुर्दशप्रकृतयो ग्राह्याः । प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवात्स्याद्बन्धः । जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन जन्यत्वात् 'लहुमुअ' इत्यादि । 'तेरस' इत्यादि तृतीया गाथा । तत्र 'अणंतगुणअहियं' अनन्तगुणाधिकरसः, आसां पञ्चदशप्रकृतीनां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेनाजन्यत्वात् ।

'परघा' इत्यादि, पराघातादीनां स्याद्बन्धः, पर्याप्तप्रायोग्यबन्धकेन बध्यमानत्वादपर्याप्तप्रायोग्य-बन्धकेन वा बध्यमानत्वात् ॥१०४६-४८॥ अथ तत्रैव हुंडकसत्कमाह—

हुंडस्स मंदबंधी संघयणतसाइजुगलजाईणं । तिरिणरखगइदुगाणं सिआ लहुं उअ छठाणगयं ॥
तेरसधुवउरलाणं णियमा बधइ अणंतगुणअहियं । ओरालुवंगपरघाऊसासायवदुगाण सिआ ॥

(मूलगाथा--१०४९-५०)

(प्रे०) 'हुंडस्से' त्यादि, गाथार्थः सुगमः । नवरं षट्स्थानगतत्वं, यथा प्रस्तुतबन्धकस्तथैवासामपि जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामीति कृत्वा । 'संघयण' त्ति षट्संहननानि । 'तसाइ' त्ति त्रसदशकं स्थावरदशकञ्च । 'जाइ' त्ति जातिपञ्चकम् । ततश्च संहननादिखगतिपर्यवसानाः सप्तत्रिंशत्प्रकृतयः । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'तेरसे' त्यादि, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावादौदारिकनाम्नोऽपि नियमाद्बन्धः । 'ओरालुवंगे' त्यादि, एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो बन्धाभावात्, अपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकस्य चातपनामादीनां बन्धाभावादुक्तं 'सिआ' इति ॥१०४९-५०॥ अथ तुल्यवक्तव्यत्वात् पञ्चास्थिरादिसत्कं प्रस्तुतमतिदिशति पराघातादिसत्कञ्च दर्शयति–

पणअथिराईणेवं परघाऊसासगाउ लहुबंधी । एगस्सियरस्स कुणइ णियमा लहुमुअ छठाणगयं ॥
दुथिराइगजुगलाणं बंधेइ सिआ अणंतगुणअहियं । णियमा पणवीससुहुमपज्जत्तणिगोअजोग्गाणं ॥

(मूलगाथा–१०५१-५२)

(प्रे०) 'पणअथिरे' त्यादि, दुःस्वरवर्जानां पञ्चानामस्थिरादीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद्भवति । कुतः ? यथा हुंडकस्य तथाऽऽसामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् । अथ पराघातोच्छ्वासनाम्नोराह-'परघा' इत्यादि । 'दुथिराइग' त्ति स्थिरास्थिरे शुभाशुभे इति चतसृणाम् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामजन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'णियमा' इत्यादि, 'अणंतगुणअहिय' मितिपदमुत्तरार्धेऽपि योज्यम् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या परावर्तमानपरिणामेन तीव्रसंक्लेशेन वा बध्यमानत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् । इमाश्च ताः पञ्चविंशतिः-तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरनाम हुंडकं त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः स्थावरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तनाम साधारणनाम दुर्भगनामाऽनादेयनामाऽयशःकीर्तिनाम चेति ॥१०५१-५२॥ अथ तत्रैवाऽऽतपद्विकस्य प्रकृतमाह–

आयवदुगलहुबंधी थिराइजुगलाणऽणंतगुणअहियं । तिण्ह सिआ णियमा पज्जवायरेगक्खजोग्गसेसाणं ॥

(गीतिः) (मूलगाथा--१०५३)

(प्रे०) 'आतपे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः । 'थिराइ' त्ति 'तिण्ह' त्ति स्थिरशुभयशःकीर्तिनामानि अस्थिराशुभाऽयशःकीर्तिनामानि चेति । 'सिआ' इति पदं पूर्वार्धे योज्यम् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमुत्तरार्धेऽपि

सम्बध्यते, अनन्तगुणाधिकत्वन्तु स्थिरादीनामस्थिरादीनां शेषाणाञ्च जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन तीव्रसंक्लेशेन विशुद्धया वा जायमानत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता एकेन्द्रियप्रायोग्याः शेषाः-तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनामौदारिकशरीरनाम त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यो हुंडकं स्थावरनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनामदुर्भगानादेयनामानि पराघातोच्छ्वासनाम्नी चेति षड्विंशतिरिति॥१०५३॥अथ तत्रैवाप्रशस्तविहायोगतिसत्कमाह–

तिरिणरदुगचउजाइछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । कुखगइलहुरसबंधी सिआ लहुं उअ छठाणगयं ॥
तेरसधुवबंधीणं परघाऊसासुरालियदुगाणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
तसचउगस्स जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं । णियमाहिन्तो बंधइ विण्णेओ दुस्सरस्सेवं ॥
(मूलगाथा–१०५४-५६)

(प्रे०) 'तिरि' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी । 'चउजाइ' त्ति एकेन्द्रियजातिवर्जजातिचतुष्कम् । 'छ' इति शब्दः 'थिराइ' इति यावत् कर्षणीयः । 'तेरे' त्यादि, द्वितीयगाथा 'णियमाऽणंतगुणहिय'मिति पदद्वयं पूर्वार्धे योज्यम् । 'उज्जोअस्स'इत्यादि, 'अणंतगुणहिय' मितीहापि सम्बध्यते । शेषं गतार्थम् । अथातिदिशति 'दुस्सरस्से' त्यादि, कण्ठ्यम् । नवरं 'छथिराइ' इति स्थाने 'पणथिराइ खगइदुगञ्चे'ति बोध्यम् । शेषं प्राग्वत् ॥१०५४-५६॥

अथ तत्रैव त्रसनामसत्कमाह—

तसलहुरसबंधी खलु तिरिणरखगइदुगजाइचउगाणं । तह संघयणागिइछगपज्जाइगसत्तजुगलाणं ॥
बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं । णियमाहिन्तो बंधइ बायरपत्तेअणामाणं ॥
तेरधुवुरलदुगाणं णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं । बंधेइ सिआ परघाऊसासुज्जोअणामाणं ॥
(मूलगाथा–१०५७-५९)

(प्रे०) 'तसे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी । 'पज्जाइ' त्ति पर्याप्तनाम स्थिरादिषट्कञ्च, तथाऽपर्याप्तनामाऽस्थिरषट्कमिति । द्वितीयगाथापूर्वार्धगतानि 'जहण्ण' मित्यादिपदान्युत्तरार्धेऽपि योज्यानि । 'परघा' इत्यादि, स्याद्बन्धस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकस्य तद्बन्धाभावात् । शेषं गतार्थम् ॥१०५७-५९॥ अथ तत्रैव बादरनामसत्कमाह––

बायरलहुरसबंधी णियमुरलधुवाणऽणंतगुणअहियं । परघाऊसासायवगुरलुवंगाण कुणइ सिआ ॥
मंदमुअ छठाणगयं सिआ तिरिणरदुगजाइपणगाणं । संघयणागिइछक्कखगइणवतसाइजुगलाणं ॥
(मूलगाथा–१०६०-६१)

(प्रे०) 'बायरे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी । स्याद्बन्धस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकस्य पराघातादीनां बन्धाभावात्, एकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्य चौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो बन्धाभावात् । 'मंद' मित्यादि, 'णवतसाइ' त्ति त्रसनामाऽष्टौ च पर्याप्तनामादयः स्थावरनामाऽष्टा अपर्याप्तनामादयश्चेति । शेषं गतार्थम् ॥१०६०-६१॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वादतिदिशति—

एमेव सण्णियासो पत्तेअस्स तह एव पज्जस्स । णवरं णियमा बंधइ परघाऊसासणामाणं ॥
(मूलगाथा-१०६२)

(प्रे०) 'एमेवे' त्यादि, अनन्तरोक्तवदेव। कस्य ? प्रत्येकनाम्नः । इह पूर्वोक्तम् 'णवतसाइ' इत्यनेन त्रस-बादरनाम्नी पर्याप्तनाम स्थिरादिषट्कञ्च, स्थावरसूक्ष्मनाम्नी अपर्याप्तनाम अस्थिरादिषट्कञ्चेति बोध्यम्, शेषं सर्वं गतार्थम्। पुनरप्यतिदिशति 'तह एव पज्जस्स' इत्यादि, अनन्तरोक्तवदेव। 'णवरं' ति बादरनामजघन्यरसबन्धकोऽनयोः स्याद्बन्धकः, अपर्याप्तप्रायोग्यं बध्नता तेन न बध्येते इति कृत्वा। अयं तु नियमाद् बध्नाति, पर्याप्तनामबन्धकस्यावश्यं तद्बन्धप्रवर्त्तनात्। शेषं सर्वमनन्तरोक्तवदेवेति ॥१०६२॥ अथ तत्रैव स्थिरनामसत्कमाह—

थिरलहुरसबंधी खलु परघाऊसासुरालियधुवाणं । णियमाऽणंतगुणऽहियमुरलुवंगायवदुगाण सिआ॥
संघयणागिइछगतिरिमणुयदुगतसाइअट्ठजुगलाणं । पणजाइदुखगईणं सिआ लहुं उअ छठाणगयं ॥
पज्जत्तस्स उ णियमा सुहस्स एवं तहा जसस्स परं। णेव सुहुमसाहारा तप्पडिवक्खाण णियमाओ ॥
(मूलगाथा -१०६३-६५)

(प्रे०) 'थिर' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानपरिणामी। पराघातोच्छ्वासनाम्नोरपि नियमाद्बन्धस्तु स्थिरनामबन्धकस्य पर्याप्तप्रायोग्यबन्धकत्वात्। 'तसाइअट्ठ' त्ति स्थिरपर्याप्तवर्जं त्रसाद्यष्टकमस्थिरापर्याप्तवर्जं स्थावराद्यष्टकञ्च, स्थिरनामबन्धकस्य प्रस्तुतत्वात् पर्याप्तबन्धस्य च नियमात्प्रवर्तनात्। अस्थिरापर्याप्तयोः प्रतिपक्षप्रकृतित्वेन बन्धाभावात्। शेषं गतार्थम्। अथातिदिशति-'सुहस्से'त्यादि, नवरमिह 'तसाइअट्ठे' त्यनेन शुभपर्याप्तवर्जं त्रसाद्यष्टकम्, अशुभापर्याप्तवर्जं स्थावराद्यष्टकं च। शेषं सर्वं तथैव। 'तहा जसस्स' त्ति 'एव'मिति पदमत्राऽपि योज्यम्। अथ विशेषयति-'परं' ति यशःकीर्तिजघन्यरसबन्धकः सूक्ष्मसाधारणनाम्नी नैव बध्नाति, तस्य प्रत्येकपर्याप्तबादरप्रायोग्यबन्धकत्वात्, 'तप्पडिवक्ख' त्ति बादरप्रत्येकनाम्नी। इह च पर्याप्तबादरप्रत्येकनाम्नां नियमाद्बन्ध इति वाच्यम्। ततश्च 'तसाइअट्ठे' ति स्थाने त्रसादिषट्के वेदितव्ये, तद्यथा-त्रसनाम स्थिरादिपञ्चकञ्चेति षट्, स्थावरनामास्थिरादिपञ्चकञ्चेति षट्। कुतः ? बादरप्रत्येकनाम्नोर्बन्धस्य नियमात्प्रवर्तनात् सूक्ष्मसाधारणनाम्नोश्च बन्धाभावात् ॥१०६३-६५॥ अथ तत्रैव सूक्ष्मनामसत्कमाह-

सुहुमस्स मंदबंधी णियमा लहुमुअ छठाणगयमलहुं । तिरिदुगहुंडेगिंदियथावरऽणादेयदुहगअजसाणं ॥
बंधइ सिआऽणुभागं थिरसुहपत्तेअपज्जणामाणं । तह तप्पडिवक्खाणं लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
तेरसधुवउरलाणं णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं । परघाऊसासाणं सिआत्थि साहारणस्सेवं ॥
(प्र०गीतिः) (मूलगाथा-१०६६-६८)

(प्रे०) 'सुहुमस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी। 'बंधइ' इत्यादि, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। 'तप्पडिवक्ख' त्ति स्थिरादिप्रतिपक्षाणाम्। 'साहारणस्से' त्यादि, अतिदेशस्तु तुल्यवक्तव्यत्वात्। नवरमत्र 'थिरसुहपत्तेअपज्जणामाणं' इति स्थले स्थिरशुभबादरपर्याप्तनामानि वेदितव्यानि, प्रत्येकनाम्नो बन्धाभावात्, बादरनाम्नश्च

बन्धोपलम्भात् । तथा 'नभविबस' इत्यनेनात्राऽस्थिराशुभसूक्ष्मापर्याप्तनामानि ज्ञेयानीति । शेषं सर्वमनन्तरोक्तवदेव ॥१०६६-६८॥ अथापर्याप्तनामसत्कमाह—

मंदमपज्जस्स रसं बंधंतो उरलतेरसधुवाणं । णियमाऽणंतगुणहियं उरलोवंगस्स कुणइ सिआ ॥
तिरिणरदुगजाइपणगछेवट्ठतसाइतिजुगलाण सिआ । मंदसुभ छठाणगयं णियमा हुंडगपणाऽथिराईणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१०६९-७०)

(प्रे०) 'मंद' मित्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी । 'उरलोवंगे' त्यादि, तत्र स्याद्बन्धस्तु स्थावरप्रायोग्यबन्धकस्य तद्बन्धाभावात् । 'पणाऽथिराईणं' ति दुःस्वरवर्जानाम् । कुतः ? दुःस्वरस्य पर्याप्तनामबन्धसहचारित्वात् ।।१०६९-७०।। अथाप्रशस्तध्रुवबन्धिसत्कमाह—

असुहधुवमंदबंधी असुहधुवाण लहुसुभ छठाणगयं । णियमाऽणंतगुणहियं सुहणरजोग्गअडवीसाए ॥
(मूलगाथा-१०७१)

(प्रे०) 'असुहधुवे' त्यादि, तत्र 'असुहधुवाण' त्ति तदितरासां चतसृणाम् । प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रविशुद्धः । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन संक्लेशेन वा बध्यमानत्वात् । इमाश्च ता अष्टाविंशतिः-मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ वज्रर्षभनाराचनाम समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसदशकञ्चेति । गतमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु नामकर्मोत्तरप्रकृतीनां स्वस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षनिरूपणम् ॥१०७१॥

अथ त्रिमनुष्यमार्गणासु प्रस्तुतं बिभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति—

तित्थाहारदुगअसुहधुवबंधीण तिणरेसु ओघव्व । सेसाणं णामाणं पणिंदितिरियव्व विण्णेयो ॥
णवरं खलु थिरसुहजसअथिरअसुहअजसमंदरसबंधी । तित्थस्स सिआ बंधइ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा-१०७२-७३)

(प्रे०) 'तित्थे' त्यादि, तत्र 'ओघव्वे' ति अतिदेशस्त्वोघप्ररूपणायामपि प्रस्तुतमार्गणागतान् पर्याप्तमनुष्यादीनेवाश्रित्य प्रस्तुतनिरूपणस्य सद्भावात् । 'सेसाण' मित्यादि । कुतः ? पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद् ? यथा तत्र तथैवेहापि तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यरसः संक्लेशेन विशुद्ध्या परावर्तमानपरिणामेन वा बध्यत इति कृत्वा । इमाश्च ताः शेषा नामप्रकृतयः-मनुष्यद्विकं देवद्विकं नरकद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासातपोद्योतनामानि त्रसदशकं स्थावरदशकञ्चेति त्रिषष्टिरिति । 'णवरं' इत्यादि, द्वितीयगाथा । स्थिरादिषट्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिजिननाम स्याद् बध्नातीति विशेषो दर्शितः । शेषं सुगमम् ॥१०७२-७३॥

अथ देवौघमार्गणायां प्रकृतस्य दिदर्शयिषया तिर्यग्द्विकसत्कं दर्शयति—

एगरस जहण्णरसं बंधंतो तिरिदुगाउ देवम्मि । णियमाऽणस्स जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
बंधइ सिआ दुखगइछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । एगिंदिथावराणं लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥

धुवुरलपरघाऊसासबायरतिगाणऽणंतगुणअहियं । णियमा सिआ पणिंदियतसुरलुवंगायवदुगाणं ॥
(मूलगाथा-१०७४-७६)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानपरिणामी । 'बंधइ' इत्यादि, द्वितीयार्या । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षबन्धसद्भावात् । 'धुवे' त्यादि, 'णियमा' इत्युत्तरार्धगतं पदमत्र योज्यम्, पराघातनामादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु देवानामपर्याप्तप्रायोग्यबन्धाभावात् । शेषं कण्ठ्यम् । ॥१०७४-७६॥ अथ तत्रैवैकेन्द्रियस्थावरनामसत्कमाह—

एगिंदियथावरलहुबंधी णियमा लहुं छठाणगयं । बाऽणयरस्स य तिरिदुगदुहगाणादेयहुंडाणं ॥
तिथिराइगजुगलाणं सिआयवदुगम्सऽणंतगुणअहियं । णियमा धुवबायरतिगपरघाऊसासउरलाणं ॥
(मूलगाथा-१०७७-७८)

(प्रे०) 'एगिंदिये' त्यादि, चः समुच्चयार्थः । नियमाद्बन्धस्तु तिर्यग्द्विकादीनां प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । त्रिस्थिरादियुगलानां स्याद्बन्धस्तु तद्वैपर्ययात् । 'आयवे, त्यादि, स्याद्बन्धः प्रतीतः । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशजन्यत्वात् । 'णियमा' इत्यादि, उत्तरार्धम् । 'अणंतगुणाहिय' मिति पदमिहापि योज्यते ॥१०७७-७८॥

अथौदारिकशरीरनामादिसत्कमाह—

एगस्स उरलसुहधुवपरघाऊसासबायरतिगाओ । लहुबंधी अण्णेसिं णियमा लहुमुअ छठाणगय ॥
तिरिदुगहुंडअसुहभुवपणाथिराईणऽणंतगुणअहिय । णियमा थावरिगिंदियछिवट्ठकुमरखगईण सिआ ॥
उरलोवंगपणिंदियउज्जोआयवतसाण कुणइ सिआ । मंदमुअ छट्ठाणगयं एमेवुज्जोअणामस्स ॥
(मूलगाथा-१०७९-८१)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'उरल' त्ति चतुर्दशप्रकृतिमध्यात् । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य तीव्रसंक्लेशलक्षणेन तन्यसंक्लेशेन जन्यत्वात् । 'णियमा' इति द्वितीयार्योत्तरार्धगतं पदं तत्पूर्वार्धे योज्यम् । 'थावरे' त्यादि, 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमत्राऽपि संबध्यते । तृतीयगाथागतपञ्चप्रकृतिभ्य आतपं विहाय चतस्रः सनत्कुमारादिदेवैरातपं चेशानान्तदेवैस्तीव्रसंक्लेशेन बध्यते, अतस्ते तासां रसं जघन्यमजघन्यं वा षट्स्थानपतितं बध्नन्ति । स्याद्बन्धस्तु प्रतीतः । 'एमेवुज्जोअणामस्स' इति उद्योतनाम्नः सन्निकर्ष औदारिकशरीरवद्, उभयत्र स्वामिनामविशेषात् ॥१०७९-८१॥ अथ हुंडकसत्कमाह—

हुंडस्स मंदबंधी परघाऊसासबायरतिगाणं । धुवउरलाणं णियमा बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥
मंदमुअ छठाणगयं सिआ तिरिणरदुगथावराण तहा । एगिंदियखगइदुगछसंघयणथिराइजुगलाणं ॥
पंचिंदियआयवदुगतसुरलुवंगाणऽणंतगुणअहियं । बंधेइ सिअ एवं दुहगाणादेयणामाणं ॥
(मूलगाथा-१०८२-८४)

(प्रे०) 'हुंडस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्येह परावर्तमानपरिणामेन जन्यत्वाभावात् । 'मंद' मित्यादि, 'थिराइ' त्ति स्थिरषट्कमस्थिरषट्कञ्च । 'पंचिंदिये' त्यादि, गतार्थम् । 'एव' मित्याद्यपि गतार्थम् ।

अतिदेशस्तु स्वामिनां विशेषाभावात् । तदपि कुतः ? यो हुंडकस्य जघन्यरसबन्धकः स एव अनयोरपि । संभाव्यमानविशेषस्तु स्वयं ज्ञातव्यः, तद्यथा-'छसंघयण' इति स्थाने षट्संस्थानान्यपि वाच्यानि, तद्बन्धस्यापि संभवात् । हुंडकप्ररूपणायान्तु तानि नोक्तानि, प्रतिपक्षत्वात् । तथा 'थिराइ' इति स्थाने यथाक्रमं सुभगवर्जस्थिरादिपञ्चकं दुर्भगवर्जास्थिरादिपञ्चकं च, आदेयवर्जस्थिरादिपञ्चकमनादेयवर्जास्थिरादिपञ्चकञ्च ज्ञेयानि । कुतः ? एकस्य प्रस्तुतत्वादितरस्य च प्रतिपक्षत्वेन बन्धाभावात् ॥१०८२-८४॥ अथ स्थिरनामसत्कमाह—

थिरलहुरसबंधी खलु बंधेइ रसं अणंतगुणअहियं । उरलोवंगपणिंदियआयवदुगजिणतसाण सिआ ॥
मंदसुभ छठाणगयं सिआ तिरिणरदुगथावराण तहा । संघयणागिइदुखगइएगिंदियपणसुहाइजुगलाणं ॥
तेरसधुवउरलाणं परघाऊसासबायरतिगाणं । णियमाऽणंतगुणहियं सुहजसजुगलाथिराणेवं ॥
(द्विगीतिः) (मूलगाथा-१०८५-८७)

(प्रे०) 'थिरलहु०' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी । 'संघयण'इत्यादि, षट्संहननानि षट्संस्थानानि च । 'सुहाइ' त्ति शुभनामादिपञ्चकमशुभनामादिपञ्चकञ्च । षट्स्थानगतत्वन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामजन्यत्वात् । 'तेरसे' त्यादि, औदारिकनामादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु तासां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्तु परावर्तमानपरिणामेनासां जघन्यरसस्यानन्यत्वात् । 'सुहजसे' त्यादि, शुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्यस्थिरनाम्नाम् ,अतिदेशस्तु तुल्यवक्तव्यत्वात् , आसामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामजन्यत्वात् । अत्र संभाव्यमानविशेषस्त्वेवम्-शुभनाम्नोऽशुभनाम्नश्च प्ररूपणायाम् 'सुहाइजुगले' ति स्थाने शुभाशुभवर्जस्थिरादिपञ्चकयुगलं ज्ञेयम् । तथा यशःकीर्त्ययशःकीर्तिनामप्ररूपणायां स्थिरनामाद्यादेयावसानाः पञ्चाऽस्थिरनामाद्यनादेयावसानाः पञ्चेति 'सुहाइजुगले'ति स्थाने ज्ञेयम् । शेषं सर्वमनन्तरोक्तवत् ॥ १०८५-८७॥ अथाऽऽतपनामसत्कमाह—

अडसुहधुवउरलाणं परघाऊसासबायरतिगाण । आयवलहुरसबंधी णियमा लहुसुभ छठाणगयं ॥
तिरिदुगिगिंदियथावरहुंडअसुहधुवपणाथिराईणं । णियमाऽणंतगुणहियं सेसाणं पढमणिरयव्व ॥
(मूलगाथा-१०८८-८९)

(प्रे०) 'अडे' त्यादि, गतार्थम् । नियमाद्बन्धः प्रतीतः । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तुल्यसंक्लेशलक्षणेन तीव्रसंक्लेशेन जायमानत्वात् । 'तिरिदुगे' त्यादि, 'पणाथिराइ' त्ति दुःस्वरवर्जाः । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसस्यानन्तरोक्तस्वरूपेण संक्लेशेनाजायमानत्वात् । एतज्जघन्यरसबन्धप्रायोग्यविशुद्धिस्थानस्य परावर्तमानपरिणामस्य वाऽऽतपजघन्यरसबन्धप्रायोग्यस्थानाद् विलक्षणत्वात् । 'सेसाणं' इत्यादि. पठितसिद्धम् । शेषप्रकृतयस्त्विमाः-मनुष्यद्विकपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कसंस्थानपञ्चकखगतिद्वयाशुभध्रुवपञ्चकजिननामत्रसभगत्रिकदुःस्वरनामानि । यासां प्रकृतीनामेकेन्द्रियजातिनाम्ना सह तथेशानान्तदेवानेवाश्रित्य जघन्यरसबन्धो भवति तासामिह पृथगुक्तम् , शेषाणान्तु जघन्यरसबन्धकाः प्रथमनारकवदेकेन्द्रियजाति-

नामादीनि न बध्नन्ति, तत उक्तं 'पढमणिरयव्व' इत्यादि। गतं देवौघमार्गणायां नामकर्मोत्तरप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षनिरूपणम् ॥१०८८-८९॥

अथेशानान्तदेवमार्गणासु पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामसत्कमाह—

भवणतिगदुकप्पेसुं पणिंदियतसाउ मंदरसबंधी। एगस्सऽण्णस्स रसं णियमा लहुमुअ छठाणगयं ॥
तिरिणरखगइदुगाण छसंघयणागिइथिराइजुगलाणं। बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
तेरधुवुरलदुगाणं परघाऊसासबायरतिगाण। णियमाऽणतगुणहियं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥

(मूलगाथा-१०९०-९२)

(प्रे०) 'भवणतिग' इत्यादि, 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानपरिणामी। नियमाद्बन्धस्त्वन्यतरबन्धस्येतरबन्धाविनाभावित्वात्। 'तिरिणरे' त्यादि, गतार्थम्। 'तेरे'त्यादि, सुगमम् ॥१०९०-९२॥ अथ तत्रैवौदारिकशरीरनामादिसत्कमाह—

एगस्स उरलसुहधुवपरघाऊसासबायरतिगाओ। लहुबंधी अण्णंसिं णियमा लहुमुअ छठाणगयं ॥
तिरिदुगिगिंदियथावरहुंडअसुहधुवपणाथिराईणं। णियमाहिन्तो बंधइ रस अणंतगुणअब्भहियं ॥
बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं। आयवदुगस्स एवं विण्णेयो आयवदुगस्स ॥

(मूलगाथा-१०९३-९५)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः। नियमाद्बन्धस्त्वौदारिकशरीरनामादीनामपि ध्रुवबन्धित्वात्। षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात्। 'तिरिदुगे' त्यादि, नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात्। अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्य तीव्रसंक्लेशेनाऽजन्यत्वात्। 'बंधइ सिआ' इत्यादि, स्याद्बन्धस्त्वातपद्विकबन्धस्य कादाचित्कत्वात्। षट्स्थानगतन्त्वेतज्जघन्यरसबन्धकस्याऽपि तीव्रसंक्लिष्टत्वात्। 'एव' मित्यादि, अतिदेशस्तु समानवक्तव्यत्वात्। इहौदारिकशरीरनामादीनां सर्वासामिति वाच्यम् ॥ १०९३-९५॥ अथ तत्रैवौदारिकाङ्गोपाङ्गनामसत्कमाह—

उरलोवंगजहण्णगबंधी तेरधुवबंधिणीण तहा। तिरिदुगपणिंदियाण उरालहुंडगछिवट्ठाणं ॥
परघाऊसासाणं कुखगइतसचउगअथिरछक्काणं। णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥

(मूलगाथा-१०९६-९७)

(प्रे०) 'उरलोवंगे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः। नियमाद्बन्धस्तु परावर्तमानानामप्यप्रशस्तानामेव बन्धस्य प्रवर्तनात्। अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्य विशुद्ध्या तीव्रसंक्लेशेन परावर्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात्। 'उज्जोअगस्स' इत्यादि, गतार्थम्। ॥१०९६-९७॥ अथ लाघवार्थं सापवादं देवौघवदतिदिशन्नाह—

सेसाण सुरव्व णवरि सामी जाण परियत्तमाणो सिं। लहुबंधे लहुमलहुं व रसं पंचिंदियतसाणं ॥

(मूलगाथा--१०९८)

(प्रे०) 'सेसाण' इत्यादि, शेषाष्टत्रिंशत्प्रकृतीनां सन्निकर्षो देवौघवद्भवति। देवौघमार्गणायां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोर्जघन्यरसबन्धः सर्वसंक्लेशेन भवति, अत्र तु स परावर्तमान-

मध्यमपरिणामेनात आह-'णवरि'इत्यादि । अयं भावः—यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धः परावर्तमान-परिणामेन जायते तथा ताभिस्सह यदि त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिनाम्नी बध्येते तर्हि तासां प्रकृतीनां सन्निकर्षावसरे कथितप्रकृतिद्वयस्य रसं जघन्यमजघन्यं वा तथाऽजघन्यरसं तु षट्स्थानपतितं बध्नातीति ध्येयम् । इमाश्च ताः शेषपरावर्तमानास्त्रिंशत्प्रकृतयः—तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकषट्संहननषट्संस्थानखगतिद्वयस्थिरषट्कास्थिरषट्कप्रकृतयः । अत्रेदमवधेयम्—स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशः-कीर्त्ययशःकीर्तीति षण्णां प्रकृतीनां सन्निकर्षनिरूपणावसरे भवनपतित्रिके जिननाम्नो बन्धो न वक्तव्यस्तथा जिननाम्नः सन्निकर्षोऽपि न कथनीयस्तस्य बन्धाभावादिति । शेषाष्टात्रिंशत्प्रकृतयस्त्विमाः-तिर्यग्द्विकमनुष्यद्विकैकेन्द्रियजातिषट्संहननषट्संस्थानखगतिद्वयाशुभध्रुवपञ्चकजिनस्थिरषट्कस्थावरास्थिरषट्कप्रकृतय इति ॥१०९८॥

अथाऽऽनतादिसुरमार्गणासु प्रकृतं विभणिषुर्मनुष्यगत्यादिसत्कं तमाह—

एगस्स मंदबंधी गेविज्जंतेसु आणताईसुं । णरउरलदुगपणिंदिसुधुवपरघूसासतसचउक्काओ ॥ (गीतिः)
मंदमुभ छठाणगयमियराण णियमा अणंतगुणअहियं ! हुंडगछेवट्ठअसुहधुवकुखगइअथिरछक्काणं ॥

(मूलगाथा-१०९९-११००)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, तत्र 'गेविज्ज' त्ति आनतादिनवमग्रैवेयकान्तेषु त्रयोदश देवभेदेषु । प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः । षट्स्थानगतन्तु मध्यासां जघन्यरसबन्धस्य सर्वसंक्लेशेन जन्यत्वात्, नियमाद्बन्धस्तु मनुष्यद्विकादीनामध्रुवाणां प्रकृतीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । 'हुंडगे' त्यादि, पूर्वार्धगतं 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमिह योज्यम् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य परावर्तमानादिपरिणामेन जायमानत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वात्, तीव्रसंक्लिष्टेन च परावर्तमानाः प्रकृतयोऽप्रशस्ता एव बध्यन्त इति कृत्वा । ॥१०९९-११००॥ अथ तत्रैव वज्रर्षभनाराचसत्कमाह—

वइरस्स मंदबंधी लहुमुभ अलहुं रसं छठाणगयं । बंधइ सिआ दुखगइछसंठाणथिराइजुगलाणं ॥
णरउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । तेरसधुवाण णियमा बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥
एवं संघयणपणगदुखगइछागिइथिराइजुगलाणं । णवरि लहुं बंधंतो थिराइजुगलाण तिण्ह रसं ॥
जिणणामकम्मणो खलु बंधेइ सिआ अणंतगुणअहियं । देवव्व सण्णियासो जिणपणअसुहधुवबंधीणं ॥

(मूलगाथा--११०१-४)

(प्रे०) 'वइरस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानपरिणामी । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'णरे' त्यादि, नियमाद्बन्धः प्राग्वत् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य परावर्तपरिणामेनाऽजन्यत्वात् । अथाऽतिदिशति—'एव'मित्यादिना । तत्राऽपि 'णवरि' इत्यादिना स्थिरादियुगलानां सन्निकर्षविषये विशेषमाह—अयम्भावः—वज्रर्षभनाराचजघन्यरसबन्धको मिथ्यादृष्टिरतो न तस्य जिननाम्नो बन्धः । स्थिरादीनां जघन्यरसन्तु सम्यग्दृष्टिरपि बध्नाति, अतस्तद्बन्धकेन जिननामाऽपि बध्यते । सोऽपि केनचिद्देवान उक्तं स्यादिति । अनन्तगुणाधिकन्तु

प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्त्तमानपरिणामित्वात् । जिननामजघन्यरसस्तु संक्लिष्टेन बध्यत इति कृत्वा । ॥११०१-४॥ अथानुत्तरसुरमार्गणास्वाह—

एगस्सऽणुत्तरेसुं लहुं थिरसुहजसतित्थवज्जसुहा । बंधंतो अण्णेसिं णियमा लहुसुभ छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ मंदं अहव अमंदं रस छठाणगयं । णियमाऽणंतगुणहियं अडअसुहाणं जिणस्सेवं ॥

(मूलगाथा-११०५-६)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, सुगमम् । प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः । षट्स्थानपतितत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । स्थिरादीनां वर्जनन्तु तासां परावर्तमानत्वात् , जिननाम्नस्तु बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । इमाश्च ताः शुभप्रकृतयः-मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं वज्रर्षभनाराचसमचतुरस्रसुखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकाणि चेति पञ्चविंशतिः । 'तित्थस्से' त्यादि, गतार्थम् । 'अडअसुहाणे' त्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या परावर्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात् । इमाश्च ता अष्टौ-अप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकमस्थिराशुभाऽयशःकीर्तिनामानि च । अथातिदिशति-'जिणस्से' त्यादि, सुगमम् । ॥११०५-६॥ अथ तत्रैव स्थिरादिनामसत्कमाह—

लहुबंधी एगस्स तिथिराइजुगलाउ णेव पडिवक्खं । अण्णाण सिआ मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ अणुभागं खलु अणंतगुणअहियं । णियमाऽण्णेसिं बंधइ णिरयव्वऽत्थि असुहधुवाणं॥

(मूलगाथा-११०७-८)

(प्रे०) 'लहुबंधी'त्यादि, तत्र 'तिथिराइ' त्ति स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति प्रकृतिषट्कमध्यात् । 'णेवे' ति तत्प्रतिपक्षं नैव बध्नाति-यथा स्थिरनामजघन्यरसबन्धकोऽस्थिरनाम न बध्नाति, प्रतिपक्षत्वात् । षट्कमध्यादेकस्या जघन्यरसबन्धकः तत्प्रतिपक्षवर्जशेषचतसृणामिति 'अण्णाणे' ति पदेन वाच्यम् । षट्स्थानगतन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् । 'तित्थस्से'त्यादि, स्याद्बन्धस्तु केषाञ्चिदेव तद्बन्धकत्वात् । अनन्तगुणाधिकत्वेतज्जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशजन्यत्वात् । ''अण्णेसिं' इत्यादि, तत्र नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षबन्धासम्भवात् । इमाश्च ता अन्याः प्रकृतयः-मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं वज्रर्षभनाराचसमचतुरस्रनाम्नी प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी अप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकं त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकञ्चेति त्रिंशत् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-'णिरयव्वे'त्यादि, पञ्चानामशुभध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसबन्धसन्निकर्षो नरकौघवद् वाच्यः, कुतः ? स्वामिनोऽविशेषात् । तत्रापि सुविशुद्धसम्यग्दृष्टय एव तज्जघन्यरसबन्धका इति ॥११०७-८॥

अथ सर्वैकेन्द्रियभेदेषु प्रकृतं बिभणिषुरादौ तावत्तिर्यग्द्विकसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी तिरियदुगेगिंदियेसु सव्वेसुं । मंदमुअ छठाणगयं णियमाऽण्णस्स असुहधुवाणं ॥
छव्वीसाअ सुहाणं आयवदुगवज्जतिरियजोग्गाणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥

(मूलगाथा-११०९-१०)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, सप्तस्वेकेन्द्रियमार्गणासु । प्रस्तुतबन्धकः सुविशुद्धः । शेषं गतार्थम् । नवरमातपद्विकस्य वर्जनं प्रस्तुतबन्धकस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वेनातपनाम्नो बन्धाभावात् । उद्योतस्यानन्तरमेव पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् । इमाश्च ताः प्रशस्ताः षड्विंशतिः—पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं प्रथमसंहननसंस्थाननाम्नी प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकञ्चेति ॥११०९-१०॥ अथ तत्रैवाप्रशस्तध्रुवसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी असुहधुवाउ इयराण णियमाओ । मंदसुभ छठाणगयं बंधेइ सिआ तिरिदुगस्स ॥
णरदुगउज्जोआणं बंधेइ सिआ अणंतगुणमहियं । णियमा सुहाण बंधइ आयववज्जाण सेसाणं ॥
(मूलगाथा- ११११-१२)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रविशुद्धः । स्याद्बन्धस्तु यदि तेजस्कायो वायुकायो वा बन्धकस्तर्हि बध्नाति यदि च पृथ्वीकायादयस्तर्हि न बध्नन्ति, सुविशुद्धानां पृथ्व्यादीनां मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वादिति । 'णरदुग' इत्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वासां प्रशस्तत्वात् । स्याद्बन्धस्तु तेजोवायूनां मनुष्यद्विकं बन्धानर्हम्, शेषाणाञ्चोद्योतनाम बन्धानर्हम्, तेषां विशुद्धत्वे मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् । 'णियमे'त्यादि, कण्ठ्यम् । इमाश्च ताः शेषशुभप्रकृतयः—पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं प्रथमसंहनननाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकञ्चेति षड्विंशतिरिति ॥११११-१२॥

अथ तत्रैव तत्तुल्यवक्तव्यत्वाच्छेषप्रकृतिसत्कं प्रस्तुतसन्निकर्षमतिदिशति—

असमत्तणरव्व भवे सेसाणं णवरि जत्थ बंधोऽत्थि । तिरियदुगस्स तहिं से बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा-१११३)

(प्रे०) 'असमत्ते'त्यादि, अतिदेशस्तु यथा तत्र तथेहापि परावर्तमानादिपरिणामेन तज्जघन्यरसबन्धः, प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावात् । 'णवरि' त्यादि, अयं विशेषः—यस्याः प्रकृतेर्जघन्यरसं बध्नंस्तिर्यग्द्विकं बध्नाति तस्याः सार्धं तस्य रसमनन्तगुणाधिकं बध्नातीति वाच्यम्, प्रस्तुतमार्गणासु तज्जघन्यरसबन्धस्य तेजोवायुस्वामिकत्वेन तस्य सुविशुद्धया जायमानत्वात् । तत्र तु परावर्तमानपरिणामेन तज्जघन्यो रसो बध्यते अतस्तत्र जघन्यः षट्स्थानपतितोऽजघन्यो वा बध्यत इति । शेषाः प्रकृतयश्च पञ्चपञ्चाशत्, ताश्चेमाः—मनुष्यद्विकं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं स्थावरदशकं त्रसदशकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी आतपोद्योतनाम्नी चेति । १११३॥

अथ सर्वतेजोवायुमार्गणासु प्रकृतं विमणिदुस्तिर्यग्द्विकादिसत्कमाह—

सव्वागणिवाऊसु तिरियदुगअसुहधुवाउ एगस्स । लहुबंधो अण्णेसिं णियमा लहुसुभ छठाणगयं ॥
छव्वीसाअ सुहाणं आयवदुगवज्जतिरियजोग्गाणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
(मूलगाथा-१११४-१५)

(प्रे०) 'सव्वागणि०' इत्यादि, चतुर्दशमार्गणासु । प्रस्तुतबन्धकः सर्वविशुद्धः । 'तिरि' इत्यादि, षट्स्थानगतन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य विशुद्धया बध्यमानत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु तिर्यग्द्विकस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । 'छव्वीसाअ' इत्यादि, नियमाद्बन्धस्तु सुविशुद्धस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकन्तु तासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामादिना साध्यत्वात् । 'उज्जोअस्से'त्यादि, गतार्थम् । अनन्तगुणाधिकमित्यत्राऽपि ज्ञेयम् ॥१११४-१५॥

अथोक्तशेषाणामतिदिशति–

सेसाणं पयडीणं असमत्तणरव्व सण्णियासोऽत्थि । णवरि अणंतगुणहियं सव्वइ णियमा तिरिदुगस्स ॥

(मूलगाथा-१११६)

(प्रे०) 'सेसाण' मित्यादि, गतार्थम् । अतिदेशे हेतुः प्रागुक्तैकेन्द्रियमार्गणोक्त एव । 'णवरि' इत्यादि, अयम्भावः–तत्र तु स्याद्बन्ध उक्तः, प्रतिपक्षभूतस्य मनुष्यद्विकस्याऽपि बन्धसम्भवात् । इह तु नियमाद्बन्धो वाच्यः, प्रतिपक्षाभावात् । रसस्त्वनन्तगुणाधिक एव इति । शेषाः प्रकृतयस्तु त्रिपञ्चाशत् , ताश्चानन्तरमार्गणोक्ता मनुष्यद्विकवर्जा द्रष्टव्या इति ॥१११६॥

अथौदारिककायमार्गणायां प्रकृतं दिदर्शयिषुरतिदेशेन दर्शयति—

सुधुवपणिंदिउरलदुगपराघाऊ-ससायवदुगाणं । तसचउगस्स य उरले तिरिव्व अोघव्व सेसाणं ॥

(मूलगाथा-१११७)

(प्रे०) 'सुधुवे' त्यादि, 'उरले' त्ति औदारिककाययोगमार्गणायाम् । गाथार्थः सुगमः । अत्रायं भावः–ओघे शुभध्रुवादिजघन्यरसबन्धकानां त्रीणि पारभविकनिकृष्टस्थानानि एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-नरकरूपाणि । तिर्यगोघमार्गणायान्तु नरकरूपमेकमेव, अत्राऽपि तदेवात उपस्थितिकृतलाघवमाश्रित्य 'तिरिव्वे' ति अतिदेशः । 'ओघव्व' इत्यादि, इह तिर्यग्द्विकवर्जशेषाणां प्रस्तुतसन्निकर्षो यथासंभवं तिर्यङ्मनुष्यानाश्रित्य प्राप्यते, ओघे तानप्याश्रित्योक्तत्वात् ओघवदित्यतिदेशः । ओघे तिर्यग्द्विकस्य प्रस्तुतसन्निकर्षः सप्तमनारकमाश्रित्येह तु सुविशुद्धतेजोवायुकायिकानाश्रित्यातः सन्निकर्षविषये नास्ति विशेषः ॥१११७॥

अथौदारिकमिश्रमार्गणायां प्रकृतं चिकथयिषुरादौ तत्र देवद्विकादिसत्कमाह—

एगस्स उरलमीसे देवविउवदुगजिणाउ लहुबंधी । णियमाऽण्णाण लहुं उभ छट्ठाणगयं जिणस्स सिआ ॥

णियमाऽणंतगुणहियं सुखगइआगिइपणिंदियधुवाणं । परघाऊसाससुहगतिगतसचउगाजसाथिरदुगाणं ॥

(द्वि-गीतिः) (मूलगाथा-१११८-१९)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, 'उरलमीसे' त्ति औदारिकमिश्रमार्गणायाम् । प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः, सर्वसंक्लिष्टस्य मिथ्यादृष्टित्वेनेह तद्बन्धकत्वायोगात् । नियमाद्बन्धस्तु देवद्विकवैक्रियद्विकबन्धमाश्रित्य । 'णियमा' इत्यादि, सुशब्दस्याग्रेऽपि योजनात् , 'आगिइ' त्ति शुभाकृतिः प्रथमसंस्थाननामेत्यर्थः । 'धुवाणं' ति त्रयोदश ध्रुवबन्धिनीनाम् । 'अथिरदुगं' अस्थिराशुभरूपम् । नियमाद्बन्धस्तु संक्लिष्टेन विद्यमानप्र-

तिपक्षाण्यप्ययशःकीर्तिनामाऽस्थिराशुभानामान्येव बध्यन्त इति कृत्वा । शेषाणान्तु सम्यग्दृष्टेः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥१११८-१९॥ अथ तत्रैवाऽप्रशस्तध्रुवसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी असुहधुवाओ चउण्ह अण्णेसिं । णियमा बंधइ मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ अणंतगुणिआहियं रसं णियमा । सुहसुरजोगऽण्णेसिं तिरियव्व भवे तिरिदुगस्स ॥
एगिंदियव्व णेयो सेसाण परं अणंतगुणअहियं । सुरविउव्वदुगजिणाणं सिआ थिराइतिजुगलबंधी ॥
(मूलगाथा–११२०-२२)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रविशुद्धः । 'तित्थस्से' त्यादि, जिननाम्नो रसमनन्तगुणाधिकं स्याद् बध्नाति । 'अणंतगुणिआहिय'मित्यादीनि त्रीणि पदान्युत्तरार्धेऽपि योज्यानि । सुरयोग्याः शेषशुभाश्चेमाः—देवद्विकवैक्रियद्विकपञ्चेन्द्रियजातिप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकप्रथमसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासत्रसदशकरूपाः सप्तविंशतिः । अथातिदिशति 'तिरियव्वे' त्यादि, तिर्यग्द्विकस्य प्रस्तुतसंनिकर्ष इति गम्यते । अतिदेशस्तु स्वामिसाम्यात् । तथथा–तिर्यगोघे तिर्यग्द्विकजघन्यरसबन्धकाः सुविशुद्धास्तेजोवायवस्तथैवेहापि इति । अथोक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रकृतं सन्निकर्षं सापवादमतिदिशति–'एगिंदियव्वे' त्यादि, कुतोऽयमतिदेशः ? उच्यते–यथैकेन्द्रियमार्गणायां मनुष्यतिर्यक्प्रायोग्यप्रकृतिबन्धका आसां जघन्यरसबन्धकास्तथैवेहापि । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः मनुष्यद्विकं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी आतपोद्योतनाम्नी चेति पञ्चपञ्चाशदिति । अथ विशेषं दर्शयति–'पर' मित्यादिना, अयम्भावः–एकेन्द्रियमार्गणायां भवप्रत्ययेनैव देवद्विकादीनां बन्धो नास्ति, प्रस्तुतमार्गणायान्तु सम्यग्दृष्टेः स विद्यते, परावर्तमानपरिणामेन स्थिरनामादिजघन्यरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिरामां बन्धं करोति, रसन्त्वेतज्जघन्यरसादनन्तगुणाधिकं स्याच्च बध्नाति, एतज्जघन्यरसबन्धस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशसाध्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकानां च परावर्तमानपरिणामित्वात् । स्याद्बन्धस्तु मिथ्यादृष्टेर्बन्धाभावात् ॥११२० २२॥

अथ वैक्रियद्विके प्रस्तुतमाह—

ओघव्व विउव्वदुगे तिरियदुगस्स इयराण देवव्व । णवरि अणंतगुणहियं तिरियदुगस्स खलु बंधेइ ॥
लहुबंधी एगिंदियजाइछसंघयणआगिईण तहा । खगइदुगथावराणं छण्ह थिराइजुगलाण सिआ ॥
(मूलगाथा–११२३-२४)

(प्रे०) 'ओघव्व' इत्यादि, वैक्रियतन्मिश्रयोगमार्गणयोस्तिर्यग्द्विकस्य सन्निकर्ष ओघवद्भवति, स्वामिनः सप्तमनारकत्वेनाविशेषात् । अथ शेषप्रकृतीनां संनिकर्षं 'इयराण' इत्यादिनाऽतिदेशेनाह । अथ लाघवार्थं कृतेऽतिदेशे याः काश्चिदतिप्रसक्तयस्ताः 'णवरि' इत्यादिना निवारयति । देवमार्गणायां तिर्यग्द्विकस्य जघन्यरसबन्धः परावर्तमानपरिणामेन जायते प्रस्तुतमार्गणयोः पुनः स विशुद्ध्या जायत इति हेतोरेकेन्द्रियादिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्य तिर्यग्द्विकस्य रसोऽनन्तगुणाधिक एव वक्तव्यः ॥११२३-२४॥

अथाहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रकृतं बिभणिषुराह—

एगस्साहारदुगे लहुं थिरसुहजसतित्थवज्जसुहा । बंधंतो अण्णेसिं णियमा लहुमुभ छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ मंदं अहव अमंदं रसं छठाणगयं । णियमाऽणंतगुणहियं अडअसुहाणं जिणस्सेवं ॥
लहुबंधी एगस्स तिथिराइजुगलाउ णेव पडिवक्खं । अण्णाण चउण्ह सिआ लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
तित्थस्स बंधइ सिआऽणंतगुणहियमियराण णियमाओ ।

(मूलगाथा–११२५-२७)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, 'आहारदुगे' त्ति आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः । शेषं गतार्थम् । नवरम् 'अडअसुहाणं' ति अप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकमस्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि चेत्यष्टानाम् । अनन्तगुणाधिकन्तु तासामशुभत्वात् । ततः किम् ? प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः, आसां जघन्यरसस्तु तीव्रविशुद्ध्यादिना बध्यत इति कृत्वा । अथातिदिशति–'जिणस्स' इत्यादि, जिननाम्नः प्रस्तुतसंनिकर्षोऽनन्तरोक्तवद्भवति । कुतः ? स्वामिसाम्यात् । तज्जघन्यरसस्याऽपि तीव्रसंक्लेशजन्यत्वादिति । अथ स्थिरनामादिसत्कमाह–'तिथिराइ' इत्यादि, स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति प्रकृतिषट्कमध्यात् । प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानपरिणामी । शेषं गतार्थम् । नवरम् 'णेव पडिवक्खं' ति तत्प्रतिपक्षं न बध्नाति, यथा स्थिरनाम्नो जघन्यरसं बध्नन्नस्थिरनाम न बध्नाति अस्थिरनामजघन्यरसबन्धकः पुनर्न स्थिरनाम । कुतः ? अन्योन्यं प्रतिपक्षभूतत्वात् । एवं शेषेष्वपि बोध्यम् । 'तित्थस्से' त्यादि, स्याद्बन्धस्तु केषाञ्चिदेव तद्बन्धप्रवर्तनात् । अनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी, जिननामजघन्यरसबन्धको न तथेति कृत्वा । 'इयराण' त्ति उक्तेतरासाम् । नियमाद्बन्धस्त्वध्रुवाणामपि मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामाऽजन्यत्वात् । इमाश्च ता उक्तेतराः प्रकृतयः–देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियद्विकं त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहयोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकञ्चेत्येकोनत्रिंशदिति ॥११२५-२७॥

अथ तत्रैवाशुभध्रुवबन्धिसत्कमाह—

। एगस्स बंधमाणो असुहधुवाओ जहण्णरसं ॥
मंदमुभ छठाणगयं णियमाऽण्णेसिं सिआ जिणस्स रसं । कुणइ अणंतगुणहियं णियमा सुहसत्तवीसाए ॥

(मूलगाथा–११२८-२९)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, गतार्थम् । 'जिणस्स' त्ति 'अणंतगुणहिय' मितिपदमिहापि योज्यम् । इमाश्च ताः सप्तविंशतिः–अनन्तरोक्ता अप्रशस्तध्रुववर्जाश्चतुर्विंशतिः स्थिरशुभयशःकीर्त्तिनामानि चेति ॥११२८-२९॥

अथ कार्मणाऽनाहारमार्गणयोः प्रकृतं बिभणिषुस्तावत्पञ्चेन्द्रियजात्यादिसत्कमाह—

कम्माणाहारेसु पंचिंदियतसउरालुवंगाओ । एगस्स मंदबंधी बंधइ णियमेयराण तहा ॥

सुहधुवउरालियाणं परघाऊसासबायरतिगाणं । मंदसुभ छठाणगयं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
तिरिदुगछिवट्ठहुंडगकुखगइअसुहधुवअथिरछक्काणं । णियमाहिन्तो बंधइ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा-११३० ३२)

(प्रे०) 'कम्माणे' त्यादि, तथाशब्दः समुच्चायकस्ततश्च तदितरयोर्द्वयोर्बादरत्रिकपर्यवमानानां चतुर्दशानां प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनाञ्चेति । प्रस्तुतबन्धकस्तु तीव्रसंक्लिष्टः । 'उज्जोअस्से' त्यादि, 'मंद'मित्यादीनि पदानीहाऽपि योज्यन्ते, स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् । 'तिरिदुगे' त्यादि, गतार्थम् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वासामप्रशस्तत्वात् ॥११३०-३२॥

अथ तत्रैव शुभध्रुवादिसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी सुहधुवउरलाउ बंधए णियमा । अण्णाण रसं मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
उरलोवंगपणिंदियपरघाऊसासआयवदुगाणं । तह तसचउगस्स सिआ लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
तिरियदुगहुंडगाणं असुहधुवपणगपणाथिराईणं । बंधइ णियमाहिन्तो अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
बंधइ सिआऽणुभागं अणंतगुणहियमिगिंदियस्स तहा । छेवट्ठकुखगईणं दुस्सरथावरचउक्काणं ॥
(मूलगाथा-११३३-३६)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः । 'उरलोवंगे' त्यादि, स्याद्बन्धस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य भिन्नभिन्नस्वामिकत्वात् । षट्स्थानगतत्वासामपि प्रशस्तत्वात् तीव्रसंक्लेशेन जघन्यरसबन्धभावाच्च । 'तिरिदुगे' त्यादि, नियमाद्बन्धस्तु तीव्रसंक्लिष्टस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वप्रशस्तत्वेनासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या परावर्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात् । 'बंधइ' इत्यादि, चतुर्थार्या । स्याद्बन्धस्तु प्राग्वत् । अनन्तगुणाधिकमपि तथैव । ॥११३३-३६॥ अथ तत्रैवाप्रशस्तध्रुवबन्धिसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी असुहधुवाओ चउण्ह अण्णेसिं । णियमा रसं जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
णरसुरउरलविउव्वदुगवइरजिणाण व अणंतगुणअहियं । णियमा तेवीसाए सुह-सर-णरजोग्गसेसाणं ॥
(मूलगाथा--११३७-३८)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, कण्ठ्यम् । 'णरे' त्यादि, दुगशब्दस्य नरादिशब्देष्वपि योजनात्, मनुष्यद्विकं देवद्विकमौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमिति । वाकारोऽत्र स्याद्वाचकः, स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नस्वामिकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । अनन्तगुणाधिकत्वासां प्रशस्तत्वात् । 'णियमा' त्यादि, द्वितीयार्योत्तरार्धम्, अनन्तगुणाधिकमित्यत्राऽपि योज्यम् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकं प्राग्वत् । इमाश्च तास्त्रयोविंशतिः— पञ्चेन्द्रियजातिनाम समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं त्रसदशकञ्चेति । ॥११३७-३८॥ अथ तत्रैव जिननामसत्कमाह—

तित्थस्स जहण्णरसं बंधंतो सुरविउव्वियदुगाणं । बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥

णकरलदुगवइराणं बंधेइ सिआ अणंतगुणअहियं । णियमा सुरजोग्गाणं थिरसुहजसमवजसेसाणं ॥
(मूलगाथा--११३९-४०)

(प्रे०) 'तित्थस्से' त्यादि, गतार्थम् । 'णकरले' त्यादि, अनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टितीव्रसंक्लिष्टत्वे सन्यासां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'णियमा' इत्यादि, 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमत्राऽपि योज्यम् । शेषं गतार्थम् । स्थिरादीनां वर्जनन्तु तीव्रसंक्लिष्टस्य बन्धकस्य तत्प्रतिपक्षभूतानामस्थिरादीनामेव बन्धप्रवर्त्तनात् । इमाश्च ताः सुरयोग्याः प्रकृतयः–पञ्चेन्द्रियजातिः समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कमस्थिराशुभेऽयशःकीर्तिनाम सुभगत्रिकञ्चेत्यष्टाविंशतिरिति ॥११३९-४०॥ अथ तत्रैव पराघातनामादीनां प्रकृतं दिदर्शयिषुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वाद् देवौघादिमार्गणावदतिदिशन्नाऽऽह—

देवव्व मुणेयव्वो परघाऊसासबायरतिगाणं । सुरविउवदुगाण उरलमीसव्वोघव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा- ११४१)

(प्रे०) 'देवव्व'इत्यादि.पराघातनामादिप्रकृतिपञ्चसत्कोऽयमतिदेशः । कुतो देववदित्यतिदेशः ? इति चेत्, देवौघमार्गणावदिहापि पराघातनामादीनां जघन्यरसबन्धकानाश्रित्यैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनाम्नोर्बन्धस्य कादाचित्कत्वोपलम्भात् । 'सुरविउवे'त्यादि, औदारिकमिश्रवदित्यतिदेशस्तु स्वाम्यैक्यात्, यथा तत्र तथेहापि सम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्या एव तज्जघन्यरसबन्धका इति भावः । 'ओघव्वे'त्यादि, गतार्थम्, अतिदेशस्तु स्वामिसाम्यात्, कोऽर्थः यथौघे मनुष्यद्विकादीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामी, तिर्यग्द्विकस्य विशुद्धःसप्तमपृथ्वीनारकः, आतपोद्योतयोस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्तथैवेहापि । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः–मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं जातिचतुष्कं संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकमातपोद्योतनाम्नी स्थावरदशकं स्थिरषट्कञ्चेति चत्वारिंशत् । ॥११४१॥ अथ स्त्रीवेदमार्गणायामाह—

एगस्स थीअ सुहधुवपरघाऊसासबायरतिगाओ । लहुबंधी अण्णेसिं णियमा लहुमुअ छठाणगयं ॥
पंचिंदियओरालियतसविउवायवदुगाण अणुभागं । बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं हुंडअसुहधुवपणाथिराईणं । णिरयतिरिदुगेगिंदियकुखगइसथावराण सिआ ॥
(मूलगाथा--११४२-४४)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, 'थीअ' स्त्रीवेदमार्गणायाम् । शेषं कण्ठ्यम् । 'पंचिंदिय' इत्यादि, दुगशब्दस्य प्रागपि योजनात् वैक्रियद्विकमातपद्विकञ्चेति । स्याद्बन्धस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य भिन्नभिन्नस्वामिकत्वात् । 'णियमे' इत्यादि, तृतीयाऽऽर्या । देहलीदीपकन्यायात् मध्यगतस्य 'पणे' ति शब्दस्योभयत्र योजनात् पञ्चाशुभध्रुवबन्धिन्यः पञ्च चास्थिरनामादयः, दुःस्वरस्यानन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जा इति गम्यते । 'णियमे'त्यादि, द्विकशब्दस्य प्रागपि योजनात्

नरकद्विकं तिर्यग्द्विकञ्च। कुशब्दस्याग्रेऽपि सम्बन्धात् 'सर' त्ति कुस्वरः-दुःस्वरनामेत्यर्थः। स्याद्बन्धस्तु प्राग्वत्। 'अणंतगुणहिय' मिति पदमत्राऽपि योज्यते, अनन्तगुणाधिकमिति त्वासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेनाशुभध्रुवाणां च विशुद्धया जायमानत्वात्। प्रस्तुतबन्धकस्य तु तीव्रसंक्लिष्टत्वात् ॥११४२-४४॥

अथ तत्रैवौदारिकाङ्गोपाङ्गनामसत्कमाह—

उरलोवंगलहुगरसबंधी बिंदियपणिंदियाण तहा। कुखगइउज्जोआणं परघाऊसासणामाणं ॥
पज्जअपज्जगदुस्सरणामाणं सिआ अणंतगुणअहियं। णियमा छव्वीसाए बिंदियजोग्गाण सेसाणं ॥

(मूलगाथा—११४५-४६)

(प्रे०) 'उरलोवंगे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः। शेषं गतार्थम्। नवरं स्याद्बन्धः, तज्जघन्यरसबन्धस्य भिन्नभिन्नस्वामिकत्वात्। अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन तीव्रसंक्लेशेन वा जन्यत्वात्। 'णियमा' इत्यादि, अनन्तगुणाधिकमितीहापि बोध्यम्। नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। इमाश्च ताः षड्विंशतिः— तिर्यग्द्विकमौदारिकशरीरनाम त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यो हुंडकं सेवार्त्तमस्थिराशुभे दुर्भगनामाऽनादेयाऽयशःकीर्तिनाम त्रसनाम बादरनाम प्रत्येकनाम चेति ॥११४५-४६॥

अथ तत्रैव जिननामादिसत्कमतिदिशति—

तित्थाहारदुगअसुहधुवाण ओघव्व पढमकप्पव्व। उरलायवजुगलाणं पणिंदितिरियव्व सेसाणं ॥

(मूलगाथा—११४७)

(प्रे०) 'तित्थे' त्यादि, ओघवद् भवति, स्वस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्ष इति प्रस्तावाद् गम्यते। कासां? जिननामादीनामष्टानां प्रकृतीनाम्, कुतः? प्रस्तुतमार्गणागतानां जिननामादिजघन्यरसबन्धकानामोघेऽन्तर्भावात्। 'पढमे' त्यादि, औदारिकशरीरनामाऽऽतपनामोद्योतनामरूपाणां तिसृणां जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षः सौधर्मसुरमार्गणावद्भवति। कुतः? इह देवीनामेव तज्जघन्यरसबन्धस्वामित्वात्। 'पंचिंदि' त्ति उक्तशेषाणां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद्भवति? कुतः? तिरश्चीनामपि तज्जघन्यरसबन्धसद्भावात्। ताश्च इमाः षट्चत्वारिंशत्—मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं देवद्विकं नरकद्विकं जातिपञ्चकं वैक्रियद्विकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं द्वे विहायोगती स्थावरदशकं त्रसनाम स्थिरषट्कञ्चेति ॥११४७॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायां विभणिषुस्तावत्तिर्यग्द्विकसत्कमाह—

एगस्स तिरिदुगा लहुबंधी पुरिसम्मि बंधए णियमा। इयरस्स रसं मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
बंधइ सिआ लहुमहव छट्ठाणगयं चउण्ह जाईणं। सघयणागिइदुखगइथावरदसगथिरछक्काणं ॥
उरलोवंगपणिंदियपरघाऊसासआयवदुगाणं। तह तसचउगस्स सिआ बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥
तेरसधुवउरलाणं णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं। ओघव्व सायणयासो विण्णेयो सेसपयडीणं ॥

णवरि तिरिदुगस्स लहुं छट्ठाणगयं व कुणइ लहुबंधी । संघयणागिइथावरदसगथिरछगचउजाइखगईणं ॥

(पञ्चमा गीतिः) (मूलगाथा—११४८-५२)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, 'पुरिसम्मि' त्ति पुरुषवेदमार्गणायाम् । प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानपरिणामी । 'बंधइ'त्यादि, 'चउण्ह जाईणं' ति पञ्चेन्द्रियजातिवर्जानाम् । व्यवच्छेदपरस्याऽन्यतमस्याऽपि विशेषणस्याभावात् 'संघयणे' ति षट् संहननानि षट् संस्थानानि च । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'उरलांवंगे'त्यादि, अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । 'तेरसे' त्यादि, कण्ठ्यम् । 'ओघव्वे' त्यादि, तिर्यग्द्विकस्योक्तत्वादुक्तशेषाणामेकोनसप्ततेः प्रकृतीनामोघवद्भवति, जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्ष इति प्रकरणगम्यम् । कुतः ? ओघवदिति चेत् ? नारकाणां मार्गणाबाह्यत्वेऽपि सनत्कुमारादीनामिहान्तःप्रवेशात् । शेषाणान्त्वोघोक्तानां तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनामिहापि प्रवेशात् । 'णवरि' इत्यादिना विशेषं दर्शयति- अस्य बीजं त्वोघे तिर्यग्द्विकस्य जघन्यरसः सम्यक्त्वाभिमुखेन सप्तमनारकेण बध्यते, इह तु स परावर्तमानपरिणामेन बध्यत इति कृत्वा चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसेन सहास्य रसो जघन्योऽजघन्यो वा षट्स्थानपतितो बध्यत इति ॥११४८-५२॥ अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह—

णपुमे पणिंदिसुहधुवपरघाऊसासतसचउक्काओ । एगस्स मंदबंधी णियमाण्णाण लहुमुभ छठाणगयं ॥(गीतिः)
णिरयतिरिदुगछिवट्ठाण मिआ बंधइ अणंतगुणअहियं । विउवुरलदुगुज्जोआण लहुमुअ सिआ छठाणगयं ॥
हुंडअसुहखगईणं अपसत्थपणधुवअथिरछक्काणं । णियमाहिन्तो बंधइ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
ओरालुज्जोआणं णिरयव्व तिरिव्व आयवस्स भवे । सेसाणोघव्व णवरि णेव जिणं असुहधुवबंधी ॥

(मूलगाथा-११५३ ५६)

(प्रे०) 'णपुमे' इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायाम् । प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः । 'णिरये' त्यादि, स्याद्बन्धस्तु तद्बन्धस्य भिन्नभिन्नस्वामिकत्वात् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामसाध्यत्वात् । 'विउवे' त्यादि, स्याद्बन्धे षट्स्थानगतत्वे च हेतुः प्रागुक्तः । 'हुंडे' त्यादि, हुंडनामाद्यस्थिरषट्कपर्यवसानानाम् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां प्राग्वत् । अथोक्तातिरिक्तप्रकृतीनां प्रकृतमतिदेशेनाऽऽह–'ओराले' त्यादि, 'णिरयव्व' त्ति अतिदेशस्तु प्रस्तुतमार्गणायां तज्जघन्यरसबन्धस्य नरकस्वामिकत्वात् । 'तिरिव्व' त्ति आतपजघन्यरसबन्धस्य तिरश्चामपि सद्भावादेवमतिदेशः । 'सेसाणोघव्वे' त्यादि, प्रस्तुतातिदेशस्तु ओघोक्ततज्जघन्यरसबन्धस्वामिषु प्रस्तुतमार्गणागतानामप्यन्तर्भावात् । अत्र यो विशेषस्तं 'णवरि' इत्यादिना दर्शयति, कुतः विशेष इति चेदुच्यते- प्रस्तुतप्रकृतिजघन्यरसबन्धकः क्षपकः, तीर्थकरस्य नपुंसकवेदाभावात् तथा नपुंसकस्य जिननामबन्धकस्य क्षपकश्रेणेरभावादुक्तमशुभध्रुवजघन्यरसबन्धको जिननाम न बध्नातीति । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः,-गतिनामचतुष्कं जातिचतुष्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं संहननषट्कं

संस्थानषट्कमानुपूर्वीचतुष्कं विहायोगतिद्विकमप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकं जिननाम स्थिरषट्कं स्थावर-दशकञ्चेति त्रिपञ्चाशदिति ॥११५३-५६॥

अथ त्रिज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतं दिदर्शयिषुर्देवद्विकादिसत्कमाह—

एगस्स तिणाणावहिसम्मत्तगवेअगेसु लहुबंधी। सुरविउवदुगाहिन्तो णियमा असुहाणऽणंतगुणअहियं ॥
तित्थस्स सिआ मंदं अहव अमंदं रसं छठाणगयं। णियमा सुरजोग्गाणं तेवीसाए जिणस्सेवं ॥

(मूलगाथा-११५७-५८)

(प्रे०) 'एगस्स' त्यादि, त्रिज्ञानावधिदर्शनसम्यक्त्वौघक्षयोपशमसम्यक्त्वरूपासु षट्सु मार्गणासु। प्रस्तुतबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः । 'असुहाण' इत्यादि, नियमा-द्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वेन सप्रतिपक्षाणामपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्त-गुणाधिकत्वासां जघन्यरसस्य विशुद्धया परावर्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात् । अशुभाश्चेमा अष्टौ—अप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकमस्थिराशुभेऽयशःकीर्तिनामेति । 'तित्थस्से' त्यादि, स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्यापि तथात्वात् । षट्स्थानगतत्वन्तु तज्जघन्यरसस्य मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यमा-नत्वात् । 'णियमा' इत्यादिद्वितीयार्योत्तरार्धं, नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च तास्त्रयोविंशतिः—पञ्चेन्द्रियजातिनाम समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी सुरद्विकवैक्रियद्विकमध्यादन्यतरास्तिस्रः प्रकृतयश्चेति । अथातिदिशति—'जिणस्से' त्यादि, 'एवं' ति अनन्तरोक्तवदेव, कुतः ? एतज्जघन्यरसबन्धस्यापि मिथ्यात्वाभिमुखेन जन्यत्वात् । नवरं शेषाणां चतुर्विंशतेरिति वाच्यम्, जिननाम्नः प्ररूपणाविषय-त्वेन सुरद्विकादीनां चतसृणामपि शेषास्वन्तर्भावात् ॥११५७-५८॥ अथ तत्रैव वज्रर्षभादिसत्कमाह -

णियमाऽणंतगुणहियं असुहाण वइरणरुरलदुगबंधी। मंदमुभ छठाणगगं णियमा चउवीससुणरजोग्गाणं ॥

(मूलगाथा-११५९)

(प्रे०) 'णियमा' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः, अनन्तगुणाधिकत्वासां जघन्यर-सस्य परावर्तमानपरिणामेन विशुद्धया वा जन्यत्वात् । अशुभाश्चेमाः-अप्रशस्तध्रुवबन्धिपञ्चकमस्थि-राऽशुभेऽयशःकीर्तिनाम चेत्यष्टौ। 'मंद' मित्यादि, षट्स्थानगतत्वं तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । शुभा मनुष्यप्रायोग्याश्चेमाः--पञ्चेन्द्रियजातिनाम प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी वज्रर्षभनामादि-पञ्चकमध्यादन्यतराश्चतस्रश्चेति चतुर्विंशतिः, अत्र जिननाम्नो बन्धो नैव भवतीति ॥११५९॥

अथ तत्रैव ज्ञानत्रिकादिमार्गणासु पञ्चेन्द्रियजात्यादिसत्कमाह—

एगस्स जहण्णरसं पणिदिसुहखगइआगिइधुवाओ । परघाऊसाससुहगतिगतसचउगाउ बंधंतो ॥
णियमाऽण्णाण जहण्णं उभ अजहण्ण रसं छठाणगयं। बंधइ सिआ सुरविउवणरुरलदुगवइरतित्थाणं ॥
अट्ठण्हं असुहाणं णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं । ओघव्व सण्णियासो आहारदुगासुहधुवाणं ॥

(मूलगाथा-११६०-६२)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखः। चकारस्य गम्यमानत्वात् पञ्चेन्द्रियजातिनामादित्रसचतुष्कपर्यन्तविंशतिमध्यादेकस्य जघन्यरसं बध्नातीति ज्ञेयम्। शेषं सुबोधम्। 'बंधइ' इत्यादि, पूर्वार्धगतानि 'जहण्ण'मित्यादीनि पञ्च पदानीहापि सम्बध्यन्ते। स्याद्बन्धस्तु तद्बन्धस्य भिन्नभिन्नस्वामिकत्वात्। 'अहुणहं' इत्यादि, अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य विशुद्धया परावर्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात्। नियमाद्बन्धस्तु संक्लिष्टस्य परावर्तमानानामशुभानामेव बन्धप्रवर्तनात्। अथ सप्तप्रकृतिविषयं प्रस्तुतमतिदिशति, 'ओघव्व' इत्यादिना। अतिदेशस्तु स्वामिसाम्यादिति ॥११६०-६२॥ अथ तत्रैव स्थिरादिप्रकृतिषट्कसत्कमाह—

लहुबंधी एगस्स तिथिराइजुगलाउ णेव पडिवक्खं। अण्णाण चउण्ह सिआ लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
णरसुरउरलविउवदुगवइरजिणाणं अणंतगुणअहियं। बंधेइ सिआ णियमा सेसाणं पंचवीसाए ॥

(मूलगाथा–११६३-६४)

(प्रे०) 'लहुबंधी' त्यादि, 'णेव पडिवक्खं' ति स्थिरनामबन्धकोऽस्थिरनाम न बध्नाति तद्बन्धकाश्च न स्थिरनाम, एवं शुभनामादिविषयमपि ज्ञेयम्। षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन जायमानत्वात्। 'णरे' त्यादि, दुगशब्दो नरादिचतुर्ष्वपि शब्देषु योज्यः। अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य संक्लेशसाध्यत्वात्, उत्तरार्धगतं 'सिआ' इति पदमिह योज्यम्। 'बंधेइ' इत्यादि, द्वितीयगाथोत्तरार्धम्। पूर्वार्धगतं चरमपदमिहापि योज्यम्। नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्, अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशेन विशुद्धया वा जन्यत्वात्। इमाश्च ताः पञ्चविंशतिः–पञ्चेन्द्रियजातिनाम, समचतुरस्रं, त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकञ्चेति। ॥११६३-६४॥ अथ मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां प्रकृतं विभणिषुरतिदेशद्वारेणाह—

आहारदुगपणअसुहधुवबंधीणं हवेज्ज मणणाणे। ओघव्व सण्णिग्रासो आहारदुगव्व सेसाणं ॥

(मूलगाथा–११६५)

(प्रे०) 'आहारदुगे' त्यादि; 'मणणाणे' त्ति मनःपर्यवज्ञानमार्गणायाम्। 'ओघव्व' इतिपदं पूर्वार्धे योज्यम्। कुत ओघवत्? तज्जघन्यरसबन्धस्वामिसाम्यात्। 'आहारदुगव्व' त्ति 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणाम्, इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः–देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिनाम पराघातोच्छ्वासजिननामानि त्रसदशकमस्थिराशुभायशःकीर्तिनामानि चेति एकत्रिंशदिति ॥११६५॥

अथाज्ञानत्रिकादिमार्गणासु प्रस्तुतं सापवादमतिदिशति—

अण्णाणतिगे मिच्छे णामाणोघव्व णवरि बधइ णो। तित्थाहारदुगाइं असुहधुवथिराइजुगलतिगबंधी ॥

(गीतिः) (मूलगाथा–११६६)

(प्रे०) 'अण्णाणे' त्यादि, अज्ञानत्रिकमार्गणासु मिथ्यात्वमार्गणायाञ्च। अतिदेशस्तु स्वामिसादृश्यात्। यथौघे तथेहापि तत्तत्प्रकृतिजघन्यरसबन्धस्य विशुद्धया संक्लेशेन परावर्तमान-

परिणामेन वा जायमानत्वादिति भावः । 'णवरि' इत्यादि, अयं विशेषः- एकादशानामप्रशस्त-ध्रुवबन्धिन्यादीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयता यथासम्भवं जिनाऽऽहारकद्विकरूपाणां तिसृणां बन्धं न करोतीति वाच्यम्, कुतः ? प्रस्तुतमार्गणासु चतुर्थादिगुणस्थानकानामभावेन तद्बन्धाभावात् ॥११६६॥ अथ संयमौघादिमार्गणास्वतिदिशति—

ओघव्व भवे संजमसमइअछेअपरिहारदेसेसु । आहारदुगस्स तहा जिणअपसत्थधुवबंधीणं ॥
तिथिराइगजुगलाणं आहारव्व इयराण वि हवेज्ज । णवरि ण तित्थं संजमसामाइअछेअदेसे सुं ॥
(मूलगाथा-११६७-६८)

(प्रे०) 'ओघव्वे'त्यादि, संयमौघः सामायिकचारित्रं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकं देशविरतिश्चेति मार्गणापञ्चके । आहारकद्विकस्य षण्णां जिननामादिनाम्नामौघवद् भवति, सन्निकर्ष-प्रस्तावे तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनां विशेषाभावात् । नवरं देशविरतिमार्गणायामाहारकद्विकस्य सन्निकर्षो न वाच्यः, बन्धाभावादिति । 'तिथिराइ' इत्यादि, स्थिरनामादित्रियुगलरूपाणां षण्णा-माहारककाययोगवद्भवति, अनन्तरोक्तादेव हेतोः । अपिशब्दः संग्राहकस्ततश्चोक्तेतरासामप्या-हारककाययोगवदेव । अत्र विशेषन्तु स्वयमाह-'णवरि' इत्यादिना, संयमौघादिमार्गणाचतुष्के उक्तशेषाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको जिननाम न बध्नाति, कुतः ? तासां जघन्यरसो मिथ्यात्वा-भिमुखेन बध्यते, चतसृषु प्रस्तुतमार्गणासु जिननामसत्कर्मणो जिननामबन्धकस्य च मिथ्यात्वा-भिमुखत्वायोगात् । इमाश्च ता उक्तेतराः शेषाः प्रकृतयः-देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकञ्चेति चतुर्विंशतिरिति ॥११६७-६८॥ अथायतमार्गणायां सविशेषमतिदिशति—

अजए ओघव्व भवे सप्पाउग्गाण सव्वणामाणं । णवर णाहारदुगं बंधइ असुहधुवलहुवन्नी ॥
(मूलगाथा—११६९)

(प्रे०) 'अजए' इत्यादि, गतार्थम् । नवरं 'सप्पाउग्गाण' त्ति आहारकद्विकस्यात्र बन्धा-भावात् तद्वर्जानां बोध्यः । अथ विशेषमाह-'णवरं' इत्यादि, कुतो न बध्नातीति ? इहोत्कृष्टतोऽपि चतुर्थस्यैव गुणस्थानकस्य भावात् ॥११६९॥

अथ लेश्यामार्गणायां विभणिषुः कृष्णलेश्यामार्गणायामतिदिशति—

किण्हाअ हवेज्ज असुहधुवाण णिरयव्व णवरि णेव जिणं । सेसाणोघव्व भवे णपुमव्व भवेत्ति विंति परे ॥
(मूलगाथा—११७०)

(प्रे०) 'किण्हाअ' इत्यादि, नरकवत्,यथा नरकौघमार्गणायां तज्जघन्यरसबन्धः सर्वविशु-द्ध्या जायते तथैवेहापि,नारकाणामपि तद्बन्धकत्वात् । 'णवरि' इत्यादि, अत्र जिननाम न बध्नाति कृष्णलेश्याकनारकाणां तद्बन्धाभावादिति । 'सेसाणे'त्यादि, अतिदेशस्तु यथा तत्तत्प्रकृतीनामोघे विशुद्ध्यादिना जघन्यरसो बध्यते तथैवेहापि । 'परे' त्ति महाबन्धकारादयः । कथमन्यथाति-दिशन्तीति चेत् ? देवानां परिहारार्थम् । ओघवदतिदिष्ट इह देवानामप्यन्तर्भावो ज्ञायते, परैस्तु

सोऽनभिप्रेतः, तन्मतेन प्रस्तुतमार्गणायां पर्याप्तकदेवानामप्रवेशेन तेषां जघन्यरसबन्धकत्वायोगात् ॥११७०॥

अथ नीलकापोतलेश्यामार्गणयोरुद्योतनामादीनां प्रस्तुतमतिदिशति—

उज्जोअउरलसुहधुवपरघाऊसासबायरतिगाणं । णीलाए काऊए सुरव्व णिरयव्व बिंति परे ॥

(मूलगाथा—११७१)

(प्रे०) 'उज्जोअ०'इत्यादि, 'सुरव्वे'त्यतिदेशस्तु एकेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियरूपमार्गणा-प्रायोग्यनिकृष्टस्थानद्वयप्रायोग्यबन्धकानां संग्रहार्थम्, अन्यथा तु नरकवदित्यतिदेशेनापि इष्टार्थ-सिद्धेः । 'परे' महाबन्धकारादयो नरकवदिति वदन्ति, प्रागुक्तादेव हेतोः ॥११७१॥

अथ तत्रैव नरकद्विकसन्कमाह—

मंदरसं बंधंतो एगस्स णिरयदुगाउ इयरस्स । तह हुंडकुखगइअथिरछक्काणं बंधए णियमा ॥
मदमहवा अमंद छठाणगयमणणिरयजोग्गाणं । बावीसाए णियमा बंधेइ अणतगुणअहियं ॥

(मूलगाथा—११७२-७३)

(प्रे०) 'मंदरसं' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानपरिणामी । 'इयरस्स' त्ति द्विकान्त-र्गतस्यान्यतरस्य । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'अण्णणिरये'त्यादि, कण्ठ्यम्, नवरमनन्तगुणाधिकं, तासां जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायमानत्वात् । इमाश्च ता द्वाविं-शतिः–पञ्चेन्द्रियजातिः, वैक्रियद्विकं त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्क-ञ्चेति । अत्र भावनादि सर्वमोघवत् ॥११७२-७३॥ अथ तत्रैव वैक्रियद्विकसन्कमाह—

एगस्स मंदबंधी विउव्वदुगाऽण्णस्स मंदमहव रसं । छट्ठाणगयं णियमाऽण्णणिरयजोग्गाणऽणंतगुणअहियं (गीतिः)

(मूलगाथा—११७४)

(प्रे०) 'एगस्स' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः, तिर्यग्मनुष्याणां तद्बन्धकत्वात् तीव्रसंक्लिष्टानां च तेषां प्रस्तुतमार्गणाऽपगमात् । षट्स्थानगतत्वन्तु तुल्यसंक्लेशेन तज्जघन्यरस-बन्धस्य साध्यत्वात् । 'ऽण्णणिरये'त्यादि, अनन्तगुणाधिकन्तु तासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमान-परिणामेन तीव्रसंक्लेशेन तीव्रविशुद्ध्या वा जायमानत्वात् ॥११७४॥

अथाऽऽतपनामादिसन्कं प्रकृतमतिदेशद्वाराऽऽह—

किण्हव्व आयवस्स उ होइ पणिंदियतसाण णिरयव्व । काऊअ जिणअसुहधुवबंधीणं होइ णिरयव्व ॥
असुहधुवबंधिणीणं णीलाए होइ किण्हलेसव्व । ओघव्व मुणेयव्वो दोसु वि सेसाण पयडीणं ॥

(मूलगाथा–११७५-७६)

(प्रे०) 'किण्हव्वे'त्यादि, आतपनाम्नः प्रस्तुतसन्निकर्षः कृष्णलेश्यामार्गणावद्भवति । कुतः ? स्वामिनोऽविशेषात्, यथा तत्र तथेहापि मतद्वयेन रूपणाया इष्टत्वात् । 'णिरयव्वे' त्यादि, त्रसनामपञ्चेन्द्रियजातिनाम्नोः प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकौघवद्भवति, तज्जघन्यरसबन्धस्य नरक-स्वामिकत्वात् । 'काऊअ' इत्यादि, उत्तरार्धम् । जिननामाशुभध्रुवप्रकृतीनां सन्निकर्षो नरकौ-

घवद्भवति, स्वामिनोऽविशेषात् । 'असुह' इत्यादि, नीललेश्यामार्गणायामशुभध्रुवप्रकृतीनां सन्निकर्षः कृष्णलेश्यावत्, अत्राऽपि नीललेश्याकनारकाणां जिननाम्नो बन्धाभावादिति । 'दोसु वि' इत्यादि, उक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षः कापोतनीललेश्यामार्गणयोरोघवद्भवति, तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनामोघतः कथञ्चिद् विसदृशत्वेऽपि सन्निकर्षप्ररूपणायां विशेषाभावात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः—मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं देवद्विकं जातिचतुष्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं स्थिरषट्कं स्थावरदशकं जिननाम चेति द्विचत्वारिंशत् । कापोतलेश्यायान्त्वेकचत्वारिंशत्, जिननाम्न इहैव पृथगतिदिष्टत्वात् ॥११७५-७६॥ अथ तेजोलेश्यामार्गणायामाह—

तेऊए विण्णेयो सुरविउवदुगाण उरलमीसव्व । णवरि ण तित्थं ओघव्वाहारदुगासुहधुवाणं ॥
सोहम्मव्वऽण्णेसिं णवरं तिथिराइजुगलबंधी तु । सुरविउवदुगुरलाणं मिश्रा खलु अणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा—११७७-७८)

(प्रे०) 'तेऊए' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां देवद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां चतसृणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वस्थानसन्निकर्ष औदारिकमिश्रमार्गणावद्भवति । यद्यपि तत्रैतज्जघन्यरसबन्धस्वामी सम्यग्दृष्टिरिह तु मिथ्यादृष्टिस्तथाप्युभयत्र स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टत्वेन साम्यादतिदेशः । 'णवरि' इत्यादि, गतार्थम्, मिथ्यादृष्टेर्जिननाम्नो बन्धाभावात् । निरुक्तप्रकृतिचतुष्कमध्यादन्यतमाया जघन्यं रसं बध्नन् जिननाम न बध्नातीति ज्ञेयम् । 'ओघव्वो' त्यादि, कण्ठ्यम् । अत्राप्याहारकद्विकस्य स्वाम्योघवदेव, अशुभध्रुवाणां त्वोघे जघन्यरसबन्धस्वामी क्षपक इह त्वप्रमत्तमुनिः, तथाप्युभयत्र बध्यमानप्रकृतीनां तुल्यत्वाद् विशुद्ध्या च तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्तनादयमतिदेशः । एवं पूर्वत्रोत्तरत्र यत्र यत्र स्वामिनामविशेषादिति हेतुर्दर्शितस्तत्र तत्र यथासंभवमयमभिप्रायो बोध्य इति । 'सोहम्मव्वो' त्यादि, अतिदेशस्त्वासां जघन्यरसबन्धका देवा इति कृत्वा । अथ विशेषं दर्शयति-'णवर' मित्यादिना, स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्तीति षण्णां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धको देवद्विकवैक्रियद्विकौदारिकशरीरनाम्नां रसमनन्तगुणाधिकं स्याच्च बध्नाति । अयं भावः—इह सौधर्मवदित्यतिदेशः । देवानां देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धो नास्ति, प्रस्तुतमार्गणायान्तु मनुष्यतिरश्च आश्रित्य तद्बन्धोऽस्ति । तथा देवानामौदारिकशरीरनाम्नो बन्धो नियमाद्भवति, प्रकृते तु मनुष्यतिरश्चामप्यन्तर्भावेन तेषाञ्च प्रस्तुतमार्गणागतानामौदारिकशरीरनाम्नो बन्धाभावेन तद्बन्धः स्याद्-वैकल्पिको भवति । देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्जघन्यरसः परावर्तमानमिश्रभावेन बध्यते अतोऽनन्तगुणाधिको रस उक्त इति । ॥११७७-७८॥ अथ पद्मलेश्यामार्गणायां सापवादमतिदिशन्नाह—

सुरविउवाहारगदुगअसुहधुवाण हवेज्ज पम्हाए । तेउव्व सोण्णयासो सणंकुमारव्व सेसाणं ॥
णवरं तिथिराइजुगलहुरसबंधी अणंतगुणअहियं । बंधेइ मिश्रा खलु सुरवेउव्वोरालियदुगाणं ॥
(मूलगाथा—११७९-८०)

(प्रे०) 'सुरे' त्यादि, 'पम्हाए' त्ति पद्मलेश्यामार्गणायां देवद्विकादीनामेकादशप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षस्तेजोलेश्यामार्गणावद्भवति । कुतः ? तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनामविशेषात् । 'सणं-

कुमारव्वे' त्यादि, तत्र 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणाम्, अतिदेशस्तु सनत्कुमारसुराणां मार्गणाप्रविष्टत्वात् । 'णवरं'ति अयं विशेषः। विशेषोऽपि तेजोलेश्यामार्गणावद्भावनीय इति॥११७९-८०॥

अथ शुक्ललेश्यायाम्—

सुरविउवाहारगदुगअसुहधुवाणं हवेज्ज सुक्काए । तेउव्व सण्णियासो सेसाणं आणतसुरव्व ॥
णवरं तिथिराइजुगललहुरसबंधी अणंतगुणअहियं । बंधेइ सिआ णरसुरवेउव्वोरालियदुगाणं ॥
(मूलगाथा-११८१ ८२)

(प्रे०) 'सुरे' त्यादि, तेजोवदित्यतिदेशस्तु इहापि तेजोलेश्यामार्गणावद् यथासम्भवं मनुष्यतिरश्चामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । 'सेसाण' मित्यादि, अतिदेशस्तु सुराणां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । 'णवरं' ति अयं विशेषः । कुतोऽयं विशेषः ? प्रागुक्तादेव हेतोः । ॥११८१-८२॥ अथाभव्यमार्गणायामाह—

एगस्स मंदबंधी असुहधुवाउ णियमेयराण लहुं । अलहुं व छठाणगयं अभवम्मि सिआ तिरिदुगस्स ॥
णियमाहिन्तो बंधइ अणंतगुणिअहियं पणिंदिस्स । सुखगइआगिइधुवपरघाऊसासतसदसगाणं ॥
णरसुरउरलविउवदुगवइरुज्जोआणऽणंतगुणअहियं। बंधेइ सिआऽण्णेसिं सप्पाउग्गाण ओघव्व ॥
(मूलगाथा-११८३-८५)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, तत्र 'अभवम्मि' त्ति अभव्यमार्गणायाम् । शेषं सुबोधम् । नवरं तिर्यग्द्विकस्य स्याद्बन्धः, सुविशुद्धस्यापि प्रस्तुतमार्गणावर्तिनः सप्तमपृथ्वीनारकस्य तद्बन्धसद्भावात् ,तादृशस्य शेषत्रिगतिकस्य तद्बन्धाभावाच्च। 'णियमाहिन्तो'इत्यादि,गतार्थम् । नवरं चकारस्य गम्यमानत्वात् पञ्चेन्द्रियादित्रसदशकात्रसानानां त्रयोविंशतेर्ज्ञेयम् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वन्त्वासां जघन्यरसबन्धस्य विशुद्धपरिणामेनाजन्यत्वात् । 'णरे' त्यादि, अनन्तगुणाधिकमनन्तरोक्तादेव हेतोः । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नगतिकबन्धकानाश्रित्य ज्ञेयः । 'ऽण्णेसिं' ति उक्तव्यतिरिक्तानाम् , अतिदेशस्तु यथा तत्रौघे यासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धो विशुद्ध्यादिना तथैवेहापि । 'सप्पाउग्गाण' त्ति आहारकद्विकजिननामवर्जानाम् । उक्तव्यतिरेकाः प्रकृतयस्तु त्रिषष्टिः, पञ्चानामप्रशस्तानामुक्तत्वात् आहारकद्विकजिननाम्नोश्च बन्धाभावात् । अत्र कश्चिद्विशेषस्तु व्याख्यानतोऽवगन्तव्यः, तद्यथात्रिस्थिरादियुगरूपाणां षण्णां जघन्यरसबन्धकस्य जिननामबन्धो न वाच्यः, इह प्रथमगुणस्थानकस्यैव भावात् । ओघे तु सोऽस्ति, चतुर्थादिगुणस्थानकेष्वपि स्थिरादीनां परावृत्त्या बन्धप्रवर्तनात् । ॥११८३-८५॥ अथ क्षायिकमार्गणायां सापवादमतिदिशति—

सव्वाणोहिव्व भवे खइए णवरि लहुसुभ छठाणगयं । तित्थस्स सिआ बंधइ णरुरलदुगवइरलहुबंधी ॥
तित्थस्स मंदबंधी जहण्णमहवा छठाणगयमियरं । बंधेइ सिआ णरसुरउरालविउवदुगवइराणं ॥
(मूलगाथा-११८६-८७)

(प्रे०) 'सव्वाणे' त्यादि, 'खइए' त्ति क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायाम् , अतिदेशस्तु तज्ज-

घन्यरसबन्धस्वामिनां प्रायः सादृश्यात् । अथ विशेषमाह-'णवरि' त्यादिना । अत्रायं भावः--अवधिमार्गणायां मनुष्यद्विकादीनां जघन्यो रसो मिथ्यात्वाभिमुखेन देवेन नारकेण वा बध्यते, ततस्तेन जिननाम न बध्यते, मनुष्यवर्जानां मिथ्यात्वाभिमुखानां जिननाम्नो बन्धाभावात् । इह तु मनुष्यद्विकादीनां जघन्यरसः स्वस्थानसंक्लिष्टेन देवेन नारकेण वा बध्यते, तस्य च जिननामबन्धाप्रतिषेध इति । तथा 'तित्थस्स' इत्यादि, अयम्भावः–अवधिमार्गणायां जिननाम्नो जघन्यरसबन्धको मनुष्य एव तस्य च सम्यक्त्वबलेन देवप्रायोग्याणामेव प्रकृतीनां बन्ध', ततश्च देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्नियमाद्बन्धः प्रवर्त्तते । प्रस्तुतमार्गणायान्तु देवनारकाणामपि तज्जघन्यरसबन्धोऽस्ति अतस्तानाश्रित्य मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचानां बन्ध उपलभ्यते । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नगतिकस्वामिन आश्रित्य । षट्स्थानगतन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य तुल्यसंक्लेशजन्यत्वात् । ॥११८६-८७॥ अथ मिश्रदृष्टिमार्गणायां सापवादमतिदिशति—

मीसे असुहधुवाणं कम्मव्व परं ण बंधए तित्थं । सेसाणोहिव्व णवरि ण चेव बंधेइ जिणणामं ॥

(मूलगाथा-११८८)

(प्रे०) 'मीसे' इत्यादि, तत्र 'मीसे' त्ति मिश्रदृष्टिमार्गणायाम् । 'कम्मव्व' त्ति कार्मणकाययोगमार्गणावत् । अतिदेशस्तु यथा तत्र तथेहापि तज्जघन्यरसस्य विशुद्ध्या जन्यत्वात् । 'पर' मितिपदं विशेषद्योतकम्, कुतोऽयं विशेषः?, प्रकृतमार्गणायास्तद्बन्धप्रायोग्यगुणस्थानकविरहितत्वात् । 'सेसाणे'त्यादि, स्वप्रायोग्याणामिति गम्यते, शेषं सुबोधम् । अतिदेशस्तु परावर्तमानत्वादीनाश्रित्य तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनामविशेषात् । संभाव्यमानं विशेषन्त्वाह -'णवरि'इत्यादिना,अयम्भावः-जिननामाऽत्र न बध्यत अतो यस्याः प्रकृतेर्जघन्यरसबन्धेन सह जिननाम्नो बन्धोऽवधिमार्गणायामुक्तस्तस्या जघन्यरसबन्धसन्निकर्षं प्ररूपयताऽत्र जिननामबन्धो न वाच्यः, मार्गणायास्तद्बन्धानर्हत्वात् । ॥११८८॥ अथ सास्वादनमार्गणायां प्रकृतं विभणिषुस्तिर्यग्द्विकादिसत्कमतिदेशादिनाऽऽह—

तिरिसुरदुगाण ओघव्व सासणे णरदुगाउ एगस्स । लहुबंधी णियमा लहुमुभ छट्ठाणगयमणणस्स ॥
धुवउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमाहिन्तो बधइ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं । संघयणआगिइ रणगदुखगइछथिराइजुगलाणं ॥

(मूलगाथा-११८९-९१)

(प्रे०) 'तिरिसुरे' त्यादि, 'सासणे' त्ति सास्वादनमार्गणायाम् । 'तिरि' इत्यादि, तिर्यग्द्विकस्य सुरद्विकस्य च प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, ओघवदिहापि तिर्यग्द्विकस्य सप्तमपृथ्वीनारकस्यैव, सुरद्विकस्य पुनः परावर्तमानपरिणामिन एव जघन्यरसबन्धकत्वात् । 'णरदुगाउ' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी । 'धुव' त्ति त्रयोदश ध्रुवबन्धिन्यः । शेषं गतार्थम् । नवरमनन्तगुणाधिकस्वामां जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायमानत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'बंधइ' इत्यादि, तृतीयार्या । गतार्था । षट्स्थानगतत्वामामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् ॥११८९-९१॥

अथ तत्रैव प्रशस्तध्रुवादिसत्कमाह—

सुधुवपणिंदिउरलदुगपरघाऊसासतसचउक्काओ । एगस्स मंदबंधी णियमाऽणाण लहुमुभ छठाणगयं ॥गीविः
पंचमसंघयणागिइकुखगइअसुहधुवअथिरछक्काणं । तिरियदुगस्स य णियमा बधेइ अणंतगुणअहियं ॥
उज्जोअस्स जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं । बंधेइ सिआ एवं हवेज्ज उज्जोअणामस्स ॥
(मूलगाथा–११९२-९४)

(प्रे०) 'सुधुवे' त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः । नवरं षट्स्थानगतं, सर्वासां जघन्यरसस्य संक्लेशजन्यत्वात् । 'पंचमे' त्यादि, तत्राऽनन्तगुणाधिकं पञ्चमसंहननादीनां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेनाप्रशस्तध्रुवबन्धितिर्यग्द्विकानाञ्च विशुद्ध्या जन्यत्वात् । 'उज्जोअस्से' त्यादि, षट्स्थानगतत्वन्त्वेतज्जघन्यरसस्यापि संक्लेशजन्यत्वात् । स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् । 'एव' मित्यादि, उद्योतनाम्नः प्रस्तुतस्वस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद्भवति । यत एतज्जघन्यरसबन्धस्वाम्यपि तीव्रसंक्लिष्टः । कश्चिद् विशेषस्तु स्वयं बोध्यः, तद्यथा–प्रथमगाथोत्तरार्धगतस्य 'ऽणाण' इति पदस्य स्थाने 'सव्वाणं' ति ज्ञेयम् , सर्वासां तदन्यत्वात् । तथा तृतीयगाथापूर्वार्धगतानि 'उज्जोअस्से' त्यादीनि पदानि नैव वाच्यानि, कुतः ? उद्योतनामजघन्यरसबन्धसन्निकर्षस्यैव प्रस्तुतत्वात् ॥११९२-९४॥

अथाऽत्रैव वैक्रियद्विकस्य सन्निकर्षमाह—

एगस्स मंदबंधी विउव्वदुगाऽण्णस्स मंदमियरं व । णियमाऽणंतगुणहियं थिरसुहजसवज्जदेवजोग्गाणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा–११९५)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गमध्ये एकस्य जघन्यरसबन्धकस्तदितरस्य रसं जघन्यमजघन्यं वा षट्स्थानपतितं बध्नाति । स्थिरशुभयशोवर्जदेवयोग्यप्रकृतीनां रसमनन्तगुणाधिकं नियमाच्च बध्नाति, आसां जघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशेनाबध्यमानत्वात् प्रस्तुतप्रकृत्योः पुनस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन बध्यमानत्वात् । अस्थिराशुभायशःकीर्त्तीनां नियमाद्बन्धः, एतावत्संक्लेशे परावर्तमानाशुभप्रकृतीनामेव बन्धात् । इमाश्च ताः शेषसुरप्रायोग्यप्रकृतयः-देवद्विकपञ्चेन्द्रियजातिध्रुवत्रयोदशसमचतुरस्रसुभखगतिपराघातोच्छ्वासत्रसचतुष्कसुभगत्रिकास्थिराशुभायशःकीर्त्तिनामानीति । ॥११९५॥ अथ वज्रर्षभनाराचसत्कमाह—

वइरस्स मंदबंधी सिआ लहुमहव छठाणगयमलहुं । णरदुगपणागिईणं दुखगइछथिराइजुगलाणं ॥
धुवउरलदुगपणिंदियपरघाऊसासतसचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणहियं तिरिदुगउज्जोअगाण सिआ ॥
(मूलगाथा–११९६-९७)

(प्रे०) 'वइरस्से'त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामी । 'दुखगइ' त्ति खगतिद्विकम् । शेषं गतार्थम् । 'धुवे' त्यादि, पठितसिद्धम् । नवरं नियमाद्बन्धः , प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वेतासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन जन्यत्वाभावात् । 'तिरिदुगे' त्यादि, 'अणंतगुणहिय' मित्यत्रापि योज्यते, हेतुरनन्तरोक्तः । स्याद्बन्धस्तु, तिर्यग्द्विकस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । उद्योतनाम्नस्तु बन्धस्यैव कादाचित्कत्वात् ॥११९६-११९७॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वाद् मध्यमसंहननादीनां प्रकृतमनन्तरोक्तवदतिदिशति—

एवं मज्झिमसंघयणागिइ-दुहगतिगकुखगईण भवे । एवं सुखगइआगिइथिरछगअथिरदुगअजसाण ॥
णवरि अणंतगुणहियं सिआ उरालियविउव्वियदुगाणं । कुणइ सुरदुगस्स सिआ लहुं उअ छठाणगयमलहुं ॥
(मूलगाथा-११९८-९९)

(प्रे०) 'एव' मित्यादि, अनन्तरोक्तवदेव मध्यमसंहननचतुष्कादीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षो भवति, तासामप्रशस्तत्वेऽपि तज्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामेन जन्यत्वात् । 'एव' मित्याद्युत्तरार्धम्, सुखगतिनामादीनामेकादशानामपि तद्वदेव । 'अथिरदुग' त्ति अस्थिराशुभनाम्नी । अथ विशेषं दर्शयति—'णवरि'इत्यादि, अक्षरार्थः सुगमः । भावार्थस्त्वेवम्—वज्रर्षभनाराचजघन्यरसबन्धकस्तु मनुष्यतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकस्ततस्तस्यौदारिकद्विकस्य बन्धो नियमाद्भवति, सुखगत्यादीनां जघन्यरसबन्धका हि चतुर्गतिकाः, ततोऽस्य स्याद्बन्धो भवति, ततश्च औदारिकद्विकस्य वैक्रियद्विकस्य च वैकल्पिको बन्धो भवतीति, यतो देवप्रायोग्यबन्धकानाश्रित्य वैक्रियद्विकस्य तथा मनुष्यप्रायोग्यबन्धकानाश्रित्यौदारिकद्विकस्य बन्धः प्राप्यत इति । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य संक्लेशजन्यत्वात्, प्रस्तुतबन्धकानां च परावर्त्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । 'सुरे' त्यादि, अयम्भावः—वज्रर्षभनाराचसंहननबन्धकस्य मनुष्यतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वेन देवद्विकवैक्रियद्विकयोर्बन्धो नास्ति, प्रशस्तविहायोगतिनामादिबन्धकानां तु तद्बन्धो देवप्रायोग्यबन्धकानाश्रित्य न विरुध्यते । स्याद्बन्धस्तु मनुष्यप्रायोग्यबन्धकानां देवद्विकस्य बन्धाभावात् । षट्स्थानगतन्त्वेतज्जघन्यरसबन्धस्यापि परावर्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् ॥११९-८९९॥

अथ तत्रैवाप्रशस्तध्रुवबन्धिनीसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी असुहधुवाउ णियमेयराण लहुं । अलहुं व छठाणगयं बंधेइ सिआ तिरिदुगस्स ॥
णरसुरउरलविउवदुगवइरुज्जोआणऽणंतगुणअहियं । बंधेइ सिआ णियमा तेवीसाअ सुहसेसाणं ॥
(मूलगाथा—१२००-१)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, अक्षरार्थः सुगमः । नवरं प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वेऽपि तिर्यग्द्विकस्य बन्धस्तु सप्तमपृथ्वीनारकानाश्रित्य ज्ञेयः । स्याद्बन्धो हि प्रस्तुतमार्गणागतानामेतादृग्विशुद्धिविशुद्धानां शेषगतिकानां तद्बन्धाभावात् । 'णरसुरे' त्यादि, उत्तरार्धगतं 'सिआ' इति पदमत्र सम्बध्यते । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नगतिकबन्धकानाश्रित्य । अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन संक्लेशेन वा जन्यत्वात् । 'तेवीसाअ' इत्यादि । पूर्वार्धस्थं 'ऽणंतगुणअहिय'मिति पदमत्रापि योजनीयम् । अनन्तगुणाधिकत्वे हेतुरनन्तरोक्तः । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृत्यभावात् तद्बन्धाभावाद्वा । इमाश्च तास्त्रयोविंशतिः—पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकञ्चेति । इति गतं सास्वादनमार्गणायां नामकर्मप्रकृतिजघन्यरसबन्धस्य स्वस्थानसन्निकर्षनिरूपणम् ।

गते च तस्मिन् समाप्तमादेशतो मार्गणासु प्रस्तुतनिरूपणम्, तस्मिंश्च समाप्ते निष्ठितमिदं स्वस्थानसन्निकर्षप्ररूपणम् ॥१२००-१॥

अथ परस्थान-संनिकर्षः

अथोत्कृष्टादिरसबन्धस्य परस्थानसंनिकर्षं निरूरूपयिषुरादौ तावदुत्कृष्टरसबन्धमत्कं तमोघतो दर्शयंस्तावदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादिसत्कमाह—

असुहधुवअसायणपुम-सोगारइहुण्डणीअगोआओ । तह पणअथिराईओ बंधंतो तिव्वमेगस्स ॥
णियमाऽण्णाण गुरुं उअ छट्ठाणगयमगुरुं कुणेइ सिआ । णिरयतिरिदुगेगिंदिय-थावरछेवट्ठकुखगइसराणं ॥
विउवु·लायवदुग-तसपणिंदियाण व अणंतगुणहीणं । बंधइ णियमा सुहधुव-परघाऽसासबायरतिगाण ॥

(द्वि० तृ० गीतिः) (मूलगाथा–१२०२-४)

(प्रे०) '**असुहधुवे**'त्यादि, अशुभध्रुवास्त्रिचत्वारिंशत् । अशुभध्रुवादीनामेकोनपञ्चाशत्प्रकृतीनां मध्यात् '**पणअथिराईओ**' त्ति दुःस्वरस्य वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जस्थिराद्ययशःकीर्तिपर्यवसानानां पञ्चानाञ्च मध्यादेकस्याः प्रकृतेरुत्कृष्टरसं बध्नन् '**णियमाऽण्णाण**'त्ति अन्यासां तदितरासां त्रिपञ्चाशतः प्रकृतीनां रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा बध्नाति । सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु तीव्रसंक्लेशसद्भावे परावर्तमानाप्रशस्तप्रकृतीनामपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । '**णिरये**' त्यादि, द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । पूर्वार्धस्थानि 'गुरु' मित्यादीनि षट्पदानीह योज्यानि, रसस्योत्कृष्टत्वादौ पूर्वोक्त एव हेतुः । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नगतिकबन्धकानाश्रित्य, तद्यथा–नरकद्विकोत्कृष्टरसबन्धकाः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याः, न शेषगतिकाः, तिर्यग्द्विकसेवार्त्तोत्कृष्टरसबन्धका देवनारकाः, न शेषाः, एकेन्द्रियस्थावरनामोत्कृष्टरसबन्धनिर्वर्त्तका ईशानान्तसुराः न शेषचतुर्गतिकाः, कुखगतिदुःस्वरनामोत्कृष्टरसबन्धका ईशानान्तसुरवर्जाश्चतुर्गतिकाः नेशानान्तसुरा अपीति । '**विउवे**' त्यादि, वाकारोऽत्र विकल्पार्थकस्ततश्चासां वैकल्पिको बन्धस्स्याद्बन्ध इति भावः, अनन्तरोक्तादेव हेतोः । अनन्तगुणहीनं त्वासां प्रशस्तत्वेनैतदुत्कृष्टरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात् । '**बंधइ**' इत्यादि तृतीयगाथोत्तरार्धम् । 'अणंतगुणहीण' मिति पदमत्राऽपि योज्यते, अनन्तगुणहीनत्वे हेतुरनन्तरोक्तः । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्त-प्रत्येक बादरप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥१२०२-४॥

अथौघत एव सातवेदनीयाद्युत्कृष्टरसबन्धसंनिकर्षमाह—

एगस्स तिव्वबंधी सायजसुच्चाउ दोण्ह तिव्वं तु । णियमा ऽणंतगुणूणं णवावरणपंचविग्घाणं ॥

(मूलगाथा—१२०५)

(प्रे०) '**एगस्से**' त्यादि, तुरेवार्थकस्ततश्च '**तिव्वं**' इत्युत्कृष्टमेव बध्नाति, न तु षट्स्थानपतितमपि, प्रस्तुतबन्धकस्य दशमगुणस्थानचरमसमयक्षपकत्वेनोत्कृष्टरसबन्धाध्यवसायस्य नानात्वाभावात् । '**णियमा**' इत्याद्युत्तरार्धम् । अनन्तगुणहीनं तु तासामप्रशस्तत्वात् । '**णव**' त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं चेति ॥१२०५॥ अथ स्त्रीवेदसत्कमाह—

थीअ गुरुं बंधंतो आगिइसंघयणतितुरियाईण । तह उज्जोअस्स सिआ बंधेइ अणंतगुणहीणं ॥

णियमा धुवसोगारइअसायतिरिउरलदुगपणिंदीणं। परघा-ऊसासअथिरछक्कतसचउगकुखगइणीआणं ॥
(द्वि-गीतिः) (मूलगाथा—१२०६-७)

(प्रे०)'थीअ' इत्यादि, तत्र 'थीअ' त्ति स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसं बध्नन्। 'आगिइ' इत्यादि, चतुर्थादीनां संस्थान-संहनननाम्नां प्रत्येकं रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति, अनन्तगुणहीनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वेऽपि चतुर्थप्रमुखसंस्थाननाम्नामप्रशस्तत्वे सत्युत्कृष्टपदे दीर्घतरस्थितिकत्वात्, स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्यसंक्लेशतोऽधिकसंक्लेशेनैव तेषामुत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वादिति भावः। स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। 'उज्जोअरसं' त्यादि, 'सिआ' इत्यादीनि त्रीणि पदानीहाऽपि सम्बध्यन्ते, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृत्यभावेऽपि तद्बन्धस्य कादाचित्कत्वात्। अनन्तगुणहीनं तु तदुत्कृष्टरसस्य विशुद्धिजन्यत्वात्। 'णियमा' इत्यादि, द्वितीयगाथा। अनन्तरगाथागतम् 'अणंतगुणहीण' मिति पदमिहानुवर्त्तते, अनन्तगुणहीनन्त्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लिष्टेन विशुद्धेन वा जन्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्तु न तथा, अस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात्। अत्र 'धुवे' त्यनेनैकपञ्चाशद्ध्रुवबन्धिन्यः। 'दुग' शब्द उभयत्र योजनीयस्तेन तिर्यग्द्विकमौदारिकद्विकञ्च। अत्रेदं बोध्यम्—यथा स्त्रीवेदस्तथैव मनुष्यद्विकमप्युत्कृष्टपदे पञ्चदशकोटीकोटीसागरोपमस्थितिकं तथापि संक्लेशे सति मनुष्यद्विकस्य बन्धो विरमति, शुभत्वात्। ततस्तिर्यग्द्विकस्य नियमाद्बन्धः प्रवर्त्ततेऽन्यथा परावृत्त्या बन्धप्रवर्त्तनेन स्याद्बन्धो भवेत्, किन्तु तथा नास्ति। स्त्रीवेदबन्धकस्य नरकप्रायोग्यो बन्धो नास्ति, नारकाणां केवलं नपुंसकत्वात्। स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य संक्लिष्टत्वेन नापि तस्य देवप्रायोग्यो बन्धः; देवप्रायोग्यबन्धकेस्तूत्कृष्टतोऽपि दशकोटीकोटीसागरमिता स्थितिर्बध्यते, प्रस्तुतबन्धकस्तु पञ्चदशकोटीकोटीसागरोपममितायाः स्थितेर्बन्धकस्तस्मादौदारिकद्विकस्य तिर्यग्द्विकस्य च नियमाद्बन्ध इत्युक्तम् ॥१२०६-७॥ अथ बहुतुल्यवक्तव्यत्वात्पुरुषवेदस्य सापवादमतिदिशति—

एमेव पुमस्स णवरि बंधेइ सिआ अणंतगुणहीणं। तिरिणरदुगदुइअनइअआगिइ-संघयणणामाणं ॥
(मूलगाथा—१२०८)

(प्रे०)'एमेवे' त्यादि, 'पुमस्स' त्ति पुरुषवेदस्य परस्थानोत्कृष्टरसबन्धसंनिकर्षः, अनन्तरोक्तस्त्रीवेदप्रकृतिवद्भवति। अत्राऽपि देवद्विकहास्यरत्यादीनां तुल्यस्थितिकत्वेऽपि प्रागेव बन्धविच्छेदात् तद्बन्धाभावो वाच्यः। अत्र विशेषमाह-'णवरि' इत्यादि। अयं भावः—प्रस्तुतबन्धको दशकोटिकोटीसागरोपममितायाः स्थितेर्बन्धकस्तत उत्कृष्टरसबन्धकोऽपि मनुष्यद्विकं बन्द्धुमर्हति, तेनोभयद्विकस्य स्याद्बन्ध उक्तः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। तथा द्वितीय-तृतीयसंस्थान-संहनननाम्नां बन्धोऽत्राऽस्ति, पुरुषवेदोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया तेषां दीर्घतरस्थितिकत्वात्। स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य तु तेषां बन्धो नाऽभूत्, स्त्रीवेदापेक्षयाऽल्पतरस्थितिकत्वात् ॥१२०८॥ अथ रति-हास्ययोराह—

एगस्स तिव्वरसी रइहस्साउ इयरस्स बंधेइ। णियमा जेट्ठं अहव छट्ठाणगयं रसमजेट्ठं ॥
बंधेइ धुवोरालिय-असाय-पंचअथिराइणीआणं। णियमाऽणंतगुणूण सिआ तिवेअपणजाईणं ॥

पणसंघयणागिइ-तिरि-णरदुगुरलुवंगकुखगइसराणं । परघा-ऊसासा-थावरचउक्काणं ॥
(मूलगाथा--१२०६-११)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, सुगमम् । 'बंधेइ' इत्यादि द्वितीयार्यापूर्वार्धम् । उत्तरार्धस्थं 'णियमा' इत्यादिपदद्वयमिह योज्यम् । अनन्तगुणोनन्तु तासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशादिना जन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इति । देवप्रायोग्यबन्धकस्य हास्य-रतिसत्कोत्कृष्टरसबन्धाभावात्, नरकप्रायोग्यबन्धकस्य प्रकृतिबन्धविरोधेन तद्बन्धाभावाच्चेहौदारिकशरीरनाम्नो बन्धो नियमाद् इत्युक्तम् । 'पंचथिराइ' इत्यनेन दुःस्वरवर्जा ज्ञेयाः, आसां नियमाद्बन्धः, संक्लेशाधिक्येन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावादिति । 'तिवेअ' इत्यादि, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावाद्, अनन्तगुणोनन्त्वासामुत्कृष्टरसस्याधिकतरसंक्लेशजन्यत्वात् । यद्यपि पुरुषवेद उत्कृष्टपदे हास्यरतितुल्यस्थितिकस्तथापि पुरुषवेदोत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्याध्यवसाय-स्थानादर्वागेव हास्य-रतिबन्धव्युच्छित्तेः पुरुषवेदस्याप्यनन्तगुणहीनो रस उक्तः । पुरुषवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य तु शोकाऽरतिबन्धप्रवर्त्तनेन हास्यरतिबन्धाभाव एवेति । 'पणसंघयणे' त्यादि, तृतीयगाथा । 'अणंतगुणूणं सिआ' इति पदद्वयमिहानुवर्त्तते, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनात् । अनन्तगुणोनन्त्वासामुत्कृष्टरसस्य भिन्नसंक्लेशादिस्थानजन्यत्वात् । 'पणसंघयणागिइ' इत्यनेनाऽऽद्यवर्जानि तानि ज्ञेयानि, आद्यसंहनन-संस्थानयोर्हास्य रतितुल्यस्थितिकत्वेऽपि तयोः प्रशस्तत्वेन हास्य-रत्युत्कृष्टरसबन्धकस्य तद्बन्धाऽभावात् । शेषं सुगमम् ॥१२०९ ११॥ अथ नरकायुःसत्कमाह–

णिरयाउ-तिव्वबंधी बंधेइ रसं अणंतगुणहीणं । णियमा पणसयरीए सेसाणं णिरयजोग्गाणं ॥
(मूलगाथा–१२१२)

(प्रे०) 'णिरयाउ०' इत्यादि, गतार्थम् । नवरमनन्तगुणोनन्तु तासामुत्कृष्टरसस्य विशुद्ध्या तीव्रसंक्लेशस्थानेन वा जन्यत्वात् । इमाश्च ताः पञ्चसप्ततिः-एकपञ्चाशद्ध्रुवबन्धिन्यो नरकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं हुण्डकमप्रशस्तविहायोगतिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नो त्रसचतुष्कमस्थिरषट्कमसातवेदनीयं शोकारती नपुंसकवेदो नीचैर्गोत्रञ्चेति ॥१२१२॥

अथ तिर्यगायुःसम्बन्धिनमाह

तिरियाउतिव्वबंधी सिआ दुवेअजुगवेअणीआणं । तह उज्जोअथिराइतिजुगलाण अणंतगुणहीणं ॥
णियमा धुवुरलतिरिदुगपणिंदिसुहगतिगतसचउक्काणं । सुखगइसंघयणागिइ-परघा-ऊसास-णीआणं ॥
(मूलगाथा–१२१३-१४)

(प्रे०) 'तिरियाउ०' इत्यादि, दुशब्दस्य सर्वत्र योजनात्-पुरुषवेदस्त्रीवेदरूपौ द्वौ वेदौ, द्वे च हास्य-रति-शोका-ऽरतिरूपे युगले, द्वे च वेदनीये इति । 'थिराइतिजुगल' त्ति स्थिराऽस्थिरे शुभाऽशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तीति षट्प्रकृतयः । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । उद्योतनाम्नस्तु बन्धस्यैव कादाचित्कत्वात् । नपुंसकवेदस्य वर्जनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य युगलिकतिर्यक्प्रायोग्य-

बन्धकत्वात्। अनन्तगुणहीनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वे सत्यासामुत्कृष्टरसस्य संक्लेशेन भिन्नविशुद्धिस्थानेन वा जन्यत्वात्। **'णियमा'** इत्यादि, द्वितीयगाथा। गतार्था। नवरं सुशब्दस्याऽग्रेऽपि सम्बन्धात् सुखगतिनाम, सुसंहननं वज्रर्षभनाराचसंहननमित्यर्थः, स्वाकृतिः समचतुरस्रसंस्थाननामेत्यर्थः, प्रस्तुतबन्धकस्य युगलिकप्रायोग्यबन्धकत्वेन शेषसंहननसंस्थाननामबन्धात्। तथास्य तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वेन नीचैर्गोत्रस्यैव बन्धः, न तत्प्रतिपक्षस्योच्चैर्गोत्रस्यापि, अत उक्तं नियमाद्बन्ध इति ॥१२१३-१४॥

अथ मनुष्यायुःसत्कमतिदेशद्वारेणाह—

मणुआउस्सेवं तिरिदुगणीअथले उ णरदुगुच्चाणि। देवाउतिव्वबंधी तित्थाहारजुगलाण सिआ ॥
कुणइ अणंतगुणूणं णियमा सेससुहदेवजोग्गाणं। तह पुमरइहस्साणं असुहधुवाण सगवीसाए ॥
(मूलगाथा-१२१५-१६)

(प्रे०) **'मणुआउस्स'** इत्यादि, तत्र 'एव'मित्यनन्तरोक्तवदेव। अथ विशेषमाह-तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः स्थलेऽत्र मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे वाच्ये, कथम्? प्रस्तुतबन्धको मनुष्यप्रायोग्यप्रकृतीर्बध्नात्यतो मनुष्यद्विकं युगलिकप्रायोग्याश्च बध्नात्यतो नियमादुच्चैर्गोत्रमिति। अत्रोद्योतनाम्नो बन्धाभावः ज्ञातव्यः, प्रकृतिबन्धविरोधात्। अथ देवायुःसत्कमाह— **देवाउ'** इत्यादि, स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात्। *'अणंतगुणूण'मित्यग्रेतनगाथात इहापि योज्यम्, अनन्तगुणहीनन्तु प्रस्तुत*बन्धकस्य सप्तमगुणस्थानकवर्त्तित्वात् जिननामादीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य तु क्षपकश्रेण्यां निवृत्तिबादरगुणस्थानके प्रवर्त्तनात्। **'कुणइ'** इत्यादि, द्वितीयगाथा। अनन्तगुणोनन्त्वायुरुत्कृष्टरसबन्धकाले कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धस्याजन्यत्वात्। इदमत्र बोध्यम्—चतुर्णामप्यायुषां ज्येष्टरसबन्धावसरे बध्यमानप्रकृतीनां रसोऽनन्तगुणहीनः प्रतिपादितस्तेनाऽऽयुर्वर्जशेषप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धावसरे आयुषामबन्ध एव ज्ञातव्यः, अत एव ताभिस्सहाऽऽयुषामनिर्देश इति। शेषदेवयोग्याश्शुभास्सप्तविंशतिस्ताश्च प्रतीताः। **'सगवीसाए'** त्ति प्रस्तुतबन्धकस्य सप्तमगुणस्थानकवर्त्तित्वेन शेषाऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां बन्धाभावात् ॥१२१५-१६॥

अथ नरकद्विकादिसत्कमाह—

णिरयतिरिदुगेगिंदिय-छिवट्ठथावरकुखगइसरबधी। णामाण सठाणव्व उ णाणावरणव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा-१२१७)

(प्रे०) **'णिरये'** त्यादि, दुगशब्दस्योभयत्र योजनान्नरकद्विकं तिर्यग्द्विकञ्च। कुशब्दस्याग्रेऽपि सम्बन्धात् कुखगतिः, कुस्वरो दुःस्वरश्चेत्यर्थः। **'बंधी'** त्ति तासां नवानामुत्कृष्टरसबन्धकः। **'सेसाणं'** ति प्रस्तुतबन्धको बन्धार्हाणां नामायुर्वर्जशेषषट्कर्मसत्कोत्तरप्रकृतीनां रसं **'णाणावरण'** त्ति यावन्तं मतिज्ञानावरणाद्युत्कृष्टरसबन्धको बध्नाति तावन्तं बध्नातीति ज्ञेयम्। कुतः? स्वामिसाम्यात् यथा मत्यादिज्ञानावरणोत्कृष्टरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टस्तथा प्रस्तुतनरकद्विकादिबन्धका अपीति भावः ॥१२१७॥

अथ मनुष्यादिपञ्चकसत्कमाह—

नामाण सठाणव्व तु णरुरलदुगवइरबंधगा णियमा । तीसधुवसायपुमरइहस्सुक्खाणं अणंतगुणहीणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१२१८)

(प्रे०) 'नामाणे' त्यादि, आसां पञ्चप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः स्वस्थानविशुद्धसम्यग्दृष्टयो देवाः, मतान्तरेण तादृशा एव देवनारकाः । 'तीसधुव' त्ति पञ्चज्ञानावरण-षड्दर्शनावरण-द्वादश-कषाय-भयजुगुप्सा-पञ्चान्तरायरूपास्त्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीप्रकृतयो ज्ञातव्याः । पुरुषवेदादिचतुष्प्रकृतीनामपि नियमेन बन्धस्तु, तत्प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावात् । 'अणंतगुणहीणं' तु आसामुत्कृष्टरसस्य भिन्नगुणस्थानके बन्धादिति ।।१२१८।।

साम्प्रतमातपनामसत्कमाह—

णामाणायवबंधी सट्टाणव्व धुवणपुमणीआणं । णियमाऽणंतगुणूणं दुवेअणीअजुगलाण सिआ ॥
(मूलगाथा-१२१९)

(प्रे०) 'णामाणायवे' त्यादि, परस्थानसंनिकर्षस्य प्रस्तुतत्वात्तुल्यवक्तव्यत्वाच्चातिदिशति 'सट्टाणव्व' इत्यातपनामोत्कृष्टरसबन्धेन सह बध्यमानानां नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानसंनिकर्षवद्भवति, विशेषाभावात् । अथ नामभिन्नप्रकृतीनामाह-'धुवे' त्यादि, तत्र 'धुव' त्ति अष्टात्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्यैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोरपि बन्धस्य नियमेन प्रवर्त्तनात् । अनन्तगुणोनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वादासामनुत्कृष्टरसस्य संक्लेशेन जन्यत्वात् । 'णियमा' इत्याद्युत्तरार्धम् । द्वे वेदनीये द्वे च हास्य-रति-शोकारतिरूपे युगले इति षण्णां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणोनं स्याच्च बध्नाति । अनन्तगुणोनन्त्वासामुत्कृष्टरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जन्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् ।।१२१९।।

अथोद्योतनामसत्कमाह—

उज्जोअतिव्वबंधी णामाणं बधए सठाणव्व । णियमाऽणंतगुणूणं धुवसायपुमरइहस्सणीआणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१२२०)

(प्रे०) 'उज्जोअ०' इत्यादि, उद्योतोत्कृष्टरसबन्धकः 'णामाणं' स्वबन्धप्रायोग्याणां नामप्रकृतीनां रसं यावान् स्वस्थानसंनिकर्षप्ररूपणायामुक्तस्तावन्तं करोतीति बोध्यम् । 'णियमे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यक्त्वाभिमुखत्वेन सातवेदनीयादीनां प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाभावादुक्तं नियमादिति । अनन्तगुणोनन्तु प्राग्वत् । उद्योतस्य तिर्यग्गत्यैव सह बध्यमानत्वान्नीचैर्गोत्रस्य नियमाद्बन्धः ।।१२२०।। अथोक्तशेषप्रकृतिसत्कं प्रकृतं बिभणिषुस्तावदुक्तशेषप्रशस्तनामप्रकृतिसत्कमाह—

सेससुहणामबंधी णामाण सठाणगव्व णियमाओ । वीसधुवसायपुमरइहस्सुच्चाण अणंतगुणहीणं॥ (गीतिः)
(मूलगाथा-१२२१)

(प्रे०) 'सेससुहे' त्यादि, उक्तशेषाणामेकोनत्रिंशतः प्रशस्तनामप्रकृतीनामुत्कृष्टरसं बध्नन् नामप्रकृतीनां रसं 'सठाणगव्व' त्ति यावानुत्कृष्टादिकोऽनन्तगुणहीनो वा स्वस्थानप्ररूपणायामुक्तस्तावन्तं बध्नाति, विशेषाऽभावात् । तथा 'साये' त्यादि, 'णियमाओ' इतिपदं पूर्वार्धगतमिह सम्बध्यते, प्रस्तुतबन्धकस्याष्टमगुणस्थानवर्तिक्षपकत्वेनोक्तमनन्तगुणोनम् । किमुक्तं भवति ? आसामुत्कृष्टरसस्य भिन्नविशुद्धयादिस्थानजन्यत्वात् । 'वीसधुव' त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से अन्तरायपञ्चकञ्चेति विंशतिः । प्रशस्ताशेषनामप्रकृतयश्चेमाः,—देवद्विकं, वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं,पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, जिननाम, यशःकीर्तिवर्जत्रसनवकञ्चेति नवविंशतिरिति ॥१२२१॥

अथ शेषनामसन्कमाह—

सेसाणं गुरुबंधी णामाण सठाणगव्व खलु णियमा। सेसधुवअसाय-अरइ-सोग-णपु साणऽणंतगुणहीणं॥
(गीतिः)

णवरि सिआ दुइअ-तइअ-आगिइ-संघयणतिव्वरसबंधी। इत्थीणपुंसगाणं बधेइ अणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा—१२२२-२३)

(प्रे०) 'सेसाणं' इत्यादि, प्रशस्तानामुक्तत्वादुक्तशेषाणामप्रशस्तानां विकलत्रिक-संहननचतुष्क-संस्थानचतुष्क सूक्ष्मत्रिकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकः 'णामाण' त्ति नामकर्मप्रकृतीनां रसमुत्कृष्टः षट्स्थानपतितोऽनन्तगुणहीनो वा यावान् स्वस्थानसंनिकर्षप्ररूपणायामुक्तस्तावन्तं बध्नातीति ज्ञेयम् । 'खलु' निश्चयेन । 'सेसे' त्यादि, गतार्थम् । नवरमनन्तगुणहीनं, प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् , आसाश्चोत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । 'सेसधुव' त्ति नामप्रकृतीनामिहैव स्वस्थानवदतिदिष्टत्वान्नामप्रकृतिवर्जानां ध्रुवबन्धिनीनामष्टात्रिंशत इति । अत्र विशेषमाह-'णवरि' त्ति द्वितीय-तृतीयसंहनन संस्थाननाम्नामुत्कृष्टरसबन्धको न केवलं नपुंसकवेदं बध्नाति किन्तु स्त्रीवेदमपि, अत आह 'इत्थीणपुंस' इत्यादि, स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः प्रत्येकं रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । इत्योघनश्चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानसंनिकर्षः ॥१२२२-२३॥

अथादेशतो मार्गणासु परस्थानोत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षं दिदर्शयिषुस्तावत् कतिपयासु मार्गणासु तत्तुल्यवक्तव्यत्वादोघवदतिदिशति—

दुपणिंदियतसरणमणवयकायअचक्खुचक्खुभवियेसुं। सण्णिम्मि तहाहारे सव्वेसि गुरुरसस्स ओघव्व ॥
(गीति.)

(मूलगाथा—१२२४)

(प्रे०) 'दुपणिंदिये' त्यादि, गतार्थम् । नवरं 'काय' त्ति काययोगौघः । अतिदेशस्त्वोघोक्तोत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामिह प्रत्येकमन्तर्भावात् ॥१२२४॥ अथ नरकौघमार्गणायां तीव्र-

संक्लेशेन बध्यमानोत्कृष्टरसानामप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां प्रकृतमाह—

णिरये असुहधुवाओ णपुंसगअसायसोगअरईओ। तिरिदुगछिवट्टहुंडगकुखगइअथिरछगणीआओ ॥
एगस्स तिव्वबंधी णियमा अण्णाण अट्ठवण्णाए। बंधेइ रसं तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
सुहधुवपणिंदिपरघाऊसासुरलदुगतसचउक्काणं। णियमाऽणतगुणूणं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ॥
(मूलगाथा-१२२५-२७)

(प्रे०) **'णिरये'** इत्यादि, गाथाद्वयं गतार्थम्। **'सुहे'** त्यादि, अनन्तगुणोनन्त्वासामुत्कृष्टरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात्। नियमाद्बन्धस्स्याद्बन्धश्च प्राग्वत् ॥१२२५-२७॥

अथ तत्रैव तीव्रविशुद्धसम्यग्दृष्टिना बध्यमानोत्कृष्टरसानां प्रकृतमाह—

एगस्स तिव्वबंधी जिणवज्जाउ सुहमणुयजोग्गाओ। णियमाऽण्णाण गुरुमहव छट्ठाणगयं जिणस्स सिआ॥
पुमरइहस्साण असुहधुवबंधीणं च पंचतीसाए। णियमाऽणंतगुणूणं बंधइ एमेव तित्थस्स ॥
(मूलगाथा--१२२८-२९)

(प्रे०) **'एगस्से'** त्यादि गतार्थम्। नवरं जिननाम्नो वर्जनं तद्बन्धस्य कादाचित्कत्वात्। मनुष्ययोग्याश्शुभाश्चेमाः—मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रं, सातवेदनीयञ्चेति त्रिंशत्। **'पुमे'** त्यादि, अनन्तगुणोनन्त्वासामुत्कृष्टरसस्य संक्लेशजन्यत्वात्। कुतः पञ्चत्रिंशदेव ? प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेन मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां बन्धाऽभावात्। **'एमेव'** त्ति जिननाममत्कः प्रस्तुतसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवदेव भवति, तदुत्कृष्टरसस्य सुविशुद्धसम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात्। नवरं 'ऽण्णाण' इति स्थले 'सव्वाणे' ति तु स्वयं वाच्यम्। जिननाम्नो बन्धस्तु पृथग्न वाच्यः, तदुत्कृष्टरसबन्धसंनिकर्षस्यैव प्रस्तुतत्वात् ॥१२२८-२९॥

अथ तत्रैव तिर्यगायुःसत्कमाह—

तिरियाउतिव्वबंधी धुवबंधीणं पणिदियस्स तहा। तिरिउरलदुगतसचउग परघा-ऊसासणीआणं ॥
णियमाऽणंतगुणूणं सिआ खलु दुवेअणीअजुगलाणं। वेअतिगुज्जोअखगइसघयणागिइथिराइ-जुगलाणं॥
(द्विगीतिः)(मूलगाथा–१२३०-३१)

(प्रे०) **'तिरियाउ०'** इत्यादि, आयुष उत्कृष्टरसबन्धकस्तु सर्वासां रसमनन्तगुणहीनं बध्नाति, तदुत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्याध्यवसायेन कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धाभावात्। **'सिआ'** इत्यादि, दुशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् वेदनीयद्विकं हास्यरति-शोकाऽरतिरूपं युगलद्विकञ्च। **'वेअतिगे'** त्यादि, तत्र सामान्यनिर्देशात् **'खगइ'** इत्यादिना खगतिद्विकं षट्संहननानि षट् च संस्थानानि स्थिरषट्कमस्थिरषट्कञ्चेति। स्याद्बन्धः प्राग्वत्। खलुरेवार्थः ॥१२३०-३१॥

अथ मनुष्यायुषः शेषप्रकृतीनां चाह—

मणुयाउतिव्वबंधी सिआ जिण-दुवेअणीअजुगलाणं। तिथिराइगजुगलाण य बंधेइ अणंतगुणहीण ॥
णियमाऽणंतगुणूण बंधइ सेससुहमणुयजोग्गाणं। तह पणतीसअसुहधुव-पुमाण ओघव्व सेसाणं॥

णवरि रइहस्सबंधी थावर-जाइचउगायवाइं णो । णियमोवंग-पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं ॥

(वृ० गीतिः) (मूलगाथा-१२३२-३४)

(प्रे०) **'मणुआउ'** इत्यादि, अत्र दुशब्दस्य योजना प्राग्वत् । **'तिथिराइ'** त्ति स्थिरशुभयशःकीर्त्तिनामान्यस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तिनामानि चेति । **'णियमे'** त्यादि, मनुष्ययोग्याश्शेषशुभाश्चेमाः—मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं,प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति षड्विंशतिः । **'पुम'** त्ति प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् पुरुषवेदबन्धः नियमात् प्राप्यते । अथ स्वल्पविशेषसद्भावेऽपि लाघवार्थमतिदिशति–**'ओघव्वे'** त्यादि, उक्तशेषाणामिह बन्धार्हाणां त्रयोदशप्रकृतीनां प्रस्तुतसंनिकर्ष ओघवद्भवति । कुतः ? स्वामिनामविशेषात् यथौघे तथेहाऽपि मनुष्यतिर्यक्प्रायोग्यबन्धकैरेव तदुत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः–संहननचतुष्कं, संस्थानचतुष्कमुद्योतनाम, हास्य-रती, स्त्री-पुरुषवेदौ चेति त्रयोदशेति । अथ विशेषमेवाह–**'णवरी'** त्यादिना, अयं भावः-रति हास्योत्कृष्टरसबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वेनौघे स्थावरचतुष्क-जातिचतुष्काऽऽतपनाम्नां बन्धोऽस्ति, इह तु भवस्वाभाव्यादेव स न विद्यते । तथा **'णियमे'** त्यादि, ओघे रति-हास्योत्कृष्टरसबन्धकैरौदारिकाङ्गोपाङ्गनामादीनि स्याद् बध्यन्तेऽपर्याप्तैकेन्द्रियादिप्रायोग्यबन्धकानामपि रतिहास्यबन्धसद्भावात्तेषाञ्च तद्बन्धाऽभावात्, इह तु तानि नियमाद् बध्यन्ते पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धस्यैव भावादत उक्तं नियमादिति॥१२३२-३४॥

अथ लाघवार्थं प्रथमादिनरकप्रमुखमार्गणास्वतिदिशति—

पढमाइछणिरयेसुं तइआइगअट्ठमंतदेवेसुं । सव्वाणेमेव परं उज्जोअस्स तिरियाउव्व ॥

(मूलगाथा-१२३५)

(प्रे०) **'पढमाइ०'**इत्यादि, **'एमेव'** इत्यनन्तरोक्तवदेव,उत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामविशेषात् । **'परं'** ति विशेषद्योतने, उद्योतस्य प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकौघे यथोद्योतनाम्नो दर्शितस्तथेह न भवति किन्तु तिर्यगायुर्वद् भवति, कुतः ? उच्यते, नरकौघे सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्योद्योतस्योत्कृष्टरसः सम्यक्त्वाभिमुखावस्थायां प्राप्यते, तत्र च वज्रर्षभनाराचं तथा प्रथमसंस्थानादि नियमाद् बन्धमर्हति, इह तु स्वस्थानविशुद्धया तदुत्कृष्टरसबन्धस्ततश्च शेषपञ्चसंहननादीन्यपि बध्यन्ते एवं तिर्यगायुरुत्कृष्टरसबन्धकस्येव संहनननामादीनां स्याद्बन्ध उद्योतोत्कृष्टरसबन्धकस्यापि भवति । अतिदेशस्तु यथा तिर्यगायुः उत्कृष्टरसस्तत्प्रायोग्यविशुद्धया बध्यते तथैवोद्योतनाम्नोऽपीति ॥१२३५॥

अथ सप्तमनरकमार्गणायां सापवादमतिदिशति—

णिरयव्व तमतमाए सव्वेसिं णवरि पुरिसहस्साण । रइ-दुइअ-तइअ-आगिइ-संघयणाणि गुरुरसबंधी ॥
बंधेइ णरदुगं णो चेव तिरिदुगस्स बंधए णियमा । तुरिआइणिरयचउगे जिणस्स णेव णरजोग्गसुहबंधी ॥

(गीतिः) (मूलगाथा—१२३६-३७)

(प्रे०) 'णिरयच्चे' त्यादि, 'तमतमाए' त्ति सप्तमनरकमार्गणायाम् । 'णवरि' त्ति अयं विशेषः-पुरुषवेद-हास्यमोहनीययो रतिमोहनीयादीनाञ्चोत्कृष्टरसबन्धको मनुष्यद्विकं नैव बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वेनेह तिर्यक्प्रायोग्यबन्धस्यैव सद्भावात् । शेषं सुबोधम् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वात् सिंहावलोकनन्यायेनोक्ताऽर्थेऽपि विशेषमाह-'तुरियाइ' इत्यादि, चतुर्थादिनरकचतुष्के मनुष्यप्रायोग्यप्रशस्तप्रकृतीनां बन्धे प्रवर्तमान इति गम्यते, जिननाम्नो बन्धो नैव भवति, तथा तत्र जिननामप्रधानीकृतः सन्निकर्षोऽपि न वक्तव्यः, जिननाम्नो बन्धाऽभावादिति॥१२३६-३७॥

अथ तिर्यगोघादिमार्गणास्वाह—

तिव्वरसं बंधंतो एगस्स तिरितिपणिंदितिरियेसु । असुहधुव-असाय-णपुम-सोगा ऽरइ-हुंड-णीआओ ॥
णिरयदुग-कुखगइ-अथिरछक्काउ य अण्णसत्तवण्णाए। बंधइ णियमा तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
सुहधुवपणिंदियाणं परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । विउव्वदुगस्स य णियमा बंधेइ अणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा—१२३८-४०)

(प्रे०) 'तिव्वरस' मित्यादि, तत्र 'तिरि' त्ति मार्गणाचतुष्के, चकारः समुच्चायकस्तत-श्चाऽशुभध्रुवबन्ध्यादीनामस्थिरषट्कान्तानामष्टपञ्चाशतो मध्यादेकस्योत्कृष्टरसं बध्नन्निति । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धे, नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्ष-प्रकृतिबन्धाभावात् । षट्स्थानगतत्वन्तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । 'सुहधुवे' त्यादि, नियमाद्बन्धः प्राग्वत् । अनन्तगुणहीनमासां प्रशस्तत्वात् ॥१२३८-४०॥

अथ तत्रैव तीव्रविशुद्धया बध्यमानोत्कृष्टरसानां प्रकृतीनां प्रकृतमाह—

एगस्स तिव्वबंधी सुराउवज्जसुहदेवजोग्गाओ । तिव्वमुअ छठाणगयं णियमाऽण्णाण अडवीसाए ॥
पुमरइहस्साण असुहधुवबंधीणं च एगतीसाए । णियमाहिन्तो बंधइ अणुभागमणंतगुणहीण ॥
(मूलगाथा—१२४१-४२)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र देवायुषो वर्जनं तीव्रविशुद्धया तद्बन्धाऽभावात् । प्रस्तुतबन्ध-कस्य पञ्चमगुणस्थानकवर्तित्वेन पुरुषवेदस्य नियमाद्बन्धः । बन्धकस्य सुविशुद्धत्वेन प्रतिपक्ष-प्रकृतिबन्धाऽभावाद् रति हास्यमोहनीययोरपि नियमाद्बन्धः । अनन्तगुणहीनत्वासामप्रशस्तत्वात् ॥ १२४१-४२॥ अथौघतुल्यवक्तव्यत्वाद्रतिमोहनीयादीनां प्रकृतमतिदिश्य देवायुःसत्कमाह—

रइहस्स-थी-पुमायव-निआउगाणं हवेज्ज ओघव्व । देवाउतिव्वबंधी णियमा उ अणंतगुणहीणं ॥
रइ-हस्स-पुरिस-सुहसुरजोग्गाण असुहधुवेगतीसाए । णहरलदुगवइराओ बंधंतो तिव्वमेगस्स ॥
सट्ठाणगव्व बंधइ णामाणुच्चधुवबंधिपुरिसाणं । णियमाऽणंतगुणूणं दुवेअणीअ-जुगलाण सिआ ॥
(मूलगाथा—१२४३-४५)

(प्रे०) 'रइहस्से' त्यादि, ओघवदित्यतिदेशस्त्वोघवदिहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य तत्प्रा-योग्यसंक्लिष्टत्वात् । अथ देवायुःसत्कमाह-'देवाउ' इत्यादि प्रथमगाथोत्तरार्धम्, 'रइहस्से' त्यादि द्वितीयगाथापूर्वार्धम्, तत्र चकारस्य दर्शनाद् द्वात्रिंशद्रत्यादीनामेकत्रिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनाञ्च

नियमादिति त्रीणि पदान्यनन्तरगाथाप्रान्तोक्तानीह योज्यानि। नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य तथाविध-विशुद्धत्वेन प्रकृतिबन्धविरोधेन वा तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावाद्। अनन्तगुणहीनत्वायुर्बन्धप्रायोग्य-विशुद्धेस्तादृक्संक्लेशाद्वा कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धाऽभावात्। अथ मनुष्यद्विकादिसत्कमाह—**'णरुरले'** त्यादि, **'सट्ठाणव्व'** त्ति स्वस्थानवत् नामकर्मणः प्रस्तुतत्वात्। प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वेनोच्चैर्गोत्रस्य पुरुषवेदस्य च नियमाद्बन्धः। नामवर्जध्रुवप्रकृतयोऽष्टात्रिंशद् ग्राह्याः, प्रथमगुणस्थानके तदुत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वात्। शेषं गतार्थम् ॥१२४३-४५॥

अथ शेषनामप्रकृतिसत्कं प्रकृतं दिदर्शयिषुरतिदिशन्नाऽऽह—

पढमणिरयव्व णेयो उज्जोअस्सियरणामगुरुबंधी। णामाण सठाणव्व उ इत्थिव्व हवेज्ज सेसाणं ।
णवरि सिआ दुइअ-तइअआगिइ-संघयणतिव्वरसबंधी। थी-णपुमाण अणंतगुणूणं णपुमस्स णियमिया बंधी ॥

(द्विगीतिः) (मूलगाथा-१२४६-४७)

(प्रे०) **'पढमे'** त्यादि, तिर्यगोघादिमार्गणास्वित्यनुवर्त्तते। **'पढमणिरयव्वे'** त्युभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वादुद्योतनाम्नोत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानसंनिकर्षः प्रथमनरक-मार्गणावद्भवति। यदि पुनस्तिर्यगोघ उद्योतस्योत्कृष्टरसबन्धकास्सुविशुद्धतेजोवायुकायिका एव तर्हि तस्य सन्निकर्ष ओघवद्वक्तव्यः। अथोक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रकृतमतिदिशति-**'इयरणामे'**त्यादिना, इतरासामुक्तशेषाणामित्यर्थस्तस्यैवावशिष्टत्वात् नामकर्मणः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धी **'णामाण'** त्ति प्रस्तुतबन्धकेन बध्यमानानां नामप्रकृतीनां रसं स्वस्थानवद् बध्नाति, यावानानन्तगुणहीना-दिको रसस्तत्रोक्तस्तावन्तं बध्नाति। **'इत्थिव्वे'** त्यादि, **'सेसाणं'** ति नामकर्मवर्जप्रकृतीनाम्, रसं बध्नातीति गम्यते, अतिदेशस्तु प्रस्तुतबन्धकस्याऽपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात्। प्रस्तुतमार्गणासु स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकेन नामकर्मवर्जप्रकृतीनां यादृगनन्तगुणहीनो रसो बध्यते तादृक् प्रस्तुत-बन्धकेनाऽपीति भावः। उक्तेतरा नामप्रकृतयश्चेमाः-जातिचतुष्कं, स्थावरचतुष्कमाद्यवर्जसंहनन-पञ्चकं, मध्यमसंस्थानचतुष्कं तिर्यग्द्विकञ्चेत्येकोनविंशतिरिति। अथातिप्रसक्तिं परिहरति-**'णवरि'** त्यादिना, अयं भावः-इह नामवर्जप्रकृतीनां स्त्रीवेदवदित्यदितिष्टम्, तत्र स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य स्त्रीवेदबन्धो यथा नियमात् प्रवर्त्तते न तथा प्रस्तुतबन्धकस्याऽपि, किन्तु द्वितीय-तृतीयसंहनन-संस्थानोत्कृष्टरसबन्धकस्स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः स्याद्बन्धं करोति, उत्कृष्टपदे द्वितीयादिसंहनन-प्रमुखानां स्त्रीवेदाऽपेक्षयाऽल्पतरस्थितिकत्वेन स्त्रीवेदबन्धस्याऽपि सम्भवाद् युगपद्बन्धाऽभावाच्च। रसन्त्वनन्तगुणहीनं बध्नाति, तयोरुत्कृष्टरसस्याधिकतरसंक्लेशजन्यत्वात्। शेषपञ्चदशप्रकृतीना-मुत्कृष्टरसबन्धको नियमान्नपुंसकवेदं बध्नाति, तासामुत्कृष्टस्थितेरिह पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमतो-ऽधिकत्वेन स्त्रीवेदबन्धाऽभावात्। रसन्त्वनन्तगुणोनमेव बध्नाति, तदुत्कृष्टरसस्य विंशतिकोटिकोटि-सागरमितस्थितिबन्धकैरेव जन्यत्वात् ॥१२४६-४७॥ अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणासु

प्रकृतं बिभणिषुरादौ तावन्मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लेशबध्यमानोत्कृष्टरसप्रकृतिसत्कमाह--

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुय-पणिंदियतसेसु सव्वेसुं । विगलिंदिय-पुढवी-दग-वणेसु एगस्स गुरुबंधी ॥
असुहधुव-असायअरइ-सोग-णपुंसणवथावराईओ । तिरिदुगहुंडेगिंदियणीआओ बंधए णियमा ॥
अण्णाण तिव्वमहवा छट्ठाणगयं अतिव्वमणुभागं । णियमाऽणंतगुणूणं अइसुहधुवबंधिउरलाणं ॥
(मूलगाथा-१२४८-५०)

(प्रे०) 'असमत्त' त्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्क्त्येका मार्गणा। 'असमत्त' ति पदस्याऽग्रेऽपि योजनादपर्याप्तमनुष्योऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणा च । अत्राऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियादिष्वष्टात्रिंशन्मार्गणासु प्रस्तुतम् । इह दुःस्वरोत्कृष्टरसबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् 'णवथावर' इत्यनेन तद्वर्जा नव । 'णियमे' त्यादि, तृतीयगाथोत्तरार्धम् । नियमाद्बन्धः, इहौदारिकशरीरनाम्नो ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् । अनन्तगुणोनन्तु प्रशस्तत्वात् ॥१२४८-५०॥

अथ तत्रैव तीव्रविशुद्धिबध्यमानोत्कृष्टरसप्रकृतिसत्कं प्रकृतमाह—

एगस्स तिव्वबंधी णराउवज्जसुहमणुयजोग्गाओ । तिव्वमुअ छठाणगयं णियमा अणणगुणनीनाए ॥
णियमाऽणंतगुणूणं अपसत्थधुव-रइ-हस्स-पुरिसाणं ।
(मूलगाथा-१२५१)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्रायुषो वर्जनं तीव्रविशुद्धयादेरायुर्बन्धाऽभावात् । 'णियमे' ति द्वितीयगाथापूर्वार्धम् । सुविशुद्धस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावाद्रत्यादीनामपि नियमाद्बन्धः । अनन्तगुणोनन्त्वप्रशस्तत्वात् ॥१२५१॥

अथ रति-हास्यसत्कं प्रकृतमाह—

। एगस्स तिव्वबंधी रइहस्साउ इयरस्स रसं ॥
तिव्वमुअ छठाणगयं णियमा बंधइ अणंतगुणहीणं । सेसेगिंदियजोग्गअसुहाण तह सहधुवुरलाणं ॥
(मूलगाथा-१२५२-५३)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, तत्र 'सेसे' त्यादि, द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । पूर्वार्धगतानि 'णियमे' त्यादीनि त्रीणि पदानीह योज्यन्ते । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावाद् । अनन्तगुण-हीनं तु तासां रसस्य तीव्रसंक्लेशेन तीव्रविशुद्धया वा बध्यमानत्वात् । इमाश्च ता एकेन्द्रिय-प्रायोग्याः शेषा अप्रशस्ताः प्रकृतयः-त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजाति-नाम, हुण्डकं, दुःस्वरवर्जस्थावरनवकमसातवेदनीयं, नपुंसकवेदो नीचैर्गोत्रञ्चेत्येकोनषष्टिरिति ॥ १२५२-५३॥ अथ तत्रैव स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धसंनिकर्षमाह—

थीगुरुबंधी णियमा धुवउरलदुगकुखगइपणिंदीणं । परघा-ऊसास-दुहगतिग-नसचउगाण णीअस्स ॥
कुणइ अणंतगुणूणं उज्जोअ-दुवेअणीअ-जुगलाणं । संघयणागिइतिग-तिरि-मणुयदुगथिराइतिजुगलाण सिआ ॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१२५४-५५)

(प्रे०) 'थी०' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्ध-कस्य संक्लिष्टत्वे सति पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्त-

गुणहीनन्तु तासु मध्ये कासाञ्चित् प्रशस्तत्वादप्रशस्तानाञ्च बन्धस्य स्त्रीवेदबन्धविच्छेदात् परतो व्यवच्छिद्यमानत्वात् ।

प्रस्तुतमार्गणासु संक्लेशवृद्धावप्रशस्तप्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदक्रमश्चैवम्–(१) प्रथमतः पुरुषवेदस्तदनु (२) द्वितीयसंहनन-संस्थाने युगपत्ततः (३) तृतीयसंहनन-संस्थाने युगपत्ततः (४) स्त्रीवेदस्ततः परं (५) चतुर्थसंहनन-संस्थाने युगपत्ततः (६) पञ्चमसंहनन-संस्थाने युगपत्ततः (७) कुखगति-दुःस्वरनाम्नी युगपत्ततः परं (८) चतुरिन्द्रियजातिनाम ततः (९) त्रीन्द्रियजातिनाम ततः (१०) द्वीन्द्रियजाति-सेवार्त्तसंहनननाम्नी (११) ततो हास्य-रतिमोहनीये युगपद्विच्छेदं यातस्तथा (१२) एकपञ्चाशदध्रुवबन्धिन्योऽसातवेदनीयं शोकारती नपुंसकवेदस्तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनामौदारिकशरीरनाम हुण्डकं दुःस्वरवर्जस्थावरनवकं नीचैर्गोत्रञ्चेति सप्ततिस्तु तीव्रसंक्लेशेऽपि बध्यमाना एव तिष्ठन्तीति । अनन्तरोक्तक्रमगतासु या याः तत्तत्स्थानवर्तिन्यस्तासामुत्कृष्टरसं बध्नतो न जायते तत्पूर्व-पूर्वतर-पूर्वतमस्थानवर्तिनीनां बन्धः, तदुत्तरोत्तरादिस्थानवर्तिनीनान्तु विवक्षितप्रधानीकृतप्रकृत्यविरोधित्वाद्यदि भवति बन्धस्तदा स्वीय-स्वीयोत्कृष्टरसतोऽनन्तगुणहीनो रसो बध्यते । कुतः ? तदुत्कृष्टरसस्यानन्तगुणसंक्लेशवृद्धया बध्यमानत्वात् ।

प्रकृते चेदमायातम्–इह स्त्रीवेदस्य बन्धविच्छेदस्थानं चतुर्थम्, कुखगत्यादीनान्तु सप्तममादिकमेवं तासामुत्तरस्थानवर्तित्वात् स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्तासां बन्धं कर्त्तुमर्हति, रसञ्च तासामनन्तगुणहीनं बध्नातीति । 'कुणइ' इत्यादि, द्वितीयगाथा । प्रस्तुतस्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धक आसां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति । तत्राऽनन्तगुणहीनं सातवेदनीयादीनां प्रशस्तत्वादसातवेदनीयादीनामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वात् । हास्य-रत्योरुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वेऽपि बन्धविच्छेदक्रममाश्रित्य तद्बन्धविच्छेदस्थानस्यैकादशत्वात् । ततः किम् ? यद्यप्योघतस्स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धको हास्यरती न बध्नाति, पञ्चदशसागरकोटीकोट्यात्मकस्त्रीवेदोत्कृष्टस्थितिबन्धकाल उत्कृष्टतयाऽपि दशकोटीकोटीसागरात्मकस्थितिकस्य हास्य-रतियुगलस्य बन्धाऽसम्भवात् तथापीह तु बध्नाति, प्रागुक्तादेव हेतोरिति । स्याद्बन्धत्वन्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धस्य सम्भवात् ।।१२५४-५५।।

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् पुरुषवेदसत्कं सापवादमतिदिशति ।

एमेव पुमस्स णवरि बंधेइ मिआ अणंतगुणहीणं । संघयण-आगिईणं पयडीणं दुइअ-तइआणं ।।

(मूलगाथा–१२५६)

(प्रे०) 'एमेव' इत्यादि, 'पुमस्स' त्ति पुरुषवेदस्योत्कृष्टरसबन्धसन्निकर्षः, 'एमेव' इत्यनन्तरोक्तस्त्रीवेदवदेव । 'णवरि' इत्यत्राऽयं विशेषः–स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धकस्य द्वितीयतृतीयसंहननसंस्थाननाम्नां बन्धो नाऽभूत् तेषां बन्धविच्छेदस्थानस्य पूर्ववर्तित्वात् । इह तु तस्योत्तरस्थानवर्तित्वेन तेषां बन्धः प्रवर्तते । अनन्तगुणहीनमप्यनेनैव हेतुना ।।१२५६।।

अथ तत्रैव तिर्यगायुःसत्कमाह—

तिरियाउतिव्वबंधी बंधइ धुवबंधि-तसचउक्काणं । तिरि-उरलदुग-पणिंदिय-परघा-ऊसास-णीआणं ॥
णियमाऽणंतगुणूणं सिआ खलु दुवेअणीअ-जुगलाणं । उज्जोअ-तिवेअ-खगइ-संघयणाऽऽगिइ-थिराइजुगलाणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१२५७ ५८)

(प्रे०) **तिरियाउ०**'इत्यादि, तत्र '**धुवबंधि**' इत्येकपञ्चाशत् । प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन पराघातोच्छ्वासयोः, तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वेन नीचैर्गोत्रस्य चापि नियमाद्बन्धः । '**सिआ**' इत्यादि द्वितीयगाथायाम् । तत्र दुशब्दस्याग्रेऽपि योजनाद् द्वयोर्हास्यरति-शोकाऽरतिरूपयोर्युगलयोः । '**उज्जोअ**' इत्यादि । विशेषनिर्देशाऽभावात् '**खगइ**' इत्यादिना द्वे खगती,षट्संहननानि, षट्संस्थानानि, स्थिरषट्कमस्थिरषट्कञ्च । स्याद्बन्धः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धमद्भावात् । अनन्तगुणोनन्त्वायुरुत्कृष्टरसबन्धकाले कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धाऽभावात् । ॥१२५७-५८॥ अथ मनुष्यायुःसत्कं सापवादमतिदिशति—

मणुयाउगस्स एवं णवरं णियमा अणंतगुणहीणं । मणुयदुगस्स सिआ अत्थि दुगोआणं तिरिदुगं णो ॥
(मूलगाथा-१२५९)

(प्रे०) '**मणुये**' त्यादि, '**एवं**' इत्यनन्तरोक्तवदेव । '**णवरं**' इत्ययं विशेषः—मनुष्यद्विकस्य नियमाद् बन्धं करोति रसञ्च तस्याऽनन्तगुणहीनं बध्नाति, मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् ।

'**सिआ**' इत्यादि, गोत्रयोः स्याद्बन्धं करोति, रसं त्वनन्तगुणहीनं बध्नाति, पूर्वार्धस्थस्य 'अणंतगुणहीण'मिति पदस्याऽत्रापि सम्बन्धात् प्रस्तुतबन्धकस्य मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वेनोच्चैर्गोत्रस्याऽपि बन्धप्रवर्त्तनात् । शेषं कण्ठ्यम् ॥१२५९॥

अथ विकलत्रिकादिप्रकृतिसत्कमतिदिश्य द्वितीयादिसंहननप्रमुखसत्कमाह—

विगलतिगछिवट्ठाणं पणिंदितिरियव्व सण्णियासोऽत्थि । णवरि अणंतगुणूणं दुवेअणीअजुगलाण सिआ ॥
होइ खलु सण्णियासो पणिंदितिरियव्व आयवदुगस्स । दुइअतइअसंघयणागिइगुरुबंधी सठाणव्व ॥
णामाण णियमाओ धुवणीआणं अणंतगुणहीणं । बंधइ इत्थि-णपुंसग-दुवेअणीअ-जुगलाण सिआ ॥
(मूलगाथा-१२६०-६२)

(प्रे०) '**विगले**' त्यादि, विकलत्रिक-सेवार्त्तसंहननप्रकृतीनां संनिकर्षः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद्भवति, अत्राऽपि तत्प्रायोग्यसंक्लेशेनाऽऽसामुत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वात् । अत्र यो विशेषोऽस्ति तं तु '**णवरि**' इत्यादिना दर्शयति, अत्र साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रत्य रति शोकप्रकृतीनां स्याद्बन्धो रसतः पुनरनन्तगुणहीनो वक्तव्यः । विकलत्रिकाऽनन्तरमासां बन्धविच्छेदात् स्याद्बन्धः, रसोऽनन्तगुणहीनस्तु प्रतीतः । '**होइ**' इत्यादि, '**आयवदुग**' इत्यातपोद्योतनाम्नी । अनयोरुत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्षः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावद्भवति, कुतः ? स्वामिनामविशेषात् । यथा तत्र तथेहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धस्वामिकत्वादिति भावः । अथ द्वितीयादिसंहननप्रमुखसत्कमाह—'**दुइए**' इत्यादि, '**णामाणं**' ति 'सठाणव्वे' ति पदमत्र सम्बध्यते ।

कुतः ? स्वस्थानवत्, नामप्रकृतिप्रधानीकृत्योच्यमानत्वादत्र हेतूच्चारणं सुवर्णे पीतिमापादनवदायासमात्रं स्यात्। 'धुवणीआणं' इत्यत्रानन्तगुणहीनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वादासामुत्कृष्टरसस्य च तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात्। 'बंधइ' इत्यादि तृतीयगाथोत्तरार्धम्, अनन्तगुणहीनमितीहापि युज्यते, स्त्री नपुंसकवेदयोः साताऽसातवेदनीययोर्हास्यशोकयो रत्यरत्योरेकतरप्रकृतिर्विकल्पेनानन्तगुणहीना बध्यते, क्रममाश्रित्य उत्तरत्र बन्धविच्छेदादासामिति। शेषं गतार्थम्। ॥१२६०-६२॥ अथ पञ्चमादिसंहननप्रमुखसत्कमाह—

संघयण-आगिईणं पंचम-तुरिआण कुखगइसराण। तिव्वरसं बंधंतो कुणइ सठाणव्व णामाणं ॥
णियमा णीअणपुंसग धुवबंधीणं अणतगुणहीणं। अणुभागं खलु बंधइ दुवेअणीअ-जुगलाण सिआ ॥
(मूलगाथा—१२६३-६४)

(प्रे०) 'संघयणे' त्यादि, कण्ठ्यम्। 'णियमे' त्यादि, तत्रानन्तगुणहीनं त्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात्। 'अणुभाग' मित्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्। तत्र स्याद्बन्धः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। अनन्तगुणहीनं सातवेदनीयस्य प्रशस्तत्वादसातवेदनीयशोकारतीनामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात्। हास्यरत्योर्बन्धविच्छेदस्थानस्यैकादशत्वेनोत्तरवर्तित्वात् ॥१२६३-६४॥

अथाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामुक्तत्वात् त्रिमनुष्यादिमार्गणासु तत्तुल्यवक्तव्यत्वादोघ-तिर्यगोघादिवदतिदिशति—

ओघव्व सण्णिगासो सुहसुरजोग्गाण तिमणुअरलेसुं। सेसाण तिरिव्वुरले पणिदितिरियव्व तिगरेसुं ॥
(मूलगाथा—१२६५)

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, त्रिमनुष्यौदारिककाययोगमार्गणासु। ओघवदित्यतिदेशस्त्वोघोक्तोत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामिह प्रवेशात्। 'सेसाणे' त्याद्यक्षरार्थस्सुगमः, अतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनामविशेषात्। अत्रेदं बोध्यम्-इहौदारिककाययोगमार्गणायां पृथगतिदेशस्तु सुविशुद्धानां तेजोवायूनामेवोद्योतनामोत्कृष्टरसबन्धकत्वमिति मतान्तरं सम्भाव्य कृतो ज्ञेयः। अन्यथा तु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वदित्यतिदेशेनैव पर्याप्तं स्यात्। शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽसातवेदनीयं, त्रयो वेदा हास्यरती, शोकाऽरती, मनुष्यत्रिकं, तिर्यक्त्रिकं, नरकत्रिकमौदारिकद्विकं, जातिचतुष्कं षट् संहननान्याद्यवर्जपञ्चसंस्थानान्यप्रशस्तविहायोगति-रातपोद्योतनाम्नी, स्थावरदशकं, नीचैर्गोत्रञ्चेत्येकनवतिरिति। देवयोग्याश्शुभास्त्विमास्त्रयस्त्रिंशद् देवत्रिकं, पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकमाहारकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, जिननाम, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१२६५॥

अथ देवौघादिमार्गणासु प्रकृतस्य दिदर्शयिषयाऽऽदौ तावदुत्कृष्टसंक्लेशबध्यमानोत्कृष्टरसबन्धानां बहूनां प्रकृतीनामाह—

सुरवेउव्वदुगेसुं असुहधुव-असाय सोग-अरईओ । तह णपुम-हुंडग-तिरियदुग-पणअथिराइ-णीआओ ॥
एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुअ छठाणगयं । कुखगइ-थावर-दुस्सर-छेवट्ठं गिंदियाण सिआ ॥
तसुरलुवंगायवदुग-पणिंदियाण व अणंतगुणहीणं । णियमा सुहधुवुरालिय-परघा-ऊसास-चायरतिगाणं ॥
(तृ० गीतिः) (मूलगाथा- १२६६-६८)

(प्रे०) 'सुरवेउव्वे' त्यादि, देवौघ-वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगरूपासु तिसृषु मार्गणासु । 'कुखगइ' इत्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्, पूर्वार्धगतानि 'गुरु'मित्यादीनि त्रीणि पदानीहाऽपि योज्यानि । षट्स्थानगतत्वन्त्वासामप्युत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्न-स्वामिन आश्रित्य । 'तसे'त्यादि, वाकारो विकल्पार्थकस्ततश्च स्याद् बध्नातीति भावः । 'णियमे' त्यादितृतीयगाथोत्तरार्धम् 'अणंतगुणहीण' मित्यत्राऽपि सम्बध्यते, अनन्तगुणहीनत्वञ्चासां प्रशस्तत्वादिति ॥१२६६-६८॥ अथ तत्रैव हास्यादिसत्कं सापवादमतिदिशति--

हस्सरईणं णेयो ओघव्व परं ण विगलसुहुमतिग । बंधइ णियमा परघा ऊसासग-बायरतिगाणं ॥
(मूलगाथा--१२६९)

(प्रे०) 'हस्सरईणं' इत्यादि, 'परं' ति विशेषद्योतने । विशेषश्चायम्–विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिके न बध्नाति, कुतः ? प्रस्तुतमार्गणासु विकलत्रिकस्य सूक्ष्मत्रिकस्य च बन्धाऽभावात् । 'बंधइ' इत्यादि पश्चिमार्धम्, नियमाद्बन्धस्तु देवनारकाणां तत्प्रतिपक्षबन्धाभावात् ॥१२६९॥

अथ तत्रैवैकेन्द्रियजात्यादीनां सापवादमतिदिशति—

ओघव्व सण्णिआसो एगिंदिय-थावरायवदुगाणं । परमुज्जोअस्स सुरेऽज्जणारगव्व णिरयव्व सेसाणं ॥
- (गीतिः) (मूलगाथा–१२७०)

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि गतार्थम् । अतिदेशस्त्वोघोक्ततदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिषु प्रस्तुतमार्गणा-गतानामप्यन्तर्भावात्'परं' ति पश्चिमार्धम् । अयं विशेषः–देवौघमार्गणायामुद्योतनाम्नः प्रस्तुतसन्निकर्षः प्रथमनरकवद्भवति न त्वोघवत्, कुतः? ओघे तदुत्कृष्टरसबन्धकः सम्यक्त्वाभिमुखः सुविशुद्धस्ततस्त-दुत्कृष्टरसबन्धकेनाऽप्रशस्तसंहननादीनि न बध्यन्ते । देवौघमार्गणायां तदुत्कृष्टरसबन्धकस्त्वस्थान-तत्प्रायोग्यविशुद्धस्ततः परावृत्त्या तान्यपि बध्यन्तेऽत आद्यनरकवदित्यतिदेशः । 'णिरयव्वे' त्यादि, उक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतसंनिकर्षो नरकौघमार्गणावद्भवति, कुतः ? तदुत्कृष्टरसबन्धकस्यैकेन्द्रिय-स्थावराऽऽतपनाम्नां बन्धानर्हत्वात् । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः–मनुष्यद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिना-मौदारिकद्विकं शुभध्रुवबन्धयष्टकं संहननषट्कं चरमवर्जसंस्थानपञ्चकं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्-वासनाम्नी जिननाम त्रसदशकं दुःस्वरनामोच्चैर्गोत्रं सातवेदनीयं स्त्रीपुरुषवेदौ तिर्यङ्मनुष्या-युषी चेति षट्चत्वारिंशत् । वैक्रियमिश्रे तु तिर्यङ्मनुष्यायुषोर्बन्धाऽभावात् तद्वर्जाश्चतुश्चत्वारिंशदेव प्रकृतयो ज्ञेयाः ॥१२७०॥

अथ भवनपत्यादिषु तीव्रसंक्लेशबध्यमानोत्कृष्टरसानां प्रकृतीनां प्रकृतमाह—

भवणतिग-दुकप्पेसुं एगस्सेगक्खजोगअसुहतमा । गुरुबंधी अण्णेसिं णियमा गुरुमुअ छठाणगयं ॥

अट्ठसुहधुव-उरलाणं परघा-ऊसास-बायरतिगाणं । णियमाऽणंतगुणूणं बंधइ आयवदुगस्स सिआ ॥

(मूलगाथा—१२७१-७२)

(प्रे०) 'भवणे' त्यादि, गतार्थम् , एकेन्द्रियार्हा अप्रशस्ताश्चेमा अष्टपञ्चाशत्-त्रिचत्वारिंशद्-ध्रुवबन्धिन्योऽसातवेदनीयं, शोकारती, नपुंसकवेदस्तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रियजातिनाम, हुण्डकं, स्थावरं, दुःस्वरवर्जाऽस्थिरपञ्चकं नीचैर्गोत्रञ्चेति, अशुभतमत्वस्य प्रस्तुतत्वाद्धास्यरत्योर्वर्जनं ज्ञातव्यम् । 'अट्ठसुहे' त्यादि, द्वितीयगाथा, 'णियमे' त्यादि पदद्वयं पूर्वार्धेऽपि योज्यते, अनन्तगुणोनन्त्वासां प्रशस्तत्वात् । नियमाद् बन्धस्तु प्रस्तुतमार्गणासु तद्बन्धस्य ध्रुवतया प्रवर्त्तनात् । 'आयवदुगे' त्यादि, स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् ॥१२७१-७२॥

अथ तत्रैव सेवार्त्तादिनामसत्कमाह—

तिव्वरसं बंधंतो एगस्स छिवट्ठकुखगइसराओ । णियमा दोण्हं तिव्वं अहव अतिव्व छठाणगयं ॥
णियमा धुवबधीणं णपुंसग-असाय-सोग-अरईणं । तिरि-उरलदुग-पणिंदिय परघा-ऊसास-हुंडाणं ॥
पणअथिराइ-तसचउग-णीआण रसं अणंतगुणहीणं । उज्जोअस्स सिआ खलु सुरव्व सेसाण विण्णेयो ॥

(मूलगाथा—१२७३-७५)

(प्रे०) 'तिव्वरस' मित्यादि, तत्र षट्स्थानगतन्तु प्रत्येकमुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशजन्यत्वात् । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा, ध्रुवबन्ध्यादिनीचैर्गोत्रपर्यवसानानां त्रिसप्ततिप्रकृतीनामनन्तगुणहीनं नियमाच्च बध्नाति । अनन्तगुणहीनन्तु तदुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशादिजन्यत्वात् । 'उज्जोअस्से' त्यादि 'अणंतगुणहीण' मिति पदमत्र योज्यम् । 'सेसाणं' इत्युक्तशेषाणां षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षः 'सुरव्व' देवौघमार्गणावद्भवति, कुतः ? तदुत्कृष्टरसबन्धस्येहाऽपि सुविशुद्धस्तत्प्रायोग्यविशुद्धस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो वा स्वामीति कृत्वा । इमाश्च ताः षट्चत्वारिंशत्-सातवेदनीयं, हास्य-रतियुगलं, स्त्रीपुरुषवेदौ, मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, सेवार्त्तवर्जसंहननपञ्चकं, हुण्डकवर्जसंस्थानपञ्चकं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, आतपोद्योतनाम्नी, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रं, तिर्यग्मनुष्यायुषी चेति ॥१२७३-७५॥

अथ ग्रैवेयकान्तेष्वानतादिदेवभेदेषु प्रकृतं विभणिपुरादावशुभतमप्रकृतिसत्कमाह—

एगस्स तिव्वबंधी गेविज्जंतेसु आणताईसुं । असुहतमाओऽण्णेसिं णियमा गुरुमुभ छठाणगयं ॥
णर-उरलदुग पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । तह सुहधुवाण णियमा बंधेइ अणतगुणहीणं ॥

(मूलगाथा—१२७६-७७)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, आनतादिनवमग्रैवेयकावसानासु त्रयोदशसु देवमार्गणासु । इहाऽशुभतमाश्चेमाः—त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽसातवेदनीयं, शोकारती, नपुंसकवेदः, सेवार्त्तसंहननं, हुण्डकमप्रशस्तविहायोगतिरस्थिरषट्कं, नीचैर्गोत्रं चेति सप्तपञ्चाशदिति । 'णरे' त्यादि द्वितीयगाथा, तत्र नियमाद्बन्धस्त्वासां सर्वासामिह ध्रुवबन्धित्वात् । अनन्तगुणहीनन्त्वासां प्रशस्तत्वात् ॥१२७६-७७॥ अथ तत्रैव प्रशस्तप्रकृतिसत्कमतिदिश्य स्त्रीवेदसत्कमाह—

णिरयव्व सुहाणं थीगुरुबंधो धुव-असाय-णीआणं । सोगारईण णरदुग-पणिंदि-ओरालियदुगाणं ॥
परघा-ऊसासाण कुखगइ-तसचउग-अथिरछक्काणं । णियमाऽणंतगुणूणं संघयणाऽऽगिइतिगाण सिआ ॥
(मूलगाथा-१२७८-७९)

(प्रे०) 'णिरयव्वे' त्यादि, 'सुहाणं' तीह बन्धार्हाणां प्रशस्तप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकौघवज्ज्ञेयः, कुतः ? स्वामिनामविशेषात्-यथा तत्र तथेहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वादिति भावः। शुभप्रकृतयस्तु द्वात्रिंशत् । 'थीगुरुबंधो' त्यादि, तत्र नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् , अनन्तगुणोनत्वं प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वे सत्यासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशेन विशुद्ध्या वा जन्यत्वात् । 'संघयणागिई' त्यादि, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । यद्यपि प्रस्तुतमार्गणासु सर्वेषां बन्धकानां शुक्ललेश्याकत्वेन सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमिताया एव स्थितेर्बन्धस्तथापि बन्धविच्छेदक्रमस्त्विहौघवदेव । अतः स्त्रीवेदस्योत्कृष्टरसबन्धकस्याद्यत्रिसंहननसंस्थानानामबन्धः प्राप्यते, कुतः ? ओघवदिहाप्युत्कृष्टपदे स्त्रीवेदोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया तदुत्कृष्टस्थितेरल्पतरत्वात् । अनन्तगुणोनत्वं सेवार्त्तहुण्डकयोरुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । चतुर्थपञ्चमसंहनन संस्थानानामुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशजन्यत्वेऽपि स्त्रीवेदोत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्यसंक्लेशाऽपेक्षयाऽधिकतरसंक्लेशजन्यत्वात् । तदपि कुतः ? उत्कृष्टपदे स्त्रीवेदोत्कृष्टस्थित्यपेक्षया तदुत्कृष्टस्थितेर्दीर्घतरत्वात् ॥१२७८-७९॥

अथ तत्रैव बहुतरसमानवक्तव्यात् पुरुषवेदसत्कं हास्य-रतिसत्कञ्च प्रकृतं सापवादमतिदिशति—

एमेव पुमस्स णवरि पणसंघयणागिईण कुणइ सिआ । हस्सरईण वि एवं णवरि तिवेआण कुणइ सिआ ॥
(मूलगाथा-१२८०)

(प्रे०) 'एमेव'त्यादि, तत्र 'एमेव' इत्यनन्तरोक्तस्त्रीवेदसन्निकर्षवदेव । 'णवरि' इत्ययं विशेषः-स्त्रीवेदापेक्षया पुरुषवेदस्थितेरल्पत्वेन पुरुषवेदोत्कृष्टरसबन्धकेन द्वितीय-तृतीयसंहननसंस्थाननामान्यपि बध्यन्ते, बन्धश्च तेषां स्याद्भवति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । रसस्त्वनन्तगुणहीन उत्कृष्टपदे दीर्घतरस्थितिकत्वात् ।

ननु प्रथमसंहनन संस्थाननाम्नीह कुतो न बध्येते, तयोः पुरुषवेदतुल्यस्थितिकत्वादिति चेत्, तयोः प्रशस्तत्वेन प्रस्तुतबन्धकस्य च संक्लिष्टत्वेन ते न बध्येते इति । 'हस्सरईण' त्ति हास्य-रत्योरपि प्रस्तुतसन्निकर्षः पुरुषवेदवदेव भवति । 'णवरि' इत्ययं विशेषस्त्रयाणां वेदानां बन्धस्स्याद् भवति,रसश्चानन्तगुणहीनो बध्यते । कुतोऽयं विशेष इति चेत् उच्यते-पुरुषवेदबन्धकस्य तु शेषद्वयोर्वेदयोः प्रतिपक्षत्वेन न तत्प्ररूपणाऽवसरः । प्रस्तुतबन्धकस्य तु ते न तथा, ततोऽनन्तरोक्ता प्ररूपणा । तथाऽनन्तरप्राक्तनतृतीयगाथोक्तं 'सोगारईणे' ति पदमत्र न वाच्यम् , प्रतिपक्षत्वात् , हास्य- रतिबन्धकस्य तद्बन्धाऽभावादिति भावः ॥१२८०॥

अथ तत्रैव मध्यमसंहननादिविषयं सापवादमतिदिशति—

मज्झिमसंघयणागिइचउगाणोघव्व णवरि बंधेइ। ण तिरिदुगुज्जोआ णरदुगस्स णियमा अणंतगुणहीणं॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१२८१)

(प्रे०) **'मज्झिमे'** त्यादि, अत्राऽतिदेशस्त्विहापि तदुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशजन्यत्वात्। **'णवरि'** इत्ययं विशेषः—ओघतस्तु मध्यमसंहननाद्युत्कृष्टरसबन्धकेन तिर्यग्द्विकं बध्यत इह तु न, प्रस्तुतमार्गणागतानां सर्वेषां शुक्ललेश्याकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् मनुष्यद्विकस्य बन्धो नियमाद् भवति, ओघे तु द्वितीयतृतीयसंहननसंस्थानप्रकृतीनां बन्धकाले स स्याद्भवति, तिर्यग्द्विकरूपस्य प्रतिपक्षस्यापि बन्धसम्भवात्। मनुष्यद्विकस्य प्रशस्तत्वाद् रसमनन्तगुणहीनं बध्नातीति॥१२८१॥

अथाऽनुत्तरसुरादिमार्गणासु प्रकृतं बिभणिषुरादौ तावत्तीव्रसंक्लेशेन बध्यमानोत्कृष्टरसानां प्रकृतीनां तमाह—

एगस्स तित्थबंधी अणुत्तराहारजुगलदेसेसुं। हस्स-रइवज्जअसुहा णियमाऽणंताण गुरुसु छट्ठाणगयं॥ (गीतिः)
सायाउतित्थ-थिर-सुह-जसवज्जसुहाणऽणंतगुणहीणं। णियमा तित्थस्स सिआ णवरि ण बंधइ जिणं देसे॥
(मूलगाथा-१२८२-८३)

(प्रे०) **'एगस्से'** त्यादि, अनुत्तरसुरादिष्वष्टमार्गणासु प्रस्तुतम्। अत्र हास्य-रत्योर्वर्जनम्, तीव्रसंक्लिष्टस्य तद्बन्धाऽभावात्। **'असुहा'** त्ति अशुभप्रकृतिमध्यात्। अथ कास्ता अशुभाः? दर्शयामः—अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पञ्चत्रिंशदस्थिराऽशुभे अयशःकीर्तिरसातवेदनीयं शोकारती पुरुषवेदश्चेति द्विचत्वारिंशदनुत्तरसुरमार्गणासु। देशविरतिमार्गणायान्त्वप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कस्यापि बन्धाऽभावात्तद्वर्जा अष्टात्रिंशत्। आहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणयोस्तु प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्यापि बन्धाऽभावात्तद्वर्जाश्चतुस्त्रिंशत्। **'साये'** त्यादि, सातादीनां वर्जनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य मार्गणाप्रायोग्यतीव्रसंक्लिष्टत्वेन तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। सत्यपि जिननाम्नो बन्धे तस्य नियमत्वाभावात्। अनन्तगुणहीनन्तु प्रशस्तत्वात्। नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वादितरासाञ्च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्। इमाश्च ताः शुभाः प्रकृतयः—मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्धिषट्कं, प्रथमसंहननं, प्रथमसंस्थानं, प्रशस्तविहायोगतिनाम, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति षड्विंशत्यनुत्तरसुरमार्गणासु। आहारकद्विक-देशविरतिरूपासु तिसृषु तु पञ्चविंशतिः, संहनननाम्नो बन्धाभावात्, तथा मनुष्यद्विकस्य स्थाने देवद्विकमौदारिकद्विकस्य स्थाने वैक्रियद्विकमित्यपि ज्ञेयम्। कुतः? देवप्रायोग्यबन्धकत्वात्। **'तित्थस्से'** त्यादि जिननाम्नोऽनन्तगुणहीनं स्याच्च बध्नाति। अनन्तगुणहीनं प्राग्वत्। स्याद्बन्धस्तु तद्बन्धार्हेषु केषाञ्चिदेव तद्बन्धप्रवर्त्तनात्। अथ विशेषमाह-**'णवरी'**त्यादिना, देशविरतिमार्गणायां प्रस्तुतेन तीव्रसंक्लिष्टेन जिननाम न बध्यते, कुतः?

जिननामबन्धकस्य देशविरतेर्मिथ्यात्वगमनाभावात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु देशविरतिर्मिथ्यात्वाभिमुख इति । न च शेषमार्गणासु कुतस्तद्बन्ध इति वाच्यम्, अनुत्तरसुरमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वे सति स्वस्थानसंक्लिष्टत्वेनाहारकतन्मिश्रमार्गणयोरपि स्वस्थानसंक्लिष्टत्वेन च तद्बन्धस्याविरोधात् ॥१२८२-८३॥ अथ तत्रैव रति-हास्यसत्कमाह—

एगरस तिव्वबंधी रइहस्साउ इयरस्स णियमाओ । बंधेइ रसं तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगय ॥
बंधइ तित्थस्स सिआ अणंतगुणहीणगं रसं णियमा । साय-अरइ-सोगाउग-थिर-सुह-जसवज्जसेसाणं ॥
(मूलगाथा-१२८४-८५)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र जिननाम्नोऽनन्तगुणहीनं प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् । 'णियमं' ति पदम् 'अणंतगुणहीणग' मित्यादि पदद्वयमुत्तरार्धेऽपि योज्यम् । 'साये' त्यादि, सातादीनां वर्जनन्तु तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनादायुषां वर्जनं तु कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धेन सह तद्बन्धस्यासम्भवात् । अनन्तगुणहीनन्तु नामामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशेन तीव्रविशुद्धया वा बध्यमानत्वात् । इह शेषाः प्रकृतयस्तु सातवेदनीयाऽरतिशोकस्थिर-शुभयशःकीर्त्ति-रति-हास्य-जिनाऽऽयुर्वर्जास्तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्या अशेषा विज्ञेयाः ॥१२८४-८५॥

अथ तत्रैव प्रशस्तप्रकृतिसत्कमाह—

एगस्स पसत्थाओ जिणाउवज्जाउ तिव्वरसबंधी । णियमाऽण्णाण गुरुमहव छट्ठाणगयं जिणस्स सिआ ॥
णियमा असुहधुव-पुरिस-रइ-हस्साणं अणंतगुणहीणं । पंचसु अणुत्तरेसुं भवे णराउस्स णिरयव्व ॥
देवाउगस्स तीसुं ओघव्व परं ण चेव बंधेइ । आहारदुगं देसे तइयकसाया उ बंधेइ ॥
(मूलगाथा-१२८६-८८)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र षट्स्थानगतन्तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तुल्यविशुद्धया जायमानत्वात् । जिननामायुषां वर्जनं प्राग्वत् । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । अनन्तगुणहीनमप्रशस्तत्वात्, पुरुषवेदस्य नियमाद्बन्धस्तु तस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । रति-हास्ययोस्तु स सुविशुद्धस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'पंचसु' इत्यादि, आयुःसत्कसन्निकर्षः पञ्चानुत्तरमार्गणासु नरकवज्ज्ञेयः, उभयत्र सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् । 'तीसु' आहारकद्विके देशविरतमार्गणायां च देवायुषः सन्निकर्ष ओघवल्लाघवार्थमतिदिष्टः । परमाहारकद्विक आहारकद्विकस्य बन्धाभाव एवं देशविरतमार्गणायामपि । तथाऽत्र देशविरतमार्गणायां प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य बन्धो नियमेन रसश्चानन्तगुणहीनो वक्तव्यः ॥१२८६-८८॥

अथ सप्तस्वेकेन्द्रियमार्गणाभेदेषु प्रकृतं दिदर्शयिषुस्तावत्कतिपयप्रशस्तप्रकृतिसत्कं दर्शयति—

एगस्स पसत्थाओ णरायवाउदुगउच्चवज्जाओ । तिव्वरसं बंधंतो एगिंदियसव्वभेएसुं ॥
अण्णाण छत्तीसाए णियमा गुरुमुअ रसं छठाणगयं । अगुरुं बंवेइ सिआ णरदुग-उज्जोअ-उच्चाणं ॥
णियमा असुहधुवपुरिस-हस्स-रईणं अणंतगुणहीणं । तिरिदुग-णीआण सिआ बंधइ उज्जोअगुरुबंधी ॥
गुरुमुअ छठाणपतितं णियमा सुधुवुरलदुगपणिंदीणं । सुखगइ-संघयणागिइ-परघू-सास-तसदसगसायाणं ॥

असुहधुव-हस्स-रइ-पुम-तिरिदुग-णीआणऽणंतगुणहीणं। णियमा बंधइ णेयो अपज्जमणुयव्व सेसाणं॥
(तुर्या गीतिः) (मूलगाथा-१२८९-९३)

(प्रे०) **'एगस्से'** त्यादि, तत्र मनुष्यद्विकादीनां वर्जनम् , तेजो-वायुकायिकादीनाश्रित्य तद्बन्धस्य नियमत्वाऽभावात् । षट्स्थानगतन्तु सर्वासामुत्कृष्टरसबन्धस्य तीव्रविशुद्ध्या साध्यत्वात् । ताश्च प्रशस्ताः प्रकृतयस्सप्तविंशतिः, **तद्यथा**-पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धष्टकं प्रथमसंहननं प्रथमसंस्थानं प्रशस्तविहायोगतिनाम पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकं सातवेदनीयञ्चेति । **'असुह'** मित्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्, पूर्वार्धगतानि **'गुरु'** मित्यादीनि चत्वारि पदानीहाऽपि योज्यानि । स्याद्बन्धस्तु नरद्विकोच्चैर्गोत्रे तेजोवायुकायिकैर्न बध्येत इति कृत्वोद्योतनाम्नस्तु बन्धस्यैव तथात्वात् । **'णियमे'** त्यादि, तृतीयगाथा । सुविशुद्धस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् पुरुषवेदादीनामपि नियमाद्बन्धः । अनन्तगुणहीनत्वाभासप्रशस्तत्वात् । **'तिरिदुगे'** त्यादि, तृतीयगाथोत्तरार्धम् । **'अणंतगुणहीण'** मितीहाऽपि सम्बध्यते, अनन्तगुणहीनं तु प्राग्वत् । स्याद्बन्धस्तु तेजोवायुवर्जानां सुविशुद्धानां तद्बन्धाभावात् । अथोद्योतनामसत्कं प्रकृतमाह—**'उज्जोअगुरुबंधो'** त्यादिना, **'गुरुसुभ'** इत्यादि, चतुर्थगाथा । षट्स्थानगतं पूर्ववत् । नियमाद्बन्धोऽपि तथैव । **'असुहधुवे'** त्यादि, तत्र तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरपि नियमाद्बन्धस्तु प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात् । **'अपज्जमणुयव्व'** त्ति उक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽपर्याप्तमनुष्यवद्भवति, कुतः ? यथा तत्र तथेहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धकास्तीव्रसंक्लिष्टास्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टास्तत्प्रायोग्यविशुद्धा वेति कृत्वा, स्वामिनां सादृश्यादिति भावः । अत्रेदमपि बोध्यम्-प्रस्तुतमार्गणासु सर्वसर्वविशेषेणाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद्भवितुमर्हति, नवरं तेजोवायूनां मार्गणाप्रविष्टत्वेन तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रोद्योतसत्कविशेषोपलम्भादयं विस्तरप्रसङ्ग इति । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत्मनुष्यत्रिकं तिर्यक्त्रिकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपनाम स्थावरदशकमसातवेदनीयं हास्यरती शोकाऽरती वेदत्रिकं गोत्रद्विकञ्चेति पञ्चाशीतिरिति ॥१२८९-९३॥

अथ तेजोवायुकायसर्वभेदेषु प्रस्तुतमाह—

एगिंदियव्व णेयो उज्जोअस्स सयलऽगिगवाऊसु । सेसाण अपज्जणरव्व णवरि सुहुमत्तवीसाए ॥
तह हस्स रइ पुरिस-थीचउसंघयणाईण गुरुबंधो । णियमाऽणंतगुणूणं तिरिदुगणीआण मि ण पडिवक्खा
(गीतिः) (मूलगाथा-१२९४-९५)

(प्रे०) 'एगिंदिये' त्यादि, उद्योतनाम्नस्सन्निकर्ष एकेन्द्रियमार्गणावद्भवति, स्वामिनामविशेषात् । अथ शेषप्रकृतीनां सन्निकर्षोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावदिति **'सेसाणे'** त्यादिनाऽतिदिशति । किन्तु तत्र सुविशुद्ध्या तिर्यग्द्विकस्य बन्धाऽभावोऽत्र तु तिर्यग्द्विकस्य नियमाद्बन्धोऽतः **'णियमे'**-त्यादिना विशेषो दर्शितः । अनन्तगुणहीनरसस्तु तिर्यग्द्विकस्याऽप्रशस्तत्वादुत्कृष्टसंक्लेशेनैवोत्कृ-

ष्टरसस्य बध्यमानत्वादपोद्यमानप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य तद्भिन्नाध्यवसायेन बध्यमानत्वादिति । अपोद्यमानप्रकृतय इमाः—पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-प्रशस्तध्रुवाष्टक-प्रथमसंहनन-प्रथमसंस्थान-प्रशस्तखगतिपराघातोच्छ्वास-त्रसदशक-सातवेदनीयरूपाश्शुभसप्तविंशतिप्रकृतयस्तथा हास्य-रति-स्त्री-पुरुषवेदप्रकृतयस्तथा 'खउ' इत्यादि, द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमसंहननचतुष्कद्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमसंस्थानप्रकृतय इति ॥१२९४-९५॥

अथौदारिकमिश्रमार्गणायां सम्यग्दृष्टिना बध्यमानोत्कृष्टरसानां प्रकृतमाह—

एगरस्स उरलमीसे सुहसुरजोग्गाउ तित्थवज्जाओ । गुरुबंधी अण्णेसिं णियमा गुरुसुभ छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआऽसुहधुवपणतीसाअ रइहस्सपुरिसाण । णियमाऽणंतगुणूणं बंधइ एमेव तित्थस्स ॥
(मूलगाथा—१२९६-९७)

(प्रे०) 'एगरसे' त्यादि, तत्र जिननाम्नो वर्जनं तद्बन्धस्य नियमत्वाभावादिति । षट्स्थानगतन्तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रविशुद्धया बध्यमानत्वात् । 'तित्थस्स' इत्यादि, 'गुरु' मित्यादीनि त्रीणि पदानीहाऽपि योज्यानि, तदुत्कृष्टरसस्याऽपि तीव्रविशुद्धया सम्भवात् । स्याद्बन्धस्तु विशिष्टसम्यग्दृष्टेरेव तद्बन्धसद्भावात् । 'ऽसुहधुवे'त्यादि, चकारोऽत्र व्याख्यानतो ज्ञेयस्ततः पञ्चत्रिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां रति-हास्यमोहनीय-पुरुषवेदानाञ्चेति । अप्रशस्तत्वादनन्तगुणोनम् , नियमाद्बन्धस्तु पञ्चत्रिंशतो ध्रुवबन्धित्वात् , पुरुषवेदस्य तु सम्यग्दृष्टीनां प्रतिपक्षवेदयोर्बन्धाऽभावात् , हास्यरत्योश्च सुविशुद्धसम्यग्दृष्टेः प्रतिपक्षयुगलबन्धाऽभावात् । अथ जिननामसत्कमतिदिशति–'एमेव' त्ति अनन्तरोक्तवदेव, सम्भाव्यमानविशेषस्तु स्वयं द्रष्टव्यः, तद्यथा-'अण्णेसिं' मिति स्थाने 'सव्वेसिं' मिति ज्ञेयम् , तथा 'तित्थस्स सिआ' त्ति न वाच्यं, तत्प्ररूपणायाः प्रस्तुतत्वात् । इमाश्च तास्सुरयोग्याशुभाः–देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, प्रथमसंस्थानं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्येकोनत्रिंशत् ॥१२९६-९७॥

अथोक्तातिरिक्तप्रकृतीनां प्रकृतमतिदेशद्वारेणाह—

मणुयोरालदुगवइरउज्जोआण हवेज्ज तिरियव्व । सेसाण विण्णेयो असमत्तपणिंदितिरियव्व ॥
(मूलगाथा—१२९८)

(प्रे०) 'मणुये' त्यादि, अत्रातिदेशस्तु तिर्यग्गत्योघमार्गणावदिहाऽपि तदुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् । 'सेसाण' मित्यादि, अतिदेशस्त्विहाऽपि तदुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशादिजन्यत्वात् । अत्रेदं बोध्यम्-इहाऽऽयुर्वर्जप्रकृतीनां करणाऽपर्याप्तानाश्रित्य ज्ञेयम् ,लब्ध्यपर्याप्तानामुत्कृष्टरसबन्धाऽभावात् । आयुषोस्तु लब्ध्यपर्याप्तानाश्रित्य, करणापर्याप्तानामायुर्बन्धाऽयोगात् । अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां सर्वं लब्ध्यपर्याप्तानाश्रित्योक्तं द्रष्टव्यं, करणाऽपर्याप्तानां मार्गणाबाह्यत्वात् । शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः–अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत् , तिर्य-

ग्द्विकं, जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकं, तादृशं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपनाम, स्थावरदशकमसातवेदनीयं, हास्य-रती, शोका-ऽरती, त्रयो वेदा, मनुष्य-तिर्यगायुषी, नीचैर्गोत्रञ्चेति द्व्यशीतिरिति ॥१२९८॥

अथ कार्मणाऽनाहारमार्गणयोस्तीव्रसंक्लेशे सति यासां नियमादुत्कृष्टरसबन्धस्तत्सत्कमाह—

कम्माणाहारेसु असुहधुव असाय-सोग अरईओ । तह हुंड णपुंसग-तिरिदुग-पणअथिराइ-णीआओ ॥
एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुअ छठाणगयं । थावरचउगेगिंदिय-छिवट्ठ-कुखगइ-सराण सिआ ॥
सुहधुवुरलाण णियमाऽणंतगुणूणं सिआ पणिंदियस्स । उरलोवंगायवदुग परघा-ऊसास-तसचउक्काण ॥
(गीतिः) (मूलगाथा—१२९९-१३०१)

(प्रे०) '**कम्मणे**' त्यादि, '**थावरे**' त्यादि, स्याद्बन्धो भिन्नभिन्नगतिकबन्धकानाश्रित्य तदबन्धस्याऽपि सद्भावात्, तद्यथा—स्थावरचतुष्कमेकेन्द्रियजातिश्च नारकैर्न बध्येते । सूक्ष्मत्रिकं देवैरपि न बध्यते, सेवार्त्त-कुखगति-दुःस्वरास्तीव्रसंक्लिष्टैरीशानान्तदेवैर्न बध्यन्त इति । '**सुहधुवे**' त्यादि, तत्रानन्तगुणोनं, तासां प्रशस्तत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतमार्गणयोस्तीव्रसंक्लिष्टस्य तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वात् । '**सिअ**' त्यादि, पञ्चेन्द्रियादित्रसचतुष्कातपसानानाम्, अनन्तगुणानमनन्तरोक्तवद् । स्याद्बन्धस्तु प्राग्वत् ॥१२९९-१३०१॥

अथ तत्रैव पञ्चेन्द्रियजात्यादिसत्कमाह—

बंधतो तिव्वरसं एगस्स पणिंदि-साय-उच्चाओ । सुखगइ-आगिइ-धुवपरघा-ऊसास तसदसगाओ ॥
णियमाऽण्णंमि तिव्वं अहव अतिव्वं रसं छठाणगयं । बंधइ सिआ सुर-विउव-णह-रलदुग वइर-तित्थाणं ॥
पुम-रइ-हस्साण असुहधुवबंधिणं च पंचतीसाए । णियमाऽणंतगुणूण बंधइ एमेव तित्थस्स ॥
(मूलगाथा—१३०२-४)

(प्रे०) '**बंधंतो**' इत्यादि, तत्र चकारस्याऽदर्शनेऽपि पञ्चेन्द्रियजातिनाम-सातवेदनीयोच्चैर्गोत्रेभ्यः सुखगत्यादित्रसदशकपर्यवसानाभ्यश्चेति भावः । सुशब्दस्याऽग्रेऽपि योजनात् सुखगतिः शुभाकृतिस्समचतुरस्रमित्यर्थः, सुध्रुवबन्धिन्यः प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टावित्यर्थः, सर्वा अप्येताः पञ्चविंशतिः । '**णियमे**'त्यादि, नियमाद्बन्धस्तु इह सुविशुद्धस्य सम्यग्दृष्टित्वेन तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । षट्स्थानगतन्तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रविशुद्ध्या सम्भवात् । '**बंधइ**'त्यादि, 'तिव्व' मित्यादिपदपञ्चकमिहाऽपि योज्यते, स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नगतिकबन्धकानाश्रित्य । '**पुमे**' त्यादि, पुरुषवेदादीनां त्रयाणामपि नियमाद्बन्धस्तु सुविशुद्धसम्यग्दृष्टेस्तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणोनत्वमासामप्रशस्तत्वात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-'**एमेव**' त्ति अनन्तरोक्तवदेवेति । उत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्ष इति गम्यते ॥१३०२-४॥

अथ तत्रैवोक्तातिरिक्तानां प्रकृतीनां लाघवार्थमतिदिशति—

मणुयोरालदुग-वइर-दुस्सर-छेवट्ठ-असुहखगईण । णिरयव्व सण्णियासो ओघव्वुज्जोअणामस्स ॥

सेसाण इवेज्ज उरलमीसव्व परं सठाणव्व । एगिंदिय-थावर गुरुबंधी बंधेइ णामाणं ॥
कुणइ अणंतगुणूणं सिआ दुजाइ-कुखगई-सराण तहा । पराघा-ऊसासग तस-थावरचउगाण इस्सरइबंधी ॥
(द्वि० उपगीतिः, तृ० गीतिः) (मूलगाथा-१३०५-७)

(प्रे०) '**मणुयोराले**'त्यादि, मनुष्यद्विकादीनामष्टानां प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकौघ-मार्गणोक्तो ज्ञेयः, कुतः ? नारकाणामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । ओघवदुद्योतनाम्नः सन्निकर्षो ज्ञातव्यस्सप्तमनारकत्वेनोभयत्र स्वामिनामविशेषात् । '**सेसाणे**'त्यादि, द्वितीयगाथा । '**उरले**'त्याद्युक्तशेषाणामौदारिकमिश्रमार्गणावत् स भवति, कुतः ? यथा तत्र तथेहाऽपि तदुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्तत्प्रायोग्यविशुद्धस्स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लिष्टस्स्वस्थानोत्कृष्टविशुद्धो वा स्वामीति कृत्वा । उक्तशेषाः प्रकृतयश्चेमाः-देवद्विकं, जातिचतुष्कं, वैक्रियद्विकं, मध्यमसंहननचतुष्कं, मध्यमसंस्थानचतुष्कमातपनाम, स्थावरचतुष्कं, हास्य-रती, स्त्रीपुरुषवेदौ चेति पञ्चविंशतिरिति । '**पर**'मित्यादिना विशेषं दर्शयति-एकेन्द्रिय-स्थावर-नामप्रकृत्योः सन्निकर्षे नामप्रकृतीनां सन्निकर्षस्स्वस्थानवद्वक्तव्यः । कुत इति चेदुच्यते-औदारिकमिश्रमार्गणायामेकेन्द्रियस्थावरयोरुत्कृष्टरसबन्धकस्सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणप्रायोग्यं बध्नाति, अत्र तु देवानामपि तद्बन्धकत्वाद् बादरपर्याप्तप्रत्येकप्रायोग्यमपि बध्नाति, तस्मादुक्तं 'सठाणव्व...णामाणं' इत्यादि । अथ '**कुणई**' त्यादितृतीयगाथया हास्य-रतिसत्कं विशेषं दर्शयति । गाथार्थः सुगमः । भावार्थः पुनरयम्-हास्य-रति-प्रकृत्योरुत्कृष्टरसबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्य-पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य-सूक्ष्मापर्याप्त-साधारणप्रायोग्यबन्धकत्वादुक्तप्रकृतीनां स्याद्बन्धस्तथा प्रकृतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशवत्त्वात् कथितप्रकृतीनां बन्धकेन तदन्याध्यवसायेनोत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वाद्रसोऽनन्तगुणहीनः कथित इति ॥१३०५-७॥

अथ स्त्रीवेदमार्गणायामादौ तावत्तीव्रसंक्लेशबध्यमानोत्कृष्टरसानां प्रस्तुतमाह—

असुहधुव-असाय-णपुम-सोगारइणीअहुंडगाउ तह । पणअथिराईहिंतो गुरुबंधी थीअ एगस्स ॥
णियमाऽणंतंमि तिव्वं अहव अतिव्व रसं छठाणगयं । णिरय तिरिदुगेगिंदिय-थावर-कुखगइ-सराण सिआ ॥
विउव्वा-ग्गुरुल-तस-पणिंदियाण व अणंतगुणहीणं । बंधइ णियमा सुहधुव-परघा ऊसास-बायरतिगाणं ॥
(गीति.) (मूलगाथा-१३०८-१०)

(प्रे०) '**असुहधुवे**' त्यादि, तत्र '**थीअ**' त्ति स्त्रीवेदमार्गणायाम् । अशुभध्रुवादयश्चतुःपञ्चाशत्प्रकृतयः । '**णिरये**'त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । 'तिव्व'मित्यादीनि पञ्चपदानीहाऽपि योज्यानि । स्याद्बन्धस्तु नानागतिकांस्तदुत्कृष्टरसबन्धकानाश्रित्य । '**विउव्वे**'त्यादि, वाकारो विकल्पार्थकस्स्याद् बध्नातीति भावः, हेतुः प्राग्वत् । अनन्तगुणहीनं तु प्रशस्तत्वात् । '**बंधइ**'त्यादि तृतीयगाथोत्तरार्धमनन्तगुणहीनमितीहाऽपि बोध्यम् । पराघातनामादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु मानुषी-तिरश्चीनां नरकप्रायोग्यबन्धकत्वात्, देवीनान्तु पर्याप्तबादर-प्रत्येकैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वादिति ॥१३०८-१०॥

अथ तत्रैव सेवार्त्तसंहननसत्कमाह–

तिव्वरसं बंधंतो छेवट्ठस्स उ बिइंदियरस-सिआ। बंधेइ रसं तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
कुखगइ-सर-परघा-ऊसासुज्जोअग-पणिंदियाण तहा। पज्ज-अपज्जाण सिआ अणंतगुणऊणियं णियमा॥
असुहधुव-असाय-णपुम-सोगा-रइतिरि-उरालियदुगाणं। पत्तेअ-हुंड-बायर-तस-पण अथिराइ-णीआणं॥
(मूलगाथा—१३११-१३)

(प्रे०) '**तिव्वरस**' मित्यादि, सेवार्त्तस्योत्कृष्टरसं बध्नन् द्वीन्द्रियजाते रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा स्याच्च बध्नाति । स्याद्बन्धस्तु देव्यास्तद्बन्धाऽभावात्। '**कुखगइ**' त्यादि, तथाकारस्समुच्चायकः। अनन्तगुणोनन्तु कुखगत्यादीनामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् पराघातनामादीनान्तु प्रशस्तत्वात् । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नगतिकांस्तदुत्कृष्टरसबन्धकानाश्रित्य। '**असुहधुवे**' त्यादि, अनन्तगुणहीनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वेनाऽष्टादशकोटीकोटीसागरमितस्थितिबन्धकत्वादासामुत्कृष्टरसस्य तु तीव्रसंक्लिष्टेन विंशतिकोटीकोटीसागरप्रमितस्थितिबन्धकेन जन्यत्वात्। औदारिकद्विकादीनान्तु प्रशस्तत्वात् । द्वितीयगाथाप्रान्तवर्त्ति 'णियमे' ति पदमत्र योज्यम्। नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य संक्लिष्टत्वे सति त्रसप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् ॥१३११-१३॥

अथोक्तातिरिक्तानां प्रकृतीनां सापवादमतिदिशति—

भवणतिगव्व तिरियदुग-पगक्खुज्जोअ-थावराण भवे। तिरियव्व णिरयदुगकुखगइकुसराण इअराण ओघव्व॥
णवरं णियमा बंधइ अणुभागं खलु अणंतगुणहीणं। पुमचउसंजलणाण साय-जसुच्चगुरुरसबंधी ॥
णेव णरुरलदुगवइरबंधी बंधइ जिणं छिवट्ठस्स। बेइंदियगुरुबंधी गुरुमगुरुं वा छठाणगयं॥
(प्र० गीति.) (मूलगाथा--१३१४-१६)

(प्रे०) '**भवणतिगव्वे**' त्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायामित्यनुवर्त्तते। अतिदेशस्तु देवीनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात्। नवरमुद्योतस्योत्कृष्टरसो देवीभिरपि बध्यत इति कृत्वा । '**तिरियव्वे**' त्यादि प्रथमगाथोत्तरार्धम्, अतिदेशस्तु तिरश्चीनामपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वान्न पुनर्देवीनामिति। '**इयराणे**' त्यादि सुगमम्। 'णवरं' इत्यत्रायं विशेषः–सातवेदनीय-यशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्राणां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकः पुरुषवेदचतुःसंज्वलनानां रसमनन्तगुणहीनं मार्गणाप्रायोग्यजघन्यं बध्नाति। खलुरवधारणे। ओघे तु पुरुषवेदादीनां बन्धो नाऽभूत्, सातवेदनीयाद्युत्कृष्टरसबन्धकस्य दशमगुणस्थानकवर्त्तित्वात्। अथ द्वितीयं विशेषं दर्शयति–'णेवे'त्यादि। मनुजद्विकौदारिकद्विकप्रथमसंहननानामुत्कृष्टरसबन्धको जिननाम न बध्नाति, सम्यग्दृष्टिदेवीनां तद्बन्धकत्वाभावात्तासां च तद्बन्धाभावादिति। 'छिवट्ठे' त्यादिना तृतीयो विशेषो ज्ञाप्यः, तद्यथा–द्वीन्द्रियजातिनामोत्कृष्टरसबन्धकस्सेवार्त्तसंहननस्य रसमुत्कृष्टं षट्स्थानपतितमनुत्कृष्टं वा बध्नाति, तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशरूपसमानसंक्लेशेन द्वयोरुत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वादिति। अबध्यमानप्रकृतीनां शेषः सन्निकर्ष ओघव-

द्रष्टव्यः । शेषाः प्रकृतयश्चेमाः–मनुष्यद्विकं, देवद्विकमेकेन्द्रियवर्जजातिचतुष्कमौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, चरमवर्जसंहननपञ्चकं, चरमवर्जसंस्थान-पञ्चकं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, जिननामाऽऽतपनाम, सूक्ष्मत्रिकं, त्रसदशकं, हास्य-रती, स्त्रीपुरुषवेदावायुश्चतुष्कं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति षष्टिरिति ॥१३१४-१६॥

अथ पुरुषवेद-क्रोधादिकषायाऽवेदमार्गणासु सन्निकर्षमाह—

ओघव्व सण्णियासो पुरिसे कोहमयमायलोहेसुं । सव्वेसिं होइ णवरि सायजसुच्चगुरुसबंधी ॥
कमसो संजलणाणं चउ-चउ ति-दु-एगलोहपमुहाणं णियमाऽणतगुणूणं उज्जोअस्स अमरव्व पुमे ॥
तिसुहाणोघव्व भवे अवेअ-सुहुमेसु असुहगुरुबंधी । असुहाण गुरुं णियमा तिसुहाण अणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा–१३१७-१९)

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, पुरुषवेद-क्रोध-मान-माया-लोभमार्गणासु सर्वासां प्रकृतीनां सन्निकर्ष ओघवद्भवति । किं सर्वथौघवदुत कश्चिद्विशेषोऽस्ति ? अस्ति तस्माद् 'णवरी' त्यादिना तं दर्शयति । ओघे सातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको मोहनीयस्य सर्वथाऽबन्धकोऽत्र तु क्रमेण स सञ्ज्वलनकषायप्रकृतिषु पुरुषवेद-क्रोधमार्गणयोः सञ्ज्वलनचतुष्कस्य, माने तु मान-माया-लोभरूपसञ्ज्वलनत्रिकस्य, मायामार्गणायां पुनर्माया-लोभात्मकसञ्ज्वलनद्विकस्य, लोभमार्गणायां केवलं सञ्ज्वलनलोभस्य नियमेन बन्धको रसमनन्तगुणहीनं बध्नाति, हेतुः प्रतीतः । अथ 'उज्जोअस्स' इत्यादिना पुरुषवेदमार्गणायां विशेषमाह–उद्योतनाम्नः संनिकर्षः पुरुषवेदे देवमार्गणावत्कथनीयः न ओघवत्, तमस्तमसां नारकाणामप्रवेशादिति । 'तिसुहे' त्यादितृतीयगाथयाऽवेदसूक्ष्मसम्परायमार्गणयोः प्रस्तुतमाह 'तिसुहाणे' ति सातवेदनीय-यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपत्रिशुभप्रकृतीनां सन्निकर्ष ओघवद्भवति, स्वामिनामविशेषात् । 'असुहे' त्यादि पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण पञ्चान्तराय-चतुःसञ्ज्वलनरूप स्वष्टादशाऽशुभप्रकृतिषु सूक्ष्मसम्पराये पुनः संज्वलनवर्जचतुर्दशप्रकृतिष्वेकतमाया उत्कृष्टरसबन्धकश्शेषसप्तदशप्रकृतीनां त्रयोदशानां च नियमेन बन्धको रसं पुनरुत्कृष्टमेव बध्नाति, अवरोहकोपशामको मार्गणाचरमसमये बध्नातीति कृत्वा ॥१३१७-१९॥

अथ नपुंसकवेदमार्गणायां प्रकृतं बिभणिषुस्तावत्तीव्रसंक्लेशबध्यमानोत्कृष्टरसप्रकृतिसत्कमाह–

असुहधुव-असाय-णपुम-सोग-अरइ-हुंडअथिरछक्काओ । तह कुखगइ-णीआओ णपुमे एगस्स गुरुबंधी ॥
णियमाऽण्णेसिं तिव्व अहव अतिव्व रसं छठाणगयं । बंधेइ मिआ णारगतिरिदुगछेवट्ठणामाणं ॥
बधइ मिआ विउव्विरलदुग-उज्जोआणऽणंतगुणहीणं । णियमा पणिंदि-सुहधुव-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं ॥
(तृ० गीतिः) मूलगाथा -१३२० २२)

(प्रे०) 'असुहधुवे' त्यादि, तत्र 'असुहधुवे' ति त्रिचत्वारिंशत् । तथाकारस्समुच्चायकस्ततश्चाऽप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादिनीचैर्गोत्रपर्यन्ताभ्यः षट्पञ्चाशत्प्रकृतिभ्य एकस्या बन्धको ज्ञेयः ।

नियमाद्‌बन्धस्तु तीव्रक्लिष्टस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । षट्स्थानगतन्तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशसाध्यत्वात् । 'बंधेइ' त्यादि, द्वितीयगाथापश्चिमार्धम् । पूर्वार्धगतानि 'तिव्व' मित्यादीनि पञ्चपदानीहाऽपि योज्यानि । स्याद्‌बन्धस्तु भिन्नभिन्नतदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिन आश्रित्य तदबन्धस्य सम्भवात् । षट्स्थानगतन्तु प्राग्वत् । 'विउवे' त्यादि, तृतीयगाथा । तत्रानन्तगुणहीनं, प्रशस्तत्वात् । स्याद्‌बन्धोऽनन्तरोक्तवत् । 'पणिंदो' त्यादि तृतीयगाथापश्चिमार्धम् , 'अणंतगुणहीण' मितीहाऽप्यनुवर्तते, अनन्तगुणहीनत्वे हेतुः प्राग्वत् । नियमाद्‌बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् ॥१३२०-२२॥

अथ तत्रैव स्थावरचतुष्कादिसत्कमाह—

थावरचउगेगिंदियगुरुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं सोगारइ-असाय-णपुम-धुव-णीआणं ॥
णियमाऽणंतगुणूणं बंधेइ तिरियदुगस्स णिरयव्व । साय-जसु-च्चाण भवे इत्थिव्वोघव्व सेसाणं ॥
णवरि सुसुरजोग्गपयडिबंधी तित्थं ण तित्थगुरुबंधी । कुणइ अणंतगुणूणं सव्वेसिं बज्झमाणीणं ॥
(मूलगाथा—१३२३ २५)

(प्रे०) 'थावरे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्संज्ञी तिर्यग् मनुष्यो वा । 'सोगारई' त्यादि, प्रथमगाथापश्चिमार्धम् । द्वितीयगाथापूर्वार्धगतं 'णियमं' त्यादि पदद्वयमिह योज्यम् । अनन्तगुणोनन्तु तदुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । नियमाद्‌बन्धस्त्वपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यप्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अथ लाघवार्थमतिदिशति–'तिरिदुगे' त्यादिना. प्रस्तुतसन्निकर्ष इति गम्यते, अतिदेशस्तु प्रस्तुतमार्गणायां तदुत्कृष्टरसबन्धस्य नरकस्वामिकत्वात् । 'सायजसे' त्यादि, अतिदेशस्तु स्वामिनोऽविशेषादिहापि तदुत्कृष्टरसबन्धकस्याऽनिवृत्तिबादरक्षपकत्वादिति भावः । 'ओघव्वे' त्याद्यतिदेशस्त्वोघवदिहाऽपि तदुत्कृष्टरसस्य मध्यमविशुद्ध्यादिना बध्यमानत्वात् , स्वामिसाम्यादिति तात्पर्यम् । 'णवरि' इत्यादि, तृतीयगाथया विशेषं दर्शयति-सुसुरप्रायोग्यबन्धको जिननाम न बध्नाति, चरमशरीरिणो नपुंसकस्य जिननाम्नो बन्धाऽभावात् । 'तित्थे' त्यादिना द्वितीयो विशेषः । जिननामोत्कृष्टरसबन्धकः प्रस्तुतमार्गणायामुपशामक इति कृत्वा तत्मात्रं बध्यमानानां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणहीनं बध्नाति । शेषसन्निकर्ष ओघवद्वक्तव्यः । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः–नरकद्विकं, मनुष्यद्विकं, देवद्विकमेकेन्द्रियवर्जजातिचतुष्कमौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, हुण्डकवर्जसंस्थानपञ्चकं, संहननषट्कं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, आतपोद्योतनाम्नी, जिननाम, यशःकीर्तिवर्जत्रसनवकं, हास्यरती, स्त्री-पुरुषवेदावायुश्चतुष्कञ्चेत्यष्टपञ्चाशदिति ॥१३२३ २५॥

अथ विज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतं विभणिषुरादौ तावत्तीव्रसंक्लेशजन्योत्कृष्टरसाः प्राधान्येनाह—

एगस्स तिव्वबंधी तिणाण ओहीसु सम्म-खइएसुं । हस्स-रइवज्जअसुहा णियमाऽणणाण गुरुमुअ छठाण-गं ॥

णर-सुर-उरल-विउव्वदुग-वइर-जिणाण व अणंतगुणहीणं । णियमाउ तेवज्जाणं सुहसेसाणं णवीसाए ॥
(मूलगाथा—१३२६ २७)

(प्रे०) 'एग से' त्यादि, 'ओहि' त्ति अवधिदर्शनमार्गणा । 'सम्म' त्ति सम्यक्त्वौघमार्गणा । तत्र हास्य-रत्योर्वर्जनम्, तदुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशजन्यत्वात् । ताश्चाशुभा द्विचत्वारिंशत्, तद्यथा—पञ्चत्रिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः शोकाऽरती पुरुषवेदोऽसातवेदनीयमस्थिराऽशुभाऽयशः-कीर्त्तिनामानि चेति । 'णरे' त्यादि, अनन्तगुणहीनन्तु तासां प्रशस्तत्वात्, स्याद्बन्धस्तु भिन्न-भिन्नगतिकांस्तद्बन्धकानाश्रित्य । 'णियमे'त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्, आयुषां वर्जनन्तु प्रतीतम्, अनन्तगुणहीनमितीहाऽपि सम्बध्यते । इमाश्च ता एकत्रिंशतिः-पञ्चेन्द्रियजातिनाम, प्रशस्त-ध्रुवबन्ध्यष्टकं, प्रथमसंस्थानं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिक-मुच्चैर्गोत्रञ्चे ति ॥१३२६-२७॥ अथ तत्रैव रति-हास्यसत्कमाह—

एगस्स तिव्वबधी रइहस्साउ इयरस्स णियमाओ । बंधेइ रसं तिव्वं अहव अतिव्व छठाणगयं ॥
णर-सुर उरल-विउव्वदुग-वइर-जिणाण व अणंतगुणहीणं । णियमाउग-साय-अरइ-सोग-थिर-सुहजसवज्जसेसाणं॥
(गीतिः) (मूलगाथा—१३२८-२९)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, गतार्थम् । 'णरे' त्यादि । तत्र वाकारो विकल्पार्थकस्ततश्च नर-द्विकादिदशप्रकृतीः स्याद् बध्नातीति । 'णियमे' त्यादि 'अणंतगुणहीण' मिति पदमिहाऽपि सम्बध्यते, आयुरादीनां वर्जनन्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्य प्रस्तुतबन्धकस्य तद्बन्धाऽभावात् । नियमाद्बन्ध-स्तु कासाञ्चिद् ध्रुवबन्धित्वात् कासाञ्चिच्च मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कवर्जोत्रिचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्योऽसातवेदनीयं, पुरुषवेदः, पञ्चेन्द्रियजातिः, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिक-मस्थिराशुभाऽयशःकीर्त्तिनामान्युच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१३२८-२९॥

अथ तत्रैव मनुष्यायुष्कादीनां प्रकृतमतिदिशति—

णिरयव्व सणिणयासो हवेज्ज मणुयाउगस्स ओघव्व । विण्णेओ सेसाणं अडतीसाए पसत्थाणं ॥
(मूलगाथा—१३३०)

(प्रे०) 'णिरयव्वे'त्यादि, नारकवदित्यतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसबन्धस्य स्वामी यथा नरकौ-घमार्गणायां सम्यग्दृष्टिस्तथैवेहापि, स्वामिसाम्यादिति भावः । 'विण्णेयो' इत्याद्युत्तरार्द्धम्, 'ओघव्वे' ति पदमिह सम्बध्यते । अतिदेशे हेतुरनन्तरोक्तः । इमाश्च ता अष्टात्रिंशद्-मनुष्यद्विकं, देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिनाम वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकमाहारकद्विकं शुभध्रुवबन्ध्यष्टकं, प्रथमसंहनन-संस्थाने, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वास-जिननामानि, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रं, सातवेदनीयं, देवा-युष्कञ्चेति ॥१३३०॥ अथ मनःपर्यवज्ञानसंयमौघमार्गणयोः प्रकृतं दिदर्शयिषुरतिदिशति—

मणणाणसंजमेसुं आहारदुगव्व होइ असुहाणं । छत्तीसाअ सुहाणं तेत्तीसाअ खलु ओघव्व ॥
णवरि जिणणामकम्मं अपसत्थाण रइ-हस्सवज्जाणं । चउतीसाअ गुरुरसं बंधंतो संजमे णेव ॥
(मूलगाथा--१३३१-३२)

(प्रे०) 'मणणाणे' त्यादि, अत्रातिदेशः, उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्याप्रमत्तस्वामिकत्वात् , स्वामिसादृश्यादिति भावः । षट्त्रिंशदशुभाश्चेमाः-सप्तविंशतिरशुभध्रुवबन्धिन्यः, शोकाऽरती, हास्यरती, पुरुषवेदोऽसातवेदनीय-मस्थिरा-शुभा-ऽयशःकीर्तिनामानि चेति । 'सुहाण' मित्यादि, अतिदेशस्त्वोघोक्तस्वामिनामिह प्रवेशात् । इमाश्च तास्त्रयस्त्रिंशद् देवद्विकं, वैक्रियद्विक-माहारकद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिः, समचतुरस्रं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वास-जिननामनि, त्रसदशकं, देवायुः, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति । अथ संयमौघमार्गणायां विशेषमाह-'णवरि' इत्यादिना, कुतोऽयं विशेषः ? संयमौघमार्गणायां रति हास्यवर्जानामप्रशस्तानामुत्कृष्टरसबन्धकस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वात् जिननामबन्धकस्य संयतस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वाभावाच्चेति । रति-हास्ययोर्वर्जनन्तु तदुत्कृष्टरसबन्धकस्य स्वस्थानतत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वेन जिननामबन्धाऽविरोधात् ॥१३३१-३२॥

अथाऽज्ञानत्रिकादिमार्गणायामादौ तावत्कतिपयप्रकृतिसत्कमाह—

एगस्स तिव्वबंधी सुराउवज्जसुहदेवजोग्गाओ । अण्णाणतिगे मिच्छे अणेसि अट्ठतीसाए ॥
णियमा बंधइ तिव्वं अहव अतिव्वं रस छट्ठाणगयं णियमाऽणंतगुणूण पुम-रइ-हस्सा-सुहधुवाणं ॥
(मूलगाथा—१३३३-३४)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्राऽशुभध्रुवास्त्रिचत्वारिंशत् सर्वा इत्यर्थः, आयुषो वर्जनं प्रतीतम् । पुरुषवेदादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य संयमाभिमुखत्वेन सुविशुद्धत्वात् । ततः किम् ? प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽसम्भवादिति । अनन्तगुणोनत्वमासामप्रशस्तत्वात् । देवायुर्वर्जाः प्रशस्ता देवयोग्याः प्रकृतयश्चेमाः—देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, समचतुरस्र , प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्येकोनत्रिंशदिति ॥१३३३-३४॥

अथ तत्रैव देवायुःसत्कमाह—

देवाउतिव्वबंधी णियमा बंधइ अणंतगुणहीणं । सुहसुरजोग्गाण तहा हस्स-रइ-पुमा सुहधुवाणं ॥
(मूलगाथा—१३३५)

(प्रे०) 'देवाउ' इत्यादि, तत्राऽनन्तगुणहीनत्वमायुरुत्कृष्टरसबन्धकस्य कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धाऽभावात् । हास्य-रत्यादीनां नियमाद्बन्धः, देवायुर्बन्धेन सह प्रकृतिबन्धविरोधेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावात् । शुभसुरयोग्यास्त्वेकोनत्रिंशत् ताश्चाऽनन्तरोक्ताः । अशुभध्रुवाः सर्वास्त्रिचत्वारिंशदित्यर्थः ॥१३३५॥ अथ तत्रैव मनुष्यद्विकसत्कमाह—

एगस्स तिव्वबंधी मणुयदुगा बंधए रसं णियमा । अण्णस्स तह वइरुरलदुगाण गुरुसुभ छट्ठाणगयं ॥

सुहणरपाउग्गाणं तह असुहधुव-रइ-हस्स पुरिसाणं । णियमाहिन्तो बंधइ अणुभागमणंतगुणहीणं ॥

(मूलगाथा—१३३६-३७)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र पट्स्थानगतं सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तुल्यविशुद्ध्या जन्यत्वात् । 'सुहणरे'त्यनेनोक्तशेषाः पञ्चविंशतिर्ग्राह्याः, वज्रर्षभनाराचादीनां पृथगुक्तत्वात् । अनन्तगुणहीनन्तु शुभानामुत्कृष्टरसस्य संयमाऽभिमुखेनाऽप्रशस्तध्रुवाणां तीव्रसंक्लिष्टेन रत्यादीनाञ्च तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन बध्यमानत्वात् । ततः किम् ? प्रस्तुतबन्धकस्तु सम्यक्त्वाभिमुखः सुविशुद्ध इति कृत्वा । उक्तशेषा मनुष्यप्रायोग्यशुभास्त्विमाः-पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति पञ्चविंशतिरिति ॥१३३६-३७॥ अथ वज्रर्षभनाराचादिसत्कं तत्रैवाऽऽह—

एगस्स तिव्वबंधी वइरुरलदुगाउ दोण्ह णियमाओ । तिव्वमुअ छठाणगयं णरदुग-उज्जोअगाण सिआ ॥
तिरिगोअदुगाण सिआ अणंतगुणहीणगं रसं णियमा । सेससुणरजोग्गाणं पुमरइहस्सासुहधुवाणं ॥

(मूलगाथा—१३३८-३९)

(प्रे०)'एगस्से'त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्सम्यक्त्वाभिमुखः । स्याद्बन्धस्तु सप्तमपृथ्वीनारकस्य तदवस्थस्याऽपि तिर्यग्द्विकबन्धसद्भावेन मनुष्यद्विकबन्धाऽभावात् शेषाणां तु तद्बन्धात् । उद्योतनाम्नस्तु तिर्यक्प्रायोग्यत्वेन सप्तमनरकनारकं विहाय शेषाणां बन्धाऽभावात् । 'तिरि'त्यादि, दुगशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् तिर्यग्द्विकं गोत्रद्विकञ्च । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नबन्धकानाश्रित्य, तद्यथा—तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रञ्च सुविशुद्धेनाऽपि सम्यक्त्वाभिमुखेन सप्तमपृथ्वीनारकेण बध्यते । तादृशैःशेषनारकैर्देवैस्तु न । उच्चैर्गोत्रन्तु तैर्बध्यते न तेनेति । अनन्तगुणहीनन्तु तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरप्रशस्तत्वात् । उच्चैर्गोत्रोत्कृष्टरसस्य च संयमाभिमुखेन बध्यमानत्वात् । 'सेससुणरे' त्याद्यनन्तरोक्तगाथावद् द्रष्टव्यमिति ॥१३३८-३९॥

अथ तत्तुल्यवक्तव्यत्वादुक्तशेषप्रकृतीनां सापवादमतिदिशति—

सेसाणोघव्व भवे णवर उज्जोअतिव्वरसबंधी । गुरुमुअ छठाणपतितं अगुरुं उरलदुगवइराणं ॥

(मूलगाथा—१३४०)

(प्रे०) 'सेसाणे' त्यादि, अतिदेशस्त्वोघवदिहाऽपि तदुत्कृष्टरसस्य स्वस्थानोत्कृष्टसंक्लिष्टादिमिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वात् । 'णवरं' इत्ययमत्र विशेषः । किमुक्तं भवति ? ओघ औदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचयोरुत्कृष्टरसबन्धकः सम्यग्दृष्टिदेवस्तादृशो नारकश्च, अत उद्योतोत्कृष्टरसबन्धकेन तयोरनन्तगुणहीनो रसो बध्यत इह तु यथोद्योतस्य तथैव तयोरप्युत्कृष्टरसः सम्यक्त्वाभिमुखेन बध्यते तत उक्तं 'गुरु' मित्यादि । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यस्तिर्यग्द्विकं, नरकद्विकं, जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपोद्योतनाम्नी, स्थावरदशकं, नीचैर्गोत्रमसातवेदनीयं, हास्यरती, शोकाऽरती, त्रयो वेदाः, आयुस्त्रिकञ्चेति षडशीतिरिति ॥१३४०॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् सामायिकच्छेदोपस्थापनीयमार्गणयोः संयमौघवत्सापवादम-तिदिशति—

सव्वाण संजमव्व उ समइअ-छेएसु णवरि णियमाओ। साय-जस-उच्चबंधी अंतिमलोहस्सऽणंतगुणहीणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१३४१)

(प्रे०) 'सव्वाणे' त्यादि, सर्वासामिति सामान्यनिर्देशः, 'णवरी' त्यादिना विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वात्। अतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां बाहुल्येन साम्यात्। किमुक्तं भवति? सातवेदनीयाद्युत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां न सादृश्यमत एव विशेषकथनप्रयोजनम्। विशेषश्चायम्—संयमौघमार्गणायां सातवेदनीयादीनामुत्कृष्टरसबन्धको दशमगुणस्थानकचरमसमयक्षपकः, इह तु मार्गणाचरमसमयवर्त्ती नवमगुणस्थानकचरमसमयक्षपक इत्यर्थः। ततः किम्? संयमौघमार्गणायां सातवेदनीयाद्युत्कृष्टरसबन्धकैर्मोहनीयं कर्म न बध्यते, दशमगुणस्थानवर्त्तित्वात्। इह तु तद् बध्यते, मार्गणाचरमसमयं यावत्तद्बन्धस्य संभवात्। अनन्तगुणहीनन्तु तस्याऽप्रशस्तत्वात्। प्रस्तुतबन्धकस्य च सुविशुद्धत्वादिति ॥१३४१॥ अथ परिहारविशुद्धिमार्गणायामाह—

परिहारे असुहाणं आहारदुगव्व तिव्वरसबंधी। तित्थाहारदुगाउगवज्जाउ सुहाउ एगस्स ॥
णियमाऽणणेसिं तिव्वं अहव अतिव्वं रसं छठाणगयं। बधेइ सिआ तिण्ह तित्थाहारदुगपयडीणं ॥
णियमाऽणंतगुणूणं असुहधुवाण रइ हस्स पुरिसाणं। तित्थाहारदुगाणं एवं देवाउगस्स ओघव्व ॥
(तृ० गीति) (मूलगाथा—१३४२-४४)

(प्रे०) 'परिहारे' त्यादि, अत्रातिदेशस्तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां सादृश्याभावेऽपि विशेषाऽभावात्। तद्यथा—तत्र तदुत्कृष्टरसबन्धकास्स्वस्थानतीव्रक्लिष्टा अत्र हि छेदोपस्थापनीयाऽभिमुखा इति। अशुभाश्चेमाः—सप्तविंशतिध्रुवबन्धिन्यो हास्य-रती शोका-ऽरती पुरुषवेदोऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्त्यसातवेदनीयानि चेति षट्त्रिंशत्। 'तिव्वरसबंधी' त्ति पदमुत्तरार्धे योज्यम्। तीर्थकराहारकद्विकयोर्वर्जनन्तु तद्बन्धस्य नियतत्वाभावात्। 'णियमे' त्यादि, द्वितीयगाथा। 'तिण्ह' मित्यनन्तरपदेन नामग्राहं वक्ष्यमाणानां तिसृणाम्। स्याद्बन्धस्तु सुविशुद्धानामपि केषाञ्चिदेव तद्बन्धप्रवर्त्तनात्। 'णियमे' त्यादि, तृतीयगाथा। तत्र चकारोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयस्ततश्चाशुभध्रुवाणां रति-हास्य-पुरुषवेदानाञ्चेति। अनन्तगुणोनन्त्वप्रशस्तत्वात्। नियमाद्बन्धस्तु सुविशुद्धस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। हास्य-रतिप्रतिपक्षभूतयोः रति-शोकयोरिह बन्धसम्भवेऽपि प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धत्वेन हास्य-रत्योरेव बन्धः प्रवर्त्तत इति भावः। अधिकृतशुभाश्चेमाः—देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं, ध्रुवबन्धिन्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रं, सातवेदनीयञ्चेत्येकोनत्रिंशदिति। अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति 'तित्थाहारे' त्यादि, 'एवं' इत्यनन्तरोक्तवदेव सत्त्यासामप्युत्कृष्टरसस्य तुल्यसुविशुद्धया जन्यत्वात्। 'देवाउगस्से' त्यादि, अतिदेशस्तु यथौघे तथेहापि तदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽप्रमत्त-

संयतस्वामिकत्वात् ।।१३४२-४४।।

अथाऽयतमार्गणायां प्रकृतं विमणिषुस्तावद्देवायुःसत्कमाह—

देवाउतिव्वबंधी अजए णियमा अणंतगुणहीणं । असुहधुवतिचत्तपुरिस-सुहसुरजोग्गरइ-हस्साणं ।।

(मूलगाथा-१३४५)

(प्रे०) 'देवाउ०' इत्यादि, तत्र नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य विशुद्धत्वेनाधिकृताध्रुवाणामपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । 'तिचत्त' त्ति प्रस्तुतबन्धकस्यैकत्रिंशत्सागरोपममितस्थितिबन्धकत्वेन तावत्स्थितिबन्धस्य द्रव्यलिङ्गिमिथ्यादृष्टेरेव सम्भवेन च निःशेषाणामप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां ग्रहणम् । इह देवप्रायोग्याः शुभा एकोनत्रिंशत्, ताश्चानन्तरगाथाविवृतिगता एव ।।१३४५।।

अथ देवप्रायोग्याणां शेषप्रशस्तप्रकृतीनामाह—

एगस्स तिव्वबंधी सुराउजिणवज्जसुसुरजोग्गाओ । णियमाऽण्णेसिं गुरुसुभ छठाणपतितमगुरुं जिणस्स सिआ ।।
णियमाऽणतगुणूणं हस्स-रइ-पुमाण पंचतीसाए । असुहधुवाण य एवं जिणस्स ओघव्व सेसाणं ।।

(मूलगाथा-१३४६-४७)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि गतार्थम्, अधिकृता देवप्रायोग्याः शुभास्त्वेकोनत्रिंशत्, ताश्च परिहारविशुद्धिमार्गणोक्ता एव । 'जिणस्से' त्यादि, षट्स्थानगतन्तु तदुत्कृष्टरसबन्धकस्याऽप्यप्रमत्ताभिमुखत्वात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतीतः, केषाञ्चिदेव तद्बन्धसम्भवात् । 'णियमे' त्यादि, द्वितीयगाथा । चकारोऽत्राऽप्यनुक्तो द्रष्टव्यस्ततश्च पञ्चत्रिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां रति-हास्य-पुरुषवेदानाञ्चेति । पञ्चत्रिंशत एव ग्रहणन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति 'एवं जिणस्स' अनन्तरोक्तवदेव जिननामोत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्षो वाच्यः, सम्भाव्यमानविशेषस्तु स्वयं ज्ञेयः तद्यथा-'अण्णेसिं' मिति स्थाने 'सव्वेसिं' मिति पठनीयम् । 'जिणस्स सिआ' इति नैव वाच्यम्, तदेव प्रधानीकृत्य प्रस्तुतत्वात् । अथोक्तशेषाणामतिदिशति-'ओघव्वे' त्यादि, अतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिसाम्यात् । इमाश्च ता उक्तशेषाः-अज्ञानत्रिकादिमार्गणासु 'सेसाणे' त्यादि (१३४०) गाथाविवरणोक्ताः षडशीतिर्मनुष्यद्विकं, वज्रर्षभनाराचनामौदारिकद्विकञ्चेत्येकनवतिरिति ।।१३४६-४७।।

अथ कृष्णलेश्यामार्गणायां देवद्विक-वैक्रियद्विकसत्कमाह—

किण्हाए बंधंतो गुरु सुरविउव्वदुगाउ एगस्स । णियमाऽण्णाण गुरुमहव छट्ठाणगयं जिणस्स सिआ ।।
णियमाऽणंतगुणूणं बंधइ सेससुहदेवजोग्गाणं । पणतीसासुहधुव-पुम-हस्सरईणं जिणस्सेवं ।।

(मूलगाथा-१३४८-४९)

(प्रे०) 'किण्हाए' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः । शेषं सुगमम् । 'णियमे' त्यादि, द्वितीयगाथा । तत्राऽनन्तगुणोनमप्रशस्तानां तथात्वात् । शेषपञ्चविंशतिदेवप्रायोग्यशुभानान्तूत्कृष्टरसस्य सुविशुद्धैस्सम्यग्दृष्टिदेव-नारकैर्जन्यत्वात् । 'पणतीस' त्ति मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्कस्त्यानर्द्धित्रिकवर्जा अप्रशस्तध्रुवाः । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति-

'जिणस्सेव'मनन्तरोक्तवदेव । कश्चिद्विशेषस्तु स्वयं कर्तव्यः,तद्यथा-'अण्णाणे'ति स्थाने 'सव्वाणे'ति वाच्यम्, 'जिणस्स सिआ' इति तु न वाच्यम्, तदेव प्रधानीकृत्य प्रस्तुतत्वात् ॥ १३४८-४९॥

अथ तत्रैव देवायुःसरकमाह—

देवाउतिव्वबंधी तित्थस्स सिआ अणंतगुणहीणं । णियमाऽण्णसुहसुराहि-हस्स-रइ-पुमा-सुहधुवाण ॥
(मूलगाथा-१३५०)

(प्रे०) 'देवाउ०' इत्यादि, तत्रानन्तगुणहीनं, तदुत्कृष्टरसस्य तीव्रविशुद्धया संक्लेशेन वा जन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति । सुरार्हाः शेषशुभाश्चैकोनत्रिंशत्ताश्चेमाः- देवद्विकं, वैक्रियद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति । 'असुहधुव' त्ति पञ्चत्रिंशत्, प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वात् ॥१३५०॥

अथ तत्रैव लाघवार्थं तत्तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति—

सुहणरपाउग्गाणं जिणाउवज्जाण तुरियणिरयव्व । सेसाणोघव्व भवे अण्णे उ भणन्ति णपुमव्व ॥
(मूलगाथा-१३५१)

(प्रे०) 'सुहणरे' त्यादि, तत्र जिननाम्नो वर्जनं मनुष्यप्रायोग्यशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धो देवैर्नारकैर्वा क्रियत इति कृत्वा । ततः किम् ? प्रस्तुतमार्गणागतानां देवानां नारकाणां च भवप्रत्ययेन तद्बन्धाभावात् । आयुषो वर्जनं सुप्रतीतम्, कस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टरसबन्धावसर आयुर्बन्धाऽभावात् । 'तुरियणिरयव्वे' त्यतिदेशस्तूभयत्र जिननामबन्धाऽभावात् । मनुष्यप्रायोग्याश्शुभाश्चेमाः—मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति त्रिंशदिति । 'सेसाणोघव्व' त्यादि, तत्र 'सेसाणे'त्युक्तशेषाणाम्, अतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनां साम्याऽभावेऽपि प्रकृते विशेषाऽभावात् । अथेह मतान्तरमाह-'अण्णे' त्ति महाबन्धकारादयः । मतान्तरबीजन्तु तन्मते प्रस्तुतमार्गणायां देवानामुत्कृष्टरसबन्धाभावात् । यतो हि ते देवानामपर्याप्तावस्थायामेवाऽप्रशस्तलेश्यां मन्यत इति । शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो नरकत्रिकं तिर्यक्त्रिकं जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहननपञ्चकं संस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपद्विकं स्थावरदशकं नीचैर्गोत्रमसातवेदनीयं मनुष्यायुर्हास्य-रति-शोकाऽरतिवेदत्रिकाणि चेति षडशीतिरिति ॥१३५१॥

अथ नील-कापोतलेश्यामार्गणयोराह—

बंधंतो णिरयदुगा तिव्वं एगस्स णीलकाऊसु । णियमा अण्णस्स रसं गुरुमगुरुं वा छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणूण सेसाउगवज्जणिरयजोग्गाणं । बंधइ तित्थस्स कमा विण्णेया किण्हणिरयव्व ॥
(मूलगाथा—१३५२-५३)

(प्रे०) '**बंधंतो**' इत्यादि, गतार्थम् । '**णियमे**' त्यादि, द्वितीयगाथा । तत्राऽनन्तगुणोनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात्, एतदुत्कृष्टरसबन्धस्य तु तीव्रसंक्लेशेन विशुद्धया वा जायमानत्वात् । इमाश्च ता नरकयोग्या अधिकृतप्रकृतयः–एकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यः पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं हुण्डकमप्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वास-त्रसचतुष्का-ऽस्थिरषट्कप्रकृतयोऽसातवेदनीयं शोकारति-नपुंसकवेदा नीचैर्गोत्रञ्चेति त्रिसप्ततिरिति । अथ जिननामसत्कमतिदिशति–'**तित्थस्से**' त्यादिना । अयं भावः-नीललेश्यामार्गणायां जिननामोत्कृष्टरसबन्धस्य सन्निकर्षः कृष्णलेश्यामार्गणावत्, स्वामिसादृश्यादुभयत्र मनुष्य एव तदुत्कृष्टरसबन्धक इति भावः । कापोतलेश्यामार्गणायान्तु नरकौघवद्भवति तदुत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्यविशुद्धौ सत्यां मनुष्याणां लेश्यापरावृत्तेः, अवस्थितलेश्याकस्य नारकस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वादिति ॥१३५२–५३॥

अथ तत्रैव विकलत्रिकादिसत्कमतिदिश्य शेषसत्कमपि मतान्तरपूर्वकमतिदिशति—

किण्हव्व जाइ-थावरचउगा।यव-तिउव सुरदुगाऊणं । णवरि अणंतगुणूणं जिणस्स काऊअ देव-विउव्वदुगे ॥
उज्जोअस्स तिरिव्वऽण्णाण सुरव्व णिरयव्व बिंति परे । णवरि ण णीलाअ जिण तीससुणरजोग्गगुरुबंधे ॥
(प्र० गीति.) (मूलगाथा—१३५४–५५)

(प्रे०) '**किण्हव्वे**' त्यादि, तत्र '**चउग**' त्ति जातिचतुष्कं, '**आऊण**' मायुरिति सामान्येनोक्तत्वादायुश्चतुष्कम्, जात्यादयः पिण्डिताः प्रकृतयस्सप्तदश । अतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसबन्धकानामुभयत्र सादृश्यात् । '**णवरि**' इत्यादिना विशेषं दर्शयति–देव वैक्रियद्विकयोरुत्कृष्टरसबन्धको जिननाम्नस्स्याद्बन्धको रसन्त्वनन्तगुणहीनं बध्नाति, प्रस्तुतबन्धकस्य मनुष्यत्वेन तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वात् । '**उज्जोअस्से**'त्यादि । कुतः '**तिरिव्वे**'त्यतिदेशः ? मतद्वयसंग्रहार्थम्, तद्यथा–तदुत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः संज्ञिपञ्चेन्द्रियः । **मतान्तरेण** सुविशुद्धस्तेजःकायो वायुकायो वा । अन्यथा तु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद् मनुष्यौघवद्वेत्यप्यतिदेष्टुं पार्यते । ओघवत्तु नैव भवति, सप्तमपृथ्वीनारकस्य मार्गणाऽनन्तःप्रवेशात् । ओघे तु तस्यैव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वादिति । '**ऽण्णाण**' त्ति उक्तव्यतिरिक्तानामेकोत्तरशतप्रकृतीनां देवौघवदतिदेशस्तूत्कृष्टसंक्लेशेऽप्येकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिद्वयबन्धकस्य संग्रहार्थमिति । '**परे**' त्ति महाबन्धकारादयः, कुतस्ते '**णिरयव्वे**' ति ब्रुवन्ति ? तन्मते देवानामुत्कृष्टरसबन्धाऽभावाद्यतोऽपर्याप्तावस्थायामेव देवानामप्रशस्तलेश्या इति तेषां मतमिति । अथ '**णवरि ण णीलाअ**' इत्यादिना नीललेश्यामार्गणायां विशेषं दर्शयति, तद्यथा–सुनरप्रायोग्यप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धको जिननाम न बध्नात्यासामुत्कृष्टरसबन्धकानां नीललेश्याकनारकत्वाद्दादृग्देवत्वाद् वा तेषां च तद्बन्धाऽभावादिति ॥१३५४–५५॥

अथ तेजोलेश्यामार्गणायां प्रकृतं विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वादोघवदतिदिशति—

तेऊअ णर-उरलदुग-वइराणोघव्व देवजोग्गाणं । परिहारव्व सुद्दाणं सोहम्मव्वऽत्थि सेसाणं ॥
(मूलगाथा—१३५६)

(प्रे०) 'तेऊअ' इत्यादि, तत्रौघवत्तु यथौघे सुविशुद्धस्सम्यग्दृष्टिस्सुरस्तदुत्कृष्टरसबन्धकस्तथैवेहाऽपीति । 'देवजोग्गाणं' कीदृशानाम् ? शुभानाम् । कुतोऽतिदेशः ? यथा परिहारे तथैवेहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्याऽप्रमत्तस्वामिकत्वात् । देवप्रायोग्याः शुभाश्चेमास्त्रयस्त्रिंशद्-देवत्रिकं, वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिः, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, जिननाम, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति । 'सेसाण' मित्युक्तशेषाणाम् । अतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसबन्धस्य सौधर्मेशानसुरस्वामिकत्वादिति । शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्तिर्यग्द्विकमेकेन्द्रिजातिनामाद्यवर्जसंहननपञ्चकमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपद्विकं, स्थावरनामाऽस्थिरषट्कं, हास्य-रती, शोकारती, वेदत्रिकं, तिर्यग्मनुष्यायुषी, असातवेदनीयं, नीचैर्गोत्रञ्चेति सप्तसप्ततिरिति ॥१३५६॥

अथ पद्मलेश्यामार्गणायामतिदिशति—

पम्हाअ णर-उरलदुग वइराणोघव्व देवजोग्गाण । परिहारव्व सुहाणं सणंकुमारव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा—१३५७)

(प्रे०) 'पम्हाअ' इत्यादि, तत्र प्रायस्तेजोलेश्यावद्वक्तव्यत्वात् सर्वं गतार्थम् । सनत्कुमारवच्चिहैकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपनाम्नां बन्धाऽभावात् । सनत्कुमाराणामपि देवानां तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वाच्च । शेषाः प्रकृतयस्तु चतुःसप्ततिस्ताश्च तेजोलेश्यामार्गणोक्ता एकेन्द्रियस्थावरातपनामवर्जा बोद्धव्या इति ॥१३५७॥

अथ शुक्ललेश्यामार्गणायां प्रकृतमतिदेशद्वारेणाऽऽह—

सुक्काअ पसत्थाण सुरपाउग्गाण होइ ओघव्व । सेसाणं पयडीणं आणतदेवव्व विण्णेयो ॥
(मूलगाथा—१३५८)

(प्रे०) 'सुक्काअ' इत्यादि, अतिदेशस्त्वोघवदिहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य क्षपकस्वामिकत्वात् । 'सेसाण' मित्यादि पश्चिमार्धम् । तत्राऽतिदेशः, आनतदेवानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । शेषाः प्रकृतयस्तु तेजोलेश्यामार्गणोक्ता एकेन्द्रिय-स्थावरा-ऽऽतपद्विकतिर्यक्त्रिकवर्जाः सप्ततिर्मनुष्यद्विकमौदारिकद्विकं वज्रर्षभनाराचसंहननञ्चेति ॥१३५८॥

अथाऽभव्यमार्गणायां त्रिभङ्गिषुस्तावत् पञ्चेन्द्रियजात्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतिसत्कमाह—

बंधतो रसमभवे एगस्स गुरुं पणिंदिसायाओ । सुखगइ-अगिइ-धुव-परघा-ऊसास-तसदसगाओ ॥
णियमाऽणणेसि निव्वं अहव अनिव्वं रसं छठाणगयं । णर-सुर-उरल विउव्वदुग-उज्जो-उच्चवइराण भिआ ॥
तिरिदुग-णीआण सिआऽणतगुणूणं पुमा-सुहधुवाणं । हस्स-रईण धुवेवं उच्चस्स ण णीअ-तिरिदुगुज्जोआ ॥
(मूलगाथा—१३५९-६१)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, तत्र सुशब्दः 'धुवे'ति यावदनुवर्त्तव्यस्ततश्च सुखगतिः, स्वाकृतिस्समचतुरस्रमिति भावः । सुध्रुवबन्धिन्यस्ताश्चाष्टाविति । 'णियमे'त्यादि द्वितीयगाथा । 'ऽणणेसिं'

इति तदितरासां त्रयोविंशतेरिति । 'णरे' त्यादि पश्चिमार्धम् । 'तिक्ख'मित्यादीनि पञ्चपदानीहाऽपि योज्यानि, आसामप्युत्कृष्टरसस्य तीव्रविशुद्धया जायमानत्वात् । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नगतिकान् बन्धकानाश्रित्य, तद्यथा–पञ्चेन्द्रियजात्याद्युत्कृष्टरसबन्धको देवो नारको वा मनुष्यद्विकं बध्नाति, न मनुष्यो न वा तिर्यङ् । उद्योतनाम तु सप्तमपृथ्वीनारक एव बध्नाति, प्रस्तुतमार्गणागतस्य तस्य सुविशुद्धत्वेऽपि तिर्यक्प्रायोग्यबन्धसद्भावात् । शेषजीवास्तु तन्न बध्नातीत्येवं शेषमपि ज्ञेयं मतिमतेति । 'तिरिदुगे'त्यादि तृतीयगाथा । स्याद्बन्धस्त्वनन्तरोक्तादेव हेतोः । अनन्तगुणहीनन्तु तासामप्रशस्तत्वात् । 'पुमे' त्यादि । समुच्चिता जाताः प्रकृतयष्षट्चत्वारिंशत् । नियमाद्बन्धस्तु त्रिचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धित्वात् । सुविशुद्धौ पुरुषवेदादीनान्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । 'एवं उच्चस्से'त्यादिना लाघवार्थमतिदिशति–उच्चैर्गोत्रस्योत्कृष्टरसबन्धको न तिर्यग्द्विकोद्योतनीचैर्गोत्र-प्रकृतीनां बन्धको भवति, प्रकृतिबन्धविरोधादत उक्तं 'ण णीअतिरिदुगुज्जोआ' इति । ।।१३५९-६१।।

अथ तत्रैव देवायुःसत्कमाह––

देवाउतिव्वबंधी णियमा बंधइ अणंतगुणहीणं । सुहसुरजोग्गाणं तह इस्स-रइ-पुमा-सुहधुवाण ।।

(मूलगाथा—१३६२)

(प्रे०) 'देवाउ०' इत्यादि, तत्र सुरयोग्याश्शुभा एकोनत्रिंशत् । अशुभध्रुवास्त्रिचत्वारिंशत् । नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य विशुद्धत्वात् । अनन्तगुणहीनन्त्वायुरुत्कृष्टरसबन्धेन सह कस्या अप्युत्कृष्टरसबन्धाऽसम्भवात् । कुतः ? शुभानामुत्कृष्टरसः सुविशुद्धेनाशुभानां तु संक्लिष्टेन जन्यते, अयं बन्धकस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति ।।१३६२।।

अथ तत्रैव मनुष्यद्विकसत्कमाह—

एगस्स णरदुगा गुरुबंधी णियमाऽणसुणरजोग्गाणं । आउगवज्जाण रसं गुरुमगुरुं वा छठाणगयं ।।
णियमाऽणंतगुणूणं असुहधुवाण रइ-हस्स-पुरिसाणं ।

(मूलगाथा--१३६३)

(प्रे०) 'एगस्से'त्यादि, तत्रैकस्येति मनुष्यगतिनाम्नो मनुष्यानुपूर्वीनाम्नो वा । षट्स्थान-गतन्तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य सुविशुद्धया साध्यत्वात् । इमाश्च ताः शेषा नरयोग्याः प्रशस्ताः–मनुष्यद्विकेऽन्यतरदौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं; पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रथमसंहननं, प्रथमसंस्थानं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्येकोनत्रिंशदिति । 'णियमे'त्यादि द्वितीयगाथा । चकारस्य गम्यमानत्वादप्रशस्तध्रुवादीनां षट्चत्वारिंशतः । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणहीनन्त्वासामप्रशस्तत्वात् ।।१३६३।।

अथ तत्रैव देवद्विकादिसत्कमाह––

देवविउव्वदुगगुरुरसबंधी सुहदेवजोग्गाणं ।।

णियमाऽऽउगवज्जाणं गुरुमगुरुं वा रसं छठाणगयं । णियमाऽणंतगुणूणं रइ-हस्स-पुमाऽसुहधुवाणं ॥
(मूलगाथा–१३६४-६५)

(प्रे०) 'देवविउवे'त्यादि पश्चिमार्धम् । अन्यतमस्योत्कृष्टरसबन्धकः 'सुहदेवजोग्गाणं' इति शेषाणामष्टाविंशतेरिति । शेषं सुगमम् । इमाश्च ता अष्टाविंशतिः–पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रं, देवद्विकवैक्रियद्विकमध्येऽन्यतमास्तिस्रः प्रकृतयश्चेति ॥१३६४-६५॥

अथ तत्रैवौदारिकद्विकादिप्रकृतित्रयसत्कमाह—

णरदुगवज्जो-उज्जोव सिआ उरलदुगवइरगुरुबंधी । जेट्ठमुअ छठाणगयं णियमा सेससुहमणुयजोग्गाणं ॥
तिरिदुग-णीआण सिआ बंधेइ रसं अणंतगुणहीणं । पुमहस्सरईण तहा अपसत्थधुवाण णियमाओ ॥
(प्र० गीतिः) (मूलगाथा–१३६६-६७)

(प्रे०) 'णरदुगे' त्यादि, तत्र स्याद्बन्धस्सप्तमपृथ्वीनारकस्य तद्बन्धाभावात् । उत्तरार्धगतं 'जेट्ठ' मित्यादि पदत्रयमिहाऽपि योज्यते । षट्स्थानगतं तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तीव्रविशुद्ध्या साध्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य सुविशुद्धत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । शेषा मनुष्ययोग्याश्शुभाश्चेमाः– पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रमौदारिकद्विकादिप्रकृतित्रयमध्येऽन्यतमे द्वे प्रकृती चेति सप्तविंशतिः । 'तिरिदुगे' त्यादि, द्वितीयगाथा । स्याद्बन्धस्तु सप्तमपृथ्वीनारकव्यतिरिक्तानां तद्बन्धाऽभावात् । अनन्तगुणहीनत्वमप्रशस्तत्वात् । 'पुमे' त्यादि द्वितीयगाथापश्चिमार्धम् 'अणंतगुणहीण'मितीहाप्यनुसर्तव्यम् । नियमाद्बन्धस्तु प्राग्वत् ॥१३६६-६७॥

अथोद्योतमत्कं तत्राऽऽह—

उज्जोअतिव्वबन्धी तिरिजोग्गाणायवाउवज्जाणं । णियमा सुहाण तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
बंधइ असुहधुवाण रइ-हस्स पुम-तिरिजुगलणीआण । णियमाऽणंतगुणूण ओघव्व हवेज्ज सेसाण ॥
(मूलगाथा-१३६८-६९)

(प्रे०) 'उज्जोअ०' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकः, सुविशुद्धः सप्तमपृथ्वीनारकः । तत्रातपनाम्नो वर्जनम्, नारकस्य तद्बन्धाऽभावादुद्योतप्रतिपक्षत्वाच्च । आयुषो वर्जनं प्रतीतम् । नियमाद्बन्धस्तु सुविशुद्धस्य बन्धकस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । षट्स्थानगतन्तु सर्वासामुत्कृष्टरसस्य तुल्यविशुद्ध्या सम्भवात् । इमाश्च ता अधिकृताश्शुभास्तिर्यक्प्रायोग्याः–पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, प्रथमसंहननसंस्थाने, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयञ्चेति । 'बंधइ' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र तिर्यग्युगलनीचैर्गोत्रयोरपि नियमाद्बन्धस्तु तद्बन्धकस्य सप्तमपृथ्वीनारकत्वात् । अनन्तगुणोनत्वमासामप्रशस्तत्वात् । 'ओघव्वे' त्यादि, अतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसस्येहाऽप्योघवत्तीव्रसंक्लेशादिजन्यत्वात् । शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः–त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो, नरकद्विकं, तिर्यग्द्विकं, जातिचतुष्कमाद्यवर्जसंहनन-संस्थानानि तानि

च दशाप्रशस्तविहायोगतिरातपनाम, स्थावरदशकमसातवेदनीयं, नीचैर्गोत्रं, हास्य-रती, शोका-ऽरती, त्रयो वेदा देवायुषः पृथगुक्तत्वाच्छेषायुस्त्रिकञ्चेति पञ्चाशीतिरिति ॥१३६८-६९॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वादुपशमसम्यक्त्वमार्गणायामवधिदर्शनमार्गणावत् सापवादम-तिदिशति—

ओहिव्वऽत्थि उवसमे सव्वेसिं णवरि बंधए ण जिणं । हस्स-रइवज्जिअसुह-णरु-रलदुगवइरगुरुबंधी ।
(मूलगाथा-१३७०)

(प्रे०) 'ओहिव्वे' त्यादि, 'उवसमे' त्युपशमसम्यक्त्वमार्गणायाम् । अतिदेशस्तु तदु-त्कृष्टरसबन्धस्वामिनां सादृश्यात् । यद्यपि तत्र प्रशस्तानां देवद्विकादीनां स्वामिनः क्षपका इह तूपशमकास्तथाऽपि सन्निकर्षप्ररूपणायां न कश्चिद्विशेषः, स्थानसाम्यात् । तद्यथा-उभयत्र सातवे-दनीयाद्युत्कृष्टरसो दशमगुणस्थानकप्रान्ते बध्यत इत्यादि । अथाऽतिप्रसक्तिं परिहरति-'णवरि' त्यादिना, हास्य-रती वर्जयित्वा शेषमार्गणाप्रायोग्याशेषाऽशुभप्रकृतीनां मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्ष-भनाराचानाञ्च प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धको जिननाम न बध्नाति । कुतः ? उच्यते, अप्रशस्तानामुत्कृ-ष्टरसो मिथ्यात्वाभिमुखेन बध्यते, प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टेर्जिननामबन्धाऽसम्भवात् , जिननामसत्क-र्मणो द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टेस्तु मिथ्यात्वाभिमुखत्वाऽभावात् । मनुष्यद्विकादीनां पञ्चानामुत्कृ-ष्टरसः प्रस्तुतमार्गणायां देवैर्बध्यते, पर्याप्तदेवानां द्वितीयोपशमसम्यक्त्वाभावादपर्याप्तानां तेषां द्वितीयोपशमसम्यक्त्वसम्भवेऽपि तेषां मनुष्यद्विकाद्युत्कृष्टरसबन्धाऽभावात् ॥१३७०॥

अथ क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामतिदिश्य सास्वादनमार्गणायामाह—

सुहसुराउग्गाणं परिहारव्वऽत्थि वेअगेऽण्णेसिं । ओहिव्व सासणे थीअसुहधुव-असाय-सोग-अरईओ ॥
पंचमसंघयणागिइ-कुखगइ-अथिरछग-तिरियदुग-णीआ । एगस्स तिव्वबंधी णियमाऽण्णाण गुरुमुक्क छठाण गयं
उज्जोअस्स सिआ खलु अणंतगुणहीणग रसं णियमा । सुधुव-पणिदि-उरलदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं ॥
(गीतित्रयम्) (मूलगाथा-१३७१-७३)

(प्रे०) 'सुहे' त्यादि, तत्राऽतिदेशः स्वामिसाम्यात् । तद्यथा-यथा परिहारविशुद्धिमार्ग-णायां तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनः स्वस्थानविशुद्धा मतान्तरेणाऽनन्तरसमयभविष्यत्कृतकरणा-स्तथेहाऽपीति । 'अण्णेसिं' ति यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसश्चतुर्थगुणस्थानके प्राप्यते तासां प्रकृतीनामित्यर्थः । 'ओहिव्व' इत्यवधिदर्शनमार्गणावद्भवति, हेतुः पूर्वोक्तः, स्वामिसादृश्या-दिति । उभयत्र तदुत्कृष्टरसबन्धस्वामिनोऽविशेषादिति भावः । सुरप्रायोग्याश्शुभाश्चेमाः-देवत्रिकं, पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विक-माहारकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासजिननामानि, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति त्रयस्त्रिंशत् । अन्याः प्रकृत-यश्चेमाः-आद्यकषाय-स्त्यानर्द्धित्रिकमिथ्यात्ववर्जा ध्रुवबन्धिन्यः पञ्चत्रिंशदसातवेदनीयं, हास्य-रती, शोकाऽरती, पुरुषवेदोऽस्थिराऽशुभे, अयशःकीर्तिरिति चतुश्चत्वारिंशदशुभप्रकृतयो मनुजद्वि-

कौदारिकद्विकप्रथमसंहननप्रकृतयश्च । अथ सास्वादनमार्गणायामाह-'**सासाणे**' इत्यादि, तत्र '**थी**' स्त्रीवेदः । '**असुहधुव**' त्ति द्विचत्वारिंशत्, मिथ्यात्वस्य बन्धाऽभावात् । '**पंचम**' त्ति चरमयोर्बन्धाऽभावात् । चकारस्य गम्यमानत्वात् स्त्रीवेदादिनीचैर्गोत्रावसानानामष्टपञ्चाशतो मध्यादेकस्योत्कृष्टरसबन्धक इति । षट्स्थानगतन्तु सर्वेषामुत्कृष्टरसस्य मार्गणाप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टरूपेण तुल्यसंक्लेशेन जन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । '**उज्जोअस्से**' त्यादि, अनन्तगुणहीनम्, प्रशस्तत्वात् । स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वात् । '**सुधुवे**' त्यादि, तृतीयगाथोत्तरार्धम् । पूर्वार्धगतं '**अणंतगुणहीणग**' मित्यादि पदत्रयमिह सम्बध्यते, अनन्तगुणहीनन्तु प्रशस्तत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात् । बन्धकस्य संक्लिष्टत्वेनौदारिकद्विकस्य तु स्वप्रतिपक्षभूतवैक्रियद्विकस्य बन्धाभावात्, आनतादिदेवानां युगलधर्मिणाञ्चोत्कृष्टसंक्लेशाभावात्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रप्रकृतीनां नियमेनाबन्धः । पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् ॥ १३७१-७३॥ अथ तत्रैव प्रशस्तसत्कमतिदिशति पुरुषवेदस्य च दर्शयति—

अभवव्वे सुहाण णवरि मिच्छं णेव पुमतिव्वरसबंधो । चउसंघयणागिइ तिरि-णरदुग-उज्जोअगाण सिआ ॥
कुणइ अणंतगुणूणं णियमाउ असाय-सोग-अरईणं । पंचिंदियुरलदुग-परघा-ऊसास तसचउगाण ॥
अथिरछगकुखगईणं तह धुवबंधीण एवमेव भवे । रइहस्साणं णवरि दुवेआण सिआ अणंतगुणहीण ॥

(गीतिः) (मूलगाथा-१३७४-७६)

(प्रे०) '**अभवव्वे**' त्यादि, अत्रातिदेशः स्वामिसादृश्यात्-यथा तत्र तथेहापि तदुत्कृष्टरसप्रबन्धका स्वस्थानविशुद्धा इति । शुभप्रकृतयः-आयुस्त्रयं, मनुष्यद्विकं, देवद्विकमौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवाष्टकं, प्रथमसंहनन-संस्थाने, प्रशस्तखगतिः, पराघातोच्छ्वासोद्योतनामानि, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्यष्टात्रिंशदिति । '**णवरि**' इत्ययं विशेषः,-मिथ्यात्वं नैव बध्नाति । किमुक्तं भवति ? उच्यते, अभव्यमार्गणायां तत्तत्प्रकृत्युत्कृष्टरसबन्धको मिथ्यात्वस्य रसमनन्तगुणहीनं बध्नाति, तस्याप्रशस्तत्वान्नियमात्तु तस्य ध्रुवबन्धित्वात् । इह तु स तस्य बन्धं नैव करोति, बन्धकस्य द्वितीयगुणस्थानकवर्तित्वात् । अथ पुरुषवेदसत्कमाह-'**पुमतिव्वे**' त्यादिना, तत्र '**चउ**' त्ति आद्यान्त्याभ्यां विना । प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वेन आद्यस्य बन्धाभावादन्त्यस्य च मार्गणाऽप्रायोग्यत्वात् । तिर्यग्द्विकस्य च प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । उद्योतनाम्नो बन्धस्य सान्तरत्वात् । द्वितीयगाथागतम् '**अणंतगुणूण**' मिति पदमिहाऽपि सम्बध्यते, अनन्तगुणोनं तु तत्प्रायोग्यसंक्लेशाद्विशुध्यत्वमायेनोक्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसस्य बध्यमानत्वात् । '**कुणई**' त्यादि, द्वितीयगाथा । अनन्तगुणोनत्वमसातवेदनीयादीनामुत्कृष्टरसस्य तीव्रसंक्लेशजन्यत्वात् । पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां प्रशस्तत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्य प्रस्तुतबन्धकस्यासातादीनामस्थिरषट्कादीनाञ्च प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । पञ्चेन्द्रियजा-

त्वादीनां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । औदारिकद्विकस्याऽपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति–'एवमेव' त्ति रति-हास्ययोरनन्तरोक्तवदेव सन्निकर्षो भवति । 'णवरि' त्ति अयं विशेषः–स्त्री-पुरुषवेदयोरनन्तगुणहीनं रसं स्याच्च बध्नाति । किमुक्तं भवति ? अनन्तरन्तु पुरुषवेदं प्रधानीकृत्योक्तमतस्तत्र प्रतिपक्षवेदसत्कबन्धस्यानवकाशः, इह तु तौ स्याद् बध्येते सप्रतिपक्षत्वात् । अनन्तगुणहीनन्तु स्त्रीवेदस्योत्कृष्टपदे दीर्घतरस्थितिकत्वात्, पुरुषवेदस्य तुल्यस्थितिकत्वेऽपि संक्लेशवृद्धौ हास्य-रतिबन्धस्य पुरुषवेदबन्धात् प्रागिवरमणात् ॥१३७४-७६॥

अथ तत्रैव संहननत्रिकस्य प्रस्तुतं विभणिषुरतिदिशति—

संघयणतिगस्सोघव्व परं मिच्छत्त-णपुम-हुंडाणि । णो चिअ बंधइ णियमा इत्थीअ अणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा-१३७७)

(प्रे०) 'संघयणे' त्यादि, 'तिग' त्ति द्वितीय-तृतीय-चतुर्थानाम् । अतिदेशस्तु तदुत्कृष्टरसस्यौघवत्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन जन्यत्वात् । 'परं' ति अयं विशेषः,-मिथ्यात्वादीनां मार्गणाऽप्रायोग्यत्वात् तानि न बध्यन्ते संहननोत्कृष्टरसबन्धकैरिति । 'णियमे' त्यादि, स्त्रीवेदस्याऽनन्तगुणहीनं रसं नियमाच्च बध्नाति, अनन्तगुणहीनन्तु तदुत्कृष्टरसस्य मिथ्यात्वाऽभिमुखेन तीव्रसंक्लिष्टेन जन्यत्वात्, ततः किम् ? प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इति कृत्वा । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात्, तदपि कुतः ? नपुंसकवेदस्य मार्गणाऽप्रायोग्यत्वात् ॥१३७७॥

अथ तत्रैव संस्थानत्रिकमत्कमाह—

ओघव्व आगिईणं तिण्ह णवरि मिच्छ-णपुम-छेवट्ठा । णो चिअ बंधइ णियमा इत्थीअ अणंतगुणहीणं ॥
(मूलगाथा-१३७८)

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, गतार्थम् । तत्र 'आगिईणं' ति द्वितीय-तृतीय-चतुर्थसंस्थानानाम् । शेषं सर्वमनन्तरोक्तवदेव ॥१३७८॥

अथ मिश्रदृष्टिमार्गणायां विभणिषुस्तावदप्रशस्ततमप्रकृतिमत्कमाह—

एगस्स तिव्वबंधी मीसे हस्साइ वज्जअसुहाओ । णियमाऽणंमि तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणगयं ॥
णर-सुर-उरल विउव्वदुगवइराण मिश्रा अणंतगुणहीणं । सायाइछवज्जाण सेसाणं बंधए णियमा ॥
(मूलगाथा-१३७९-८०)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'मीसे' त्ति मिश्रदृष्टिमार्गणायाम् । हास्य-रत्योर्वर्जनन्तु तदुत्कृष्टरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशजन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य तु तीव्रसंक्लिष्टत्वेन शोकाऽरतिबन्धप्रवर्त्तनात् । इमाश्च ता अशुभाः–अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः पञ्चत्रिंशदसातवेदनीयं, शोकाऽरती, पुरुषवेदोऽस्थिराऽशुभे अयशःकीर्त्तिश्चेति द्विचत्वारिंशत् । 'णरे' त्यादि, द्वितीयगाथा । तत्र दुगशब्दः 'णरे'त्यादि शब्दचतुष्के योज्यः । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नगतिकान् बन्धकाना-

श्रित्य । अनन्तगुणहीनन्त्वासां प्रशस्तत्वात् । 'सायाई' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । 'अणंत-गुणहीण' मिति पदमिहाऽपि सम्बध्यते । सातवेदनीयादीनां षण्णां वर्जनन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वेन तत्प्रतिपक्षभूतानामसातवेदनीयादीनामेव बन्धप्रवर्त्तनात् । षट् चेमाः–सातवेदनीयं, स्थिरशुभे, यशःकीर्त्तिनाम, हास्य-रती चेति । नियमाद्बन्धस्तु तासां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । ताश्चेमाः–पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्येकविंशतिरिति ॥१३७९-८०॥

अथ तत्रैव रति-हास्यमन्कमाह—

एगस्स निब्बबंधी रइ-हस्साउ इयरस्स णियमाओ । बधेइ रसं तिव्वं अहव अतिव्वं छठाणऽधि ॥
णर-सुर-उरल-विउवदुग-वइराण सिआ अणंतगुणहीणं । णियमाऽणणछमायाइगवज्जाणियराण कम्मव्व ॥
(मूलगाथा-१३८१-८२)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि गतार्थम् । नवरं प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्ट इति ज्ञेयम् । 'णरे' त्यादि, दुगशब्दस्य योजनाऽनन्तरोक्तवत् । सातादिषण्णां वर्जनन्त्वेवम्, तद्यथा–सातवेदनीयं, स्थिर-शुभे, यशःकीर्त्तिरिति चतसृणां प्रशस्तत्वेन तत्प्रतिपक्षाणामेव बन्धप्रवर्त्तनात्, शोकाऽरत्योस्तु हास्य-रतिप्रतिपक्षत्वात् । शेषाश्चेमाः–अनन्तरगाथाविवृत्युक्ताशशोकाऽरतिवर्जा अप्रशस्ताः प्रकृतयश्चत्वारिंशदेकविंशतिश्च शुभा इति पिण्डिता एकषष्टिरिति । 'इयराण कम्मव्व' त्ति उक्तशेषाणां कार्मणकाययोगमार्गणावत्, कुतः ? स्वामिसादृश्यात् । यथा तत्र तथैवेहापि तदुत्कृष्टरसबन्धस्य तीव्रविशुद्धाः स्वामिन इति । शेषाः प्रकृतयश्चेमाः–मनुष्यद्विकं, देवद्विकमौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवाष्टकं, प्रथमसंहनन-संस्थाने, प्रशस्तखगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति चतुस्त्रिंशदिति । 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते' रत्र जिननाम्नः शेषप्रकृतिभिः सह संनिकर्षो न वक्तव्यः, बन्धाभावादिति ॥१३८१-८२॥

अथाऽसंज्ञिमार्गणायामाह—

असणे तिअणाणव्व सुसुरजोग्गाण तिरियव्व सेसाणं । अण्णे उ दुआऊणं असमत्तपणिंदितिरियव्व ॥
(मूलगाथा-१३८३)

(प्रे०) 'असणे' इत्यसंज्ञिमार्गणायां, देवप्रायोग्याणां शुभानां प्रस्तुतसन्निकर्षस्त्र्यज्ञानमार्गणावद्भवति, कुतः ? स्वामिसादृश्यात्, तद्यथा–यथा तत्र तथेहाऽपि तदुत्कृष्टरसबन्धकःसुविशुद्ध इति । इमाश्च तास्सुरप्रायोग्याश्शुभाः प्रकृतयः–देवत्रिकं, वैक्रियद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्येकोनत्रिंशत् । 'तिरिव्व' त्ति शेषाणां तिर्यगोघवद्भवति, स्वामिसादृश्यात् । तद्यथा–यथा तत्र तथेहाऽप्यशुभतमानामुत्कृष्टरसबन्धको नरकप्रायोग्यबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः, शेषाऽशुभानां

तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः, शेषशुभानां तत्प्रायोग्यविशुद्धो वेति । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः—त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो नरकत्रिकं, तिर्यक्त्रिकं, मनुष्यत्रिकं, जातिचतुष्कमौदारिकद्विकं, संहननषट्कमाद्यवर्जसंस्थानपञ्चकमप्रशस्तविहायोगतिरातपोद्योतनाम्नी स्थावरदशकमसातवेदनीयं, हास्यरती, शोकाऽरती, वेदत्रिकं, नीचैर्गोत्रञ्चेति द्विनवतिरिति । 'अण्णे' इत्यादि 'बुआऊण' मिति मनुष्यतिर्यगायुष्कयोः सन्निकर्षो महाबन्धकारादीनां मतेऽपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गणावत्, कुतः ? एतेषां मते प्रकृतायुर्द्वयस्योत्कृष्टस्थितिमानस्य पूर्वकोटिमितत्वादिति । गतोऽसंज्ञिमार्गणायां बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्षः, गते च तस्मिन् समाप्तोऽयमोघत आदेशतश्च मार्गणासु तत्र तत्र बन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्ष इति ॥१३८३॥

अथ जघन्यरसबन्धपरस्थानसन्निकर्षः

अधुना जघन्यरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्षावसरस्तत्रादौ तावदोघतस्तं विभणिषुर्ज्ञानावरणादिचतुर्दशप्रकृतिसत्कमाह—

मंदरसं बंधंतो विग्घावरणणवगाउ एगस्स । अण्णाण लहुं णियमा सायजसुच्चाणऽणंतगुणअहियं ॥
(गीतिः)(मूलगाथा-१३८४)

(प्रे०) '**मंदरस**' मित्यादि, तत्रावरणनवकं नाम ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्करूपम् । '**अण्णाण**' त्ति तदितरासां त्रयोदशानां प्रत्येकम् । '**लहु**' ति जघन्यं रसं बध्नाति । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति वचनाज्जघन्यमेव न तु षट्स्थानगतमपि, कुतः ? तज्जघन्यरसबन्धस्य श्रेणौ नवमगुणस्थानकादूर्ध्वं दशमगुणस्थानकचरमसमये प्रवर्त्तनात् । किमुक्तं भवति ? यासां प्रकृतीनां जघन्यरसः श्रेणौ नवमगुणस्थानके तदूर्ध्वं वा युगपच्च बध्यते तासां मध्यादेकस्या जघन्यरसबन्धकश्शेषाणां जघन्यमेव बध्नातीति नियमस्य स्वस्थानप्ररूपणावसरे प्रतिपादितत्वात् । '**साये**' त्यादि, अनन्तगुणाधिकत्वासां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन जन्यत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वाच्च । नियमाद्बन्धस्तु श्रेणौ तत्प्रतिपक्षाणां बन्धाऽभावात् ॥१३८४॥

अथौघत एव स्त्यानर्द्धित्रिकादिसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । णियमाऽण्णाण जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
सुहसुरपाउग्गाणं गुणतीसाअ रइ-हस्स-पुरिसाणं । सेसधुवबंधिणीण अणंतगुणिअहिय णियमा ॥
(मूलगाथा-१३८५-८६)

(प्रे०)'**एगस्से**' त्यादि, तत्र नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य प्रथमगुणस्थानवर्त्तित्वात् । षट्स्थानगतन्तु नवमगुणस्थानकादधस्तनगुणस्थानके तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् । प्रस्तुतबन्धकस्संयमाभिमुखो मिथ्यादृष्टिरिति । '**सुहसुरे**' त्यादिद्वितीयगाथा । तत्र बन्धकस्य संयमाभिमुखत्वेन शेषगतिप्रायोग्यबन्धाऽभावादुक्तं '**सुरपाउग्गाण**' मिति । समुच्चायकचकारस्याध्याहारत्वाच्छुभसुरप्रायोग्यादिशेषध्रुवबन्धिपर्यवसानानामिति । अनन्तगुणाधिकत्वेकोनत्रिंशतः प्रशस्तत्वात् । अप्रशस्तानां जघन्यरसस्य भिन्नस्थाने प्रवर्त्तनात्, तद्यथा–हास्य-रत्योरष्टमगुणस्थानके, पुरुषवेदस्य नवमगुणस्थानके, शेषध्रुवबन्धिनीनां पञ्चत्रिंशतश्चतुर्थादिगुणस्थानक इति । नियमाद्बन्धस्तु संयमाभिमुखस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । ध्रुवबन्धिनीनान्तु ध्रुवबन्धित्वादेव । एकोनत्रिंशच्चेमाः–देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिनाम, वैक्रियद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, प्रथमसंस्थानं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१३८५-८६॥

अथौघतो निद्राद्विकसत्कमाह—

बंधंतो णिद्दुगा जहण्णमेगस्स बंधए णियमा । अण्णस्स रसं मदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥

तित्थाहारदुगाणं सिआ अणंतगुणिआहियं णियमा । पणवीसासुहधुव-पुम-सुह-सुरजोग्ग-रइ-हस्साणं ॥
(मूलगाथा-१३८७-८८)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, तत्र षट्स्थानगतन्तु तज्जघन्यरसस्य नवमगुणस्थानकादधस्त-नगुणस्थानकेऽष्टमे प्रवर्त्तनात् इति भावः । 'तित्थे'त्यादि द्वितीयगाथा । स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात् । 'पणवीसे' त्यादि, द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । पिण्डिताः प्रकृतयः सप्तपञ्चाशत् । पूर्वार्धगतं 'अणंत' इत्यादि पदद्वयमिहाऽपि योज्यम् , तत्राऽनन्तगुणाधिकं प्रशस्तानां प्रशस्तत्वात् । शेषाणां जघन्यरसबन्धस्थानस्य विमद्दशत्वात् । तासां मध्ये कस्याश्चिदपि प्रकृतेर्जघन्यरसो निद्राद्विकजघन्यरसबन्धेन सार्द्धं न बध्यत इति भावः । पञ्चविंशतिरप्रशस्तध्रुवाश्चेमाः— ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणचतुष्कं, सञ्ज्वलनचतुष्कं, भय-जुगुप्से, उपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमन्तरायपञ्चकञ्चेति । शुभसुरयोग्या एकोनत्रिंशत्-ताश्चाऽनन्तरगाथाविवरणोक्ता एवेति ॥ १३८७-८८॥ अथ सातवेदनीयसत्कमाह—

सायस्स मंदबंधी तिआउ-चउजाइ-णर-सुरदुगाणं । संघयणाऽऽगिइथिरछग-थावरदसगुच्च-दुखगईण सिआ ॥
मंदमुअ छठाणगय पणतीसधुवाणऽणंतगुणअहिअं । णियमा सिआ णिरयनिग-आहारगदुग-असायवज्जाणं ॥
(गीतिद्वयम्) (मूलगाथा-१३८९)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि, तत्र 'तिआउ' त्ति सातवेदनीयबन्धकस्य नरकायुर्बन्धाऽभावात् । 'चउजाइ' त्ति पञ्चेन्द्रियवर्जाः । 'छग' शब्दस्य प्रत्येकं योजनात् संहननषट्कं, संस्थानषट्कं, स्थिरषट्कञ्चेति । द्वितीयगाथागतं 'मंद' मित्यादि पदत्रयमिह सम्बध्यते । स्याद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्त्तमानपरिणामत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । षट्स्थानगतन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । 'पणतीसे' त्यादि, 'णियमं' ति पदमिह योज्यम् । अत्र षष्ठगुणस्थानके बध्यमानाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयो बोध्याः । अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा जन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रतीतः । 'णिरये' त्यादि, इदन्तु विशेषणम् , विशेष्यस्तु शेषाणामित्यध्याहार्यः । शेषाः प्रकृतयश्चेमाः—मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्ध्यादिद्वादशकषायरूपाः षोडश, हास्यरती, शोकाऽरती, वेदत्रिक, तिर्यग्द्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकं, त्रसचतुष्कं, पराघातो च्छ्वासातपोद्योतजिननामानि नीचैर्गोत्रञ्चेति चत्वारिंशदिति । तत्र स्याद्बन्धस्तु कासाञ्चित्स्वप्रतिपक्षप्रकृतेर्बन्धप्रायोग्यत्वाद्यथा हास्य रत्यादीनाम् , कासाञ्चिद्गुणस्थानान्तरे बन्धाभावाद्यथा मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्ध्यादीनाम् , कासाञ्चित्तु बन्धस्यैव सान्तरत्वाद्यथाऽऽतपनामादीनाम् ।

ननु यथा सातवेदनीयजघन्यरसं बध्नतां नानागुणस्थानगतत्वेन द्वितीयादिगुणस्थाने बन्धाप्रायोग्याणां ध्रुवबन्धिनीनामपि मिथ्यात्वादिप्रकृतीनां गुणस्थानान्तरे बन्धाभावादितिहेतुकस्स्याद्बन्धस्तथा देवद्विकादिजघन्यरसस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामस्वामिकतया तत्प्रधानसंनिकर्षेऽपि

तासां मिथ्यात्वादीनां तद्धेतुकस्स्याद्बन्ध एव स्यात्, वक्ष्यते च 'सुरदुगलहुरसबंधी..................
णियमा धुवबंधीण अडतीसाए' इत्यादिनौघतः' 'उच्चस्स जहण्णरसं बधंतो .... धुव...... ...णियमे-
त्यादिना तत्र तत्र नरकगत्योघादिमार्गणासु च ध्रुवबन्धयन्तर्गतस्य मिथ्यात्वस्य नियमाद्बन्ध इति
कथं न दोषः ? इति चेन्न, तस्य मिथ्यादृष्टिलक्षणं स्वामिनमपेक्ष्य सुवचत्वात्, यदि मिथ्यादृ-
ष्टीनामिव सासादनगुणस्थानगतानामपि देवगत्यादिजघन्यरसबन्धस्वामित्वं स्यात्तदा तु तदनुसारेण
तस्य मिथ्यात्वस्य स्याद्बन्ध एव वाच्यो न च तथा कश्चिद्दोषः, नानागुणस्थानगतानां विवक्षित-
प्रकृतिजघन्यरसबन्धस्वामित्वे सति तदन्यतमगुणस्थानेऽबध्यमानानामन्यतमगुणस्थाने तु बध्यमा-
नानां स्याद्बन्धस्य यौक्तिकत्वादिति ॥१३८९॥

अथ तुल्यप्रायो वक्तव्यत्वादसातवेदनीयादीनामनन्तरोक्तवन्सापवादमतिदिशति—

एवं असाय-अथिर-असुह-अजसाण णवरं सुराउं णो। बंधेइ मिआ णारयतिगस्स छहमुभ छठाणगयं ॥
(मूलगाथा-१३९०)

(प्रे०) 'एव' मित्याद्यनन्तरोक्तवदेव। 'णवरं' इत्ययं विशेषः। कोऽर्थः ? असातवेद-
नीयादीनां बन्धको देवायुर्न बध्नाति, कुतः ? देवायुर्बन्धकस्य तत्प्रतिपक्षसातवेदनीयादीनामेव
बन्धप्रवर्त्तनात्। तथा 'बधेई' त्याद्युत्तरार्धम्। नरकत्रिकस्य रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं
स्याच्च बध्नाति। सातं बध्नतस्तद्बन्ध एव नासीत्। अत एव विशेषकथनावसरः। स्याद्बन्ध-
स्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। षट्स्थानगतन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्याऽपि परावर्त्तमानमध्यमपरि-
णामजन्यत्वात् ॥१३९०॥ अथ शोकाऽरत्यादिसत्कमाह—

मंदरसं सोगारइ-अडदुइअ-तइअकसायमोहाण। बंधंतो मोहाणं मट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
तित्थस्स मिआ बंधइ अणंतगुणिअहियं रसं णियमा। असुहधुविगवीसाए तहाउवज्जसुहदेवजोग्गाण ॥
(द्वि० गीति) (मूलगाथा-१३९१-९२)

(प्रे०) 'मंदरस' मित्यादि, तत्र 'अड' त्ति कषायविशेषणम्। 'मोहाणं' ति तत्तत्प्रकृत्या
सार्द्धं बध्यमानानामिति। 'तित्थस्स' त्ति द्वितीयगाथा। अनन्तगुणाधिकन्तु जिननाम्नः शुभानां
सुरप्रायोग्याणाञ्च प्रशस्तत्वात्। एकविंशतेस्तु जघन्यरसबन्धस्य श्रेणौ प्रवर्त्तनात्। स्याद्बन्धस्तु
प्रस्तुतबन्धकेषु कैश्चिदेव तद्बन्धप्रवर्त्तनात्। देवायुषो वर्जनन्तु शोकाऽरतिभ्यां सह तत्प्रकृति-
बन्धस्य विरोधात्। कषायाष्टकजघन्यरसबन्धस्याभिमुखावस्थायां प्रवर्त्तनात्, तस्यां चायुर्बन्धाभा-
वात्। सुरप्रायोग्याश्शुभाश्च प्रागुक्ता एकोनत्रिंशत्। मोहनीयवर्जा एकविंशतिरप्रशस्तध्रुवाश्चेमाः—
ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणषट्कमुपघातनामाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमन्तरायपञ्चकञ्चेति॥१३९१-९२॥

अथ स्त्रीवेदसत्कमाह—

थीलहुरसबंधी धुव-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं। सुहगतिग पणिंदि-सुहखगईण णियमा अणंतगुणअहियं ॥
(गीतिः)

सायियर-दुगोअ-जुगल-तिरि-णर-सुर-विउवुरालियदुगाणं। उज्जोअ-थिराइ-जुगल-संघयणागिइतिगाण सिआ ॥
(मूलगाथा-१३९३-९४)

(प्रे०) 'थीलड्ढ' इत्यादि, तत्र 'धुव' त्ति प्रशस्ताप्रशस्तभेदभिन्नास्सर्वाः। प्रस्तुतबन्धकस्याद्य-गुणस्थानकवर्तित्वात्। इह चकारस्य गम्यमानत्वात् ध्रुवबन्ध्यादिखगतिपर्यन्तस्थानानां द्वाषष्टिप्रकृतीनाम्। सुभगत्रिक-सुखगत्योरपि नियमाद्बन्धस्तु यथोत्तरं वर्धमानायां विशुद्धौ स्त्रीवेदादर्वाग् दुर्भगत्रि-कादेर्बन्धविच्छेदात्। उत्तरोत्तरं प्रवर्धमानायां विशुद्धौ प्रकृतीनां बन्धविच्छेदक्रमश्चायम् (१) सर्व-प्रथमं नरकायुषो बन्धो व्यवच्छिद्यते, ततोऽपि विशुद्धौ प्रवृद्धायां (२) तिर्यगायुर्बन्धो व्यवच्छिद्यते, ततो (३) मनुष्यायुर्बन्धो विच्छेदं प्राप्नोति, ततो (४) देवायुर्बन्धो विरमति, ततो (५) नरकगति-नरका-नुपूर्व्योर्युगपद्व्यवच्छिद्यते बन्धः, ततः (६) सूक्ष्मनाम्नः, ततः (७) साधारणनाम्नः, ततः (८) एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामाऽऽतपनाम्नां युगपत्, ततो (९) द्वीन्द्रियजातेः, तत (१०) त्रीन्द्रि-यजातेः, तत (११) श्चतुरिन्द्रियजातेः, तत (१२) स्तिर्यग्द्विकोद्योतनाम्नोर्युगपत्ततो (१३) नीचै-र्गोत्रस्य, ततो (१४) दुर्भगत्रिक-कुखगत्योर्युगपत्, ततः (१५) सेवार्तहुण्डकयोर्युगपत्, ततो (१६) नपुंसकवेदस्य, ततः (१७) कीलिका-वामनयोर्युगपत्, ततो (१८) ऽर्धनाराच-कुब्जयोर्युगपत्, ततः (१९) स्त्रीवेदस्य, ततो (२०) नाराच-सादिनोर्युगपत्, तत (२१) ऋषभनाराच-न्यग्रोधयोर्युगपत्, ततो (२२) मनुष्यद्विकौदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचानां युगपत्, ततोऽ (२३) मान-शोकाऽरतिमोहनीयाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तीनां बन्धो युगपद् व्यवच्छिद्यते यथोत्तरं प्रवर्ध-मानायां विशुद्धाविति। ततश्च प्रकृत इदमायातम्-स्त्रीवेदबन्धव्यवच्छेदस्थानमेकोनविंशतितमं दुर्भ-गत्रिक-कुखगत्योस्तु चतुर्दशम्, एवं स्त्रीवेदात्प्राग् दुर्भगत्रिक-कुखगत्योर्बन्धस्यापगमेन सुभगत्रिक-सुखगत्योर्बन्धो नियमात् प्रवर्त्तते, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धविरहात्। अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यर-सस्य विमद्दशविशुद्ध्यादिस्थाने बध्यमानत्वात्, तद्यथा-प्रस्तुतबन्धको मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रायोग्य-विशुद्धः, मिथ्यात्वस्य जघन्यरसस्तु संयमाभिमुखेन सुविशुद्धेन मिथ्यादृष्टिना जन्यत इत्यादि, इति दिक्। तथा 'साये' त्यादि, तत्र 'इयर' त्ति असातवेदनीयं, नीचैर्गोत्रोच्चैर्गोत्ररूपगोत्रद्विकं, हास्यरत्यरतिशोकरूपयुगलद्विकम् 'अथिराइजुगल' त्ति तिगशब्दस्यात्रापि योजनादस्थिरादिषट्-प्रकृतयः। 'संघयणागिइतिग' त्ति आद्यानि त्रीणि संहननसंस्थानानि, पिण्डिताः प्रकृतय एकत्रिं-शत्। अनन्तगुणाधिकन्तु प्राग्वत्। स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्, भिन्नभिन्नगतिक-बन्धकान् वाऽऽश्रित्य, कासाञ्चित्प्रकृतीनां बन्धस्य वा तथात्वाद्। अत्रापि तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो-स्स्याद्बन्धः, सप्तमपृथिवीनारकाणां तद्बन्धकत्वाच्छेषाणां पुनरबन्धकत्वादिति ॥१३९३-९४॥

अथ नपुंसकवेदसत्कं विभणिषुस्तत्तुल्यवक्तव्यत्वादनन्तरोक्तवत्सापवादमतिदिशति—

एवं णपुंसस्स णवरि णेव सुरदुगं अणंतगुणअहियं। बंधइ खलु अणुभागं पणसंघयणागिईण सिआ ॥
(मूलगाथा-१३९५)

(प्रे०) 'एव' मित्यादि, 'णवरि' त्ति अयं विशेषः, इह देवद्विकं न बध्यते, नपुंसकवेदबन्धकस्य देवप्रायोग्यबन्धाऽभावात् । 'बंधइ' त्याद्युत्तरार्धम् । अयं भावः—इह चतुर्थ-पञ्चमसंहनन-संस्थानान्यपि बध्यन्ते, नपुंसकवेदबन्धात् परत एव तद्बन्धविच्छेदात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृति-बन्धसद्भावात् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामजन्यत्वात् । प्रस्तुत-बन्धकस्य तु तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वात् ॥१३९५॥

अथोक्तशेषाणां मोहनीयप्रकृतीनां प्रकृतमतिदिशति—

सेसाणं मोहाणं लहुबंधी कुणइ सिं सठाणत्र । णियमाऽणंतगुणहियं सायावरणजस उच्च-विग्घाणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१३९६)

(प्रे०) 'सेसाणं' ति सञ्ज्वलनचतुष्क-हास्य-रति-भय-जुगुप्सापुरुषवेदरूपाणां नवानां प्रकृतीनां प्रत्येकम् । 'सिं' ति मोहनीयप्रकृतीनां तत्तत्प्रकृतिजघन्यरसबन्धेन सह बध्यमानानामिति गम्यते । 'णियमे' त्याद्युत्तरार्धम् । तत्र 'आवरण' त्ति प्रस्तुतबन्धकस्याऽनिवृत्तिबाद-रादिक्षपकत्वेन ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्करूपा नव । अनन्तगुणाधिकन्तु सात-यशःकीर्त्यु-च्चैर्गोत्राणां प्रशस्तत्वादावरणाऽन्तरायाणां जघन्यरसस्य विसदृशस्थाने प्रवर्त्तनाद्दशमगुणस्थानक-चरमसमये प्रवर्त्तनादिति भावः । सातवेदनीयादीनां नियमाद्बन्धस्तु क्षपकस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृति-बन्धाऽभावात् ॥१३९६॥

अथ नरकायुः प्रधानीकृत्याऽऽह—

णिरयाउमंदबंधी णियमा लहुसुभ छठाणगयमलहुं । कुणइ असाय-णिरयदुग-हुंड-कुखगइ-अथिरछगाणं ॥
सेसणिरयजोग्गाणं णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं । णिरयदुगस्सेमेव उ णवरं णिरयाउगस्स सिआ ॥
(मूलगाथा-१३९७-९८)

(प्रे०) 'णिरयाउ०' इत्यादि, तत्र षट्स्थानगतन्त्वायुष्कवत् सर्वासां जघन्यरसस्य परावर्त्त-मानपरिणामजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु नरकप्रायोग्यबन्धकस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । 'सेसे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र नियमाद्बन्धोऽनन्तरोक्तादेव हेतोः । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्ज-घन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामेनाऽजन्यत्वात् । शेषनरकयोग्यप्रकृतयश्चेमाः—ध्रुवबन्धिन्य एक-पञ्चाशत्, शोकाऽरती, नपुंसकवेदः, पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकं, त्रसचतुष्कं, पराघातोच्छ्वासना-म्नी, नीचैर्गोत्रञ्चेति चतुष्षष्टिरिति । अथ तुल्यवक्तव्यत्वान्नरकद्विकमत्कमतिदिशति—'णिरयदु-गस्से' त्यादि, 'एमेव' त्ति अनन्तरोक्तवदेव । 'णवरं' इत्ययं विशेषः, नरकायुषो बन्धं स्यात्क-रोति, आयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात्, षट्स्थानगतन्तु गम्यते, नरकद्विकवत् तज्जघन्यरसबन्धस्याऽपि परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् ॥१३९७-९८॥

अथ तिर्यगायुःसत्कमाह—

तिरियाउमंदबंधी मंदं छट्ठाणगयममंदं वा । णियमा बंधइ हुंडग-अपज्जपंचअथिराईणं ॥
सायेयर-जाइचउग-छिवट्ठ-साहार-थावरदुगाणं । बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
धुव-णीअ-णपुमुरल-तिरिदुगाण णियमा अणतगुणअहियं । तसुरलुवंग-पणिंदिय-दुजुगल-पत्तेअ-तसदुगाण सिआ
(तृ०गीतिः) (मूलगाथा—१३९९-१४०१)

(प्रे०) '**तिरियाउ०**' इत्यादि, तत्र '**पंच**' त्ति दुःस्वरवर्जाः । षट्स्थानगतन्तु सर्वासां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु तिर्यगायुर्जघन्यरसबन्धकस्य क्षुल्लकभवप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । '**सायेयरे**' त्यादि द्वितीयगाथा । '**जाइचउग**' त्ति पञ्चेन्द्रियवर्जाः । '**थावरदुग**' स्थावर-सूक्ष्मनाम्नी । स्याद्बन्धः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवात् । षट्स्थानगतं पूर्ववत् । '**धुवे**' त्यादि तृतीयगाथा । '**धुव**' त्ति एकपञ्चाशद्ध्रुवबन्धिन्यः । नियमाद्बन्धस्तु नीचैर्गोत्रादीनामध्रुवबन्धिनीनामपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामाऽजन्यत्वात् । '**तसुरले**' त्याद्युत्तरार्धम् । तत्र '**दुजुगल**' त्ति हास्य रती, शोकाऽरती । '**तसदुग**' त्ति त्रसबादरनाम्नी । अनन्तगुणाधिकमनन्तरोक्तवद् । स्याद्बन्धो भिन्नभिन्नबन्धकानाश्रित्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् ॥१३९९-१४०१॥

अथ मनुजायुःसत्कमाह—

मणुयाउम्म जहण्णं बंधेमाणो दुवेअणीआणं । बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
धुव-णीअ-णपुमुरलदुग-पणिंदि-पत्तेअ तसदुगाण रसं । णियमाऽणंतगुणाहियं बंधइ जुगलाण दोण्ह सिआ॥
णियमा बंधइ मंदं अहव अमंदं रसं छठाणगयं । णरदुग-छिवट्ठ-हुंडग-अपज्जपंचअथिराईणं ॥
(मूलगाथा—१४०२-४)

(प्रे०)'**मणुयाउस्से**'त्यादि, तत्र '**दुवेअणीअ**' त्ति साताऽसातयोः । स्याद्बन्धस्तु विवक्षितकालेऽन्यतरस्यैव बन्धप्रवर्त्तनात् । '**धुवे**'त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र पञ्चेन्द्रियादीनामपि चतसृणां नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकम् , तज्जघन्यरसबन्धस्य विशुद्ध्यादिजन्यत्वात् । '**जुगलाण**' त्ति हास्य रती, शोकारतीति द्वयोर्युगलयोः । स्याद्बन्धो द्वयोर्युगपद्बन्धाऽभावात् । '**णियमे**' त्यादि तृतीयगाथा । तत्र षट्स्थानगतमेतज्जघन्यरसबन्धस्यापि परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्याऽपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् ॥१४०२-४॥

अथ देवायुष्कसत्कमाह—

देवाउमंदबंधी णियमा लहुमुअ छठाणगयमलहुं । साय-सुरदुग-सुहागिइ-सुखगइथिरछक्क-उच्चाणं ॥
पुमथीण सिआ बंधइ अणंतगुणअहिय रसं णियमा । सुरजोग्गऽण्णसुहाण रइ-हस्साऽसुइधुवाणं च ॥
(मूलगाथा—१४०५-६)

(प्रे०) '**देवाउ०**' इत्यादि, तत्र '**सुहागिइ**' त्ति समचतुरस्रम् । नियमाद्बन्धो देवायुष्क-

बन्धकस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । षट्स्थानगतं पूर्ववत् । 'पुमथीणे' त्यादि द्वितीयगाथा । स्याद्बन्धः, उभयोर्युगपद्बन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकम्, तज्जघन्यरसस्य विशुद्धया जायमानत्वात् । 'सुरजोग्गे' त्याद्युत्तरार्धम् । 'अणंतगुणिआहिय' मित्यादि पदत्रयमिह योज्यम् । अनन्तगुणाधिकं प्राग्वत् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य देवप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अत्र 'अण्णसुहा' त्ति पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कञ्चेति सप्तदश । 'असुहधुव' त्ति त्रिचत्वारिंशत् ॥१४०५-६॥

अथ तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी तिरिदुग-नीआउ बंधए णियमा । अण्णाण दोण्ह मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
धुव-इस्स रइ-पुमायवदुगाउग्जसुहतिरियजोग्गाणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ उज्जोअगस्स सिआ ॥
(मूलगाथा-१४०७-८)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्सम्यक्त्वाभिमुखस्सप्तमपृथ्वीनारकः । 'धुवे' त्यादि, तत्र 'धुव' त्ति सर्वा एकपञ्चाशदिति भावः, प्रस्तुतबन्धकस्य प्रथमगुणस्थानकवर्तित्वात् । आतपद्विकाऽऽयुषां वर्जनमेवम्—तत्र नारकाणामातपनाम्नो बन्धानर्हत्वात्, उद्योतस्य पृथग्वक्ष्यमाणत्वात्, आयुस्त्वभिमुखावस्थायां नैव बध्यत इति कृत्वा च । तिर्यग्योग्याश्शुभाश्शेषाः प्रकृतयश्चेमाः—सातवेदनीयं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकञ्चेत्येकोनविंशतिरिति । ध्रुवबन्ध्यादयः प्रकृतयः पिण्डितास्त्रिसप्ततिः । नियमाद्बन्धस्तु सम्यक्त्वाभिमुखस्य तस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य भिन्नस्थाने विसदृशावस्थायां वा बध्यमानत्वात्, तद्यथा—मिथ्यात्वस्य जघन्यरसोऽप्रमत्ताभिमुखावस्थायां बध्यते, प्रस्तुतबन्धकस्तु सम्यक्त्वाऽभिमुखः । एवं शेषप्रकृतिविषयमपि यथागमं ज्ञेयम् । 'उज्जोअस्से' त्यादि, स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वात् । अनन्तगुणाधिकमिहाऽपि ज्ञेयम्, तस्य प्रशस्तत्वात् ॥१४०७-८॥

अथ मनुष्यद्विकसत्कमाह—

णरदुगलहुरसबधी णामाणं बंधए सठाणव्व । णियमाऽणंतगुणहियं धुवबंधीण अडतीसाए ॥
मंदमुअ छठाणगयं दुवेअणीअमणुयाउगुच्चाणं । बंधेइ सिआ दुजुगल-तिवेअणीआणऽणंतगुणअहियं ।
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा–१४०९-१०)

(प्रे०) 'णरदुगे' त्यादि, तत्र स्वस्थानवत् प्रतीतः, नाम्नः प्रस्तुतत्वात् । 'णियमा' उत्तरार्धम् । तत्राऽनन्तगुणाधिकम्, तज्जघन्यरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु परावर्तमानमध्यमपरिणाम इति । 'अडतीसाए' त्ति नाम्नोऽनन्तरमेवातिदिष्टत्वात् । ताश्चाऽष्टात्रिंशदिमाः—ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणनवकं, मिथ्यात्वमोहनीयं, षोडशकषाया, भयजुगुप्से, अन्तरायपञ्चकञ्चेति । 'मंद' मित्यादि द्वितीयगाथा । तत्र षट्स्थानगतन्तु तज्जघन्य-

रसस्याऽपि परावर्त्तमानमध्यमपरिणामजन्यत्वात् । 'सिआ' इति पदमिहाऽपि योज्यम् , स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावादायुषस्तु बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । 'बंधई' त्याद्युत्तरार्द्धम् । स्याद्बन्धः, प्राग्वत् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात् ॥१४०९-१०॥

अथ देवद्विकसत्कमाह—

सुरदुगलहुरसबंधी णामाणं बंधए सठाणत्थ । मंदसुभ छठाणगयं सायियरसुराउगाण सिआ ॥
णियमा धुवबंधीणं अडतीसाए अणंतगुणअहियं । दुजुगलवेआण सिआ णियमुच्चस्स लहुमुअ छठाणगयं ॥
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा–१४११-१२)

(प्रे०) 'सुरदुगे' त्यादि, गतार्थम् । 'मंदे' त्याद्युत्तरार्धम् , तत्र 'इयर' त्ति असातवेदनीयम् । षट्स्थानगतन्त्वासामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामेन जायमानत्वात् । स्याद्बन्धस्तु सातासातयोः परावर्त्तमानत्वात् । आयुर्बन्धस्य च कादाचित्कत्वात् । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । कण्ठ्यम् । 'दुजुगले' त्याद्युत्तरार्धम् , तत्र द्वे युगले हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपे, द्वौ वेदौ स्त्रीपुरुषवेदलक्षणौ । स्याद्बन्धः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'उच्चस्स' त्ति उच्चैर्गोत्रस्य । नियमाद्बन्धः, देवप्रायोग्यबन्धकस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । षट्स्थानगतं प्राग्वत् ॥१४११-१२॥

अथ स्थावरनामादीनामाह—

थावरजाइचउगलहुबंधी सट्ठाणगत्व णामाणं । मंदसुभ छठाणगयं सिआउगदुवेअणीआणं ॥
जुगलाणं दोण्ह सिआ बंधेइ रसं अणतगुणअहियं । णियमा धुवबंधीणं णपुंस-णीआण बंधेइ ॥
(मूलगाथा–१४१३-१४)

(प्रे०) 'थावरे' त्यादि, तत्र 'थावर' त्ति स्थावरचतुष्कं, चतुष्कशब्दस्येहापि सम्बन्धात् । 'मंद' मित्याद्युत्तरार्धम्, तत्र 'आउग' त्ति आयुषी, अपर्याप्तनामजघन्यरसबन्धी द्वे आयुषी बध्नाति । शेषसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धक एकमेव तिर्यगायुर्बध्नाति, तासां तिर्यक्प्रायोग्यत्वात् । अपर्याप्तनाम तु मनुष्याणामपि वेद्यमतस्तद्बन्धकस्तिर्यगायुष्कं, मनुष्यायुष्कञ्चेति द्वे आयुषी बध्नातीति । स्याद्बन्धस्तु द्विवेदनीययोः परावर्त्तमानत्वात् । आयुषस्तु बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । 'जुगलाण' मित्यादि द्वितीयगाथा । द्वे युगले हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपे । स्याद्बन्धो द्वयोर्युगपद्बन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वेतज्जघन्यरसबन्धस्य विशुद्धया जन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु परावर्त्तमानमध्यमपरिणामीति कृत्वा । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । तत्र 'धुव' त्ति अष्टात्रिंशत् । नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोरपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तपञ्चेन्द्रियप्रायोग्याद्भिन्नप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् ॥१४१३-१४॥

अथाहारकद्विकसत्कमाह—

साय-दुभेसधुव-पुरिस-रइ-हस्सु-च्चाणऽणंतगुणअहियं । णियमाहारगदुगलहुबंधी सट्ठाणगत्व णामाणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१४१५)

(प्रे०) 'खाये' त्यादि, तत्रोत्तरार्धस्थं 'णियमे' तिपदं पूर्वार्धे योज्यम् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामेन क्षपकेण वा जन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु न तथा, तस्याऽप्रमत्तत्वे सति प्रमत्ताभिमुखत्वात् । 'दुवीस' त्ति ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणषट्कं, सञ्ज्वलनचतुष्कं, भय-जुगुप्से, अन्तरायपञ्चकञ्चेति द्वाविंशतिरिति ॥१४१५॥

अथाऽप्रशस्तवर्णादिमत्कमाह —

णामाण सठाणव्व उ बंधइ असुहधुवणामऽहुबंधी । वीसधुव-साय-पुम-रइ-हस्सुच्चाणं अणंतगुणअहियं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१४१६)

(प्रे०) 'णामाणे' त्यादि, सर्वमनन्तरोक्तवदेव । नवरं 'वीसधुव' त्ति प्रस्तुतबन्धकस्याष्टमगुणस्थानकषष्ठभागवर्तित्वेन निद्राद्विकस्याऽपि बन्धाभावात् ॥१४१६॥

अथ प्रशस्तसंस्थानादिमत्कमाह—

सुहआगिइ-खगइ-सुहगतिगलहुबंधी कुणेइ णामाणं । सट्ठाणव्व धुवाणं णियमाउ अणंतगुणअहियं ॥
मंदमुअ छठाणगयं सिआ सुराउच्च-सायइयराणं । सगणोकसायणीअ-दुआऊण सिआ अणंतगुणअहियं ॥
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा-१४१७-१८)

(प्रे०) 'सुहआगिई' त्यादि, तत्र सुहशब्दस्याग्रेऽपि योजनाच्छुभखगतिनाम्नः । 'धुवाणं' ति अष्टात्रिंशतः, त्रयोदशानां नामध्रुवबन्धिनीनामिहैवातिदिष्टत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धित्वात् । अनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामित्वात् । 'मंद' मित्यादि, द्वितीयगाथा । तत्र 'सुराउ' त्ति देवायुष्कमुच्चैर्गोत्रं सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति चतसृणाम् । स्याद्बन्धस्त्वायुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वात् । तिसृणां बन्धस्य परावर्त्तमानत्वात् । षट्स्थानगतत्वमासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । 'सगणो' इत्याद्युत्तरार्धम् । भय-जुगुप्सयोर्ध्रुवबन्धिनीष्वन्तर्भावात् सप्त नोकषायाः । 'दुआऊण' त्ति मनुष्य-तिर्यगायुषोः । अनयोरप्यनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामत्वेऽपि पर्याप्तप्रायोग्यबन्धकत्वात् । अनयोर्जघन्यरसस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकेन बध्यत इति । सप्तनोकषायादीनान्तु जघन्यरसस्य विशुद्ध्या जन्यत्वात् । स्याद्बन्धः प्राग्वत् ॥१४१७-१८॥

अथ पञ्चसंहननादिमत्कमाह—

पणसंहइचउआगिइऽहुबंधी बंधए सट्ठाणव्व । णामाण सिआ लहुमुअ छठाणगयमुच्च-सायइयराणं ॥
सगणोकसायणीअ-दुआऊण सिआ अणंतगुणअहियं । बंधइ धुवबंधीणं अडतीसाअ णियमाहिन्तो ॥
(प्र०गीतिः) (मूलगाथा-१४१९-२०)

(प्रे०) 'पणसंहई' त्यादि । तत्र 'पणसंहइ' त्ति संहतिशब्दस्य संहननवाचकत्वात् । पञ्चसंहननानाम् , सेवार्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । 'चउआगिइ' त्ति मध्यमसंस्थानचतुष्कस्य । 'सिआ' इत्याद्युत्तरार्धे 'इयर' त्ति असातवेदनीयस्य । षट्स्थानगतत्वमासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमान-

परिणामेन बध्यमानत्वात् । **'सगे'**त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र **'दुआऊण'**त्ति मनुष्य-तिर्यगायुषो रस-मनन्तगुणाधिकं बध्नातीति यदुक्तम्, तत्राऽयं हेतुः—यद्यपि पञ्चसंहननादिवदनयोरपि जघन्यरसः परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यते तथापि प्रस्तुतबन्धकः पर्याप्तप्रायोग्यबन्धकः, अनयोर्जघन्यरसस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकैर्बध्यत अत एव स्थितेराधिक्यादनन्तगुणाधिकमित्युक्तम् । स्यादुबन्धः प्रतीतः । **'बंधइ'** त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्, तच्च गतार्थम् ॥१४१९-२०॥

अथ हुण्डकसंस्थानादिसत्कमाह—

हुंडाणादेयदुहुगलहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाण अणंतगुणिअअहियं णियमा धुवाण रसं ॥
बधेइ सिआ सगणोकसाय-णीआणऽणंतगुणअहियं । मंदमुअ छठाणगयं सायियरतिआउ-उच्चाणं ॥
(मूलगाथा-१४२१-२२)

(प्रे०) **'हुंडाणादेये'** त्यादि गतार्थम् । **'बंधेइ'**त्यादि द्वितीयगाथा । **अनन्तगुणाधिकन्तु** तज्जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामाऽजन्यत्वात् । **'मंद'** मित्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । **'इयर'** त्ति असातवेदनीयम् । **'तिआउ'**त्ति देवायुर्वर्जमायुष्कत्रिकम्, देवप्रायोग्यबन्धकस्य हुण्डकादेर्बन्धाऽसम्भवात् । अपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकस्याऽपि हुण्डकादेर्जघन्यरसबन्धसद्भावाद् मनुष्यतिर्यगायुषोरपि रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति ॥१४२१-२२॥

अथ सेवार्त्तसत्कमाह—

छेवट्टमंदबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । णियमाऽणंतगुणहिय धुवबंधीण अडतीसाए ॥
बंधेइ सिआ सगणोकसाय-णीआणऽणंतगुणअहिय । मंदमुअ छठाणगयं सायियरदुआउउच्चाणं ॥
(मूलगाथा-१४२३-२४)

(प्रे०) 'छेवट्ठे' इत्यादि, तत्र 'इयर' त्ति असातवेदनीयस्य । 'दुआउ' त्ति तिर्यङ्मनुष्यायुषोः । शेषं कण्ठ्यम् ॥१४२३-२४॥

अथ कुखगत्यादिसत्कमाह—

कुखगइमरलहुबंधी णामाणं बधए सठाणव्व । णियमाऽणंतगुणहियं धुवबंधीण अडतीसाए ॥
मंदमुअ छठाणगयं सायियरुच्चणिरयाउगाण सिआ । सगणोकसायणीअदुआऊण अणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा-१४२५-२६)

(प्रे०) **'कुखगई'** त्यादि, प्रथमगाथा । अनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्त्तमान-मध्यमपरिणामत्वात् । **'मंद'** मित्यादि द्वितीयगाथा । नरकायुषोऽपि षट्स्थानगतन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तत्रसप्रायोग्यबन्धकत्वात् परावर्त्तमानपरिणामत्वाच्च । **'सगे'**त्याद्युत्तरार्धम् **'सिआ'** इति पदमिहापि सम्बध्यते । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या जन्यत्वात् । द्वयोर्मनुष्य-तिर्यगायुषोर्जघन्यरसस्य **परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वेऽप्यनन्तगुणाधिकं** न तु जघन्यं षट्स्थानगतं वा, कुतः ? तयोर्जघन्यरसबन्धस्याऽपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकेन निर्वर्त्तनीयत्वात् ॥१४२५-२६॥

अथ स्थिरादिनामसत्कमाह—

थिर-सुह-जसलहुबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । सायव्व दुवण्णाए बंधइ सेसाण पयडीण ॥
णवरि अणंतगुणहियं बंधइ तिरियमणुआउगाण सिआ ।

(मूलगाथा-१४२७)

(प्रे०) 'थिरे' त्यादि, तत्र 'सायव्व' त्ति नामकर्मवर्जशेषसप्तकर्मसत्कानां प्रस्तुतबन्धकै-र्बध्यमानानां द्विपञ्चाशतः प्रकृतीनां रसो जघन्यादिरूपो यथा सातवेदनीयजघन्यरसबन्धकेन बध्यते तथैवैतैरपि, सातवेदनीयजघन्यरसबन्धकवत् प्रस्तुतबन्धकानामपि परावर्त्तमानमध्यमपरिणामत्वात् । 'णवरि'त्ति अयं विशेषः-तिर्यङ्मनुष्यायुषो रसमनन्तगुणाधिकं बध्नाति । कोऽर्थः ? सातवेदनीय-स्य जघन्यरसबन्धकस्त्वनयोर्जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा रसं बध्नाति, यथाऽनयोर्जघन्यरसो-ऽपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकैर्बध्यते तथैव सातवेदनीयस्य जघन्यरसबन्धकैरपि बध्यते । प्रस्तुतबन्धकस्तु पर्याप्तप्रायोग्यमेव बध्नाति, अपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकस्य स्थिरादिबन्धाऽभावात् । अत एवानन्तगुणा-धिकं रसं बध्नाति, न तु सातवेदनीयजघन्यरसबन्धकवज्जघन्यं षट्स्थानपतितं वेति भावः । अत्रेद-मवधेयम्-इह सातासातवेदनीययोः स्याद्बन्धः कथनीयोऽत उक्तम् 'दुवण्णाए' इत्यादि । द्वि-पञ्चाशच्चेमाः—सर्वा ध्रुवबन्धिन्यस्ताश्चाष्टात्रिंशन्नामकर्मणः पृथगतिदिष्टत्वात् , साताऽसाते, हास्य-रती, शोकाऽरती, त्रयो वेदाः, गोत्रद्विकं, तिर्यङ्मनुष्यायुषी, देवायुश्चेति ॥१४२७॥

अथ जिननामसत्कमाह—

। जिणलहुबंधी बंधइ सट्ठाणव्व खलु णामाणं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं थीणद्धितिगाण मिच्छवज्जाणं । तीसधुवबंधिणीणं असाय-पुम-सोग-अरइउच्चाण ॥

(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा-१४२८-२९)

(प्रे०) 'जिणे' त्यादि, जिननाम्नो जघन्यरसबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखस्तीव्रसंक्लिष्टः सम्य-ग्दृष्टिः, ततः स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टप्रकृतीनां वर्जनम् । तथा नामप्रकृतीनां 'सट्ठाणव्वे' त्यनेनोक्तत्वात् त्रिंशद्ध्रुवप्रकृतयः । पुरुषवेदस्योच्चैर्गोत्रस्य च चतुर्थगुणस्थानके नियमाद्बन्धः, प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वादसातवेदनीयाऽरतिशोकप्रकृतीनां नियमेन बन्ध उक्तः । आसां सर्वासां रसस्त्वनन्त-गुणाधिकः, भिन्नाध्यवसायेन जघन्यरसस्य बध्यमानत्वादिति ॥१४२८-२९॥

अथोच्चैर्गोत्रसत्कमाह—

उच्चस्स मंदबंधी बंधेइ सिआ अणंतगुणअहियं । वेउव्वियुरालियदुग-णराउसगणोकसायाणं ॥
आयवेअरदेवाउछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । णरदुखगइदुगाणं सिआ लहुं उभ छट्ठाणगयं ॥
तसचउगपणिंदिय परघा-ऊसासाण गवण्णाए । धुवबंधीणं णियमा बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥

(मूलगाथा-१४३०-३२)

(प्रे०) 'उच्चस्से'त्यादि, तत्र 'सगणोकसाय' त्ति भय-जुगुप्से वर्जयित्वा सप्त । अनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्त्तमानमध्यमपरिणामित्वात् , आसां जघन्यरसबन्धस्य तु

संक्लेशादिना जन्यत्वात् , मनुष्यायुषो रसोऽनन्तगुणाधिकः, प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तप्रायोग्यबन्धकत्वेनाधिकस्थितेर्बन्धात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'सायेयरे' इत्यादि द्वितीयगाथा । तत्र स्याद्बन्धोऽनन्तरोक्तवत् । षट्स्थानगतन्त्वासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन जन्यत्वात् । 'तसे' त्यादि तृतीयगाथा । चकारलोपात् त्रसचतुष्कायुच्छ्वासान्तानामेकपञ्चाशतो ध्रुवबन्धिनीनाञ्च । त्रसचतुष्कादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य देव-पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धसद्भावात् । अनन्तगुणाधिकन्तु प्राग्वत् ॥१४३०--३२॥

अथोक्तशेषप्रकृतिसत्कमाह—

सेसाणं लहुबंधी णामाण सठाणगञ्च णियमाओ । धुव-सोग णपुंस-अरइ-असाय-णीआणऽणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा–१४३३)

(प्रे०) 'सेसाण' मित्यादि, उक्तशेषाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको नामप्रकृतीनां रसं 'सठाणव्व' त्ति स्वस्थानप्ररूपणायां यावानुक्तस्तावन्तं बध्नाति, कुतः ? नामप्रकृतीनामेवावशिष्टत्वात् । 'धुवे' त्याद्युत्तरार्धम् । 'णियमाओ' इतिपदमिह सम्बध्यते । अत्र ध्रुवबन्धिन्योऽष्टात्रिंशद् बोध्याः, नामप्रकृतीनामतिदिष्टत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात् । इतरासान्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य विसदृशरसबन्धस्थाने निर्वर्त्तनीयत्वात् । उक्तशेषाः प्रकृतय एकविंशतिः, ताश्चेमाः,– पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकं, त्रसचतुष्कमष्टौ शुभध्रुवबन्धिन्यः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, आतपोद्योतनाम्नी चेति ॥१४३३॥

गतोघतो जघन्यरसबन्धसन्निकर्षपरस्थानप्ररूपणा । अथ मार्गणासु जघन्यरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्षं दिदर्शयिषुस्तावन्नरकौघमार्गणायामाह—

एगस्स मंदबंधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाओ । णिरये णियमाण्णेसिं बंधइ लहुमुअ छठाणगयं ॥
बंधेइ सिआ णरदुग-उज्जो-उच्चाणऽणतगुणअहियं । तिरिदुग-णीआण सिआ लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
णियमा पणतीसअसुहधुवबंधीण रइ-हस्स-पुरिसाणं । तह तित्थाऊ विण सुहसेसाण अणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा—१४३४-३६)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र नियमाद्बन्धोऽष्टानामपि जघन्यरसबन्धकस्य प्रथमगुणस्थानवर्त्तित्वात् । षट्स्थानगतन्तु तुल्यविशुद्धया तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात् , सुविशुद्धेन सम्यक्त्वाऽभिमुखेन तज्जघन्यरसो बध्यत इति । 'बंधेइ' इत्यादि द्वितीयगाथा । तत्र स्याद्बन्धो भिन्नभिन्ननरकनारकानाश्रित्य तदबन्धोपलम्भात् , तद्यथा–मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे सप्तमपृथ्वीनारको न बध्नाति, शेषनारकास्तु नोद्योतनामेति । 'तिरिदुगे' त्यादि, तत्र स्याद्बन्धः प्राग्वत् , तद्यथा–सप्तमनारक एव ते बध्नाति न शेषा इति । षट्स्थानगतन्तु तज्जघन्यरसस्य तुल्यविशुद्धया जन्यत्वात् । यथा सप्तमपृथ्वीनारकः सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखः स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां जघन्यरसं बध्नाति

तथैव तिर्यग्द्विकादीनामपीति । 'णियमे' त्यादि तृतीयगाथा । तत्र 'पणतीस' त्ति अष्टानामिहैव पृथगुक्तत्वात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वेवम्–अशुभध्रुवाणां रत्यादीनामप्रशस्तानां च जघन्यरसबन्धस्य सम्यग्दृष्टिस्वामिकत्वात् । शुभानान्तु शुभत्वादेव । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वेनाध्रुवबन्धिनीनामपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । शेषाः शुभाश्चेमाः–सातवेदनीयं, पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतित्रसदशकं, पराघातोच्छ्वासनाम्नी चेति सप्तविंशतिरिति ॥१४३४-३६॥

अथ तत्रैव रति-हास्यादिसत्कमाह—

रइहस्स-पुरिस सेसअसुहधुवबंधीउ मंदमेगस्स । बंधंतो अण्णेसि णियमा लहुमुअ छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ अणतगुणिआहियं रसं णियमा । बंधइ सुहतीसाए आउगाहारजणरजोग्गाणं ॥
(मूलगाथा—१४३७-३८)

(प्रे०) 'रइहस्से' त्यादि, तत्र शेषा अशुभध्रुवाः पञ्चत्रिंशत् । षट्स्थानगतन्तु सर्वासां जघन्यरसबन्धस्य तुल्यविशुद्धया जायमानत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धसम्यग्दृष्टित्वेन पुरुषवेदस्य ध्रुवबन्धिकल्पत्वात्, रति-हास्ययोः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । 'तित्थस्से' त्याद्यनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसबन्धस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टस्वामिकत्वात् । 'बंधइ' त्याद्युत्तरार्धम् । 'अणंतगुणिआहिय' मित्यादीनि त्रीणि पदानीह योज्यानि । तत्राऽनन्तगुणाधिकमासां प्रशस्तत्वात् । नियमाद्बन्धः, सुविशुद्धसम्यग्दृष्टेस्तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । त्रिंशच्चेमाः-अनन्तरोक्ताः सप्तविंशतिमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे चेति ॥१४३७-३८॥ अथ सातवेदनीयसत्कमाह—

सायस्स व लहुबंधी थीणद्धितिगसगणोकसायाणं । अण मिच्छुज्जोअनिरियदुगजिणणीआणऽणंतगुणअहियं ॥
आउगणरखगइदुगछसंघयणागिइथिराइजुगलाण । उच्चस्स सिआ मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
पडिवक्खं णो बंधइ णियमाऽण्णंसि अणतगुणअहियं । एमेव सण्णियासो असाय-निथिराइजुगलाणं ॥
(मूलगाथा—१४३९-४१)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि, तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टध्रुवबन्धिप्रकृतीनां स्याद्बन्धस्सम्यग्दृशां तद्बन्धाभावात् । तथा तिर्यग्द्विकोद्योतनीचैर्गोत्रसप्तनोकषायप्रकृतीनां बन्धस्याध्रुवत्वात्, जिननाम्नो बन्धस्य कादाचित्कत्वाच्च स्याद्बन्धो ज्ञेयः । अनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्त्तमानपरिणामत्वात्, एतज्जघन्यरसस्य विशुद्ध्यादिना जन्यत्वाच्च । 'आउगं' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र दुगशब्दस्य पूर्वत्र योजनात् तिर्यङ्मनुष्यायूरूपमायुष्कद्विकं, मनुष्यद्विकं, खगतिद्विकञ्च । तथा छशब्दस्य सर्वानुवर्तित्वात् षट्संहननानि, षट्संस्थानानि, षट् स्थिरनामादयः, षट् चास्थिरनामादय इत्येतेषां तथोच्चैर्गोत्रस्य । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । षट्स्थानगतन्त्वासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । 'पडिवक्ख' मित्यादि तृतीयगाथा । तत्र 'अण्णंसिं' ति उक्तशेषाणां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणाधिकं नियमाच्च

बध्नाति । किमुक्तशेषाणां सर्वासाम् ? नेत्याह—'पडिवक्ख'मित्यादि. प्रतिपक्षामसातवेदनीयाख्यां प्रकृतिं न बध्नाति, कुतः ? प्रतिपक्षत्वेन युगपद्बन्धाऽभावात् । शेषप्रकृतयस्त्विमाः—ध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत् , पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कञ्चेति द्विपञ्चाशत् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति 'एमेवे' त्यादिना । एवमेवेत्यनन्तरोक्तवदेव । अत्र कश्चिद्विशेषस्तु स्वयमेव बोध्यः, तद्यथा—असातवेदनीयबन्धकस्सातवेदनीयं न बध्नाति, असातप्रतिपक्षत्वात् । स्थिरनामबन्धकस्सातासाते विकल्पेन बध्नाति किन्त्वस्थिरनाम न बध्नाति, तत्प्रतिपक्षत्वात् । ततश्चास्थिरषट्कस्थाने तद्वर्जाः पञ्चप्रकृतयो वाच्याः, स्थिरषट्कस्थानेऽपि पञ्चैव वाच्याः, स्थिरनाम्नः प्रधानीकृतत्वादेवमेव शुभनामादिमत्कविशेषोऽपि यथामति ज्ञेयः ॥१४३९-४१॥

अथ तत्रैव स्त्रीवेदसत्कमाह—

थीअ लहुं बंधंतो धुवपंचिंदियउरालियदुगाणं । परघा-ऊसास-सुहगतिग-तसचउग-सुहखगईणं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं बंधेइ दुवेअणीअजुगलाण । उज्जोअ-तिरिय-णरदुग-संघयणागिइनिगाण तहा ॥
निथिराइगजुगलाण दुगोआण सिआ णपुंसगस्सेवं । णवरि अणंतगुणआहियं पणसंघयणागिईण सिआ ॥
(मूलगाथा-१४४२-४४)

(प्रे०) 'थीअ' इत्यादि, तत्र सुभगत्रिक-सुखगतिरूपाणां चतसृणामपि नियमाद् बन्धः, प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । तदपि कुतः ? बन्धविच्छेदक्रमानुरोधात् , तद्यथा-स्त्रीवेदात् प्रागेव दुर्भगत्रिकाप्रशस्तविहायोगत्योर्बन्धो व्यवच्छिद्यत इति । 'दुवेअणीअ' त्ति सातासातयोर्हास्यरति-शोकाऽरतीनाञ्च । 'संघयण' त्ति प्रथम-द्वितीय-तृतीयरूपाणां त्रयाणां संहनननाम्नां तादृशामेव त्रयाणां संस्थाननाम्नाम् । चतुर्थादिसंहननप्रमुखाणां तु बन्धाभाव एव, स च बन्धविच्छेदक्रमानुरोधात् । 'निथिराइ' त्ति स्थिराऽस्थिरशुभाऽशुभयशः-कीर्त्ययशःकीर्त्तीनाम् । एतास्तु सर्वासामनन्तगुणाधिकं बध्नाति, एतावत्यां विशुद्धौ कस्या अपि प्रकृतेर्जघन्यरसबन्धस्याऽसम्भवात् । अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात्सापवादमतिदिशति-'णपुंसगस्से' त्यादि, नपुंसकवेदस्य, प्रस्तावात् तज्जघन्यरसबन्धस्य सन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवदेव भवति । 'णवरि' त्ति अयं विशेषः,—स्त्रीवेदजघन्यरसबन्धकस्त्रिसंहननसंस्थानानां बन्धं करोत्ययं नपुंसकवेदजघन्यरसबन्धकस्तु चरमवर्जपञ्चानामिति । चरमयोर्बन्धाभावस्तु बन्धविच्छेदक्रमानुरोधात् ॥१४४२-४४॥

अथ तत्रैव शोकाऽरतिसत्कमाह—

एगस्स बंधमाणो मंदं सोगारईउ अण्णस्स । णियमा बंधइ मंदं अहव अमंदं छट्ठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ अणतगुणिआहिय रसं णियमा । सुहणरजोग्गपुमाण तह पणतीसासुहधुवाणं ॥
(मूलगाथा-१४४५-४६)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः सम्यग्दृष्टिः । 'तित्थस्से' त्यादि, अनन्तगुणाधिकन्त्वेतज्जघन्यरसस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन जन्यत्वात् । 'सुहणरे' त्यादि,

पश्चिमार्धम् । 'अणंतगुणिभाहिय' मित्यादि पदत्रयमिहानुवर्तते । अनन्तगुणाधिकन्त्वेतज्जघन्यरसस्य तीव्रसंक्लेशेन विशुद्धया परावर्त्तमानपरिणामेन वा जन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धसम्यग्दृष्टित्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात्, अस्थिरादीनां बन्धसद्भावेऽप्येतावद्विशुद्धयामासां बन्धविच्छेदात् स्थिरादीनां नियमेन बन्ध इति । मनुष्ययोग्याः शुभाश्चेमाः—मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्र, प्रशस्तविहायोगतिनाम, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति त्रिंशदिति । पञ्चत्रिंशत्तु स्त्यानर्द्धित्रिकादीनामष्टानां बन्धाऽभावात्, प्रशस्तानाञ्च पृथगुक्तत्वात् ॥ १४४५-४६॥ अथ तत्रैव तिर्यगायुःसत्कमाह--

तिरियाउमंदबंधी बधइ सत्तण्ह णोकसायाण । तह उज्जोअस्स सिआ अणुभागमणतगुणअहियं ॥
तिरि-उरलदुग-पणिंदिय-परघा-उसास-तसचउक्काणं । धुवणीआणं णियमा बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥
साय-असाय दुखगइ-छसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । बंधेइ सिआ मंदं अहव अमदं छट्ठाणगयं ॥
(मूलगाथा-१४४७-४९)

(प्रे०) 'तिरियाउ०' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी । तत्र तिर्यग्द्विकस्याप्यनन्तगुणाधिकन्तु सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य तज्जघन्यरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात् । 'साये' त्यादि तृतीयगाथा । तत्र छशब्दस्य सर्वत्रानुवर्त्तनात् षट्संहननानि, षट्संस्थानानि, षट्स्थिरादिनामानि, षडस्थिरादिनामानीति । षट्स्थानगतन्त्वासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् ॥१४४७--४९॥ अथ तत्रैव मनुष्यायुःसत्कमाह---

मणुयाउस्स जहण्णं बंधतो बंधए रसं णियमा । मणुयदुगस्स जहण्णं उअ अजहण्ण छट्ठाणगयं ॥
धुव-उरलदुग-पणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । णियमाऽणंतगुणहिय सिआ जुगलवेअणीआण ॥
सायियरुच्चदुखगइ-छसघयणागिइथिराइजुगलाणं । मंदमुअ छट्ठाणगयं रसं सिआ णरदुगस्सेवं ॥
(मूलगाथा-१४५०-५२)

(प्रे०) 'मणुयाउस्से' त्यादि, तत्र मनुष्यद्विकस्य षट्स्थानगतन्त्वेतज्जघन्यरसस्याऽपि परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । 'धुवे' त्यादि, तत्र ध्रुवबन्धिन्य एकपञ्चाशद्, बन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वात् । तथा 'जुगल' त्ति हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपे द्वे युगले । 'वेअ' त्ति त्रयो वेदाः । 'णीअ' त्ति नीचैर्गोत्रम्, अस्याप्यनन्तगुणाधिकन्तु सप्तमपृथ्वीनारकापेक्षया । 'सायियरे' त्यादि तृतीयगाथा । तत्र 'इयर' त्ति असातवेदनीयम्, शेषं गतार्थम् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति--'णरे' त्यादि । कश्चिद्विशेषस्तु स्वयं बोध्यः, तद्यथा—मनुष्यद्विकजघन्यरसबन्धको मनुष्यायुषो रसं जघन्यं षट्स्थानपतितं वा स्याच्च बध्नाति । तथा स्वेतरस्या गतेरानुपूर्व्या वा जघन्यं षट्स्थानपतितं वा नियमाच्च बध्नाति ।।१४५०--५२।। अथ तत्रैव तिर्यग्द्विकादिसत्कमाह—

एगम्म मंदबंधी तिरिदुग-णीआउ मंदमुअ छत्तिहं । णियमाऽणंसिं दोण्ह थीणद्धितिगाणमिच्छाणं ॥

उज्जोअस्स सिआ खलु अणंतगुणिअहियं रसं णियमा । पणतीसअसुहधुवपुमरइ-हस्सऽण्णसुहतिरियजोग्गाणं
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा–१४५३-५४)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'छविहं' ति षट्स्थानपतितम् । तत्र स्त्यानर्द्धित्रिकादीनामपि षट्स्थानपतितम्, प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यक्त्वाभिमुखत्वात् । 'पणतीसे' त्यादि, 'अणंतगुणिअहिय' मित्यादीनि त्रीणि पदानीहानुवर्त्यन्ते । तत्राऽध्रुवाणामपि नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य सम्यक्त्वाऽभिमुखत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । तिर्यक्प्रायोग्या अन्यशुभाश्चेमाः--पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यष्टकं, प्रथमसंहनन, प्रथमसंस्थानं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयञ्चेति सप्तविंशतिरिति ॥१४५३-५४॥

अथ शुभध्रुवाष्टादशप्रकृतिसत्कमाह---

सुहधुवपणिंदिउरलदुग परघा-ऊसास-तसचउक्काण । उज्जोअस्स य एहु सबंधे सट्ठाणगव्व णामाणं ॥
(गीतिः)

णियमाऽणंतगुणहियं णपुंसग-असाय-सोग-अरईणं । तेयालीसाअ असुहधुवबंधीण तह णीअस्स ॥
(मूलगाथा–१४५५-५६)

(प्रे०) 'सुहधुवे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः । नपुंसकवेदादीनां नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वात् ॥१४५५-५६॥ अथ तत्रैव जिननामसत्कमाह—

णामाण सठाणव्व उ जिणसहबंधी अणंतगुणअहियं । णियमा उच्चअसुहधुव असाय-सोगाऽरइपुमाणं ॥
(मूलगाथा–१४५७)

(प्रे०) 'णामाणे' त्यादि, तत्र 'णियमे' त्याद्युत्तरार्धम् । अणंतगुणअहिय' मिति पदमुत्तरार्धे सम्बध्यते; अनन्तगुणाधिकत्वमुच्चैर्गोत्रादीनां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन विशुद्ध्या वा जन्यत्वात् प्रस्तुतबन्धकस्य च तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् ॥१४५७॥

अथोक्तशेषनामप्रकृतिसत्कमाह—

णामाण सठाणव्व उ बधइ खलु सेसणामसहबंधी । मंदममंदं व सिआ दुवेअणीआउउच्चाणं ॥
बंधेइ सिआ सगणोकसाय-णीआणऽणंतगुणअहियं । णियमा धुवबंधीणं सेसाणं अट्ठतीसाए ॥
(मूलगाथा–१४५८-५९)

(प्रे०) 'णामाणे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी । शेषनामप्रकृतयस्तु विंशतिस्ताश्चेमाः--संहननपञ्चकं, संस्थानपञ्चकं, खगतिद्विकं, सुभगत्रिकं, दुर्भगत्रिकञ्चेति । 'मंद' मित्याद्युत्तरार्धम् । तत्र 'अमंदं' नाम षट्स्थानगतम् । वाकारो विकल्पार्थकस्ततश्च मन्दं बध्नात्यथवा षट्स्थानपतितमिति । दुशब्दस्योभयत्र योजनात् द्वे वेदनीये द्वे च तिर्यग्मनुष्यायुर्लक्षणे आयुषी । षट्स्थानगतत्वमासामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । स्याद्बन्धः पुनः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावादायुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वाच्च । 'बंधइ' त्यादि, द्वितीयगाथा । तत्राऽनन्तगुणाधिकम्, तज्जघन्यरसस्य सुविशुद्ध्या तत्प्रायोग्यविशुद्ध्या वा जन्यत्वात् ।

स्याद्बन्धः, प्राग्वत् । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । अष्टात्रिंशत्तु नामप्रकृतीनां पृथग्निर्दिष्टत्वात् ॥१४५८-५९॥ अथोच्चैर्गोत्रसत्कमाह—

उच्चस्स जहण्णरसं बंधंतो णरदुगस्स बंधेइ । णियमा रसं जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
धुव-उरलदुग-पणिंदिय परघा-ऊसास-तसचउक्काण । णियमाऽणंतगुणहिय सिआ तिवेअ-जुगलदुगाणं ॥
साय-असाय णराउ छसंघयणाऽऽगिइ-थिराइजुगलाणं । दोण्हं खगईण सिआ लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
(मूलगाथा–१४६०–६२)

(प्रे०) 'उच्चस्सं' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी । तत्र षट्स्थानगतम् , तज्जघन्यरसस्याऽपि परावर्त्तमानमध्यमपरिणामजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तूच्चैर्गोत्रेण सह तिर्यग्द्विकबन्धाऽयोगात् । 'धुवे' त्यादि द्वितीयगाथा । ध्रुवबन्धित्वं स्पष्टमेव । अध्रुवाणामपि नियमाद्बन्धस्तु नारकाणां भवप्रत्ययेन तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जन्यत्वात् । 'सिआ' इत्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धे, तत्र 'जुगलदुग' त्ति हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपयोर्द्वयोर्युगलयोः । स्याद्बन्धस्तु युगपद्बन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य विशुद्ध्या जन्यत्वात् । 'साये' त्यादि । षट्स्थानगतन्तु तज्जघन्यरसस्याऽपि परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । स्याद्बन्धः प्राग्वत् ॥१४६०-६२॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् प्रथमादिनरकप्रमुखमार्गणासु प्रस्तुतं सापवादमतिदिशति—

पढमाइछणिरयेसुं तइआइगअट्ठमंतदेवेसुं । णिरयव्व णवरि तिरिदुगणीआणऽत्थि तिरियाउ व ॥
साय-असायदुखगइ छसंघयणागिइथिराइजुगलाण । लहुबंधी उ सिआ तिरिदुग-णीआण लहुगुअ छठाणगयं ॥
णीअस्स सिआ णरतिगलहुबंधी सदसुअ छठाणगयं । तिरिदुगणीआण कुणइ णियमा तिरियाउलहुबंधी ॥
बंधइ थीणद्धितिग-अण-इत्थि-णपुंसमिच्छलहुबंधो । तिरिदुग-णीआणि णरा चअ णियमा मणुयदुगुच्चाणं ॥
(मूलगाथा-१४६३-६६)

(प्रे०) 'पढमाई' त्यादि, अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्वामिसादृश्यात् । 'णवरि' त्ति अयं विशेषः-तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां तिर्यगायुष्कवदस्ति, जघन्यरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्ष इति प्रस्तावाद्गम्यते । अयं भावः,-नरकौघमार्गणायां तिर्यग्द्विकादीनां जघन्यरसबन्धकस्सम्यक्त्वाभिमुखः, ततस्तत्र परावर्त्तमानानां शुभानामेव बन्धो भवति, तद्यथा-संहननेष्वाद्यस्य संस्थानेष्वप्याद्यस्य विहायोगत्योः प्रशस्तायाः एवेत्यादि । इह तु तिर्यग्द्विकादीनां जघन्यरसबन्धः परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यते ततस्तिर्यगायुर्वदतिदिष्टम् , तिर्यगायुषोऽपि जघन्यरसस्य तथैव जन्यत्वात् । 'साये' त्यादि द्वितीयगाथा । कोऽत्र विशेषः ? उच्यते, नरकौघमार्गणायां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोरनन्तगुणाधिको रसो बध्यते, यतः प्रस्तुतबन्धकाः परावर्त्तमानपरिणामिनः, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्तु विशुद्ध्या जायते , इह तु सातवेदनीयादिवत् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरपि जघन्यरसः परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यत अतस्तद्रसो जघन्यः षट्स्थानग-

तोऽजघन्यो वा बध्यते । 'णीअस्से' त्यादि तृतीयगाथा । को विशेषः ? उच्यते–नरकौघमार्गणायां नरत्रिकजघन्यरसबन्धकेन नीचैर्गोत्रस्यानन्तगुणाधिको रसो बध्यते, नरत्रिकजघन्यरसबन्धकस्य परावर्त्तमानपरिणामित्वात् । नीचैर्गोत्रजघन्यरसस्य तु विशुद्ध्या जन्यत्वात् । इह तु नीचैर्गोत्रस्याऽपि जघन्यरसः परावर्त्तमानपरिणामेन जायत अत उक्तं 'मंदमुअ छठाणगय'-मिति । 'तिरिदुगणीआणे'त्यादि तृतीयगाथोत्तरार्धम् । 'मद' मित्यादीनि त्रीणि पदानीहानुवर्त्तन्ते । विशेषश्चायम्-नरकौघमार्गणायां तिर्यगायुर्जघन्यरसबन्धकस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनन्तगुणाधिकं रसं बध्नाति, इह तु स जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा, अनन्तरोक्तादेव हेतोः । 'बंधइ' त्यादि, चतुर्थगाथा । अयं विशेषः-स्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वानां जघन्यरसः सम्यक्त्वाभिमुखेन मिथ्यादृष्टिना, स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्धेन मिथ्यादृष्टिना बध्यत अतस्तेनेह तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रे न बध्येते, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तु तस्य नियमाद् बन्धो भवति । सप्तमपृथ्वीमार्गणायान्तु भवप्रत्ययाद् मिथ्यादृष्टिना तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रे एव बध्येते इति ॥१४६३-६६॥ अथ सप्तमनरकमार्गणायामाह—

सट्ठाणव्व मणुयदुगलहुबंधी तमतमाअ णामाणं । बंधइ तीसासुहधुव-असाय-सोगाऽरइपुमाण ॥
णियमाऽणंतगुणाहिय बंधइ उच्चस्स मंदमहव रसं । छट्ठाणगयमसदं णियमा उच्चस्स एमेव ॥

(मूलगाथा–१४६७-६८)

(प्र०) 'सट्ठाणव्वे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धको मिथ्यात्वाभिमुखसम्यग्दृष्टिः । तत्र 'तीस' त्ति त्रिंशत्, स्त्यानर्द्धिषट्कवर्जाः । नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य संक्लिष्टत्वेनाऽसातवेदनीय-शोकाऽरतिरूपाणां परावर्त्तमानबन्धानामपि प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वासामप्रशस्तत्वात् । 'उच्चस्से' त्यादि द्वितीयगाथापूर्वार्धे, तत्र नियमाद्बन्धस्तु सम्यग्दृष्टेस्तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । षट्स्थानगतत्वेनतज्जघन्यरसबन्धस्याऽपि मिथ्यात्वाभिमुखेन जन्यत्वात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति–'उच्चस्से' त्यादि, उच्चैर्गोत्रस्य प्रस्तुतसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद्भवति, कुतः ? एतज्जघन्यरसस्याऽपि मिथ्यात्वाभिमुखेन जन्यत्वात् ॥१४६७-६८॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वादुक्तशेषप्रकृतीनां सापवादमतिदिशति—

णिरयव्व सणियासो सेसाणं णवरि णरदुगुच्चाण । णो चेव बंधए खलु णियमा तिरियदुग-णीआणं ॥
मंदमसं बंधओ थीणद्धितिगाणमिच्छगाण तहा । संघयणागिइदुखगइ दुभग-दुस्सर-सुहगतिगाण ॥

(मूलगाथा–१४६९-७०)

(प्र०) 'णिरयव्वे' त्यादि, अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्वामिसादृश्यात् । 'णवरि' त्ति अयं विशेषः–द्वितीयगाथोक्तानां स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां सुभगत्रिकपर्यवसानानां त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसं बध्नन् मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे नैव बध्नाति, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रे च नियमाद् बध्नाति, कुतः ? आसां जघन्यरसबन्धकस्य मिथ्यादृष्टित्वात् । मिथ्यादृष्टिसप्तमपृथ्वीनारकस्य

भवप्रत्ययात्तद्बन्धाऽभावात् ॥१४६९-७०॥ अथाऽतिदिष्टेऽर्थे विशेषान्तरमाह—

मंदरसं बंधंतो दुवेअणीअ-तिथिराऽऽजुगलाणं । णरदुगउच्चाण मिआ बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥

(मूलगाथा-१४७१)

(प्रे०) '**मंदरस**' मित्यादि, कोऽत्र विशेषः ? उच्यते, नरकौघमार्गणायां द्विवेदनीयादिवद् मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोरपि जघन्यरसः परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यतेऽतस्तत्र जघन्योऽजघन्यो वा षट्स्थानपतितो रसः प्राप्यते, इह तु मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यरसो मिथ्यात्वाभिमुखेन संक्लिष्टेन बध्यतेऽतोऽनन्तगुणाधिकं रसं बध्नाति, द्विवेदनीयादिजघन्यरसबन्धक इति ॥१४७१॥

अथ तिर्यग्गत्योघमार्गणायामाह—

पुमऽडकसाय-दुणिद्दा-णवावरण-हस्सचउग-विग्घाओ । उवघायकुवण्णाओ तिरिये पगमस लहुबंधी ॥
मंदगुअ छट्ठाणगयं णियमाऽण्णेसि अणंतगुणअहियं । णियमा उवउज्जसुहसुरजोग्गाणंगणतीसाए ॥

(मूलगाथा-१४७२-७३)

(प्रे०) '**पुमे**' त्यादि, '**तिरिये**' त्ति तिर्यग्गत्योघमार्गणायाम् । तत्र '**अडकसाय**' त्ति प्रत्याख्यानावरण-सञ्ज्वलनरूपाः । '**णवावरण**' त्ति ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्करूपम् । '**हस्सचउग**' त्ति हास्य-रति-भय-जुगुप्सारूपम् । '**कुवण्ण**' त्ति अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कम् । '**मंद**' मित्यादि पदत्रयं प्रथमगाथायां सम्बध्यते । नियमाद्बन्धस्तु पञ्चमगुणस्थानके हास्य-रतिवर्जानामुक्तसर्वासां ध्रुवतया बन्धोपलम्भात् , हास्य-रत्योर्नियमाद् बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतीनां बन्धाऽभावात् । षट्स्थानगतत्वमासां सर्वासां जघन्यरसस्य स्वस्थानविशुद्धिरूपया तुल्यविशुद्धया जन्यत्वात् । '**णियमे**' त्यादि, द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । '**ऽण्णेसि**' मित्यादि पदद्वयमिह योज्यम् । तत्रायुषो वर्जनम् , सुविशुद्धस्यायुर्बन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन संक्लेशेन वा जन्यत्वात् । इमाश्च ताः सुरयोग्याः शुभा एकोनत्रिंशत्–सातं, देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१४७२-७३॥

अथ पञ्चेन्द्रियजात्यादिसत्कं प्रस्तुतसन्निकर्षमाह—

लहुबंधी पंचिंदिय-परघा-ऊसास-समचउरंसाणं । सुहधुवबंधितसुरलायवदुगाण सट्ठाणगअ णामाणं ॥ (गीतिः)
असुहधुवअसायाणं तह णीआगइणपुंसगीआणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ अंबउर सेसाणं ॥

(मूलगाथा–१४७४-७५)

(प्रे०) '**लहुबंधी**' त्यादि, पञ्चेन्द्रियजात्यादीनामातपद्विकावसानानामेकविंशतेः प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षप्ररूपणा प्रस्तुता । तत्र नामप्रकृतीनां स्वस्थानप्ररूपणावत् प्रतीता । अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादिनीचैर्गोत्रावसानानामनन्तगुणाधिकत्वेनासामप्रशस्तत्वाद् । अध्रुवाणामपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य विंशतिसागरकोटिकोटिमितायाः अष्टादशकोटिकोटिसागरमितायाश्च स्थितेर्बन्ध-

सद्भावात् , संक्लिष्टत्वादिति भावः । अथ तुल्यवक्तव्यत्वाच्छेषप्रकृतिमन्कमतिदिशति–'ओघव्व' त्ति उक्तशेषाणां षट्षष्टिप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति. ओघोक्ततज्जघन्यरसबन्धकेन बध्यमानप्रकृतीनामिह बध्यमानरसस्य पुनरनन्तगुणत्वादीनां सादृश्यादिति । इमाश्च ताः षट्षष्टिः–स्त्यानर्द्धित्रिकं, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिचतुष्कमप्रत्याख्यानावरणचतुष्कं, स्त्रीनपुंसकवेदौ, शोकारती, वेदनीयद्विकं, गोत्रद्विकं, देवद्विकं, नरकद्विकं, तिर्यग्द्विकं, मनुष्यद्विकं, जातिचतुष्कं, संहननषट्कं, संस्थानषट्कं, विहायोगतिद्विकं, स्थावरदशकं, स्थिरषट्कं, चत्वार्यायूंषि चेति ॥१४७४-७५॥

अथौघवदतिदिष्टे याः काश्चिदतिप्रसक्तयस्ता उद्धर्तुकाम आह—

णवरि णियमाऽरइथिराइतिजुगलदुवेअणीअलहुबंधी । तइअकसाया तिरिदुग णीउज्जोआण थीणपुमबंधो॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१४७६)

(प्रे०) 'णवरी' त्यादि, 'जुगल' शब्दस्याऽरतेरभिसम्बन्धाद् वेदनीयद्वयपर्यन्ता दश प्रकृतयः, आसां दशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः 'तइअ' इत्यादि तृतीयप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कं नियमेन बध्नाति । ओघे तु शोकाऽरतिवर्जानामासां जघन्यरसः षष्ठगुणस्थानकं यावत् , शोकाऽरत्योः पुनः षष्ठगुणस्थानके बध्यते, अत्र तु यथाक्रमं पञ्चमगुणस्थानकं यावत्पञ्चमगुणस्थानके बध्यते अतः प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्य बन्धो नियमेन कथितः । अथ स्त्री-नपुंसकवेदसन्निकर्षविषये विशेषमाह 'तिरि' त्यादिना, ओघे सप्तमनारकमाश्रित्य तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रोद्योतप्रकृतीनां बन्धसम्भवादुक्त आसीदिह पुनरासां बन्धको न भवति प्रकृतबन्धकः । कुतः ? स्त्री-नपुंसकवेदजघन्यरसबन्धादर्वागेव तिर्यग्द्विकादिप्रकृतीनां बन्धविच्छेदादिति । 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ते'-रोघवदतिदिष्टेऽपि यासामप्रत्याख्यानावरणाऽरत्यादिदशप्रकृतीनां सन्निकर्षे जिननाम्नस्स्याद्बन्धस्तत्रोक्तः सोऽत्र तासामप्रत्याख्यानावरणादीनां सन्निकर्षे न वक्तव्यः, जिननाम्नोऽत्र बन्धाभावात् ॥ १४७६॥ अथ त्रिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणासु तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रमन्कमाह—

तिपणिंदियतिरियेसुं तिरिदुगणीआउ मंदरसबंधी । एगस्स दोण्ह दुविहं णियमा धुवबंधि-उरलाणं ॥
कुणइ अणंतगुणहियं सिआ तिवेअ-जुगलायवदुगाणं । तहुरलुवंगपणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं ॥
मंदसुभ छठाणगयं सिआउमायियरजाइचउगाणं । संघयणागिइ-दुखगइ-थावरदसग-थिरछक्काणं ॥
णीअस्स सण्णियासे णवरि णिरय-तिरिय-णरदुगाण सिआ । बंधइ रसं जहण्ण अजहण्णं वा छठाणगयं ॥
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा–१४७७-८०)

(प्रे०) 'तिपणिंदिये' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी । 'दोण्ह' त्ति स्वेतरयोः प्रकृत्योः । 'दुविहं' ति जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा । नियमाद्बन्धस्त्वासां बन्धस्यान्योन्यमविनाभावित्वात् । 'धुवबंधी' त्यादि, 'णियमे' तिपदमिहाऽपि योज्यते । तत्र नियमाद् बन्धः प्रतीतः । अनन्तगुणाधिकत्वासां जघन्यरसबन्धस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जायमानत्वात् । 'तिवेअ' इत्यादि, 'जुगल' त्ति हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपं युगलद्विकम् । स्याद्बन्धस्तु

यथासम्भवमपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकानां स्थावरप्रायोग्यबन्धकानाञ्चापि तद्बन्धसद्भावात् । **'मंद'** मित्यादि तृतीयगाथा । तत्र **'आउ'** त्ति तिर्यगायुषस्तिर्यग्द्विकसंनिकर्षे, नीचैर्गोत्रसन्निकर्षे नरक-तिर्यग्मनुजायुष्केष्वन्यतमस्य । **'इयर'** त्ति असातवेदनीयम् । षट्स्थानगतन्त्वासामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । **'णीअस्से'** त्यादि चतुर्थगाथया नीचैर्गोत्रसन्निकर्षविषये **'णवरी'** त्यादिना विशेषं दर्शयति, तत्र परावर्त्तमानपरिणामेन जघन्यरसस्य बध्यमानत्वाद् नरकद्विक-तिर्यग्द्विक-मनुजद्विकेष्वन्यतमद्विकस्य स्याद्बन्धः, रसं पुनर्जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । आयुषस्तु बन्धस्य कादाचित्कत्वात् ॥१४७७-८०॥ अथ तत्रैवोक्तशेषप्रकृतिसत्कं सापवादमतिदिशति—

सेसाण तिरिव्व णवरि णिरयमणुस्सतिगमंदरसबंधी । णीअस्स य तिरियाउग-दुवेअणीअ-चउजाइलहुबंधी ॥
संघयणागिइ-दुखगइ-थावरदसग-थिरछक्कलहुबंधी । तिरिदुगणीआण लहुं अहवा अलहुं छठाणगयं ॥
(प्र० गीतिः) (मूलगाथा-१४८१-८२)

(प्रे०) **'सेसाणे'** त्याद्युक्तशेषाणामष्टादशोत्तरशतप्रकृतीनाम् । **'तिरिव्व'** त्ति तिर्यग्गत्योघवद् भवति । अयं भावः-तिर्यग्गत्योघमार्गणायां तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्तेजो-वायुकायिकानाश्रित्य सुविशुद्धया बध्यते, इह तु परावर्त्तमानपरिणामेन । एवं स्वामिवैसदृश्यादिह तत्सत्कं पृथग्निरूपणम् । शेषाणान्तु स्वामिसाम्यादतिदेशः । तत्रापि तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रसत्कविशेषोऽस्ति तमेव दर्शयति **'णवरी'** त्यादिना, नरकत्रिकादिजघन्यरसबन्धको नीचैर्गोत्रस्य जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा रसं बध्नात्येतज्जघन्यरसस्याऽपि परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । किमुक्तं भवति ? तिर्यग्गत्योघमार्गणायामस्यानन्तगुणाधिको रसो बध्यते तत्रैतज्जघन्यरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात् । **'तिरियाउगे'** त्यादि, प्रथमगाथोत्तरार्धगतश्चकारः समुच्चायको भिन्नक्रमश्च, ततश्च तिर्यगायुष्कादिजघन्यरसबन्धकः संहननादिजघन्यरसबन्धकश्च तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति, अनन्तरोक्तादेव हेतोरिति ॥१४८१-८२॥

अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगाद्यष्टात्रिंशन्मार्गणासु प्रकृतं बिभणिषुस्तावत्तीव्रविशुद्धिबध्यमानजघन्यरसप्रकृतिसत्कमाह—

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुय-पणिंदिय-तसेसु सव्वेसु । विगलवणभूदगेसु पुम-रइ-हस्साऽसुहधुवाणो ॥
एगस्स मंदबंधी णियमाऽण्णाण लहुमुअ छठाणगयं । णियमाऽणंतगुणहियं सुहणरजोग्गाउवज्जतीसाए ॥
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा-१४८३-८४)

(प्रे०) **'असमत्ते'** त्यादि; तत्राऽशुभध्रुवबन्धिन्यश्चत्वारिंशत् । षट्स्थानगतन्तु सर्वासामासां जघन्यरसस्य तुल्यविशुद्धया जन्यत्वात् । **'णियमे'** त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । तत्र नियमाद् बन्धस्तु सुविशुद्धस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां प्रशस्तत्वात् । इमाश्च तास्त्रिंशत्-मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, प्रथमसंहननं, प्रथम-

संस्थानं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकं, सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥ ॥१४८३–८४॥ अथ तत्रैव सातवेदनीयसत्कमाह—

सायस्स मंदबंधी बंधेइ सिआ अणंतगुणअहियं। परघा-ऊसासायवदुगुरुलुअंगसगणोकसायाणं ॥ (गीतिः)
णर-तिरितिग-पणजाइ-छसंघयणागिइ-दुखगइ-गोआणं। तस-थावरदसगाणं सिआ लहुं उअ छठाणगयं ॥
धुव-उरलाणं णियमा बंधेइ रसं अणंतगुणअहियं। एमेव सण्णियासो असाय-अथिरदुग-अजसाणं ॥
(मूलगाथा-१४८५-८७)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि प्रथमगाथा। तत्र स्याद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्तमानपरिणामित्वेनाऽस्यापर्याप्तप्रायोग्यबन्धस्याऽपि भावात्। ततः किम्? पराघातनामादीनामबन्धस्याऽपि सम्भवात्। सप्तनोकषायाणान्तु प्रतिपक्षबन्धसद्भावात्, अनन्तगुणाधिकन्तु तज्जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जन्यत्वात्। 'णरे' त्यादि द्वितीयगाथा। स्याद्बन्धः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। आयुषोस्तु बन्धस्य कादाचित्कत्वात्। षट्स्थानगतत्वमासामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमानपरिणामजन्यत्वात्। 'धुवे' त्यादि तृतीयगाथा। तत्रौदारिकशरीरनाम्नोऽपि नियमाद् बन्धः,तस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात्। अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति–'एमेव' त्ति अनन्तरोक्तवदेव। आसाममसातवेदनीयादीनामपि जघन्यरसबन्धस्येह परावर्तमानमध्यमपरिणामेन जन्यत्वात् तुल्यस्वामिकत्वादिति भावः। इह 'अथिरदुग' त्ति अस्थिराऽशुभयोरिति ॥१४८५–८७॥

अथ तत्रैव स्त्रीवेदसत्कमाह—

सायिअरदुजुगलाण तिसंघयणागिइथिराइजुगलाणं। थीलहुबंधी बंधइ सिआ रसमणंतगुणअहियं ॥
णियमा असुहधुवाउगवज्जदसत्थणरजोग्गसेसाणं। एवं णपुमस्स णवरि पणसंघयणागिइण सिआ ॥
(मूलगाथा–१४८८–८९)

(प्रे०) 'सायियरे' त्यादि, तत्र स्याद्बन्धः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसस्य परावर्तमानपरिणामेन जन्यत्वात्, अयं बन्धकस्तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति। 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा। तत्र 'अणंतगुणअहिय' मितिपदमनुवर्तते। 'असुहधुव' त्ति त्रिचत्वारिंशत्। शेषमनुष्यप्रायोग्याणामपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात्। मनुष्ययोग्याश्शेषाश्चेमाः–मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, अष्टौ प्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातनामोच्छ्वासनाम, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति चतुर्विंशतिरिति। अथ बहुसमानवक्तव्यत्वाद् नपुंसकवेदसत्कमतिदिशति–'एव' मित्यादि, सुगमम् ॥१४८८–८९॥

अथ तत्रैव शोकाऽरतिसत्कमाह—

बंधतो अणुभागं मंद एगस्स सोग-अरईओ। णियमाऽण्णस्स जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
साय-असायथिराइतिजुगलाण सिआ अणंतगुणअहियं। णियमा असुहधुवपुमछवीसाउगवज्जसुणरजोग्गाणं ॥
(द्वि०गीतिः) (मूलगाथा–१४९०–९१)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुद्धः । तत्र षड्विंशतिस्त्वनन्तरोक्तविंशतिगताश्तुर्विंशतिराद्यसंहननसंस्थाने चेति । शेषं गतार्थम् ॥१४०.०-९१॥

अथ तिर्यगायुःसत्कमाह—

तिरियाउमंदबंधी णियमा लहुमुभ छठाणगयमलहुं । तिरिदुगहुंडअपज्जग-पणअथिराईण णीअस्स ॥
धुवणपुमुरलाण रसं णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं । बंधेइ सिआ दुजुअलउरालुवंगाण अणुभाग ॥
बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं रसं छठाणगयं । सायेयरजाइपणग-छिवट्ठ-तिनसाइजुगलाणं ॥

(मूलगाथा-१४९२-९४)

(प्रे०) 'तिरियाउ०'इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकोऽपर्याप्तप्रायोग्यं क्षुल्लकभवप्रमितश्चायुर्बध्नाति । अयञ्च बन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः । 'पणअथिराईण' त्ति दुःस्वरवर्जानाम् , स्वरस्य पर्याप्तप्रायोग्यत्वात् । हुण्डकादीनां नीचैर्गोत्रस्य च नियमाद्बन्धस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकस्य ध्रुवतया तद्बन्धोपलम्भात् । 'धुवे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र 'धुव' त्ति एकपञ्चाशत् । 'बंधेइ' इत्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । तत्रौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नस्स्याद्बन्धस्तु स्थावरप्रायोग्यबन्धकस्य तद्बन्धाऽभावात् । 'बंधइ' इत्यादि तृतीयगाथा । तत्राऽपर्याप्तनाम्नो नियमाद्बन्ध इतीहैवोक्तत्वात् , त्रसस्थावररूपं, बादर-सूक्ष्मनामरूपं, प्रत्येकसाधारणनामरूपमिति युगलत्रिकम् 'तिनसाई' त्यनेन ग्राह्यम् । सेवार्त्तस्य स्याद्बन्धस्तु त्रसप्रायोग्यबन्धकस्यैव तद्बन्धसद्भावात् ॥१४९२--९४॥

अथ मनुष्यायुःसत्कमाह—

मणुआउमंदबंधी धुव णपुम-उरलदुगाण बंधेइ । णियमाऽणंतगुणहियं जुगलाण सिआ दुवेअणीआणं ॥
मंदसुभ छठाणगय णियमा मणुय-तसदुगअपज्जाणं । हुंड-छिवट्ठ-पणिंदिय-पत्तेअ-पणाऽथिराइणीआणं ॥

(गीतिद्वयम) (मूलगाथा-१४९५-९६)

(प्रे०) मणुआउ०' इत्यादि, तत्रौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य केवलं मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् । 'जुगलाण' त्ति हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपयोर्युगलयोः, पूर्वस्थं 'अणंतगुणहिय'मुत्तरस्थं च 'सिआ'इतिपदद्वयमत्र सम्बन्धनीयम् । 'दुवेअणीआणं' इतिपदमुत्तरत्र योज्यम् । 'मंदे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र दुगशब्दस्योभयत्र सम्बन्धाद् मनुष्यद्विकं, त्रस-बादरनामरूपं त्रसद्विकञ्चेति । मनुष्यद्विकादिर्नीचैर्गोत्रावसानानां नियमाद् बन्धस्त्वपर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् ॥१४९५-९६॥

अथ तत्रैव तिर्यग्द्विकादिसत्कमाह—

एगस्स मदबंधी तिरिदुगणीआउ बधए णियमा । अण्णाण दोण्ह मंद अहव अमंदं छठाणगयं ॥
धुवउरलाणं णियमा अणंतगुणअहिय कुणइ सिआ । परघा-ऊसासायवदुगुरलुवंग-सगणोकसायाणं ॥
मंदसुभ छठाणगय सिआ तिरिक्खाउसाय-इयराणं । पणजाइछसंघयणागिइदुखगइदसतसाइजुगलाणं ॥

(द्वि० गू० गीति.) (मूलगाथा-१४९७-९९)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः। 'परघे' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्। 'सिआ' इतिपदमिह योज्यम्। स्याद्बन्धस्त्वपर्याप्तादिप्रायोग्यबन्धकस्य तद्बन्धाऽभावात्। सप्तनोकषायाणान्तु युगपद्बन्धाभावात्। 'मंद' मित्यादि तृतीयगाथा। तत्र 'इयर' त्ति असातवेदनीयम्। 'दसतसाइजुगल' त्ति त्रसदशकं स्थावरदशकञ्चेति ।।१४९७-९९।।

अथ तत्रैव मनुष्यद्विकसत्कमाह—

णरदुगलहुरसबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व। णियमाऽणंतगुणहियं धुवबंधीण अडतीसाए ।।
मंदमुअ छठाणगयं मणुयाउदुवेअणीअगोआणं। बंधइ सिआ दुजुगल-तिवेआण अणंतगुणअहियं ।।
(मूलगाथा- १५००-१)

(प्रे०) 'णरदुगे' त्यादि, तत्राऽष्टात्रिंशतः, नामप्रकृतीनां पृथगतिदिष्टत्वात्। 'बंधइ' इत्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्। 'बंधइ सिआ' इतिपदद्वयं पूर्वार्धेऽपि योज्यम्। तत्र स्याद्बन्धस्तु विवक्षितकाले युगलयोर्वेदानाञ्चान्यतरस्यैव बन्धप्रवर्त्तनात्। अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात्। प्रस्तुतबन्धकस्तु परावर्त्तमानपरिणाम इति ।।१५००-१।।

अथ तत्रैव जातिचतुष्कादिसत्कमाह—

चउजाइथावरसुहुम-साहारण जहण्णरसबंधी। णामाण पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ।।
धुवणपुमाण णियमाऽणंतगुणहियं सिआ दुजुगलाणं। णियमा णीअस्स रसं लहुमलहुं वा छठाणगयं ।।
मंदमुअ छठाणगयं दुवेअणीअतिरियाउगाण सिआ।
(मूलगाथा-१५०२-३)

(प्रे०) 'चउजाई' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी। अत्र चतुश्शब्दः केवलं जातौ योज्यः। 'धुवे' त्यादि द्वितीयगाथा। तत्र 'धुव' त्ति अष्टात्रिंशद्, नाम्नोऽतिदिष्टत्वात्। नपुंसकवेदस्य नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य विकलेन्द्रियप्रायोग्याणां स्थावरप्रायोग्याणां वा बन्धसद्भावात्। अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्धया संक्लेशेन वा जन्यत्वात्। युगलयोः स्याद्बन्धः प्राग्वत्। 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्, नियमाद् बन्धस्तु तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकस्योच्चैर्गोत्रबन्धाऽभावात्। 'मंद' मित्यादि तृतीयगाथापूर्वार्धम्। तत्र स्याद्बन्धो वेदनीययोर्युगपद्बन्धाभावात्। तिर्यगायुर्बन्धस्य च कादाचित्कत्वात् ।।१५०२-३।।

अथ प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादिसत्कमाह—

सुहधुवबंधीण तहा उरलस्स जहण्णरसबंधी ।।
धुवबंधिअट्ठतीस-असाय-णपुंस-अरइ-सोग णीआणं। णियमाऽणंतगुणहियं सट्ठाणव्व खलु णामाण ।।
(मूलगाथा-१५०४-५)

(प्रे०) 'सुहधुवे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः। 'धुवबंधी' त्यादि द्वितीयगाथा। 'अट्ठतीस' त्ति अष्टात्रिंशत्, ताश्चाप्रशस्ता नामप्रकृतिवर्जाः। असातवेदनीयादीनां नियमा-

ध्रुबन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्याऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वेवम्—ध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसस्तीव्रविशुद्धेन, असातवेदनीयनीचैर्गोत्रयोः परावर्त्तमानपरिणामेन, नपुंसकवेदाऽरतिशोकानां तत्प्रायोग्यविशुद्धेन निर्वर्त्यते । प्रस्तुतबन्धकस्तु न तथेति ।।१५०४-५।। अथ तत्रैव संहननादिसत्कमाह—

पणसंघयणागिइथिरछगदुस्सरपज्जदुखगईण लहुं । बंधंतो णामाण सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ।।
सायियरदुगोआणं सिआ लहुमुभ छविहं धुवाण रसं । णियमाऽणंतगुणहियं सिआउ-सगणोकसायाणं ।।
(मूलगाथा-१५०६-७)

(प्रे०) 'पणसंघयणे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानपरिणामः । अत्र 'पण' त्ति चरमवर्जानि, चरमयोर्यथास्थानमतिदिश्यमानत्वात् । 'सिआउसगणोकसायाण' मिति द्वितीयगाथोत्तरार्धे । तत्र 'आउ' त्ति तिर्यङ्मनुष्यायुषी । आयुषोरनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तप्रायोग्यबन्धप्रवर्त्तनात् , तयोर्जघन्यरसस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकैर्बध्यत इति कृत्वा च, नोकषायाणां जघन्यरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात् ।।१५०६-७।। अथौदारिकाङ्गोपाङ्गनामादिसत्कमाह—

उरलोवंगायवदुग-परघा-ऊसासमंदरसबंधी । णामाणं पयडीणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ।।
बंधइ धुवबंधीण अडतीसाअ तह णपुमणोआणं । णियमाऽणंतगुणहियं दुवेअणीअजुगलाण सिआ ।।
(मूलगाथा-१५०८-९)

(प्रे०) 'उरलोवंगे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टः । तत्र नियमाद्बन्धोऽष्टात्रिंशतो ध्रुवबन्धित्वात् , नीचैर्गोत्रस्य तु प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वेन तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकत्वात् । ततः किम् ? प्रतिपक्षभूतस्योच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नास्तीति । नपुंसकवेदस्याऽपि नियमादेव बन्धः, एतावति संक्लेशे वर्त्तमानस्य पुरुषस्त्रीवेदबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात् । 'दुवेअणीअे' त्यादि, द्विशब्दस्योभयत्र योजनाद् द्वे वेदनीये, द्वे च युगले । स्याद्बन्धः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वेतज्जघन्यरसस्य संक्लेशेनाजन्यत्वात् ।। १५०८-९।। अथापर्याप्तनामसत्कमाह—

सट्ठाणव्व उ बंधइ णामाण रसं अपज्जलहुबंधी । णियमाऽणंतगुणहियं णपुमऽडतीसधुवबंधीण ।।
सायियरदुआऊणं सिआ लहुमहव छट्ठाणगयमलहुं । णियमा णीअस्स सिआ जुगलाण अणंतगुणअहियं ।।
(मूलगाथा-१५१०-११)

(प्रे०) 'सट्ठाणव्वे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी । 'णियमे' त्यादि प्रथमगाथोत्तरार्धम् । तत्राऽनन्तगुणाधिकम् ,आसां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेनाऽजन्यत्वात् । नपुंसकवेदस्यापि नियमाद्बन्धस्त्वपर्याप्तबन्धकस्य जन्तोः वेदान्तरबन्धाभावात् । 'साये' त्यादि द्वितीयगाथा । 'दुआऊणं'ति तिर्यङ्मनुष्यायुषोः । 'णियमा णीयस्से'त्यादि, पूर्वार्धगतानि 'लहुं'-मित्यादीनि चत्वारि पदानीहाऽपि योज्यानि । तत्र षट्स्थानगतत्वेतज्जघन्यरसस्याऽपि परावर्त्तमान-

परिणामजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्त्वपर्याप्तनाम्ना सहोच्चैर्गोत्रबन्धस्य विरोधात् । 'जुगलाण' त्ति हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपयोर्युगलयोरिति ॥१५१०-११॥

अथोक्तशेषाणां नामप्रकृतीनां तुल्यवक्तव्यत्वादेकत्राह—

सेसाणं णामाणं लहुबंधी बंधए सठाणव्व । णामाणं णियमा धुवबंधीण ऽणंतगुणअहियं ॥
मंदसुभ छठाणगयं दुवेअणीआउगोआणं । बंधइ सिआ दुजुअल-तिवेआण अणंतगुणअहियं ॥ (उपगीतिः)
(मूलगाथा-१५१२-१३)

(प्रे०) 'सेसाण' मित्यादि, शेषाः प्रकृतयस्त्वष्टौ, ताश्चेमाः—पञ्चेन्द्रियजातिः, सेवार्त्तं, हुण्डकं, त्रस-बादर-प्रत्येकनामानि, दुर्भगाऽनादेयनाम्नी चेति । 'णियमे' त्यादि प्रथमगाथोत्तरार्धे । अत्र ध्रुवबन्धिन्योऽष्टात्रिंशन्नामप्रकृतीनामतिदिष्टत्वात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वेतज्जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्धया वा जन्यत्वात् , प्रस्तुतबन्धकस्य तु परावर्त्तमानपरिणामित्वात् । 'मंद' मित्यादि द्वितीयगाथा । तत्र दुशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् द्वे वेदनीये, तिर्यङ्मनुष्यारूपे द्वे आयुषी, द्वे च गोत्रे । षट्स्थानगतन्त्वासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन जन्यत्वात् , उत्तरार्धगतं 'सिआ' इतिपदमिहाऽपि योज्यम् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । 'दुजुअले' त्यादि, तत्र स्याद्बन्धोऽनन्तरोक्तवद् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य यथासम्भवं सुविशुद्धया तत्प्रायोग्यविशुद्धया वा जन्यत्वात् ॥१५१२-१३॥ अथ तत्रैवोच्चैर्गोत्रसत्कमाह—

उच्चस्स मंदबंधी मणुयदुग-पणिंदि-तसचउक्काणं । णियमा बंधइ मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
सायेयरखगइदुगछसंघयणागिइथिराइजुगलाणं । बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
णियमा धुवुरलदुग-परघा-ऊसासाणऽणंतगुणअहियं । बंधेइ रसं दुजुअल-तिवेअ-मणुयाउगाण सिआ ॥
(मूलगाथा-१५१४-१६)

(प्रे०) 'उच्चस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः । तत्र मनुष्यद्विकस्य नियमाद्बन्धः, तत्प्रतिपक्षभूतस्य तिर्यग्द्विकस्य बन्धाऽभावात् , तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकेन तु नीचैर्गोत्रमेव बध्यत इति । षट्स्थानपतितमपि प्राग्वत् । 'सायेयरे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र 'इयर' त्ति असातवेदनीयम् । तथा छशब्दस्याऽग्रेऽपि योजनात् षट्संहननानि, षट् संस्थानानि, स्थिरादिषट्कमस्थिरादिषट्कञ्च । 'णियमे' त्यादि तृतीयगाथा । तत्र पराघातोच्छ्वासनाम्नोरपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य पर्याप्तप्रायोग्यबन्धकत्वात् । 'बंधइ' इत्यादि तृतीयगाथोत्तरार्धम् । तत्र मनुष्यायुषोऽप्यनन्तगुणाधिकमनन्तरोक्तादेव हेतोः, अस्य जघन्यरसस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकेन बध्यत इति कृत्वा ॥१५१४-१६॥ अथ त्रिमनुष्यमार्गणासु प्रकृतं बिभणिषुस्तदेशद्वारेणाऽऽह—

ओघव्व तिमणुएसुं तित्थाहारदुगपुमदुजुगलाणं । असुहधुवाणेमेव य दुवेअणीअतिथिराइजुगलाणं ॥
णवरं बंधेइ सिआ लहुमलहुं वा रसं छठाणगयं । तिरिदुगणीआण कुणइ पणिंदितिरियव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा-१५१७-१८)

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, 'तिमणुएसु' त्ति अपर्याप्तमनुष्यवर्जासु तिसृषु मार्गणासु । तीर्थकरनामाद्यशुभध्रुवबन्धिपर्यवसानानामेकपञ्चाशत्प्रकृतीनामोघवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो वाच्यः, कुतः ? ओघेऽपि प्रस्तुतमार्गणावर्तिनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । चकारः समुच्चायकस्ततश्च द्विवेदनीय-त्रिस्थिरादियुगलानामित्यष्टानामप्योघवदेव भवति । 'णवरं' ति अयं विशेषः–इह तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयो रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा स्याच्च बध्नाति, ओघे त्वनन्तगुणाधिकम्, यतस्तत्र सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्यैतज्जघन्यरसो विशुद्ध्योपलभ्यते, इह तु वेदनीयादिवत् परावर्त्तमानपरिणामेनेति । 'सेसाणं' इत्युक्तशेषाणां पञ्चषष्टेः प्रकृतीनाम् । अतिदेशस्तु स्वामिसादृश्यात् । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणावदिहाप्येतज्जघन्यरसस्य मिथ्यादृष्टिस्वामिकत्वादिति भावः । इमाश्च ताः पञ्चषष्टिः–स्त्री-नपुंसकवेदौ, चत्वार्यायूंषि, गोत्रद्विकं, देवद्विकं, नरकद्विकं, तिर्यग्द्विकं, मनुष्यद्विकं, जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्धाष्टकं, संहननषट्कं,संस्थानषट्कं, विहायोगतिद्विकं, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, आतपोद्योतनाम्नी, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिकं, स्थावरचतुष्कं, दुर्भगत्रिकञ्चेति ॥१५१७-१८॥

अथ देवौघमार्गणायां प्रकृतं विभणिषुस्तावत्सातवेदनीयसत्कमाह—

सायस्स मंदबंधी देवे णियमा अणंतगुणअहियं । तेआलीसधुव-उरल-परघा-ऊसास-बायरनिगाणं ॥
मंदमुअ छठाणगय सिआ तिरि-णरतिगिगिंदियाण तहा । संघयणागिइथावर-थिराइछजुगलदुखगइगोआणं ॥
थीणद्धितिगाणचउग-मिच्छत्त-तिवेअ-दुजुगलाण तहा । उरलोवंगपणिंदिय आयवदुग-जिण-तसाण सिआ ॥
कुणइ अणंतगुणहियं एवमसायथिराइजुगलाणं ॥

(प्र०द्वि० गीतिः) (मूलगाथा–१५१९-२१)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि, तत्र 'तेआलीस' त्ति त्रिचत्वारिंशत्, ताश्च स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्ववर्जा ज्ञेयाः । कुतः ? सातवेदनीयजघन्यरसबन्धस्य सम्यग्दृष्टेरपि सद्भावात् तस्य च तद्बन्धाभावात् । 'मंद' मित्यादि द्वितीयगाथा । षट्स्थानगतत्वामामपि जघन्यरसस्य सातवेदनीयवत् परावर्त्तमानपरिणामेन जन्यत्वात् । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । अत्र 'संघयणे' त्यादिना षट् संहननानि षट् च संस्थानानि,संख्यानिगामकविशेषणाभावात् । तथा दुशब्दस्याग्रेऽपि योजनाद् द्वे खगती द्वे च गोत्रे । 'थीणद्धी' त्यादि तृतीयगाथा । तत्र स्याद्बन्धस्तु त्रिवेद-द्वियुगल पञ्चेन्द्रियाऽऽतपद्विकत्रसनाम्नां प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । स्त्यानर्द्धित्रिकादीनान्तु नानाबन्धकानाश्रित्याबन्धस्याऽपि सम्भवात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा जायमानत्वात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति–'एव' मित्यादिना, अत्र कश्चिद्विशेषस्तु स्वयं बोध्यः, तद्यथा–स्थिरनामबन्धको वेदनीयद्विकस्य रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा स्याच्च बध्नाति । तथाऽस्मिन् प्रस्तावे द्वितीयगाथागतस्थिरादिषट्कयुगलस्थाने पञ्च पञ्चैव प्रकृतयो वाच्याः, स्थिर[illegible] । तस्मिंश्च प्रधानीकृते

प्रतिपक्षभूतस्याऽस्थिरनाम्नो बन्धाऽसम्भवात् । एवं शुभनामयशःकीर्त्तिनामाऽस्थिरनामाऽशुभनामाऽयशःकीर्त्तिनाम्नां सत्को विशेषो यथागमं वाच्यः । असातसत्कस्तु नास्ति कश्चिद् विशेषः, केवलं 'सायस्से' ति स्थाने 'असायस्से' ति वाच्यम् ।।१५१९-२१।।

अथ तिर्यगायुःसत्कमाह–

तिरियाउमंदबंधी तिरिदुगणीआण णियमाओ ॥
मंदमुअ छट्ठाणगयं दुवेअणीअछथिराइजुगलाणं । संघयणागिइदुखगइ-थावर-एगिंदियाण सिआ ॥
बंधइ सिआ णपुंसग-इत्थी पुरिस-जुगलायवदुगाणं । उरलोवंग-पणिंदिय-तसाण य अणंतगुणअहियं ॥
धुवबंधि-उरालाणं पराघा-ऊसास-बायरतिगाणं । णियमाऽणंतगुणहियं एव तिरियदुगणीआणं ॥
णवरं सिआ जहण्ण उअ अजहण्णं रसं छट्ठाणगयं । णीअलहुअरसबंधी बधइ तिरिय-मणुअतिगाणं ॥
(मूलगाथा–१५२२-२६)

(प्रे०) 'तिरियाउ०' इत्यादि, तत्र नियमाद् बन्धः प्रतीतः, तिर्यक्प्रायोग्यबन्धकस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । अनन्तरवक्ष्यमाणगाथागतानि 'मंद' मित्यादीनि त्रीणि पदानीहाऽपि योज्यानि । तथा 'मंद' मित्यादि द्वितीयगाथा । तत्र स्याद्बन्धः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । षट्स्थानगतत्वमासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । 'बंधइ' इत्यादि तृतीयगाथा । तत्र स्याद्बन्धोऽनन्तरोक्तवत् । अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामाऽजन्यत्वात् । अत्र दुगशब्दो जुगलेनाऽपि सहयोज्यस्ततश्च हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपं युगलद्विकमातपोद्योतरूपमातपद्विकञ्चेति । 'धुवबंधि' त्यादि चतुर्थगाथा । तत्रौदारिकशरीरनामादिवादरत्रिकावसानानामपि नियमाद्बन्धस्तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । अथ बहुतुल्यवक्तव्यत्वात् प्रकृतित्रिकमन्त्यमतिदिशति–'एवं' ति अनन्तरोक्तवदेव । अथ विशेषमाह 'णवर' मित्यादिना, नीचैर्गोत्रजघन्यरसबन्धकस्तिर्यक्त्रिकस्य मनुष्यत्रिकस्य च स्याद् बन्धं करोति । अयं भावः-तिर्यगायुर्बन्धकस्तु मनुष्यत्रिकं न बध्नाति, तिर्यग्द्विकञ्च नियमाद् बध्नाति, अयं नीचैर्गोत्रबन्धकस्तु तिर्यक्त्रिकं मनुष्यत्रिकञ्च स्याद् बध्नाति, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवात् । मनुष्यप्रायोग्यबन्धेन सह नीचैर्गोत्रबन्धस्याविरोधादिति भावः ।।१५२२-२६।।

अथैकेन्द्रियजाति-स्थावरनामसत्कमाह—

एगिंदियथावरलहुबंधी सट्ठाणगव्व णामाणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ धुवबंधिणपुमाणं ॥
मंदमुअ छट्ठाणगयं दुवेअणीअतिरियाउगाण सिआ । णियमा णीअस्स सिआऽणंतगुणहियं दुजुगलाणं ॥
(मूलगाथा–१५२७-२८)

(प्रे०) 'एगिंदिये' त्यादि, तत्र नपुंसकवेदस्य नियमाद्बन्धस्त्वेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकस्य वेदान्तरबन्धाऽभावात् । 'मंद' मित्यादि द्वितीयगाथा । 'णियमे' त्याद्युत्तरार्धम् । तत्र पूर्वार्धगतानि 'मंद'मित्यादीनि त्रीणि पदानि 'णीअस्से'त्यनेनाऽपि सम्बध्यते । षट्स्थानगतन्तु नीचैर्गोत्रस्याऽपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । नियमाद् बन्धस्त्वेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्ध-

कमाश्रित्य तस्य ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् । 'सिआ' इत्यादि, स्याद्बन्धस्तु द्वयोर्युगपद्बन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वेतज्जघन्यरसबन्धस्य विशुद्धया जायमानत्वात् ॥१५२७-२८॥

अथ तत्रैव हुण्डकादिनामसत्कमाह—

हुंडाणादेयदुहगलहुबंधी बंधए सठाणत्व । णामाण धुवाण रसं अणंतगुणिआहियं णियमा ॥
मंदसुभ छठाणगयं दुवेअणीआउगोआणं । बंधइ सिआ तिवेअ दुजुगलाण अणंतगुणअहियं ॥
(द्वि० उपगीतिः)(मूलगाथा-१५२९-३०)

(प्रे०) 'हुंडे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी । 'धुवाण' त्ति नामप्रकृतीनां पृथगनिदिष्टत्वादष्टात्रिंशत इति । अनन्तगुणाधिकत्त्वमासांजघन्यरसबन्धस्य विशुद्धया जन्यत्वात् । 'मंद' मित्यादि द्वितीयगाथा । तत्र दुशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् द्वयोर्वेदनीययोर्द्वयोस्तिर्यङ्मनुष्यायुर्लक्षणयोरायुषोर्द्वयोश्च गोत्रयोरिति । 'मंद' मित्यादिकत्वमासामपि जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । स्याद्बन्धः, स्वप्रतिपक्षप्रकृत्या सह स्वबन्धस्य विरोधात् । 'बंधइ' इत्याद्युत्तरार्धम् । स्याद्बन्धोऽनन्तरोक्तवद् ,अनन्तगुणाधिकं प्राग्वत् ॥१५२९-३०॥

अथ तत्रैव प्रशस्तध्रुवादिसत्कमाह—

सुहधुवुरालायवदुग-परघा-ऊसास-बायरतिगाणं । लहुबंधी णामाणं सट्ठाणत्व खलु बंधेइ ॥
धुवबंधिअट्ठतीस असाय-णपुम-अरइ-सोग-णीआणं । णियमाऽणंतगुणाहियं आइमणिरयव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा-१५३१-३२)

(प्रे०) 'सुहधुवे'त्यादिषोडशप्रकृतयः । प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः । अत्र'उराले'त्यनेन औदारिकशरीरमेव ग्राह्यम् , औदारिकाङ्गोपाङ्गस्य त्रसनामवत् शेषप्रकृतिषु ग्रहणात् । 'धुवे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्राऽनन्तगुणाधिकत्वमासामशुभत्वात् । ततः किम् ? तज्जघन्यरसो विशुद्धया परावर्त्तमानपरिणामेन वा जायत इति । नियमाद्बन्धस्तु बन्धकस्य संक्लिष्टत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । 'आइमे'त्यादि, शेषप्रकृतीनां सन्निकर्षः प्रथमनरकवज्ज्ञेयः, शेषप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धेन सहैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धाभावादाद्यनरकवद् निर्दिष्टः । शेषप्रकृतयस्तु पञ्चसप्ततिर्मार्गणाबन्धप्रायोग्या वेदितव्याः । तद्यथा—अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशद् , भयजुगुप्सावर्जनोकषायास्ते च सप्त, मनुष्यत्रिकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम, संहननषट्कं, हुण्डवर्जसंस्थानपञ्चकं, विहायोगतिद्विकं, जिननाम, त्रसनाम, सुभगत्रिकं, दुःस्वरः, उच्चैर्गोत्रञ्चेति पञ्चसप्ततिरिति ॥१५३१-३२॥

अथ भवनत्रिकादिमार्गणासु प्रकृतमाह—

भवणतिगदुकप्पेसुं पणिंदिथावराण देवव्व । सायेयरतिरिणरतिगथिराइजुगलतिग-गोआणं ॥
देवव्व सण्णिआमो इवेज्ज णवरं पणिंदियणमाणं । बंधेइ रसं मंद अहव अमंदं छठाणगयं ॥
(मूलगाथा-१५३३-३४)

(प्रे०)'भवणे' त्यादि, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्करूपे भवनत्रिके तथा सौधर्मेशानकल्परूपयोः द्वयोः कल्पयोरेकेन्द्रियस्थावरनाम्नोः सन्निकर्षो देवौघवद् भवति, स्वामिनामविशेषात् । 'सायेयरे'

त्यादि, सातासातवेदनीय-तिर्यक्त्रिक-मनुष्यत्रिक-स्थिरादियुगलत्रय-नीचैर्गोत्रोच्चैर्गोत्ररूपाणां षोडश-प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धविषयकसन्निकर्षो देवसामान्यमार्गणावज्ज्ञेयः, उभयत्र परावर्त्तमानमध्यमपरि-णामेन जघन्यरसस्य बध्यमानत्वात् । अत्र कश्चिद् विशेषोऽस्ति तं 'णवर' मित्यादिना दर्शयति, तथाथा—देवौघे पञ्चेन्द्रिय-त्रसनाम्नोर्जघन्यरसः सर्वसंक्लिष्टेन बध्यतेऽत्र तु परावर्त्तमानपरि-णामेनातस्तत्र तयो रसोऽनन्तगुणाधिको बध्यतेऽत्र तु तयो रसो जघन्योऽथवा षट्स्थानपतितो-ऽजघन्योऽप्यत उक्तं 'रसं मंद' मित्यादि । स्यान्नियमाद्वा बन्धस्तु देवौघवदेव ॥१५३३-३४॥

अथ तत्रैव संहनननामादिसन्निकर्षमाह—

संघयणागिइदुखगइसुहगदुहगतिगपणिंदियतसाणं । लहुबंधी णामाणं सट्ठाणव्व धुवबंधीणं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं बंधेइ तिवेअ-दुजुगलाण सिआ । मदमुभ छठाणगयं दुवेअणीआउ-गोआणं ॥
(मूलगाथा–१५३५-३६)

(प्रे०) '**संघयणागिई**' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानपरिणामः । इह '**संघयणे**' त्यादिना निखिलानि तानि बोध्यानि, व्यवच्छेदकाभावात् ततश्च प्रकृतयो द्वात्रिंशतिः । 'धुव' त्यष्टात्रिं-शतः । '**णियमे**' त्यादि द्वितीयगाथा । आसाञ्जघन्यरसो विशुद्धया जायते । '**मंद**' मित्याद्यु-त्तरार्धम् । दुशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् द्वे वेदनीये, द्वे तिर्यङ्मनुष्यायूरूपे आयुषी, द्वे च गोत्रे । एत-ज्जघन्यरसोऽपि परावर्त्तमानपरिणामेन जायते ॥१५३५-३६॥

अथ प्रशस्तध्रुवादिसन्निकर्षमाह—

सुहधुवुरालायवदुग-परघा-ऊसासबायरतिगाण । लहुबंधी णामाणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
धुवबंधिअट्ठतीस-असायणपुमअरइसोगणीआणं । णियमाऽणंतगुणहियं आइमणिरयव्वसेसाण ॥
(मूलगाथा–१५३७-३८)

(प्रे०) '**सुहधुवे**' त्यादि, तत्र 'उराल' त्ति दुगशब्दस्यात्रापि योजनादौदारिकशरीरा-ङ्गोपाङ्गरूपमौदारिकद्विकम्, तेन बादरत्रिकपर्यन्तमानाः प्रकृतयः सप्तदश । प्रस्तुतबन्धकः सर्व-संक्लिष्टस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो वा । 'धुवबंधि' त्यादि द्वितीयगाथा । आसाञ्जघन्यरसो विशुद्धया जायते, असातनीचैर्गोत्रयोश्च स परावर्त्तमानपरिणामेनेति । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति–'**आइम**' त्यादि, अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्वामिसादृश्यात् । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः—अप्रशस्तध्रुव-बन्धिन्यस्त्रिचत्वारिंशत्, हास्य-रती, शोकाऽरती, त्रयो वेदाः, जिननाम चेत्येकपञ्चाशदिति । भवन-पतित्रिके तु जिननामसन्निकर्षो न वाच्यः, तद्बन्धाभावात् ॥१५३७-३८॥

अथानतादित्रयोदशमार्गणासु प्रकृतमाह—

णरउरलदुगपणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । सुहधुवबंधीणं लहुबंधी तेराणगईसु ॥
णामाण सठाणव्व उ बंधइ णियमा अणंतगुणअहियं । धुवबंधिअट्ठतीस-असाय-णपुम-अरइ-सोग-णीआणं ॥
पढमणिरयव्व णेयो सेसाणं णवरि बंधए णियमा । णरगइअणुपुव्वीणं अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
(द्वि०गीतिः) (मूलगाथा–१५३९-४१)

(प्रे०) 'णरउरले' त्यादि, मनुष्यद्विकाद्येकोनविंशतिप्रकृतीनां प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः। 'धुवे' त्यादि, आसां जघन्यरसो विशुद्धया परावर्त्तमानपरिणामेन वा जायते। असातवेदनीयादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु तीव्रसंक्लिष्टस्य प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात्। 'पढमे' त्यादि, उक्तशेषाणां प्रकृतीनां सन्निकर्षः प्रथमनरकवज्ज्ञेयः। उक्तशेषप्रकृतिषु त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यो, हास्य-रती, शोकाऽरती, वेदत्रयं, जिननामेति कथितैकपञ्चाशत्प्रकृतीनां सन्निकर्षस्सर्वथा प्रथमनरकवज्ज्ञेयः, आसां जघन्यरसबन्धकानां मनुष्यद्विकस्य नियमेन अनन्तगुणाधिकरसस्य च बन्धसद्भावात्। शेषप्रकृतिषु यासां जघन्यरसः परावर्त्तमानभावेन बध्यते तासां वेदनीयद्वय-गोत्रद्वय-खगतिद्वय-मनुष्यायुःसंहननषट्क-संस्थानषट्क-स्थिरषट्कास्थिरषट्कप्रकृतीनां सन्निकर्षोऽपि प्रथमनरकवत्, किन्तु तत्र तिर्यग्द्विकस्य बन्धसद्भावान्मनुष्यद्विकस्य स्याद् बन्धः, तस्य रसो जघन्योऽजघन्यो वा षट्स्थानपतितो बध्यते, परावर्त्तमानभावेनाऽस्य जघन्यरसस्य बध्यमानत्वात्, अत्र त्वासां प्रकृतीनां सन्निकर्षे मनुष्यद्विकस्य नियमेन बन्धो वक्तव्यो रसः पुनरनन्तगुणाधिक एव, तिर्यग्द्विकस्य बन्धाऽभावेन मनुष्यद्विकस्य नियमेन तज्जघन्यरसस्य च संक्लेशेन बध्यमानत्वादत उक्तं 'णवरी' त्यादि तृतीयगाथायां विशेषपदमिति ॥१५३९-४१॥

अथानुत्तरसुरादिषु नवसु मार्गणासु प्रकृतं विभणिषुस्तावत्तीव्रविशुद्धिबध्यमानजघन्यरसप्रकृतिसत्कमाह—

पंचसु अणुत्तरेसु आहारदुग-परिहार-देसेसु। एगस्स मंदबंधी पुमरइहस्सअसुहधुवाओ ॥
णियमाऽण्णेसिं मंदं अहव अमंदं रसं छठाणगयं। तित्थस्स सिआ बंधइ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
णियमाऽऽउगवज्जाणं सेसाण सुहाण णवरि परिहारे। आहारदुगस्स व तहिं आहारदुगस्स ओघव्व ॥

(मूलगाथा-१५४२-४४)

(प्रे०) 'पंचसु' इत्यादि, तत्र 'आहारदुग' त्ति आहारकतन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः। 'देस' त्ति देशविरतौ। 'एगस्से' त्यादि प्रथमगाथोत्तरार्धम्। तत्र 'असुहधुव' त्ति तत्तन्मार्गणाप्रायोग्याश्च। 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा। तत्र 'मंद' मित्यादि त्वासां प्रत्येकं जघन्यरसस्य तीव्रविशुद्धया जायमानत्वात्। 'तित्थस्से' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्, तत्र स्याद्बन्धः, तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वात्। प्रशस्तत्वाच्चानन्तगुणाधिकमिति। 'णियमं' त्यादि तृतीयगाथा। 'अणंतगुणअहिय' मितिपदं पूर्वगाथातोऽनुवर्त्तते। 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां प्रकृतीनाम्, 'सुहाण' स्ययं विशेषणमस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तिवर्जनपरमिति। अनन्तगुणाधिकत्वासां प्रशस्तत्वात्। आसां प्रशस्तत्वेन संक्लिष्टेन परावर्त्तमानपरिणामेन वैतज्जघन्यरसबन्धो निर्वर्त्यते, प्रस्तुतबन्धकस्तु न तथा, अस्य विशुद्धत्वात्। 'णवरि' स्ययं विशेषः—परिहारविशुद्धिमार्गणायां शेषप्रकृतय आहारकद्विकं विना वाच्याः, कुतः ? तत्र प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धतमत्वेन सप्तमगुणस्थानक-

वर्त्तित्वेऽपि केषाञ्चिदेवास्य बन्धकत्वेनैतद्बन्धस्य स्यात्तया पृथगुक्तत्वात् । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—तत्र पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघात, उच्छ्वासत्रसदशकं, सातमुच्चैर्गोत्रञ्चेति त्रिंशत् । आहारकद्विकादिषु चतसृषु त्वनन्तरोक्ता मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचवर्जास्ताश्च पञ्चविंशतिर्देवद्विकं, वैक्रियद्विकञ्चेत्येकोनत्रिंशत् । 'तहि'त्ति तस्या एवासन्नतरत्वात् परिहारविशुद्धिमार्गणायां 'आहारदुगस्स' त्ति आहारकशरीर-तदङ्गोपाङ्गनाम्नोः प्रत्येकं प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, प्रमत्ताभिमुखत्वेन तज्जघन्यरसबन्धस्वामिसादृश्यात् ॥१५४२–४४॥

अथ तत्रैव सातवेदनीयमन्कमाह—

सायस्स मंदबंधी सिआ उ आउतिथिराइजुगलाणं । बंधइ रसं जहण्णं उअ अजहण्ण छठाणगयं ॥
णो पडिवक्खं दुजुगल तित्थाण सिआ अणंतगुणअहिय । णियमाऽण्णाण णवरि विण आहारदुगं तु परिहारे ॥
(द्वि० उपगीतिः) (मूलगाथा-१५४५–४६)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः । 'आउ' त्ति स्वप्रायोग्यायुषः । अनुत्तरसुरमार्गणासु मनुष्यायुषः, आहारककाययोगादिमार्गणासु देवायुष इति भावः । 'पडिवक्ख' प्रकृतेऽसातवेदनीयम्, वक्ष्यमाणगाथायान्तु यथासम्भवं सातवेदनीयादिकम् । 'णियमं' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । पूर्वार्धगतं 'अणंतगुणअहिय' मितिपदमिहाऽपि सम्बध्यते । 'ऽण्णाण' त्ति उक्तव्यतिरिक्तानाम् । 'णवरि' त्ति परिहारविशुद्धिमार्गणायामाहारकद्विकस्य बन्धाहत्वेऽपि तद्विहायोक्तातिरिक्ताः प्रकृतयो वाच्याः, कुतः ? तत्र सातवेदनीयजघन्यरसबन्धकस्य षष्ठगुणस्थानकवर्तित्वात् । उक्तशेषाः प्रकृतयस्त्विमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकवर्जत्रिचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः, मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघात, उच्छ्वासत्रसचतुष्कं, सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रं पुरुषवेदश्चेत्येकोनविंशतिरिति सर्वसंख्यया द्वाषष्टिरित्यनुत्तरसुरमार्गणासु । देशविरतिमार्गणायामप्रत्याख्यानावरणस्यापि बन्धाभावाद् ध्रुवबन्धिन्य एकोनचत्वारिंशद् मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभनाराचवर्जा अनन्तरोक्ताश्चतुर्दश देवद्विकं वैक्रियद्विकञ्चेति सर्वसंख्यया सप्तपञ्चाशदिति । आहारकतन्मिश्रकाययोग-परिहारमार्गणासु प्रत्याख्यानावरणचतुष्कस्याऽपि बन्धाभावात्तद्वर्जा अनन्तरोक्तास्त्रिपञ्चाशदिति ॥१५४५–४६॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् तत्रैवासातवेदनीयादिमन्कं सापवादमतिदिशति—

एवमसायथिराइतिजुगलाणमेव आउगस्स परं । सयमुज्झमाउबंधे जिणस्स चउसु ण चिअ सुराउं ॥
अथिर-असुह-अजस-अरइ-सोग-असायलहुरसबंधी । देवाउमंदबंधी सायाईण णियमा छण्हं ॥
(द्वि० उपगीतिः) (मूलगाथा–१५४७–४८)

(प्रे०) 'एव' मित्यादि, सातवेदनीयवदेवासामसातवेदनीयादीनां प्रस्तुतजघन्यरसबन्धसन्निकर्षो वाच्यः, सम्भाव्यमानविशेषस्तु प्राग्वत् स्वयं ज्ञेयः । 'पर' मित्यादिना विशेषं दर्शयति । 'सय'

मित्यादि, आयुर्बन्धसन्निकर्षे जिननाम्नो बन्धो नैव भवन्युत स्याद् भवतीति तु स्वयं तज्ज्ञातृसकाशात् श्रुतानुसारेण ज्ञातव्यम् । 'चउसु' इत्यादि, आहारकद्विकदेशविरत-परिहारविशुद्धिसंयमरूपासु चतसृषु मार्गणासु द्वितीयगाथोक्तानामस्थिरादिषट्प्रकृतीनां बन्धको देवायुर्नैव बध्नाति, अस्मिन्मार्गणाचतुष्के देवायुष एव बन्धसत्त्वादाभिस्सह तत्प्रकृतिबन्धविरोधाच्च । अयं द्वितीयविशेषः-तास्वेव चतसृषु मार्गणासु देवायुर्जघन्यरसबन्धकस्य 'सायाईण णियमा छण्ह' ति सातवेदनीय-हास्य-रति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिलक्षणानां षण्णां नियमाद् बन्धो भवति, आसु मार्गणासु बध्यमानायुषो देवायुष्कत्वात्, देवायुष्कबन्धकस्य च सातादिप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । सातवेदनीयजघन्यरसबन्धकस्तु शोकारत्यस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्त्तिनामान्यपि बध्नात्यतस्तमाश्रित्य हास्यादीनां स्याद्बन्धः प्राप्यते, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवादिति विशेषकथनस्य प्रयोजनम् । नन्वनुत्तरसुरमार्गणासु कुतो नोक्तोऽयं विशेषः ?, उच्यते-तत्र मनुष्यायुषो बन्धसद्भावात्, परावर्त्तमानपरिणामेन मनुष्यप्रायोग्यबन्धकस्यासातवेदनीयादिबन्धाविरोधात् ।।१५४७-४८।।

अथ तत्रैव शोकारतिसत्कमाह—

बंधंतो अणुभागं मंदं एगस्स सोग-अरईओ । णियमाऽण्णस्स जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ।।
तित्थस्स सिआ बंधइ अणंतगुणिआहियं रसं णियमा । असुहधुवपुमाण तहा सुहाण तीस-गुणतीसाए ।।

(मूलगाथा-१५४९-५०)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, अनुत्तरसुरमार्गणासु प्रस्तुतः । इह द्वितीयगाथापूर्वार्धगतं 'णियमे' तिपदं तदुत्तरार्धे सम्बध्यते । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वेन परावर्त्तमानाध्रुवशुभप्रकृतिप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । 'तीसे' त्यादि, एताश्च यथाक्रमं बोध्याः, तद्यथा-पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु त्रिंशतः, मनुष्यप्रायोग्याणामिति गम्यते, आहारकादिषु चतसृषु चैकोनत्रिंशतो देवप्रायोग्याणामिति, विशुद्धस्यायुर्बन्धाभावादन्यथा तु तत्र यथाक्रममेकत्रिंशत् त्रिंशच्चैव शुभा बन्धयोग्या इति ।।१५४९-५०।। अथ तत्रैवोक्तशेषप्रशस्तप्रकृतिसत्कमाह—

एगस्स साय-थिर-सुह-जस-तित्थरहिअसुहाउ लहुबंधी । णियमाऽण्णेसि लहुमुअ छट्ठाणगयं जिणस्स सिआ ।।
असुहधुवअसायपुरिस-सोगारइअथिरअसुहअजसाणं । णियमाऽणंतगुणहियं बंधइ एमेव तित्थस्स ।।
णवरं देसे ण जिणं बंधइ तहि तित्थमंदरसबंधी । बंधइ पणवीसाए सुहाण वि अणंतगुणअहियं ।।

(मूलगाथा-१५५१-५३)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'रहिअ' त्ति रहितानां वर्जानामित्यर्थः, वर्जनन्तु सातवेदनीयादीनां प्रागुक्तत्वात्, जिननाम्नश्च वक्ष्यमाणत्वात् । तथा 'णियमे' त्यादि प्रथमगाथोत्तरार्धम् । तत्र 'लहु' मित्यादि त्वासां प्रत्येकं जघन्यरसस्य संक्लेशजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्त्वष्टानां ध्रुवबन्धित्वात्, शेषाणां मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । प्ररूपणविषयभूताः शुभाः प्रकृतयश्चेमाः-तत्र पञ्चानुत्तरसुरमार्गणासु मनुष्यद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्य-

ष्टकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघात, उच्छ्वासत्रसचतुष्कं सुभगत्रिक-मुच्चैर्गोत्रञ्चेति षड्विंशतिः । आहारककाययोगादिषु चतसृषु तु मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रर्षभ-नाराचवर्जा अनन्तरोक्ता एकविंशतिर्देवद्विकं वैक्रियद्विकञ्चेति पञ्चविंशतिरिति । **'जिणस्से'** त्यादि,जिननाम्नो रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा स्याच्च बध्नाति । स्याद्बन्धस्तु तत्प्रकृति-बन्धस्य तथात्वात् ।

'असुहे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्राशुभध्रुवबन्धिन्यस्तत्तन्मार्गणाप्रायोग्याः, **तद्यथा**–अनु-त्तरसुरमार्गणासु पञ्चत्रिंशत् , देशविरतावेकत्रिंशत् , आहारकादिषु सप्तविंशतिरिति । असातवेदनीया-दीनामपि नियमाद्बन्धस्तु संक्लिष्टस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । **'एमेव'** त्ति अनन्तरोक्त-वदेव जिननाम्नः प्रस्तुतसन्निकर्षो वाच्यः, स्वामिसादृश्याद् , यथा मनुष्यद्विक-देवद्विकादीनाञ्ज-घन्यरसबन्धकः संक्लिष्टस्तथैव जिननाम्नोऽपीति ।

अथ **'णवर'** मित्यादिना तृतीयगाथया देशविरतमार्गणायां विशेषं दर्शयति । प्रस्तुत-मार्गणायां पञ्चविंशतिशुभप्रकृतीनाञ्जघन्यरसबन्धको जिननाम न बध्नाति, जिननामसत्कर्मा देशविरतोऽनन्तरं मिथ्यात्वं न गच्छति, प्रस्तुतबन्धकः पुनर्मिथ्यात्वाभिमुखोऽतो जिननाम न बध्नाति । **'तहि'** त्ति तत्रैव देशविरतमार्गणायां जिननामबन्धकः पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तगुणा-धिकं रसं बध्नाति, पूर्वोक्तादेव हेतोः ॥१५५१–५३॥ अथ द्विपञ्चेन्द्रियादिमार्गणासु प्रस्तुतं विभणिषुस्तुल्यवक्तव्यत्वात् सर्वमविशेषेणौघवदतिदिशति–

सव्वाणोघव्व भवे दुपणिंदितसेसु पणमणवयेसुं । कायणयणेयरेसुं भविये सण्णिम्मि आहारे ॥

(मूलगाथा–१५५४)

(प्रे०) **'सव्वाणे'** त्यादि, तत्र **'सव्वाण'** त्ति चतुर्त्रिंशत्युत्तरशतप्रकृतीनाम् , आयुषामपि सहैव निरूप्यमाणत्वात् । अतिदेशस्तु प्रस्तुतमार्गणासु चातुर्गतिकजीवानां प्रवेशाच्छ्रेणिद्वयसद्भा-वाच्च ॥१५५४ । अथ सप्तस्वेकेन्द्रियभेदेषु विभणिषुस्तावदप्रशस्तध्रुवादिसत्कमाह–

एगिंदियेसु सत्तसु अपसत्थधुवरइहस्स-पुरिसाओ । एगस्स मंदबंधी णियमाऽणणाग लहुमुअ छठाणगयं ॥
बंधेइ सिआ णरदुग-उज्जो-उच्चाणऽणंतगुणअहियं । तिरिदुग-णीआण-सिआ लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
णियमाऽणतगुणहियं सगवीससुहणरजोग्गसेसाणं ।

(प्र०गीतिः) (मूलगाथा–१५५५–५६)

(प्रे०) **'एगिंदियेसु'** इत्यादि, तत्र **'अपसत्थधुव'** त्ति त्रिचत्वारिंशतः । प्रस्तुतबन्धकः सुविशुद्धः । **'बंधेइ'** इत्यादि द्वितीयगाथा । स्याद्बन्धस्तु नानास्वामिन आश्रित्य, **तद्यथा**–सुवि-शुद्धा अपि सन्तस्तेजोवायवो मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रं न बध्नन्ति, तादृशाः शेषैकेन्द्रियास्तु ते एव बध्नन्ति, उद्योतस्य तु तेजोवायव एव विकल्पेन बन्धं कुर्वन्ति, न सुविशुद्धाः शेषैकेन्द्रिया इति । अनन्तगुणाधिकत्वमासां प्रशस्तत्वात् । **'तिरि'** इत्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धं, तत्र स्याद्बन्धस्तेजोवायूना-

मेव तद्बन्धप्रवर्त्तनात्। 'लहु' मित्यादि त्वेतज्जघन्यरसस्याऽपि विशुद्धया जन्यत्वात्। 'णियमे' त्यादि तृतीयगाथापूर्वार्धं, तत्राऽनन्तगुणाधिकत्वमासां प्रशस्तत्वात्। सप्तविंशतिश्चेमाः-पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, वज्रर्षभनाराचं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघात, उच्छ्वासत्रसदशकं, सातवेदनीयञ्चेति ॥१५५५-५६॥

अथ तत्रैव तिर्यग्द्विकादिशेषप्रकृतिसत्कं सापवादमतिदिशति—

तिरियव्व तिरिदुगस्स अपज्जपणिंदितिरियव्वसेसाणं ॥ (गीतिः)
णवरि अरइ-सोग-णपुम-थीलहुबंधी अणंतगुणअहियं। बंधेइ सिआ तिरि-णरदुग-उज्जो-उच्च-णीआणं॥
संघयणागिइदसग-खगइदुग-जाइ-तिरियाउलहुबंधी। सायेयरलहुबंधी तिरिदुग-णीआणऽणंतगुणअहियं॥
(गीतिः)
णरतिगलहुरसबंधी बंधइ णीअस्सऽणंतगुणअहियं। णीअलहुगरसबंधी मणुअदुगं ण णियमा तिरिदुगस्स॥
(गीतिः) (मूलगाथा-१५५७-६०)

(प्रे०) 'तिरियव्वे' त्यादि, तिर्यग्द्विकस्य प्रस्तुतसन्निकर्षस्तिर्यग्गतिसामान्यमार्गणावद् भवति, कुतः? स्वामिसादृश्यात्, यथा तत्र तथैवेहाऽपि तेजोवायवस्तज्जघन्यरसबन्धका इति। 'अपज्ज' इत्यादि, उक्तशेषाणामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्वद्भवति, परस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्ष इति प्रस्तावादवगम्यम्। अतिदेशस्तु स्वामिसादृश्याद्, यथा तत्र तथैवेहाऽपि तज्जघन्यरसबन्धकास्तीव्रसंक्लिष्टास्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टास्तत्प्रायोग्यविशुद्धाः परावर्त्तमानपरिणामा वेति भावः। इमाश्च ताः शेषप्रकृतयः-वेदनीयद्विकं, शोकाऽरती, स्त्रीनपुंसकवेदौ, मनुष्यद्विकं, जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, संहननषट्कं, संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं, पराघातोच्छ्वासातपद्विकं, त्रसदशकं, स्थावरदशकं, गोत्रद्विकं, तिर्यङ्मनुष्यायुषी चेति पञ्चषष्टिरिति। 'णवरि' त्ति अयं विशेषः, कोऽसौ? उच्यते, अरत्यादिजघन्यरसबन्धकस्तिर्यग्द्विकादिनीचैर्गोत्रपर्यवसानानां सप्तानां रसमनन्तगुणाधिकं स्याच्च बध्नाति। किमुक्तं भवति? प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वेनापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायामनेन मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे एव बध्येते, प्रस्तुतमार्गणासु तु तेजोवायुनामप्यन्तर्भावात् तानाश्रित्य तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रे अपि बध्येते इति। तिर्यग्द्विकादिसप्तप्रकृतीनां स्याद्बन्धक इत्यपि वक्तव्यम्, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्। 'संघयण' त्ति अयं द्वितीयो विशेषः, कोऽसौ? उच्यते, अत्र चकारस्यानुपादानात् संहननषट्काद्यसातवेदनीयपर्यवसानानां द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो रसमनन्तगुणाधिकं बध्नाति, तेजोवायूनाश्रित्यैतज्जघन्यरसबन्धस्य विशुद्धया जायमानत्वात् संहननादिजघन्यरसबन्धकस्य च परावर्त्तमानपरिणामित्वात्। अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मार्गणायान्तु संहननादिवदेतज्जघन्यरसोऽपि परावर्त्तमानपरिणामेन जन्यते, ततस्तत्र जघन्यः षट्स्थानपतितोऽजघन्यो वाऽऽयातीति विशेषकथने प्रयोजनम्। स्यान्नियमादिबन्धस्तु तद्वदेव बोध्यः। अत्र 'दसग' त्ति दशशब्दस्य योजनाद्दशकद्विकं त्रसदशकं स्थावरदशकञ्चेति।

'जाइ' त्ति जातिपञ्चकम् । 'णरतिग' इत्ययं तृतीयविशेषः । कोऽसौ ? उच्यते, अक्षरार्थस्सुगमः । भावार्थोऽयम्–तत्राऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां मनुष्यत्रिकवन्नीचैर्गोत्रस्यापि जघन्यरसः परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यतेऽतस्तत्र जघन्यादिरायाति । इह तु तेजोवायूनाश्रित्य नीचैर्गोत्रस्य जघन्यरसो विशुद्ध्या जायत अत इहोक्तमनन्तगुणाधिकमिति । 'णीअलहुग' त्ति अयं चतुर्थो विशेषः, कोऽसौ ? उच्यते, अक्षरार्थस्सुगमः । भावार्थः पुनरयम्–तत्रापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां नीचैर्गोत्रजघन्यरसबन्धकस्तिर्यग्द्विकं स्याद् बध्नातीह तु नीचैर्गोत्रजघन्यरसबन्धस्य तेजोवायुस्वामिकत्वेन तन्नियमाद् बध्यते ततश्च मनुष्यद्विकं न बध्यत इति ॥१५५७–६०॥ अथ चतुर्दशसु तेजोवायुमार्गणासु प्रकृतं प्रतिपिपादयिषुस्तावदप्रशस्तध्रुवादिसत्कं प्रतिपादयति—

सव्वाणणिवाऊसुं अपसत्थधुव-रइ-हस्स-पुरिसाओ । तह तिरिदुगणीआओ मंदं एगस्स बंधंतो ॥
णियमाऽण्णंमि मंदं अहव अमद छठाणगयं । उज्जोअस्स सिआ खलु बंधेइ अणंतगुणअहियं ॥
णियमाऽऽयव-तिरियाउगवज्जऽण्णसुहाणऽणंतगुणअहियं ।

(द्वि०उपगीतिः) (मूलगाथा–१५६१–६२)

(प्रे०) 'सव्वाणणी' त्यादि, तत्र मन्दमथवा षट्स्थानगतन्त्वप्रशस्तध्रुवादिनीचैर्गोत्रावसानानां सर्वासाञ्जघन्यरसस्य तीव्रविशुद्धिलक्षणया तुल्यविशुद्ध्या जन्यत्वात् । 'उज्जोअस्स' त्यादि, अनन्तगुणाधिकन्तु प्रशस्तत्वात् । 'णियमे' त्यादि, तृतीयगाथा । तत्राऽनन्तगुणाधिकत्वमासाञ्जघन्यरसस्य तीव्रसंक्लेशेन तत्प्रायोग्यसंक्लेशेन परावर्त्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्तु सुविशुद्ध इति कृत्वा च । अत्राऽऽयुषो वर्जनम्, सुविशुद्धस्यायुर्बन्धाऽयोगात् । आतपस्य वर्जनं त्वेकेन्द्रियप्रायोग्यत्वात्तस्य, प्रस्तुतबन्धकस्य च पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यबन्धकत्वादिति । इमाश्च ता अन्यशुभाः प्रकृतयः–सातवेदनीय-पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विक-प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टक-वज्रर्षभनाराच-समचतुरस्र-प्रशस्तविहायोगति–पराघातोच्छ्वास–त्रसदशकरूपाः सप्तविंशतिरिति ॥१५६१–६२॥ अथ तत्रैवोक्तशेषप्रकृतिसत्कं प्रकृतमतिदेशद्वारेणाह—

सुहधुवउरलायवदुग-परघा-ऊसासाणऽपज्जमणुयव्व ॥ (गीतिः)
सेसाण अपज्जणरव्व णवरि णियमा अणंतगुणअहियं । तिरिदुगणीआण रसं बंधइ णो णरदुगुच्चाणि ॥

(मूलगाथा–१५६३-६४)

(प्रे०) 'सुहधुवे' त्यादि, प्रशस्तध्रुवादीनां चतुर्दशानां प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणावद्भवति, कुतः ? तज्जघन्यरसबन्धस्वामिसमादृश्याद्, यथा तत्र तथैवेहाऽपि तज्जघन्यरसबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो वेति । 'सेसाणे' त्यादि द्वितीयगाथा । अत्र 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनाम् । अतिदेशस्त्वनन्तरोक्तादेव हेतोः । अथ सम्भाव्यमानं विशेषं दर्शयति 'णवरि' त्यादिना, आसाञ्जघन्यरसबन्धकस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो रसं नियमादनन्तगुणाधिकं च बध्नाति, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे तु नैव बध्नाति । अयम्भावः–इह

द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनाञ्जघन्यरसबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामी, अरतिशोकयोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्च तत्प्रायोग्यविशुद्धः, ततश्चापर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सातवेदनीयादीनां जघन्यरसबन्धको मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे अपि बध्नाति रसं च जघन्यं षट्स्थानपतितं वा, परावर्त्तमानपरिणामित्वात् । अरति-शोक-वेदद्विकजघन्यरसबन्धकस्य तु तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वेन मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रे एव बध्येते, न तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रे अपि, बन्धकस्य विशुद्धत्वात् , रसश्चानन्तगुणाधिकः । इह तु भवस्वाभाव्यादेव षट्चत्वारिंशतोऽपि जघन्यरसबन्धकेन तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रे एव बध्येते, रसस्त्वनन्तगुणाधिकः, कुतः ? तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरस इह सुविशुद्धेन बध्यत इति कृत्वा । षट्चत्वारिंशच्चेमाः–वेदनीयद्विकमरति-शोकौ, स्त्रीनपुंसकवेदौ, तिर्यगायुर्जातिपञ्चकं, षट् संहननानि, षट् संस्थानानि, विहायोगतिद्विकं, त्रसदशकं, स्थावरदशकञ्चेति ॥१५६३-६४॥

अथौदारिककाययोगमार्गणायां प्रकृतं विभणिषुरतिदिशति—

थीणपुमुरलायवदुग-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । सुधुव-पणिंदाणुरले तिरिव्व ओघव्व सेसाणं ॥

(मूलगाथा-१५६५)

(प्रे०) 'थीणपुमे' त्यादि, 'उरले' त्यौदारिककाययोगमार्गणायाम् । इह चकारस्याध्याहार्यत्वात् स्त्रीवेदादीनां पञ्चेन्द्रियजातिपर्यवसानानामेकविंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य परस्थानसन्निकर्षस्तिर्यग्गत्योघमार्गणावत् , कुतः ? स्वामिसादृश्यात् , यथा तत्रैतज्जघन्यरसबन्धकः संक्लिष्टो विशुद्धो वा तथैवेहापि । 'उरल' त्ति औदारिकद्विकमिति । 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां त्र्युत्तरशतप्रकृतीनामोघवत् , अनन्तरोक्तादेव हेतोः । न च तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोः का गतिरिति चिन्तनीयम् , प्रस्तुतमार्गणायां सप्तमनारकस्यानन्तर्भावेऽपि तेजोवायूनामन्तःपातात् तेषाञ्च सप्तमपृथ्वीनारकवत् तिर्यग्द्विक-नीचैर्गोत्रयोः सुविशुद्धयैव जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनादिति । इमाश्च तास्त्र्युत्तरशतप्रकृतयः–त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यः, साताऽसातवेदनीये, पुरुषवेदो हास्य-रती, शोकाऽरती, मनुष्य-तिर्यग्-देव-नारकत्रिकाणि, जातिचतुष्कं, वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं, संहननषट्कं, संस्थानषट्कं, विहायोगतिद्विकं, जिननाम, स्थिरषट्कं, स्थावरदशकं, गोत्रद्विकञ्चेति ॥१५६५॥

अथौदारिकमिश्रमार्गणायां प्रस्तुतं निरूपयिषुस्तावदप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादिसत्कमाह—

एगस्स उरलमीसे पुम-हस्स-रइ-पणतीसकुधुवाओ । लहुबंधी अण्णंमि णियमा लहु सुअ छठाणगय ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ अणंतगुणिआहियं रसं णियमा । सुहसुरपाउग्गाण समाणगुणतीसाए ॥

(मूलगाथा-१५६६-६७)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, 'उरलमीसे' त्ति औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायाम् । 'पणतीसकुधुवे' ति चतुर्थगुणस्थाने बध्यमानाशुभध्रुवप्रकृतीनाम् । 'तित्थे' त्यादि द्वितीयगाथा । अनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सुविशुद्धत्वात् । 'सुहे' त्याद्युत्तरार्धम् । 'अणंतगुणिआहिय' मित्यादीनि त्रीणि पदानीह योज्यानि । अनन्तगुणाधिकत्वासाञ्जघन्यरसस्य संक्लेशेन

परावर्त्तमानपरिणामेन वा जन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु सुविशुद्धस्य सम्यग्दृष्टेः प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । इमाश्च ता एकोनत्रिंशत्-सातं, देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, प्रथमसंस्थानं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥ १५६६-६७॥ अथ तत्रैव सातसत्कमाह—

सायस्स मंदबंधी थीणद्धितिग-सगणोकसायाणं । अण-मिच्छ-तिरिय-सुरुरल-विउवाययदुग-जिणाण तहा ॥
परघा-ऊसासाणं णीअस्स सिआ अणंतगुणअहियं । णियमा धुवबंधीणं तेयालीसाअ सेसाणं ॥
तिरियाउगजाइ-खगइ-संघयणागिइतसाइजुगलाणं । णरतिगउच्चाण सिआ लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
(मूलगाथा–१५६८-७०)

(प्रे०) '**सायस्से**' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः । तत्र दुगशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्तिर्यग्द्विकस्य देवद्विकस्यौदारिकद्विकस्य वैक्रियद्विकस्याऽऽतपद्विकस्य चेति । इह तिर्यग्द्विकादीनामनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेनाऽजन्यत्वात् , **तद्यथा**—तिर्यग्द्विकस्य नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यरसः प्रस्तुतमार्गणागतेन सुविशुद्धेन तेजःकायेन वायुकायेन च बध्यते । देवद्विक वैक्रियद्विकयोस्तु तीव्रसंक्लिष्टेन सम्यग्दृष्टिना, इह सम्यग्दृष्टेरेव तद्बन्धसम्भवात् । औदारिकशरीरस्य तीव्रसंक्लिष्टेन, तदङ्गोपाङ्गस्य तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टेन मिथ्यादृष्टिनेति । स्त्यानर्द्ध्यादिनीचैर्गोत्रावसानानां स्याद्बन्धस्त्विह सातवेदनीयजघन्यरसबन्धस्य मार्गणाप्रायोग्यसर्वगुणस्थानकेषु सम्भवात् सयोगिकेवलिनामत्रानधिकृतत्वात् । '**णियमे**' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । अनन्तगुणाधिकमिति पूर्वार्धगतमिहाऽपि योज्यम् । '**सेसाण**' मित्यपि ध्रुवबन्धिविशेषणम् । '**तिरियाउगे**' त्यादि तृतीयगाथा । तत्र विशेषणाभावात् '**जाई**' त्यादिना जातिपञ्चकं, खगतिद्विकं, संहननषट्कं, संस्थानषट्कमिति । '**तसाइ**' त्ति त्रसदशकं स्थावरदशकञ्चेति । तत्र स्याद्बन्धस्तिर्यग्मनुष्यायुषोस्तु तत्प्रकृतिबन्धस्य तथात्वाच्छेषाणां च स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसम्भवात् । '**लहु**' मित्यादि त्वासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् ॥१५६८-७०॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात्तत्रैवाऽसातवेदनीयादिसत्कं सापवादमतिदिशति—

एवमसायथिराइतिजुगलाण णवरि अणंतगुणअहियं । थिर-सुहजसलहुबंधी बंधेइ सिआ दुआऊणं ॥
ण अपज्जत्तं बंधइ णियमा पज्ज-परघाय ऊसासा । बायरपत्तेआ जसबंधी णेव पडिवक्खाओ ॥
(मूलगाथा–१५७१-७२)

(प्रे०) '**एव**' मित्यादि, सातवेदनीयादिवदेवाऽसातवेदनीयादीनां सप्तप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति । '**णवरि**' त्ति अत्रायं विशेषः—स्थिरनाम-शुभनाम-यशःकीर्त्तिनामरूपाणां त्रिप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धको मनुष्य-तिर्यग्रूपयोर्द्वयोरायुषोः प्रत्येकं रसमनन्तगुणाधिकं बध्नाति, कुतः ? स्थिरनामादिबन्धकस्यापर्याप्तप्रायोग्यबन्धाभावात् । अयम्भावः—प्रस्तुतमार्गणास्वायुषोर्जघन्यरसोऽपर्याप्तप्रायोग्यबन्धकेन बध्यते, सातवेदनीयस्य जघन्यरसबन्धस्त्वपर्याप्तप्रायोग्यबन्धके-

नाऽपि क्रियते, अतः सातवेदनीयजघन्यरसबन्धक आयुषो रसं जघन्यं षट्स्थानपतितं वा बध्नाति, स्थिरनामादित्रन्धकस्त्वनन्तगुणाधिकमिति । अथ 'ण अपज्जत्त' मित्यादिना विशेषद्वयं दर्शयति, तद्यथा—स्थिर-शुभ-यशःकीर्त्तिबन्धकः पर्याप्त-पराघातोच्छ्वासप्रकृतीर्नियमेन बध्नाति प्रतिपक्षप्रकृतिरूपापर्याप्तनाम नैव बध्नाति, तथा यशःकीर्त्तिनामबन्धको बादर-प्रत्येकनामप्रकृतिद्वयमपि नियमेन बध्नाति प्रतिपक्षप्रकृतिरूपसूक्ष्म-साधारणनामद्वयं नैव बध्नाति, सर्वत्र हेतुस्तु प्रकृतिबन्धसन्निकर्षस्य तथास्वरूपो विज्ञेयः ।।१५७१-७२।। अथ तत्रैव शोकारतिसत्कमाह—

बंधंतो अणुभागं मंदं एगस्स सोगअरईओ । णियमाऽण्णस्स जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ।।
तित्थस्स सिआ बंधइ अणतगुणिआहियं रसं णियमा । पुमपणतीसधुवाणं सुहसुरजोग्गगुणतीसाए ।।
(मूलगाथा-१५७३-७४)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, तत्र द्वितीयगाथापूर्वार्धगतं 'णियमा' तिपदं केवलं तदुत्तरार्धे सम्बध्यते । 'अणंतगुणिआहिय' मित्यादि पदद्वयं तु पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे च, तथा चकारलोपात् पुरुषवेद-पञ्चत्रिंशद्ध्रुवबन्धिनीनां शुभसुरयोग्यैकोनत्रिंशतश्चेति । ध्रुवबन्धिन्यः पञ्चत्रिंशत्तु प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेन स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धाऽभावात्तथा प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकस्यानन्तरवक्ष्यमाणैकोनत्रिंशत्प्रकृतिष्वन्तर्भावात् । इमाश्च देवप्रायोग्या एकोनत्रिंशच्छुभाः—देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकं, ध्रुवबन्ध्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रं सातवेदनीयञ्चेति । अनन्तगुणाधिकत्वासां जघन्यरसस्य यथासम्भवं संक्लेशेन विशुद्ध्या परावर्त्तमानपरिणामेन वा जन्यत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्य तु तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वादिति ।। ।।१५७३-७४।। अथ तत्रैव देवद्विक-वैक्रियद्विकसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी सुरविउव्वदुगाउ तिण्ह सेसाणं । णियमा लहुमलहुं वा छट्ठाणगयं जिणस्स सिआ ।।
णियमाऽणंतगुणहिअं सुहसुरजोग्गाण एगवीसाए । पणतीसअसुहधुवपुमछअसायाईण खलु जिणस्सेवं ।।
(द्वि० गीतिः)(मूलगाथा-१५७५-७६)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'एगस्स' त्ति देवद्विकादिप्रकृतिचतुष्कमध्यादन्यतमाया एकस्याः, न त्वन्यतरस्य द्विकस्येति । 'लहु' मित्यादि तु प्रस्तुतमार्गणायामेतज्जघन्यरसस्य संक्लिष्टेन सम्यग्दृशा जन्यत्वात् । 'णियमं' त्यादि, द्वितीयगाथा । तत्र चकारलोपादेकविंशतेः पञ्चत्रिंशदशुभध्रुवबन्ध्यादीनाञ्चेति । 'छअसायाइ' त्ति असातवेदनीयास्थिराशुभायशःकीर्त्तिशोकाऽरतिरूपाः षट्प्रकृतय इति । असातवेदनीयादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वात् । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति—'जिणस्स' त्ति जिननाम्नः प्रस्तुतसन्निकर्षोऽनन्तरोक्तवद् भवति । अयं विशेषस्तु स्वयं कर्तव्यः, तद्यथा—प्रथमगाथायां तिसृणां स्थाने चतसृणामिति वाच्यम् । तथा 'जिणस्स सिआ' इति नैव वाच्यम् , तस्यैव प्रस्तुतत्वात् ।।१५७५-७६।।

अथ तत्रैव स्त्यानर्द्धित्रिकादिसत्कमाह—

थीणद्धितिगाणवदगमिच्छणपुमथीण पढमणिरयव्व। तिरिदुगणीआण तिरिव्वेगक्खव्वऽण्णदुजअवण्णाए ॥
(गी:तिः) (मूलगाथा-१५७७)

(प्रे०) 'थीणद्धी' त्यादि, स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां दशानां प्रस्तुतसन्निकर्षः प्रथमनरकमार्गणावद्भवति, कुतः ? यथा तत्र तथैवेहाप्येतज्जघन्यरसबन्धकस्य विशुद्धत्वे सति मनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् । तिर्यग्द्विक नीचैर्गोत्रप्रकृतीनां सन्निकर्षस्तिर्यगोघवत् , सुविशुद्धतेजोवायुकायिकानामुभयत्र तज्जघन्यरसबन्धकत्वे सति ताभिस्सह बध्यमानानां शेषसर्वासां प्रकृतीनां रसस्यानन्तगुणाधिकत्वात् । 'एगक्खव्व' त्ति प्रागुक्तमप्तैकेन्द्रियमार्गणावत् शेषद्विपञ्चाशत्प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति, कुतः ? उच्यते, यथा तत्र तथैवेहापि तत्तत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्तत्प्रायोग्यसंक्लेशतीव्रसंक्लेशाभ्यां परावर्त्तमानपरिणामेन वा भवतीति, स्वामिसादृश्यादिति भावः । इमाश्च ता द्विपञ्चाशत्प्रकृतयः- मनुष्यत्रिकं, तिर्यगायुष्कं, जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, संहननषट्कं, संस्थानषट्कं, विहायोगतिद्विकं, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, आतपद्विकं, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिकं, स्थावरचतुष्कं, दुर्भगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१५७७॥

अथ वैक्रियतन्मिश्रमार्गणयोः प्रकृतं बिभणिषुस्तावत्प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादिसत्कमाह—
सुहधुवुरालायवदुग-परघा ऊसास-बायरतिगाणं । देवव्व सण्णियासो विउव्वियदुगे मुणेयव्वो ॥
(मूलगाथा-१५७८)

(प्रे०) 'सुहधुवे' त्यादि, 'विउव्वियदुगे' त्ति वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगमार्गणयोः । अत्र 'उराल' त्ति औदारिकशरीरनाम, तदङ्गोपाङ्गनाम्नो वक्ष्यमाणाष्टसप्ततिप्रकृतिष्वन्तर्भावात् । शुभध्रुवादीनां प्रस्तुतसन्निकर्षो देवौघमार्गणावद्भवति । 'देवव्वे' त्यतिदेशस्तु मार्गणाप्रायोग्ययोर्द्वयोरेकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्योर्निकृष्टस्थानयोः सङ्ग्रहाय वेदितव्यः । नरकवदित्यतिदिष्टे निकृष्टस्थानतया पञ्चेन्द्रियतिर्यगेवायाति । भवनपत्यादिवदित्यतिदिष्टे निकृष्टस्थानतयैकेन्द्रियजातिरेव भवति । ततश्च न सम्यक्प्ररूपणा स्यादतोऽतिदिष्टं 'देवव्वे' ति ॥१५७८॥

अथ तत्रैव शेषप्रकृतिसत्कमतिदिशति—
देवव्व उण वि णेयो दुवेअणीय-तिरियाउ-हुंडाणं । एगिंदियथिरसुहजसथावरपंचअथिराईणं ॥
णवरं बंधइ तिरिदुगणीआण रसं अणंतगुणअहियं । णिरयव्व मुणेयव्वो सेसाणं अट्ठसयरीए ॥
(मूलगाथा-१५७९-८०)

(प्रे०) 'देवव्वे' त्यादि, अत्र 'देवव्वे' त्यतिदेशस्तु मार्गणागतदेवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वाद् एकेन्द्रियस्थावरनाम्नोस्तु देवानामेव बन्धसद्भावात् । 'णवरं' ति अयं विशेषः-- तिर्यग्द्विक नीचर्गोत्रयोरनन्तगुणाधिकं रसं बध्नाति । कोऽर्थः ? देवौघमार्गणायां वेदनीयादिवत्तिर्यग्द्विकादेरपि परावर्त्तमानपरिणामेन जघन्यरसो बध्यते ततस्तत्र जघन्यं वा षट्स्थानपतितं वा बध्नाति, प्रकृते तु नारकाणामपि मार्गणाऽन्तःप्रविष्टत्वेन सप्तमनरकनारकानाश्रित्य तिर्यग्द्विक-

नीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसो विशुद्ध्या बध्यतेऽतोऽनन्तगुणाधिकं रसं बध्नाति वेदनीयादिजघन्यरस-बन्धक इति । 'णिरयव्व' त्ति द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । तिर्यग्द्विकादिजघन्यरसबन्धकमप्तमनरक-नारकसंग्रहार्थं नारकवदतिदिष्टम् । इमाश्च ता अष्टसप्ततिः प्रकृतयः--अप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यस्त्रिचत्वा-रिंशद्, हास्य-रती, शोकाऽरती, वेदत्रिकं, मनुष्यत्रिकं, तिर्यग्द्रिकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकाङ्गो-पाङ्गनाम, संहननषट्कं, हुण्डकवर्जसंस्थानपञ्चकं, विहायोगतिद्विकं, जिननाम, त्रसनाम, सुभग-त्रिकं, दुःस्वरनाम, गोत्रद्विकञ्चेति ।।१५७९-८०।।

अथ कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोर्विभणिषुस्ताद्वायादिसत्कमाह--

एगस्स हस्सरइपुमपणतीसासुहधुवाउ लहुबंधी। कम्माणाहारेसुं णियमाऽण्णाण लहुमुभ छठाणगयं ।।
णर-सुर-उरल-विउव्वदुग-जिण-वइराण व अणंतगुणअहियं । णियमा पणवीसाए सुहसुरणरजोग्गसेसाणं ।।
(प्र० गीतिः) (मूलगाथा-१५८१-८२)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि तत्र 'पणतीस' त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिप्रायोग्याः, प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वात् । 'लहु' मित्यादि तु सर्वासामासां जघन्यरसस्य तीव्रविशुद्धिलक्षणया तुल्यवि-द्धया जन्यत्वात् । 'णरे' त्यादि, तत्र दुगशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततश्च मनुष्यद्विकं, सुरद्विक-मौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकमिति । अनन्तगुणाधिकन्तु प्रशस्तत्वात् । वाकारो विकल्पार्थकः, वैकल्पिको बन्धस्तु नानागतिकादीनाश्रित्य, तद्यथा--मनुष्यद्विकं देवनारका बध्नन्ति न मनुष्य-तिर्यञ्चोऽपि, तेषां सम्यग्दृष्टित्वेन देवप्रायोग्यबन्धकत्वात् । देवद्विकं मनुष्यतिर्यञ्चो बध्नन्ति न देवना-रका अपि, भवस्वाभाव्यादित्यादि । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्, तत्र 'सुरणर' त्ति तासां गतिद्वयसाधारणत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु विशुद्धस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्त-गुणाधिकन्तु प्राग्वत् । इमाश्च ताः पञ्चविंशतिः--सातं, पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, सम-चतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ।।१५८१ ८२।।

अथ तत्रैव सातवेदनीयसत्कमाह—

सायस्स मंदबंधी थीणद्धितिगाणचउगमिच्छाणं । दुजुगलतिवेअ-तिरि-सुरविउव्वुरलायवदुगाण तहा ।।
जिणपरघाऊसासगणीअतसचउगपणिंदियाण सिआ । कुणइ अणंतगुणहिय णियमा सेसधुवबंधीणं ।।
मदसुभ छठाणगयं सिआ खलु णरदुगजाइचउगाणं । संघयणागिइथिरछग-थावरदसगुच्चखगईणं ।।
(मूलगाथा-१५८३-८४)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि,प्रस्तुतबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः । दुगशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् तिर्यग्द्विकं, देवद्विकं, वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकमातपद्विकञ्चेति । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्न-बन्धकानाश्रित्य । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां मध्ये कस्या अपि प्रकृतेर्जघन्यरसबन्धस्य परावर्तमान-परिणामेनाऽजायमानत्वात् । 'सेसधुवे' ति द्वितीयगाथाप्रान्ते स्त्यानर्द्ध्यष्टकवर्जत्रिचत्वारिंशद्-ध्रुवाणाम् । तत्र नियमाद्बन्धो ध्रुवबन्धित्वादनन्तगुणाधिकन्तु प्राग्वत् । 'मंद' मित्यादि तृतीय-

गाथा। चकारस्याध्याहार्यत्वात् मनुष्यद्विकादीनां संहननामादीनाञ्च। तत्र छगशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् संहननषट्कं, संस्थानषट्कं, स्थिरषट्कञ्चेति। तथा व्यवछेदकविशेषणाभावात् 'खगइ' त्ति खगतिद्विकम्। 'मंद' मित्यादि, आसामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात्। स्याद्बन्धः, प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धप्रवर्त्तनात् ॥१५८३-८५॥

अथ तुल्यवक्तव्यत्वादसातवेदनीयादिसत्कमतिदिशति—

एवमसायअथिरदुगअजसाण हवेज्ज एवमेव भवे। थिरसुहजसाण वि णवरि कुणइ सठाणत्त णामाणं ॥
(मूलगाथा-१५८६)

(प्रे०) 'एव' मित्यादि, 'एवं' ति सातवेदनीयादिवदेवाऽसातवेदनीयादीनां चतुष्प्रकृतीनां प्रत्येकं प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति, बहुसमानवक्तव्यत्वात्। अस्थिरादिसत्कः सम्भाव्यमानः स्वल्पो विशेषस्तु स्वयं प्राग्वत् प्रतिपादनीयः। तथा 'एवमेव भवे' किमुक्तं भवति ? स्थिरनामादि-प्रकृतित्रयस्याऽपि सातवेदनीयादिवत् प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति। 'णवरि' त्ति अयं विशेषः-स्थिरनामादिबन्धकस्यापर्याप्तप्रायोग्याणाम्, यशःकीर्त्तिबन्धकस्य सूक्ष्मप्रायोग्याणामपर्याप्तप्रायोग्याणां साधारणप्रायोग्याणाञ्च प्रकृतीनां बन्धो न भवति, सातवेदनीयबन्धकस्य तु भवत्यपि, अत एवाविशेषेण नातिदिष्टमिति ॥१५८६॥ अथ तत्रैव शोकारतिसत्कमाह—

बंधंतो अणुभागं मंदं एगस्स सोग-अरईओ। णियमाऽणस्स जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
णर-सुर-उरल-विउव्वदुग-वइर-जिणाण व अणंतगुणअहियं। णियमा पणतीसअसुहधुवपुमसुहसेसदेवजोग्गाणं ॥
(द्वि० गा०ीतिः) (मूलगाथा-१५८७-८८)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, 'णरे' त्यादि द्वितीयगाथा। तत्र दुगशब्दः प्रत्येकं योज्यस्ततश्च मनुष्यद्विकं, देवद्विकमौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकञ्चेति। वाकारो विकल्पार्थकस्तेन स्याद् बध्नातीति भावः। अनन्तगुणाधिकन्तु प्रशस्तत्वात्। 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम्। तत्र 'पणतीस' त्ति स्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृत्यष्टकवर्जाः, प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वात्। 'अणंतगुणअहिय-मिति पदमिहापि सम्बध्यते। अनन्तगुणाधिकन्तु पञ्चत्रिंशतो जघन्यरसबन्धस्य तीव्रविशुद्धया जन्यत्वात्; प्रस्तुतबन्धकस्य तु सा नास्ति, तस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वात्; देवयोग्यानान्तु प्रशस्तत्वात्। देवप्रायोग्याः शेषशुभाश्चेमाः—सातं, पञ्चेन्द्रियजातिः, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिनाम, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति पञ्चत्रिंशतिरिति ॥१५८७-८८॥

अथ तत्रैव स्थावरनामादिसत्कमाह—

थावरजाइचउगलहुबंधी सट्ठाणगव्व णामाणं। साय-असायाण सिआ लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
जुगलाणं दोण्ह सिआ बंधेइ रसं अणंतगुणअहियं। णियमा धुवबंधीणं णपुंसणीआण बंधेइ ॥
(मूलगाथा-१५८९-९०)

(प्रे०) 'थावरे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानपरिणामः। शेषं गतार्थम्। नवरं नपुंसकवेदनीचैर्गोत्रयोरपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकमाश्रित्य तयोर्ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् ॥ १५८९-९०॥ अथ तत्रैव मनुष्यद्विकादिसत्कमाह—

णरदुगसंघयणागिइ-सुहग दुहगतिगदुखगइस्हुबंधी। णामाण सठाणव्व उ धुवाण णियमा अणंतगुणअहियं ॥
बंधइ तिवेअदुजुगल-णीआण मिआ अणंतगुणअहियं। सायिरुक्कसाण सिआ लहुमलहुं वा छट्ठाणगयं ॥
(प्र० गा० गीतिः) (मूलगाथा–१५९१–९२)

(प्रे०) 'णरदुगे' त्यादि, अत्र विशेषणाभावात् 'संघयण' त्ति षट्संहननानि, 'आगिइ' त्ति षट्संस्थानानि। 'धुवाणे'त्यनेन नामध्रुववर्जशेषाष्टात्रिंशद्ध्रुवप्रकृतीनां ग्रहणम्। अनन्तगुणाधिकन्तु प्रस्तुतबन्धकस्य परावर्त्तमानपरिणामत्वात्। 'बंधइ' इत्यादि द्वितीयगाथा। तत्र नीचैर्गोत्रस्याऽप्यनन्तगुणाधिकम्, सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य विशुद्ध्या तज्जघन्यरसबन्धस्य प्रवर्त्तनात्। 'साये' त्याद्युत्तरार्धम्, गतार्थम् ॥१५९१-९२॥ अथ तत्रैव सुरद्विकादिपञ्चसत्कमाह—

णामाण सठाणव्व उ सुरविउव्वदुगजिणबंधगो णियमा। तीसधुवअसायअरइ-सोग-पुमुच्चाणऽणंतगुणअहियं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१५९३)

(प्रे०) 'णामाणे' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः स्वस्थानतीव्रसंक्लिष्टः सम्यग्दृष्टिः। 'तीसधुव' त्ति त्रयोदशनामध्रुवबन्धिप्रकृतीनामनन्तरातिदिष्टार्थेऽन्तर्भावात् स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यष्टकस्य च बन्धाऽभावात्। असातारतिशोकानां नियमाद्बन्धः, प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वात्, पुरुषवेदोच्चैर्गोत्रयोस्तु स प्रस्तुतबन्धकस्य सम्यग्दृष्टित्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्। अनन्तगुणाधिकन्त्वसातोच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामेन, अरतिशोकयोस्तत्प्रायोग्यविशुद्ध्या, पुरुषवेदस्य च सुविशुद्ध्या जन्यत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य तु सम्यग्दृष्टिप्रायोग्यस्तीव्रसंक्लेशो वर्त्तत इति ॥ १५९३॥ अथ तत्रैव शेषप्रकृतीनां सन्निकर्षं सापवादमतिदिशति—

थीणद्धितिगाणणपुमथीमिच्छतिरिदुगणीअउच्चाणं। णिरयव्व णवरि बंधइ ण चिआउं उक्चलहुबंधी ॥
सेसाण लहुबंधी णामाण सठाणव्व णियमाओ। धुवसोगणपुंसअरइअमायणीआणऽणंतगुणअहियं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१५९४–९५)

(प्रे०) 'थीणे' त्यादि, स्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिचतुष्क-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-मिथ्यात्व-गोत्रद्विकतिर्यग्द्विकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां सन्निकर्षो नरकौघमार्गणावज्ज्ञेयः, विशुद्धानामपि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यबन्धद्वयसंग्रहार्थं नरकवदतिदिष्टः। मिथ्यात्वाद्यष्टप्रकृतीनां बन्धकतया सुविशुद्धप्रथमगुणस्थानकवर्त्तिनारका अपि, वेदद्विकस्य बन्धकतया तत्प्रायोग्यविशुद्धा नारका अपि, उच्चैर्गोत्रस्य बन्धकतया परावर्त्तमानमध्यमपरिणामिनारका अपि, तथा तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोः जघन्यरसबन्धकतया सुविशुद्धमिथ्यादृक्सप्तमनारका प्राप्यन्ते, ततो नरकवदतिदेशः कृतः। अत्र कश्चिद्विशेषोऽस्ति तं 'णवरी' त्यादिना दर्शयति, तद्यथा–उच्चैर्गोत्रस्य जघन्यरसबन्धको नारको मनुष्या-

युर्विकल्पेन बध्नात्यत्र त्वायुर्बन्धाभावादायुर्नैव बध्नातीत्युक्तमिति । अथ शेषप्रकृतिसत्कसन्निकर्षमाह–'**सेसाण**' मित्यादि, पञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकद्विक-शुभध्रुवाष्टक-पराघातोच्छ्वासातपोद्योत-त्रसचतुष्करूपाणां शेषैकोनविंशतिप्रकृतीनामेकतमाया जघन्यरसबन्धकस्य नामप्रकृतीनां सन्निकर्षः स्वस्थानवद् वक्तव्यस्तथा नामवर्जशेषाष्टात्रिंशद्ध्रुवनपुंसकवेदारत्यसातवेदनीयनीचैर्गोत्रप्रकृतीनां नियमेन स बन्धकः, रसं त्वनन्तगुणाधिकमामां बध्नाति ॥१५९४-९५॥ अथ स्त्रीवेदमार्गणायां प्रकृतं दिदर्शयिषुस्तावत् ओघतुल्यवक्तव्यात्पञ्चनिद्रादिसत्कमोघवदतिदिशति—

ओघव्व पंचणिद्दा-दुजुगल-बारसकसाय-मिच्छाणं । भयकुच्छाहारदुग कुधुवणामजिणाण इत्थीए ॥

(मूलगाथा–१५९६)

(प्रे०) 'ओघव्वे' त्यादि, तत्र '**दुजगल**' त्ति हास्य-रति-शोकाऽरतिरूपं युगलद्वयम् । '**बारस**' त्ति सञ्ज्वलनवर्जाः । '**कुधुवणाम**' अशुभवर्णादिचतुष्कोपघातप्रकृतयः । अतिदेशस्तु अष्टमगुणस्थानं यावन्मानुषीमाश्रित्यौघतुल्यसंक्लेशविशुद्धयोः प्रस्तुते सम्भवात् ॥१५९६॥

अथ तत्रैव सञ्ज्वलनादिसत्कमाह—

एगस्स संजलण-पुम-विग्घावरणणवगाउ लहुबंधी । अण्णाण लहुं णियमा साय-जसुच्चाणऽणंतगुणअहियं ॥

(गीतिः) (मूलगाथा–१५९७)

(प्रे०) '**एगस्से**' त्यादि, तत्र नियमाल्लघुं त्वासां सर्वासां जघन्यरसस्यानिवृत्तिक्षपकेण बध्यमानत्वात् । '**साये**' त्यादि, तत्रानन्तगुणाधिकन्तु प्रशस्तत्वात् तदुत्कृष्टरसबन्धस्यैव प्रवर्त्तनात् । नियमाद्बन्धः प्रतीतः ॥१५९७॥

अथ सातवेदनीयादिसत्कं सापवादमतिदिशति—

साय-असाय-थिराइतिजुगलाणोघव्व णवरि मंदसुभं । छट्ठाणगयममंदं तिरिदुगणीआण बंधेइ ॥

(मूलगाथा–१५९८)

(प्रे०) '**साये**' त्यादि, तत्राऽतिदेशस्तु स्वामिसादृश्यात् । '**णवरि**' त्ति अयं विशेषः । कोऽसौ ? उच्यते–तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो रसं जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा बध्नाति, एतज्जघन्यरसस्याऽपि परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । अयम्भावः–ओघप्ररूपणायां सातवेदनीयादिजघन्यरसबन्धकैस्तिर्यग्द्विकादेरनन्तगुणाऽधिको रसो बध्यते, तत्र सप्तमनरकनारकस्यान्तःप्रविष्टत्वेनैतज्जघन्यरसस्य विशुद्धया जन्यत्वात्, इह तु नारकाणां तेजोवायूनाञ्च मार्गणाबाह्यत्वेन परावर्त्तमानपरिणामेनैवैतज्जघन्यरसबन्ध इति ॥१५९८॥

अथ तत्रैव प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादिसत्कमाह—

सुहधुवुरालायवदुग-परघा-ऊसास-बायरतिगाणं । लहुबंधी णामाणं सट्ठाणव्व खलु बंधेइ ॥
धुवबंधिअट्ठतीस-असाय-णपुम-अरइ-सोग-णीआणं । णियमाऽणंतगुणहियं पणिंदितिरिअव्व सेसाणं ॥

(मूलगाथा–१५९९–१६००)

(प्रे०) '**सुहधुवे**' त्यादि, तत्र '**सट्ठाणव्व**' त्ति अतिदेशः । स च प्ररूपणाविषयीकृताना-मासां सर्वासां नामप्रकृतित्वात् । '**उरल**' ति औदारिकद्विकम् । '**धुवे**' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्राऽसातवेदनीयादीनामपि नियमाद् बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वेन तत्प्रायोग्य-संक्लिष्टत्वेन वा प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । अनन्तगुणाधिकत्वमासामप्रशस्तत्वात् । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणामष्टचत्वारिंशतः प्रकृतीनाम् । अतिदेशस्तु स्वामिसादृश्याद् , यथा तत्र तथैवेहाप्येतज्ज-घन्यरसबन्धका यथासम्भवं संक्लिष्टास्तत्प्रायोग्यविशुद्धाः परावर्त्तमानपरिणामिनो वा । इमाश्चाष्ट-चत्वारिंशत्-स्त्रीनपुंसकवेदावायुश्चतुष्कं, देवद्विकं, नरकद्विकं, तिर्यग्द्विकं, मनुष्यद्विकं, जातिपञ्चकं, वैक्रियद्विकं, संहननषट्कं, संस्थानषट्कं, विहायोगतिद्विकं, त्रसनाम, सुभगत्रिकं, स्थावरचतुष्कं, दुर्भगत्रिकं, गोत्रद्विकञ्चेति ॥१५९९-१६००॥ अथ पुरुषवेदमार्गणायां प्रस्तुतं दिदर्शयिषुस्ता-वत्प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादिसत्कमोघवच्छेषाणां च स्त्रीवेदवदतिदिशन्नाह--

सुधुवुरलदुगपणिंदिय-परघा-ऊसास-तसचउक्काणं । तह उज्जोअस्स पुमे ओघव्विथिव्व सेसाणं ॥

(मूलगाथा-१६०१)

(प्रे०) '**सुधुवुरले**' त्यादि, '**पुमे**' त्ति पुरुषवेदमार्गणायाम् । '**ओघव्व**' त्योघवत् तज्ज-घन्यरसबन्धस्वामिनां निकृष्टस्थानत्रयस्याऽत्रापि सद्भावात् । '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां षडुत्तर-शतप्रकृतीनामनन्तरोक्तस्त्रीवेदमार्गणावत् , स्वामिनामविशेषात् ॥१६०१॥

अथ नपुंसकवेदमार्गणायामाह--

विग्घावरणणवगपुमसंजलणाण णपुमम्मि थिव्व भवे । सुहधुवुरालायवदुग-परघा-ऊसास-वायरतिगाणं ॥
लहुबंधी णामाण सठाणव्व अणंतगुणहियं णियमा । धुवअडतीसअसायगणपुमअरइसोगणीआणं ॥
सेसअडअसीईए ओघव्व णवरि ण चेव जिणणामं । बंधइ णिद्दाजुगलअसुहधुवणामलहुरसबंधी ॥

(प्र० गीतिः) मूलगाथा-१६०२-४)

(प्रे०) '**विग्घे**' त्यादि, तत्रातिदेशस्तु स्वामिसादृश्यात् , **तद्यथा**- यथा स्त्रीवेदमार्गणायां तथैवेहाऽपि कथितैकोनविंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य क्षपकश्रेणौ मार्गणाचरमसमये प्रवर्त्त-नात् । अथ तत्रैव प्रशस्तध्रुवबन्ध्यादिसत्कमाह-'**सुहधुवे**' त्यादि, तत्र दुगशब्दस्य प्रत्येकं योजनादौदारिकद्विकस्यातपद्विकस्य च । '**धुवअडतीस**' इत्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् अत्र '**अडतीस**' त्ति नाम्नोऽतिदिष्टत्वात् तद्वर्जा अप्रशस्ताः । असातादीनामपि नियमाद् बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वात् , अनन्तगुणाधिकत्वमासामप्रशस्तत्वात् । '**सेस**' त्ति उक्तशेषाणामष्टाशीतेः प्रकृतीनाम् । अतिदेशस्त्वासां जघन्यरसस्यौघवदेव तत्प्रायोग्यविशुद्धयादिना जन्यत्वात् । तीव्रसंक्लिष्टो ह्यागाञ्जघन्यरसं बध्नन्नेकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धं न करोतीत्यपि बोध्यम् । अथोक्तातिदेशे पतिताऽतिप्रसक्तिवारणाय 'णवरि'त्यादिनाऽऽह । तत्र '**णिद्दाजुगल**' इत्यनेन निद्राद्विकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम् , तेन निद्राद्विकाऽशुभध्रुवनामरूपसप्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको जिन-

नाम न बध्नाति । कुतः ? इति चेदुच्यते–उक्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः क्षपकः । चरमभाविकनपुंसकक्षपकस्य जिननाम्नः सत्ताया अभावाज्जिननाम्नो बन्धाभाव इति ॥१६०२-४॥

अथोऽवेदमार्गणायामाह—

एगस्स अवेए लहुबंधी तिसुहाउ दोण्ह मंदं च्च । णियमाऽणंतगुणहियं असुहाणोघव्व असुहाणं ॥
(मूलगाथा–१६०५)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'तिसुहाउ' त्ति प्रकरणवशात् सातवेदनीय-यशःकीर्त्तिनामोच्चैर्गोत्रेभ्यः । 'मंदं च्च' त्ति जघन्यमेव, न तु षट्स्थानपतितमपि कश्चित् बध्नाति, बन्धकस्य मार्गणाचरमसमयवर्त्युपशमकत्वादवरोहदनिवृत्तिबादरोपशमकत्वादिति भावः । 'असुहाण' त्ति पञ्चज्ञानावरण-चतुर्दर्शनावरण पञ्चान्तरायरूपाणां चतुर्दशानां तथा सञ्ज्वलनचतुष्कस्य । अनन्तगुणाधिकत्वामां जघन्यरसबन्धकस्य स्वबन्धचरमसमयक्षपकत्वादासामप्रशस्तत्वादिति भावः । 'असुहाणं' ति अनन्तरोक्तानां चतुर्दशानां सञ्ज्वलनचतुष्कस्य च प्रस्तुतसन्निकर्ष ओघवद्भवति, कुतः ? इहाऽप्योघोक्त एवैतज्जघन्यरसबन्धक इति कृत्वा ॥१६०५॥

अथ कषायमार्गणासु प्रक्रान्तं विभणिषुस्तावल्लाघवार्थं सापवादमतिदिशति—

सव्वाणोघव्व भवे लोहे एमेव कोहमाइतिगे । णवरं लहुं च्चिअ रसं णवावरणविग्घलहुबंधी ॥
चउतिदुसंजलणाणं कमसोऽत्थि चउतिदुसंजलणबंधी । मोहाण सठाणव्व उ लहुं णवावरणविग्घाणं ॥
(मूलगाथा–१६०६-७)

(प्रे०) 'सव्वाणे' त्यादि, अत्र 'लोहे' त्ति लोभकषायमार्गणायाम् । 'सव्वाण' त्ति चतुर्विंशत्युत्तरशतप्रकृतीनाम् , आयुषामपि सहैव निरूप्यमाणत्वात् । अतिदेशस्तु प्रस्तुतमार्गणायां चातुर्गतिकजीवानां प्रवेशाच्छ्रेणिद्वयसद्भावाच्च । 'एमेव' त्ति लोभमार्गणावत् क्रोधमानमायारूपे मार्गणात्रिकेऽपि ओघवदेव प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति, किन्तु नाऽविशेषेण । अत एव विशेषमाह–'णवरं' त्यादिना, गतार्थम् । अयं भावः–ओघे तु नवावरणादिजघन्यरसबन्धकस्य संज्वलनकषायाणां बन्धो नाऽस्ति, तस्य सूक्ष्मसम्परायक्षपकत्वात् । क्रोधादिमार्गणासु तु यथाक्रमं चत्वारस्त्रयो द्वौ कषाया बध्यन्ते आवरणादिजघन्यरसबन्धकेन । रसश्च जघन्य एव नियमाच्च बध्यते, तत्तन्मार्गणाचरमसमयक्षपकेण बध्यमानत्वाद् ध्रुवबन्धित्वाच्च ।

तथा क्रोधमार्गणायां संज्वलनचतुष्कस्य मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधवर्जसंज्वलनत्रिकस्य तथा मायामार्गणायां संज्वलनमायालोभरूपयोर्द्वयोः कषाययोर्जघन्यरसबन्धको मोहनीयप्रकृतीनां रसं स्वस्थानवद् बध्नाति, प्रधानीकृतप्रकृतीनां मोहनीयप्रकृतित्वात् । ज्ञानावरणपञ्चकचतुर्द-

र्शनावरणरूपाणां नवानामावरणानां पञ्चानाञ्चान्तरायाणां प्रत्येकं रसं जघन्यं नियमाच्च बध्नाति, प्रागुक्तादेव हेतोः, तत्तन्मार्गणाचरमसमयवर्त्ती क्षपको बध्नाति इति। अत्रेदं तात्पर्यम्--क्रोधमार्गणायां ज्ञानावरणादिचतुर्दश संज्वलनचतुष्कं चेति अष्टादशानाम् , मानमार्गणायां संज्वलनक्रोधवर्जसप्तदशानाम् , मायामार्गणायां संज्वलनक्रोधमानवर्जानां षोडशानां युगपज्जघन्यरसो बध्यते । लोभमार्गणायान्तु अविशेषेणौघवदस्ति अतो न तत्र विशेषकथनावसर इत्यपि ज्ञेयम् ॥१६०६-१६०७॥

अथ त्रिज्ञानादिमार्गणास्वाह--

सायस्स मंदबंधी तिणाणऽवहिसम्म-खइ-उवसमेसु । मंदसुभ छठाणगयं सिआउतिथिराइजुगलाणं ॥
दुजुगलऽडकसायाणं णरसुराउलियविउव्वियदुगाणं । वइरजिणाणं बंधइ सिआ रसमणंतगुणअहियं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं असायआहारजुगलवज्जाणं । गुणवण्णाए एवं असायतिथिराइजुगलाणं ॥
(मूलगाथा-१६०८-१०)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि, तत्र 'सम्म' त्ति सम्यक्त्वौघमार्गणा । 'खइ' त्ति क्षायिकसम्यक्त्वम् । 'आउ' त्ति सामान्यनिर्देशेऽपि देवमनुजायुषोरेव ग्रहणं विज्ञेयम् । स्थिरादीनां स्याद्बन्धस्तु षष्ठगुणस्थानकं यावदस्थिरनामादीनामपि बन्धसम्भवात् । 'व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्ते'रुपशमसम्यक्त्वमार्गणायामायुर्बन्धो न वाच्यः, तत्र तद्बन्धासम्भवात् । 'दुजुगले'त्यादि द्वितीयगाथा । 'अडकसाय' त्ति मध्यमाष्टकषायाः । स्याद्बन्धस्तु तज्जघन्यरसबन्धका भिन्नभिन्नगतिका भिन्नभिन्नगुणस्थानकवन्तो वेति कृत्वा । अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसस्य विशुद्ध्या संक्लेशेन वा जन्यत्वात् । 'णियमे' त्यादि तृतीयगाथा । अनन्तगुणाधिकमनन्तरोक्तादेव हेतोः । नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्योत्कृष्टतोऽपि षष्ठमेव गुणस्थानकम् , तत्र च षष्ठगुणस्थानक आसां ध्रुवतया बन्धोपलम्भात् । तत्राऽसातस्य वर्जनम् , सातवेदनीयप्रतिपक्षत्वात् , आहारकद्विकस्य तु सप्तमगुणस्थानकादारात् तद्बन्धाऽभावात् । इमाश्च ता एकोनपञ्चाशत्--ज्ञानावरणपञ्चकं, दर्शनावरणषट्कं, सञ्ज्वलनचतुष्कमन्तरायपञ्चकं, पुरुषवेदः, भयजुगुप्से, त्रयोदश नामध्रुवबन्धिन्यः, पञ्चेन्द्रियजातिः, समचतुरस्रं, प्रशस्तविहायोगतिः, पराघातोच्छ्वासनाम्नी, त्रसचतुष्कं, सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति--'एव' मित्यादि, गतार्थम् । अत्रेदमवगन्तव्यम्--असातवेदनीयाऽस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिजघन्यरसबन्धको मनुष्यायुः स्याद् बध्नाति न तु देवायुरपि । हेतुस्त्वाहारकद्विकमार्गणावदवगन्तव्यः ॥१६०८-१०॥

अथ तत्रैव मनुष्यायुःसत्कमाह--

मणुयाउमंदबंधी दुवेअणीय-तिथिराइजुगलाणं । बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
दोण्हं जुगलाण सिआ बंधइ अणतगुणहियं णियमा । पणतीसअसुहधुवपुमसुहछव्वीसणरजोग्गाणं ॥
(मूलगाथा-१६११-१२)

(प्रे०) 'मणुयाउ०' इत्यादि, गतार्थम् । नवरं 'पणतीसअसुहधुव' त्ति स्त्यानर्द्ध्यष्टकस्य

बन्धाभावात् प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकस्य वक्ष्यमाणत्वात् । पुरुषवेदस्य नियमाद् बन्धस्तु सम्यग्दृष्टेर्वेदान्तर-बन्धाभावात् । मनुष्यप्रायोग्याणां सप्तविंशतेः प्रकृतीनां नियमाद्बन्धस्तु सम्यग्दृष्टिदेव-नारका-नाश्रित्य तासां ध्रुवबन्धित्वात् । इमाश्च ताः षड्विंशतिः,–मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारि-कद्विक-प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टक–वज्रर्षभनाराच–समचतुरस्र-प्रशस्तविहायोगति- पराघातोच्छ्वास-त्रसचतु-ष्क-सुभगत्रिको-च्चैर्गोत्ररूपाः षड्विंशतिरिति । जिननाम्नस्तु बन्धोऽबन्धो वा तत्संनिकर्षश्च श्रुतमव-लम्ब्य वक्तव्यः ॥१६११–१२॥ अथ तत्रैव देवायुःसत्कमाह—

देवाउस्स जहण्णं बंधंतो साय-थिर-सुह-जसाणं । बंधइ णियमा मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
तेसिं पडिवक्खाओ तह आहारदुग-तित्थणामाओ । णो चिअ बंधइ णियमा अणंतगुणअहियमण्णेसिं ॥
(मूलगाथा–१६१३–१४)

(प्रे०) 'देवाउस्से' त्यादि, तत्र नियमाद् बन्धस्तु देवायुर्बन्धकस्य सातवेदनीया-दिप्रतिपक्षभूतानामसातवेदनीयादीनां बन्धाभावात् । 'मंद' मित्यादि, त्वासामपि जघन्यरसस्य परावर्त्तमानपरिणामजन्यत्वात् । 'तेसि' मित्यादि, द्वितीयगाथा । 'तेसिं' ति सातवेदनीयादीनां प्रतिपक्षा असातवेदनीयादयः, आसामबन्धस्त्वनन्तरोक्तादेव हेतोः । आहारकद्विकस्य तु बन्धः सप्तमगुणस्थानकादर्वाग् न सम्भवति, प्रस्तुतबन्धकस्तु चतुर्थगुणस्थानस्थः । जिननामबन्धकस्य जघन्यस्थितावुत्पादाभावः, प्रस्तुतबन्धकस्तु जघन्यस्थितिबन्धकोऽत एवाहारकद्विकं जिननाम चात्र न बध्नाति । 'अण्णेसिं' ति उक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणाधिकं नियमाच्च बध्नाति । अनन्तगुणाधिकत्वासां जघन्यरसबन्धस्य परावर्त्तमानपरिणामाऽजन्यत्वात् । नियमाद् बन्धस्त्वध्रुवबन्धिनीनामपि देवप्रायोग्यबन्धकमाश्रित्य ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् । इमाश्च ता अन्याः प्रकृतयः पुरुषवेदो हास्य-रती देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रिचत्वारिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति त्रिषष्टिरिति ॥ ॥१६१३–१४॥ अथ तत्रैवाऽऽहारकद्विकादिवर्जशेषनामप्रकृतिसत्कमाह—

आहारगदुग-थिर-सुह-जसवज्जपसत्थणामलहुबंधी । णामाण सठाणव्व उ णियमुच्चस्स लहुमुअ छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं असायधुव-पुरिस सोग-अरईणं । णेयो पणिंदिणामव्वुच्चस्सोघव्व सेसाणं ॥
(प्र०गीतिः) (मूलगाथा–१६१५–१६)

(प्रे०) 'आहारदुगे'त्यादि, अत्राहारकद्विकस्य वर्जनम् तस्य 'सेसाण' मित्यादिनाऽनन्त-रमेव वक्ष्यमाणत्वात् । स्थिरादीनान्तु प्रागतिदिष्टत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तीव्रसंक्लिष्टः । इमाश्च ता इह प्ररूपणविषयीभूता आहारकद्विकादिवर्जाः प्रशस्तनामप्रकृतयः–मनुष्यद्विकं देवद्विकं पञ्चेन्द्रिय-जातिनामौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं वज्रर्षभनाराचं समचतुरस्रं प्रशस्तविहायो-गतिः पराघातोच्छ्वास-जिननामानि त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकञ्चेति त्रिंशत् । एतासां त्रिंशतः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धक इति प्रक्रमः । 'णियमं' त्यादि प्रथमगाथोत्तरार्धे । नियमाद्बन्धस्तु

प्रस्तुतमार्गणासु नीचैर्गोत्रस्य बन्धाभावात् । 'लहु' मित्यादि, एतज्जघन्यरसबन्धकस्यापि तीव्रसंक्लिष्टत्वात् । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र 'धुव' त्ति त्रिंशद् , नाम्नोऽतिदिष्टत्वात् । अनन्तगुणाधिकत्वं त्वासां जघन्यरसबन्धकस्य तीव्रसंक्लिष्टत्वाभावात् । असाताऽरतिशोकनाम्नामपि नियमाद् बन्धस्तु तीव्रसंक्लिष्टस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धासम्भवात् । अथ तत्तुल्यवक्तव्यत्वादुच्चैर्गोत्रसत्कमतिदिशति-'पणिंदिणामव्वे' त्यादिना । अत्र हि प्रशस्तध्रुवबन्धिनीवदित्यप्यतिदेष्टुं शक्यतेऽस्य मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् , तथापि क्रमविवक्षया पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नः प्रथमत्वादेवमतिदेशः । अथोक्तशेषप्रकृतिसत्कमतिदिशति-'ओघव्वे' त्यादिना, अतिदेशस्तु स्वामिसादृश्यात् , तथाहि-यथा तत्र तथैवेहापि क्षपकादय एतज्जघन्यरसबन्धका इति । इमाश्च ताः शेषप्रकृतयः -पञ्चत्रिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः, प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकस्योक्तत्वात् स्त्यानर्द्धित्रिकाष्टकस्येह बन्धाभावात् , आहारकद्विकं पुरुषवेदः शोकाऽरती हास्य रती चेति द्विचत्वारिंशदिति ॥१६१५-१६॥

अथ मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोर्विभणिषुस्तावत्सातवेदनीयादिसत्कमाह—

मणणाण-संजमेसुं दुवेअणीअ-अमराउगाण तहा । तिथिराइगजुगलाणं आहारदुगव्व विण्णेयो ॥

(मूलगाथा-१६१७)

(प्रे०) 'मणणाणे' त्यादि, 'दुवेअणीअ-तिथिराइजुगल' इतिपर्यन्तानां नवप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामी आहारकद्विकेऽत्र च परावर्त्तमानपरिणामी तस्मादतिदेशः कृतः ॥१६१७॥

अथ तत्रैव शेषप्रकृतिसत्कं गाथात्रिकेणाह—

आहारगदुग-थिर-सुह-जसवज्जपसत्थणामलहुबंधी । णामाण सठाणव्व उ णियमुच्चस्स लहुमुभ छठाणगयं

(गीतिः)

णियमाऽणंतगुणहियं असाय-धुव-पुरिस-सोग-अरईण । एसे उच्चस्स भवे सेसाणोघव्व विण्णेयो ॥

णवरि अणंतगुणहियं बंधइ उच्चस्स तित्थलहुबंधी । विरइम्मि णेव बंधइ जिणणामं उच्चलहुबंधी ॥

(मूलगाथा-१६१८-२०)

(प्रे०) 'आहारगदुगे' त्यादि, तत्रोच्चैर्गोत्रस्य लघु षट्स्थानगतं वा त्वासां सर्वासां जघन्यरसस्य संक्लेशजन्यत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् । आहारकद्विकादिवर्जाः प्रशस्तनामप्रकृतयस्त्विमाः-देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासजिननामानि त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकञ्चेति पञ्चविंशतिरिति । तत्राहारकद्विकस्य वर्जनमोघवदत्यतिदिश्यमाणत्वात् । स्थिरनामादीनान्तु प्रागुक्तत्वात् । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र 'धुव' त्ति द्वाविंशतिः, कुतः ? पञ्चत्रिंशतो मार्गणाप्रायोग्यध्रुवबन्धित्वात् , ताभ्यश्च त्रयोदशनामप्रकृतीनामतिदिष्टत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु ध्रुवबन्धिनीनां तथात्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वेनासातवेदनीयादीनां प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धासम्भवात् । 'एवमेवं' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । अनन्तरोक्तवदेवोच्चैर्गोत्रस्य प्रस्तुतसन्निकर्षो भवति,

एतज्जघन्यरसबन्धकस्यापि तीव्रसंक्लिष्टत्वात् । अथोक्तशेषप्रकृतिसत्कमतिदिशति–'सेसाणे' त्यादिना । अतिदेशस्तु जघन्यरसबन्धस्वामिसादृश्यात् । इमाश्च ताः शेषाः प्रकृतयः–ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणषट्क-सञ्ज्वलनचतुष्क-भय-जुगुप्साऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघाताऽन्तरायपञ्चकरूपाः सप्तविंशतिर्ध्रुवबन्धिन्यो हास्य-रती शोकाऽरती पुरुषवेद आहारकद्विकञ्चेति चतुस्त्रिंशदिति । 'णवरी' त्यादिना तृतीयगाथया 'विरइम्मी' त्यनेन संयमौघमार्गणायां विशेषद्वयं दर्शयति, तद्यथा–संयमौघे जिननामजघन्यरसबन्धक उच्चैर्गोत्रस्य रसमनन्तगुणाधिकमेव बध्नाति, प्रस्तुते जिननामबन्धकस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वायोगात्, तथैवोच्चैर्गोत्रस्य जघन्यरसबन्धको जिननाम नैव बध्नाति, मिथ्यात्वाभिमुखसंयमिनो जिननामबन्धाभावात् ॥१६१८–२०॥

अथाज्ञानत्रिकमार्गणासु प्रकृतं दिदर्शयिषुरादौ तावदप्रशस्तध्रुवादिसत्कमाह—

एगस्स अणाणतिगे अपसत्थधुव-रइ-हस्स-पुरिसाओ । लहुबंधी अण्णेसिं णियमा लहुमुअ छठाणगयं ॥
णियमाऽणतगुणहियं गुणतीसाअ सुहदेवजोग्गाणं ।

(मूलगाथा–१६२१)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'लहु' मित्यादि तु सर्वासामासां जघन्यरसस्य संयमाभिमुखेन जन्यत्वात्, तत्प्रविशुद्धयैतज्जघन्यरसबन्धस्य साध्यत्वादिति भावः । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । अनन्तगुणाधिकं त्वासां प्रशस्तत्वात् । नियमाद्बन्धस्तु संयमाभिमुखस्य तत्प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात् । एकोनत्रिंशत्तु मिथ्यादृष्टिमाश्रित्य देवप्रायोग्याः प्रतीता इति ॥१६२१॥

अथ तत्रैव सातवेदनीयसत्कमाह—

सायस्स मंदबंधी लहुमलहुं वा छठाणगयं ॥
बंधइ सिआ तिआउग-णर-सुर-खगइदुग-जाइचउगाणं । संघयणागिइ-थिर-छग-थावरदसगुच्चगोआणं ॥
णियमा धुवबधीणं पण्णासाए अणंतगुणअहिय । बंधेइ रस तु सिआ सत्तण्हं णोकसायाणं ॥
तह मिच्छत्त-पणिंदिय-तिरियोरालिय-विउव्वियदुगाणं । परघा-ऊसासायवदुगाण तसचउगणीआणं ॥

(मूलगाथा–१६२२–२५)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानपरिणामी । 'तिआउग' त्ति सातवेदनीयबन्धकस्य नरकप्रायोग्यबन्धाऽभावात्तेन नरकायुर्न बध्यत इति भावः । तथा दुगशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् मनुष्यद्विकं देवद्विकं खगतिद्विकञ्चेति । तथैव छगशब्दस्याऽपि प्रत्येकं योजनात् संहननषट्कं संस्थानषट्कं स्थिरषट्कञ्चेति । स्याद्बन्धस्तु भिन्नभिन्नबन्धकानाश्रित्य । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र 'पण्णासाए' त्ति मिथ्यात्ववर्जानाम्, तद्वर्जनन्तु द्वितीयगुणस्थानके तद्बन्धाभावात् । 'बंधेइ' त्याद्युत्तरार्धम्, 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमिहाऽपि सम्बध्यते, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् । अनन्तगुणाधिकन्त्वासां जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्धया वा जन्यत्वात् ॥१६२२–२५॥

अथ बहुसमानवक्तव्यत्वात् तत्रैवाऽसातवेदनीयादिसत्कं सापवादमतिदिशति—

एवं असायअथिरअसुहअजसाण णवरं सुराउं णो । बंधेइ सिआ णरगतिगस्स लहुमुअ छठाणगयं ॥
(मूलगाथा—१६२६)

(प्रे०) 'एव' मित्यादि, अत्र 'एवं' ति अनन्तरोक्तवदेव । 'णवरं' ति अयं विशेषः, कोऽसौ ? देवायुर्न बध्नाति, सातवेदनीयजघन्यरसबन्धकस्तु तद् बध्नाति असातवेदनीयादिबन्धकस्तु न, कुतः ? देवायुर्बन्धकस्य असातप्रतिपक्षभूतसातवेदनीयादीनामेव बन्धप्रवर्त्तनात् । तथा नरकत्रिकस्य रसं जघन्यं षट्स्थानपतितं वा स्याच्च बध्नाति, सातवेदनीयबन्धकस्य तु तद्बन्धो नास्ति, प्रकृतिबन्धविरोधात् ॥१६२६॥ अथ तत्रैव शोकाऽरतिमत्कमाह—

बंधंतो अणुभागं मंदं एगस्स सोग-अरईओ । णियमाऽण्णस्स जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
धुवपुमसुखगइआगिइपरघाऊसासतसचउक्काण । सुहगतिगपणिंदीण णियमाउ अणंतगुणअहियं ॥
गोअविउव्वुरलतिरिणरसुरदुगवइररतिथिराइजुगलाणं । सायियरुज्जोआण सिआ रसमणंतगुणअहियं ॥
(मूलगाथा—१६२७-२९)

(प्रे०) 'बंधंतो' इत्यादि, गतार्थम् । 'धुवे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र 'धुव' एकपञ्चाशत् । सुशब्दस्याऽग्रेऽपि योजनात् सुखगतिः तथा स्वाकृतिः समचतुरस्रसंस्थानमित्यर्थः । चकारस्याऽदर्शनाद् ध्रुवबन्ध्यादिपञ्चेन्द्रियपर्यवसानानां चतुःषष्टेरिति । अनन्तगुणाधिकत्वप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेदस्य च जघन्यरसस्य तीव्रविशुद्ध्या जन्यत्वात्, प्रस्तुतबन्धकस्य च तत्प्रायोग्यविशुद्धिमद्भावात् । शेषाणान्तु प्रशस्तत्वेन संक्लेशेन परावर्तमानेन वा जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् । 'गोअ' इत्यादि तृतीयगाथा । तत्र दुगशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गोत्रद्विकं वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकं तिर्यग्द्विकं मनुष्यद्विकं देवद्विकञ्चेति । स्याद्बन्धस्तु नानागतिकबन्धकानाश्रित्य, तद्यथा-एतावत्यां विशुद्धौ नीचैर्गोत्र-तिर्यग्द्विकोद्योतनामानि सप्तमपृथ्वीनारकेणैव बध्यन्ते, अन्येन तु गतिचतुष्कवर्तिना न केनाऽपीति । वैक्रियद्विकदेवद्विके तु मनुष्यतिर्यग्भिरेव बध्येते । उच्चैर्गोत्रं सप्तमनरकनारकवर्जैर्बध्यते । औदारिकद्विक-वज्रर्षभनाराचे तिर्यङ्मनुष्यैर्न बध्येते । मनुष्यद्विकं मनुष्य-तिर्यक्-सप्तमपृथ्वीनारकवर्जैर्बध्यते । त्रिस्थिरादियुगलानि सातासाते च यद्यपि चातुर्गतिकैर्बध्यन्ते तथापि तेषां स्वप्रतिपक्षप्रकृतिबन्धोऽपि प्रवर्त्तत इति । यत्र प्रथमगुणस्थानगताः शोकाऽरत्योर्जघन्यरसबन्धकास्तत्रासाताऽस्थिरादीनामपि बन्धो भवति, चतुर्थादिगुणवत्सु न तथा, तत्र तु तदा शुभनामेव बन्धभावादिति विशेषः ॥१६२७-२९॥ अथ तत्रैव स्थिरनामादिसत्कमाह—

थिरसुहजसलहुबंधी णामाणं बंधए सठाणव्व । सायव्वऽण्णाण कुणइ ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ॥
(मूलगाथा—१६३०)

(प्रे०) 'थिर' त्यादि, तत्र 'सठाणव्वे' त्यतिदेशस्तु प्रधानीकृतानां नामप्रकृतित्वात् 'सायव्वं' ति तु स्वामिसादृश्यात्, यथा सातवेदनीयस्य जघन्यरसबन्धः परावर्त्तमानपरिणामेन जायते तथैवैषां स्थिरादिनाम्नामपि । अन्याः प्रकृतयस्तु द्विपञ्चाशद् नामप्रकृतीनां पृथगतिदिष्टत्वात् ।

इमाश्च ता द्विपञ्चाशत्–ध्रुवबन्धिन्यो अष्टात्रिंशत् , नामव्यतिरिक्तत्वात् , द्वे वेदनीये हास्य-रती शोकाऽरती त्रयो वेदा आयुष्यत्रिकं गोत्रद्विकञ्चेति । 'ओघव्व हवेज्ज सेसाण' मित्यनेनोक्त-प्रकृतिव्यतिरिक्तमार्गणाप्रायोग्यशेषप्रकृतीनां सन्निकर्ष ओघवदेव भवति । कुतः? शेषप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकत्वेन मिथ्यादृष्टीनामेव भावात् । शेषपञ्चषष्टिप्रकृतयः पुनरिमाः—स्त्रीनपुंसकवेदायु-श्चतुष्कगोत्रद्विकप्रकृतयस्तथाऽप्रशस्तवर्णपञ्चक-स्थिरादियुगलत्रयाहारकद्विकजिनवर्जाः शेषसप्तपञ्चा-शन्नामप्रकृतयः ॥१६३०॥

अथ सामायिक-छेदोपस्थानीयमार्गणयोः प्रस्तुतं विभणिषुस्तावज्ज्ञानावरणादिसत्कमाह—

सामाइअछेएसुं णाणावरणलोहपंचविग्घाओ । एगस्स मंदबंधी णियमाऽण्णेसिं जहण्णं तु ॥
णियमाऽणंतगुणहियं सायजसुच्चाण संजमव्व भवे । सेसाण अवेअव्व उ सप्पाउग्गाण सुहुमम्मि ॥
(मूलगाथा—१६३१-३२)

(प्रे०) 'सामाइअे' त्यादि, 'णाण' त्ति पञ्चज्ञानावरणानि चतुर्दर्शनावरणानि च । तु रेवार्थः, स चावधारणे, ततश्च जघन्यमेव बध्नाति न तु षट्स्थानपतितमपि, कुतः ?, प्रस्तुतबन्धकस्य चरम-समयाऽनिवृत्तिबादरक्षपकत्वात् । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । सातवेदनीयादीनां रसमनन्त-गुणाधिकं बध्नाति, उत्कृष्टरसं बध्नातीति भावः, बन्धकस्य सुविशुद्धत्वादासाञ्च प्रशस्तत्वात् । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां चतुःपञ्चाशतः प्रकृतीनां संयमोघवद् भवति, जघन्यरसबन्धस्वामि-सादृश्यात् । ताश्चेमाः–निद्राद्विकं वेदनीयद्विकं सञ्ज्वलनत्रिकं भय-जुगुप्से हास्य-रती शोकाऽरती पुरुषवेदो देवायुर्देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं त्रयोदशध्रुवबन्धिन्यः समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासजिननामानि त्रसदशकमस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिनामान्युच्चै-र्गोत्रञ्चेति चतुःपञ्चाशदिति । सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां बन्धप्रायोग्यसप्तदशप्रकृतीनां सन्निकर्षोऽपगत-वेदमार्गणावत् भवति, स च सुगमः ॥१६३१–३२॥

अथाऽयतमार्गणायां प्रकृतं विभणिषुस्तावदप्रशस्तध्रुवादिसत्कमाह—

अजए पणतीसअसुहधुवहस्सरइपुंसाउ एगस्स । लहुबंधी अण्णेसिं णियमा लहुसुअ छठाणगयं ॥
तित्थस्स सिआ बंधइ अणंतगुणिआहियं रसं णियमा । सुहसुरजोग्गाउरहिअसेसाणेगूणतीसाए ॥
(मूलगाथा–१६३३–३४)

(प्रे०) 'अजए' इत्यादि, तत्र 'पणतीस' त्ति स्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृत्यष्टकस्य चतु-र्थगुणस्थाने बन्धाऽभावात् । 'लहु' मित्यादि त्वासां सर्वासां जघन्यरसस्य संयमाभिमुख-लक्षणेन सुविशुद्धेन बध्यमानत्वात् । 'तित्थस्से' त्यादि द्वितीयगाथा । अनन्तगुणाधिकन्तु प्रशस्त-त्वात् । 'णियमे' तिपदमुत्तरार्धे एव योज्यम् 'अणंतगुणिआहिय' मित्यादि पदद्वयञ्च । तत्रानन्तगुणाधिकमनन्तरोक्तवत् । नियमाद्बन्धस्तु संयमाभिमुखमाश्रित्यासां ध्रुवबन्धिकल्प-त्वात् । इमाश्च ताः शेषा एकोनत्रिंशत्–देवद्विकं वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं

समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकं सातवेदनीयमुच्चैर्गोत्रञ्चेति । ननु देवायुषः का गतिः ? उच्यते-संयमाद्यभिमुखस्यायुर्बन्धायोगादिति ॥१६३३-३४॥

अथ तत्रैवोक्तशेषप्रकृतीनां सापवादमतिदिशति—

सेसाणोघव्व णवरि णियमा बंधेइ मज्झकसायाणं । सायेयरसोगारइथिराइजुगलति लहुरंधी ॥
सोगारइलहुबंधी बधेइ सिआ अणंतगुणअहियं । मणुयामरओरालियविउव्वियदुगाण वइरस्स ॥

(द्वि० गीतिः)(मूलगाथा-१६३५-३६)

(प्रे०) 'सेसाणे' त्यादि, उक्तशेषाणां चतुरशीतेः प्रकृतीनां प्रस्तुतपरस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्ष ओघवद्भवति, कुतः ? तज्जघन्यरसबन्धकानामविशेषात्, यथा तत्र तथैवेहाऽपि मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो वा तज्जघन्यरसबन्धका इति । 'णवरि' त्ति अयं विशेषः । कोऽसौ ? सातवेदनीयादीनां दशानां जघन्यरसबन्धकोऽष्टानां मध्यमकषायाणां नियमाद् बन्धं करोति, मार्गणाचरमसमयं यावदेतेषामष्टानां बन्धसम्भवात् । ओघे तु तेषां स्याद् बन्धं करोति, पञ्चमगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानावरणानां षष्ठगुणस्थानके च प्रत्याख्यानावरणानामपि बन्धाऽप्रवर्त्तनादिति । 'सोगारई' त्यादिर्द्वितीयगाथया शोकाऽरतिसत्कविशेषं दर्शयति,-स्वस्थानतत्प्रायोग्यविशुद्धचातुर्गतिकाः सम्यग्दृष्टयो निरुक्तप्रकृतिद्वयस्य जघन्यरसबन्धकाः । देवनारका मनुष्यपञ्चकस्य बन्धकाः, तिर्यग्मनुष्या देवचतुष्कस्य बन्धका अत उक्तं स्याद् बन्ध इति । तथा आसां नवानां प्रकृतीनां जघन्यरसः संक्लेशेन बध्यते, प्रस्तुतबन्धकस्तु स्वस्थानविशुद्धोऽत उक्तं रसोऽनन्तगुणाधिक इति । इमाश्च ताश्चतुरशीतिः-वेदनीयद्विकं स्त्यानर्द्धित्रिकादिप्रकृत्यष्टकं शोकाऽरती स्त्रीनपुंसकवेदावायुश्चतुष्कं गोत्रद्विकमप्रशस्तनामध्रुवबन्ध्याऽऽहारकवर्जा नामप्रकृतयश्चतुःषष्टिश्चेति ॥१६३५-३६॥

अथ कृष्णलेश्यामार्गणायां प्रकृतं त्रिभणिषुस्तावदप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादिसत्कमतिदेशद्वारेणाह—

किण्हाअ सण्णियासो अपसत्थधुवसगणोकसायाणं । णिरयव्व होइ णवरं ण चेव बंधेइ जिणणामं ॥
अजयव्व मुणेयव्वो दुवेअणीअतिथिराइजुगलाणं । सेसाणोघव्व भवे अण्णे विंति णपुमव्व भवे ॥

(मूलगाथा-१६३७-३८)

(प्रे०) 'किण्हाअ' इत्यादि, कृष्णलेश्यामार्गणायाम् । अतिदेशस्तु सुविशुद्धनारकदेवानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । अत्र 'अपसत्थधुवे' त्यादयः पञ्चाशत् । 'णवरं' ति अयं विशेषः, कोऽसौ ? उच्यते, जिननाम न बध्नाति, यत्र सन्निकर्षविषये जिननाम्नो बन्धः स्यात्तया कथितस्तत्र न बध्नातीति सोपस्कारं व्याख्येयम् । अयम्भावः-नरकौघमार्गणायामासामप्रशस्तध्रुवबन्धिन्यादीनां जघन्यरसबन्धकेन जिननाम बध्यते, तत्राद्यनरकत्रितयस्यान्तःपातात् । इह तु नारकानाश्रित्य पञ्चम-षष्ठ-सप्तमनरकनारकाः, देवांश्चाश्रित्य भवनपति-व्यन्तरा एवाऽन्तःपतन्ति । तेषाञ्च भवस्वाभाव्यादेव न जिननाम्नो बन्धः । तिरश्चां तु सर्वथैव तद्बन्धो नास्ति । यद्यपि कृष्णलेश्याकमनुष्यस्य जिननामबन्धोऽस्ति तथापि प्रस्तुतबन्धकस्य विशुद्धत्वेनैतावन्त्यां विशुद्धौ तस्य लेश्या-

न्तरगमनेन च मार्गणाया एवानवस्थानादिति। अथ द्विवेदनीयादिमत्कमतिदिशति-'अजयव्व' त्ति द्विवेदनीयादीनां प्रस्तुतः सन्निकर्षोऽयतमार्गणावद्भवति, कुतः ? स्वामिसादृश्याद् , यादृशः तत्र तादृशस्यैवेहाप्येतज्जघन्यरसबन्धकस्य सद्भावात्–मार्गणायामाद्यगुणस्थानचतुष्कस्यैव भावात् अष्टकषायाणां नियमाद् बन्ध इति । अथोक्तशेषप्रकृतिसत्कं मतान्तरकथनपूर्वकमतिदिशति–'सेसाण' त्ति आहारकद्विकस्यात्र बन्धाभावात् उक्तशेषाणां चतुःषष्टिप्रकृतीनामोघवद्भवति, कुतः ? स्वामिसादृश्यात् । ये चौघे त एवाऽत्रैतज्जघन्यरसबन्धस्वामिन इति । 'अण्णे' त्ति महाबन्धकारादयो नपुंमकवेदमार्गणावद् भवतीति ब्रुवन्ति, कुतः ? यद्यपि ओघोत्कृष्टसंक्लेशेन जघन्यरसबन्धप्रायोग्याणां मध्ये शुभध्रुवादिप्रकृतीनां सन्निकर्षे संक्लिष्टभवनपत्यादिदेवानामिह तथौघप्ररूपणायामन्तःप्रवेशः, तथापि एतेषां मते पर्याप्तकदेवानां मार्गणाऽनन्तःप्रवेशात् , अपर्याप्तकानाश्च तेषां शुभध्रुवादिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धाऽभावादेतेषां मतेन देवभिन्ना एव तज्जघन्यरसबन्धका इति भावः ॥१६३७-३८॥ अथ नीललेश्यामार्गणायामाह—

अपसत्थधुव-जिणायव-दुवेअणीअसगणोकसायाणं । तिथिराइग-जुगलाणं णीलाए होइ किण्हव्व ॥
णवरि कुणए णपुमथीथीणद्धितिगाणमिच्छलहुबंधी । णियमाऽणंतगुणहियं णरदुगउच्चाण णेव पडिवक्खा ॥
(द्वि०गीतिः) (मूलगाथा–१६३९–४०)

(प्रे०) 'अपसत्थे' त्यादि, षष्टिप्रकृतीनाम् । अतिदेशस्तु स्वामिसादृश्यात् । कृष्णलेश्यावदिहाप्यप्रशस्तध्रुवजघन्यरसबन्धकेन जिननाम न बध्यते, वेदनीयादिबन्धकैस्तु तद् बध्यत इति । अथ 'णवरी' त्यादिना विशेषं दर्शयति-प्रस्तुतमार्गणायां सप्तमनारकस्याभावान्नपुंमकवेदादारभ्य मिथ्यात्वपर्यन्तानां दशानां जघन्यरसबन्धको मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रप्रकृतीनां नियमेन बन्धकः, रसं त्वनन्तगुणाधिकमेव बध्नाति । ॥१६३९-४०॥

अथ तत्रैवौदारिकशरीरनामादिमत्कं मतान्तरपूर्वकमतिदिशति—

ओरालुज्जोअसुधुव-परघा-ऊसास-बायरतिगाणं । देवव्व सण्णियासो हवेज्ज णिरयव्व विंति परे ॥
(मूलगाथा–१६४१)

(प्रे०) 'ओराले' त्यादि, तत्र 'ओराल' त्ति औदारिकशरीरनाम्नः, 'उज्जो' त्ति उद्योतनाम्नः । 'देवव्वे' त्यतिदेशस्तु देवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । 'परे' त्ति महाबन्धकारादयो नरकौघवदिति ब्रुवन्ति, प्रागुक्तादेव हेतोः, एतेषां मते पर्याप्तकदेवानामप्रशस्तलेश्याऽभावादिति भावः ॥१६४१॥ अथ तत्रैव वैक्रियद्विकसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी विउव्वियदुगाउ बंधए णियमा । अण्णस्स रसं मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं णिरयाउगवज्जणिरयजोग्गाणं । णिरयव्वऽत्थि पणिदियतसाण ओघव्व सेसाणं ॥
(मूलगाथा–१६४२–४३)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकोऽन्तःकोटिकोटिसागरोपममितायाः वैक्रियद्विकस्थितेर्बन्धकः, अस्य नरकप्रायोग्यबन्धकत्वेऽपि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वात् , अधिकतरसंक्लेशे तु

कृष्णलेश्याप्रादुर्भावेन मार्गणाऽपगमात् । 'णिरये' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्राऽनन्तगुणाधिकन्तु प्रशस्तानां जघन्यरसस्य तीव्रसंक्लेशेनाऽप्रशस्तानां विशुद्धया परावर्त्तमानपरिणामेन वा जन्यत्वात् । नरकायुषो वर्जनम् , संक्लिष्टस्यायुर्बन्धाऽभावात् । आयुर्वर्जा नरकप्रायोग्याः शेषप्रकृतयस्तु त्रिसप्ततिः, ताश्चेमाः–ध्रुवबन्धिन्य एकपञ्चाशदसातं शोकारती नपुंसकवेदो नरकद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्हुण्डकमप्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कमस्थिरषट्कं नीचैर्गोत्रञ्चेति । अथ तुल्यवक्तव्यत्वादतिदिशति–'णिरयव्व' त्ति पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नोः प्रस्तुतसन्निकर्षो नरकौघवद् भवति, नारकाणामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । 'ओघव्व' त्ति उक्तशेषाणां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रकृतमोघवद्भवति, कुतः ? यथौघे तथैवेहाऽपि तज्जघन्यरसबन्धकः संक्लिष्टः परावर्त्तमानपरिणामी विशुद्धो वेति । इमाश्च ता उक्तशेषाः प्रकृतयः- आयुश्चतुष्कं मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं नरकद्विकं देवद्विकं जातिचतुष्कम दारिकाङ्गोपाङ्गनाम संहननषट्कं संस्थानषट्कं विहायोगतिद्विकं सुभगत्रिकं स्थावरचतुष्कं दुर्भगत्रिकं गोत्रद्विकञ्चेति त्रिचत्वारिंशदिति ॥१६४२-४३॥

अथ कापोतलेश्यामार्गणायां प्रकृतं विमर्शणिपुस्तावदतिदेशेन दर्शयति—

पणतीसासुहधुवपुमदुजुगलतित्थाण होइ काऊए । णिरयव्व सण्णियासो सेसाण हवेज्ज णीलव्व ॥

(मूलगाथा-१६४४)

(प्रे०) 'पणतीसे' त्यादि, तत्र 'णिरयव्वे' त्यतिदेशस्तु नरकवदत्रापि तज्जघन्यरसबन्धकेन जिननाम्नः स्यात्तया बध्यमानत्वात् । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणामेकाशीतेः प्रकृतीनां नीललेश्यामार्गणावद्भवति, बन्धकविशेषणानां सादृश्यात् , स्वामिसादृश्यादिति भावः ॥१६४४॥

अथ तेजोलेश्यामार्गणायां प्रस्तुतं विमर्शणिपुस्तावत्तीव्रविशुद्धया बध्यमानजघन्यरसानां सन्कमाह—

सगवीसासुहधुव-पुमहस्सरईओ जहण्णमेगस्स । तेऊए बंधतो णियमाऽण्णाण लहुमुक्क छठाणगयं ॥ (गीतिः)

तित्थाहारदुगाणं सिआ अणंतगुणिआहियं णियमा । गुणतीसाअ सुराउगवज्जसुहऽण्णसुरजोग्गाणं ॥

(मूलगाथा-१६४५ ४६)

(प्रे०) 'सगवीसे' त्यादि, तत्र सप्तविंशतिस्तु प्रस्तुतबन्धकस्याऽप्रमत्तत्वेनाद्यद्वादशकषाय-स्त्यानर्द्धित्रिक मिथ्यात्वानां बन्धाऽभावात् । 'तित्थं' त्यादि, अनन्तगुणाधिकन्तु प्रशस्तत्वात् । 'गुणतीसाअ' इत्याद्युत्तरार्धम् । 'अणंतगुणिआहिय' मित्यादि पदद्वयमिह योज्यम् । सुरायुषो वर्जनन्तु सुविशुद्धस्यायुर्बन्धाभावात् । इमाश्च ता एकोनत्रिंशद्–देवद्विकं, वैक्रियद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रशस्तध्रुवाष्टकं समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकं सातमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१६४५-४६॥ अथ तत्रैव सातवेदनीयसन्कमाह—

सायस्स मंदबंधी णियमा बंधइ अणंतगुणअहियं । पणतीसधुवाण तहा परघा-ऊसास-बायरतिगाणं ॥ (गीतिः)

थीणद्धितिग-दुवालसकसाय मिच्छ-सगणोकसायाणं । सुरुरलविउव्वायवदुग-तित्थाण सिआ अणंतगुणअहियं ॥

(गीतिः)

तिण्ह आऊण तहा तिरिय-मणुयदुग-दुजाइखगईणं । संघयणागिइछग-सगतसाइजुगलुच्चणीआणं ॥

लहुमहव छठाणगयमजहुं सि एवं तु थिरसुहजसाणं । एमेव असायअथिरदुगअजसाण वि परं ण तु सुराउं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१६४७-५०)

(प्रे०) 'सायस्से' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः स च प्रथमादिषष्ठगुण-स्थानवर्त्ती । 'पणतीसधुव' त्ति षोडशानां बन्धस्य नियमत्वाभावेनेहैवाऽन्यथा वक्ष्यमाणत्वात् । 'सुरुरले' त्यादि, द्विकशब्दः प्रत्येकं योज्यः । ततश्च सुरद्विकस्यौदारिकद्विकस्य वैक्रियद्विकस्याऽऽतपद्विकस्य चेति । 'तिण्हं आऊणं' ति नरकायुर्वर्जानाम् । 'दुजाई' त्यादि, एकेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिनाम्नोः द्वयोश्च खगत्योः । 'सगतसाइजुगले' त्यादि, बादरत्रिकस्येह पृथगुक्तत्वात् तद्वर्जानां त्रसादिसप्तानाम्, सूक्ष्मत्रिकस्य बन्धाऽभावात्तद्वर्जानां स्थावरादिसप्तानाञ्चेति । तथा 'सि' त्ति प्राकृतत्वादाकारलोपः, स्यात् बध्नातीति भावः । अथ तुल्यवक्तव्यत्वात् स्थिरादिसत्कमतिदिशति–'एव' मित्यादिना, तुरेवार्थः । अथ बहुसमानवक्तव्यत्वादसातवेदनीयादिसत्कं सापवादमतिदिशति–'एमेवे' त्यादिना, असातवेदनीयादीनामपि प्रस्तुतः परस्थानजघन्यरसबन्धसन्निकर्षः 'एमेव' त्ति सातवेदनीयवदेव भवति । 'परं' ति अयं विशेषः । कोऽसौ ? उच्यते सुरायुर्न बध्नाति । किमुक्तं भवति ? सातवेदनीयजघन्यरसबन्धको देवायुषो जघन्यं षट्स्थानपतितमजघन्यं वा रसं बध्नाति, असातवेदनीयादीनान्तु प्रत्येकं बन्धको देवायुर्न बध्नाति, प्रकृतिबन्धविरोधात्, देवायुर्बन्धकैस्सातवेदनीयादय एव बध्यन्ते न त्वसातवेदनीयादयोऽपीति । इह त्वसातवेदनीयादिबन्धकमाश्रित्य प्रस्तुतमतः सुष्ठूक्तं देवायुर्न बध्नातीति ॥१६४७-५०॥ अथ तत्रैव स्त्यानर्द्धित्रिकादिसत्कमतिदिशति—

थीणद्धियतिगबारसकसायमिच्छत्तसोगअरईणं । आहारदुगस्सोघव्व भवे थीए पणिदितिरियव्व ॥
(गीतिः) (मूलगाथा—१६५१)

(प्रे०) 'थीणद्धी' त्यादि, तत्र चकारस्यादर्शनात् स्त्यानर्द्धित्रिकाद्यरतिपर्यवसानानामाहारकद्विकस्य च । 'ओघव्वे' ति निर्विहोघवदेवैतज्जघन्यरसबन्धस्वामित्व इति कृत्वा । अथ स्त्रीवेदसत्कमतिदिशति–'थीए' इत्यादिना, अतिदेशस्तु स्वामिसाम्यात् । यथा तत्र तथैवेहाऽपि देवोवेदप्रकृतिबन्धको मानुपीवेदप्रकृतिबन्धको वैतज्जघन्यरसं बध्नातीति भावः ॥१६५१॥

अथ तत्रैव देवायुःसत्कमाह—

देवाउमवधी णियमाओ सायथिरसुहजसाणं । बंधइ रस जहण्ण उअ अजहण्णं छठाणगय ॥
पुमथीण सिआ बंधइ अणंतगुणिआहिय रसं णियमा । धुवहस्सरईण तहा सुहमुरजोग्गाण सेसाण ॥
(मूलगाथा—१६५२-५३)

(प्रे०) 'देवाउ०' इत्यादि, तत्र नियमाद्बन्धो देवायुर्बन्धकस्याऽसातवेदनीयादिबन्धाभावात् । 'पुमे' त्यादि द्वितीयगाथा । स्याद्बन्धस्तु विवक्षितकालेऽन्यतरस्य बन्धसम्भवात् । 'णियमे' ति पदमुत्तरार्ध एव योज्यम् । 'धुवे' त्यादि द्वितीयगाथोत्तरार्धम् । तत्राऽनन्तगुणाधिकमेतज्जघन्यरसस्य संक्लेशेन विशुद्ध्या वा जन्यत्वात् । हास्यरत्योरपि नियमाद्बन्धस्तु देवायुर्बन्धकस्य शोका-

रतिबन्धाभावात् । अत्र 'धुव' त्ति एकपञ्चाशत् । देवप्रायोग्याः शेषशुभाश्चेमाः—देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियद्विकं समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१६५२-५३॥ अथ तत्रैव देवद्विकादिसत्कमाह—

एगस्स मंदबंधी सुरविउव्वदुगाउ बंधए णियमा । अण्णाण तिण्ह मंदं अहव अमंदं छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं असायधुवबंधिएगवण्णाए । सोगारइथिसुहागिइपणिंदिअथिरदुगअजसाणं ॥
परघाऊसासमसुहखगइसुहगतिगसमचउगउच्चाणं ।

(मूलगाथा—१६५४-५५)

(प्रे०) 'एगस्से' त्यादि, तत्र 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । असातवेदनीयादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टत्वेन परावर्त्तमानानां शुभानां बन्धाभावात्, 'थी' त्यनेन स्त्रीवेदस्य नियमेन बन्धः, नपुंसकवेदस्य प्रकृतिबन्धविरोधादबन्ध इति । न च प्रशस्ताऽऽकृतिनामादीनां परावर्त्तमानानां कुतो बन्ध इति वाच्यम्, सुरद्विकादिना सहैतेषामिह ध्रुवबन्धिकल्पत्वात् ॥१६५४-५५॥ अथोक्तशेषप्रकृतिसत्कं प्रकृतमतिदिशति—

। सोहम्मसुरव्व भवे सेसाण एगवण्णाए ।

(मूलगाथा—१६५६)

(प्रे०) 'सोहम्मे'त्याद्युक्तशेषाणामेकपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षः सौधर्मसुरवद् भवति । देवानामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात्, इमाश्च ता एकपञ्चाशत्—नपुंसकवेदस्तिर्यक्त्रिकं मनुष्यत्रिकमेकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजाती औदारिकद्विकं, प्रशस्तध्रुवबन्धयष्टकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी आतपद्विकं जिननाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं स्थावरनाम दुर्भगत्रिकं गोत्रद्विकञ्चेति ॥१६५६॥

अथ पद्मलेश्यामार्गणायां प्रकृतं विभङ्गिपुस्तावत्पुरुषवेदादिसत्कमतिदिशति—

पम्हाए णेयो पुमअसुहधुवदुजुगळवेअणीआणं । तिथिराइगजुगलाण आहारदुगस्स तेउव्व ॥
णवरि अणंतगुणहिय दुवेअणीअतिथिराइजुगबंधी । कुणइ पणिदितसाणं णियमा णो थावरायवेगक्खं ॥

(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा—१६५७-५८)

(प्रे०) 'पम्हाए' इत्यादि, तत्र 'असुहधुव' त्ति त्रिचत्वारिंशतः । दुशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद्धास्यरति-शोकाऽरतिरूपयोर्द्वयोर्युगलयोः, द्वयोश्च वेदनीययोः । 'णवरि' मित्यादि, द्विवेदनीयाद्यष्टप्रकृतिसन्निकर्षविषये पद्मलेश्यायां पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नोरनन्तगुणाधिकरसस्य नियमेन बन्धप्रवर्त्तनेन स्थावरातपैकेन्द्रियप्रकृतीनां बन्धो न वक्तव्यः ॥१६५७-५८॥

अथ तत्रैव देवत्रिकादिसत्कं सापवादमतिदिशति—

सुरतिगविउव्वदुगाणं तेउव्व परं अणंतगुणअहियं । णियमा पुमस्स बंधइ सणंकुमारव्व सेसाणं

(मूलगाथा—१६५९)

(प्रे०) 'सुरतिगे' त्यादि, गतार्थम् । अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्वामिसादृश्यात् । 'परं' ति अयं विशेषः, कोऽसौ ? उच्यते, प्रस्तुतसुरत्रिकादिजघन्यरसबन्धकः पुरुषवेदस्य नियमाद्

बन्धं करोति, कुतः ? सनत्कुमारसुरप्रायोग्यबन्धकत्वात् , तेजोलेश्यामार्गणायान्तु स्त्रीवेदस्य नियमेन बन्धसद्भावात् । 'सणंकुमारव्व सेसाणं'ति उक्तशेषाणामेकोनपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षः सनत्कुमारसुरमार्गणावद् भवति, तेषामेवैतज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । इमाश्च ता एकोनपञ्चाशत्–स्त्रीनपुंसकवेदौ तिर्यङ्मनुष्यायुषी तिर्यग्द्विकं मनुष्यत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं संहननषट्कं संस्थानषट्कं खगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी उद्योतनाम जिननाम त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकं दुर्भगत्रिकं गोत्रद्विकञ्चेति ॥१६५९॥

अथ शुक्लेश्यामार्गणायामादौ तावदप्रशस्तध्रुवादिसत्कमाह—

सुक्काअ असुहधुवपुमजुगलाहारगदुगाण ओघव्व । णेया साय-असाय-तिथिराइजुगलाण पम्हव्व ॥
णवरि अणंतगुणहियं मणुयदुगस्स ण उ तिरिदुगुज्जोआ। पम्हव्व सुरतिगविउव्वदुगाण आणतसुरव्व सेसाणं
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा–१६६०-६१)

(प्रे०) 'सुक्काअ' इत्यादि, त्रिचत्वारिंशतोऽप्रशस्तध्रुवबन्धिनीनां पुरुषवेद-हास्य-रति-शोकाऽरतीनामाहारकद्विकस्य चेति । 'ओघव्व' त्ति अतिदेशस्तु स्वामिसादृश्यात् । ओघोक्ता एवैतज्जघन्यरसबन्धस्वामिन इह सन्तीति । अथ अत्रैव द्विवेदनीयादिसत्कमतिदिशति 'णेये' त्यादि, गतार्थम् । तथाऽप्यत्र विशेषसद्भावात् 'णवरी' त्यादिना तं दर्शयति–प्रस्तुतमार्गणायां तिर्यग्द्विकस्योद्योतनाम्नश्च बन्धाभावादुक्तम् 'ण उ' इत्यादि, शेषं सुगमम् । देवद्विकवैक्रियद्विकप्रकृतीनां सन्निकर्षोऽविशेषेण पद्मलेश्यामार्गणावद् ,उभयत्र स्वामिनामविशेषादिति । शेषप्रकृतीनां सन्निकर्ष आनतसुरमार्गणावज्ज्ञेयः । शेषाः प्रकृतयस्तु पञ्चचत्वारिंशत्–ताश्चानन्तरगाथाविवृत्युक्ताभ्य एकोनपञ्चाशत्प्रकृतिभ्यस्तिर्यक्त्रिकमुद्योतनाम च वर्जयित्वा ज्ञेयाः, इह तिर्यक्त्रिकादेर्बन्धाऽनर्हत्वात् ॥१६६०-६१॥ अथाऽभव्यमार्गणायां त्रिमणिपुस्तावदशुभध्रुवादिसत्कमाह—

अभवे एगस्स असुहधुवहस्सरइपुरिसाउ लहुबंधी । णियमाऽण्णाण जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
णियमाऽणंतगुणहियं बंधेइ रसं पणिंदिमायाणं । सुधुव-खगइ-आगिइ-परघा-ऊसास-तसदसगाणं ॥
बंधइ सिआ जहण्णं।उअ अजहण्ण रसं छठाणगयं । तिरिदुगणीआण सिआ अणुभागमणंतगुणअहियं ॥
णरसुरउरलविउव्वदुगवइरउज्जोआण उच्चगोअस्स ।
(मूलगाथा–१६६२-६४)

(प्रे०) 'अभवे' इत्यादि प्रस्तुतबन्धकः स्वस्थानसुविशुद्धः, अभव्यानां गुणस्थानान्तरगमनाऽभावात् । 'णियमे' त्यादि द्वितीयगाथा । तत्र चकारलोपात् पञ्चेन्द्रियजात्यादित्रसदशकावसानानां चतुर्विंशतिप्रकृतीनाम् , अनन्तगुणाधिकन्तु प्रशस्तत्वात् । सुशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ सुखगतिः स्वाकृतिः–प्रशस्ताकृतिः समचतुरस्रसंस्थाननामेत्यर्थः । 'बंधइ' त्यादि तृतीयगाथा । तिर्यग्द्विकादेर्बन्धस्तु सप्तमपृथ्वीनारकमाश्रित्य । स्याद्बन्धस्तु तद्व्यतिरिक्तानां मनुष्यद्विकादिबन्धसद्भावात् । 'णरे' त्यादि चतुर्थगाथापूर्वार्धम् । तत्र दुगशब्दः प्रत्येकं योज्यः, ततश्च मनुष्यद्विकं देवद्विकमौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकञ्चेति । स्याद्बन्धस्तु नाना-

गतिकांस्तज्जघन्यरसबन्धकानाश्रित्य । अनन्तगुणाधिकन्तूद्योतादीनां संक्लेशेन, नरद्विकादीनान्तु परावर्त्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धस्य जन्यत्वात् ॥१६६२-६४॥

अथ तत्रैवोक्तशेषप्रकृतिसत्कं प्रकृतमतिदिशति—

अण्णाणतिगव्व भवे सेसाणं पंचसयरीए ॥
णवरं असुहधुवाण तेयालाअ रइहस्सपुरिमाणं । तिरियदुगणीअबधी लहुमुअ अलहुं छठाणगय ॥
(मूलगाथा-१६६५ ६६)

(प्रे०) 'अण्णाणे' त्यादि, उक्तशेषाणां पञ्चसप्ततिप्रकृतीनां प्रस्तुतसन्निकर्षोऽज्ञानत्रिकमार्गणावद्भवति । कुतः ? तज्जघन्यरसबन्धस्वामिनामविशेषात् । इमाश्च ताः पञ्चसप्ततिः,-वेदनीयद्विकं शोकारती स्त्रीनपुंसकवेदावायुश्चतुष्कं गोत्रद्विकं तथाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कोपघातयोः प्रागुक्तत्वादाहारकद्विकजिननाम्नोश्चात्र बन्धाभावात्तद्वर्जा नामप्रकृतयस्त्रिपष्टिरिति । अथ 'णवर' मित्यादिना विशेषं दर्शयति-ओघे तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्जघन्यरसबन्धकोऽशुभध्रुवादिप्रकृतीनां रसमनन्तगुणाधिकं बध्नाति, अत्र तु तासां रसं जघन्यमजघन्य षट्स्थानपतितं वा बध्नाति, समानविशुद्ध्या बध्यमानत्वात् । एतच्च चातुर्गतिकाभव्यानामुत्कृष्टविशुद्धेः तुल्यत्वाभिप्रायेण बोध्यमिति ॥१६६५-६६॥

अथ वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतमतिदिशति—

खाओवसमम्मि असुहधुवसगवीसरइहस्सपुरिसाण । परिहारव्व हवेज्जा सेसाणोहिव्व विण्णेयो ॥
(मूलगाथा-१६६७)

(प्रे०) 'खाओवसमे' त्यादि, अतिदेशस्तु तज्जघन्यरसबन्धस्वामिसादृश्यात् । शेषाः प्रकृतयस्त्विमाः-वेदनीयद्विकं मध्यमकषायाष्टकं शोकारती द्वे आयुषी मनुष्यद्विकं देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमाहारकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धयष्टकं वज्रर्षभनाराचं समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासजिननामानि त्रसदशकमस्थिराशुभायशःकीर्तिनामान्युच्चैर्गोत्रञ्चेति त्रिपञ्चाशदिति ॥१६६७॥ अथ मिश्रदृष्टिमार्गणायाम्—

मीसे णगस्स असुहधुवहस्सरइपुरिसाउ लहुबंधी । णियमाऽणंताण जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगयं ॥
णरसुरउरलविउव्वदुगवइराण सिआ अणंतगुणअहियं । बंधेइ रसं णियमा सुहधुवणामाअ सेसाण ॥
(मूलगाथा-१६६८-६९)

(प्रे०) 'मीसे' इत्यादि, प्रस्तुतबन्धकः सुविशुद्धः सम्यक्त्वाभिमुखः । अत्र 'असुहधुव' त्ति पञ्चत्रिंशतः, स्त्यानर्द्धित्रिकादेर्बन्धाभावात् । 'णरे' त्यादि द्वितीयगाथा । स्याद्बन्धस्तु नानागतिकबन्धकानाश्रित्य बोध्यः । अनन्तगुणाधिकत्वञ्चासां प्रशस्तत्वात् । 'बंधेई' त्याद्युत्तरार्धम्, 'अणतगुणअहिय' मितिपदमिहाऽपि योज्यम्, तत्रानन्तगुणाधिकमनन्तरोक्तादेव हेतोः । नियमाद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाऽभावात् । इमाश्च ताः पञ्चविंशतिः-सातवेदनीयं पञ्चेन्द्रियजातिः प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं समचतुरस्रं प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासनाम्नी त्रसदशकमुच्चैर्गोत्रञ्चेति ॥१६६८-६९॥ अथ तत्रैव सातवेदनीयसत्कमाह—

सायस्स मंदबंधो थिराइजुगलाण तिण्ह अणुभागं । बंधइ सिआ जहण्णं उअ अजहण्णं छठाणगय ॥
जुगलणरसुरुरलविउवदुगवइराण व अणतगुणअहियं । णियमा सगवण्णाए सेसाण असायवज्जाणं ॥
(मूलगाथा–१६७०-७१)

(प्रे०) '**सायस्से**' त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानपरिणामः । '**जुगले**' त्यादि द्वितीय-गाथा । तत्र दुगशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद्धास्य-रति-शोकाऽरतिरूपस्य युगलद्विकस्य मनुष्यद्विक-स्य देवद्विकस्यौदारिकद्विकस्य वैक्रियद्विकस्य चेति । '**व**' त्ति अकारः प्राकृतत्वात्, अयश्च स्या-त्पदवाचकः, स्याद्बन्धस्तु नानागतिकबन्धकानाश्रित्य, युगलद्विकस्य पुनः प्रतिपक्षबन्धसद्भावात् । अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसस्यापरावर्त्तमानपरिणामेन जन्यत्वात् । '**णियमे**' त्याद्युत्तरा-र्धम् । 'अणंतगुणअहिय' मिति पदमिहाऽपि योज्यम् । '**असायवज्जाणं**' ति अयं विशेषणं स्वरूपदर्शकम्, ततश्चोक्तशेषाणां सप्तपञ्चाशतः । अनन्तगुणाधिकत्वमनन्तरोक्तवत् । नियमाद्-बन्धस्तु सुबोधः । असातस्य वर्जनन्तु सातवेदनीयप्रतिपक्षत्वात् । ततः किम् ? सातबन्धे प्रवर्त्तमान एतद्बन्धस्यासम्भवात् ॥१६७० ७१॥

अथ तत्रैवासातवेदनीयादीनां शेषाणाञ्च यथासम्भवमतिदिशति—

एमेव सण्णियासो भवे असायतिथिराइजुगलाणं । सोगारईण अजयव्वोहिव्वऽण्णाण णवरि णेव जिणं ॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१६७२)

(प्रे०) '**एमेवे**' त्यादि, असातवेदनीयादीनां सप्तानां प्रकृतीनामनन्तरोक्तवदेव सन्निकर्षो भवति, कुतः ? स्वामिनोऽविशेषाद् । सातवेदनीयादिवदासामपि जघन्यरसबन्धकस्य परावर्त्तमान-मध्यमपरिणामित्वादिति भावः । '**सोगारईण**' त्यादि, शोकाऽरत्योः सन्निकर्षः '**अजयव्व**' असंयममार्गणावद्भवति, कुतः ? उभयत्र देवमनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धसद्भावात् । नवरमत्र जिननाम न बध्नाति ततश्च वक्ष्यमाणं 'णवरि' इत्यादि अत्रापि संबन्धनीयम् । '**अण्णाणे**' त्यादि, उक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रकृतसन्निकर्षः '**ओहिव्वे**' त्यवधिज्ञानमार्गणावद्भवति, कुतः ? प्रागुक्तादेव हेतोः स्वामि-सादृश्यादिति भावः । किमुक्तं भवति ? यथा तत्र तथैवेहाप्येतज्जघन्यरसबन्धका मिथ्यात्वाभिमुखा इति । '**णवरि**' त्ति अयं विशेषः, आसां जघन्यरसं बध्नन् जिननाम न बध्नाति; कुतः ? प्रस्तुतमार्गणायां तस्य बन्धानर्हत्वात् ॥१६७२॥

अथ सास्वादनमार्गणायां प्रकृतं विभणिषुस्तावदप्रशस्तध्रुवादिसत्कं सापवादमतिदिशन्नाह—

असुहधुवदुवेअजुगलतिरिदुगदेवतिगणीअगोआणं । अभवव्व सासणे खलु णवरं बंधइ ण मिच्छत्तं ॥
(मूलगाथा–१६७३)

(प्रे०) '**असुहे**' त्यादि सगमम् । नवरं '**दु**' शब्दस्य 'वेद-युगल' इत्युभयत्र सम्बन्धाद-शुभध्रुवादयश्चतःपञ्चाशत् प्रकृतयः । सास्वादनमार्गणायां मिथ्यात्वस्य बन्धाभावादुक्तम् '**बंधइ ण मिच्छत्त**' मिति । अभव्यमार्गणावदतिदेशे हेतुस्तूभयत्र स्वस्थानविशुद्ध्यादिना स्वामिनामविशेषा-दिति ॥१६७३॥ अथ तत्रैव सातवेदनीयादिप्रकृतीनां सविशेषमतिदिशन्नाह—

सायसुहागिइसुखगइथिरछक्कुच्चाण होइ णिरयव्व। णवरि अणंतगुणहियं विउव्वियदुगस्स कुणइ सिआ।
मंदसुभ छठाणगयं सिआ सुरतिगस्स ण चउणपुमाई। सायाइचउगबंधी णियमा थीणद्धितिगचउअणाणं॥
(द्वि० गीतिः) (मूलगाथा--१६७४-७५)

(प्रे०) **'साये'** त्यादि, गाथाद्वयं सुगमम्, आसां दशप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको नरके प्रस्तुतमार्गणायाश्च परावर्त्तमानपरिणामीति लाघवार्थमतिदेशं कृतवान् मूलकारः। अत्र यः कश्चिद्विशेषोऽस्ति तं **'णवरी'** त्यादिना सार्धगाथया दर्शयति। वैक्रियद्विकस्य देवद्विकस्य च नरकमार्गणायामबध्यमानत्वेऽपि प्रस्तुते बध्यमानत्वादिदमपवदनम्। मिथ्यात्वादिप्रकृतिचतुष्कस्य निषेधोऽत्र बन्धाभावाद्विज्ञेयः। सातवेदनीयस्थिरशुभयशःकीर्त्तिरूपस्य सातादिचतुष्कस्य सन्निकर्षे स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां बन्धो नियमेन वक्तव्य इत्यपि विशेषो बोध्यः ॥१६७४-७५॥

अथ तत्रैवाऽसातवेदनीयादीनां प्रकृतं दर्शयति—

सायव्व असायअथिरदुगअजसाणं परं ण देवाउं। णरतिगतिरियाऊणं णिरयव्व परं तु ण चउणपुमाई॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१६७६)

(प्रे०) **'सायव्व'** इत्यादि, असातवेदनीयादिप्रकृतिचतुष्कबन्धको देवायुर्नैव बध्नाति, प्रकृतिबन्धविरोधात्। शेषसर्वसन्निकर्षः सातवेदनीयवज्ज्ञातव्यः। **'णरतिगे'** त्यादि, मनुष्यत्रिक-तिर्यगायुःप्रकृतीनां सन्निकर्षो नरकवद् विज्ञातव्यः, किन्तु **'चउणपुमाई'** त्ति नपुंसकवेद-मिथ्यात्व-हुण्डकसंस्थान-सेवार्त्तसंहननानि न बध्नातीत्यपि ज्ञातव्यम्, अस्यां मार्गणायामासामबध्यमानत्वादिति। ॥१६७६॥ अथ तत्रैव वैक्रियद्विकसत्कमाह—

विउव्वदुगमंदबंधी णामाण सठाणगव्व णियमाओ। धुवथीअसायमोगअरइउच्चाणं अणंतगुणअहियं॥
(गीतिः) (मूलगाथा–१६७७

(प्रे०) **'विउवदुवे'** त्यादि, अत्र **'णियमाओ'** इतिपदमुत्तरार्धे सम्बध्यते। **'धुव'** त्ति सप्तत्रिंशतः, नाम्नः पृथगतिदिष्टत्वात्। स्त्रीवेदादीनामपि नियमाद्बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धकस्य संक्लिष्टत्वेनासाश्चाप्रशस्तत्वेन प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धाभावात्, उच्चैर्गोत्रस्य नियमेन बन्धस्तु प्रस्तुतबन्धस्य देवप्रायोग्यत्वात्। अनन्तगुणाधिकत्वमासामप्रशस्तत्वात् ॥१६७७॥

अथ मध्यमसंहननादिसत्कमाह—

मज्झिमसंघयणागिइकुखगइदुहगतिगवइरलहुबंधी। णामाण सठाणव्व उ धुवाण णियमा अणंतगुणअहि॰
मंदसुभ छठाणगयं दुवेअणीआउउच्चगाण सिआ। बंधेइ दुवेअजुगलणीआण अणंतगुणअहियं॥
(मूलगाथा–१६७८-७॰

(प्रे०) **'मज्झिमं'** त्यादि, प्रस्तुतबन्धकः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामः। नामप्रकृतीन स्वस्थानवत्त प्रधानीकृतानां मध्यमसंहनननामादीनां नामप्रकृतित्वात्। **'धुवाण'** त्ति सप्तत्रिंशतः त्रयोदशानां नामप्रकृतीनां कृतातिदेशेऽन्तर्भूतत्वात्, मिथ्यात्वस्य चेह बन्धाभावात्। अनन्तगुणाधिकं तु प्रतीतम्, आसामजघन्यरसस्य विशुद्धया संक्लेशेन वा जायमानत्वात्। **'मंद'** मित्यादि

गतार्थम् । नवरं द्विशब्दस्याऽग्रेऽपि योजनाद् द्वयोर्वेदनीययोर्द्वयोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोः, देवायुष्कस्य प्रकृतिबन्धाविरोधात्, नरकायुषोऽत्र बन्धानर्हत्वाच्च । स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात्, आयुर्बन्धस्य कादाचित्कत्वाच्च । 'बंधेई' त्याद्युत्तरार्धम् । तत्र 'दुवेअ' त्ति स्त्रीपुरुषवेदयोः । दु शब्दस्याग्रेऽपि योजनाद् द्वयोर्हास्यरति-शोकाऽरतिरूपयोर्युगलयोः । अनन्तगुणाधिकत्वमास्ज्जघन्यरसस्य यथासम्भवं सुविशुद्धया तत्प्रायोग्यविशुद्धया वा जन्यत्वात् । 'सिआ' त्ति पदमिहानुवर्त्तते, स्याद्बन्धस्तु प्रतिपक्षप्रकृतिबन्धसद्भावात् ॥१६७८-७९॥ अथ शेषनामप्रकृतिमत्कमाह—

णामाण सठाणव्वऽण्णणामबंधी अणंतगुणअहियं । णियमा कुणइ धुवित्थिअसायअरइसोगणीआणं ॥

(मूलगाथा-१६८०)

(प्रे०) 'णामाणे' त्यादि, 'ऽण्णणामबंधो' त्ति उक्ताऽन्यासां नामप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकः 'णामाण' नामप्रकृतीनां रसं स्वस्थानवद् बध्नाति । 'णियमं' त्याद्युत्तरार्धम् । 'अणंतगुणअहिय' मितिपदमिह योज्यम् । अनन्तगुणाधिकत्वमासां जघन्यरसबन्धस्य विशुद्धया परावर्त्तमानपरिणामेन वा जायमानत्वात् । प्रस्तुतबन्धकस्तु तीव्रसंक्लिष्टः । इह 'धुव' त्ति सप्तत्रिंशतः । इमाश्च ता अन्या नामप्रकृतयः—पञ्चेन्द्रियजातिनामौदारिकद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्ध्यष्टकं पराघातोच्छ्वासनाम्नी उद्योतनाम त्रसचतुष्कञ्चेत्यष्टादश ॥१६८०॥ अथ मिथ्यात्वमार्गणायां प्रकृतं विभणिषुः समानवक्तव्यत्वादज्ञानत्रिकमार्गणावत् सापवादमतिदिशति—

अण्णाणतिगव्व भवे मिच्छे सव्वाण णवरि मिच्छस्स । जत्थऽत्थि सिआ बंधो तहिं से णियमा मुणेयव्वो ॥

(मूलगाथा-१६८१)

(प्रे०) 'अण्णाणं' त्यादि, अतिदेशस्तु जघन्यरसबन्धस्वामिनां किञ्चिद्विसदृशत्वेऽपीह स्वल्पस्यैव विशेषस्य भावात् । 'णवरि' त्ति अयं विशेषः. कोऽसौ ? 'मिच्छस्से' त्यादि, कण्ठ्यम् । कुतोऽयं विशेषः ? प्रस्तुतमार्गणायां प्रथमस्यैव गुणस्थानकस्य सद्भावेन मिथ्यात्वबन्धस्य सान्तरत्वाभावात् ॥१६८१॥ अथाऽसंज्ञिमार्गणायां विभणिषुः सापवादमतिदिशति—

असण्णे होइ असुहधुवदुवेअणीअरइहस्सपुंसाणं । तिथिराइगजुगलाणं मिच्छव्व तिरिव्व सेसाणं ॥
णवरि अणंतगुणहिय थीणद्धितिगऽडकसायमिच्छाणं । णियमाहिन्तो बंधइ सोगारइसंदरसबंधी ॥

(मूलगाथा-१६८२-८३)

(प्रे०) 'असण्णे' इत्यादि, अत्र चकारस्य गम्यमानत्वादशुभध्रुवबन्ध्यादीनां त्रिस्थिरादियुगलानाञ्चेति चतुःपञ्चाशतः । 'मिच्छव्व' त्ति अनन्तरोक्तमिथ्यात्वमार्गणावद्भवति, इह कासाञ्चित् प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्वामिविसदृशत्वेऽप्यतिदेशो विशेषाऽभावात् । तद्यथा-मिथ्यात्वमार्गणायामप्रशस्तध्रुवबन्धिस्त्यानर्द्धिवेदानां जघन्यरसबन्धकः संयमाभिमुखः सुविशुद्धः, इह स्वस्थानविशुद्धस्तथा उभयत्र स देवगतिप्रायोग्यबन्धक इति कृत्वाऽतिदेशे विशेषाभावः । द्विवेदनीययोः स्थिरशुभयशःकीर्त्तिनामास्थिराशुभायशःकीर्त्तिनामरूपाणां त्रिस्थिरादियुगलानां तु जघन्यरसबन्धस्वामिनः

सदृशाः, यथा तत्र तथैवेहाप्येतज्जघन्यरसबन्धः परावर्त्तमानमध्यमपरिणामेन जायत इति भावः । 'तिरिव्व सेसाण'मुक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रस्तुतजघन्यरसबन्धपरस्थानसन्निकर्षस्तिर्यग्गत्योघमार्गणावद्भवति । 'णवरि' त्ति अयं विशेषः । अक्षरार्थः सुगमः । अत्र '5ऽकसाय' त्ति आद्या अष्टौ । भावार्थः पुनरयम्–तिर्यग्गत्योघमार्गणायां शोकारत्योर्जघन्यरसबन्धकः पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती, अतस्तेन स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां बन्धो न क्रियते । प्रकृतमार्गणायान्तु प्रथममेव गुणस्थानकमतः शोकारतिजघन्यरसबन्धकः स्त्यानर्द्धित्रिकादीनां बन्धं नियमात् करोति । रसञ्चानन्तगुणाधिकं बध्नाति. प्रस्तुतबन्धकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वादासाञ्जघन्यरसबन्धस्य च सुविशुद्धया जायमानत्वात्॥१६८२-८३॥

इति गतं जघन्यरसबन्धपरस्थानसन्निकर्षप्ररूपणम्, गते च तस्मिन् समाप्तमिदं परस्थानसन्निकर्षनिरूपणम् ।

॥ अथ स्वस्थानसन्निकर्ष–पूर्त्तिः ॥

उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां नामकर्मणो जघन्यरसस्वस्थानसन्निकर्षमाह—

ओहिव्वऽत्थि उवसमे सव्वाण णवरि अणंतगुणअहिय। सव्वेसिं जिणबंधी ण जिण चउवीससुरअरिहबंधी॥

(मूलगाथा–११८७ B)

(प्रे०) 'ओहिव्वे' त्यादि, उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां बन्धार्हाणां सर्वासां नामकर्मप्रकृतीनां जघन्यरसस्वस्थानसन्निकर्षोऽवधिज्ञानमार्गणावद् भवति । सर्वासामित्यत्र सामान्यनिर्देशः, विशेषस्य 'णवरि' इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् । अथ विशेषमेवाह–'णवरि' इत्यादि, जिननामजघन्यरसबन्धकोऽवधिज्ञानमार्गणायां जिननामजघन्यरसबन्धकेन बध्यमानानां सर्वासां प्रकृतीनां रसमनन्तगुणाधिकं बध्नाति न तु तासां जघन्यादिकमपि । कुतः ? उच्यते,–तासां मध्ये कासाञ्चिद् जघन्यरसो मिथ्यात्वाभिमुखेन परावर्त्तमानानाञ्च स परावर्त्तमानपरिणामेन बध्यते, इह जिननामबन्धको मनुष्यः, स तु न तथा, तस्य स्वस्थानसंक्लिष्टत्वात् । तदपि कुतः ? द्वितीयोपशमसम्यक्त्विन एव जिननामबन्धसद्भावात् । जिननामसत्कर्मणस्तस्य नरकायुःसत्ताभावेन नरकाभिमुखत्वाभावात् तदभावे च तस्य मिथ्यात्वाभिमुखत्वाभाव इति । तथा 'ण जिणं' ति स्थिर-शुभ-यशःकीर्तिवर्जदेवप्रायोग्यचतुर्विंशतिप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धको जिननाम न बध्नाति । कुतः ? उच्यते–प्रस्तुतमार्गणायां मिथ्यात्वाभिमुखस्य तज्जघन्यरसबन्धप्रवर्त्तनात् तस्य च जिननामबन्धायोगादित्युक्तो विशेषः । शेषन्तु सर्वमवधिज्ञानवद् भावनीयम्, कथञ्चित् स्वामिनां साम्यात्, अभिमुखत्वेन स्वस्थानविशुद्धादित्वेन परावर्त्तमानत्वेन श्रेणिगतत्वेन च तेषां तुल्यत्वादिति भावः ॥११८७B॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे नवमं सन्निकर्षद्वारम् ॥

॥ अथ दशमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

एकजीवाश्रयाणि द्वाराणि सप्रपञ्चं निरूप्य नानाजीवाश्रयाण्युत्कृष्टादिरसबन्धभङ्गप्रमुख-प्ररूपणप्रवणानि द्वाराणि वक्तुमना आदौ तावत्क्रमप्राप्तं 'भंगविचयो' इत्यनेनोद्दिष्टं नानाजीवाश्रयं भङ्गविचयद्वारं विवरिषुराह--

> भंगाऽट्ठ बंधगो खलु पढमो दुइओ अबंधगो तइओ ।
> सव्वेवि बंधगा तह सव्वेवि अबंधगा तुरिओ ॥१६८४॥
> एगेण बंधगेणं एगेऽणेगे अबंधगा कमसो ।
> णेगेहि बंधगेहिं सह एवं पंचमाइचऊ ॥१६८५॥
> अत्थ खलु भंगविचये तप्पडिवक्खस्स बंधगा जेऽत्थि ।
> ते च्चिअ अबंधगा खलु णेया तस्स अणुभागस्स ॥१६८६॥

(प्रे०) 'भंगा' इत्यादि, भङ्गाः-विकल्पाः, ते चैकद्वयादिसंयोगनिष्पन्ना वस्तुविकल्पैरनेकधा ग्रन्थान्तरेषु दृश्यन्ते तथाऽवसेयाः । अत्र तु रसबन्धस्य प्रस्तुतत्वाद् उत्कृष्टादिरसानामेकानेकादिबन्धकापेक्षया चिन्त्यमाना अष्टावभिप्रेता अत उक्तम् 'अट्ठ' इति । अथ तानेव क्रमतः स्वरूपतश्चाह-'बंधगो खलु पढमो' अत्रैकवचनस्योपादानात् खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वाच्च 'एको बन्धक एवे' ति प्रथमो भङ्गः । यदा हि विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टादिरसस्य कश्चिदेको बन्धक एव विद्यते, न पुनरन्यस्तद्बन्धकस्तदबन्धको वा तदाऽयं प्रथमो भङ्गो भवति ।

'दुइओ अबंधगो' त्ति 'एकोऽबन्धक एवे' ति द्वितीयो भङ्गः । उत्कृष्टादिविवक्षितरसस्य एकोऽबन्धक एव यदा विद्यते तदा अयं भङ्गो लभ्यते, न तु यदा विवक्षितरसस्यान्योऽबन्धको विरुद्धरसबन्धको वा तदापि । 'सर्वे बन्धका एवे' ति तृतीयो भङ्गः । न पुनः केचिदऽबन्धका इत्यबन्धकव्यवच्छेदपरोऽपिशब्दः । 'सर्वेऽबन्धका एवे' ति चतुर्थो भङ्गः । अथ पञ्चमादिभङ्गकानाह-'एगेणे' त्यादिना, एकेन बन्धकेन सह क्रमेणैकोऽबन्धकः अनेकेऽबन्धका अनेकैर्बन्धकैः सह एकोऽबन्धकः अनेकेऽबन्धका एवंरूपाः पञ्चमादयोऽष्टमान्ताश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति । तद्यथा-'एको बन्धक एकोऽबन्धकश्चे' ति पञ्चमो भङ्गः । 'एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धकाश्चे'-ति षष्ठो भङ्गः । 'अनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक' इति सप्तमः । अष्टमो भङ्गस्तु 'अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका' इतिलक्षणः ।

अथ द्वितीयादिभङ्गोक्ताऽबन्धकस्वरूपं निर्धारयन्नाह-'अत्थे' त्यादिना, विवक्षितोत्कृष्टादिरसप्रतिपक्षभूतस्यानुत्कृष्टादिरसस्य बन्धका अत्राऽबन्धकत्वेन विज्ञेयाः, न तु सर्वथा अब-

न्धका इति । अत्रार्थे विशेषार्थिना अस्मत्सहाध्यायिना मुनिमतल्लिकेन **श्रीजयशेखरविजयेन विवृत्तस्य मूलप्रकृतिरसबन्धग्रन्थस्य** त्रयोविंशत्युत्तरत्रिशततमादिगाथा (३२३-३२४-३२५) सत्कविवृत्तिर्विलोकनीयेति ॥१६८४-८६॥

भङ्गाष्टकस्वरूपादि प्रदर्श्याल्पवक्तव्यत्वात् प्रथमतस्तावदायुष्कत्रिकस्योत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं शेषैकविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनाञ्चोत्कृष्टरसबन्धस्य भङ्गानाह —

णिरयणरसुराऊणं तिव्वियररसस्स अत्थि अडभंगा ।
तिव्वरसस्सियरेसिं चउत्थछट्ठऽट्ठमा भंगा ॥१६८७॥

(प्रे०) '**णिरयणर०**' इत्यादि, नरकायुर्मनुष्यायुर्देवायुरिति त्रयाणामायुषाम् प्रत्येकं '**तिव्व**' त्ति उत्कृष्टरसबन्धस्य '**इयर**' त्ति अनुत्कृष्टरसबन्धस्य चाऽष्टौ भङ्गाः, कुतः ? नानाजीवानाश्रित्य तत्प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वात् । ततः किम् ? विवक्षितोत्कृष्टादिरसस्य एकादेरपि बन्धकस्योपलम्भात् । तथा '**इयरेसिं**' ति इतरासामुक्तातिरिक्तानामेकविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनामित्यर्थः, उत्कृष्टरसबन्धस्य चतुर्थः षष्ठः अष्टम इति त्रय एव भङ्गाः । कुतः ? उत्कृष्टरसबन्धकानां संज्ञित्वेन तेषां चासंख्येयलोकेभ्योऽत्यल्पत्वेनोत्कृष्टरसबन्धस्थानस्यैकत्वेन चोत्कृष्टरसबन्धकानां कादाचित्कत्वादुत्कृष्टरसस्य सर्वेऽबन्धकाः, एकबन्धकोऽनेके चाबन्धकाः, अनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इतिरूपं भङ्गत्रयं प्राप्यते । यदि उत्कृष्टरसबन्धका जघन्यरसबन्धका वाऽसंख्येयलोकमिता अनन्ता वा भवेयुः तर्हि एव ते सर्वदा प्राप्येरन्निति । अष्टभङ्गानां विशेषभावनादयोऽन्यत्रानेकशः प्ररूपितत्वान्नात्र प्रपञ्च्यन्ते ॥१६८७॥ अथ गाथार्द्धेनाऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य भङ्गान् दर्शयति—

अगुरुरसस्स हवन्ते तिण्णि तइअसत्तमऽट्ठमा भंगा ।

(प्रे०) '**अगुरु०**' इत्यादि, त्रयाणामायुषामनुत्कृष्टरसबन्धस्य भङ्गानामनन्तरोक्तगाथापूर्वार्द्धेन उक्तत्वात् 'इयरेसिं' इतिपदमत्रापि अनुवर्तते । तेन एकविंशत्युत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः, उत्कृष्टरसबन्धकानां कादाचित्कत्वात् , प्रस्तुतरसबन्धकानां सर्वदोपलम्भाच्चेति । ओघत उत्कृष्टरसबन्धस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य च भङ्गान् प्रदर्श्य मार्गणासु तयोर्भङ्गान् प्रदिदर्शयिषुरादौ तावदपर्याप्तमनुष्यादिनवसान्तरमार्गणासु सप्तकर्मणां सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां तान् दर्शयति —

उक्कोसियररसाणं अडभङ्गा आउवज्जाणं ॥१६८८॥
असमत्तणरे विक्कियमीसे आहारदुगअवेएसु ।
तह सुहुमसंपराये उवसम-सासाण-मीसेसु ॥१६८९॥

(प्रे०) '**उक्कोस०**' इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यः वैक्रियमिश्रकाययोग आहारककाययोगः तन्मिश्र-

काययोगः अवेदमार्गणा सूक्ष्मसम्पराय उपशमसम्यक्त्वं सास्वादनं मिश्रसम्यक्त्वमिति नवसु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धस्या-ऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य चाष्टावपि भङ्गाः, कुतः ? मार्गणानां सान्तरत्वात्, ततः किम् ? विवक्षितमार्गणायां विवक्षितप्रकृतेरुत्कृष्टादिरसस्यैका-देरपि बन्धकस्य संभवात् ॥१६८८-८९॥

अथ अष्टमभङ्गकासु सकलैकेन्द्रियादिद्वात्रिंशन्मार्गणास्वाह—

अट्ठमभंगोऽत्थि सयलएगिंदि-णिगोअ-सेससुहमेसुं ।
अपमत्तबायरचउगपत्तेअवणेसु वणकाये ॥१६९०॥

(प्रे०) 'अट्ठम०' इत्यादि, सप्त एकेन्द्रियभेदाः, 'णिगोअ' त्ति 'सयल' इतिशब्दस्या-भिसम्बन्धात् सप्त निगोदभेदाः साधारणवनस्पतिकायभेदा इत्यर्थः । 'सेस' त्ति पृथ्व्यादिकाय-चतुष्कस्य द्वादश सूक्ष्मसत्कभेदा अपर्याप्तबादरपृथ्वीकायः अपर्याप्तबादरप्काय: अपर्याप्तबादरतेजः-कायः अपर्याप्तबादरवायुकायः अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः 'वणकाये' त्ति वनस्पतिकायौघ इति सर्वसंख्यया द्वात्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं बन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनामष्टमो भङ्गः, उत्कृष्टानु-त्कृष्टरसबन्धयोरित्यनुवर्तते, तत्रोत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयलोकामितत्वात् साधारणवनस्पतिकायौघा-दिमार्गणासु च तेषामनन्तत्वात् । तथामति अनुत्कृष्टरसबन्धकानान्तु प्रतीतमेवाऽसंख्येयलोकादि-मितत्वमिति । ततः किम् ? अनेके बन्धका अनेके चाबन्धका इतिरूपोऽष्टम एक एव भङ्गः प्राप्यत इति ॥१६९०॥ अथ मार्गणात्रये प्राप्तातिप्रसङ्गं परिहरति—

णवरं एगिंदिय-तब्बायर-पज्जत्तबायरेसुं तु ।
बोद्धव्वा तितिभंगा ओघव्वुज्जोअणामस्स ॥१६९१॥

(प्रे०) 'णवर' मित्यादि, एकेन्द्रियौघः बादरैकेन्द्रियः पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय इति तिसृषु मार्ग-णासु प्रत्येकमुद्योतनाम्न उत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोरोघवत् त्रयस्त्रयो भङ्गा बोद्धव्याः, कोऽर्थः ? उत्कृष्टरसबन्धस्य चतुर्थः षष्ठः अष्टम इति त्रयो भङ्गा ज्ञेयाः । अनुत्कृष्टरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमो-ऽष्टम इति न केवलमष्टमो भङ्ग इत्यर्थः, कुतः ? प्रस्तुतासु तिसृषु मार्गणासूद्योतनाम्न उत्कृष्टरस-बन्धकाः पर्याप्तबादरतेजोवायुकायजीवाः, तेषामुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयलोकेभ्योऽल्पतरत्वेन तदुत्कृष्टरस-बन्धकानां कादाचित्कत्वात् कदाचित्तद्बन्धकानां सर्वथाप्यनुपलम्भ इति ॥१६९१॥

अथ छेदोपस्थापनीयपरिहारमार्गणयोराह—

छेए तह परिहारे सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
सव्वपयडीण भंगा सयं च्च णाऊण विण्णेया ॥१६९२॥

(प्रे०) 'छेए' इत्यादि, छेदोपस्थापनीयमार्गणायाम्, परिहारविशुद्धिचारित्रमार्गणायाञ्च

स्वप्रायोग्याणां सर्वप्रकृतीनामष्टषष्टेः प्रकृतीनामित्यर्थः उत्कृष्टरसबन्धानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं भङ्गाः 'सयं च्च' स्वयमेव ज्ञात्वा विज्ञेयाः, किमुक्तं भवति ? अत्रार्थे माध्यस्थ्यं प्रकटितं मूलकारेण, तद्बीजं तु एतद्-यदि विवक्षितमार्गणायामेकादिरपि जन्तुः कदाचित् प्राप्यते तर्हि सूक्ष्मसंपरायचारित्रवदष्टावपि भङ्गा विज्ञेयाः । यदि संख्येया एव इत्येवं संभाव्यते तर्हि उत्कृष्टरसबन्धस्य ओघवच्चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयः, अनुत्कृष्टरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रय एव भङ्गाः । अन्यप्रकारेण वा यथागमं प्रस्तुतमार्गणाद्वयं विभावनीयम् ॥१६९२॥ अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह–

अण्णह ओघव्व णवरुरलमीसे कम्मणे अणाहारे ।
सुर-विउवदुग-जिणाणं तिव्वियररसाण अडभंगा ॥१६९३॥

(प्रे०) 'अण्णह' इत्यादि, अन्यत्र–उक्तशेषासु सप्तविंशत्युत्तरशतलक्षणासु मार्गणासु इत्यर्थः, सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां प्रत्येकं 'तिव्व' त्ति उत्कृष्टरसबन्धस्य 'इयर' त्ति अनुत्कृष्टरसबन्धस्य च भङ्गा ओघवत् त्रयस्त्रयो वाच्याः, कुतः ? मार्गणानां निरन्तरत्वेऽपि उत्कृष्टरसबन्धकानां कादाचित्कत्वात् । कुत एवमिति चेत् ? उच्यते, अष्टौ नरकमार्गणाः, तिर्यग्गत्योघवर्जाश्चतस्रः तिर्यग्गतिमार्गणाः, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामुक्तत्वात् तिस्रो मनुष्यमार्गणाः, त्रिंशद्देवभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तबादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचनयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगः, स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः मत्यादिज्ञानचतुष्कम्, विभङ्गज्ञानम्, संयमौघः, सामायिकचारित्रम्, देशविरतिः, चक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनम्, तिस्रः प्रशस्तलेश्याः, सम्यक्त्वौघः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम्, क्षायिकसम्यक्त्वम्, संज्ञीति पञ्चनवतौ मार्गणासु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात्, तथा तिर्यग्गत्योघः पृथ्वीकायौघः बादरपृथ्वीकायः अप्कायौघः बादराप्कायः तेजस्कायौघः बादरतेजस्कायः वायुकायौघः बादरवायुकायः प्रत्येकवनस्पतिकायौघः काययोगौघः औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगः नपुंसकवेदः चत्वारः कषाया अज्ञानद्विकमसंयमोऽचक्षुर्दर्शनमप्रशस्तलेश्यात्रिकं भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञ्याहार्यनाहारीति द्वात्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं जीवानामनन्तत्वेऽसंख्येयलोकमितत्वेऽपि चोत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । अथात्रैव विशेषं दर्शयति- 'णवर' मित्यादिना, औदारिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगः अनाहारिमार्गणेति मार्गणात्रिके प्रत्येकं देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः न त्वोघवत् त्रय एवेति, कुतः ? प्रस्तुतमार्गणासु देवद्विकादिबन्धकानां सम्यग्दृष्टित्वेन तेषामिह कादाचित्कत्वेन च तत्प्रकृतिबन्धस्य कादाचित्कत्वात् एकादिरपि तद्बन्धकः प्राप्यते इत्यत्र अपर्याप्तमनुष्यमार्गणावदष्टावपि भङ्गा भवन्ति । इति दर्शिता मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकं भङ्गाः ॥१६९३॥

अथ मार्गणासु आयुषामुत्कृष्टरसबन्धस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्य च भङ्गान् दर्शयति—

सव्वणिरय-पंचिंदियतिरिक्ख-माणुस्स-देवभेएसुं ।
सव्वेसुं विगलिंदिय-पणिंदि-तसकायभेएसुं ॥१६९४॥
पज्जगपत्तेअवणे बायरपज्जपुहवाइचउगम्मि ।
पणमणवय-विउवाहारदुग-पुमित्थि-चउणाणेसुं ॥१६९५॥
विब्भंग-संजमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
णयणोहि-तिसुहलेसा-सम्म-खइअ-वेअगेसुं च ॥१६९६॥
सासायण-सण्णीसुं उक्कोसेयररसाण अडभंगा ।
सप्पाउग्गाऊणं ओघव्व हवेज्ज सेसासुं ॥१६९७॥

(प्रे०) 'सव्वणिरय०' इत्यादि 'सव्वे' तिशब्दस्य सर्वत्राभिसम्बन्धात् सर्वे नरकभेदाः ते चाऽष्टौ, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः ते च चत्वारः, सर्वे मनुष्यभेदाः तेऽपि चत्वारः, सर्वे देवभेदाः ते च त्रिंशत्, सर्वे विकलेन्द्रियभेदास्ते च नव, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदास्ते च त्रयः, सर्वे त्रसकायभेदास्तेऽपि त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकायाऽपर्याप्तत्रसकायरूपास्त्रयः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, पर्याप्तबादरपृथ्वीकायः, पर्याप्तबादराप्कायः, पर्याप्तबादरतेजस्कायः, पर्याप्तबादरवायुकायः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचनयोगाः, वैक्रियकाययोगः, आहारककाययोगस्तन्मिश्रकाययोगः, पुरुषवेदः, स्त्रीवेदः, मत्यादिज्ञानचतुष्कम्, विभङ्गज्ञानम्, संयमौघः, सामायिकचारित्रम्, छेदोपस्थापनीयचारित्रम्, परिहारविशुद्धिकम्, देशविरतिः, चक्षुर्दर्शनम्, अवधिदर्शनम्, तिस्रः शुभलेश्याः, सम्यक्त्वौघः, क्षायिकसम्यक्त्वम्, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम्, सास्वादनम्, संज्ञीति सर्वसंख्ययैकोत्तरशतमार्गणासु 'सप्पाउग्गाऊणं' ति तत्तन्मार्गणासु बन्धयोग्यानामायुषाम् 'उक्कोसेयररसाण' त्ति उत्कृष्टरसबन्धस्या-ऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य च प्रत्येकं 'अडभंगा' त्ति अष्टौ भङ्गाः, आयुर्बन्धकानां कादाचित्कत्वात्। तथा 'सेसासु' ति उक्तशेषासु तिर्यग्गत्योघः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः,पृथ्वीकायौघः, अप्कायौघः, तेजस्कायौघः, वायुकायौघः, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य सर्वे सूक्ष्मसत्कभेदास्ते च द्वादश, बादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, अपर्याप्तबादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम्, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायवर्जाः दश वनस्पतिकायमार्गणाः, काययोगौघ औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अज्ञानद्विकम्, असंयमः, अचक्षुर्दर्शनम्, तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः, भव्योऽभव्यः, मिथ्यात्वम्, असंज्ञी, आहारीति द्वापष्टौ मार्गणासु प्रत्येकं स्वप्रायोग्याणां तत्र तत्र बन्धार्हाणामित्यर्थः आयुषामुत्कृष्टरसबन्धस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धस्य च प्रत्येकं भङ्गा ओघवद् भवन्ति, तद्यथा—देवनरकमनु-

ष्यायुर्भ्यो बध्यमानायुषामष्टौ भङ्गाः, नानाजीवानप्याश्रित्य तत्प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वेनोत्कृष्टादिरसस्य एकादेरपि बन्धकस्योपलम्भात् । तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धस्य चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयः, अनुत्कृष्टरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति, प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयलोकमितत्वेनाऽनन्तत्वेन वा तिर्यगायुर्बन्धकानां नैरन्तर्येणोपलम्भात् । अथ कस्यां मार्गणायां जीवा असंख्येयलोकमिताः कस्यां चानन्ता इत्यादि तु वक्ष्यमाणपरिमाणद्वारे एव स्फुटीभविष्यति, प्रागनेकशो निरूपितत्वात् स्फुटतरमेव वा ॥१६९४-१६९७॥

अथ जघन्याऽजघन्यरसबन्धयोर्भङ्गान् दिदर्शयिषुरादौ तावदोघतस्तान् दर्शयति--

णिरयसुरतिगणराऊ विणाऽत्थि जाण परियत्तपरिणामो ।
सिं अट्ठमोऽत्थि भंगो मंदियराण अणुभागाणं ॥१६९८॥
सेसाणं पयडीणं भंगा मंदयराणुभागाण ।
जहकमसो विण्णेया उक्कोसियराणुभागव्व ॥१६९९॥

(प्रे०) 'णिरयसुर०' इत्यादि, नरकत्रिकादीनां भङ्गानिहैवातिदिश्यमानत्वात् साताऽसाते, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, यशःकीर्त्ययशःकीर्ती, सूक्ष्मत्रिकम्, विकलत्रिकम्, मनुष्यद्विकम्, उच्चैर्गोत्रम्, संहननषट्कम्, संस्थानषट्कम्, खगतिद्विकम्, सुभगत्रिकम्, दुर्भगत्रिकम्, एकेन्द्रियजातिः, स्थावरनाम, तिर्यगायुरिति नरकत्रिकादिमप्तप्रकृतिवर्जानां यासां चत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः तासां 'मंदियराण' त्ति जघन्यरसबन्धस्याऽजघन्यरसबन्धस्य च प्रत्येकमनेके बन्धका अनेके चाबन्धका इतिरूपोऽष्टमो भङ्गः, कुतः ? अनन्तानां निगोदजीवानामपि तद्बन्धकत्वात्, यत्र जीवानामानन्त्यं तत्र परावर्तमानपरिणामेन जघन्यरसबन्धानामष्टम एक एव भङ्ग इति भावः । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणा चतुरशीतेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्य भङ्गा उत्कृष्टरसबन्धभङ्गवद्विज्ञेयाः । कुतः ? उत्कृष्टरसबन्धकानामिव जघन्यरसबन्धकानामप्यसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । अजघन्यरसबन्धस्य च तेऽनुत्कृष्टरसबन्धभङ्गवद् विज्ञेयाः । कुतोऽनुत्कृष्टरसबन्धवत् ? उच्यते, अजघन्यरसबन्धकानामपि सर्वदा कदाचिद् वा प्राप्यमाणत्वात् । अथ कासां प्रकृतीनां कियन्तो भङ्गाः ? तदेव दर्शयामः--देवनरकमनुष्यायुषां जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः, नानाजीवानप्याश्रित्य तत्प्रकृतिबन्धस्य सान्तरत्वेन विवक्षितजघन्यादिरसस्यैकादेरपि बन्धकस्योपलम्भात् । तथा एकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यः, हास्यरती, शोकारती, त्रयो वेदाः, तिर्यग्द्विकम्, नरकद्विकम्, देवद्विकम्, पञ्चेन्द्रियजातिः, औदारिकद्विकम्, वैक्रियद्विकम्, आहारकद्विकम्, पराघातोच्छ्वासौ, आतपनाम, उद्योतनाम, जिननाम, त्रसचतुष्कम्, नीचैर्गोत्रमिति सर्वसंख्यया एकाशीतेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य कदाचित् 'सर्वेऽबन्धका' इतिरू-

पञ्चतुर्थः कदाचिदेको बन्धकोऽनेके चाऽबन्धका इतिरूपः षष्ठः,कदाचिदनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इतिरूपोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः,जघन्यरसबन्धकानां पञ्चेन्द्रियत्वात् पञ्चेन्द्रियाणामसंख्येयलोकेभ्यो-ऽल्पत्वेन जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकत्वेन च जघन्यरसबन्धकानां कादाचित्कत्वात् । तथाऽत्रोक्ताना-मेकाशीतेरपि प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धस्य कदाचित् 'सर्वे बन्धकाः' इतिरूपस्तृतीयः कदाचिदनेके बन्धका एकश्चाऽबन्धक इतिरूपः सप्तमः कदाचिदनेके बन्धका अनेके चाऽबन्धका इतिरूपोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः,जघन्यरसबन्धकानां कादाचित्कत्वात् प्रस्तुतरसबन्धकानां सर्वदोपलम्भाच्च। १६९८-९९॥

ओघतो जघन्याऽजघन्यरसबन्धयोर्भङ्गान् प्रदर्श्य मार्गणासु तयोस्तान् दर्शयति—

सप्पाउग्गाण दुविहरसाण ओघव्व आउवज्जाणं ।
तिरि-कायोरालियदुग-कम्म-णपुं-चउकसायेसुं ॥१७००॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खुदंसण-तिअसुहलेसासुं ।
भवियेयरमिच्छेसुं असण्णिआहारगियरेसुं ॥१७०१॥
णवरि उरालियमीसे कम्मणजोगे तहा अणाहारे ।
सुरविउवदुगजिणाणं मंदियररसाण अडभंगा ॥१७०२॥

(प्रे०) 'सप्पाउग्गाण' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, औदारिक-मिश्रकाययोगः, कार्मणकाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अज्ञानद्विकम्, अयतमार्गणा, अचक्षुर्दर्शनम्, तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः, भव्यः, अभव्यः मिथ्यात्वम्, असंज्ञी, आहारी, अनाहारीति त्रयोविंशतौ मार्गणासु 'सप्पाउग्गाण' त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणाम् 'आउवज्जाणं' ति आयुर्व-र्जानां प्रकृतीनाम्, आयुषां पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् । 'दुविहरसाण' त्ति जघन्याजघन्यरसबन्धयो-र्भङ्गा इति गम्यते, ओघवद् भवन्ति तद्यथा—देवद्विकनरकद्विकवर्जानां परावर्तमानपरिणामेन बध्य-मानजघन्यरसानां जघन्याऽजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकमष्टमो भङ्गः, उक्तमार्गणासु जीवानामान-न्त्यात् । शेषाणां स्वस्थानादिविशुद्ध्यादेर्बध्यमानजघन्यरसानामित्यर्थः, देवनरकद्विकयोश्च जघन्य-रसबन्धस्य चतुर्थः, षष्ठोऽष्टमः, अजघन्यरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रयस्त्रयो भङ्गाः । अथ कस्यां मार्गणायां कासां प्रकृतीनामेकोऽष्टम एव भङ्गः कासाञ्च चतुर्थादयस्त्रयः ? तदेव भाव-यामः-तिर्यग्गत्योघमार्गणायां जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां सातवेदनी-यादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतश्च जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकमष्टम एव भङ्गः, तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । ततः किम् ? अनन्तानां निगोदाना-मपि तद्बन्धकत्वात् । तथा-ऽऽहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धानर्हत्वात् शेषाणामष्टसप्ततेर्जघन्यरस-बन्धस्य चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः, तन्निर्वर्तकानामसंख्यलोकेभ्यो न्यूनतरसंख्याकत्वेन

कादाचित्कत्वात् । अजघन्यरसबन्धस्य तु तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रयः, तन्निर्वर्तकानां सर्वदोपलम्भात् ।

काययोगौघमार्गणायामौदारिक-काययोगमार्गणायाश्च सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतश्च जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकमष्टम एक एव भङ्गः । शेषाणामेकाशीतेर्जघन्यरसबन्धस्याऽजघन्यरसबन्धस्य च प्रत्येकं तिर्यग्गत्योघवत् त्रयस्त्रयो भङ्गाः ।

औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामष्टानां सातवेदनीयादीनामेकत्रिंशतो मनुष्यद्विकादीनां त्रसनाम पञ्चेन्द्रियजातिः बादरत्रिकमिति पञ्चानाश्च जघन्याऽजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकमेकोऽष्टमो भङ्गः, तज्जघन्यरसस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामेन बध्यमानत्वात् । तथा देवद्विकादीनां पञ्चानामिहैव वक्ष्यमाणत्वात् नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोरत्र बन्धाभावात् शेषाणां सप्तषष्टेर्जघन्यरसबन्धस्य चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः, तन्निर्वर्तकानां कदाचित् अनुपलम्भात् ,अनुपलम्भे इह हेतुः पूर्ववत् । तासामजघन्यरसबन्धस्य तु तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रयः, तन्निर्वर्तकानां सर्वदा प्राप्यमाणत्वात् । इतस्तु कस्यां मार्गणायां कासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः कासाञ्च स्वस्थानादिविशुद्धादिरित्येतदेव दर्शयामः, तेन किमिति चेत् ? , उच्यते, देवद्विकनरकद्विकवर्जानां यासां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामस्तासामष्टमो भङ्गो, यासाञ्च स्वस्थानविशुद्धादिस्तासां चतुर्थादयस्त्रयस्त्रय इति ।

अथ प्रकृतम्--कार्मणकाययोगमार्गणायाम् अनाहारिमार्गणायाञ्च सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतश्च जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः । नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोरत्र बन्धाभावात् देवद्विकादिपञ्चानामपवदिष्यमाणत्वात् शेषाणां द्वासप्ततेर्जघन्यरसबन्धकः स्वस्थानविशुद्धादिः ।

नपुंसकवेदमार्गणायां चतसृषु कषायमार्गणासु अचक्षुर्दर्शने भव्यमार्गणायां आहारिमार्गणायाम् , च प्रत्येकं सातवेदनीयादीनामष्टानां मनुष्यद्विकादीनां चैकत्रिंशतो जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः । शेषाणामेकाशीतेः स्वस्थानविशुद्धादिः । यद्यप्यत्र देवद्विक-नरकद्विकयोः परावर्तमानपरिणामः तथापि त्रयोविंशतिमार्गणासु भङ्गत्रयं ज्ञातव्यम् ।

द्व्यज्ञानमार्गणयोः मिथ्यात्वमार्गणायाश्चाष्टानां सातवेदनीयादीनामेकत्रिंशतश्च मनुष्यद्विकादीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः । तथाऽऽहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावात् शेषाणाम् अष्टसप्ततेः स्वस्थानादिविशुद्धादिः । देवनरकद्विकयोः पूर्ववत् ।

अयतमार्गणायमप्रशस्तलेश्यात्रिके च सर्वमनन्तरोक्तवद् । नवरं शेषाणां नवसप्ततेरिति वाच्यम् , जिननाम्नो बन्धसद्भावात् ।

असंज्ञिमार्गणायामभव्यमार्गणायाश्च सातवेदनीयादीनामष्टानामेकत्रिंशतश्च मनुष्यद्विकादीनां

जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानमध्यमपरिणामः । आहारकद्विकजिननाम्नोरत्र बन्धाभावात् शेषाणामष्टसप्ततेः स्वस्थानविशुद्धादिः । अत्राऽपि देवद्विकनरकद्विकयोः पूर्ववत् ।

अथात्रैव कश्चिद् विशेषं दर्शयति मूलकारः 'णवरि' इत्यादिना, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां कार्मणकाययोगमार्गणायामनाहारिमार्गणायाञ्चेति मार्गणात्रिके देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानां 'मंदियररसाण'त्ति जघन्यरसबन्धस्याजघन्यरसबन्धस्य चाष्टौ भङ्गा वाच्याः । किमुक्तं भवति ? ओघवज्जघन्याजघन्यरसबन्धयोस्त्रयस्त्रयो भङ्गा ये प्रागतिदिष्टास्ते न वाच्याः, कुतः ? सम्यग्दृशामेव तद्बन्धकत्वेन मार्गणायां सम्यग्दृशां सान्तरत्वेन च तत्प्रकृतिबन्धकानां कादाचित्कत्वात् । ततः कार्मणाऽनाहारिमार्गणयोः शेषाणां द्विसप्ततेरेव त्रयस्त्रयो भङ्गा वाच्याः, न तु सप्तसप्ततेरिति ॥१७००-२॥ अथैकेन्द्रियौघादित्रिमार्गणास्वाह—

> एगिंदिय-तब्बायर-तप्पज्जत्तेसु होइ ओघव्व ।
> तिरियजुगलणीआणं सेसाणं अट्ठमो भंगो ॥१७०३॥

(प्रे०) 'एगिंदिय०' इत्यादि, एकेन्द्रियौघः 'तब्बायर' त्ति बादरैकेन्द्रियः 'तप्पज्जत्त' त्ति पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय इति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां जघन्याजघन्यरसबन्धयोर्भङ्गा ओघवद् वाच्याः, तद्यथा–जघन्यरसबन्धस्य चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः, कुतः ? बादरपर्याप्ततेजोवायुकायिकानामेव तन्निर्वर्तकत्वात् तेषाञ्चासंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । अजघन्यरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रयः । तथा 'सेसाणं' ति देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननामरूपाणां नवानामत्र बन्धानर्हत्वात् शेषाणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धस्याजघन्यरसबन्धस्य चाऽष्टम एक एव भङ्गः, अनन्तानां निगोदानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् ॥१७०३॥

अथ पृथ्वीकायौघादिमार्गणासु जघन्याजघन्यरसबन्धयोर्भङ्गान् दर्शयति—

> पुढवीदगतेउअणिलबायरपुढविदगतेउवाऊसुं ।
> पत्तेअवणे हवए तेसिं खलु अट्ठमो भंगो ॥१७०४॥
> मज्झिमपरिणामो खलु सामी जाण इयराण ओघव्व ।
> सेसासुं सव्वेसिं कमसो तिव्वेयररसव्व ॥१७०५॥

(प्रे०) 'पुढवी' त्यादि, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य चत्वार ओघसत्कभेदाः, तस्यैव चत्वारो बादरौघभेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघश्च इति नवसु मार्गणासु प्रत्येकं 'जाण' त्ति यासां प्रकृतीनां 'सामी' त्ति जघन्यरसबन्धस्वामी 'मज्झिमपरिणामो' त्ति परावर्तमानमध्यमपरिणामः तासां जघन्यरसबन्धस्वामित्वप्रकृतिसङ्ग्रहगाथोक्तानां सातवेदनीयादीनां द्विचत्वारिंशतः त्रसनाम पञ्चे-

न्द्रियजातिः बादरत्रिकम् इति पञ्चानाम्चेति सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्याजघन्यरसबन्धस्य च प्रत्येकमेकोऽष्टम एव भङ्गः, मार्गणागतानामसंख्येयलोकप्रमितानां जीवानां तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । नवरमत्र तेजोवायुकायसत्के मार्गणाद्विके एकचत्वारिंशत एव अष्टमो भङ्गो वाच्यः, मनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रयोस्तथास्वाभाव्येनाऽत्र बन्धाभावात् तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोस्तु प्रतिपक्षप्रकृत्यभावेन तज्जघन्यरसबन्धकस्य परावर्तमानमध्यमपरिणामत्वाभावात् । तथा 'इयराण'त्ति इतरासां देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विका-ऽऽहारकजिननामरूपाणां नवानामत्र बन्धानर्हत्वात् उक्तातिरिक्तानां चतुःषष्टेः प्रकृतीनां तेजोवायुकायमार्गणासु तु सप्तषष्टेः प्रकृतीनां जघन्याजघन्यरसबन्धभङ्गा ओघवद् भवन्ति, कुतः ? जघन्यरसबन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वात् । अथौघवदेव दर्शयामो भङ्गान्–जघन्यरसबन्धस्य चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः, अजघन्यरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रयः । तथा 'सेसासु'त्ति उक्तशेषासु पञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु 'सव्वेसिं' ति तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणामशेषाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य भङ्गाः 'तिव्व' त्ति उत्कृष्टरसबन्धवत् , अजघन्यरसबन्धस्य च ते 'इयर' त्ति अनुत्कृष्टरसबन्धवज् ज्ञेयाः, कुतः ? यत्रोत्कृष्टरसबन्धका अनन्ता असंख्येयलोकमितास्ततो न्यूना वा तत्र जघन्यरसबन्धका अपि तावन्त एव । एवं यत्र उत्कृष्टरसबन्धः कादाचित्कस्तत्र जघन्यरसबन्धोऽपि तथा, एवमेव यथा अनुत्कृष्टरसबन्धकाः सर्वदा बहुलकाश्च प्राप्यन्ते तथाऽजघन्यरसबन्धका अपि । अथ उत्कृष्टादिरसबन्धभङ्गवद् यथा भङ्गा भवन्ति तथैव भावयामः,–तत्र अपर्याप्तमनुष्यः, वैक्रियमिश्रकाययोगः, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाययोगः, अवेदमार्गणा, सूक्ष्मसंपरायचारित्रम् , उपशमसम्यक्त्वम् , सास्वादनम् , मिश्रसम्यक्त्वमिति नवसु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धयोग्यानां प्रकृतीनां जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः, मार्गणानां सान्तरत्वेन जघन्यादिरसबन्धकस्यैकादेरपि संभवात् । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियः, पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः, अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः, सप्त निगोदभेदाः, पृथ्व्यादिकायचतुष्कस्य सूक्ष्मसत्कभेदा द्वादश, अपर्याप्तबादरपृथ्व्यादिकायचतुष्कम् , अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, वनस्पतिकायौघ इति सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकमष्टमो भङ्गः, जघन्यरसबन्धकानामसंख्येयलोकमितत्वात् अनन्तत्वाद् वा । छेदोपस्थापनीयचारित्रम् परिहारविशुद्धिचारित्रमिति मार्गणाद्विके सर्वासां प्रकृतीनां जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं भङ्गा उत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धवत् स्वयमागमानुसारेणाभ्यूह्याः । तथाऽष्टौ नरकभेदास्तिर्यग्गत्योघवर्जाश्चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, तिस्रो मनुष्यमार्गणाः, त्रिंशद्देवभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, तिस्रः पञ्चेन्द्रियमार्गणाः, पर्याप्तबादरपृथ्वीकायः, पर्याप्तबादराप्कायः, पर्याप्तबादरतेजःकायः, पर्याप्तबादरवायुकायः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगः, स्त्रीवेदः,

पुरुषवेदः, मत्यादिज्ञानचतुष्कम्, विभङ्गज्ञानम्, संयमौघः, सामायिकचारित्रम्, देशविरतिः, चक्षुर्दर्शनम्, अवधिदर्शनम्, प्रशस्तलेश्यात्रिकम्, सम्यक्त्वौघः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम्, क्षायिकम्, संज्ञीति पञ्चनवतिमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धस्य चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः, मार्गणानां निरन्तरत्वे सति जघन्यरसबन्धकानां कादाचित्कत्वात्, अजघन्यरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रयः, विरुद्धरसबन्धकानां कादाचित्कत्वे सति प्रस्तुतरसबन्धकानां सर्वदैव प्राप्यमाणत्वात् ॥१७०४-५॥

अथ मार्गणासु आयुषां जघन्याजघन्यरसबन्धयोर्भङ्गान् दिदर्शयिषुः उत्कृष्टरसादिबन्धभङ्गवदतिदिशन्नाह—

जासु तिव्वियराणं रसाण भंगाऽट्ठ अत्थि आऊणं ।
तासु जहण्णियराणं ते च्चिय ओघव्व सेसासुं ॥१७०६॥

(प्रे०) 'जासु'इत्यादि, आयुषामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धभङ्गनिरूपणावसरे 'सव्वणिरये' त्यादिगाथापञ्चकेन नामग्राहं दर्शितासु यासु एकोत्तरशतलक्षणासु नरकौघादिमार्गणासु प्रत्येकमुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धयोः प्रत्येकमष्टौ भङ्गा दर्शिताः सन्ति तासु बन्धार्हाणामायुषां जघन्याजघन्यरसबन्धयोः प्रत्येकं 'ते च्चिय' अष्टावेव भङ्गा भवन्ति, मार्गणागतजीवानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वेन तद्बन्धकानां कादाचित्कत्वात् । तथा 'सेसासु' ति आयुषामुत्कृष्टादिरसबन्धभङ्गनिरूपणगाथाविवरणोक्तासु तिर्यग्गत्योघादिषु द्वाषष्टौ मार्गणासु सम्भाव्यमानबन्धानामायुषां प्रत्येकं जघन्याजघन्यरसबन्धयोः भङ्गा ओघवत्-नरकदेवमनुष्यायुषां प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः । तिर्यगायुषोऽष्टम एव एको भङ्गः, अनन्तानां निगोदानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् ।अत्रेदं तात्पर्यम्—आसु द्वाषष्टौ मार्गणासु तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धस्य चतुर्थः षष्ठोऽष्टम इति त्रयो भङ्गाः, अनुत्कृष्टरसबन्धस्य तृतीयः सप्तमोऽष्टम इति त्रयो भङ्गा भवन्ति, तदुत्कृष्टरसबन्धकानामसंख्येयलोकेभ्योऽल्पत्वेन कादाचित्कत्वात् । तस्यैव जघन्यरसबन्धस्य अजघन्यरसबन्धस्य च अनन्तानां निगोदानामपि निर्वर्तकत्वेनाऽष्टम एव भङ्ग इति हेतोः उत्कृष्टादिरसबन्धभङ्गवदनतिदिश्य ओघवदित्यतिदिष्टम् ॥१७०६॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते बन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे दशमं भङ्गविचयद्वारं समाप्तिमासदत् ॥

॥ अथ एकादशं भागद्वारम् ॥

अधुना क्रमप्राप्तं भागद्वारं व्याचिख्यासुरादौ तावद् ओघतः सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकभागान् मार्गणास्थानेष्वपि अनुत्कृष्टरसबन्धकभागान् दर्शयति—

भागो असंखियमो उक्कोसरसस्स बंधगा णेया ।
णिरयणरसुराऊणं वेउव्वियछक्कतित्थाणं ॥१७०७॥
संखेज्जइमो भागो आहारदुगस्स बंधगा णेया ।
सेसाण अणंतंसो सेसंसा सव्वहियरस्स ॥१७०८॥

(प्रे०) 'भागो' इत्यादि, विवक्षितप्रकृते रसबन्धकजीवानां कतितमे भागे तदुत्कृष्टरसबन्धकाः कतितमे च तस्मिन् अनुत्कृष्टरसबन्धका इत्यत्र दर्शयिष्यते । नरकायुर्मनुष्यायुर्देवायुर्वैक्रियद्विकदेवद्विकनरकद्विकरूपं वैक्रियषट्कं जिननामेति दशानां प्रकृतीनाम् उत्कृष्टरसबन्धकाः 'भागो असंखियमो' त्ति तद्रसबन्धकानामेकस्मिन् असंख्येयतमे भागे ज्ञेयाः, कुतः ? प्रस्तुतप्रकृतीनां प्रत्येकं रसबन्धकानामसंख्येयत्वादुत्कृष्टरसबन्धस्थानस्य चैकत्वात् । अत्र भाजकराशिः जिननामवर्जानां प्रतरासंख्यभागमितो जिननाम्नश्च पल्योपमासंख्येयभागमितो बोध्यः । न च रसबन्धस्थानानामसंख्येयलोकमितत्वेनोत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयलोकभागे भविष्यन्तीति वाच्यम्, विवक्षितसमये प्रतरासंख्येयभागगतनभःप्रदेशमितानामेव त्रसजीवानां सत्त्वेन विवक्षितप्रकृते रसबन्धकानां प्रस्तुतजीवराशेर्न्यूनतराणामेव सत्त्वात् । यतो विवक्षितसमये त्रसजीवाः प्रतरासंख्येयभागमिता एव भवन्ति ततस्तेभ्यो विवक्षिते एकस्मिन् रसबन्धस्थाने तु आवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयराशिमितेभ्योऽधिका रसबन्धकजीवा नैव भवन्ति, उक्तं च कर्मप्रकृतिवृत्तौ–"त्रसप्रायोग्ये चैकैकस्मिन्ननुभागबन्धस्थाने जघन्येनैको द्वौ वोत्कर्षेणोऽसंख्येया आवलिकाया असंख्येयभागमात्रास्त्रसजीवाः प्राप्यन्ते" इति ।

अत्रायं विशेषः–देवायुः, देवद्विकं, वैक्रियद्विकं, जिननामेति षण्णां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयमात्रा एव, पर्याप्तमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् । मनुष्यायुषोऽपि ते संख्येया एव, पर्याप्तमनुष्यायुर्वेदकानां लोके संख्येयानामेव सद्भावेन तद्बन्धकानामपि उत्कृष्टपदे संख्येयानामेव सम्भवात् । नन्वत्र उत्कृष्टरसबन्धकानां परिमाणेन किं प्रयोजनम् ? भागप्ररूपणाया एव प्रस्तुतत्वेनाप्रस्तावात् । उच्यते, गणितरसिकानां ज्ञापनार्थम्, तच्चैवम्, समग्रं रसबन्धकजीवराशिं प्रस्तुतोत्कृष्टरसबन्धकरूपेण भाजकेन भक्त्वा यावद् भागफलं प्राप्यते तावतिथेऽसंख्येयतमे भागे नरकायुरादीनां प्रत्येकम् उत्कृष्टरसबन्धका वर्तन्त इति । तथाऽऽहारकद्विकस्योत्कृष्टरसबन्धकास्तद्बन्धकानामेकस्मिन् संख्येयतमे भागे ज्ञेयाः, कुतः ? तद्बन्धकानां संख्येयत्वादुत्कृष्टरसबन्धस्थानस्यैकमात्रत्वाच्च । 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः 'अणंतंसो' त्ति बन्धकानामेकस्मिन्

अनन्ततमे भागे भवन्ति, तद्बन्धकानामनन्तत्वे सति संज्ञिनामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । तथा 'इयरस्स' त्ति अनुत्कृष्टरसबन्धस्य 'सव्वह' त्ति ओघे मार्गणास्थानेषु च 'सेसंसा' त्ति उक्तशेषा भागा वक्तव्याः । इदमुक्तं भवति-यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयतमे भागे संख्येयतमे भागे अनन्ततमे वा भागे उक्ता वक्ष्यन्ते च तासामनुत्कृष्टरसबन्धका यथाक्रमम् असंख्येयबहुभागेषु, संख्येयबहुभागेषु अनन्तबहुभागेषु वा ज्ञेयाः, एकात्मकमुत्कृष्टरसबन्धस्थानं मुक्त्वा शेषाणां स्वप्रायोग्याणां सर्वेषां रसबन्धस्थानानामनुत्कृष्टरसबन्धप्रायोग्यत्वात् । अत्र मूलकारोऽनुत्कृष्टरसबन्धकभागान् मार्गणास्वपि पृथग् न प्ररूपयिष्यति, इहैवाऽतिदिष्टत्वात् ॥१७०८॥

अथ मार्गणास्तूत्कृष्टरसबन्धकभागान् दर्शयति—

तिव्वरसस्सोघव्व उ सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
तिरिकायुरल-णपुंसग-कसाय-दुअणाण-अजएसुं ॥१७०९॥
अणयण-तिअसुहलेसा-भवियर-मिच्छामणेसु आहारे ।
अत्थि णवरि संखंसो जिणस्सुरल-किण्ह-णीलासुं ॥१७१०॥

(प्रे०) 'तिव्वरसस्से' त्यादि, तिर्यग्गत्योघः काययोगौघ औदारिककाययोगो नपुंसकवेदः कषायचतुष्कमज्ञानद्विकमयतमार्गणाऽचक्षुर्दर्शनं तिस्रोऽप्रशस्तलेश्या भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञी आहारीति विंशतौ मार्गणासु प्रत्येकमायुषां पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् आयुर्वर्जानां संभाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धस्यानुत्कृष्टरसबन्धस्य च भागा ओघवज् ज्ञेयाः,एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियावसानानां जीवानामत्रान्तःपातित्वात् सर्वेषामुत्कृष्टरसबन्धस्य संज्ञिस्वामिकत्वाच्च । तथा 'णवरि' त्ति, अत्रौघप्ररूपणातोऽयं विशेषः.-औदारिककाययोगः कृष्णलेश्या नीललेश्येति तिसृषु मार्गणासु जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धका एकस्मिन् संख्येयतमे भागे भवन्ति न तु ओघवदसंख्येयतमे भागे, कुतः ? प्रस्तुतमार्गणात्रिके सम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् तेषाञ्चोत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात् । जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु प्रस्तुतमार्गणात्रिके संख्यातबहुभागमिता ज्ञेयाः ॥१७०९-१०॥

अथ मनुष्योघमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धकानां भागं दर्शयति—

मणुए संखियभागो तित्थाहारदुगविउवछक्काणं ।
सेसाणं पयडीणं णेया भागो असंखयमो ॥१७११॥

(प्रे०) 'मणुए' इत्यादि, मनुष्योघमार्गणायां जिननामाऽऽहारकद्विकम् देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकरूपं वैक्रियषट्कम् इति नवानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयतमे भागे ज्ञेयाः,पर्याप्तमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् तेषाञ्चोत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात् । उक्तशेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका एकस्मिन् असंख्येयतमे भागे ज्ञेयाः, असंख्येयानामपर्याप्तमनुष्या-

णामपि एकादशोत्तरशतप्रकृतीनां बन्धकत्वात् । ततः किम् ? उच्यते, (१) यत्र विवक्षितप्रकृतेर्बन्धकाः संख्येयास्तत्रोत्कृष्टरसबन्धका जघन्यरसबन्धका वा संख्येयभागः (२) यत्र बन्धका असंख्येयास्तत्र तदुत्कृष्टरसबन्धका जघन्यरसबन्धका वा असंख्येयभागः (३) यत्र विवक्षितप्रकृतेर्बन्धका अनन्ताः तथा तत्र जघन्यरसबन्धका उत्कृष्टरसबन्धका वा अनन्ताः, तर्हि जघन्यरसबन्धका उत्कृष्टरसबन्धका वा असंख्येयभागः (४) यदि बन्धका अनन्ताः, जघन्यरसबन्धका उत्कृष्टरसबन्धकाश्च प्रत्येकं संख्येया असंख्येया वा तर्हि जघन्यादिरसबन्धका अनन्तभाग इतिनियमसद्भावात् । तथा 'सेसंसा सव्वहियरस्स' इति वचनात्तत्रानां जिननामादीनामनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयबहुभागेषु शेषैकादशोत्तरशतप्रकृतीनां तु असंख्येयबहुभागेषु भवन्तीति ॥१७११॥

अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकभागं दर्शयति—

संखंसो अत्थि दुणरसव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
मणणाण-संजमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-सुहमेसुं ॥१७१२॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'संखंसो' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यः मानुषी सर्वार्थसिद्धिकसुरमार्गणा आहारककाययोगः, तन्मिश्रकाययोगः, अवेदः, मनःपर्यवज्ञानम् , संयमौघः सामायिकचारित्रम् , छेदोपस्थापनीयम् , परिहारविशुद्धिकम् , सूक्ष्मसंपरायमिति द्वादशसु मार्गणासु प्रत्येकं संभाव्यमानबन्धानां सर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका रसबन्धकजीवानामेकस्मिन् संख्येयतमे भागे विज्ञेयाः, प्रकृतमार्गणागतजीवानां संख्येयमात्रत्वात् । अनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु संख्येयबहुभागेषु भवन्ति,एकमुत्कृष्टरसबन्धस्थानं मुक्त्वा शेषाणां स्वबन्धप्रायोग्याणां प्रभूतानां रसबन्धस्थानानां बन्धात् ॥१७१२॥

अथ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिमार्गणास्वाह—

दुपणिंदियतसपणमणवयपुमणाणतिगचक्खुओहीसुं ।
सुहलेसासुं सम्मे वेअगखइएसु सण्णिम्मि ॥१७१३॥
संखेज्जइमो भागो आहारदुगस्स बंधगा णेया ।
सेसाणं पयडीणं असंखभागो मुणेयव्वा ॥१७१४॥

(प्रे०) 'दुपणिंदिय०' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः पञ्च मनोयोगाः पञ्च वचनयोगाः पुरुषवेदः ज्ञानत्रिकम् चक्षुर्दर्शनम् अवधिदर्शनम् तिस्रः प्रशस्तलेश्याः सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम् क्षायिकसम्यक्त्वम् संज्ञीति सप्तविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकमाहारकद्विकस्योत्कृष्टरसबन्धकास्तद्बन्धकानां संख्येयतमे भागे भवन्ति, कुतः ? तद्बन्धकानां संख्येयत्वादुत्कृष्टरसबन्धस्थानस्य चैकमात्रत्वात् । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयतमे भागे भवन्ति, मार्गणागत-

जीवानामसंख्येयत्वादुत्कृष्टरसबन्धस्थानस्यैकमात्रत्वाच्च । आहारकद्विकस्य अनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयबहुभागेषु, शेषाणान्तु तेऽसंख्येयबहुभागेषु भवन्तीति ॥१७१३-१४॥

अथ औदारिकमिश्रादिमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकभागं दर्शयति—

संखंसो अत्थि उरलमीसे कम्मे तहा अणाहारे ।
सुरविउवदुग-जिणाणं अणंतभागोऽत्थि सेसाणं ॥१७१५॥

(प्रे०) '**संखंसो**' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगे कार्मणकाययोगे अनाहारिमार्गणायाञ्च देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानामुत्कृष्टरसबन्धकाः'**संखंसो**'त्ति एकस्मिन् संख्येयतमे भागे भवन्ति, यतस्तत्प्रकृतिबन्धकाः संख्येया उत्कृष्टरसबन्धकास्तदेकस्मिन्नेव भागे भवन्ति । तद्यथा-देवद्विकवैक्रियद्विकयोः सम्यग्दृष्टिमनुजतिरश्चामेव बन्धकत्वात् तेषाञ्च प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयत्वात् । जिननाम्न औदारिकमिश्रमार्गणायां सम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव बन्धकत्वात् , कार्मणानाहारिमार्गणयोस्तु करणापर्याप्तसम्यग्दृष्टिमनुष्याणाम् , सम्यग्दृष्टिमनुष्येभ्य उद्वृत्तानां देवनारकाणाञ्च तद्बन्धकत्वात् तेषाञ्चोत्कृष्टतः संख्येयत्वात् । नरकद्विकाहारकद्विकयोरत्र बन्धानर्हत्वात् उक्तशेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकास्तद्बन्धकानामनन्ततमे भागे वर्तन्ते, कुतः ? तासां प्रत्येकं रसबन्धकानामनन्तत्वात् संज्ञिनामेव चोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । आसामनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु अनन्तबहुभागेषु वर्तन्ते, अनन्तानां निगोदानामपि तद्बन्धकत्वात् । देवद्विकादीनां पञ्चानामनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु रसबन्धकानां संख्येयबहुभागेषु प्राप्यन्ते, एकमुत्कृष्टरसबन्धस्थानं मुक्त्वा स्वप्रायोग्यानेकरसबन्धस्थानानां बन्धप्रवर्त्तनात् ॥१७१५॥

अथ वैक्रियमिश्रादिमार्गणयोराह—

वेउव्वमीसजोगे देसे तित्थयरणामकम्मस्स ।
संखंसा विण्णेया असंखभागोऽत्थि सेसाणं ॥१७१६॥

(प्रे०) '**वेउव्वमीसे**' त्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां देशविरतिमार्गणायाञ्च जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धकाः '**संखंसो**' त्ति संख्येयतमे भागे भवन्ति, तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयत्वात् । तथा '**सेसाणं**' ति उक्तशेषाणां तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयतमे भागे भवन्ति, प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयत्वात् । आसामनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयबहुभागेषु वर्तन्ते, 'सेसंसा सव्वहियरस्से' ति वचनात् । जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयबहुभागेषु वक्तव्याः, 'सेसंसा सव्वहियरस्स' इति वचनादेव ॥१७१६॥

अथ स्त्रीवेदादिमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकभागमाह—

तित्थाहारदुगाणं हवन्ति थीउवसमेसु संखंसो ।
सेसाण असंखंसो सेसासु अत्थि सव्वेसिं ॥१७१७॥

णवरं तु अणंतयमो भागो उज्जोअणामकम्मस्स ।
होअन्ति बंधगा खलु एगिंदियसव्वभेएसु ॥१७१८॥

(प्रे०) 'तित्थाहारे' त्यादि, स्त्रीवेदोपशमसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं जिननामाऽऽहारकद्विकमिति तिसृणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः 'संखंसो' त्ति तद्रसबन्धकानामेकस्मिन् संख्येयतमे भागे भवन्ति, तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयत्वात् । तथथा-स्त्रीवेदे जिननाम संख्येयवर्षायुष्का मानुष्य एव बध्नन्ति, ताश्च संख्येया एव । उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां तु जिननामबन्धकाः सम्यग्दृष्टिमनुष्या उपशमश्रेणौ कालं कृत्वा देवत्वं प्राप्ता जीवाश्च, तेऽपि संख्येया एव । आहारकद्विकस्य बन्धकाः सप्तमे अष्टमे च गुणस्थानके वर्तमानाः केचित् संयता एव, तेऽपि संख्येयाः । अनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु बहुसंख्येयभागमिताः, बहूनां रसबन्धस्थानानां बन्धका इति कृत्वा । तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयतमे भागे ज्ञेयाः,तत्प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयत्वादुत्कृष्टरसबन्धस्थानस्य चैकत्वात् । अनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु बहुसंख्येयभागमिताः । तथा 'सेसासु' ति उक्तशेषासु त्र्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां आयुर्वर्जसर्वासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः 'असंखंसो' इति शब्दस्यात्रापि अभिसंबन्धात् तद्रसबन्धकानामेकस्मिन्नसंख्येयतमे भागे भवन्ति, इह यासु मार्गणासु अनन्तानां निगोदानामपि प्रवेशः तासु निगोदानामप्युत्कृष्टरसबन्धकत्वादसंख्येयतमे एव भागे उत्कृष्टरसबन्धकाः, न तु अनन्ततमे तास्मिन्निति । अथ शेषमार्गणा नामतो दर्शयामः-अष्टौ नरकमार्गणाः, तिर्यग्गत्योघे उक्तत्वात् चतस्रः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाः, अपर्याप्तमनुष्यः, सर्वार्थसिद्धदेवमार्गणायामुक्तत्वात् एकोनत्रिंशद् देवमार्गणाः, पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रिययोरुक्तत्वात् सप्तदशेन्द्रियमार्गणाः, त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकाययोरुक्तत्वात् चत्वारिंशत् कायमार्गणाः, वैक्रियकाययोगः, विभङ्गज्ञानम् , सास्वादनम् , मिश्रसम्यक्त्वमिति त्र्युत्तरशतं मार्गणानाम् । अथात्र विशेषयति 'णवर'मित्यादिना, एकेन्द्रियौघादिषु सप्तसु एकेन्द्रियमार्गणासु प्रत्येकमुद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धका अनन्ततमे भागे भवन्ति न तु असंख्येयतमे भागे । कुतः ? तेजोवायूनामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषां च मार्गणागतजीवाऽनन्ततमे एव भागे वर्तित्वात् । अनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु अनन्तबहुभागप्रमाणा बोध्याः ॥१७१७-१८॥ सप्तकर्मणां मार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकभागं प्रदर्श्य, मार्गणासु आयुषामुत्कृष्टरसबन्धकभागं दिदर्शयिषुराह—

सप्पाउग्गाऊणं उक्कोसरसस्स बंधगा णेया ।
ओघव्व तिरिगईए कायुरलणपुंकसायेसु ॥१७१९॥
अण्णाणदुगे अजए अचक्खुदंसणतिअसुहलेसासु ।
भवियेयरमिच्छेसु तहा असण्णिम्मि आहारे ॥१७२०॥

(प्रे०) 'सप्पाउग्गाऊणं' मित्यादि, तिर्यग्गत्योघः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अज्ञानद्विकम्, अयतः, अचक्षुर्दर्शनम्, तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः, भव्या-भव्यौ, मिथ्यात्वमसंज्ञी, आहारीति विंशतौ मार्गणासु 'सप्पाउग्गाऊणं' ति चतुर्णामप्यायुषामिह बन्धार्हत्वात् चतुर्णामायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका ओघवज्ज्ञेयाः, यथा ओघप्ररूपणायामसंख्येया-दिभागे उक्ताः तथा अत्रापि ते ज्ञेयाः,कुतः ? एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियावसानानामिह प्रवेशात्। ओघव-च्चैवं–तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धकास्तद्बन्धकानामनन्ततमे भागे, रसबन्धकानामनन्तत्वे सति पञ्चेन्द्रियाणामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात्। त्रयाणाञ्चायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयतमे भागे वर्तन्ते, तद्बन्धकानामसंख्येयत्वादुत्कृष्टरसबन्धस्थानस्यैकत्वाच्च। अनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु तिर्यगायु-षोऽनन्तबहुभागप्रमाणाः, शेषायुषां तु तेऽसंख्येयबहुभागप्रमाणा ज्ञेयाः ॥१७१९-२०॥

अथ नरकौघादिमार्गणास्वाह—

णिरय-पढमाइछणिरय-देवसहस्सारअंत-विउवेसु ।
तिरियाउस्स असंखियभागो इयरस्स संखंसो ॥१७२१॥

(प्रे०) 'णिरये' त्यादि, नरकौघ आद्याः षड्नरकभेदा देवौघादिसहस्रारान्ता द्वादश देव-भेदा वैक्रियकाययोग इति विंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यगायुषो बन्धकानां मध्ये तदुत्कृष्टरस-बन्धका एकोऽसंख्यतमो भागो भवन्ति, तिर्यगायुर्बन्धकानामसंख्येयत्वात्। तथा 'इयरस्स' त्ति इतरस्य मनुष्यायुष इत्यर्थः, उत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयतमे भागे, संख्येयानामेव मनुष्यायुर्बन्ध-कत्वात्। तथा मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयबहुभागेषु, तिर्यगायुषश्च ते असंख्येय-बहुभागेषु ज्ञेयाः, एकमुत्कृष्टरसबन्धस्थानं मुक्त्वा शेषाणां स्वप्रायोग्याणां बहूनां रसबन्धस्थानानां बन्धसद्भावात् ॥१७२१॥

अथ मनुष्यौघे तथा पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

णिरयसुराऊण णरे संखंसो होइरे असंखंसो ।
सेसाणं आऊणं सप्पाउग्गाण संखंसो ॥१७२२॥
दुणराणताइगेसु आहारदुगमणपज्जवेसु तहा ।
संजमसामइएसुं छेए परिहारसुक्खइएसुं ॥१७२३॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'णिरय०'इत्यादि, तत्र 'णरे' त्ति मनुष्यौघमार्गणायां नारकदेवायुषोः प्रत्येकमुत्कृष्ट-रसबन्धका एकस्मिन् संख्येयतमे भागे भवन्ति, पर्याप्तमनुष्याणामेव प्रकृतायुर्द्वयबन्धकत्वात्। तथा 'असंखंसो'त्ति असंख्येयतमं भागं भवन्ति। के इत्याह 'सेसाणं आऊणं' ति तिर्यगायुर्मनुष्यायुषो-रुत्कृष्टरसबन्धकाः,कुतः ? असंख्येयानामपर्याप्तमनुष्याणामपि तद्बन्धकत्वे सति पर्याप्तमनुष्याणामेव

तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । तथा 'सेसंसा सव्वहिवरस्से' त्ति वचनात् नारकदेवायुषोरनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयबहुभागमिताः, तिर्यग्मनुष्यायुषोस्तु तेऽसंख्येयबहुभागमिताः ।

तथा 'दुणरे' त्यादि, पर्याप्तमनुष्यः, मानुषी, 'आणताइ' त्ति आनतादिसर्वार्थसिद्धान्ता अष्टादशदेवभेदाः, आहारककाययोगः, तन्मिश्रकाययोगः, मनःपर्यवज्ञानम्, संयमौघः, सामायिकम्, छेदोपस्थापनीयम्, परिहारविशुद्धिकम्, शुक्ललेश्या,क्षायिकसम्यक्त्वमिति एकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं 'सम्पाउगाण' इतिपदमिहापि योज्यम्, ततश्च द्वयोर्मनुष्यमार्गणयोश्चतुर्णामप्यायुषाम्, अष्टादशदेवभेदेषु केवलं मनुष्यायुषः, शुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं देवमनुष्यायुषोः, आहारककाययोगादिषु सप्तसु केवलं देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयतमे भागे ज्ञेयाः, कुतः ? पर्याप्तमनुष्याऽऽहारककाययोगादिमार्गणासु जीवानां संख्येयत्वात् आनतप्रभृतिदेवाद्येकोनविंशतिमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वेऽपि आयुर्बन्धकानां संख्येयत्वात् । स्वप्रायोग्याणामायुषामनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयबहुभागमिता ज्ञेयाः ॥१७२२-२३॥

अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

णेया सव्वेगिंदिय-णिगोअ-वण-उरलमीसजोगेसु ।
मणुमाउस्स असंखियभागो इयरस्सऽणंतंसो ॥१७२४॥

(प्रे०) 'णेया' इत्यादि, सर्वे एकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, सर्वशब्दस्यात्राप्यभिसम्बन्धात् सर्वे निगोदाः साधारणवनस्पतय इत्यर्थः, ते च सप्त, वनस्पतिकायौघः, औदारिकमिश्रकाययोग इति षोडशसु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयभागः, असंख्येयानां मनुष्यायुर्बन्धकानां मध्ये तेषामेकोऽसंख्येयभाग एवोत्कृष्टरसबन्धकाः, कुतः ? पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यमनुष्यायुर्बन्धकानामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात् । न च मार्गणागतजीवानामनन्तत्वात् संख्येया उत्कृष्टरसबन्धकाः रसबन्धकानामनन्ततमभाग एव भवितुमर्हन्तीति वाच्यम्, मार्गणागतजीवानामनन्तत्वेऽपि मनुष्यायुर्बन्धकजीवानामसंख्येयत्वात् । संख्येयास्तु असंख्येयानामेकासंख्येयभागो भवन्ति । तथा 'इयरस्स' त्ति तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धका 'अणंतंसो' अनन्ततमभागः तिर्यगायुर्बन्धकानामेकस्मिन् अनन्ततमे भागे तदुत्कृष्टरसबन्धका इत्यर्थः, मार्गणागतानामनन्तानां निगोदजीवानामपि तिर्यगायुर्बन्धकत्वेऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यतिर्यगायुर्बन्धकानामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषाञ्चोत्कृष्टतोऽपि असंख्येयमात्रत्वात् एकानन्तभाग उक्तः । अनुत्कृष्टरसबन्धकास्तु मनुष्यायुषोऽसंख्येयबहुभागमात्रास्तिर्यगायुषोऽनन्तबहुभागमिता इति॥१७२४॥

अथ ज्ञानत्रिकादिमार्गणास्वाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे णराउस्स ।
संखियभागो णेया असंखभागो सुराउस्स ॥१७२५॥

(प्रे०) 'णाणतिगे' इत्यादि, ज्ञानत्रिकम् , अवधिदर्शनम् , सम्यक्त्वौघः, क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वमिति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धका एकः संख्येयो भागः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वेऽपि मनुष्यायुर्बन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । कुतः ? तेषां पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यस्यैव मनुष्यायुषो बन्धसद्भावात् । तेषामेको भाग उत्कृष्टरसबन्धकाः, उत्कृष्टरस-बन्धस्थानस्यैकमात्रत्वात् । देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकास्तद्बन्धकानामेकोऽसंख्येयभागः, असंख्ये-यानां तिरश्चामपि देवायुर्बन्धकत्वेऽपि संयतानामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । अनुत्कृष्टरसबन्धकानां भागप्ररूपणा तु सुगमा ॥१७२५॥

अथ तेजोलेश्यादिमार्गणास्वाह—

संखंसो तेउपउमसासाणेसु हविरे णराउस्स ।
इयराण असंखंसो सेसासुं हुन्ति सव्वेसिं ॥१७२६॥

(प्रे०) 'संखंसो' इत्यादि, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, सास्वादनम् इति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकाः 'संखंसो' एकः संख्येयो भागः, पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यस्यैव मनुष्यायुषोऽत्र बध्यमानत्वात् पर्याप्तमनुष्याणाञ्चोत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात् ,तेषामेको भाग उत्कृष्ट-रसबन्धका इति । तथा 'इयराण'त्ति देवतिर्यगायुषोरुत्कृष्टरसबन्धकाः प्रत्येकमसंख्येयभागः,असंख्ये-यानां तद्बन्धकत्वादुत्कृष्टरसबन्धस्थानस्यैकत्वाच्च । अनुत्कृष्टरसबन्धका मनुष्यायुषः संख्येयबहु-भागमात्राः । तिर्यग्देवायुषोरसंख्येयबहुभागमिता इति । तथा 'सेसासु' ति उक्तशेषासु अष्टषष्टौ मार्गणासु प्रत्येकं 'सव्वेसिं'ति तत्र बन्धार्हाणां सर्वेषामायुषामुत्कृष्टरसबन्धका देहलीदीपकन्यायात् 'असंखंसो'इति पदस्यात्रापि योजनात् असंख्येयभागः, आयुर्बन्धकानामसंख्येयत्वात् । अनुत्कृष्टरस-बन्धकास्तु असंख्येयबहुभागमिताः ।

अथाऽष्टषष्टिः मार्गणाः—[१]सप्तमनरकं तिर्यग्गत्योघे पृथगुक्तत्वात् चतस्रः [४]पञ्चेन्द्रियतिर्यग्ग-तिमार्गणाः [१]अपर्याप्तमनुष्यः नव [६]विकलेन्द्रियभेदाः त्रयः [३]पञ्चेन्द्रियभेदास्तथा साधारणवनस्प-त्योघादिषु सप्तनिगोदभेदेषु वनस्पत्योघमार्गणायाश्चोक्तत्वात् चतुस्त्रिंशत् [३४]कायमार्गणाः पञ्च [५]मनोयोगाः पञ्च [५]वचोयोगाः [२]स्त्रीपुरुषवेदौ [१]विभङ्गज्ञानं [१]देशविरतिः [१]चक्षुर्दर्शनम् [१]संज्ञीत्यष्टष-ष्टिरिति। तदेवं गता मार्गणास्वायुषामुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकभागप्ररूपणा । गतायां च तस्यां निष्ठित-मिदमुत्कृष्टानुत्कृष्टरसबन्धकभागप्ररूपणम् ॥१७२६॥

अथ जघन्याजघन्यरसबन्धकानां भागं प्रचिकटयिषुस्तावदोघत आह—

भागो असंखियतमो मंदऽणुभागस्स बंधगा णेया ।
सिं मज्झिमपरिणामो जाण विउवदुग-जिणाणं च ॥१७२७॥

संखेज्जइमो भागो आहारदुगस्स बंधगा णेया ।
सेसाण अणंतंसो सेसंसा सव्वहियरस्स ॥१७२८॥

(प्रे०) **'भागो'** इत्यादि, **'जाण'** त्ति जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां 'सायथिरसुहजससियरे' त्ति सातवेदनीयादीनामष्टानां परदुगुन्छाणि। संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं ॥·६१॥ एगिंदिअथावरसुहुमविगलतिगणिरयदेव···दुग' मिति मनुष्यद्विकादीनां पञ्चत्रिंशतः चतुर्णामायुषाञ्चेति सर्वसंख्यया यासां सप्तचत्वारिंशतः प्रकृतीनां **'मज्झिमपरिणामो'** त्ति परावर्तमानमध्यमपरिणामः, जघन्यरसबन्धक इति गम्यते, **'सिं'** ति तासां वैक्रियद्विकजिननाम्नोश्च जघन्यरसबन्धका असंख्येयो भागः,रसबन्धस्थानानामसंख्येयमात्रत्वे सति जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकत्वात् जिननामादिनवप्रकृतिवर्जशेषप्रकृतीनां जघन्यरसस्याऽनन्तानां निगोदानामपि बन्धकत्वाच्च । किमुक्तं भवति? यदीह निगोदा जघन्यरसबन्धका न भवेयुः तर्हि अनन्ततम एव भागः जघन्यरसबन्धका भवेयुः,कुतः ? शेषजीवानां निगोदैकानन्ततमांशमात्रत्वात् । जिननामदेवायुर्नरकायुर्देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकरूपाणां नवानान्तु बन्धकानामसंख्यातत्वात् । किमुक्तं भवति ?यत्र बन्धका असंख्येयाः तत्र जघन्यरसबन्धका असंख्येयभाग इति नियमः प्रागेव दर्शितः । मनुष्यायुषस्तु बन्धार्हाणां जीवानामनन्तत्वेऽपि तद्बन्धकानामसंख्येयमात्रत्वाज्जघन्यरसबन्धकानाञ्च तदेकभागमात्रत्वात् । तथा आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकाः संख्येयो भागः, तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयत्वात् । **'सेसाण'** त्ति उक्तशेषाणां द्विसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका अनन्ततमभागः, निगोदजीवानामपि तद्रसबन्धकत्वे सति संज्ञिनामेव जघन्यरसबन्धकत्वात् । अथोक्तशेषाः प्रकृतयः—एकपञ्चाशद् ध्रुवबन्धिन्यः, तिर्यग्द्विकं, नीचैर्गोत्रं, त्रसनाम, पञ्चेन्द्रियजातिः, बादरत्रिकं, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, औदारिकद्विकम् , आतपोद्योतनाम्नी, त्रयो वेदाः, हास्यरती, शोकारती इति द्विसप्ततिः । अथ लाघवार्थी ओघे मार्गणास्थानेषु चाऽजघन्यरसबन्धकभागान् दर्शयति—**'सेसंसा सव्वहियरस्स'** त्ति अजघन्यरसबन्धकानामुक्तशेषा भागा इह मार्गणास्थानेषु च भवन्ति, **तद्यथा**—इह पञ्चाशतः प्रकृतीनामजघन्यरसबन्धका असंख्येयबहुभागाः तद्रसबन्धकानामसंख्येयबहुभागेषु अजघन्यरसबन्धका वर्तन्ते इति भावः, अन्यत्रापि एवमेव भावनीयम् । आहारकद्विकस्याऽजघन्यरसबन्धकाः संख्येयबहुभागाः, तज्जघन्यरसबन्धकानामेकसंख्येयभागमात्रत्वात् । शेषाणां द्विसप्ततेस्ते अनन्तबहुभागाः । एवमेव वक्ष्यमाणमार्गणास्थानेषु यत्र जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागस्तत्राजघन्यरसबन्धकाः असंख्येयबहुभागा वक्तव्याः,असंख्येयानामजघन्यरसबन्धस्थानानां बन्धसद्भावात् । यत्र जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमात्रास्तत्र अजघन्यरसबन्धकाः संख्येयबहुभागाः, अजघन्यरसबन्धस्थानानां बहुतरत्वात् मार्गणासु तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयत्वाच्च । यत्र जघन्यरसबन्धका अनन्ततमभागः तत्र अजघन्यरसबन्धका अनन्तबहुभागा इतिनियमस्तु उत्कृष्टरसबन्धभागप्ररूपणातो बोध्यः ।।१७२७-२८।।

ओघतो जघन्याजघन्यरसबन्धकभागान् लाघवार्थं मार्गणास्थानेषु चाजघन्यरसबन्धकभागान् दर्शयित्वा, अथ मार्गणासु जघन्यरसबन्धकभागान् दिदर्शयिषुराह–

मंदरसस्सोघव्व उ सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
तिरि-कायुरल-णपुम-चउकसाय-दुअणाण-अजएसुं ॥१७२९॥
अणयण-तिअसुहलेसा-भवियर-मिच्छामणेसु आहारे ।
अत्थि णवरि संखंसो जिणस्सुरल-किण्ह-णीलासुं ॥१७३०॥

(प्रे०) '**मंदरसस्से**'त्यादि, तिर्यग्गत्योघः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अज्ञानद्विकम्, अयतमार्गणा, अचक्षुर्दर्शनम्, तिस्रोऽशुभलेश्याः, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वमसंज्ञी, आहारीति विंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां '**मंदरसस्स**'त्ति जघन्यरसस्य, बन्धकभागा इति गम्यते '**ओघव्व**'त्ति ओघवद् भवन्ति. कुतः? एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियावसानानां जीवानामिहान्तःप्रवेशात् । तथा '**णवरि**' त्ति अत्रायं विशेषः–ओघप्ररूपणायां जिननाम्नो जघन्यरसबन्धका असंख्येयभाग उक्ताः, इह तु औदारिककाययोगः कृष्णलेश्या नीललेश्या चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागो भवन्ति, प्रस्तुतमार्गणासु सम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् तेषामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । अथ ओघवदेव दर्शयामः–तिर्यग्गत्योघः अज्ञानद्विकमभव्यः मिथ्यात्वमसंज्ञीति षट्सु मार्गणासु आयुषां वक्ष्यमाणत्वात् जिननाम्नो बन्धानर्हत्वाच्चौघोक्तानामष्टानां सातवेदनीयादीनां पञ्चत्रिंशतश्च मनुष्यद्विकादीनां तथा वैक्रियद्विकस्येति पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका असंख्येयतमो भागः, तज्जघन्यरसबन्धकानां मध्यमपरिणामत्वात् । अजघन्यरसबन्धका असंख्येयबहुभागाः, 'सेसंसा सव्वहियस्से' ति प्रागुक्तवचनात् । अयतमार्गणायां कापोतलेश्यामार्गणायाश्च जिननाम्नो बन्धस्य संभवात् षट्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागः, हेतुस्तथैव । तासामजघन्यरसबन्धकास्तु असंख्येयबहुभागाः । कृष्णलेश्या नीललेश्या इति द्वयोर्मार्गणयोः प्रत्येकं पञ्चचत्वारिंशतो जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागः, रसबन्धस्थानानामसंख्येयत्वे सति जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकत्वात् । अजघन्यरसबन्धका असंख्येयबहुभागाः । जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागः, प्रागुक्तादेव हेतोः । तदजघन्यरसबन्धकास्तु संख्येयबहुभागाः । औदारिककाययोगमार्गणायामाहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागः । अजघन्यरसबन्धकाः संख्येयबहुभागाः । शेषं सर्वं कृष्णलेश्यावत् । काययोगौघः नपुंसकवेदः चत्वारः कषाया अचक्षुर्दर्शनम् आहारी भव्य इति नवसु मार्गणासु प्रत्येकं सातवेदनीयादयोऽष्टौ मनुष्यद्विकादयः पञ्चत्रिंशत् वैक्रियद्विकम् जिननाम चेति षट्चत्वारिंशतो जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागः । आहारकद्विकस्य संख्येयभागः । अजघन्यरसबन्धकास्तु षट्चत्वारिंशतोऽसंख्येयबहुभागाः, आहारकद्विकस्य

संख्येयबहुभागाः । तथा विंशतावपि मार्गणासु प्रत्येकमुक्तशेषाणामोघप्ररूपणाविवरणे नामग्राहं दर्शितानां द्विसप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका एकोऽनन्ततमो भागः। अजघन्यरसबन्धकास्तु अनन्तबहुभागा इति ।।१७२९-३०।। अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

सव्वेसुं एगिंदियभेएसुं बंधगा अणंतंसो।
तिरियजुगलणीआणं असंखभागोऽत्थि सेसाणं ।।१७३१।।

(प्रे०) 'सव्वेसु' इत्यादि, सर्वेषु सप्तसंख्याकेष्वेकेन्द्रियभेदेषु तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका 'अणंतंसो' त्ति एकोऽनन्ततमो भागः, प्रस्तुतमार्गणागतनिगोदानामपि तद्बन्धकत्वे सति तेजोवायूनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । ततः किम् ? निगोदानामनन्ततमभाग एव तेजोवायव इति । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां मार्गणाबन्ध्यानामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका असंख्येयो भागः, निगोदानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथाऽजघन्यरसबन्धकास्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोरनन्तबहुभागाः, शेषाणां तेऽसंख्येयबहुभागाः, 'सेससा सव्वहियरस्से' ति वचनात् ।।१७३१।।

अथौदारिकमिश्रकाययोगादिष्वाह—

संखंसो अत्थि उरलमीसे कम्मे तहा अणाहारे।
सुरविउवदुगजिणाणं ओघव्व हवेज्ज सेसाणं ।।१७३२।।

(प्रे०) 'संखंसो' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगः अनाहारीति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं जिननामेति पञ्चानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः संख्येयो भागः, मार्गणागतजीवानामनन्तत्वेऽपि देवद्विकादिबन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । तथा नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोरिह बन्धानर्हत्वात् 'सेसाणं' ति एकादशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकभागा ओघवद् भवन्ति, कुतः? एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियान्तवर्तमानानां जीवानां मार्गणान्तःपातात् । अथौघवद्-नरकद्विकस्यात्र बन्धाभावात् देवद्विकस्याचिरादेवोक्तत्वात् आयुषाञ्च वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जानामोघप्ररूपणोक्तानां परावर्तमानपरिणामबध्यमानजघन्यरसानामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागः । अजघन्यरसबन्धका असंख्येयभागाः। तथा शेषाणां द्विसप्ततेः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका अनन्ततमभागः, अजघन्यरसबन्धका अनन्ता भागाः । ।।१७३२।। अथोक्तशेषासु मार्गणासु जघन्याजघन्यरसबन्धकभागान् समानवक्तव्यत्वादुत्कृष्टानुत्कृष्टानुभागवदतिदिशति —

सेसासु मग्गणासुं सप्पाउग्गाण सव्वपयडीणं।
होअन्ति बंधगा खलु उक्कोसऽणुभागबंधव्व ।।१७३३।।

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, उक्तशेषासु चत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं 'सप्पाउग्गाण' त्ति तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका अजघन्यरसबन्धकभागा इत्यर्थः, उत्कृष्टरसबन्ध इव उत्कृष्टरसबन्धकभागा इव भवन्ति, प्रकृतिबन्धकजीवानां तुल्यत्वात् । अजघन्यरसबन्धकभागास्त्वनुत्कृष्टरसबन्धकभागा इव भवन्तीति । अथ उत्कृष्टरसबन्धकवद् जघन्यरसबन्धका यथा भवन्ति तथैव दर्शयामः–तत्र मनुष्यौघमार्गणायां जिननामाऽऽहारकद्विकवैक्रियषट्करूपाणां नवानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिताः,पर्याप्तमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् । अजघन्यरसबन्धकास्तु बहुसंख्येयभागमिताः । तथा एकादशोत्तरशतप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागमिताः, अजघन्यरसबन्धका बहुसंख्येयभागमिताः ।

पर्याप्तमनुष्यः, मानुषी, सर्वार्थसिद्धिकसुरः, आहारककाययोगः, तन्मिश्रकाययोगः, अवेदः, मनःपर्यवज्ञानं, संयमौघः, सामायिकादिचारित्रचतुष्कमिति द्वादशसु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिता भवन्ति, मार्गणागतजीवानां संख्येयत्वात् । अजघन्यरसबन्धका बहुसंख्येयभागमिताः ।

पञ्चेन्द्रियौघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, त्रसकायौघः, पर्याप्तत्रसकायः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, पुरुषवेदः, ज्ञानत्रिकम् , चक्षुर्दर्शनम् ,अवधिदर्शनम् , तिस्रः प्रशस्तलेश्याः, सम्यक्त्वौघः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं, क्षायिकसम्यक्त्वं, संज्ञीति सप्तविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकमाहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिताः, तद्बन्धकानां संख्येयत्वाज्जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकत्वाच्च । अजघन्यरसबन्धका बहुसंख्येयभागमिताः, 'सेसंसा सव्वहियरस्से'ति वचनात् । तथा तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणां शेषाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका एकासंख्येयभागमिताः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वे सति जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकत्वात् । अजघन्यरसबन्धकास्तु बहुसंख्येयभागमिताः ।

वैक्रियमिश्रदेशविरतिमार्गणयोः प्रत्येकं जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिताः, तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयत्वात् । अजघन्यरसबन्धका बहुसंख्येयभागमिताः । स्वस्वबन्धप्रायोग्याणां शेषाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागमिताः,तद्बन्धकानामसंख्येयत्वात् । अजघन्यरसबन्धका बहुसंख्येयभागमिताः, असंख्येयानां रसबन्धस्थानानां बन्धप्रवर्त्तनात् ।

स्त्रीवेदोपशमसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं जिननामाऽऽहारकद्विकयोर्जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिताः, तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयत्वात् । अजघन्यरसबन्धकाः बहुसंख्येयभागमिताः, 'सेसंसा सव्वहियरस्से' त्ति वचनात् । तथा शेषाणां तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागमिताः । अजघन्यरसबन्धकास्तु बहुसंख्येयभागमिताः ।

अष्टौ नरकमार्गणाः, तिर्यग्गत्योघे पृथगुक्तत्वात् चतस्रः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाः, अपर्याप्त-

मनुष्यः, सर्वार्थसिद्ध उक्तत्वात् एकोनत्रिंशद्देवमार्गणाः, नव विकलेन्द्रियमार्गणाः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियश्चेति दशेन्द्रियमार्गणाः, त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकाययोरुक्तत्वात् चत्वारिंशत् कायमार्गणाः, वैक्रियकाययोगः, विभङ्गज्ञानं, सास्वादनं, मिश्रसम्यक्त्वमिति षण्णवतिमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धका असंख्यभागमिताः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयादिमितत्वाद्, रसबन्धस्थानानामसंख्येयत्वे सति जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकत्वाच्च । अजघन्यरसबन्धकास्तु बहुवसंख्येयभागमिताः, 'सेसंसा सव्वहियरस्से' ति प्रागुक्तवचनात् ॥१७३३॥

अथ मार्गणास्वायुषां जघन्याजघन्यरसबन्धकभागान् दर्शयति—

णिरय-पढमाइछणिरय-तिणरेसुं सव्वदेवभेएसुं ।
विउवे आहारदुगे णाणचउग-संजमेसुं च ॥१७३४॥
सामाइअ-छेएसुं परिहारविसुद्धि-ओहि-तेऊसुं ।
पम्ह-सुइल-सम्म-खइअ-वेअग- सासायणेसुं च ॥१७३५॥
सप्पाउगगाऊणं मंदऽणुभागस्स बंधगा णेया ।
तिव्वरसव्वियरासुं असंखभागो मुणेयव्वा ॥१७३६॥

(प्रे०) 'णिरय०' इत्यादि, नरकौघादिषु एकोनषष्टिमार्गणासु जघन्यरसबन्धकाः 'तिव्वरसव्व' त्ति उत्कृष्टरसबन्धकवद् वाच्याः यथा उत्कृष्टरसबन्धकानां संख्येयादिभाग उक्तस्तथा जघन्यरसबन्धकानामपि वाच्य इत्यर्थः । तद्यथा–नरकौघः, आद्याः षड्नरकाः, सहस्रारान्तदेवभेदास्ते च द्वादश, वैक्रियकाययोग इति विंशतौ मार्गणासु तिर्यगायुषो जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागमिताः, तद्बन्धकानामसंख्येयत्वाज्जघन्यरसबन्धस्थानस्य चैकत्वात् । अजघन्यरसबन्धका असंख्यबहुभागमिताः, रसबन्धस्थानानां बहुत्वात् । तथा मनुष्यायुषः संख्येयभागमिताः, मार्गणागतानां संख्येयानामेव जीवानां मनुष्यायुर्बन्धकत्वात् । तदजघन्यरसबन्धका बहुसंख्येयभागमिताः ।

पर्याप्तमनुष्यः, मानुषी, आनतादयोऽष्टादशदेवभेदाः, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाययोगः, मनःपर्यवज्ञानं, संयमौघः, सामायिकम्, छेदोपस्थापनीयं, परिहारविशुद्धिकं, शुक्ललेश्या, क्षायिकसम्यक्त्वमित्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणामायुषां जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिता भवन्ति, तद्यथा–द्वयोर्मनुष्यमार्गणयोश्चतुर्णामप्यायुषाम्, अष्टादशदेवभेदेषु केवलं मनुष्यायुषः, शुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं देवमनुष्यायुषोः, आहारककाययोगादिषु सप्तसु प्रत्येकं केवलं देवायुषो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिता भवन्ति । तथाऽऽस्वेकोनत्रिंशति मार्गणासु स्वबन्धप्रायोग्याणामायुषां प्रत्येकमजघन्यरसबन्धका बहुसंख्येयभागमिता भवन्ति ।

मनुष्यौघमार्गणायां नारकदेवायुषोर्जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिताः, तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयमात्रत्वात् । अजघन्यरसबन्धका बहुसंख्येयभागमिताः । तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागमिताः, अपर्याप्तमनुष्याणामपि तद्बन्धकत्वे सति जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकत्वात् । अजघन्यरसबन्धका बह्वसंख्येयभागमिताः ।

ज्ञानत्रिकम् अवधिदर्शनम् सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकम् मनुष्यायुषो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागमिताः, तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयमात्रत्वात् । अजघन्यरसबन्धकास्तु बहुसंख्येयभागमिताः । देवायुषो जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागमिताः, तत्प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयत्वे सति जघन्यरसबन्धस्थानस्यैकत्वात् , तस्याऽजघन्यरसबन्धका बह्वसंख्येयभागमिताः ।

तेजोलेश्या पद्मलेश्या सास्वादनमिति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुषो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयभागाः, तद्बन्धकानामेकस्मिन् संख्येयतमे भागे ते वर्तन्ते इत्यर्थः, पर्याप्तमनुष्यवेद्यस्यैव मनुष्यायुषोऽत्र बध्यमानत्वात् तद्बन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात् । अजघन्यरसबन्धकाः संख्येयबहुभागमिता ज्ञेयाः । देवतिर्यगायुषोः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः असंख्येयभागमिताः, तत्प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयत्वात् । अजघन्यरसबन्धका बह्वसंख्येयभागमिताः ।

'इयरासु' ति इतरासु उक्तशेषास्वित्यर्थः चतुरुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयभागमिताः, अजघन्यरसबन्धकास्तु बह्वसंख्येयभागमिताः । अथोक्तशेषा मार्गणा एव दर्शयामः—सप्तमनरकः पञ्चतिर्यग्गतिमार्गणाः अपर्याप्तमनुष्यः सर्वैकेन्द्रियभेदा नव विकलेन्द्रियभेदाः त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः सर्वे कायभेदास्ते च द्विचत्वारिंशत् पञ्च मनोयोगाः पञ्च वचनयोगाः काययोगौघः, औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोगः त्रयो वेदाः चत्वारः कषायाः अज्ञानद्विकम् विभङ्गज्ञानम् अयतः देशविरतिः चक्षुर्दर्शनम् अचक्षुर्दर्शनम् तिस्रोऽप्रशस्तलेश्या भव्याभव्यौ मिथ्यात्वम् असंज्ञी संज्ञी आहारीति चतुरुत्तरशतं मार्गणानाम् । अत्रेदं हृदयम्—तिर्यग्गत्योघादिषु मार्गणासु यत्र निगोदानामन्तःपातः तत्राऽपि तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धकास्तु अनन्तभागमात्राः, मार्गणाप्रायोग्योत्कृष्टरसान्वितस्य बध्यमानस्य तिर्यगायुषः संज्ञिवेद्यत्वात् । जघन्यरसबन्धकास्तु निगोदप्रायोग्यमपि तिर्यगायुर्बध्नन्ति ततस्ते असंख्येयभागमिताः, इतिहेतोस्तिर्यग्गत्योघादिषु मार्गणासु जघन्यरसबन्धकानुत्कृष्टरसबन्धकवदनतिदिश्येह पृथगुक्तवान् । शेषभावना तु सुगमा । इति गतं मार्गणास्वायुषां जघन्याजघन्यरसबन्धकभागप्ररूपणम् । गते च तस्मिन् समाप्तमिदं नानाजीवाश्रयं रसबन्धकभागनिरूपणम् ॥१७३४ ३६॥

॥ इति प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते श्रीबन्धविधाने उत्तरप्रकृतिरसबन्धे एकादशं भागद्वारम् ॥

॥ अथ द्वादशं परिमाणद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तं परिमाणद्वारं विवरिषुरादौ तावदोघत उत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणं दर्शयति—

जेसिं सामी खवगो सिं तह तिण्हाउगाण संखेज्जा ।
तिव्वरसस्स हवन्ते असंखिया हुन्ति सेसाणं ॥१७३७॥

(प्रे०) 'जेसिं' इत्यादि, इह विवक्षितसमये उत्कृष्टादिरसबन्धकाः कियन्तो भवितुमर्हन्ति ? संख्येया असंख्येया उत अनन्ताः ? इति प्ररूपणं यस्मिन् तत् परिमाणद्वारम् । 'जेसिं' ति '.....जससायाणि ॥२७॥ उच्चपणिंदितसचउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइजिणसुर-विउव्वा-हारजुगलाणी' ति उत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां यासां यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशतः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धकाः क्षपकाः तासां 'तिण्हाउगाण' त्ति नरकायुषो बन्धकानामसंख्येयत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् देवमनुष्यतिर्यग्रूपाणां त्रयाणां चायुषामिति सर्वसंख्यया पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः 'संखेज्जा' त्ति संख्येया भवन्ति, कुतः ? क्षपकाणां विवक्षितसमये उत्कृष्टतोऽपि अष्टोत्तरशतस्यैव प्राप्यमाणत्वात् । देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकाः संयताः, ते तु विवक्षितसमये संख्येया एव । तिर्यग्मनुष्यायुषोरपि ते संख्येयाः, देवकुरूत्तरकुरुक्षेत्रयोः प्रत्येकं संख्येययोजनमात्रत्वात् । किमुक्तं भवति ? देवकुरूत्तरकुरुमनुष्यतिर्यक्प्रायोग्यमनुष्यतिर्यगायुर्बन्धकानामेव तदुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात् देवकुरूत्तरकुरुमनुष्यतिरश्चामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् मनुष्यतिर्यगायुषोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयमात्रा एव । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणां त्रिचत्वारिंशदशुभप्रकृतीनाम्, ...न्धिन्यः, असातवेदनीयं, हास्यरती, शोकारती, त्रयो वेदाः, मनुष्यद्विकं, तिर्यग्द्विकं, नरकद्विकं, जातिचतुष्कमौदारिकद्विकं, संहननषट्कं, संस्थानपञ्चकम् आद्यस्य क्षपकस्वामित्वात् , अप्रशस्तविहायोगतिः, स्थावरदशकम् , आतपनाम, उद्योतनाम, नीचैर्गोत्रम् , नरकायुरिति एकोननवतेः प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, संज्ञिनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । ते चोत्कृष्टरसबन्धकाः एकस्या आवलिकाया असंख्येयतमभागमिता इत्यपि बोध्यम् ॥१७३७॥

अथौघतोऽनुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणं व्यनक्ति--

अगुरुरसस्स हवन्ते आहारदुगस्स संखियाऽसंखा ।
णिरयणरसुराउ-विउवछक्क-जिणाण इयराण य अणंता ॥१७३८॥(गीतिः)

(प्रे०) 'अगुरु०' इत्यादि, आहारकद्विकस्य अनुत्कृष्टरसबन्धका उत्कृष्टतोऽपि संख्येयाः, संयतानामेव तद्बन्धकत्वात् । तथा नरकायुः मनुष्यायुः देवायुः वैक्रियषट्कं जिननाम इति दशानां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, तत्र नरकायुर्देवायुर्वैक्रियषट्कमिति अष्टानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां पर्याप्तमनुष्याणाञ्चैव बन्धप्रवर्त्तनात् । मनुष्यायुषो भावना त्वेवम्—उत्कृष्टतो मनुष्याणां

श्रेण्यसंख्येयभागगताऽसंख्येयनभःप्रदेशराशिमितत्वेन मनुष्यायुर्बन्धार्हाणां जीवानामनन्तत्वेऽपि विवक्षितसमये मनुष्यायुर्बन्धकानामुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयमात्रत्वात्, कुतस्तत् ? यस्यां गतौ उत्कृष्टतो यावन्तो जीवाः, तेभ्योऽधिका जीवा तद्गतिवेद्यायुर्बन्धका नैव भवन्तीति नियमात् । अथ जिननाम्नो भावना–सम्यग्दृशामेव जिननामबन्धकत्वे सति विवक्षितसमये जिननामबन्धकानामुत्कृष्टतोऽप्यद्धापल्योपमाऽसंख्येयतमभागगतासंख्यसमयराशिमितत्वात् । तथा 'इयराण' त्ति उक्तशेषाणां द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धका अनन्ताः, निगोदजीवानामपि तदनुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् ।

यद्यपीह नरकायुरादीनां दशानामनुत्कृष्टरसबन्धका अविशेषेणाऽसंख्येया उक्तास्तथाऽपि विशेषचिन्तायां तद्बन्धकानामन्योन्यमेतद्रूपमल्पबहुत्वं प्राप्यते, तद्यथा–

के ?		कियन्तः ?	कुतः ?
जिननाम्नो अनुत्कृष्टरसबन्धकाः		स्तोकाः	सम्यग्दृशां तद्बन्धकत्वेऽपि तेषामद्धापल्यासंख्येयभागमात्रत्वात् ।
ततो मनुष्यायुषो	,,	असंख्येयगुणाः	श्रेण्यसंख्येयभागगतनभःप्रदेशमितत्वात् ।
ततो नरकायुषो	,,	,,	असंख्यश्रेणिगत-खप्रदेशमितत्वात् ।
ततो देवायुषो	,,	,,	प्रतराऽसंख्येयभागगतखप्रदेशमितत्वात् नारकेभ्यो देवानामसंख्येयगुणत्वाच्च ।
ततो देवद्विकस्य	,,	संख्येयगुणाः	बन्धाद्धाया अधिकतरत्वात् । तद्बन्धस्य अनेकशः प्राप्यमाणत्वाच्च ।
ततो नरकद्विकस्य	,,	,,	बन्धाद्धायाः संख्येयगुणत्वात् ।
,, वैक्रियद्विकस्य	,,	विशेषाधिकाः	देवद्विकनरकद्विकयोरुभयोः सार्धमस्य बध्यमानत्वात् ॥१७३८॥

अथ मार्गणासूत्कृष्टादिरसबन्धकपरिमाणं दिदर्शयिषुरादौ तावत् तत्रोत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणं दर्शयति—

ओघव्व बंधगा खलु सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
तिव्वरसस्स हवन्ति दुपणिंदितसपणमणवयेसुं ॥१७३९॥
कायोरालदुगेसुं थी-पुरिस-णपुंस-चउकसायेसुं ।
मइ-सुअ-ऽवहिणाणेसुं अणाणतिग-देस-अजएसुं ॥१७४०॥

दंसणतिगम्मि तीसुं सुहलेसासु भवि-सम्म-खइएसुं ।
वेअगुवसमेसु तहा मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥१७४१॥

(प्रे०) 'ओघव्वे'त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, त्रसकायौघः, पर्याप्तत्रसकायः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचनयोगाः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, तन्मिश्रकाययोगः त्रयो वेदाः, चत्वारः कषायाः, ज्ञानत्रिकम् ,अज्ञानत्रिकम् , देशविरतिः, अयतः, चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शन-मवधिदर्शनं, तिस्रः प्रशस्तलेश्याः, भव्यः, सम्यक्त्वौघः, क्षायिकसम्यक्त्वं,क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-मुपशमसम्यक्त्वं, मिथ्यात्वं, संज्ञी, आहारीति षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु 'सप्पाउग्गाण' त्ति तत्र तत्र बन्धार्हाणां 'आउवज्जाणं' ति आयुषां पृथग् वक्ष्यमाणत्वात् तद्वर्जानां प्रकृतीनामुत्कृष्टरस-बन्धका ओघवद् भवन्ति, कुतः ? यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्धका ओघप्ररूपणायां संख्येया असंख्येया वोक्ताः तासामिहाऽपि स्वप्रायोग्याणां ते तावन्त एव । तत्कथम् ? अत्र षट्त्रिंशन्मार्ग-णासु श्रेणेः सम्यक्त्वाद्यभिमुखत्वस्य वा सद्भावात् । अत्र यासु श्रेण्यभावः तत्र संक्षेपतो दर्शयामः, तद्यथा–औदारिकमिश्रमार्गणायां सम्यग्दृशां संख्येयमात्रत्वाद् उत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः यशःकीर्तिनामादीनां त्रिंशतः, आहारकद्विकस्य अत्र बन्धाभावात् । नरकद्विकस्य प्रस्तुतमार्गणायां बन्धाभावात् शेषाणां षडशीतेरसंख्येयाः, संज्ञिनामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । वेदकसम्यक्त्व-तेजःपद्मलेश्यामार्गणासु यशःकीर्तिनामादीनां द्वात्रिंशत उत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, अप्रमत्तमुनीनां तत्स्वामित्वात् तेषामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । शेषाणां प्रस्तुतमार्गणाबन्धार्हाणामेकोनपञ्चाश-तस्तेऽसंख्येयाः, देवानामपि तद्बन्धकत्वात् । अज्ञानत्रिकमिथ्यात्वरूपासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं ......जससायाणि ॥२७। उच्चपणिंदितस-चउगपरघूसाससुखगइपणथिराई । सुहधुवबधागिइ' इति यशःकीर्तिनामादीनां पञ्चविंशतेः देवद्विकवैक्रियद्विकयोश्चोत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, संयमा-भिमुखानामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् तेषाञ्चोत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । तथा जिननामा-ऽऽहारकद्विकयोरत्र बन्धाभावात् शेषाणामष्टाशीतेरसंख्येयाः, हेतुरोघवत् । देशविरतिमार्गणायां यशःकीर्तिनामादीनां त्रिंशतः संख्येयाः,संयमाभिमुखमनुष्याणामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । शेषा-णामत्र बन्धार्हाणां चत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकमसंख्येया बन्धकाः, तिरश्चामपि तदुत्कृष्टरसबन्ध-कत्वात् । तथा अयतमार्गणायां यशःकीर्तिनामादीनां त्रिंशतः संख्येयाः, तदुत्कृष्टरसस्य संयमाभि-मुखेन बध्यमानत्वात् । शेषाणामष्टाशीतेः प्रत्येकं तेऽसंख्येयाः, ओघवच्चातुर्गतिकानां यथासंभवं तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् ॥१७३९-४१॥

अथ मनुष्यौघादिमार्गणासूत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणं दर्शयन्नाह—

संखा सव्वाण तिणर-सव्वत्थाहारदुग-अवेएसुं ।
मणणाण-संजमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसुं ॥१७४२॥(गीतिः)

(प्रे०) 'संखा' इत्यादि, मनुष्यौघः पर्याप्तमनुष्यः मानुषी सर्वार्थसिद्धसुर आहारककाययोगः तन्मिश्रकाययोगः अवेदः मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकचारित्रं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायचारित्रमिति त्रयोदशसु मार्गणासु प्रत्येकं 'सव्वाण' त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, कुतः ? द्वादशसु मार्गणासु जीवानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । मनुष्यौघमार्गणायां जीवानामसंख्येयत्वेऽपि पर्याप्तमनुष्याणामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात्, तेषाञ्चोत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् ॥१७४२॥

अथ सर्वैकेन्द्रियादिमार्गणास्वाह–

उज्जोअस्स असंखा णेया एगिंदियेसु सव्वेसुं ।
सेसाण अणंता वणसव्वणिगोएसु सव्वेसिं ॥१७४३॥

(प्रे०) 'उज्जोअस्से' त्यादि, सर्वेषु एकेन्द्रियेषु सर्वासु एकेन्द्रियमार्गणास्वित्यर्थः प्रत्येकमुद्योतनाम्न उत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, प्रस्तुतमार्गणासु तेजोवायूनामन्तःपातित्वे सति तेषामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननाम्नामत्र बन्धानर्हत्वात् 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां दशोत्तरशतप्रकृतीनाम्, तथा 'सव्वेसिं' ति वनस्पतिकायौघः सप्तनिगोदभेदा इति अष्टासु मार्गणासु तु प्रत्येकं सर्वासामेकादशोत्तरशतलक्षणानामुत्कृष्टरसबन्धका अनन्ताः, स्वप्रायोग्येषु रसबन्धस्थानेषु प्रत्येकमनन्तजीवानां भावात् । सप्तसु एकेन्द्रियमार्गणासु तु निगोदानामपि तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वादित्यपि हेतुर्वाच्यः ॥१७४३॥

अथ कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणयोराह—

कम्माणाहारेसुं देवविउव्वदुगतित्थणामाणं ।
संखेज्जा विण्णेया असंखिया बंधगाऽण्णेसिं ॥१७४४॥

(प्रे०) 'कम्माणे' त्यादि, कार्मणाऽनाहारिमार्गणयोः प्रत्येकं देवद्विकं वैक्रियद्विकं जिननामेति पञ्चानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, कुतः ? उच्यते, देवद्विकवैक्रियद्विकयोरिह बन्धकाः सम्यग्दृष्टय एव मनुष्यतिर्यञ्चः, प्रस्तुतमार्गणयोः तेषां प्रत्येकमुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । तथा जिननाम्नो बन्धकाः सम्यग्दृष्टिमनुष्यास्तेभ्य उद्वृत्ता देवा नारका वा, ते सर्वे समुदिताः प्रस्तुतमार्गणयोः प्रत्येकं संख्येया एव । 'अण्णेसिं' इति आहारकद्विकनरकद्विकयोरत्र बन्धाभावादुक्तातिरिक्तानामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, संज्ञि-

नामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् केचित्तु–उपशमश्रेणौ कालं कृत्वा देवत्वं प्राप्तस्य देवभवप्रथमसमय एव प्रशस्तप्रकृतीनामुत्कृष्टरसबन्ध इति निगदन्ति । एतन्मते '.........णरुरलदुगवइराणि जससायाणि ॥ उच्चपणिंदितसचउगपरघूसासुखगइपणथिराई । सुहधुवबंधागिइ' इति उत्कृष्टरस-बन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मनुष्यद्विकादीनां त्रिंशतोऽपि प्रकृतीनामुत्कृष्टरस-बन्धकाः संख्येया एव, उपशमश्रेणौ कालगतानां विवक्षितसमय उत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । शेषाणामेकाशीतेरेवाऽसंख्येया इति ॥१७४४॥

अथ वैक्रियमिश्रकाययोगादिमार्गणास्वाह–

संखा जिणस्स णेया वेउव्वियमीस-किण्हणीलासुं ।
सेसाण असंखेज्जा सेसासुं हुन्ति सव्वेसिं ॥१७४५॥

(प्रे०) 'संखा' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां कृष्णनीललेश्यामार्गणयोश्चेति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं जिननाम्न उत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, कुतः ? वैक्रियमिश्रकाययोग-मार्गणायां संख्येयवर्षायुष्कमनुष्येभ्य एव उद्वृत्तानां देवनारकाणां जिननाम्नो बन्धः, ते च संख्येया एवेति । कृष्णनीललेश्ययोस्तु केषांचित् सम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् । 'सेसाण' त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामुक्तशेषाणां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, तत्र कृष्ण-नीललेश्यामार्गणयोः निगोदानामप्यन्तःपातित्वेऽपि संज्ञिनामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । वैक्रियमिश्रे तु मार्गणावर्तिजीवानामेवासंख्येयमात्रत्वात् ।

'सेसासुं' ति अष्टौ नरकभेदाः पञ्च तिर्यग्गतिभेदा अपर्याप्तमनुष्यः सर्वार्थसिद्धसुरमार्ग-णायामुक्तत्वात् शेषा एकोनत्रिंशद्देवभेदा विकलेन्द्रियभेदा नव अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः अष्टाविंशतिः पृथ्वीकायादिकायचतुष्कभेदाः त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदा अपर्याप्तत्रसकायो वैक्रियकाययोगः कापोतलेश्या अभव्यो मिश्रसम्यक्त्वं सास्वादनम् असंज्ञीति एकनवतौ मार्गणासु प्रत्येकं बन्धा-र्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, कुतः ? अष्टाशीतौ मार्गणासु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयमात्रत्वात् तिर्यग्गत्योघाऽभव्याऽसंज्ञिमार्गणासु प्रत्येकं निगोदानामन्तःपातित्वेन जीवानामानन्त्येऽपि पञ्चेन्द्रियाणामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् ॥१७४५॥

अथ मार्गणासु अनुत्कृष्टरसबन्धकानां परिमाणं प्रचिकटयिषुराह––

अगुरुरसस्सोघव्व उ सप्पाउग्गाण आउवज्जाणं ।
तिरि-कायुरल-णपुंसग-कसाय-दुअणाण-अजएसुं ॥१७४६॥
अणयण-तिअसुहलेसा-भवियर-मिच्छामणेसु आहारे ।
णवरं जिणस्स संखा अत्थि उरल-किण्ह-णीलासुं ॥१७४७॥

(प्रे०) 'अणुक्करसे' त्यादि, तिर्यग्गत्योघः काययोगौघ औदारिककाययोगः नपुंसकवेद-श्चत्वारः कषाया अज्ञानद्विकमयतः अचक्षुर्दर्शनं तिस्रोऽप्रशस्तलेश्या भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञी आहारीति विंशतौ मार्गणासु 'सप्पाउग्गाण'त्ति प्रत्येकं बन्धार्हाणाम् , आयुषां पृथग्वक्ष्यमाणत्वात् आयुर्वर्जानां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धका ओघवद् भवन्ति, एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियावसाना-नामनन्तानामसुमतां मार्गणान्तःपातित्वात् । अथात्रैव कासुचिन्मार्गणास्वपवादं दर्शयति 'णवरं' इति जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धका औदारिककाययोगकृष्णनीललेश्यारूपासु तिसृषु मार्गणासु संख्येया एव सन्ति न त्वोघवदसंख्येयाः,सम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् , ओघप्ररूपणायान्तु तेऽसं-ख्येया उक्तास्तत्र तद्बन्धकनारकदेवानप्याश्रित्योक्तत्वात् । अथौघवदेव दर्शयामः, उक्तमार्ग-णासु देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः । काययोगौघ औदारिक-काययोगः नपुंसकवेदश्चत्वारः कषाया अचक्षुर्दर्शनं भव्य आहारीति दशसु मार्गणासु आहा-रकद्विकस्याऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, संयतानामेव तत्प्रकृतिबन्धकत्वात् । औदारिककाययोग-वर्जासु अनन्तरोक्तासु नवसु अयतकापोतलेश्यामार्गणयोश्च जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, अयतमार्गणायां तद्बन्धकदेवनारकाणामन्तःप्रवेशात् । कापोतलेश्यायान्तु तद्बन्धकनारकाणामन्तः-प्रवेशात् । औदारिककाययोगकृष्णनीललेश्यामार्गणासु जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येया उक्ता एव । तथा विंशतिमार्गणासूक्तशेषाणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धका अनन्ताः, निगो-दानामपि तद्बन्धकत्वात् ।'१७४६-४७।।

अथ मनुष्यौघमार्गणायामाह—

अत्थि णरे संखेज्जा तित्थाहारदुगविउवछकाणं ।
सेसाणं पयडीणं असंखिया बंधगा णेया ॥१७४८॥

(प्रे०) 'अत्थी' त्यादि, मनुष्यौघमार्गणायां जिननामाऽऽहारकद्विकवैक्रियषट्करूपाणां नवानां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, पर्याप्तमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् । तथा 'सेसाणं' ति उक्तशेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां तेऽसंख्येयाः, अपर्याप्तानामपि मनुष्याणां तद्-बन्धकत्वात् ।।१७४८।। अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

संखा सव्वाण दुणरसव्वत्थाहारदुगअवेएसुं ।
मणणाण-संजमेसुं समइय-छेअ-परिहार-सुहमेसुं ॥१७४९॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'संखा' इत्यादि, पर्याप्तमनुष्यादिषु द्वादशसु मार्गणासु प्रत्येकं 'सव्वाण' त्ति बन्धा-र्हाणां सर्वासां प्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, मार्गणागतजीवानामुत्कृष्टतोऽपि तावन्मा-त्रत्वात् ।।१७४९।। अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

सव्वेसिं पयडीणं सप्पाउग्गाण बंधगाऽणंता ।
सव्वेसु एगिंदियणिगोअभेएसु वणकाये ॥१७५०॥

(प्रे०) **'सव्वेसिं'** मित्यादि, सर्वे एकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, तावन्त एव निगोदभेदाः, वनस्पतिकायौघ इति पञ्चदशसु मार्गणासु प्रत्येकं बन्धार्हाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनामनुत्कृष्टरसबन्धका अनन्ताः, मार्गणागतजीवानामानन्त्यात् ॥१७५०॥ अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्त्वाह–

दुपणिंदिय-तस-पणमणवय-पुरिस-तिणाण-ओहि-चक्खूसु ।
सुहलेसा-सम्मेसु वेअग-खइएसु सण्णिम्मि ॥१७५१॥
संखेज्जा विण्णेया आहारदुगस्स बंधगा जीवा ।
होअन्ति असंखेज्जा सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥१७५२॥

(प्रे०) **'दुपणिंदिये'** त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, त्रसकायौघः, पर्याप्तत्रसकायः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचनयोगाः, पुरुषवेदः, त्रीणि ज्ञानानि, अवधिदर्शनम् , चक्षुर्दर्शनम् , तिस्रः शुभलेश्याः, सम्यक्त्वौघः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम् , क्षायिकसम्यक्त्वम् , संज्ञीति सप्तविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकमाहारकद्विकस्यानुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, संयतानामेव तद्बन्धकत्वात् । तथा **'सेसाणं'** ति उक्तशेषाणां **'सप्पाउग्गाण'** त्ति तत्तन्मार्गणासु बन्धार्हाणां प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वात् । अत्र क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां यदभिप्रायेण तिर्यञ्चः संख्याता एव तदपेक्षया तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोरनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्याता विज्ञेयाः ॥१७५१-५२॥ अथ औदारिकमिश्रकाययोगादिष्वाह—

संखाऽत्थि उरलमीसे कम्मणजोगे तहा अणाहारे ।
सुर-विउव्वदुग-जिणाणं सेसाणं बंधगाऽणंता ॥१७५३॥

(प्रे०) **'संखा'** इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगः अनाहारीति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं देवद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, तत्र देवद्विकवैक्रियद्विकयोः,सम्यग्दृष्टिमनुष्यतिरश्चामेव बन्धकत्वात् प्रस्तुतमार्गणासु च प्रत्येकं सम्यग्दृष्टिमनुष्यतिरश्चामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । जिननाम्नो बन्धका औदारिकमिश्रयोगे सम्यग्दृष्टिमनुष्याः, कार्मणाऽनाहारिमार्गणयोस्सम्यग्दृष्टिमनुष्यास्तेभ्य उद्वृत्ता नारका देवाश्च, ते सर्वे समुदिताः प्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकं संख्येया एवेति । तथा नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोरत्र बन्धाऽनर्हत्वात्–**'सेसाणं'** ति उक्तशेषाणामेकादशोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धका अनन्ताः, निगोदानामपि तद्बन्धकत्वात् ॥१७५३॥ अथ वैक्रियमिश्रकाययोगदेशविरतिमार्गणयोराह—

वेउव्वमीसजोगे देसे संखाऽत्थि तित्थणामस्स ।
होअन्ति असंखेज्जा सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥१७५४॥

(प्रे०) 'वेउव्वे' त्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां देशविरतौ च प्रत्येकं जिननाम्नोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येया भवन्ति, कुतः ? देशविरतौ मनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् । वैक्रियमिश्रयोगे मनुष्येभ्य एवाऽऽगतानां देवनारकाणां तद्बन्धकत्वादपर्याप्तावस्थावर्त्तिनाञ्च तेषामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । तथा 'सेसाणं' ति 'सप्पाउग्गाण' त्ति देशविरतौ उक्तशेषाणामेकोनसप्ततेः प्रकृतीनाम्, वैक्रियमिश्रकाययोगे नरकद्विकदेवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां चतुर्दशानां बन्धाभावादुक्तशेषाणां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, तत्प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयत्वात् ॥१७५४॥ अथ स्त्रीवेदादिमार्गणास्वाह–

तित्थाहारदुगाणं णया थीउवसमेसु संखेज्जा ।
सेसाण असंखेज्जा सेसासु हुन्ति सव्वेसिं ॥१७५५॥

(प्रे०) 'तित्थाहारे'त्यादि,स्त्रीवेदोपशमसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं जिननामाऽऽहारकद्विकयोः प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, इह स्त्रीवेदे मानुषीणामेव तद्बन्धकत्वात्, उपशमसम्यक्त्वे मनुष्याणां तेभ्य उद्वृत्तानां केषांचिद्देवाऽपर्याप्तदेवानाञ्चैव तद्बन्धकत्वात् । तथा 'सेसाण' त्ति उक्तशेषाणां स्वप्रायोग्याणामिति गम्यते, तत्र स्त्रीवेदे सप्तदशोत्तरशतप्रकृतीनाम्, उपशमसम्यक्त्वेऽष्टसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वे सति असंख्येयानां तद्बन्धकत्वात् । अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह–'सेसासु'ति उक्तशेषासु अष्टौ नरकभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तमनुष्यः, एकोनत्रिंशद्देवभेदाः सर्वार्थसिद्धे पृथगुक्तत्वात्, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अष्टाविंशतिः पृथ्वीकायादिकायचतुष्कभेदाः, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायः, वैक्रियकाययोगः, विभङ्गज्ञानम्, मिश्रसम्यक्त्वम्, सास्वादनसम्यक्त्वम् इत्यष्टाशीतौ मार्गणासु प्रत्येकं 'सव्वेसिं'त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां सर्वासामपि प्रकृतीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, प्रस्तुतासु मार्गणासु प्रत्येकं जीवानामुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयत्वात् ॥१७५५॥

मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणमनुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणञ्च प्रदर्श्य, मार्गणासु आयुषामुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणं दर्शयन्नाह—

ओघव्व बंधगा खलु तिव्वणुभागस्स आउगाणऽत्थि ।
दुपणिंदितसेसु तहा पणमणवयकायउरलेसु ॥१७५६॥

वेअतिग-कसायचउग-तिअणाण-अजय-अचक्खु-चक्खूसुं ।
भविया—भवियेसु तहा मिच्छे सण्णिम्मि आहारे ॥१७५७॥

(प्रे०) 'ओघव्वे'त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, त्रसकायौघः, पर्याप्तत्रसकायः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचनयोगाः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, त्रयो वेदाश्चत्वारः कषायाः, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपमज्ञानत्रिकम् ,अयतः, अचक्षुर्दर्शनं, चक्षुर्दर्शनं, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वं, संज्ञी, आहारीति चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषामुत्कृष्टरसबन्धका ओघवद् भवन्ति, तद्यथा—देवमनुष्यतिर्यगायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, हेतुरत्रौघवत् । नवरमज्ञानत्रिकम् अभव्यः अयतः मिथ्यात्वमिति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं नवमग्रैवेयकसुरायुर्बन्धकानामेव देवायुष उत्कृष्टरमबन्धकत्वात् तेषाञ्च द्रव्यसंयमित्वेन पर्याप्तमनुष्यत्वात् ते चोत्कृष्टतोऽपि संख्येया एवेतिरूपो हेतुर्ज्ञेयः । तथा नरकायुष उत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, हेतुरोघवदेव ॥१७५६-५७॥

अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वाह—

तिरिय-तिपणिंदियतिरिय-तिअसुहलेसासु बंधगा संखा ।
तिरिय-मणुयाउगाणं दोण्हाऊणं असंखेज्जा ॥१७५८॥

(प्रे०) 'तिरिये' त्यादि, तिर्यग्गत्योघः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिरश्री तिस्रोऽप्रशस्तलेश्या इति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं तिर्यगायुषो मनुष्यायुषश्चोत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, भावना ओघवत् । तथा 'दोण्हाऊणं' ति देवनरकायुषोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, तत्र सुरायुष्कस्याऽसंख्येयाः, असंख्येयानां देशविरततिरश्चामपि तद्बन्धकत्वात् । नरकायुषो हेतुरोघवत् ॥१७५८॥ अथ मनुष्यौघादिमार्गणास्वाह—

तिणराणताइगेसु आहारदुगम्मि णाणचउगम्मि ।
संजम-सामाइयेसु छेए परिहार-देसेसुं ॥१७५९॥
ओहिम्मि य सुक्काए सम्म-खइअ-वेअगेसु सासाणे ।
विण्णेया संखेज्जा सप्पाउग्गाण आऊणं ॥१७६०॥

(प्रे०) 'तिणरे'त्यादि, मनुष्यौघः पर्याप्तमनुष्यः मानुषी 'आणताइग' त्ति आनतादिसर्वार्थसिद्धान्ता अष्टादश देवभेदाः आहारककाययोगः आहारकमिश्रकाययोगः ज्ञानचतुष्कम् संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकं देशविरतिः अवधिदर्शनं शुक्ललेश्या सम्यक्त्वौघः क्षायिकसम्यक्त्वं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं सास्वादनमिति अष्टात्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं 'सप्पाउग्गाण' त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणामायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, तत्र

मनुष्यौघमार्गणायां पर्याप्तमनुष्याणामेवोत्कृष्टरसबन्धकत्वात् । पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणयोः प्रत्येकं मार्गणाजीवानां संख्येयमात्रत्वात् । तथा आहारकयोगः तन्मिश्रकाययोगः मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकमिति सप्तसु प्रत्येकं संयतानामेवान्तःप्रवेशात् तेषाञ्चोत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात् । सम्यक्त्वौघो वेदकसम्यक्त्वमवधिदर्शनं ज्ञानत्रिकमिति षट्सु मार्गणासु संयता एव देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकाः, मनुष्यायुस्तु पर्याप्तमनुष्यवेद्यमेव बध्यते, ततः किम् ? संयतानां पर्याप्तमनुष्याणाञ्च प्रत्येकं संख्येयमात्रत्वात् । देशविरतौ अच्युतसुरवेद्यसुरायुर्बन्धका एव देवायुष उत्कृष्टरसबन्धकास्ते च पर्याप्तमनुष्यास्तेषां च संख्येयत्वात् । तथा सर्वार्थसिद्धमार्गणाजीवानां संख्येयमात्रत्वात् । आनतादिषु सप्तदशसु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयत्वेऽपि आयुर्बन्धकानां संख्येयमात्रत्वात् । शुक्ललेश्यामार्गणायां देवायुरुत्कृष्टरसबन्धकानां संयतत्वात्तेषाञ्च संख्येयमात्रत्वात् । मनुष्यायुस्तु देवा नारका वा पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यमेव बध्नन्ति अतस्तद्बन्धार्हाणां देवनारकाणामसंख्येयत्वेऽपि तद्बन्धकाः संख्येया एव । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायामायुर्बन्धकानां संख्येयमात्रत्वात् । सास्वादने देवायुष उत्कृष्टरसं पर्याप्तमनुष्या एव बध्नन्ति, ते च संख्येया एव । मनुष्यायुस्तु पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यमेव बध्यते, ततः किम् ? पर्याप्तमनुष्याणां संख्येयत्वेन तद्वेद्यायुर्बन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात् । तिर्यगायुषो भावना ओघवत् ।

अत्रायं सारांशः—सास्वादनवर्जमार्गणासु बन्धार्हाणामायुषामुत्कृष्टरसस्य पर्याप्तमनुष्याणां पर्याप्तमनुष्यवेद्यबन्धकानामेव वा बन्धप्रवर्त्तनेन सर्वत्रोत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, पर्याप्तमनुष्याणामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात् । सास्वादने तु तिर्यगायुषोऽपि बन्धसद्भावेन पूर्वोक्ता एव हेतवो ज्ञेयाः । ॥१७५९–६०॥ अथ तेजःपद्मलेश्यामार्गणयोराह—

तेऊए पम्हाए विण्णेया बंधगा असंखेज्जा ।
तिरियाउगस्स संखा णरदेवाऊण बोद्धव्वा ॥१७६१॥

(प्रे०) 'तेऊए' इत्यादि, तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायाञ्च नरकायुषो बन्धानर्हत्वम् । तिर्यगायुष उत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, असंख्येयानां मिथ्यादृग्देवानां तद्बन्धकत्वात् तेषां चाऽऽवलिकाऽसंख्येयभागगतसमयमितत्वात् । कुतः ? त्रसबन्धप्रायोग्ये कस्मिँश्चिदपि रसबन्धस्थाने ततोऽधिकजीवानामभावात् । तेन स्थावरवर्जसर्वासु मार्गणासु असंख्येया इत्यनेनात्रोक्तमाना एव जीवा बोद्धव्याः । तथा 'णरदेवाऊण' मनुष्यायुर्देवायुषोः प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, तदुत्कृष्टरसबन्धस्य पर्याप्तमनुष्यस्वामिकत्वात् मनुष्यायुस्तु पर्याप्तमनुष्यवेद्यत्वात् वा । न च देवायुष उत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, प्रस्तुतमार्गणागतानामसंख्येयानां तिरश्चामपि देवायुर्बन्धकत्वादिति वाच्यम् ? इह संयतानामेव तदुत्कृष्टरसबन्धकत्वात् ॥१७६१॥ अथ असंज्ञ्यादिमार्गणास्वाह—

मणुसाउगस्स अमणे संखा सेसाउगाण य असंखा ।
सप्पाउग्गाऊणं एमेव हवेज्ज सेसासु ॥१७६२॥

(प्रे०) **'मणुसा०'** इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां मनुष्यायुष उत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, तैः पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यमेव तद् बध्यत इति कृत्वा। तथा **'सेसाउगाण'**त्ति देवनरकतिर्यग्रूपाणां त्रयाणामायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः,असंख्येयानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि तद्बन्धकत्वात्। अत्र असंज्ञिमार्गणायां तिर्यगायुषो बन्धका असंख्येया इति यत्प्रतिपादितं तत्कषायप्राभृताभिप्रायेण युगलिकतिरश्चामसंख्यत्वभावाद् न कश्चिद् दोषः । तथा **'सेसासु'** त्ति उक्तशेषासु अष्टौ नरकमार्गणाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्,अपर्याप्तमनुष्यः, सहस्रारान्ता द्वादश देवमार्गणाः, पञ्चेन्द्रियौघपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोरुक्तत्वात् सप्तदशेन्द्रियमार्गणाः, त्रसकायौघपर्याप्तत्रसकाययोरुक्तत्वात् चत्वारिंशत् कायमार्गणाः,औदारिकमिश्रकाययोगः, वैक्रियकाययोग इतिरूपासु एकाशीतौ मार्गणासु प्रत्येकम् **'एमेव'**यथा इहैव असंज्ञिमार्गणायामुत्कृष्टरसबन्धका उक्तास्तथैव **'सप्पाउग्गाऊणं'** ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकमुत्कृष्टरसबन्धका ज्ञेयाः। मनुष्यायुषस्ते संख्येयाः। शेषाणां प्रत्येकमसंख्येया इत्यर्थः। अत्र कस्यां मार्गणायां कियन्त्यायूंषि बन्धार्हाणि ? तत्तु स्वामित्वद्वारे दर्शितमेव, दर्शयिष्यते च यथावसरमग्रेऽपीति ॥१७६२॥

अथ मार्गणासु आयुषामनुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणं दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअवणकायुरालियदुगेसु ।
णपुमचउकसायेसुं दुअणाणाजय–चक्खूसुं ॥१७६३॥
अपसत्थतिलेसासुं भवियरमिच्छामणेसु आहारे ।
सप्पाउग्गाऊणं अगुरुरसस्सऽत्थि ओघव्व ॥१७६४॥

(प्रे०) **'तिरिये'** इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः, सर्वे एकेन्द्रियभेदास्ते च सप्त, सर्वे निगोदभेदास्तेऽपि सप्तैव, वनस्पतिकायौघः, काययोगौघः, औदारिककाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, द्वे अज्ञानेऽयतः, अचक्षुर्दर्शनं, तिस्रोऽप्रशस्तलेश्याः, भव्याभव्यौ, मिथ्यात्वमसंज्ञी,आहारीति षट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं**'सप्पाउग्गाऊणं'**ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकम् अनुत्कृष्टरसस्य बन्धका ओघवत् सन्ति, तद्यथा–तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धका अनन्ताः, इहोक्तासु सर्वासु मार्गणासु प्रत्येकं निगोदानामन्तःप्रवेशात् तेषाञ्चानन्तानां तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धप्रवर्त्तनात्। शेषाणां त्रयाणां प्रत्येकं तेऽसंख्येयाः। अथ कुत्र कियन्त्यायूंषि बन्धार्हाणीत्यादि भावयामः;–तिर्यग्गत्योघः काययोगौघ औदारिककाययोगः नपुंसकवेदः चत्वारः कषायाः अज्ञानद्विकम् अयतः अचक्षुर्दर्शनं तिस्रोऽप्रशस्तलेश्या भव्याभव्यौ मिथ्यात्वमसंज्ञी

आहारीति विंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं चतुर्णामप्यायुषां बन्धार्हत्वम् । तत्र तिर्यगायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धका अनन्ताः । शेषाणामायुषां प्रत्येकं तेऽसंख्येयाः । तथा सर्वैकेन्द्रियभेदाः सप्त निगोदभेदाः वनस्पतिकायौघ औदारिकमिश्रकाययोग इति षोडशसु मार्गणासु प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः तिर्यगायुषोऽनन्ताः, मनुष्यायुषोऽसंख्येया इति द्वे एवाऽऽयुषी अत्र बन्धमर्हत इति ॥१७६३-६४॥

अथ नरकौघादिमार्गणास्वाह—

णिरय-पढमाइछणिरय-देवसहस्सारअंत-विउवेसुं ।
तेउ-पउम-सासायण-तिणाण-ऽवहि-सम्म-वेअगेसुं च ॥१७६५॥(गीतिः)
मणुसाउगस्स संखा इयराण असंखिया णरे संखा ।
णारग-देवाऊणं असंखिया तिरिणराऊणं ॥१७६६॥

(प्रे०) 'णिरये' इत्यादि, नरकौघः, प्रथमादयः षड्नरकाः, सहस्रारान्तदेवमार्गणाश्च द्वादश, वैक्रियकाययोगः, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, सास्वादनं, त्रीणि ज्ञानानि, अवधिदर्शनं, सम्यक्त्वौघः, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिति एकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, तेषां पर्याप्तमनुष्यवेद्यस्यैव मनुष्यायुषो बन्धभावात् । तथा 'इयराण' त्ति इतरेषां स्वप्रायोग्याणामिति गम्यते, त्रयाणामायुषां प्रत्येकं ते असंख्येयाः, मार्गणागतासंख्येयानामसुमतां तद्बन्धकत्वात् । अथ कुत्र कियन्त्यायूंषि बन्धप्रायोग्याणि कियन्तश्च तदनुत्कृष्टरसबन्धकास्तदेव स्पष्टं दर्शयामः—नरकौघः प्रथमादयः षड्नरकाः सहस्रारान्ता द्वादशदेवमार्गणा वैक्रियकाययोग इति विंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं द्वे आयुषी बन्धार्हे, तत्र मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः । तिर्यगायुषश्च तेऽसंख्येयाः ।

तथा ज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं सम्यक्त्वौघः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिति षट्सु प्रत्येकं आयुर्द्वयम् बन्धप्रायोग्यम् । तत्र मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः । देवायुषोऽसंख्येयाः, तद्बन्धकेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्राधान्यात् ।

तेजोलेश्या पद्मलेश्या सास्वादनमिति तिसृषु प्रत्येकं मनुष्यायुषोऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, तिर्यग्देवायुषोः प्रत्येकं तेऽसंख्येयाः, नरकायुषोऽत्र बन्धाभाव एवेति ।

तथा 'णरे' त्ति मनुष्यौघमार्गणायां नारकदेवायुषोः प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः, पर्याप्तमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् । तथा तिर्यगायुर्मनुष्यायुषोः प्रत्येकं तेऽसंख्येयाः, अपर्याप्तानामपि तद्बन्धकत्वात् ॥१७६५-६६॥

अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

दुणराणताइगेसुं आहारदुगमणपज्जवेसु तहा ।
संजमसामइएसुं छेए परिहार-सुक्क-खइएसुं ॥१७६७॥ (गीतिः)
संखेज्जा आऊणं सप्पाउग्गाण बंधगा णेया ।
सेसासु मग्गणासुं अडसट्ठीए असंखेज्जा ॥१७६८॥

(प्रे०) 'दुणरे' त्यादि, पर्याप्तमनुष्यः मानुषी आनतादिसर्वार्थसिद्धान्ता देवमार्गणास्ताश्चाऽष्टादश आहारककाययोग आहारकमिश्रकाययोगः मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकं शुक्ललेश्या क्षायिकसम्यक्त्वम् इति एकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं 'सप्पाउग्गाण' त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धकाः संख्येयाः। तत्र सर्वार्थसिद्धवर्जाः सप्तदशदेवमार्गणाः शुक्ललेश्या क्षायिकसम्यक्त्वञ्चेति एकोनविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं जीवानामसंख्येयत्वेऽप्यायुर्बन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयत्वात्। तथा दशसु प्रत्येकं जीवानामेव संख्येयमात्रत्वात्। अथ कुत्र कियन्त्यायूंषि बन्धार्हाणि? तदेव दर्शयामः-पर्याप्तमनुष्यः मानुषीति द्वयोः मार्गणयोः प्रत्येकं चत्वार्यायूंषि बन्धार्हाणि। आनतादिष्वष्टादशसु देवभेदेषु प्रत्येकमेकं मनुष्यायुरेव बन्धार्हम्, मनुष्यभिन्नेषूत्पादाभावात्। आहारककाययोगः तन्मिश्रकाययोगः मनःपर्यवज्ञानं संयमौघः सामायिकं छेदोपस्थापनीयं परिहारविशुद्धिकम् इति सप्तसु प्रत्येकमेकं देवायुरेव बन्धप्रायोग्यम्। तथा शुक्ललेश्याक्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं मनुष्यायुर्देवायूरूपम् आयुर्द्वयं बन्धप्रायोग्यम्।

तथा वैक्रियमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगः अवेदः सूक्ष्मसम्परायः उपशमसम्यक्त्वं मिश्रसम्यक्त्वम् अनाहारीति सप्तसु प्रत्येकमायुर्बन्धानर्हत्वात् 'सेसासु' त्ति उक्तशेषासु आयुर्बन्धार्हासु अष्टषष्टौ मार्गणासु प्रत्येकं 'सप्पाउग्गाणं'तिशब्दस्याऽत्रापि योजनात् तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामायुषां प्रत्येकमनुत्कृष्टरसबन्धका असंख्येयाः, तत्र आयुर्बन्धकानामुत्कृष्टतोऽपि असंख्येयत्वात्। अथ काश्च ता मार्गणाः तत्र प्रत्येकं कियन्ति चायूंषि बन्धार्हाणीति दर्श्यते–सप्तमनरकमार्गणायामेकमेव तिर्यगायुर्बन्धार्हम्। पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक् तिर्यग्योनिमती त्रसकायौघः पर्याप्तत्रसकायः पञ्चेन्द्रियौघः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः पञ्च मनोयोगाः पञ्च वचनयोगाः स्त्रीपुरुषवेदौ विभङ्गज्ञानम् चक्षुर्दर्शनं संज्ञीति द्वाविंशतौ मार्गणासु प्रत्येकं चत्वार्यप्यायूंषि। अपर्याप्तमनुष्यः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग् नव विकलेन्द्रियभेदाः अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तत्रसकायः सप्त पृथ्वीकायभेदाः सप्ताऽप्कायभेदाः त्रयः प्रत्येकवनस्पतिभेदा इति त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं मनुष्यायुस्तिर्यगायूरूपं आयुर्द्वयं बन्धार्हम्। देशविरतिमार्गणायामेकं देवायुरेव। तथा तेजःकायवायुकायमत्केषु सप्तसप्तभेदेषु प्रत्येकं एकं तिर्यगायुरेवेति ॥१७६७-६८॥

अथ जघन्याजघन्यरसबन्धकपरिमाणं दिदर्शयिषुरादौ तावज्जघन्यरसबन्धकपरिमाणमोघतो दर्शयन्नाह—

असुहधुवबंधि-दुजुगल-पुरिसाहारदुग-तित्थणामाणं ।
होअन्ति बंधगा खलु संखा मंदाणुभागस्स ॥१७६९॥
णिरय-सुरतिग-णराऊ विणाऽत्थि जाण परियत्तपरिणामो ।
चत्ताए सिमणंता तेत्तीसाए असंखेज्जा ॥१७७०॥

(प्रे०) **'असुहे'** त्यादि, त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुवबन्धिन्यः **'दुजुगल'** त्ति हास्यरती शोकारती तथा पुरुषवेद आहारकद्विकं जिननाम इति सर्वसंख्यया एकपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः **'संखा'** त्ति संख्येयाः, पर्याप्तमनुष्याणामेव तत्स्वामित्वात् । तद्यथा—ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कं संज्वलनचतुष्कं भयजुगुप्से अप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनाम अन्तरायपञ्चकमिति सप्तविंशतेरशुभध्रुवबन्धिनीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां च जघन्यरसबन्धकाः क्षपकाः । मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकं द्वादशकषाया इति षोडशानामशुभध्रुवबन्धिनीनां जघन्यरसबन्धकाः संयमाभिमुखाः । अरतिशोकयोर्जघन्यरसबन्धकाः तत्प्रायोग्यविशुद्धाः प्रमत्तसंयताः । आहारकद्विकस्य जघन्यरसबन्धकाः प्रमत्तत्वाभिमुखाः संयताः । जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकास्तु मिथ्यात्वाभिमुखाः सम्यग्दृष्टिमनुष्या इति सर्वत्र पर्याप्तमनुष्यस्वामित्वात् संख्येया इति भावः । तथा.........णरदुगुच्चाण । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं ॥ एगिंदियथावरसुहुमविगलतिगे' ति एकत्रिंशत् साता-साते स्थिरास्थिरे शुभाशुभे यशःकीर्त्ययशःकीर्ती तिर्यगायुश्चेति सर्वसंख्यया यासां चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः **'सिं'** इति तासां जघन्यरसबन्धका अनन्ताः । कुतः ? निगोदजीवानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । नरकत्रिकदेवत्रिकमनुष्यायूरूपाणां सप्तप्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकानां परावर्तमानपरिणामत्वेऽपि तत्प्रकृतिबन्धकानामुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयमात्रत्वादुक्तं **'णिरयसुरतिगणराऊ विणा'** इति । तथा **'तेत्तीसाए'** त्ति स्त्रीनपुंसकवेदौ मनुष्यायुस्तिर्यग्द्विकं नरकत्रिकं देवत्रिकं पञ्चेन्द्रियजातिः औदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ पराघातोच्छ्वासौ आतपोद्योतनाम्नी त्रसचतुष्कं नीचैर्गोत्रमिति त्रयस्त्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः । कुतः ? तासां जघन्यरसबन्धकस्य पञ्चेन्द्रियमात्रत्वात् । मनुष्यायुर्जघन्यरसबन्धकतया एकेन्द्रियादीनां सत्त्वेऽपि मनुष्याणामसंख्यातत्वेन तत्प्रकृतिबन्धकस्यासंख्यातमात्रत्वात् ॥१७६९-७०॥ अथ ओघतोऽजघन्यरसबन्धकपरिमाणं दर्शयति—

अलहुरसस्स हवन्ते आहारदुगस्स बंधगा संखा ।
विउवऽट्ठगमणुयाउजिणाण असंखेयराण य अणंता ॥१७७१॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'अलहुरसस्से' त्यादि, आहारकद्विकस्याजघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः, संयमिनामेव तत्स्वामित्वेन तत्प्रकृतिबन्धकानां संख्येयमात्रत्वात् । तथा वैक्रियद्विक-देवगत्यानुपूर्व्यायुष्करूपदेवत्रिक-नरकगत्यानुपूर्व्यायुष्करूपनरकत्रिकलक्षणं वैक्रियाष्टकं मनुष्यायुर्जिननाम चेति दशानामजघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, तत्प्रकृतिबन्धकानामसंख्येयत्वात् । शेषाणां द्वादशोत्तरशतप्रकृतीनां निगोदजीवानामपि बन्धप्रायोग्यत्वादजघन्यरसबन्धका अनन्ता विज्ञेया इति ॥१७७१॥

अथ मार्गणासु जघन्याजघन्यरसबन्धकपरिमाणं व्याचिख्यासुरादौ तावत् जघन्यरसबन्धकपरिमाणं व्याकुर्वन् काययोगौघादिमार्गणास्वोघवदतिदिशन्नाह—

मप्पाउग्गाणाउगवज्जाणं बंधगाऽत्थि ओघव्व ।
मंदरसस्स उ काये उरल-णपुंसग-कसायेसुं ॥१७७२॥
दुअणाण-अजय-अणयण-भवि-मिच्छाहारगेसु परमत्थि ।
सोगारईण अजय-दुअणाण-मिच्छेसु उ असंखा ॥१७७३॥

(प्रे०) 'सप्पाउग्गाणे' त्यादि, काययोगौघः औदारिककाययोगः नपुंसकवेदः चत्वारः कषायाः द्वेऽज्ञानेऽयतः 'अणयण' त्ति अचक्षुर्दर्शनं भव्यः मिथ्यात्वम् आहारी चेति चतुर्दशसु मार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां स्वप्रायोग्याणां तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामित्यर्थः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकास्तेषां परिमाणमित्यर्थः ओघवद् भवति, एकेन्द्रियादिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियावसानानामसुमतां मार्गणान्तःप्रवेशात् , विशेषभावना तु स्वामित्वानुसारतो विज्ञेया, सुगमत्वान्न प्रदर्श्यते । अथातिप्रसक्तिं परिहरति 'परमत्थि' इत्यादिना, अयतः, द्वेऽज्ञाने, मिथ्यात्वमिति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं शोकारत्योः जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, स्वस्थानविशुद्धानां चातुर्गतिकानां तद्बन्धकत्वात् । अयं भावः–ओघप्ररूपणायां शोकारत्योर्जघन्यरसबन्धकाः संख्येयास्तेषां स्वस्थानविशुद्धप्रमत्तसंयतमात्रत्वात् , इह तु पूर्वोक्तहेतोरसंख्येया इति । अथ यस्यां मार्गणायां जघन्यरसबन्धकस्य यत् परिमाणं तदेव दर्शयामः–काययोगौघः, औदारिककाययोगः, नपुंसकवेदः, चत्वारः कषायाः, अचक्षुर्दर्शनम् , भव्यः, आहारीति दशसु मार्गणासु प्रत्येकं सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकपरिमाणमोघप्ररूपणावद् भवति । नवरमायूंषि वर्जनीयानि, सप्तकर्मणामेव प्रस्तुतत्वात् । अयतमार्गणायामाहारकद्विकस्य बन्धानर्हत्वात् त्रिचत्वारिंशदप्रशस्तध्रुवबन्धिभ्यो हास्यरती पुरुषवेदो जिननाम चेति सप्तचत्वारिंशतो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः, तेषां पर्याप्तमनुष्यमात्रत्वात् , कुतस्तत् ? उच्यते, अप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां षट्चत्वारिंशतो जघन्यरसबन्धकस्य संयमाभिमुखत्वात् । जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकस्य जिननामसत्कर्ममिथ्यात्वाभिमुखमनुष्यत्वात् । तथौघप्ररूपणाविवरणोक्तानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतः सातवेदनीयादीनाञ्चाष्टानामिति सर्वसंख्ययैकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका अनन्ताः, निगोदानामपि तद्बन्धकत्वात् । तथा शोका-

रती, स्त्रीनपुंसकवेदौ, तिर्यग्द्विकं, नरकद्विकं, देवद्विकं, पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं, वैक्रियद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ, पराघातोच्छ्वासौ, आतपनामोद्योतनाम, त्रसचतुष्कं, नीचैर्गोत्रमिति द्वात्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं तेऽसंख्येयाः, तज्जघन्यरसबन्धकानां पञ्चेन्द्रियमात्रत्वात् । अज्ञानद्विकं मिथ्यात्वमिति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सर्वमयतमार्गणावद् वाच्यम्, नवरं संख्येया जघन्यरसबन्धका अप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनां षट्चत्वारिंशत एव, जिननाम्नोऽप्यत्र बन्धानर्हत्वात् ।।१७७२-७३।।

अथ तिर्यग्गत्योघादिमार्गणास्वाह—

तिरिये अपसत्थासु लेसासु अभविये असण्णिम्मि ।
जेसिं णिरयसुरदुगं विणाऽत्थि परियत्तपरिणामो ।।१७७४।।
गुणचत्ताअ अणंता सिं सेसाणं असंखिया णेया ।।
णवरं जिणस्स णेया संखेज्जा किण्हणीलासु ।।१७७५।।

(प्रे०) '**तिरिये**' इत्यादि, तिर्यग्गत्योघः तिस्रोऽप्रशस्तलेश्या अभव्योऽसंज्ञीति षट्सु मार्गणासु प्रत्येकं '**णिरयसुरदुगं विणा**' त्ति नरकद्विकदेवद्विकयोर्जघन्यरसबन्धकानामुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयमात्रत्वात् ते द्विके सप्तकर्मणामिह प्रस्तुतत्वात् तिर्यगायुश्च विना यासामोघप्ररूपणायां नामग्राहं दर्शितानां मनुष्यद्विकादीनामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः तासां जघन्यरसबन्धका अनन्ताः स्युः, निगोदानामपि तद्बन्धकत्वात् । तथा '**सेसाणं**' ति तिर्यग्गत्योघः अभव्यो असंज्ञीति तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकमाहारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धाभावादुक्तशेषाणामष्टसप्ततेः, कापोतलेश्यायामाहारकद्विकस्यैव बन्धाभावान्नवसप्ततेः, कृष्णनीललेश्ययोराहारकद्विकस्य बन्धाभावात् जिननाम्नस्तु '**नवर**' मित्यादिनेहैव पृथग् वक्ष्यमाणत्वादष्टसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः '**असंखिया**' त्ति असंख्येयाः, पञ्चेन्द्रियादीनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा कृष्णनीललेश्ययोः प्रत्येकं जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः, तेषां सम्यग्दृष्टिमनुष्यमात्रत्वात् ।।१७७४-७५।। अथ मनुष्यौघमार्गणायामाह—

मणुए णिरयसुरदुगं विणाऽत्थि जाण परियत्तपरिणामो ।
बायालाअ असंखा सिं संखाऽणाहारमयरीए ।।१७७६।।

(प्रे०) '**मणुए**' इत्यादि, मनुष्यौघमार्गणायाम् '**णिरयसुरदुगं विणा**' त्ति नरकसुरद्विकयोः पृथगिहैव वक्ष्यमाणत्वात् ताभ्यां विनौघप्ररूपणायां नामग्राहं दर्शितानां मनुष्यद्विकादीनामेकोनचत्वारिंशतस्तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोश्चेति सर्वसंख्यया '**जाण**'**''बायालाअ**' त्ति यासां द्विचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः परावर्तमानपरिणामः तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, अपर्याप्तमनुष्याणामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथाऽन्यासामुक्तशेषाणामित्यर्थः अष्टसप्ततेः प्रत्येकं

जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः। तत्रैकोनसप्ततेः,पर्याप्तमनुष्याणामेव जघन्यरसबन्धकत्वात्। नरकद्विक-देवद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननाम्नान्तु पर्याप्तमनुष्याणामेव बन्धकत्वादिति। ॥१७७६॥

अथ पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वाह—

संखा सव्वाण दुणर-सव्वत्थाहारदुग-अवेएसु ।
मणणाण-संजमेसु समइअ-छेअ-परिहार-सुहमेसु ॥१७७७॥ (गीतिः)

(प्रे०) 'संखे' त्यादि, पर्याप्तमनुष्यः, मानुषी, सर्वार्थसिद्धसुरः, आहारककाययोगः, आहारकमिश्रकाययोगोऽवेदो, मनःपर्यवज्ञान,संयमौघः, सामायिकं, छेदोपस्थापनीयं, परिहारविशुद्धिकं, सूक्ष्मसम्परायमिति द्वादशसु मार्गणासु प्रत्येकं 'सव्वाण' त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणां सर्वासां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः, प्रत्येकं मार्गणासु जीवानामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । ॥१७७७॥ अथैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

सव्वेसु एगिंदियभेएसु तिरियजुगलणीआणं ।
होअन्ति असंखेज्जा सेसाणं बंधगाऽणंता ॥१७७८॥

(प्रे०) 'सव्वेसु'मित्यादि, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु सप्तस्वेकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वित्यर्थः, तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्ररूपाणां तिसृणां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, तेजोवायूनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा 'सेसाणं' इति उक्तशेषाणां प्रस्तुतमार्गणाबन्धार्हाणामष्टोत्तरशतप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका अनन्ताः, निगोदानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् ॥१७७८॥

अथ पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणास्वाह—

दुपणिंदियतसपणमणवयपुरिसित्थीतिणाणचक्खूसु ।
ओहि-सुलेसा-सम्मुवसम-वेअग-सण्णि-खइएसु ॥१७७९॥
जाणोहे संखा सिं संखा णेया असंखियाऽण्णसिं ।
णवरि असंखा हुन्ते जिणस्स तिसुलेस-खइएसु ॥१७८०॥

(प्रे०) 'दुपणिंदिय०' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, त्रसकायौघः,पर्याप्तत्रसकायः, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, स्त्रीवेदः, पुरुषवेदः, त्रीणि ज्ञानानि, चक्षुर्दर्शनम् , अवधिदर्शनम् , 'सुलेसा' त्ति तिस्रः प्रशस्तलेश्याः, सम्यक्त्वौघः, उपशमसम्यक्त्वम् , क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं, क्षायिकसम्यक्त्वम् , संज्ञी चेत्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं 'जाणोहे' त्ति यासां प्रकृतीनामोघे संख्येया उक्ताः प्रस्तावाज्जघन्यरसबन्धकास्तासां स्वप्रायोग्याणामायुर्वर्जानाञ्चेति पदेऽनुवर्तते ते संख्येयाः, तेषामिहापि पर्याप्तमनुष्यमात्रत्वात् । तथा 'अण्णसिं' ति तत्तन्मार्गणाबन्धार्हाणामन्यासामुक्तातिरिक्तानामित्यर्थः जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, एकेन्द्रियाणामप्रवेशात् । अथाति-

प्रसङ्गं परिहरति-'**जिणस्स**' त्ति जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकास्तिसृषु प्रशस्तलेश्याः क्षायिकसम्यक्त्वञ्चेति चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकमसंख्येयाः, कुतः ? प्रशस्तलेश्यामार्गणासु देवानां जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकत्वात् । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु देवनारकमनुष्याणां जिननाम्नो जघन्यरसबन्धस्वामित्वात् । इहोक्तासु शेषासु पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु तु जिननाम्नो जघन्यरसबन्धका ओघवत् संख्येया एव, सम्यग्दृष्टिमनुष्याणामेव तद्बन्धकत्वात् । अथ प्रतिमार्गणं सम्भाव्यमानबन्धानां प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकपरिमाणं दर्शयामः-द्वौ पञ्चेन्द्रियभेदौ, द्वौ च भेदौ त्रसकायमन्कौ, पञ्च मनोयोगाः, पञ्च वचोयोगाः, स्त्रीपुरुषवेदौ, चक्षुर्दर्शनम्, संज्ञीत्यष्टादशसु मार्गणासु प्रत्येकमोघप्ररूपणोक्तानामप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनामेकपञ्चाशतः प्रकृतीनां प्रत्यकं जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः। तथाऽऽयुर्वर्जानां शेषाणां नवषष्टेः प्रत्येकं तेऽसंख्येयाः, मार्गणागतजीवानां तावन्मात्रत्वात् ।

तथा ज्ञानत्रिकमवधिदर्शनं, सम्यक्त्वौघः, उपशमसम्यक्त्वं, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमिति सप्तसु मार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकाऽनन्तानुबन्धिचतुष्करूपाणामष्टानां बन्धानर्हत्वात् ज्ञानावरणपञ्चकं दर्शनावरणषट्कमाद्यवर्जा द्वादश कषाया भयजुगुप्सेऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्कमुपघातनामाऽन्तरायपञ्चकमिति पञ्चत्रिंशद्ध्रुवबन्धिन्यः, हास्यरती, शोकारती, पुरुषवेदः, आहारकद्विकं, जिननाम चेति त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः, पर्याप्तमनुष्याणामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् ।

तथा स्त्रीवेदनपुंसकवेदनरकद्विकतिर्यग्द्विकजातिचतुष्काऽऽद्यवर्जसंहननपञ्चकाऽऽद्यवर्जसंस्थानपञ्चक-कुखगतिनामा-ऽऽतपनामोद्योतनाम-स्थावरचतुष्क-दुर्भगत्रिक-नीचैर्गोत्ररूपाणामेकत्रिंशतोऽप्यत्र बन्धाऽनर्हत्वात् शेषाणां सातवेदनीयादयोऽष्टौ मनुष्यद्विकं देवद्विकं पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ वज्रर्षभनाराचनाम प्रथमसंस्थाननाम प्रशस्तविहायोगतिः पराघातोच्छ्वासौ त्रसचतुष्कं सुभगत्रिकमुच्चैर्गोत्रञ्चेत्यष्टात्रिंशतः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, तेषामावलिकाऽसंख्येयभागमात्रत्वात् ।

क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां सर्वमनन्तरोक्तज्ञानत्रिकादिमार्गणावदेव, नवरं संख्येयाः द्विचत्वारिंशतः, जिननाम्नो जघन्यरसबन्धकानामसंख्येयत्वात् । असंख्येया एकोनचत्वारिंशतः,जिननाम्नोऽन्तर्भावात् । तथा तिसृषु प्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकमप्रशस्तध्रुवबन्ध्यादीनामोघोक्तानां जिननामवर्जानां पञ्चाशतो जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः । स्वप्रायोग्याणां शेषाणां सर्वासां प्रत्येकमसंख्येयाः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वात् ॥१७७९-८०॥अथ विभङ्गज्ञानदेशविरतिमार्गणयोः प्रकृतमाह—

सोगारइवज्जाणं जाणोहे संखियाऽत्थि सिं संखा ।
विब्भंग तह देसे सेसाण असंखिया णेया ॥१७८१॥

(प्रे०) **'सोगारइवज्जाण'** मित्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां तथा देशविरत-मार्गणायां यासामोघे जघन्यरसबन्धकाः संख्याता निर्दिष्टास्तासां शोकारतिवर्जितानां प्रकृतीनां प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽपि संख्याता एव जघन्यरसबन्धका ज्ञेयाः, प्रस्तुतमार्गणाद्वये ओघवत् मनुष्याणा-मेव तत्स्वामित्वात् । शोकारत्योरोघे संयतस्वामित्वेन मनुष्याणामेव जघन्यरसबन्धकत्वात् संख्येयाः, प्रस्तुते तु विभङ्गज्ञानमार्गणायां चातुर्गतिकानां देशविरतमार्गणायां पुनः तिर्यग्मनुष्याणां स्वामित्वाद-संख्येया जघन्यरसबन्धका अतस्तद्वर्जनम् , एवं च विभङ्गज्ञानमार्गणायां त्रिचत्वारिंशदशुभध्रुव-बन्धिनीनां हास्यरतिपुरुषवेदानां चेति षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः । अत्रा-हारकद्विकजिननाम्नोर्बन्धाभावादुक्तशेषाणामेकसप्ततेर्जघन्यरसबन्धका असंख्येया विज्ञेयाः । देश-विरतमार्गणायामेकत्रिंशदशुभध्रुवबन्धिनीनां हास्यरतिपुरुषवेदजिननाम्नां चेति सर्वसंख्यया पञ्च-त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकाः संख्याताः । शेषाणां बन्धप्रायोग्याणां पञ्चत्रिंशतः प्रकृतीनां जघन्य-रसबन्धका असंख्येया बोद्धव्याः ॥१७८१॥ अथ वनस्पत्योघादिमार्गणास्वाह–

वणकाये सव्वेसु णिगोअभेएसु बंधगाऽणंता ।
सव्वेसिं पयडीणं सप्पाउग्गाण विण्णेया ॥१७८२॥

(प्रे०) **'वणकाये'** इत्यादि, वनस्पतिकायौघमार्गणायां सप्तसु निगोदभेदेषु च प्रत्येकं **'सव्वेसिं'** ति सर्वासां **'सप्पाउग्गाण'** त्ति देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकजिननाम-रूपाणां नवानामत्र बन्धाभावादेकादशोत्तरशतरूपाणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका अनन्ताः । तत्र वनस्पतिकायौघे निगोदानामपि जघन्यरसबन्धकत्वात् , निगोदभेदेषु तु प्रत्येकं मार्गणागत-जीवानामानन्त्ये सति तेषामेकाऽसंख्येयभागस्य जघन्यरसबन्धकत्वादितिरूपो हेतुर्वाच्यः ॥१७८२॥

अथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामाह–

ओरालमीसजोगे सामी जाण परियत्तपरिणामा ।
सिं चउयालीसाए विण्णेया बंधगाऽणंता ॥१७८३॥
जेसिं सामी सम्मो पणयालीसाअ ताण संखेज्जा ।
विण्णेया सेसाणं सगवीसाए असंखेज्जा ॥१७८४॥

(प्रे०) **'ओरालमीसे'**त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां यासां जघन्यरसबन्धस्य स्वामी परावर्तमानपरिणामस्तासां 'साय[२] थिर[२] सुह[२] जस[२] सियरे' त्यष्टानां सातवेदनीयादीनां 'णर[२]-दुगुच्चाणि । संघयणागिइछक्कं खगइदुगं सुहगदुहगतिगं ॥ एगिंदिय –थावर–सुहुमविगलतिग........ ...' इति जघन्यरसबन्धस्वामित्वद्वारसत्कप्रकृतिसंग्रहगाथोक्तानां मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतस्त्रसनामपञ्चे-न्द्रियजातिबादरत्रिकाणाञ्चेति सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसस्य बन्धका अन

न्ताः, निगोदानामपि तद्बन्धकत्वात्। तथा 'पणयालीसाअ' त्ति '[१]पुम [४]चउसंजलण [१]भय [१]कुच्छ-
[१]हस्स[१]रई । णिद्दादुगमुवघायो [४]कुवण्णचउगं [५]च विग्घाणि । णव [६]आवरणाणि [४]तइअदुइअकसाया' त्ति पुरुषवेदा-
दीनामष्टात्रिंशतः शोकारत्योः सुरद्विकवैक्रियद्विकजिननामरूपाणां पञ्चानाञ्चेति सर्वसंख्यया यासां
पञ्चचत्वारिंशतः प्रकृतीनां जघन्यरसबन्धकः 'सम्मो' त्ति सम्यग्दृष्टिस्तासां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः
संख्येयाः, कुतः ? प्रस्तुतमार्गणायां सम्यग्दृशामुत्कृष्टतोऽपि संख्येयमात्रत्वात् । तथा 'सेसाणं' इति
उक्तशेषाणां मिथ्यात्वमोहनीयं स्त्यानर्द्धित्रिकमनन्तानुबन्धिचतुष्कं पराघातोच्छ्वासौ आतपोद्योत-
नाम्नी औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं प्रशस्तध्रुवबन्धिन्योऽष्टौ स्त्रीनपुंसकवेदौ औदा-
रिकशरीरनामेति सप्तविंशतेः प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः । तत्र चतुर्विंशतेः, पञ्चेन्द्रियाणां
जघन्यरसबन्धकत्वात् , तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयोर्बादरतेजोवायूनां जघन्यरसबन्धकत्वात् ॥१७८३-८४॥

अथ वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामाह–

वेउव्वमीसजोगे संखेज्जा हुन्ति तित्थणामस्स ।
होअन्ति असंखेज्जा सप्पाउग्गाण सेसाणं ॥१७८५॥

(प्रे०) 'वेउव्वमीसजोगे' इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां जिननाम्नो जघन्यरस-
बन्धकाः संख्येयाः, प्रस्तुतमार्गणायां सम्यग्दृष्टिमनुष्येभ्य एवागतानां देवनारकाणां तद्बन्धकत्वात् ।
तथा 'सप्पाउग्गाण' त्ति देवद्विकनरकद्विकवैक्रियद्विकाऽऽहारकद्विकसूक्ष्मत्रिकविकलत्रिकरूपाणां
चतुर्दशानां प्रकृतीनामिह बन्धानर्हत्वान्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणामुक्तशेषाणां पञ्चोत्तरशतप्रकृतीनां
प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, मार्गणागतजीवानामसंख्येयत्वे सति असंख्येयानां जघन्य-
रसबन्धकत्वात् ॥१७८५॥ अथ कार्मणानाहारिमार्गणयोराह–

कम्माणाहारेसुं सामी जाण परियत्तपरिणामो ।
तंसि गुणचत्ताए विण्णेया बंधगाऽणंता ॥१७८६॥
सुरविउवदुगजिणाणं संखा णेया असंखियाऽण्णंसिं ।
सेसासु असंखेज्जा सप्पाउग्गाण पयडीणं ॥१७८७॥

(प्रे०) 'कम्माणे' इत्यादि, कार्मणकाययोगाऽऽनाहारिमार्गणयोः प्रत्येकमोघप्ररूपणोक्तानां
मनुष्यद्विकादीनामेकत्रिंशतः सातवेदनीयादीनां चाष्टानामिति सर्वसंख्यया एकोनचत्वारिंशतः प्रकृ-
तीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका अनन्ताः, मार्गणागतनिगोदानामपि तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । तथा
देवद्विकं वैक्रियद्विकं जिननामेति पञ्चानां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धकाः संख्येयाः, तत्र देवद्विकवैक्रिय-
द्विकयोस्ते संख्येयाः, प्रस्तुतमार्गणागतसम्यग्दृष्टितिर्यग्मनुष्याणां संख्येयमात्रत्वात् , ततः किम् ?
इह तेषामेव तद्बन्धकत्वात् । जिननाम्नस्तु बन्धं सम्यग्दृष्टिमनुष्यास्तेभ्य उद्वृत्ता देवा नारकाश्च

कुर्वन्तीति, कोऽर्थः ? प्रस्तुतमार्गणागताः सर्वे पिण्डितास्ते संख्येया एवेति । तथा 'अण्णेसिं' इति अन्यासां नरकद्विकाऽऽहारकद्विकयोरत्र बन्धानर्हत्वात् उक्तशेषाणां द्विसप्ततेः प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, संज्ञिनामेव तज्जघन्यरसबन्धकत्वात् । अथोक्तशेषासु मार्गणास्वाह– सेसा' स्वित्यादिना, तत्र 'सेसासु' त्ति उक्तशेषासु अष्टौ नरकभेदाः, चतस्रः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाः, अपर्याप्तमनुष्यः, एकोनत्रिंशद्देवभेदाः सर्वार्थसिद्धस्य पृथगुक्तत्वात्, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, अष्टाविंशतिः पृथ्वीकायादिकायचतुष्कभेदाः, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायः, वैक्रियकाययोगः, मिश्रसम्यक्त्वम्, सास्वादनमिति सप्ताशीतौ मार्गणासु प्रत्येकं 'सप्पाउग्गाण' त्ति तत्तन्मार्गणाबन्धप्रायोग्याणां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यरसबन्धका असंख्येयाः, मार्गणागतजीवानामुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयत्वात् ।।१७८६-८७।।

अथ मार्गणासु अजघन्यरसबन्धकपरिमाणं दिदर्शयिषुस्तत्समानवक्तव्यादनुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणवदतिदिशन्नाह—

सव्वासु बंधगा खलु अजहण्णरसस्स आउवज्जाणं ।
दुविहरसाणाऊणं अत्थि अतिव्वाणुभागव्व ।।१७८८।।

(प्रे०) 'सव्वासु' इत्यादि, सप्तत्युत्तरशतलक्षणासु सर्वासु मार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानामजघन्यरसस्य बन्धकास्तेषां परिमाणमित्यर्थः अनुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणवदस्ति ।

अथ लाघवार्थी मार्गणास्वायुषामपि जघन्यादिरसबन्धकपरिमाणमिहैवाऽतिदिशति–'दुविह' त्ति आयुषां जघन्यरसस्य बन्धका अजघन्यरसस्य च बन्धकाः 'अतिव्वाणुभागव्व' त्ति पूर्वोक्तानुत्कृष्टरसबन्धकवज्ज्ञेयाः । अथ कस्यां मार्गणायां कस्याः प्रकृतेः कियन्तोऽजघन्यरसबन्धका इति जिज्ञासायामनुत्कृष्टरसबन्धकपरिमाणप्ररूपणात एवावगन्तव्यम्, ग्रन्थगौरवभयादस्माभिर्नात्र प्रतन्यते । अत्रायुषां जघन्यरसबन्धकपरिमाणाऽतिदेश इदमपि बोध्यम्-यस्यां मार्गणायां यस्यायुषः संख्येया असंख्येया अनन्ता वाऽनुत्कृष्टरसबन्धकाः तस्याऽजघन्यरसबन्धका अपि संख्येया असंख्येया अनन्ताश्चैव भवन्तीति संख्येयत्वेनाऽसंख्येयत्वेनाऽनन्तत्वेन वा संख्यासाम्यमात्रमत्र द्रष्टव्यम्, न तु प्रतरासंख्येयभागत्वादिना प्रतिनियतसंख्यासाम्यमिति। ।१७८८।।

इति श्रीबन्धविधाने प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृते उत्तरप्रकृतिरसबन्धे द्वादशं परिमाणद्वारम् ।।

❋ ग्रन्थमुद्रणे द्रव्यसहाय-प्रशस्तिः ❋

नानाप्रकारदुःखाब्धौ संसारे पततां नृणाम् ।
समर्थोद्धारकं वीरमुपास्महे पुनः पुनः ॥
भारते कलकत्तास्थैस्तपागच्छीयगौर्जरैः ।
जैनैर्ज्ञानविभागेऽत्र द्युम्नराशिर्महाश्रितः ॥
तस्माद् विंशतिसाहस्री रूपकाणां पृथक्कृता ।
बन्धविधानशास्त्रस्य प्राकाश्ये सा व्ययीकृता ॥

तथाहि—अत्र भारते बङ्गाभिधो देशः पुरातनकालाद् विद्याकेन्द्रत्वेनोत्तमां ख्यातिं समुपभुनक्ति, न केवलं विद्यायां किन्तु व्यवहारे लौकिककार्येषु प्रतापवत्तायां बुद्धिमत्तायामुत्साहे वीरतायां राष्ट्रप्रेम्णि धार्मिकतायां भक्तिमत्तायां च देशोऽयं प्रथमपङ्क्तिभागिति तु सर्वतः प्रसिद्धमेव । अस्मिन् बङ्गदेशे कलकत्तानगरं शिरोमुकुटायमानं प्रथमत एव परिगण्यते । भूमिरप्यत्रत्या फलद्रुपत्वविशिष्टा, धनेन च धनदेन समं स्पर्धमानाऽत्र जनता ।

एवमिदं भूरिविस्तारवन्निबिडजनताभृदतिसमृद्धं कलकत्तानगरं सर्वस्याकर्षणाय कल्पते, विशेषतस्तु व्यापारकौशलभृतां जैनानाम् । अत एव श्वेताम्बरीयाः केचन गौर्जरजैना अत्रागत्य न्यवात्सुः । दिनेषु च गच्छत्सु तेषां संख्या वृद्धिमती संजाता ।

विविधप्रकारकक्लेशपरम्परापाशनिगडितेऽस्मिन् संसारेऽभीक्ष्णं गतागतं कुर्वाणानां जनिमतामुद्धाराय देवगुरुधर्माराधना नितरामनिवार्येति कल्याणवती भावना सर्वेषाममीषां तपागच्छीयश्वेताम्बरीयगौर्जरजनानां मनसि समुदयं प्राप्तवती । एतद्भावनानुगुण्येनात्र कलकत्तानगरे गौर्जरजैनश्वेताम्बरतपागच्छसङ्घस्य स्थापना रसवसुनन्दविधुमिते (१९८६) वैक्रमाब्दे पदमकरोत् (सञ्जाता) । प्रयाति च काले रत्नत्रयविभूषितप्रातःस्मरणीयाराध्यचरणाचार्यवर्याणां देशनाप्रभावादत्रोपाश्रयं निर्मित्सुभिर्गौर्जरश्वेताम्बरीयजैनैः केनिंगवीथिकायामेकं भव्यं भवनं क्रीतम् ।

'उत्तरोत्तरशुभो हि मुनीनां कोऽपि मञ्जुलतमः प्रियवादः' इति न्यायानुरोधेन वन्दनीयविभूतीनामाचार्यप्रवराणां देशनाजन्यप्रेरणावशादस्मिन्नुपाश्रयेऽर्बुदाचलतीर्थादानीता चरमतीर्थङ्करदेवाधिदेवश्रीमन्महावीरप्रभूणां कमनीयकलाकलापोत्कीर्णा नेत्रप्रसादजननी प्रतिमा परे च द्वयोर्देवयोर्मूर्ती सागरवसुनन्दनक्षत्रनाथमिते (१९८७) वैक्रमवर्षे ज्येष्ठशुक्लपञ्चम्यां स्थानापन्नीकृताः ।

रीत्याऽनयोत्तरोत्तरं धर्माराधने वेगमासादयताऽनेन जैनसंघेन बॉम्बे जैनसभा, विनयमणिजीवनाभिधपुस्तकालयो, वर्धमानतपोविषयकाचाम्लविभागः, पाठशाला च स्थापिताः ।

तथात्रातिभव्यो वीरविक्रमप्रासादो निरमीयत । गच्छति काले बहवो व्याख्यानकलाकोविदाः केवलं दर्शनेनैव दर्शनकर्तृणां चेतःसु नैर्मल्यं स्थापयन्तो गीतार्था वयोवृद्धास्तेभ्यो न्यूनवयस्काश्चास्मदाचार्यपुङ्गवा धर्मश्रद्धाभिवृद्धिद्वारा अत्रागत्यात्रत्यस्थानस्य पावित्र्यं परिबृंहयन्ति स्म ।

एवं नन्दनभोगगनकरमिते (२००९) संवत्सरे ज्येष्ठशुक्लदले दशम्यां तिथौ चरमतीर्थंकरश्रीमहावीरप्रभोः प्रतिमाऽत्र महोत्साहानन्दपूरपूर्वकं प्रतिष्ठापिता द्रव्यायश्चात्र भूयानभूत् ।

अत्र विविधा धर्मक्रियाः प्रतिवर्षं महोत्साहेन प्रचलन्ति । देवद्रव्यस्य ज्ञानद्रव्यस्य च सूक्ष्मेक्षिकापूर्वकं मनोहारिणी सुन्दरतरा च व्यवस्था प्रवर्तते । प्रतिदिनं परिवर्धमानानामाराधकानामाराधनाऽऽनुकूल्यार्थमत्रत्याः कार्यकरा अहर्निशं तत्पराः सन्ति । तैश्च ज्ञानभक्तिभरमानसैः कर्मसाहित्यसत्कग्रन्थद्वयमुद्रणार्थं श्रीश्वेताम्बरगुर्जरजैनसङ्घसत्कज्ञानद्रव्यमध्याद् रूपकसहस्राणां विंशतिः समितिसभ्येभ्यः समर्पिता । तन्मध्याद् दशसहस्ररूपकाणां मुद्रापणव्ययेन ग्रन्थोऽयं प्राकाश्यं प्रापेति । भगवान् महावीरः शं विदध्यात् ।

शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठः	पङ्क्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
१४	१२	सात्तया-	सत्ताया-
१६	९	प्रकृष्टस्यैव	परमप्रकृष्टस्यैव
१६	१८	मिथ्यात्वविरती	मिथ्यात्वाविरती
२८	२७	०रसबन्धकस्या-पीति ?	०रसबन्धकस्या-पीति चेन्न ?
३१	१८	तिव्ववेयणाभि-भूत्वात	तिव्ववेयणाभि-भूयत्वात
३२	४	०रसबन्धकात्	रसबन्धकान
३४	२४	०मर्कारिष्यँन्तर्हि	०मर्कारिष्यँस्तर्हि
३६	२९	जन्यते	जायते
३८	२	सम्यग्दृष्टेस्तद्०	सम्यग्दृष्टेस्तद्०
४४	२०	बध्नातीती	बध्नातीति
४६	१३	अशमानामुत्कृष्ट-रसः	अशुभानामुत्कृष्ट-रसः
४८	२३	हास्यरतीति	हास्यरती इति
५०	२	[1]छिवट्ठाणमाणि	[1]छिवट्ठणमाणि
५२	१५	मिथ्यादृशादीनां	मिथ्यादृगादीनां
५८	१	बंधाविहाणे	बंधविहाणे
५९	५	बध्नाति, भावनौघवत् ॥८१॥	बध्नाति, उद्योतस्य सप्तमपृथ्वी-विशुद्ध मध्यादृष्टि-नारकः, भावनौघवत् ॥८१॥
६०	१७	प्रस्तुनमार्गणयां	प्रस्तुतमार्गणायां
६३	२१	आरोहतपुरुषवेदोदयः विच्छेदः	आरोहत पुरुष-वेदोदयविच्छेदः
६४	४	जन्यते	जायते
६८	६	[2]गिई	[1]गिई
६८	१५	पण [1]थिराइ	[4]पणथिराइ
७०	१२	त्रिचत्वारिशद०	त्रिचत्वारिंशद०
७०	२१	बध्नत	बध्नीत
८१	७	०मौदाविकद्विकं	०मौदारिकद्विकं

पृष्ठः	पङ्क्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
८३	२	०मार्गणान्त-रेष्वापि	०मार्गणान्तरेष्वपि
८३	४	गुणांतरादिग-मनवत	गुणान्तरादि-गमनवतो
८३	४	०मुहूर्तादारभ्या	०मुहूर्तादारभ्य
८३	६	०मुहूर्तेऽन्तगुण-क्रमेण	०मुहूर्तेऽनन्तगुण-क्रमेण
८५	४	सभवादिती	संभवादिति
८६	२०	पञ्चकेषु	पञ्चके
९०	४	सर्वदेव०	सहस्रारान्तसर्वदेव०
९१	२७	सर्वसंख्ययाष्ट-चत्वारिंशन्मार्ग-णासु	सर्वसंख्यया पञ्चा-शन्मार्गणासु
९२	१८	०जिननामकर्मा-णाम०	०जिननामकर्म-णाम०
९२	१८	०वोत्कृष्टरसस्यैव	०वोत्कृष्टरसस्य
९५	६	०यशःकीर्त्त्यष्टौ	०यशःकीर्ती इत्यष्टौ
९५	१९	'भयेकुच्छे'[1]	भयकुच्छ[2]
९५	२०	[1]कुवण०	कुवण्ण०
९६	१३	चतुर्दशनावरणनां	चतुर्दर्शनावर-णानां
९६	१५	जघन्यरससर्व-विशुद्धेनैव	जघन्यरसस्सर्व-विशुद्धेनैव
९६	२	कनाऽपि	कनिष्ठाऽपि
९६	२६	०वृद्धिसद्भावेन्	०वृद्धिसद्भावेन
९९	११	ऽशुभाऽयश-कीर्त्तीनां	ऽशुभाऽयशः-कीर्त्तीनां
१०१	२४	कर्मप्रकृतिपञ्च-संग्रहवृत्यादा अपि	कर्मप्रकृति-पञ्चसंग्रह-वृत्त्यादा अपि
१०२	१७	नवनवतरणाम०	नवनवतराणाम०
१०६	८	चतुर्विंशतिशत०	विंशतिशत०
१०६	१०	आमवादि०	आमवादि०

पृष्ठः	पङ्क्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
१०८	१७	वक्ष्येय: ।	वक्ष्यय: ।
११०	१	उत्तरपर्याडबंधो	उत्तरपयडिरसबंधो
११५	२	०ऽयश.कीर्त्तीति	०यश:कीर्त्ती इति
११६	४	षड्डुतरशतप्रकृतीनां	षड्डुत्तरशतप्रकृतीनां
११७	२	०यश:कीर्तीति	०यश:कीर्त्ती इति
११७	२६	०यश:कीर्त्तीति	०यश.कीर्त्ती इति
११६	९	०यशःकीर्त्तीति	०यश:कीर्त्ती इति
१२०	२२	०यश कीर्त्त्यिष्टानां	०यश.कीर्त्ती इत्यष्टानां
१२१	२७	०यश कीर्त्तीति	०यश.कीर्त्ती इति
१२४	२१	तपाउग्गकिलट्ठो	तपाउग्गकिलिट्ठो
१२६	१०	'त्रिउवत्र'	'त्रिउवत्व'
१२८	१२	त्रसानामादि०	त्रसनामादि०
१२६	३	०तीव्रसंकिष्ट- स्त्रिगतिक:	तीव्रसंक्लिष्ट- स्त्रिगतिक:
१३०	२४	आमिथ्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टिप्रभृति
१३०	२५	स्थावरनाम्नीति	स्थावरनाम्नी इति
१३२	२३	स्वं=	स्या=
१३३	१७	चरमणक्षवर्त्ती	चरमक्षणवर्त्ती
१३४	१४	ज्ञेय: ? कुत:	ज्ञेय: कुत: ?
१३८	२२	०त्रिकमन्तानुबन्धि०	०त्रिकमनन्तानुबन्धि०
१३९	१८	प्रमतमुनि०	प्रमत्तमुनि०
१३६	२१	शोकारतीति	शोकारती इति
१४५	१२	तयोर्वेत्यर्थे:	तयोर्वेत्यर्थ:
१६१	१६	०कीर्तीति	०कीर्त्तिरिति
१६२	७	तदन्वन्तर्मुहूर्ते	तदन्यन्तर्मुहूर्त्तं
१६४	६	प्रतिपद्य	प्रतिपतन्
१६४	७	तीर्थकृनादीनामा०	तीर्थकृदादीनामा०
१६४	२७	मिथ्यादृष्टिना- प्रशस्त०	मिथ्यादृष्टि- ना प्रशस्त०
१६७	२	निन्तरो	निरन्तरो
१८३	२३	तदनुत्कृष्टर- बन्ध०	तदनुत्कृष्ट- रसबन्ध०
१८७	२५	देशविर-	देशविरत०
१९६	१३	०पर्यान्तानां	०पर्यन्तानां
१९७	७	त्रिचत्वारिशत:	त्रिचत्वारिंशत:

पृष्ठः	पङ्क्ति	अशुद्धिः	शुद्धिः
१६८	२	यिकृत०	०यिकत०
१९९	११	०मुह्य:	०मूह्य:
२००	८	पञ्चेन्द्रियति- नामा०	पञ्चेन्द्रिय- जातिनामौ०
२००	१५	द्विनवतौ	त्रिनवतौ
२०६	३	प्रभावेणामुर्हूर्ता- दूर्ध्वं	प्रभावेणान्त- र्मुहूर्तादूर्ध्वं
२१०	३	तत्प्रभावेणाऽमरण	तत्प्रभावेणा- ऽऽमरण
२१४	२३	कृतेनामनु०	प्रकृतीनामनु०
२१७	२९	०रसबन्धस्याऽ- वश्यकत्वाच्च ।	०रसबन्धस्या- ऽऽवश्यकत्वाच्च
२२०	३०	प्रमम०	समम०
२२२	२३	केन्द्रियो०	एकेन्द्रियो०
२२२	२४	०गोत्ररूपाण	गोत्ररूपाणां
२३३	१४	सागरोपमाणम् ।	सागरोपमाणाम् ।
२४२	२६	०रसबन्धस्योत्कृष्ट:	०रसबन्धस्योत्कृष्ट:
२४२	२६	मिछ०	मिच्छ०
२४८	१०	बध्यमानत्वान् ।	बध्यमानत्वान् ।
२६१	१९	प्रमतमुनि०	प्रमत्तमुनि०
२७४	१८	मुणयव्वो	मुणयव्व
२७७	१३	पर्याप्तमनुष्या	पर्याप्तमनुष्य
२८१	२५	०परावर्त:	परावर्तो देशोन:
२८४	२८	०पृथ्वी०	०पृथ्वी०
२८८	१२	तद्देशोना	तद्देशोना
३०१	२२	०अष्टत्रीमाग	०अष्टत्रीमाग
३०३	१०	शेषणामेकोनषष्ठ:	शेषाणामेकोनषष्ठ:
३०४	११	थासमयं	यथासमयं
३०४	२२	तावन्मितत्वात	तावन्मितत्वान्
३०८	२७	(प्रै०)	(प्रे०)
३११	२६	०पर्याप्तावस्थायां	पर्याप्तावस्थायां
३१२	२१	णियरा	णिरय
३३५	२३	चतुर्णामाप्यायुपां	चतुर्णामप्यायुषां
३४३	२१	०न्नैवाकर्षे	०न्नेवाकर्षे
३४६	३	चोत्कृष्टतोऽर्ध०	चोत्कृष्टतो देशोनार्ध०
३५६	१८	यम्मये	जम्मये

पृष्ठ.	पङ्क्ति	अशुद्धिः	शुद्धिः
३६२	४	समकर्मोणामेव	सप्तकर्मणामेव
३७३	५	अप्रशत०	अप्रशस्त०
३७४	२३	पञ्चविंशतौ	पञ्चविंशतौ
३७६	५	कश्चिन्	कश्चित्
३७६	६	प्रत्येकं जघन्य०	प्रत्येकमजघन्य०
३७९	३	येघध्यते	यैर्बध्यते
३७९	२७	भवनान्तरं	भवनानन्तर
३८०	६	(प्रे०)	(प्रे०)
३८१	२६	त्रयस्त्रिशतश्चैवा०	त्रयस्त्रिंशतश्चैषा०
३८४	६	०मुहूर्तिकत्वात् ।	०मौहूर्तिकत्वात् ।
३८५	२८	०मुहूर्तिकत्वात् ।	०मौहूर्तिकत्वात् ।
३९६	८	मतान्तरव्यापक:	मतान्तरव्यापक:
४०२	२७	आन्तमुहूर्तिका बन्धानन्तर	आन्तर्मौहूर्तिका-बन्धानन्तर
४१६	२५	०वेदनीयानां	०वेदनीयादीनां
४२२	५	बीअविघाण	व अविग्धाण
४२४	९	अरतीति	अरतिरिति
४२७	१४	०तुक्कुष्टादि ।	०तुक्तमुत्कृष्टादि ।
४३२	८	जिनानाम्न	जिननाम्न
४३६	५	उत्कृष्टमि०	तीव्रमि०
४३६	२२	०वश्यकमिति ।	०वश्यकत्वादिति
४४०	८	बध्नातिं	बध्नाति
४४५	२०	'चउआगइ'	'चउआगिइ'
४५३	१६	इहक्षेन	ईहक्षेण
४५५	३०	०नामाऽऽपनाम	०नामाऽऽतपनाम
४६२	२९	षट्स्थानपाति-मनुत्कृष्ं	षट्स्थानपतित-मनुत्कृष्ट
४७०	४	नरकयोग्यानां	नरकयोग्याणां
४७२	११	'अणतगुणूण'	'अणतगुणूण'
४७८	२	प्रकृत- थम०	प्रकृत-प्रथम०
४८०	१०	वेदित्यम ॥	वेदितव्यम ॥
४८३	५	युगलपट्	युगल षट्
४८३	२३	०बन्धाभावात् ।	बन्धभावात् ।
४८६	२०	०त्वादास्वाहारक०	त्वाच्चाहारक०
४८९	२	भावात	बन्धाभावात्
४९५	१०	जघन्यरसबन्धपरा०	जघन्यरसबन्धः परा०
४११	३२	शेषाष्टत्रिंशत्०	शेषाष्टात्रिंशत्०
५१६	३०	देवमार्गणायां	देवौघमार्गणायां
५२०	२४	माश्च इता:	इमाश्च ताः
५२१	११	णान्त्वोघोवतानां	णान्त्वोघोक्तानां
५२४	४	चतुर्थादि०	चतुर्थादि०
५२५	३०	रूपणाया	प्ररूपणाया
५३०	१८	११९-८९९	११६८-९९
५४०	२३	०वादित्यदि-निष्टम्,	०वदित्यति-दिष्टम्,
५४०	२६	प्रमुखानां	प्रमुखाणां
५४७	५	'सुहाणं' तीह	'सुहाणं' इतीह
५४७	२५	सस्थाननाम्नीह	मस्थाननाम्नी इह
५६७	४	०दर्शनणार्गणावन्	०दशनमार्गणावत्
५७१	८	परस्थान०	परस्थान०
५७६	७	अथोवतशेषाणां	अथोक्तशेषाणा
५७७	२४	०रतीति	०रती इति
५८३	१२	'सट्ठाणगव'	'सट्ठाणगव'
५८६	२१	०दुखगइ-छ०	०दुखगइ-छ०
५८७	१७	णामाण	णामाण
५९४	३	०गताश्तु०	०गताश्वतु०
५९५	१५	०रसबधी ।	०रसबंधो ।
५९७	५	तगुण०	अणंतगुण०
५९७	१०	०धिवन्त्वे तज्ज०	०धिवत्वे तज्ज०
५९७	१२	०मनुष्यारूपे	मनुष्यायूरूपे
५९९	१६	सहयोग्य०	सह योग्य०
६०४	१५	०गुणिआढियं	०गुणिआहियं
६ ६	६	०पूर्वार्धम्	०पूर्वार्धम
६१३	२	संहननामा०	सहनननामा०
६१४	१९	०जघन्य०	०जघन्य०
६१५	७	०तुल्यवक्तव्यान	०तुल्यवक्तव्यत्वात्
६१७	२०	'णवरि' त्यादिना	'णवर' मित्यादिना
६३६	५	०वक्तत्वान	०वक्तव्यत्वात्
६४०	२	बध्यमानायुपामष्टौ	बन्धप्रायोग्यायुषोऽष्टौ
६४६	१६	सत्त्वान्	सत्त्वात्
६ ७	६	स्व०	स्व०
६६०	१७	०ध्रुवबन्धिन्य:	०ध्रुवबन्धिन्यः
६८०	२१	तस्याऽजघन्यरसबन्धका	तस्य जघन्यरसबन्धका